॥श्री हरिः॥

श्रीमद्भागवत महापुराण की महाप्रभु श्रीमद्वल्लभाचार्य
विरचित संस्कृत टीका (हिंदी अनुवाद सहित)

श्री सुबोधिनी

प्रथम स्कन्ध

द्वितीय खण्ड

अध्याय : १० - १९

॥ श्री हरिः ॥

श्रीमद्वल्लभाचार्य महाप्रभु विरचित

श्रीमद्भागवत महापुराण

के

प्रथम स्कन्ध की

सुबोधिनी (संस्कृत टीका)

(हिन्दी अनुवाद सहित)

द्वितीय खण्ड

१०वें अध्याय से १९वें अध्याय तक

अनुवादक

श्रीमान् मदनगोपालात्मज व्यास

श्री नारायणप्रसादजी शर्मा (गोतम) शास्त्री एम.ए.बी.एड

नन्दग्राम, कोटा नगर (राज.)

प्रथमावृत्ति १०००

शुभ तिथि - विजयादशमी

वि०सं० २०४४, शुक्रवार

तदनुसार २ अक्टोबर, १९८७

सादर भेंट

सदस्य महानुभावों को

प्रकाशक

श्री सुबोधिनी प्रकाशन मण्डल (रजि०)

मानधना भवन, चौपासनी मार्ग,

जोधपुर (राज०) ३४२००३

॥ श्री हरिः ॥

श्री सुबोधिनी प्रकाशन मण्डल (पंजीकृत)

जोधपुर (राज०)

उद्देश्य—

जगत् गुरु अखण्ड भूमण्डलाचार्य द्वारा प्रतिपादित शुद्धाद्वैत दर्शन एवं पुष्टिमार्गीय सिद्धान्तों एवं तत्सम्बन्धित ग्रन्थों का राष्ट्रभाषा (हिन्दी) तथा अन्य भाषाओं में अनुवाद करवाकर प्रकाशन करना व करवाना।

संगीत कला एवं चित्रकला सम्बन्धित उपलब्ध सामग्रियों का शोध करवाना तथा उनका प्रकाशन करवाना।

विशिष्टक सहायक सदस्य—रु० ५०००) अथवा अधिक चल अथवा अचल सम्पत्ति भेंटकर्त्ता—इनके शुभनाम ग्रन्थमाला की सब पुस्तकों में दिये जाते हैं।

सहायक सदस्य रु० ११००) से रु० ४९९९) की चल व अचल सम्पत्ति भेंटकर्त्ता—इनके नाम एक ग्रन्थमाला के सब ग्रन्थों में दिये जाते हैं।

सम्मानित सदस्य—रु० १००१) तक भेंटकर्त्ता इनके शुभनाम सब पुस्तकों में दिये जाते हैं।

सदस्य—रु० १७५) भेंटकर्त्ता—इस द्वितीय ग्रन्थमाला के सब सुमन-८ अर्थात् प्रथम स्कन्ध-२ पुस्तकें, द्वितीय स्कन्ध-१ पुस्तक, तृतीय स्कन्ध-४ पुस्तकें एवं ग्यारहवें स्कन्ध के प्रथम पाँच अध्यायों की १ पुस्तक भेंट की जावेगी।

संस्था के संस्थापक—गो.वा. प भ. नन्दलालजी तथा उनकी धर्मपत्नी गो.वा. प भ. सौभाग्यवतीजी मानधना, जोधपुर (राज.)

❀ द्वितीय ग्रन्थमाला के विशिष्ट सहायक ❀

प.भ. द्वारिकादासजी श्यामदासजी दलाल की उनकी स्मृति में भेंटकर्त्ता उनके सुपुत्र कृष्णदासजी दलाल—पूना	रु० ८५०२)
प.भ. हरिलालजी हरिवल्लभदासजी धर्मादा ट्रस्ट, अहमदाबाद	रु० ५०००)

❀ सहायक सदस्य ❀

प.भ. माधोदासजी मून्धड़ा कलकत्ता	रु० ४००१)
प.भ. लक्ष्मीदेवीजी द्वारकादासजी दलाल, पूना	रु० २५००)
प भ. कस्तूरीबहन व उनके सुपुत्र विठ्ठलदासजी शाह, हैदराबाद	रु० २००१)
प.भ नवनीतलालजी साकरलालजी, अहमदाबाद	रु० २०००)
प भ. मोहनलालजी शर्मा की स्मृति में बंमीबाई जसीपुरा	रु० १६०१)
प.भ. हरगोविन्ददासजी व चुन्नी बहन की स्मृति में उनके सुपुत्र मोहनलालजी नटवरलालजी शाह, बम्बई	रु० १५०१)
प.भ कृष्णदासजी मून्धड़ा एवं धर्मपत्नी सहोदराबाई, कलकत्ता	रु० १५०१)
प. भ. लाजवन्तीबाई नन्दलालजी भाटिया, दिल्ली	

※ श्री सुबोधिनी ※

॥ श्री वृन्दावनेश्वर ॥

वृन्दावनेश्वर मुकुन्द मनोज्ञवेष, वंशीविभूषित कराम्बुज पद्मनेत्र ।
विश्वेश केशव व्रजोत्सव भक्तिवश्य, देवेश पाण्डवपते मम देहि दास्यम् ॥

श्री मद्वल्लभाचार्य

प्रकाशक—श्री सुबोधिनी प्रकाशन मण्डल, जोधपुर ।

॥ श्री हरिः ॥

श्री सुबोधिनी द्वितीय ग्रन्थमाला

अष्टम सुमन

प्रथम स्कन्ध

(सुबोधिनी सह अनुवाद)

द्वितीय खंड

अध्याय १० से १६

मुखपत्र	(१)
उद्देश्य व विशिष्ट सहायक एवं सहायक सूची	(२)
विषय सूची	(३)
संरक्षक महानुभाव, सम्मानित सदस्य	(४-६)
दो शब्द : संस्थाध्यक्ष–पू पा. गोस्वामी व्रजभूषणलालजी महाराज	(७)
विनम्र निवेदन : मन्त्री–नन्ददास (रामचन्द्र)	(८)
भागवतार्थ प्रकरण	(६-१२)

अध्याय	शीर्षक	पृष्ठ संख्या
१०	भगवान् श्रीकृष्ण का द्वारका गमन	१—६०
११	द्वारिका में भगवान् का स्वागत	६१—१२०
१२	राजा परीक्षित का जन्म	१२१—१५६
१३	विदुरजी के उपदेश से धृतराष्ट्र और गांधारी का वन में जाना	१५७—२२६
१४	अपशकुन देखकर महाराज युधिष्ठिर का शङ्का करना तथा अर्जुनजी का द्वारिका में आना	२२७—२५६
१५	अर्जुनजी के मुख से भगवान् के स्वधाम सिधारने के समाचार पाकर पाण्डवो को हिमालय की ओर जाना	२५७—३२६
१६	महाराज परीक्षित का दिग्विजय करते समय पृथ्वी और धर्म का संवाद सुनना	३२७—३६८
१७	महाराज परीक्षित द्वारा कलियुग का दमन	३६६—४२०
१८	महाराज परीक्षित को शृंगी ऋषि का शाप	४२१—४६०
१९	महाराज परीक्षित का अनशन व्रत और शुकदेवजी का उनके पास पधारना	४९१—५४७
	अनुक्रमणिका	५४९—५५५

❀ श्री सुबोधिनी पुष्पवाटिका में से चुनी हुई सौरभपूर्ण कुछ कलियाँ ❀ ५५६

॥ श्री हरिः ॥

संस्था के संरक्षक महानुभाव

तिलकायत गोस्वामी श्री गोविन्दलालजी महाराज, नाथद्वारा (राज०)
गोस्वामी श्री ब्रजरत्नलालजी महाराज, सूरत
गोस्वामी श्री गोविन्दरायजी महाराज पोरबन्दर
गोस्वामी श्री रणछोड़ाचार्यजी महाराज, कोटा
गोस्वामी श्री ब्रजरायजी महाराज, राजनगर (अहमदाबाद)
गोस्वामी श्री घनश्यामलालजी महाराज, कामवन
गोस्वामी श्री व्रजभूषणलालजी महाराज-अध्यक्ष महोदय, चौपासनी (जोधपुर) जामनगर
गोस्वामी श्री श्याम मनोहरजी महाराज, बम्बई

निम्न प्रत्येक महानुभाव से १००१) की सेवा प्राप्त

प.भ. डा. नटवरलालजी सी शाह एवं उनकी धर्म पत्नी श्रीमती कमलादेवी जी, सखेड़ा
,, ठाकुरदासजी हरिदासजी श्रोफ, पूना
,, रामदासजी कृष्णदासजी मांडी वाले, पूना
,, श्रीमती प्रेमाबाई किशनचन्दजी भाटिया, कानपुर
,, रुकमणी बाई बिन्नाणी, कलकत्ता
,, मुन्नीबाई (शान्ता देवीजी) शर्मा एवं उनके सुपुत्र अशोकजी C.A., दिल्ली
,, अमिता बहनजी पटेल, बडोदरा
,, श्रीमती लक्ष्मी देवीजी गांधी बीकानेर
,, श्री केदारनाथजी दम्माणी, मद्रास
,, श्री विजयकुमारजी दम्माणी, कलकत्ता
,, श्रीमती विमलाबाई सिंगी, कलकत्ता
,, श्रीमती काशीबाई बिन्नाणी, बम्बई
,, श्रीमती सूरजबाई कोठारी, कलकत्ता
,, श्री चत्रभुजदासजी माहेश्वरी एवं उनकी धर्म पत्नी कृष्णाबाई, मुरैना मंडी
,, श्रीमती निर्मलादेवीजी अरोड़ा, इलाहबाद
,, श्रीमती चन्द्रकान्ताजी आनन्दकुमारजी कर्वा उदयपुर
,, श्रीमती गंगाबाई गोपालदासजी मोहता, आकोला
,, श्रीमती रतनबाई मोहता (हरदा) एवं उनकी बहिन श्रीमती रंभाबाई राठी, कटक
,, श्री दामोदरदासजी एवं उनकी धर्मपत्नी सूरजबाईजी मूंधड़ा, कलकत्ता
,, श्री हीरालालजी एवं उनकी धर्म पत्नी शारदाबाईजी, वाराणसी
,, श्रीमती सुमनबाई नथानी एवं कुसुमबाई भट्टड, कलकत्ता
,, श्री गग्गुभाई खुशहालभाईजी सोनी, राजकोट
,, श्री विट्ठलदासजी वल्लभदासजी कराणी, बम्बई

प.भ. श्री नारायणदासजी श्यामदासजी दलाल, पूना
,, श्री विट्ठलदासजी मूंदड़ा, कलकत्ता
,, श्री बालकृष्णदासजी मूंधड़ा, कलकत्ता
,, श्री मोहनदासजी मूंदड़ा, कलकत्ता
,, श्री जमुनादासजी परीख उनके सुपुत्र रमणलालजी एवं पुत्र वधु गुलाबबाईजी, उदयपुर
,, श्रीमती मोहनीबाई कलकत्ता
,, श्रीमती राधादेवीजी लोहिया, मिरजापुर
,, एक भगवदीया वैष्णव बहिन, हैदराबाद
,, श्री इन्द्रवदनजी ईश्वरलालजी शाह, अहमदाबाद
,, श्री हंसराजजी गोकुलदासजी वेद, कोल्हापुर
,, श्री जमुनाबहन पुरुषोत्तमदासजी आसेर, बम्बई
,, श्रीमती उर्मिलादेवीजी कलकत्ता
,, श्रीमती उर्मिलाबहनजी विश्वनाथजी अरोड़ा, कानपुर
,, श्रीमती रश्मिताबहनजी पद्मनाभजी, अहमदाबाद
,, श्री जमुनादासजी मोहता, कोटा
,, श्री व्रजमोहनदासजी विजय, शुजालपुर मंडी (म.प्र.)
,, श्री सतीशचन्द्रजी एवं धर्मपत्नी तुलसीदेवीजी सरदाना, अजमेर

निम्न प्रत्येक भेंटकर्ता महानुभाव से निजस्वजन महानुभाव की स्मृति में रुपये १००१) की आर्थिक सेवा प्राप्त

स्मृति में	भेंटकर्त्ता का शुभ नाम व सम्बन्ध
नि ली. श्रीमती कृष्ण प्रिया बेटीजी महोदया	पूज्य अम्माजी (माताजी) काशी
प.भ. शक्तिदेवीजी	सुपुत्र प.भ. गणेश शरणजी एम.ए.बी.एड. एवं पुत्र-वधु उर्मिलादेवी बी.ए.बी.एड. भरतपुर
प.भ. शिवकरणजी मोहता-हरदा	पिता श्री छगनलालजी एवं माता रतनबाई
प भ. पीताम्बरजी एवं नवल बहन शाह	सुपुत्र चन्द्रकांतजी एवं पुत्रवधु सुशीला बहन हैदराबाद
प.भ. किशोरीलालजी चाँडक, बेरड़ी	भ्राता श्यामसुन्दरजी दलीपजी प्रदीपजी
प.भ. पूरणचन्द्रजी अग्रवाल लश्कर	धर्मपत्नी धापुबाईजी सुपुत्र गिरराज किशोरजी
प.भ. जानकीदेवीजी धर्मपत्नी श्री शिवचन्दजी	सुपुत्र श्री द्वारिकादासजी लोहिया, कलकत्ता
प भ. रामनारायणजी भाटी	सुपुत्र श्री मोहनलालजी भाटी लाडनू
प.भ. चन्द्रावलीदेवीजी भाटी	सुपुत्र पूनमचन्दजी लाडनू
प.भ श्रीकमदासजी आचार्य	दौहित्र श्यामसुन्दरजी गज्जा बम्बई
प भ. लालजी भाई नारणजी राजाणी	सुपुत्र श्री गोकुलदासजी राजाणी जामनगर
प भ वाडीलालजी पटेल	सुपुत्र श्यामलालजी अहमदाबाद
प भ. करसनदासजी पुरुषोत्तमदासजी	सुपुत्र नटवरलालजी दावड़ा कोल्हापुर

निम्नलिखित भेंटकर्त्ता महानुभाव से अपने स्वजन गोलोकवासी महोदय की स्मृति में रुपये १००१) की आर्थिक सेवा प्राप्त हुई है।

स्मृति में	भेंटकर्त्ता का शुभ नाम व सम्बन्ध
प.भ. प्रेमलता बाई, बलदेवदासजी डागा	पिता उद्धवदासजी एवं माता काशीबाई मूंधड़ा कलकत्ता
प.भ. गोकुलदासजी एवं सरस्वती बहन	सुपुत्र पुरुषोत्तमदासजी पूना
प.भ. दिलसुखरामजी राठी	धर्मपत्नी श्यामा बाईजी एवं सुपुत्र लक्ष्मीनारायणजी दिल्ली
प.भ. चन्द्रप्रकाशजी	माता जमुनाबाईजी अनुज आत्मप्रकाशजी दिल्ली
प.भ. राधाबाई श्री रामनारायणजी	सुपुत्र नन्ददासजी (रामचन्द्रजी) पुरुषोत्तमदासजी एवं देवकीनन्दनजी वर्मा जोधपुर
प.भ. घनश्यामदासजी मूंधड़ा	सुपुत्र श्रीदासजी एवं पुत्र वधु लक्ष्मीदेवीजी मद्रास
प.भ. पन्नालालजी फूमड़ा	धर्मपत्नी सूरजबाई सुपुत्र चुन्नीलालजी कलकत्ता
प.भ. जीवनदासजी मूंधड़ा	सुपुत्र ठाकुरदासजी एवं पुत्र वधु व्रजकुंवर कलकत्ता
प.भ. पारवती बाईजी जीवनदासजी	सुपुत्र चेतनदासजी मूंधड़ा एवं गंगाबाई कलकत्ता
प.भ. मुकन्ददासजी एवं काशी बाईजी मूंदड़ा	सुपुत्र व्रजगोपालदासजी व्रजमोहनदासजी और गिरधरदासजी हैदराबाद
प.भ. धन्नावती बाईजी	पतिदेव मूलचन्दजी कुमार इन्दौर
प.भ. हरकिशनदासजी हरलोचनदासजी शाह	सुपुत्र घनश्यामदासजी एवं पुत्र वधु डाक्टर गोकुलकुमारीजी एम.ए.पी.एच.डी. बम्बई
प.भ. रघुनाथजी श्रीकमदासजी	प.भ. जेठालालजी, जामनगर
प.भ. मगतरायजी आवला मुल्तानी	सुपुत्र श्री आसकरणदासजी एवं पुत्र वधु रामप्यारीबाईजी, बम्बई
प.भ. जमुनादासजी एवं शान्तिदेवीजी अग्रवाल	सुपुत्र गिरधारीलालजी विट्ठलदासजी नागरीदासजी, वाराणसी
प.भ. प्रहलाददासजी एवं चन्द्रमणिजी	सुपुत्र कृष्णगोपालदासजी अग्रवाल, वाराणसी
प.भ. मदनमोहनदासजी मऊ वाले	धर्मपत्नी इन्द्रमणिदेवीजी एवं सुपुत्र राधाकृष्णदासजी अग्रवाल, वाराणसी

॥ श्रीहरिः ॥

❋ दो शब्द ❋

अखण्ड भूमण्डलाचार्य जगद्गुरु श्रीमद्वल्लभाधीश महाप्रभुजी की कृपा से श्रीमद्भागवत महा पुराण की आप श्रीविरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत टीका, हिन्दी अनुवाद सहित का प्रकाशन समापन इस २० वें ग्रन्थ के साथ होता है सो परम हर्ष का विषय है ।

श्रीमद्भागवत महा पुराण १७ अन्य पुराणों का मुकुट है जिस एक ही पुराण से अन्य पुराणों की पूर्ति हो जाती है । विशाल सृष्टि के अवलोकन से भगवान के महात्म्य का ज्ञान होता है । भगवान् सर्वात्मा है ऐसा समझ लेने पर भगवान् में दृढ स्नेह व श्रद्धा उत्पन्न होती है । इसी के लिये इस भागवत संहिता की रचना हुई है । इस समाधि भाषा में पुरुष प्रयत्न भक्ति में ही है और ज्ञान साधन है इस ज्ञान से भगवान् के आविर्भाव के बाद भगवान् की लीलाओं और चरित्रों में प्रवेश करना फल' है ये सब कुछ श्रीमद्भागवत से ही प्राप्त होता है । अतः यह उत्तम कल्पवृक्ष है । वेद के पूर्व काण्ड में यज्ञों का और उत्तर काण्ड में ब्रह्म का निरूपण है पूर्व काण्ड का विषय धर्म और उत्तर काण्ड का विषय ब्रह्म ज्ञान है । दोनों काण्डों का अर्थ एक दूसरे को जानने के लिये हेतु रूप है । उसी प्रमाण से श्रीमद्भागवत में धर्म और ज्ञान दोनों भक्ति के कारण रूप है । यह समझाने के लिये गायत्री को बीज, वेद को वृक्ष और श्रीमद्भागवत को फल कहा है । दोनों काण्डों के अर्थ में वेद सम्पूर्ण है । तो भी उसका फल श्रीमद्भागवत है । अतः श्रीमद्भागवत फल के बिना फल रहित वृक्ष वेद वृथा है इसीलिये श्री मद्भागवत की रचना हुई है । जिसकी कुशाग्र बुद्धि होय और जो वक्ता की सेवा का इच्छुक होय ऐसे पुरुष के श्रीमद्भागवत पर बिना विचार और चिन्तवन किये केवल श्रवण मात्र से भगवान् हृदयारूढ हो जाते हैं ।

श्रीमद्भागवत सान्त्वती श्रुति अर्थात् वैष्णवों का वेद है । भगवान् का आधिभौतिक चरण है । इसमें वेद का विरोध नहीं है । श्रीमद्भागवत सर्वोद्धारक है क्योंकि वेद और इतिहास का सार श्रीमद्भागवत में होने से वह तीनों वर्ण शुद्र व स्त्रियों की भी उद्धारक है । श्रीमद्भागवत आद्य पुराण है प्रथम उत्पन्न हुए ब्रह्माजी को भगवान् ने भागवत सुनाई है । अतः श्रीमद्वल्लाधीश ने श्रीमद्भागवत का निरन्तर अध्ययन करने की आज्ञा दी है ।

श्रीमद्भागवत द्वादश अंग वाला भगवत्स्वरूप है और श्रीसुबोधिनी जी श्रीमद्वल्लभाधीश द्वारा प्रकट की गई स्वामिनीजी का स्वरूप है जिस वाणी रूप साहित्य का चन्दन पुष्प द्वारा पूजन भी वैष्णव का कल्याण ही करेगा । उनका परम सौभाग्य है जिसने यह साहित्य प्राप्त किया है । यशोदानन्दन प्रभु से सदैन्य प्रार्थना है कि वैष्णव समाज इस साहित्य का समादर करते हुए इसे बांचने के लिये भी समय देव । इतिशुभम् दीपमालिका वि.सं. २०४४

गो० व्रजभूषणलाल

अध्यक्ष

॥ श्रीहरिः ॥

विनम्र निवेदन

वैश्वानर श्रीमद्वल्लभाचार्य महाप्रभुजी की असीम अनुपम अतुल्य कृपा से इस ग्रन्थ से श्रीमद्भागवत महापुराण की सम्पूर्ण श्री सुबोधनी संस्कृत टीका के प्रकाशन से समापन होता है २० पुस्तक रत्नों के प्रकाशन में लगभग २० वर्ष पूरे हो गये तथापि सदस्य महानुभावों के हृदय में निराशा निरूत्साह की भावना का प्रकट न होना उनकी अलौकिक पवित्र इस साहित्य के प्रति परम श्रद्धा का प्रतीक है ।

कार्यारम्भ के समय किसी को भी विश्वास नहीं होता था कि सम्पूर्ण सुबोधनीजी के हिन्दी अनुवाद का प्रकाशन हो सकेगा । तामस फल प्रकरण अर्थात् पांच पुष्पों के विकसित होने के पश्चात् संस्था के संस्थापक प भ. श्रीनन्दलालजी मानधना ने गोलोक गमन से पूर्व आश्वासन अवश्य दिया था कि महाप्रभुजी की कृपा से अब मुझे विश्वास हो गया है कि सम्पूर्ण सुबोधनीजी का प्रकाशन हो जायेगा । संस्था की स्थापना के दश वर्ष पूर्ण होने के बाद नवम्बर सन् १९७१ में छठा पुष्प राजस-प्रमाण आधा छप चुका था इन २५ वर्षो में अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा । एक बार तो लगभग १ वर्ष तक कागज ही नहीं मिला । एक बार प्रकाशन अर्थाभाव के कारण स्थगित ही रखना पड़ा दशम स्कन्ध के १२ पुष्पों के पूर्ण होने तक आर्थिक स्थिति सामान्य ही रही । सन् १९७६ में द्वितीय ग्रन्थमाला के प्रथम सुमन का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ । प्रकाशन में स्कन्धों का क्रम भी नही रह सका, जिस स्कन्ध का अनुवाद पूर्ण हुवा, उसे ही प्रकाशित करवा दिया गया । अधिकांश में गो०वा० पं० फतहचन्दजी वासु शास्त्री, विद्या भूषण का ही सरल सुबोध भाषा में ही अनुवाद है ।

श्रीसुबोधिनीजी की पुस्तकें सामान्य नहीं है ये बेची नहीं जाती है । लागत मात्र में संस्था के सदस्यों को भेंट की जाती है । महाप्रभुजी का यह वाणी स्वरूप है इसलिये संस्थाध्यक्ष महोदय बार बार आज्ञा करते आ रहे हैं कि यदि इस साहित्य को बांचने का समय न भी मिल सके तो इस साहित्य को वस्त्र में बाँध कर उस का पुष्प चन्दनादि से पूजा करे । तो भी कल्याण होता है ।

महाप्रभुजी के अन्य साहित्य का प्रकाशन तृतीय ग्रन्थमाला में हो रहा है जिसके सदस्य बन कर संस्था के कार्यकर्त्ताओं का उत्साह बढावें ।

शुभ तिथि
दीपमालिका
वि. सं. २०४४
ता २२ अक्टोबर १९८७

कृपाकांक्षी :
नन्ददास (रामचन्द्र)
मंत्री

भागवतार्थ प्रकरण प्रथम स्कन्ध

अध्याय १० से १९ तक

कारिका–दुःखहानिस्त्रिभिः प्रोक्ता सुखं चापि तथा त्रिभिः ।
स्वस्य सामान्यतः पूर्वं कृष्णप्रेमपुरः सरम् ।।११४।।
तदुद्रेको वियोगे स्यात्तदर्थं कृष्णनिर्गमः ।
कृष्णसौख्ये हि तत्सौख्यमिति मूले सुखाभिधा ।।११५।।
पश्चाच्च पुत्रसंपत्त्या विशेषेणोपवर्ण्यते ।
मुक्तिस्त्रिभिस्तथा प्रोक्ता बीजकार्य फलैः स्फुटा ।।११६।।

सप्तम-अष्टम-नवम इन तीन अध्यायों से दुःख की हानि का निरूपण किया और दशम-एकादश–द्वादश इन तीन अध्यायों से सुख का वर्णन किया है और त्रयोदश-चातुर्दश-पञ्चदश अध्यायों में मोक्ष का वर्णन है। दशम-एकादश-द्वादश अध्यायों में जो सुख युधिष्ठिर को कहा है वह पहले सामान्य रूप से कृष्णप्रेमपुरःसर ही था। परन्तु जब कृष्ण का वियोग हुआ तो उस प्रेम में और अधिकता आ गई। इसलिये भगवान् कृष्ण के निर्गमन का वर्णन है। कृष्ण के सुख में ही पांडवों का सुख था इसलिये मूल में सुख का कथन किया गया है। इसके बाद पुत्र की प्राप्ति होने पर उस सुख की अधिकता का वर्णन है। फिर आगे के १३, १४, १५ इन तीन अध्यायों में बीज–कार्य और फल से मुक्ति का वर्णन स्पष्ट रूप से हैं ।।११४-११६।।

(प्र,) दुःख हानि, सुख की प्राप्ति और मोक्ष इनका तीन तीन अध्यायों से प्रतिपादन किया गया है। इससे यह सिद्ध होता है कि पाण्डवों का सब कुछ कृष्ण के ही अधीन है। शंका होती है कि युधिष्ठिर के सुख के वर्णन में भगवत्कथा का उपयोग कहां होता है इस पर कहा है कि 'कृष्णसौख्ये हि तत्सौख्यम्' कृष्ण के सुख में ही युधिष्ठिर का सुख है। अतः दो अध्यायों में कृष्ण के सुख का वर्णन है और पुत्र प्राप्ति के कारण एक अध्याय से युधिष्ठिर के सुख का वर्णन है। भगवान् कृष्ण तो जिस लिये आये थे उसी को करके सुखी होते हैं। भगवान् कृष्ण तो भक्तों के उद्धार के लिये आये थे अतः जो स्वकीय थे उन्हें और जो परकीय थे उन दोनों को ही प्रपञ्च से मुक्त कर दिया। अतः दो अध्याय हैं। यहां तीन अध्यायों में जो प्रमेय हैं वह कुलिष्ट (प्रत्येक वाक्य के विचाराधीन ज्ञान जनक) है उसका अर्थ श्री सुबोधिनी टीका से ही स्पष्ट होगा अतः उसे यहां नहीं कहा है। आगे के तीन अध्यायों का रूप बताते हैं 'मुक्तिस्त्रिभिः' एक अध्याय से बीज (धृतराष्ट्र) की मुक्ति कही है। धृतराष्ट्र का घर से निकल जाना ही मुक्ति का बीज है यदि वह घर से निकल गया और मुक्त हो गया तो दूसरों को भी अपनी मुक्ति में विश्वास हो गया। इसीलिये बीजरूप मुक्ति पहले अध्याय का अर्थ है। नारदजी ने जो धृतराष्ट्र के चरित्र की कहा उनका कारण यही था कि धृतराष्ट्र की मुक्ति बीजरूप है। बीज मुक्ति से जो कार्य युधिष्ठिर आदि का घर से निकल जाना वैराग्य हो जाना यह द्वितीय अध्याय का अर्थ है। और पाण्डवों की मुक्ति फलरूप है ।।११४-११६।।

(आ.) शंका होती है कि पाण्डवों की मुक्ति का उपयोग कहाँ होता है उस पर कहते हैं–

कारिका—पूर्वजानां तथा मुक्तिः स्वस्य त्यागे हि साधनम् ।
त्यागे कृष्णलयश्चैव सर्वेषामुदितः स्फुटः ।।११७।।
तत्रत्यानां तदङ्गत्वं टीकायामेव वर्णितम् ।।११७½।।

अपने पूर्वजों (धृतराष्ट्र) को उस प्रकार की मुक्ति युधिष्ठिर आदि के त्याग में साधनरूप बनी और कृष्ण का लय सभी के त्याग में साधन बना। अर्जुन के स्वरूप का वर्णन भी उसी का अङ्ग होने से उसका वर्णन किया। इसका वर्णन टीका में किया है ।।११७½।।

(प्र.) पूर्वजों की जब तक मुक्ति नहीं होती तब तक उनके बाद में होने वालों की मुक्ति नहीं होती इसका निरूपण पहले किया जा चुका है। दृष्टान्त के प्रकार से भी यह उपयुक्त हैं। यहां पर श्री पुरुषोत्तमजी ने अभेद प्रतिभक्ति ऐसा लिखा है कि जहां मर्यादा से मुक्ति करते हैं वहां ही यह नियम है कि पूर्वजों की मुक्ति के बिना बाद के मरने वालों को मुक्ति नहीं होती। यदि ऐसा ही नियम सर्वत्र होता तो पाण्डु की मुक्ति नहीं हुई तो पाण्डवों की मुक्ति कैसे हो गई। इसलिए आचार्यचरणों ने इसको दृष्टान्त के रूप में लिया है अर्थात् जिस मार्ग का अनुसरण अपने पिता पितामह करते वैसा ही आचरण उनकी संताने भी करती है जैसे अपने पूर्वजों ने त्याग किया उसी तरह हमको भी त्याग करना चाहिये और जैसे हमारे पूर्वजः मुक्त हुए उसी तरह हमको भी मुक्त होना चाहिये 'येनास्य पितरोयातायेन याताः पिता महाः' यह नीति है। यहां यह शंका होती है कि अर्जुन के स्वरूप वर्णन करने आदि का क्या प्रयोजन है इसका निरूपण यहाँ निबन्ध में नहीं किया है किन्तु इस निबन्ध के बनाने के पहले ही जो भागवत की सूक्ष्म टीका की थी, उसमें इसकी संगति का निरूपण कर दिया था। अध्याय का अर्थ तो इतना ही है इसलिये यहां उस संगति का निरूपण कर दिया था। अध्याय का अर्थ तो इतना ही है इसलिये यहां उस संगति का निरूपण नहीं किया है। इसी तरह तृतीय प्रकरण में गुणरूप नौ अध्याय हैं उनके प्रतिबन्ध के अभाव के लिये निरूपण किया है। और बीज आदि को शुद्धि के द्वारा उसका उपयोग होता है यह भी कहा है ।।११७½।।

(आ,) अब चार अध्यायों से परीक्षित के फलमुख साधन का निरूपण उसके अधिकार के लिये हैं—

कारिका--परीक्षितस्तथाध्यायचतुष्टयमुदीर्यते ।।११८।।
राज्य त्यागविभेदेन राज्ये द्वैविध्यमेव च ।
सामार्थ्यस्य द्विरूपत्वाल्लौकिकालौकिकत्वतः ।।११९।।
सर्वपृथ्वीजयः पूर्वः कलेश्चापि तथा परः ।
धरणी धर्मसंवादस्तयोर्भीतत्वसूचकः ।।१२०।।

परीक्षित् के विषय के चार अध्याय कहे गये हैं। राज्य और त्याग के भेद से राज्य में द्विविधता है। लौकिक और अलौकिक यह भेद सामर्थ्य को द्विरूपता के कारण से है। पहले

अध्याय में सारी पृथ्वी के जय का वर्णन है। दूसरे में कलियुग के विजय की बात है। फिर पृथ्वी और धर्म के संवाद का वर्णन है जो कि उनके भय का सूचक है ।।११८-११९-१२०।।

(प्र) अध्यायार्थ के विभाग को 'राज्यत्यागविदेन' से कहते हैं। दो अध्यायों से राज्य का वर्णन है और दो अध्यायों से उसके त्याग का वर्णन है। और राज्य की द्विविधता में सामर्थ्य की द्विविधता कारण है। सारी पृथ्वी का विजय करना लौकिक सामर्थ्य और काल का विजय यह अलौकिक सामर्थ्य है। पृथ्वी और धर्म का संवाद उत्तर का अंगभूत है इसको बताने के लिए 'भीतत्वसूचकः' ऐसा कहा है। भय का कारण कलियुग है उसके भय को दूर करना आगे के अध्याय का अर्थ है। अथवा सभी जगह आध्यात्मिक और आधिभौतिक धर्मों का स्थापन किया यह बताया है। अब आगे आध्यात्मिक धर्म को स्थापन करना है उसके भय को भी राजा दूर करता है यह उसका उत्कर्ष है ।।११९-१२०।।

(आ) इस प्रकरण की अन्य प्रकरण से भी माहात्म्य बोधकता है इस अभिप्राय से कहते हैं—

कारिका—तत्स्थास्तेन कृतार्थाश्च सुतरां कलिना हृताः ।
यो रक्षकस्तयोः पश्चात्कलिनिग्रहतो महान् ।।१२१।।
तस्यापि कृष्णकथया गतिरन्यकथा तु का ।

जो पृथ्वी पर रहते हैं वे धर्म से ही कृतार्थ होते हैं। उनको कलियुग ने अत्यन्त नष्ट कर दिया। पृथ्वी और पृथ्वी पर रहने वालों का जो रक्षक है उससे तथा कलियुग के निग्रह से वह महान् हुआ। जब उसकी गति भी कृष्ण कथा से हुई तो फिर अन्यों की गति कृष्ण कथा से हो तो क्या आश्चर्य है ।।१२१।।

(प्र) यहां पृथ्वी और धर्म का प्रकरण चल रहा है। जो पृथ्वी पर रहते हैं वे धर्म से ही कृतार्थ होते हैं इस तरह के मानवों को भी कलियुग ने अत्यन्त हत कर दिया। भगवान् के प्रमाण के बाद कलि का निग्रह करके उनकी जो रक्षा करता है वह महान् ही होता है अतः यह ही अर्थ दो अध्यायों का है। इस प्रकार के निरूपण का उपयोग यह बताया कि इस प्रकार के महान् राजा परीक्षित् की मुक्ति भी कृष्ण कथा के द्वारा हुई। इससे यह सूचित होता है कि इस समय पृथ्वी के तीर्थ देवता किया जाने वाला धर्म कृष्ण कथा के समान नहीं है। जिनने काल को जीत लिया है, मृत्यु को भी जीत लिया है, उनको भी भगवान् या भागवत ही मोक्ष दे सकते हैं अन्य कोई नहीं दे सकते ।।१२१।।

(आ) शंका हो सकती है कि जिनके ऊपर भगवान् की कृपा दृष्टि थी वे पाण्डव कलियुग का निग्रह न कर सकें इसलिये परीक्षित में स्वयं में ही कोई महत्व होगा और उसके लिये भगवत का सुनना तो भागवत की प्रतिष्ठा को बढाने के लिये होगा इसलिये श्रीशुकदेवजी ने उसे भागवत सुनाई इस पर कहते हैं—

कारिका—कृष्णासक्तया पाण्डवानां नोत्साहः कलिनिग्रहे ।।१२२।।
कलिदोषाभिभूतानां न श्रद्धा हरिवर्णने ।।१२२½।।

कृष्ण में आसक्ति होने के कारण पाण्डवों का कलि के निग्रह में उत्साह ही नहीं हुआ । श्रीशुकदेवजो ने परीक्षित् को भागवत तो इसलिये सुनायी कि जो लोग कलियुग के दोषों से दब गये हैं उनकी श्रद्धा भगवान् की लीलाओं के सुनने में नहीं होती है इसलिये परीक्षित् ही उसका अधिकारी था अतः उसे ही सुनायी ।

(प्र.) पाण्डव भगवान् में आसक्त थे अतः जब भगवान् पधार गये तो समर्थ होते हुए भी वे चले गये (इसलिये परीक्षित में कोई सहज सामर्थ्य नहीं था । एक शंका होती है कि यदि भागवत समर्थ है तो फिर जिस किसी को भी शुकदेवजी सुनाते उनको मोक्ष दे देनों फिर क्या कारण है कि वह भागवत परीक्षित को ही सुनाग्री । उसको उत्तर यह है कि भागवत के विषय में अधिकारी की अपेक्षा नहीं है किन्तु श्रद्धा के विषय में अधिकारी की अपेक्षा नहीं है किन्तु श्रद्धा के विषय में अधिकारी की अपेक्षा है । अन्यथा 'प्रवत्तमानस्य गुणा रनात्मन' यह वाक्य विरुद्ध हो जायगा । इसलिये जिसकी खूब श्रद्धा है वही भागवत के सुनने का अधिकारी है । कलियुग को परीक्षित् ने डरा दिया था इसलिये वह भगवद्भावों को बाधा नहीं देता है ।।१२२½।।

(आ) शंका होती है कि कलियुग ने परीक्षित् को भी दुर्बुद्धि देकर बाधा पहुँचायी तो फिर कलियुग दूसरों को कैसे मुक्त होने देगा इस पर कहते हैं—

कारिका—ज्ञानाग्निदग्धदेहस्य न दाहो लौकिको मतः ।।१२३।।
अतः शापमिषेणेशस्तक्षकाग्निमवासृजत् ।
कलेः स्थानप्रदानाद्धि ब्राह्मणातिक्रमे मतिः ।।१२४।।
युगाभिमानिदेवस्य स्वाधिकारपरिच्युतिः ।
निग्रहो रूपरक्षार्थं स्थानदानं प्रकीर्तितम् ।।१२५।।

देशकालानुसारेण शुद्धयशुद्धि प्रकीर्तिते ।
कलौ षण्णां तथापेक्षा नास्ति धर्मोन्नतिस्ततः ।।१२६।।
असिद्धत्वान्तामसत्वान्तामसं फलमस्य तु ।
चित्तशुद्धिर्न चैव स्यात्पङ्किलोदकपूरवत् ।।१२७।।
मालिन्यं मलिने लके न सम्यगुपजायते ।
दुःखं च तामसं तस्य मूढं सह्यमलौकिकम् ।।१२८।।

ज्ञानाग्नि से जिस देह का दाह होता है वह लौकिक दाह नहीं माना गया है । इसीलिये शाप के मिष से ऋषि ने तक्षकाग्नि की सृष्टि की परीक्षित् ने कलियुग को रहने का स्थान दे दिया इसीलिये ब्राह्मण का अपमान करने की उसकी बुद्धि हुई । युग के अभि-मानी देवता (कलियुग) को अपने अधिकार से अच्युत किया और उसका निग्रह किया तथा उसे अपने रूप की रक्षा के लिये स्थान भी दिया इसका वर्णन है । देश और काल के अनुसार शुद्धि और अशुद्धि का कथन किया है। कलियुग में छः की शुद्धि की अपेक्षा नहीं है। कलियुग के स्वरूप की रक्षा से ही धर्म की उन्नति हुई । कलियुग के असिद्ध और तामस होने से उसका फल भी तामस होता है। गन्दे जल से जिस तरह शुद्धि नहीं होती उसी तरह कलियुग के धर्मों से चित्त शुद्धि नहीं होती । मलिन लोक में मलिनता ही उत्पन्न होती है। इसके द्वारा होने वाला दुःख तामस है इसलिये मूढतारूप है सहन करने के योग्य होता है और अलौकिक है ।।१२३-१२८।।

(प्र.)परीक्षित् ने जो ब्राह्मण का अपमान किया वह भगवान् ने ही करवाया कलियुग ने नहीं करवाया । यदि यह शंका हो कि भगवान् ने उसे ब्राह्मण का अपमान करने की बुद्धि क्यों दी उस पर कहते है कि उसने दुष्ट कलियुग को स्थान दिया था इसलिये उसका तामस कार्य में आग्रह हो गया । इससे यह सिद्ध होता है कि अधर्म से ही (दुष्ट को स्थान देने से ही) उसकी बुद्धि वैसी हुयी । शंका होती है कि कलियुग तो कालरूप है काल की तो कोई मूर्ति होती नहीं तो फिर निरन्तर वर्तमान उसका निग्रह और उसको स्थान देना ये सब कैसे हो सकते हैं इस पर कहते हैं कि कलियुग जो काल रूप है उसका अभिमानी जो देवता है उसका निग्रह एवं उसी को स्थान दिया । अर्थात् परीक्षित् के राज्य काल में कलियुग के धर्मों की प्रवृत्ति नहीं हुई ये ही उसका निग्रह था । और उसके स्वरूप की रक्षा की यही स्थान का दान था । शंका करते हैं कि अधर्म की जब रहने की जगह दी तो नसके द्वारा होने वाले ब्राह्मण के अपमान से अन्त में उसका मोक्ष कैसे हो गया । इसका समाधान करते है कि शुद्धि देशकाल के अनुसार कही गयी है । कलियुग अत्यन्त दुष्ट नहीं है । जिस तरह अन्तकाल में रोग होता है उसी तरह कलियुग

में अन्तःकाल में भगवान् का स्मरण होने पर उसकी शुद्धि हो जाती है अतः यह कलियुग शुद्ध है यह कलियुग बिना किसी की सहायता के ही हुए है अतः इसके स्वरूप की रक्षा करने से धर्म की उन्नति हुई। इसलिये इस कलियुग में किये जाने वाले तामस कर्मों से कभी मुक्ति हो जाती है। इससे तो यह ज्ञात हुआ कि यह कलियुग महान् है और महान् की रक्षा करना सात्विक कर्म है तो फिर परीक्षित् की ब्राह्मण के अपमान करने की बुद्धि क्यों हुई और क्यों उसको सर्प से मृत्यु हुई। इसका उत्तर यह हैं कि कलियुग में यदि धर्म होता तब कलियुग के असहाय शूर होने से उसको रक्षा करना सात्विक कर्म होता परन्तु उसमें तो धर्म सिद्ध ही नहीं है इसलिये उसकी रक्षा करने का ऐसा फल परीक्षित् की मिला। कलियुग तामस है सत्ययुग सात्विक है, त्रेता राजस और सात्विक हैं। द्वापर राजस एवं तामस है और कलियुग तो केवल तामस है। इसलिये तामस युग की रक्षा भी तामसी है और उसका फल भी वैसा ही होता है। इस कलियुग के धर्मो से चितशुद्धि नहीं होती किन्तु स्वर्गादिक ही होते हैं। इस कलयुग में अदृष्ट फल ही होता हैं दृष्ट फल नहीं होता इसके लिये गंदले जल के प्रवाह का दृष्टान्त दिया है। पाप के अभाव में भी ऐसा ही समझना इसमें लौकिक न्याय को कहते है 'मालिन्यं मलिने लोके खराब अदृष्ट (भाग्य) को दुरदृष्ट कहते हैं उससे नरक तो नहीं होता किन्तु पाप के कारण ऐहिक दुःख ही होता है और वह दुःख तामस होता है तीव्रवेवनारूप नहीं होता किन्तु मोह रूप होता है जिससे वह सहन करने योग्य होता है। और बह दुःख अलौकिक होता हैं इससे उसमें लोकनिन्दा नहीं होती। इससे कलियुग की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया।१२३-१२८।

(आ.) इस कलियुग में भगवान् कृष्ण के कीर्त्तन से बन्धन से मुक्त होकर परब्रह्म को प्राप्त करता है, यह जो इसक मुख्य श्रेष्ठता है उसका प्रतिपादन क्यों नहीं किया इसो पर कहते हैं—

कारिका—भागवताप्रवृत्तेर्हि कीर्त्तनाद्यादरो न हि ।
अग्रे तस्य कथा वाच्या सारोमिति बुध्यताम् ।।१२९।।
कल्पभेदाद्भारतादि कथयान विरुध्यते ।
सर्वज्ञात्वादृषीणां हि श्रवणार्थं । तथा गति ।।१३०।।

भगवत शास्त्र की प्रवृत्ति होने से भगवान् के कीर्त्तन आदि में आदर हुआ। यदि कीर्त्तन का आदर नहीं किया जायेगा तो कोई कार्य सिद्ध नहीं होगा। आगे बारहवें स्कन्ध में इसकी परीक्षित् कथा कही जायेगी। इस युग का यही सार है यह जानना चाहिये महाभारत में परीक्षित् की कथा का उत्तमत्व वर्णन नहीं है परन्तु कल्पभेद के कारण उसे विरुद्ध न समझना। ऋषियों

का परीक्षित् के यहां आना दया के कारण नहीं था किन्तु ऋषि सर्वज्ञ थे इसलिए भागवत सुनने के लिए वहाँ आये ॥१२९-१३०॥

(प्र.) भागवत शास्त्र की प्रवृत्ति होने के बाद ही कीर्त्तन आदि होते हैं उसके आदर न करने पर यह कार्य सिद्ध नहीं होगा इसलिए उसे नहीं कहा । आगे बारहवे स्कन्ध में कहेंगे । कलियुग का ये ही मुख्य गुण है ऐसा सिद्धान्त का सार है ऐसा जानना । कलियुग स्वभाव से दुष्ट था इसलिए परीक्षित् में ब्राह्मण का अपमान करने की बुद्धि उत्पन्न हुई । परन्तु कलियुग गुण से श्रेष्ठ है अतः अन्तिम में परीक्षित् की मुक्ति हो गयी । शंका होती है कि महाभारत में तो परीक्षित् की उत्तम कथा नहीं है तो फिर ऐसे को सुनाई गई भागवत की कथा में उत्तमता कैसे होगी इसका उत्तर यह है कि कल्पभेद के कारण ही महाभारत और भागवत में भेद है । राजा परीक्षित् के ऊपर दया होने से ऋषि लोग नहीं आये थे किन्तु सर्वज्ञ होने से भागवत को सुनने के लिये वे आये थे ॥१२९-१३०॥

(आ.) व्यासजी और नारदजी ये मध्यम वक्ता थे तथापि किसी कारण से नहीं आये होंगे ऐसा आशङ्का करके उनके नहीं आने का कोई दूसरा ही प्रयोजन था उसे कहते हैं—

कारिका—व्यास नारदयोश्चैव तत्प्रवृत्तिदिदृक्षया ।
अविरक्तेर्मध्यमत्वाद्रामस्य क्रियया गतिः ॥१३१॥

वैराग्य के न होने से व्यास और नारदजो में मध्यमता थी इसलिए वे उस प्रवृत्ति के देखने को इच्छा से नहों आये । परन्तु परशुरामजो तो वहां आये थे क्योंकि वे क्रियाशक्ति के अवतार थे और भागवत उस क्रिया शक्ति का विशेष रूप से कथन करता है इसलिए उनका आना उचित हो था ॥१३१॥

आशंका [illegible] कि सबकी अपेक्षा तो भगवान् उत्तम हैं अतः यहां अलौकिक धर्मो से उत्कर्ष का और अपकर्ष का विचार क्यों किया । इसलिए सभी भगवान् के अंश हैं और शुकदेव जी की अपेक्षा उत्तम है इस आशंका पर कहते हैं ।

कारिका—शुकः शिवस्ततोप्येवमीश्चराज्ज्ञानसंस्थितिः ।
एतदर्थं हि भगवान्वतीर्णो । वृषध्वजः ॥१३२॥

द्वात्रिंशल्लक्षणैर्युक्तो भक्तानां सुरपादपः ।
तत्र प्रश्नद्वयंलोके सर्वदोपमूर्तिक्रमात् ॥१३३॥

श्री शुकदेवजी शिव थे और ब्रह्मज्ञानी होने से लौकिक श्रेष्ठता भी थी ईश्वर के द्वारा प्राप्त होने वाला ज्ञान ही स्थिर रहता है इसलिए वृषध्वज भगवान् श्री शिव ने शुकदेव के रूप में

अवतार लिया। वे शुकदेवजी बत्तीस लक्षणों से युक्त थे और भक्तों के लिए तो वे कल्पवृक्ष ही थे। उन श्रीशुकदेवजी से राजा ने दो प्रश्न किये। लोक में सर्वदा क्या करना और मृत्यु जब निकट आ जाय तब क्या करना।

(प्र.) गुणावतार (शिव का अवतार) होने से श्री शुकदेवजी भी महान् थे। ब्रह्मवेत्ता होने के कारण लौकिक में भी उनकी महत्ता थी। और भी कारण बताते हैं। ईश्वर से प्रदत्त होने वाला ज्ञान ठीक तरह से स्थिर होता है वह ज्ञान माया आदि के द्वारा लुप्त नहीं होता। इससे जैसे आरोग्य की कामना सूर्य से की जाती है उसी तरह ज्ञान प्राप्ति शिव से करनी चाहिये चारों के लिए ऐसी ही व्यवस्था मुख्य है यह सूचित किया। यदि शंका हो कि शिव को शुकदेव के रूप में अवतार लेने की क्या आवश्यकता थी इसका समाधान यह है कि भगवान् कृष्ण ने सबकी मुक्ति के लिये अवतार लिया था किन्तु जब स्वयं स्वधाम पधारने लगे उस समय शिवजी को अपनी जगह स्थापित कर गये। इसलिये भागवत की प्रवृत्ति के लिये ही शिवजी(शुकदेवजी) का अवतार है। यदि कहा जाय कि शिवजी तो काशी में रहकर ज्ञान का उपदेश कर ही रहे हैं फिर अवतार लेने की क्या आवश्यकता हुई। शिवजी को वृषध्वज कहते हैं। वृष नाम धर्म का है उस धर्म के प्रकार से ही सबको मुक्त करने के लिए उनका अवतार है। कूर्मपुराण में यद्यपि शुकदेवजी को शिव का अवतार बताया है परन्तु शुकदेवजी में महापुरुषों के जो बत्तीस लक्षण है उनसे भी उनकी महापुरुषताण सिद्ध होती है। ऐसे श्री शुकदेवजी के आने पर राजा ने जो किया उसे कहते हैं। राजा ने यह प्रश्न किया कि सर्वदा क्या करना चाहिये और मरने वाले को क्या करना चाहिए ।।१३२-१३३।।

इति श्रीमद्वल्लभ दीक्षित विरचित तत्त्वार्थ दीप निबन्ध-श्रीमद्भागवतार्थ प्रकरण, प्रथम स्कन्ध हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण।

श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण की बधाई।

राग नट

जो पे श्री वल्लभ धरते न रूप।
अर्थ श्री भागवत को काहि सकतो, पतित परते सब कूप ।।१।।
अद्य गज वन नपु वसन न पारत, नाम सुनत मृग भूप।
विष्णुदास चरणन छाया तक अकुलानो भव धूप ।।२।।

—●—

⁙ श्री सुबोधिनी ⁙

प० भ० श्रीमाधवभट्टजी काश्मीरी

प० भ० श्रीकृष्णदासजी मेघन

प० भ० श्रीदामोदर-दासजी हरसानी

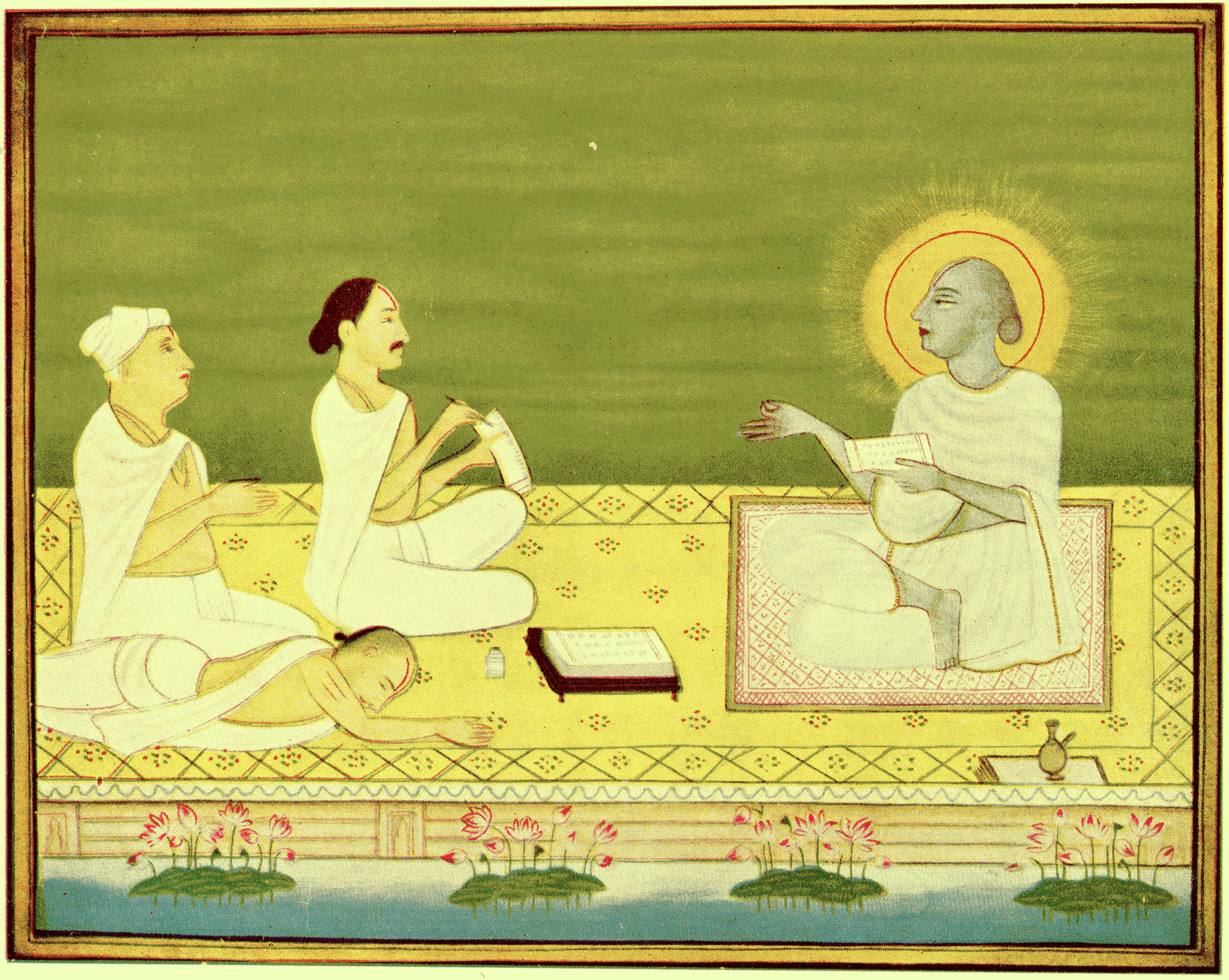

अखण्ड भूमण्डलचार्य चक्र चूडामणी श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण (श्री महाप्रभुजी)

श्री मद्वल्लभाचार्य चरण (महाप्रभुजी) प. भ श्री माधवभट्टजी को सुबोधिनी लिखवा रहे हैं।

।। श्रीकृष्णाय नमः ।।

।। श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ।।

।। श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ।।

● श्रीमद् भागवत संहिता ●

श्री मद्वल्लभाचार्य चरण द्वारा विरचित

श्री सुबोधिनी (संस्कृत टीका)

हिन्दी अनुवाद सहित

प्रथम स्कन्ध

अध्याय—१०

उत्तमाधिकार प्रकरण

भगवान् श्रीकृष्ण का द्वारकागमन

कारिका—नैश्चिन्त्यसिद्धये विष्णोर्भीष्मुक्तिर्निरूपिता ।
ऐहिके सर्वसौख्यं तु दत्तवांस्तन्निरूप्यते ।।१।।

पाण्डवानां यदूनां च तदध्यायद्वयेन हि ।
निरूप्यं प्रथमं तत्र पाण्डवानां तदुच्यते ।।२।।

कृष्णाधीनं सुखं यस्य स सुखीति निगद्यते ।
अतः कृष्णपरं चित्तं सर्वेषामत्र वर्ण्यते ।।३।।

कारिकार्थ—भगवान् की निश्चितता वाली सिद्धि के लिए भीष्म पितामह की मुक्ति का निरूपण पिछले अध्याय में किया है ।।१।।

अब पाण्डवों और यादवों को इस लोक सम्बन्धी प्रत्येक सुख भगवान् ने दिया है, उसे दो अध्यायों द्वारा निरूपित किया गया है। उसमें पहले पाण्डवों के ऐहिक सुख का वर्णन किया जाना है। उसे इस अध्याय में कहा गया है ॥२॥

जिस मनुष्य का सुख भगवान् श्रीकृष्ण के अधीन होता है, वही सुखी कहलाता है। इसलिये प्रत्येक का चित्त श्रीकृष्ण में लगा हुआ है। यह इस अध्याय में कहा गया है ॥३॥

आभास—पूर्वाध्यायान्ते युधिष्ठिरस्य राज्यप्राप्तिरुक्ता। तत्र राज्यकरणं ज्ञानाज्ञानाभ्यां न घटत इति राज्यस्थितिं पृच्छति शौनकः—

आभासार्थ—प्रथम अर्थात् इससे पूर्व वाले अध्याय में युधिष्ठिर को राज्य प्राप्ति हुई है यह कहा गया है। इससे युधिष्ठिर द्वारा ज्ञान से अथवा अज्ञान से राज्य करना घटित नहीं हुआ; इसलिए शौनक मुनि राज्य की स्थिति के विषय में प्रश्न करते हैं।

शौनक उवाच—श्लोक—**हत्वा स्वरिक्थस्पृध आततायिनो युधिष्ठिरो धर्मभृतां वरिष्ठः।**
सहाऽनुजैः प्रत्यवरुद्धभोजनः कथं प्रवृत्तः किमकारषीत्ततः ॥१॥

श्लोकार्थ—अपने भाग को लेने वाले, आततायी (धन इत्यादि का हरण करने वाले) को मारकर, पहले जिनका भोजन रोक लिया गया था ऐसे राजा युधिष्ठिर भाईयों के साथ राज्य में प्रवृत्त हुये; फिर इसके बाद उनने क्या किया? यह कहिये ॥१॥

सुबोधिनी—**हत्वेति**। स्वरिक्थे स्पर्द्धन्त इति तथा। रिक्थं धनम्। अत एव आततायिनः धनापहान्। अवध्यवधे हेतुराततायित्वम्। अस्वरिक्थे वा स्पर्द्धा येषाम्। अनेन धनार्थिनो हत्वा धनं गृहीत्वा तेन राज्यकरणमनुचितमिति ज्ञातिम्। नत्वेवमेव प्राकृताः कुर्वन्ति? तत आह—**धर्मभृतां वरिष्ठ इति**। न धर्मज्ञानमात्रं कृतिमात्रं वा। किन्तु ये धर्ममेव गृहीत्वा तिष्ठन्ति तेषां मध्ये श्रेष्ठ। **अनुजैः सहेति**। सर्वत्र शत्रुवधे धर्मज्ञाने राज्यप्राप्तौ च किञ्चिद्भ्रातृणामैकमत्यमस्ति न वेति सम्बन्धः। प्रत्यवरुद्धं भोजनं यस्य। भोजनं पालनमभ्यवहरणं वा। पूर्वमाततायिभिः प्रत्यवरुद्धं भोजनम्। इदानीं वा अवरोधस्य प्रतिकूलत्वे प्राप्तभोजनत्वं सिद्ध्यति। अतस्तुच्छे राज्ये सर्वज्ञस्य कथं प्रवृत्तिः। सन्तोषेण च राज्ञो राज्ये स्थातुमशक्तत्वात्ततो राज्यं प्राप्य पुनः कलहाद्यन्यद्वा कृतमिति प्रश्नः ॥१॥

व्याख्यार्थ—अपने भाग में ईर्ष्या करने वाले, इसलिये अपने भाग का जो धन इत्यादि था उसमें कौरव स्पर्धा करने वाले थे, इसलिये वे आततायी थे। इसीलिये

वे धन इत्यादि का हरण करने वाले थे। कौरव मारने योग्य नहीं थे तो भी वे आततायी होने से उन्हें मारना पड़ा। वह कौरवों के स्वयं का भाग नहीं था और वे कौरव पाण्डवों वाले भाग की स्पर्धा करते थे। अतः इस प्रकार के इन मारे जाने योग्यों को मारकर राज्य किया, ऐसा नहीं समझना चाहिए। कारण यह है कि वे कौरवादिक धन की इच्छा वाले थे, उन्हें मारकर, धन लेकर राज्य करना, यह तो युधिष्ठिर के लिये उचित नहीं हुआ। यह सूचित किया गया।

यदि कोई इस प्रकार की शंका करे कि इन ने भी प्राकृत पुरुष जैसा कार्य किया, इस प्रसंग में शंका का निवारण इस प्रकार है कि युधिष्ठिर धर्म धारण करने वालों में श्रेष्ठ हैं। वे केवल धर्म के विषय में ज्ञानी हैं या क्रिया मात्र करते हैं इतना ही नहीं, अपितु जो धर्म को ग्रहण करके रहने वाले है, उनमें युधिष्ठिर सबसे बड़े हैं। उनके लिये धन की इच्छा वालों को मार कर उनका धन लेकर राज्य करना ठीक नहीं।

भाईयों के साथ किस प्रकार प्रवृत्त हुये तथा क्या कार्य किया उसका आशय यह है कि शत्रुओं को मारने में; रहस्य को जानने में, राज्य की प्राप्ति में प्रत्येक भाई एक मत हैं या नहीं यह जानने के लिये "भाइयों सहित," पूछा गया गया है। उन भाइयों का भोजन व पालन पहले से ही रोक लिया गया था। आततायी कौरवों ने इसे रोक दिया था। अब वह रुकावट दूर हो जाने से उन्हें भोजनादि प्राप्त हुआ है; अतः खराब स्थिति वाले राज्य में सर्वज्ञ की प्रवृत्ति क्यों हुई ? कारण कि राजा को राज्य में हमेशा सन्तोष से रहना ठीक नहीं, राज्य प्राप्ति के बाद फिर कोई युद्ध आदि किया अथवा नहीं, शौनकजी के पूछने का यह अभिप्राय है।

आभास— तत्र स्वेच्छया युधिष्ठिरेण न किञ्चित्कृतं किन्तु भगवदिच्छयेति तस्य न राज्ये दोषो गुणो वा। किन्तु भक्तत्वाद्भगवदिच्छया राज्यं कृतवानिति वक्तु भगवांस्तस्मै राज्यं दत्त्वा तुष्टो जात इत्याह।

आभासार्थ— इस प्रसंग में यह स्पष्टीकरण है कि युधिष्ठिर ने अपनी इच्छा से कुछ भी नहीं किया है, भगवान् की इच्छा से ही किया है। अतः राज्य का गुण अथवा दोष उन्हें कुछ भी नहीं हुआ। भक्त होने से भगवान् की इच्छा से ही

युधिष्ठिर ने राज्य किया है। यह बताने के लिये ही "भगवान् को राज्य देकर संतुष्ट हुआ," ऐसा कहा गया है।

सूत उवाच-श्लोक-**वंशाकुरं वंशदवाग्निनिर्हृतं संरोहयित्वाऽभवभावनो हरिः। निवेशयित्वा निजराज्य ईश्वरो युधिष्ठिरं प्रीतमना बभूव ह ॥२॥**

श्लोकार्थ—वंश में उत्पन्न हुई दावाग्नि से जले हुए कुरु वंश को फिर से पल्लवित कर, मोक्ष को देने वाले भगवान् युधिष्ठिर को अपने राज्य में आसीन करके निश्चय ही प्रसन्न हुये ॥२॥

सुबोधिनी-वंशाकुरमिति । द्वयं कृत्वा भगवान् प्रीतो जात। । वंशाङ्कुरपरीक्षिद्रक्षणं युधिष्ठिराय राज्यदानं च। ततस्तत्र भगवतस्तादृशेन कार्येण किमित्याशङ्क्य (?) स्वभक्तानां वंशरक्षा सर्वथा कर्तव्या। तदभावे प्रवृत्तिमार्गनिष्ठता अयुक्ता। ऋणित्वात्। वैषयिकसुखाभावाच्च। दैत्यांशैर्हि भगवदीयानां द्वयं दूरीक्रियते। तत्र भगवतैव प्रतिविधातव्यम्। स्वतः प्रतीकाराभावायाऽऽह-**वंशदवाग्निनिर्हृतमिति**। वंशे दवाग्निः। वंशाद्वा उत्पन्नोऽन्योन्यसङ्घर्षणेन। **संरोहयित्वेति**। नूतनमङ्कुरमुत्पाद्य। तथा करणे हेतुः। अभवो मोक्षस्तं भावयतीति। **'ऋणत्रयमनपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्" "नाऽपुत्रस्य लोकोऽस्ति सर्वे ते पशवो विदु"** रित्यादिश्रुतिस्मृतिवाक्यैर्वंशाभावे पितृणामाक्रोशान्मुक्तिर्न स्यात्। किञ्च। **हरिः**। सर्वदुःखहर्त्ता। अपुत्रकृतक्लेशमपि दूरीकरोतीत्यर्थः। **भवभावन** इति वा। उद्भवमेव भावयति। अभिवृद्धिभावनकर्तेत्यर्थः। राज्यं तु पूर्वमेव सिद्धम्। अन्यथा सर्वेभ्यो भक्तेभ्यो राज्यदानं प्रसज्येत। अतो निवेशनमेव कृतवान्। तत्र हेतुः-**ईश्वर इति**। स्वयमीश्वरोऽन्यानपीश्वरान् कृत्वा सुखी भवति। अथवा। ईश्वरः समर्थः। असमर्थो हि प्रमाणमुखनिरीक्षकः सर्वं त्याजयित्वा मुक्तिं प्रयच्छति। अयं तु न तथेत्यर्थः। **हेति निश्चये** ॥२॥

व्याख्यार्थ—परीक्षित की रक्षा करके युधिष्ठिर को राज्य सौंपा, यह दो कार्य करके भगवान् प्रसन्न हुये। इसके बाद इस प्रकार का कार्य करने से क्या फल मिला, ऐसी शंका करके समाधान करते हैं, कि अपवे वंश की रक्षा हर प्रकार से करनी चाहिए। ऐसा न करने से प्रवृत्ति मार्ग में जो निष्ठा है, वह अयोग्य हो जाती है। क्योंकि भक्तों के विषय में तो भगवान् ही (उत्तरदायी हैं) ऋणी हैं। इसी प्रकार भक्तों को तो विषय सम्बन्धी सुख होता नहीं है। इसलिये प्रवृत्ति मार्ग चलाने के लिये भक्तों के वंश को भी भगवान् रक्षा करते है। इस प्रकार भक्तों को अपने आप प्रवृत्ति मार्ग में निष्ठा नहीं होती है। परन्तु भगवान् की इच्छा से होती है। और जब तक वंश न हो तब तक भक्त के ऊपर पितृ गण का ऋण रहता है। वह दूर

करने के लिये ऊपर बताई हुई दोनों बातें भगवान् की की हुई हैं। भक्तों को आप आप विषय सुख की इच्छा नहीं होती।

दैत्य वंश के पुरुष हों तो भी उनके भक्त होने की स्थिति में वंश रक्षण तथा राज्य प्राप्ति ये दोनों कार्य भगवान् सिद्ध करते है। अतः (ऐसी परिस्थिति वाले भक्तों के लिये) भगवान् को ही उसका उपाय करना चाहिये। इसलिये उनका वंश रखने के लिये परीक्षित की रक्षा की है और युधिष्ठिर को राज्य दिया।

उस वंश की रक्षा स्वयं से नहीं हो सकती, क्योंकि वंश में दावाग्नि रूप क्लेश खड़ा हो गया था अथवा वंश से दावाग्नि रूपी क्लेश हो गया था। जैसे बांस का वन परस्पर बाँस के घिसने से उसमें अग्नि उत्पन्न करता है। परन्तु उस आग को दूर करने का काम बांस नहीं कर सकता। उसी प्रकार कुरु वंश में परस्पर क्लेश हुआ, वह अपने आप दूर नहीं हो सकता था। उस क्लेश से युक्त परिक्षित गर्भ में था। वहां भी उसे जलाने के लिए अश्वत्थामा का ब्रह्मास्त्र आया। जिससे उसका शरीर जलने लगा था। उसमें भगवान् ने नवीन अंकुर उत्पन्न करके परीक्षित की रक्षा की। क्योंकि भगवान् मोक्ष देते है।

ऐसा कहा है कि तीन ऋणों की निवृत्ति किये बिना मोक्ष में मन नहीं लगाना चाहिये, ऐसा स्मृति का वाक्य हैं। इसी प्रकार पुत्र बिना मनुष्य को अच्छा लोक प्राप्त नहीं होता है, ऐसा श्रुति में कहा है। इसी प्रकार पुत्र बिना सब पशु हैं, ऐसा ऋषि लोग जानते हैं; ऐसा स्मृति का वाक्य है। इसलिए वंश न हो तो पितृ रुदन करते हैं और उनकी मुक्ति नहीं होती।

भगवान् सबके दुःखों को हरण करने वाले होने से अपुत्रपने का दुःख भी दूर करते हैं। इस प्रकार उत्पत्ति की वृद्धि करने वाले प्रभु हैं। इसलिये वंश की वृद्धि करने के लिये आपने परीक्षित की रक्षा की।

युधिष्ठिर के राज्य तो पहले भी था परन्तु शत्रुओं ने उसे ले लिया था। वही राज्य वापस दिलवाया है। यदि ऐसे भगवान् प्रत्येक भक्त को राज्य देते हों, तो सब भक्तों को राज्य देने की परम्परा ही बन जाय। यहां युधिष्ठिर से छीना गया राज्य ही वापस दिलवाया है।

युधिष्ठिर को तो भगवान् ने राज्यासन पर ही बिठाया है। इसका कारण है कि भगवान् ईश्वर हैं, इसलिये दूसरे को भी ईश्वर करके सुखी होते हैं। वहां शंका उठती है कि भगवान् मुक्ति देने के लिए प्रकट होते हैं, फिर युधिष्ठिर को मुक्ति न देकर राज्य कार्य में क्यों लगा दिया है? उसका समाधान करते हैं कि भगवान् ईश्वर हैं, समर्थ हैं।

जो असमर्थ होते हैं वे प्रमाण पूर्वक फल लेने देने में तत्पर होते हैं। अतः हरेक का त्याग करवा कर मुक्ति देते हैं। परन्तु ये भगवान् तो सर्व समर्थ हैं। इसलिये इन्हें प्रमाण की रीति से देखने का कोई कारण नहीं।

इसलिये वे प्रभु तो राज्य में जोड़कर भी मुक्ति देने में समर्थ हैं। मूल में 'ह' अव्यय रखा गया है वह इस बात का निश्चय बताता है।

आभास—ईश्वरधर्माविर्भावाभावे तुच्छत्वे स्वस्मिन्स्फुरति राज्याद्भयम्। तद्युधिष्ठिरस्य ज्ञानादपगतमित्याह—

आभासार्थ—यदि युधिष्ठिर में ईश्वर धर्म का आविर्भाव न हुआ तो उसके अभाव में हीन भावना उत्पन्न होती तथा स्वयं में ही राज्य से भय उत्पन्न हो जाता। वह (भय) युधिष्ठिर के ज्ञान से दूर हुआ है, ऐसा कहा गया है।

श्लोक—**निशम्य भीष्मोक्तमथाऽच्युतोक्तं प्रवृद्धविज्ञानविधूतविभ्रमः।
शशास गामिन्द्र इवाऽजिताश्रयः परिध्युपान्तामनुजानुवर्त्तितः ॥३॥**

श्लोकार्थ—भीष्म पितामह के कहे हुये को हृदयंगम करके तथा इसी प्रकार भगवान् के कथन को विचारते हुये, अत्यधिक बढ़े हुए ज्ञान से विशेष रूप से दूर हो गया है भ्रम जिनका, भगवान् का ही एक मात्र दृढ़ आश्रय है जिन्हें और जो अपने भाईयों द्वारा सेवा किये जाते हुये राजा युधिष्ठिर जी इन्द्र के समान पृथ्वी का पालन करने लगे ॥३॥

सुबोधिनी—**निशम्येति** आवश्यकं तु कर्त्तव्यमेव न तेन किञ्चिन्नश्यतीति भीष्मवाक्यश्रवणादेव राज्यभय **निवृत्तम्**। **अथ** भिन्नप्रक्रमेण। ईश्वरविचारेण "**नारायणपराः सर्वे न कुतश्चन बिभ्यति**" तिन्यायेन नारायणपरस्य भगवद्वाक्यमेव कर्त्तव्यम्। **न तु विषयजन्यं भयमपि**

सम्भावनीयमित्यच्युतोक्तम् । एवं मर्यादापुष्टिभ्यां सर्वोऽपि शास्त्रार्थोऽवगतः । [illegible] अवृद्धविज्ञा-नेन विधूता दूरीकृता विशिष्टा भ्रमा यस्या । गां पृथिवीमाज्ञापूर्वकं पालितवान् । अन्यो हि राजा दैवाद्वृष्टौ सञ्जातायां सस्ये सम्पन्ने चौरादिभिः परं पालयति । अयं तु वृष्टिमपि निष्पाद्य स्वधर्मेण पुष्टान् कृत्वा पालयतीत्याह–**इन्द्र इवेति** । मनुस्यस्यैवम्पालनसामर्थ्ये हेतुः–**अजिताश्रय इति** । न केनाऽपि जितो भगवानाश्रयो यस्य । परिधिः समुद्र उपान्ते यस्याः । यद्यप्यन्ये राजानः सन्ति तथाप्येतदाज्ञाकारिण इति तथोक्तम् । अनुजैरनुवर्त्तितः । प्रथमतो भ्रातर एव कुर्वन्ति । पश्चात्तत्स्वयं करोति । भ्रातृभिः सेवितो वा ॥३॥

व्याख्यार्थ—जो कार्य आवश्यक है, वह करना ही चाहिये । ऐसा करने में कोई हानि नहीं है । यह भीष्म पितामह का उपदेश सुनने के बाद युधिष्ठिर का राज्य विषयक भय दूर हो गया ।

मूल में 'अथ' अव्यय का प्रयोग हुआ है, वह दूसरे विषय का प्रारम्भ सूचित करता है अर्थात् श्रीकृष्ण हमारे रक्षक हैं । इस प्रकार से जो नारायण में परायण होता है, उसे भगवान् की आज्ञानुसार ही करना चाहिये । इस प्रकार सुनकर, मर्यादा और पुष्टि की रीति से युधिष्ठिर के समझने में आया है । क्योंकि भीष्म पितामह के वाक्य मर्यादा की रीति के अनुसार हैं, और भगवान् के वाक्य "किसी से भी डरे नहीं," यह पुष्टि की रीति बताई है । यह दोनों प्रकार युधिष्ठिर के समझने में आये हैं । जिससे उनके ज्ञान में बहुत ही वृद्धि हुई है, और उस विचार के विज्ञान से युधिष्ठिर के प्रत्येक भ्रम दूर हो गये हैं ।

तब उस आज्ञा के अनुसार पृथ्वी का पालन करने लगे । दूसरे तो वर्षा होने के बाद खेतों में उत्पन्न हुये अनाजों की चोर-लुटेरों से रक्षा केवल उसी समय करते हैं और युधिष्ठिर तो वर्षा को वहीं उत्पन्न कर अपने धर्म द्वारा हरेक को अनुगृहित करते हुये पालन करते हैं । इसीलिये कहा गया है कि जैसे इन्द्र पालन करते हैं, उसी प्रकार युधिष्ठिर पालन करते हैं ।

युधिष्ठिर तो मनुष्य हैं, तो भी देवताओं की तरह पालन करने की सामर्थ्य होने के कारण बताते हैं कि भगवान् किसी से भी जीते नहीं जाते । ऐसे अजित भगवान् युधिष्ठिर के रक्षक हैं । इसलिये प्रभु की सामर्थ्य भक्त में आवे तो उसमें क्या आश्चर्य है ? कोई भी आश्चर्य नहीं माना जा सकता । समुद्र पर्यन्त पृथ्वी का वे पालन करते हैं । यह बात इसलिये कि पृथ्वी के ऊपर अन्य दूसरे राजा भी खंड

मंडलाधिपति हैं, वे सब भी युधिष्ठिर की आज्ञा प्रमाण ही शासन करते हैं। यह बताने के लिये ही "समुद्र पर्यन्त पृथ्वी का पालन करते हैं," ऐसा कहा गया है।

प्रथम तो उनके भाई ही सबका पालन करते हैं, उनके बाद वे स्वयं करते हैं। अथवा हरेक भाइयों से अपनी सेवा की जाती है। इस प्रकार उनके भाई भी उनकी सेवा में उपस्थित रहते हैं।

आभास—तस्य धर्मेण पोषितस्य राज्यस्य गुणानाह त्रिभिः—

आभासार्थ—युधिष्ठिर के धर्म द्वारा जिनका शोषण हुआ है, ऐसे राज्य के गुण तीन श्लोकों में वर्णन किये जा रहे हैं।

श्लोक— **कामं ववर्ष पर्जन्यः सर्वकामदुघा मही।**
सिषिचुः स्म व्रजान् गावः पयसोधस्वतीर्मुदा ॥४॥

नद्यः समुद्रा गिरयः सवनस्पतिवीरुधः।
फलन्त्योषधयः सर्वाः काममन्वृतु तस्य वै ॥५॥

नाऽऽधयो व्याधयः क्लेशा दैवभूतात्महेतवः।
अजातशत्रावभवन् जन्तूनां राज्ञि कर्हिचित् ॥६॥

श्लोकार्थ—वर्षा इच्छानुसार बरसने लगी। पृथ्वी प्रत्येक फल देने वाली हुई। मोटे थन वाली गाये हर्ष पूर्वक दूध से व्रजों (गोशालाओं) को सींचने लगीं ॥४॥

नदिया, समुद्र, वनस्पतियों व लताओं सहित पर्वत और अन्य प्रत्येक औषधियां राजा युधिष्ठिर की इच्छा प्रमाण फल देने वाली हुई ॥५॥

युधिष्ठिर राजा के राज्य करते समय किसी भी प्राणी को आधिदैविक, आध्यात्मिक, आधिभौतिक कारण वाली आधियाँ, व्याधियाँ या क्लेश नहीं व्यापे ॥६॥

सुबोधिनी—**कामं ववर्षेति। आधिदैविक सौख्यं हि तथा चैवाऽऽधिभौतिकम्। आध्यात्मिकं च तद्राज्ये कृष्णेच्छातः क्रमोदिताः(?)** काममिच्छानुसारेण। क्षेत्रविशेषं सस्यापेक्षम्। पृथोरिव पृथिवी सर्वतः कामदुघा जाता। **गाव ऊधस्वतीः** स्थूलक्षीराशयाः। धर्मात्मा अयं राजा अस्मत्प-

रिपालको जात इति मुदा पयसा व्रजानेव सिषिचुः। यावद्दोग्धा भाण्डं च समायाति तावत्क्षीराधिक्याद्भूमिमेव सिषिचुः। पर्जन्यः पृथ्वी गावो, देवताः। नद्यः समुद्रा, जलमिथुनम्। वृक्षा लताश्चाऽपरं स्थलमिथुनम्। एतद्द्वयमन्नातिरिक्तसर्वहेतुः ओषधयो व्रीह्यादयः। सर्वेषां सजीवत्वाद्भूतत्वम्। काममिच्छानुसारेण। इच्छायामपि सत्यामकामफलने दोषनिमित्तत्वेन कदाचिद्भयं भवेत्तन्निरत्यर्थमाह। **अन्वृतु** ऋतुमनतिक्रम्य। अध्यात्मनि (?) गुणानां स्वतःसिद्धत्वात्। दोषाभावाय रोगाद्यभावमाह। आधिर्मानसी व्यथा। व्याधिः शरीरस्य। क्लेशा अविद्यादयः। इन्द्रियस्त्रावगर्भप तव्यभिचारादयोऽपि दैवभूताऽऽत्महेतवः क्लेशा न भवन्ति। राजधर्मेणैव सर्वसमाधानात्। आदिमध्यावसानेषु राज्यमेकविधमित्याह—**कर्हिचिदिति** ॥४॥५॥६॥

व्याख्यार्थ—श्री कृष्ण भगवान् की इच्छा से युधिष्ठिर के राज्य में आधिदैविक आधिभौतिक और आध्यात्मिक ये तीनों प्रकार के सुख हैं। उनका निरूपण क्रमवार तीन श्लोकों में कहा जा रहा है।

युधिष्ठिर जी की इच्छा प्रमाण वर्षा होती है। पृथु राजा के समान पृथ्वी चारों ओर से इच्छानुसार फलों को देती है। पुष्ट स्तन वाली गायें हर्षित हो रही हैं कि ये राजा युधिष्ठिर हमारा पालन करने वाले हुये हैं। ऐसा हर्ष होने से गायें अपने दूध से व्रजों को (गोशालाओं को) सींचने लगीं। जितने समय में दूध को दुहने वाला पात्र लावे उतने समय में दूध अधिक बढ़ जाने से गायें पृथ्वी को ही सींचने लगीं।

बरसात, पृथ्वी और गायें ये आधिदैविक हैं। नदियां और समुद्र ये जल के जोड़े हैं। इसलिये कि समुद्र नदियों का पति हैं, अतः नदी और समुद्र का जोड़ा कहलाता है। वृक्ष और लताएँ ये स्थल के जोड़े हैं। इसलिए कि वृक्ष लताओं के पति हैं। अतः वृक्ष और लताएँ भी जोड़ा कहलाती हैं।

ये दोनों अन्न के अतिरिक्त दूसरी प्रत्येक वस्तु के कारण रूप हैं। कमोद इत्यादि औषधियां सब प्रकार से फल रही हैं। उन सब में जीव रहता है। इसलिए वे भूत अर्थात् प्राणी कहलाते हैं। प्रत्येक इच्छा के अनुसार फल देती है। इच्छा हो तो भी समय के बिना फल दे तो दोष का कारण रूप होने से कुछ भय हो। उसकी निवृत्ति कहते हैं कि प्रत्येक ऋतु के अनुसार फल देते हैं।

अध्यात्म में गुण स्वतः सिद्ध होने से दोष के अभाव के लिए रोग इत्यादि के अभाव का निरूपण करते हैं। आधि (मानसिक पीड़ा), व्याधि (शरीर संबंधी पीड़ा)

और अविद्या से उत्पन्न होने वाले क्लेश भी नहीं होते। उसी प्रकार इन्द्रिय स्राव (किसी ज्ञानेन्द्रिय से रक्त का निकलना), गर्भ स्राव (चार महीने के अन्दर का गर्भ जाय वह गर्भ स्राव कहलाता है) तथा गर्भ पात (पांचवे या छठे महीने में गर्भ जाय उसे पात कहते हैं) या व्यभिचार आदि नहीं थे।

अतः आधिदैविक, आध्यात्मिक व आधिभौतिक के कारण रूप क्लेश युधिष्ठिर के राज्य में नहीं थे। कारण यह है कि राजा के धर्म द्वारा प्रत्येक का समाधान हो जाता है। राज्य के प्रारम्भ में, बीच में तथा अन्त में एक ही प्रकार का सुख है। यह बताने के लिए मूल में "कर्हिचित्" (किसी को भी)अव्यय दिया गया है। ।।६।।

आभास—एवं सामान्यतः सर्वसौख्यमुक्त्वा प्रेमसौख्यनिरूपणार्थं भगवतो निर्याणोत्सवमाह उषित्वेत्यादि यावदध्यायसमाप्ति ।

आभासार्थ- इस प्रकार सामान्यतया हरेक का सुख कहकर प्रेम सुख का निरूपण करने के लिये, भगवान् के पधारने पर जो उत्सव हुआ; उसकी वास्तविकता इस अध्याय की समाप्ति तक वर्णन की जायेगी।

श्लोक—**उषित्वा हास्तिनपुरे मासान् कतिपयान् हरिः ।**
सुहृदां च विशोकाय स्वस्वसुः प्रियकाम्यया ।।७।।

आमन्त्र्य चाऽभ्यनुज्ञातः परिष्वज्याऽभिवाद्य च
आरुरोह रथं कैश्चित् परिष्वक्तोऽभिवादितः ।।८।।

श्लोकार्थ—भगवान्, सम्बन्धियों के शोक को दूर करने के लिये, अपनी बहिन सुभद्रा के प्रिय करने की इच्छा से, कितने ही महीने हस्तिनापुर में रहकर ।।७।।

प्रत्येक की आज्ञा लेकर, अपनी भुआ कुंती जी आदि की आज्ञा से और अर्जुन आदि से मिलकर और इसी प्रकार नकुल, सहदेव आदि से नमस्कार किये जाते हुए युधिष्ठिर जी से विदा मांग कर रथ पर विराजमान हुए ।।८।।

सुबोधिनी— वृथैव जीवनं लोके भक्तिज्ञानोत्सवैर्विना । कृष्णैकतानचित्तत्वं मुक्तेरप्यधिकं मतम् । **हस्तिनापुरमित्य**लुक्तृतीयासमासः । हस्तिना निर्मितं पुरमिति । मध्यमपदलोपात् । हस्ती राजा । हस्तिनः सम्बन्धीति **हास्तिनम्** । अण् प्रत्ययः । **हस्तिनिर्मिते पुरे वासस्तद्दर्शयानां**

विमुक्तये । निरन्तरस्थितिर्या तु भूमिर्मुक्तिप्रदेति च । कालस्याऽकारणत्वाय तदंशाः परिकीर्त्तिताः । बहुत्वाद्गगणनाऽभावात्तेषां चाऽहेतुता मता । स्थित्वा शोकापनोदे तु गमने स्मरणाद्भवेत् । स्नेहस्ततः कृतार्थत्वामितिभावो हरिर्मतः । सुहृदां च विशोकाय । चकाराद्राज्ञः । प्रियार्थं स्वस्वसुः सुभद्रायाः । पुत्रशोकापनोदः पौत्रोत्पत्त्येति भगवत्स्थितिः प्रीतिवर्द्धिका । **आमन्त्र्येति** लौकिकम् । चकाराद्वरदानादि । आलिङ्गनं सर्वदोषनिवृत्तये । अभिवादनं बहिर्मुखत्वेऽपि दोषाभावाय । चकारादुचितं दानादि । **कैश्चिदिति** । सख्यपर्यन्तमागतैः । प्रेम्णा स्निग्धैर्वा कैश्चित् । इति तादृशा दुर्लभा इति द्योतितम् ।।३।।८।।

व्याख्यार्थ—भक्ति, ज्ञान से उत्पन्न होने वाले उत्सवों के अतिरिक्त संसार में जीवन व्यर्थ है । श्रीकृष्ण में ही चित्त एकाग्र हो जाय, यह मुक्ति से भी अधिक है । पद्म पुराण में कहा है, कि विष्णु का सेवक बन जाना ही मोक्ष है ।

मूल में हस्तिनापुर शब्द लिखा है, इसमें अलुक् तृतीया समास है । पूर्व में यहां 'हस्ति' नाम का राजा था, उसी का बनाया हुआ यह नगर था । इसीलिए यह "हस्तिनापुर" कहलाता है । इस प्रकार "हस्तिन्" यह भी उसी का नाम है । व्याकरण के नियम प्रमाण से 'अण्' प्रत्यय होता है । अतः इस कारण यह "हास्तिनपुर" हुआ ।

"हस्तिना निर्मितं पुरं हस्तिनापुरं" इस प्रकार मध्यम पद का लोप हो जाता है। उसमें 'हस्तिना' इस तृतीया पद का लोप नहीं होता । इसलिये यह अलुक् समास हो गया है । हस्ति द्वारा निर्माण किये गये नगर में भगवान् का स्थिति है, यह उस वंश में उत्पन्न होने वालों को मुक्ति प्रदान करने के लिये है ।

मथुरा आदि नगरों में भी भगवान् की स्थिति है । वह पृथ्वी में मुक्ति देने वाली है । भगवान् हस्तिनापुर में रहते हैं, यह उस वंश में उत्पन्न होने वालों की मुक्ति के लिये है । यह जो कहा गया है, वह "निरन्तर स्मृति बनी रहे तो ही मुक्ति हो ।" इसमें किसी समय विशेष का कारण नहीं है । यह बताने के लिये काल के अंश रूप महीने का निरूपण किया है । भगवान् कितने ही महीने विराजे । भगवान् कितने ही महीने विराजे, यही कहा गया है, यहां संख्या नहीं बताई गई है । अतः महीने भी इसमें कारण पने को प्राप्त नहोंत हैं, यह सूचित किया गया है ।

भगवान् का हस्तिनापुर में विराजना मुक्ति के लिये ही है । इसका कारण यह है कि भगवान् वहां विराज कर सबके शोकों को दूर करें । इसके बाद वहां से

पधारे । जिससे उनके विराजने से शोक दूर होकर आनन्द होने से भगवान् में स्नेह हो, स्नेह से भक्त कृतार्थ हो जावे । इसलिये प्रत्येक की मुक्ति होने में भगवान् का अभिप्राय है । इसलिये सब सम्बन्धियों का शोक दूर करने के लिये भगवान् विराजे । मूल में 'च'कार होने से राजा का प्रिय करने के लिये वहां विराजे हैं ।

अपनी बहिन सुभद्रा का पुत्र अभिमन्यु महाभारत युद्ध में मारा गया, उसका शोक था । वह शोक परीक्षित जी के जन्म से दूर हुआ है । इस प्रकार भगवान् का विराजना प्रेम को बढाने वाला हैं ।

भगवान् ने द्वारका पधारते समय सबसे आज्ञा ली, यह लौकिक रीति है । मूल में आया हुआ 'च'कार वरदान आदि दिये जाने की सूचना है । सबके दोषों की निवृत्ति के लिये भगवान् सबसे मिले हैं । बहिर्मुखिता का दोष हो तो भी उसे नष्ट करने के लिये भगवान् ने अभिवादन किया हैं । पीछे भी मूल में 'च'कार होने से उचित दान आदि भी किये हैं । कितनों का भगवान् ने आलिंगन किया है । ऐसा कहने से श्रवण भक्ति से लेकर सख्य भक्ति तक जितनी भक्तियां हैं, उन्हें सिद्ध किया हैं । इसीलिये आलिंगन किया है । अथवा वे प्रेम युक्त एवं स्नेह वाले हैं इसलिये आलिंगन किया है । ऐसे प्रेमी व स्नेही दुर्लभ होते हैं, यह सूचित किया गया है ।।७।।८।।

श्लोक—**सुभद्रा द्रौपदी कुन्ती विराटतनया तथा ।**
गान्धारी धृतराष्ट्रश्च युयुत्सुर्गौतमो यमौ ।।९।।

वृकोदरश्च धौम्यश्च स्त्रियो मत्स्यसुतादयः ।
न सेहिरे विमुह्यन्तो विरहं शार्ङ्गधन्वनः ।।१०।।

श्लोकार्थ—सुभद्रा, द्रोपदी, कुन्ती, उत्तरा, गान्धारी, धृतराष्ट्र, युयुत्सु, गौतम, नकुल, सहदेव, भीम, धौम्य और सत्यवती इत्यादि स्त्रियां मोह को प्राप्त हुये भगवान् के विरह को नहीं सह सके ।।९।।१०।।

सुबोधिनी- सुभद्रादयो न सेहिरे विरहमिति सम्बन्धः । देहसम्बन्धपुरःसरःस्नेहः स्त्रीणामधिक इत्याद्यन्तयोर्ग्रहणम् । **विरा तनया** उत्तरा । **यथा भर्त्ता तथा पुत्रो मारणे रक्षणेऽपि च । गान्धार्या उत्तरायाश्च तथेति समता मता ।** राजार्जुनयोरुत्सवासक्तया न विरहस्फूर्तिः । **धृतराष्ट्रश्चेति** चकारेण वा ग्रहणम् । अन्यथा चकारो धृतराष्ट्रस्य भक्तिबोधकः । तस्य भक्तिर्दुर्लभेति । युयुत्सुर्धृतराष्ट्रस्य भोगस्त्रीपुत्रः । **गौतमः** कृपः । गौतमवंशोत्पन्नत्वात् । **यमौ** नकुलसहदेवौ ।

वृकोदरश्चेति चकारादनुक्तसर्वक्षत्रियग्रहणम् । **धौम्यश्चेति** पुरोहितग्रहणादनुक्तब्राह्मण ग्रहणम् । स्त्रियस्तेषाम् । **मत्स्यसुता** सत्यवती । पूर्वोक्तायां वा उत्तरायाः कार्यार्थमनुवादः । **विमुह्यन्त** इत्येकशेषात्पुन्निर्देश । **शार्ङ्गधन्वन इति** । कालरूपं धनुर्हस्ते स्थापयतीति तद्विरहे कालग्रासः शङ्कितः ॥९॥१०॥

व्याख्यार्थ—सुभद्रादिक स्त्रियां भगवान् के विरह को सह नहीं सकी । स्नेह, देह के लिये होता है । वह स्त्रियों में अधिकता से होता ही है । इसीलिये प्रारम्भ में सुभद्रा का नाम और अन्त में सत्यवती का नाम दिया गया है ।

मारे जाने के तथा रक्षा करने के प्रसंग में जिस प्रकार पति है, उसी प्रकार पुत्र भी है । अतः गान्धारी तथा उत्तरा की समानता बताई है । कारण यह, कि उत्तरा का पति मारा गया है और पुत्र की रक्षा हुई हैं । इसी प्रकार गान्धारी के पुत्र मारे गये हैं तथा पति की रक्षा की गई है । अतः दोनों की समानता बताने के लिये मूल में "तथा" अव्यय का प्रयोग किया गया है ।

युधिष्ठिर और अर्जुन ये दोनों ही उत्सवों में आसक्त थे । अतः इन्हें विरह की स्फूर्ति नहीं थी । इसीलिये मूल में इनके नाम लिखे नहीं गये । अथवा "धृतराष्ट्रश्च" इस 'च'कार से दोनों का अर्थ लिया जा सकता है । यदि इस 'च'कार को समूह बोधक अर्थ में न लिया जावे तो वह मात्र धृतराष्ट्र की भक्ति को बताने वाला 'च'कार है । क्योंकि धृतराष्ट्र की भक्ति होना बड़ा कठिन है । युयुत्सु धृतराष्ट्र की भोगस्त्री का पुत्र है । कृपाचार्य गौतमवंश में उत्पन्न हुये हैं, इसलिये उनका नाम गौतम ही मानकर मूल में कहा है । नकुल व सहदेव का जन्म एक साथ होने से उन्हें "यम" नाम से कहा गया है ।

"वृकोदरश्च" इस नाम में 'च' कार होने से अन्य नहीं कहे गये क्षत्रियों का भी भाव सन्निहित है । धौम्य ऋषि पाण्डवों के पुरोहित हैं, यहां भी 'च'कार है; इससे न कहे गये ब्राह्मणों का भी समावेश हो गया है । उन ब्राह्मणों की स्त्रियां, मत्स्य सुता सत्यवती आदि, ये भी विरह का दुःख सहन नहीं कर सकीं । अथवा कार्य के लिये पहले जनाई गई उत्तरा का ही ग्रहण करने के लिये मत्स्य सुता को कहा गया है । स्त्री और पुरुष दोनों को साथ कहा गया है ।

इस कारण व्याकरण की रीति से "विमुह्यन्तः" ऐसा पुल्लिग का निर्देश किया

है। भगवान् का नाम शार्ङ्गधन्वा कहा है, इसका अभिप्राय है कि भगवान् काल धनुष को हाथ में धारण करते हैं। अतः उनका वियोग हो जाने पर, काल के ग्रास हो जायेंगे, ऐसी शंका होने से विरह का दुःख होता है ॥९॥१०॥

आभास—विरहासहनं लौकिकं सर्वथा न भवतीत्यलौकिकज्ञाने सति भगवतोऽन्तर्यामित्वेन विरहाभावादयुक्तं विरहवर्णनमित्याशङ्क्य ज्ञानसत्त्वेऽपि प्रकारविशेषेण परमसुखदानाद्विरहो युक्त इत्याह सत्सङ्गानिति सार्द्धेन—

आभासार्थ—विरह का सहन न होना यह किसी भी प्रकार से लौकिक नहीं कहा जा सकता। इसलिये अलौकिक ज्ञान होने पर, भगवान् अंतर्यामी होने से हरेक के हृदय में विराजमान हैं। अतः उनका विरह नही होता। इसीलिये उनके विरह का वर्णन करना उचित नहीं लगता। इस प्रकार की शंका करते हुये, ज्ञान होने पर भी किसी अन्य प्रकार से परम सुख के प्रदान करने वाले होने से; उनका विरह होना योग्य है ऐसा डेढ़ श्लोक में कहा जा रहा है।

श्लोक—**सत्सङ्गान् मुक्तदुःसङ्गो हातुं नोत्सहते बुधः।**
कीर्त्यमानं यशो यस्य सकृदाकर्ण्य रोचनम्।
तस्मिन्नयस्तधियः पार्थाः सहेरन् विरहं कथम् ॥११॥

श्लोकार्थ—प्रीति उत्पन्न करने वाले भगवान् के यश का जिस किसी ने एक बार भी सावधानी पूर्वक कीर्तन कर लिया है, ऐसा बुद्धिमान् पुरुष भी, जिसके दुःसंग, सत्संग के कारण नष्ट हो गये हैं; भगवान् को नहीं छोड़ सकता। तो फिर वे पाण्डव, जिन्होंने अपनी बुद्धि भगवान् को सौंप दी है, वे किस प्रकार प्रभु का विरह सह सकते हैं ॥११॥

सुबोधिनी—भगवद्विरहकथा दूरे। भगवत्सेवकानामपि विरहो दुस्त्यजः। उपदिष्टेऽपि ज्ञाने अन्तर्यामितया भगवत्स्फूर्त्तावपि यो रसः सत्सङ्गादुत्पद्यते बहिर्भगवत्सम्बन्धेन वा स न ज्ञानादिभिर्भवति। मानसदैहिकस्त्रीसम्बन्धयोर्वैलक्षण्यात्। स्त्रियाश्च स्वतः सुखं स्यात्। सववस्तुनिष्ठरसस्य स्वनिष्ठदोषस्फूर्त्यैव अभिव्यक्तिदर्शनात्। सायुज्यज्ञानादावपि यदात्मसुखमभिव्यक्तं भवति तत्राऽपि भिन्नतया स्थितं ज्ञानं प्रवेशेच्छा च दोषः। अन्यथा फलोत्तरं तदपगमो न स्यात्। ननु तयोर्गुणत्वमिति चेत्? सत्यम्। लोके बुभुक्षादीनामपि गुणत्वकथनात्। अन्यथा तदर्थमुद्यमो न स्यात्। तस्माद्भिन्नतया बहिः स्थित एव विषयो रसजनकः। अत एव योगिनोऽपि

कृष्णाख्ये वस्तुनि प्रकटीभूते समाधिं परित्यज्य तदेव पश्यन्ति। अन्यदा तु समाधिः। किञ्च। देहादीनां दोषत्वश्रवणात्प्रलये तदभावान्मुक्तियोग्याञ्जीवान् भगवान् देहसम्बद्धान्न कुर्यात्। किञ्च। परमकृपालुत्वात्सृष्टिमेव न कुर्यात्। अतो दोषोऽपि क्वचिद् गुणः क्वचिद्दोषः। गुणोऽपि तथेति बहिर्व्यवहारपुरः सरमेव सर्वे वेदाः सर्वाणि शास्त्राणि प्रवृत्तानि। बाह्यव्यवहारस्य मुख्यत्वाज्ज्ञानेऽपि सति भगवद्विरहासहनं युक्तमुत्पश्यामः। सतां सङ्गान्। एकस्मिन्सङ्गे विद्यमानेऽपि सङ्गान्तरमपि त्यक्तुं न शक्यत इति बहुवचनम्। सतामपि बहुत्वम्। एकस्मिन्नपि बहुधा रसजननात्। तेषामेव कृपया मुक्तो दुष्टैः सह सङ्गो येन। तदनन्तरं तत्कृपयैव बुधः ज्ञानसम्पन्नोऽपि जातः। तथाऽपि पूर्वसिद्धान् सत्सङ्गान् चिन्तामणिवत् त्यक्तुमिच्छामपि न करोतीत्यर्थः। यदर्थमिदं निरूपितं तदाह—**कीर्त्यमानमिति**। अथवाऽग्रे वा सत्सङ्गस्य गुणमाह—**कीर्त्यमानमिति**। उभयार्थमित्येके। यस्य भगवतः कीर्ति सद्भिः कीर्त्यमानां सकृदाकर्ण्य सत्सङ्गान् त्यक्तुं नोत्सहत इति सम्बन्धः। कीर्ते रुचिजनकत्वात्सत्सङ्गस्य च तद्धेतुत्वात्। यशःश्रवणाद्वा तस्मिन्न्यस्तधियः। यथा समीचीनां पेटिकां दृष्ट्वा स्वस्योत्कृष्टं वस्तु सर्वे स्थापयन्ति तथा भगवतः कीर्ति श्रुत्वा बुद्धिरत्नं भगवति स्थापयन्तीत्यर्थः। सामान्यग्रहणं वैदिकलौकिकसर्वबुद्धिग्रहणार्थम्। किञ्च। **पार्थाः**। पृथायाः पूर्वमुक्तत्वात्तद्वचनेनाऽपि भगवति न्यस्तधियः कथं विरहं सहेरन्। असहनात्तत्र गच्छेयुः प्रतिबन्धकं शरीरं वा त्यजेयुरिति भगवत्प्रचलनमयुक्तमिति भावः ॥११॥

व्याख्यार्थ—भगवान् के विरह की तो बात ही अलग हैं, परन्तु भगवान् के सेवकों का भी विरह नहीं सहा जा सकता। ज्ञान का उपदेश दिये जाने पर भी, अन्तर्यामीपने से भगवान् की हृदय में स्फूर्ति होने पर भी, जो रस भगवान् से प्रत्यक्षतया बाहरी रूप से सत्संग द्वारा मिलने का है वह ज्ञान आदि से प्राप्त नहीं होता।

जिस प्रकार स्त्री से मानसिक सम्बन्ध का एक अलग अनुभव है तथा स्त्री से प्रत्यक्ष सम्पर्क का एक अनूठा ही सुख है। जब इन दोनों प्रकार के सुखों में ही अन्तर है, तो फिर ज्ञान का उपदेश होने पर, अन्तर्यामीपने से भगवान् की स्फूर्ति तथा बाहरी रूप में भगवान् के सहवास में भी इसी प्रकार मध्यम उत्तम स्थितियों का भेद स्वतः सिद्ध है।

अब यहां कोई शंका करे कि सुख इत्यादि का उत्पादन कारण आत्मा अथवा मन है, अतः आत्मा और मन में भगवान् विद्यमान होने से उन का ज्ञान हो जाता है। अतः उस स्थिति से जो रस उत्पन्न होता है वह भी बाहरी अनुभव जैसा हो हुआ। इस प्रकार विरह नहीं होना चाहिये।

इस शंका की निवृत्ति के लिये कहते हैं कि यदि इस रस का अनुभव स्वयं को होता हो तो स्त्री को भी स्वयं में ही सुख होना चाहिये तो फिर सब वस्तुओं में रहने वाले रस की स्फूर्ति दोष युक्त हो जाय। इसीलिये वह रस प्रकट होता है। जैसे माला, चंदन, स्त्री आदि में किसी को माला में, किसी को चंदन में, किसी को स्त्री में द्वेष, अथवा अनुराग होता है वैसे ही उसमें रहने वाले रस की स्फूर्ति अपने में रहने वाले काम आदि दोष के कारण होती है। जैसे माला की इच्छा वाले को माला प्रिय लगती है, चन्दन में इच्छा वाले को चंदन प्रिय लगता है, और स्त्री में इच्छा होय तो स्त्री प्रिय लगती है। इसके अतिरिक्त उसे प्रत्येक वस्तु अप्रिय लगती है। अन्य सब वस्तुओं की तुलना में स्त्री में काम अधिक रहता है। ऐसी स्थिति में तो स्त्री को स्वयं के सुख में सन्तुष्ट हो जाना चाहिए। उसमें विरह का दुःख नहीं होना चाहिये। परन्तु देखा यह जाता है कि उसे विरह का अतिशय दुःख होता है।

अतः इस का कोई और ही कारण होना चाहिये। ऐसा विचार करने पर बाहर के सम्बन्ध से जो रस उत्पन्न होता है, उस रस की अभिव्यक्ति कामादिक दोष द्वारा ही होती देखी गई है, केवल ज्ञान से नहीं। अतः इन आधारों पर पाण्डवादिकों में भगवान् सम्बन्धी विरह होना तर्क संगत है।

यहां भी कोई शंका करे कि, प्रत्येक स्थान पर ही सुख उत्पन्न हो जाय तो यह सुख का केवल एक भेद ही हुआ। इसलिये सुख उत्पन्न होने में अपने भीतर रहने वाले दोष की स्फूर्ति होना कारण है, ऐसा कहना युक्ति युक्त नहीं।

क्योंकि सायुज्य मुक्ति आदि में जो आत्म सुख प्रकट होता है वह दोष रहित ही प्रकट होता है। सायुज्य मुक्ति में आत्म सुख प्रकट होता है, वह ही भगवान् का रस प्रकट होने के प्रसंग में कहा जा सकता है। वही रस ज्ञान आदि से भी प्रकट होता है। अतः भगवान् का विरह होना, यह उचित सा नहीं लगता।

ऐसी शंका का कोई ठोस आधार नहीं है। सायुज्य मुक्ति में और ज्ञान आदि में भी जो आत्म सुख प्रकट होता है, उसमें भी एक प्रकार से अलगावपने का बोध होता ही है तभी तो ब्राह्म में प्रवेश करने की इच्छा होती है। यह इच्छा होना भी

तो दोष रूप ही है । जो इसमें दोषपना न हो तो सायुज्य रूप फल होने के बाद उसकी निवृत्ति नहीं होनी चाहिये । क्योंकि फल प्राप्ति के बाद तो दोष की निवृत्ति हो जानी चाहिये । सायुज्य मुक्ति हो जाने के बाद तो जीव में अलगपने की स्थिति का ज्ञान तथा उसमें प्रवेश करने की इच्छा नहीं रहती । ऐसी स्थिति में सुख का अनुभव भी नहीं होता । जीव ब्रह्म से अलग है, अतः उसकी ब्रह्म में प्रवेश करने की इच्छा है । उसे आप दोष रूप मानते हैं, परन्तु वह तो गुण रूप है । इस प्रकार की कोई शंका करे, उसका समाधान इस प्रकार है । लोक में भूख आदि को भी गुण कहा गया है, उसी प्रकार जीव की अलगाव वाली स्थिति को तप व ज्ञान को, ब्रह्म में प्रवेश करने की इच्छा,को भी गुण रूप में माना गया है । यदि इसे गुण रूप न माना जावे तो क्षुधा के लिये प्रयत्न करने में न आवे । श्रुति में कहा गया है कि "क्षुधा मनुष्य के लिये शत्रु रूप है" इसीलिये उसमें दोषपना है । इस कारण अन्न आदि में सुख प्राप्त होता है । जिस प्रकार लोक में क्षुधा को गुण रूप में माना गया है तथा शास्त्रों में क्षुधा को दोष रूप माना गया है; उसी प्रकार भगवान् बाहर रहकर रस उत्पन्न करने वाले हैं । इस वास्तविकता को ज्ञान मार्ग की शैली में दोष रूप कहा गया है । पर दूसरी ओर भक्ति को गुण रूप में स्वीकारा गया है । इसीलिये योगी भी, जब कृष्ण प्रकट हुये हों तो समाधि का त्याग करके उनका दर्शन करते हैं । जब प्रभु अप्रकट रहते हैं तब समाधि लगाते हैं ।

अतः मुक्ति में भी देह का सम्बन्ध है और मुक्ति की सृष्टि भगवान् करते हैं । तो भी स्वयं के सुख का बाहरी अनुभव कराने के लिये भक्त के हृदय में रस उत्पन्न करते हैं । यदि ऐसा न हो तो जो मुक्त जीव होते हैं, उन्हें प्रलय में देह सम्बन्ध नहीं होता है । तो फिर भगवान् जो देह का सम्बन्ध कराते हैं, उसे न करायें । कारण कि देहादिक दोष रूप कहलाते हैं । इतना ही नहीं, भगवान् तो परम कृपालु हैं, इसलिये सृष्टि ही न करें । लेकिन सुख का अनुभव कराने के लिये ही भगवान् जीव के लिये दोष रूप देह को प्रदान करते हैं ।

देह के बिना भगवान् के सुख का अनुभव नहीं हो सकता । इसीलिये भगवान् ने उद्धवजी से आज्ञा की है "कि किसी स्थान पर गुण हो तो भी परिस्थिति के अनुसार वह दोष रूप हो जाता है तथा किसी स्थल पर दोष हो तो स्थिति विशेष में वह गुण रूप हो जाता है ।" इसी व्यवहार को लेकर सारे वेद एवं शास्त्र गतिशील हैं ।

बाहर के कार्यों की मुख्यता होने से प्रत्येक स्थान में भगवान् व्यापक हैं, यह ज्ञान होते हुवे भी भगवान् का विरह सहन नहीं हुआ, ऐसा कथन ठीक ही कहा है। मूल में "सत्संगान्" बहुवचन लिखा हुआ है।

जिसके एक संग विद्यमान हो और दूसरा संग प्राप्त हो जाय तो भी तोड़ नहीं सकता। उसी प्रकार सत्पुरुष भी बहुत होने चाहिए। अतः एक में ही अनेक प्रकार के रसों की उत्पत्ति हो जाती है। सत्पुरुषों की कृपा द्वारा जिन्होंने दुष्ट संग छोड़ दिया है और इसके बाद सत्पुरुषों द्वारा ही ज्ञान को प्राप्त हुआ है, ऐसा सत्संग का जिन्हें फल हुआ है; ऐसा पुरुष चिन्तामणि की तरह सत्संग को छोड़ने की इच्छा कभी भी नहीं करता। प्रसंग यह है कि, भगवान् का विरह सहन नहीं हो सकता। उसी प्रकार सत्संग का त्याग भी नहीं किया जा सकता। तात्पर्य यह है कि सत्संग में भगवान् के यश का कीर्तन होता है। सत्संग को करते रहने का गुण बतलाते हैं; कि कानों में रस घोल देने वाला यश वर्णन सत्संग में होता है। भगवान् के यश का एक ही बार सावधानी पूर्वक कीर्तन करने से सत्पुरुष सत्संग के त्याग की इच्छा नहीं करता। कारण यह है कि प्रभु की कीर्ति प्रेम को उत्पन्न करने वाली है, और सत्संग कीर्तन का कारण रूप है। अथवा भगवान् के यश का चिन्तन रहने से उससे कभी सत्संग नहीं छूट सकता। तो फिर जिन पाण्डवों की बुद्धि भगवान् में ही लगी हुई है वे भगवान् का विरह भला कैसे सह सकते हैं? जिस प्रकार मनुष्य सुदृढ़ पेटी को देखकर अपनी अमूल्य वस्तु उसमें स्थापित कर देते हैं उसी प्रकार भगवान् की कीर्ति को सुनकर बुद्धि रूपी रत्न को भगवान् में स्थापित कर देते हैं।

मूल में जो 'बुध' शब्द आया है व सामान्य मनुष्य से ऊपर उठी हुई चिन्तन-शीलता के कारण आया है। यहाँ सामान्य शब्द लौकिक व वैदिक बुद्धि वालों के लिये प्रयोग में लिया गया है।

कुन्तीजी भगवान् की परम भगवदीया हैं। कुन्तीजी द्वारा (पाण्डवों के प्रति) पहले कहे गये वचनों के अनुसार पाण्डवों की भगवान् में अनन्य प्रीति हो गई। भगवान् में ही लगा दी है बुद्धि जिन्होंने ऐसे पाण्डव भगवान् का विरह कैसे सह सकते हैं।

अतः उनका विरह सहन नहीं हो सकता। अब या तो भगवान् के साथ ही जाया जावे अथवा इस कार्य में बाधा डालने वाले इस शरीर को छोड़ दिया जावे। सारांश यह निकला कि भगवान् का यहाँ से पधारना समयानुकूल नहीं है।

आभास—तर्हि प्रचलिते भगवति किं जातम्? तत्राऽऽह—

आभासार्थ—तदपि भगवान् के पधारने पर क्या प्रतिक्रिया हुई इस प्रसंग में यह बात इस प्रकार है—

श्लोक—**दर्शनस्पर्शनाऽऽलापशयनासनभोजनैः।**
सर्वे तेऽनिमिषैर्नेत्रैस्तमनुद्रुतचेतसः॥
वीक्षन्तः स्नेहसम्बद्धा विचेरुस्तत्र तत्र ह॥१२॥

श्लोकार्थ—भगवान् के ही दर्शन, स्पर्श, बातचीत, शयन करना, साथ-साथ उठना-बैठना, साथ ही भोजन करना आदि द्वारा जिनका चित्त भगवान् का ही अनुसरण कर रहा है; ऐसे पाण्डव टक-टकी लगाकर भगवान् के दर्शन करते हैं। प्रभु के स्नेह से बंधे हुये प्रभु के अनुकूल सेवा में जुट गये॥१२॥

सुबोधिनी—**दर्शनस्पर्शेति**। दर्शनादयः षट् क्रिया भगवद्योग्याः। ते च भगवत्सहभावेन पाण्डवनिष्ठाः। आलापादयस्तु सहैव। दर्शनस्पर्शनयोस्तु विषयत्वमपि। सहभावाभावे विषयत्वासम्भवात्। एवं सहभावेनाऽभ्यस्तैरेतैर्वशीकृताः सर्वे स्वचित्तं भगवति दत्तवन्तः। शयनादिभिर्वा तस्मिन्ननिमिषदृष्टयो जाताः। इच्छया तु भगवन्तमनुद्रुतं चित्तम्। एवं कायवाङ्मनोवृत्तयो भगवत्युक्ताः। विवेकधैर्यादिकं नोत्पन्नमित्यर्थः। ततः किं जात तदाह—**वीक्षन्त इति**। विरहो गमनस्मरणादुत्पन्नोऽपि भगवद्दर्शनादिना विस्मृतः। यदा विरहस्तदा तथा भविष्यति व्यर्थमिदानीं परमानन्दानुभवं परित्यज्योद्वेग इति विचारयन्त इव देहेन्द्रियान्तःकरणवृत्तीर्भगवति योजितवन्तः। तत्रेक्षणमिन्द्रियवृत्त्युपलक्षणम्। स्नेहेन सम्बद्धा इत्यन्तःकरणस्य। स्नेहो हि भगवन्तमुपस्थापयति हृदये। बहिःस्थिते वा भगवति जीवमानयति। उभयथाऽप्यत्र न विरोधः। **विचेरुरिति** शरीरक्रिया। भगवद्गमनोपयोगिकार्यार्थं तत्र तत्र शरीरं चालितवन्त इत्यर्थः॥१२॥

व्याख्यार्थ—जिस समय भगवान् पधारने लगे उस समय क्या हुआ? ऐसी जिज्ञासा होने पर आप श्री (आज्ञा करते हैं) समाधान करते हैं, कि भगवान् के दर्शन करना, स्पर्श करना, भगवान् के साथ वार्तालाप करना, शयन करना, बैठना, प्रभु के साथ भोजन करना ये छः क्रियायें भगवान् के योग्य हैं। उन पाण्डवों की क्रियायें तो भगवान् के साथ ही जुड़ गई हैं। साथ-साथ रहे बिना बातचीत नहीं की

जा सकती । उसी प्रकार प्रभु के दर्शन करना, उन्हें छूना आदि भी भगवान् के साथ होने पर ही हो सकते हैं । अतः भगवान् के साथ निरन्तर रहते हुये छः प्रकार की क्रियाओं का अभ्यास होने से उन क्रियाओं में ही पिरोये हुये पाण्डवों ने अपने चित्त भगवान् में संलग्न कर दिये । पाण्डव अपलक दृष्टि से श्री भगवान् को निहारते रहते हैं, ऐसी उस दृष्टि के पीछे-पीछे उनका मन भगवान् में लगा हुआ है । इस तरह शरीर, वाणी और मन की वृत्तियाँ भगवान् में ही लगी हुई हैं । उनमें विवेक, धैर्य आदि कुछ भी नहीं रह गया है, यह सूचित हुआ ।

इसके बाद क्या हुआ ? इस पर कहते हैं कि भगवान् यहाँ से पधारने वाले हैं इस तरह की याद आते ही विरह हो गया । परन्तु भगवान् के दर्शन, स्पर्श इत्यादि करने से भूल जाते हैं । जिससे विरह होता है उसके लिये दुःख होता है । परन्तु प्रत्यक्ष उपस्थिति परम आनन्द को छोड़कर उद्वेग करना निरर्थक है । ऐसा समझ कर पाण्डव विचार करते हुये उन भगवान् में देह, इन्द्रियाँ और अन्तःकरण की वृत्तियों को जोड़ने लगे । मूल में 'वीक्षन्तः' में ईक्षण क्रिया है, वह प्रत्येक इन्द्रियों की वृत्ति को बताने वाली है । उन्हें भगवान् से स्नेह है, वे भगवान् को हृदय में लाते हैं । यदि भगवान् बाहर विराजते हों, तो जीव को भगवान् पास ले जाते हैं । इस प्रकार दोनों ही रीतियों से भगवान् में चित्त लगने में विरोध नहीं है ।

इसी प्रकार "वे फिरने लगे" ऐसा जो कहा गया है, उसका तात्पर्य यह है कि भगवान् के पधारने सम्बन्धी जो-जो कार्य हैं उनमें पाण्डवों ने शरीर जोड़ दिये हैं । यह शरीर की क्रिया बताई गई है ।।१२।।

आभास—अतः परं या शरीरस्थितिः साऽद्भुतकर्मलीलया भगवतः । अत एव महति रोदने कर्त्तव्ये भगवदिच्छया अल्पमपि रोदनं न कृतवत्य इत्याह—

आभासार्थ—इतना स्नेह होने पर भी भगवान् तो पधारे ही । पीछे जो शरीर की स्थिति रही, वह तो भगवान् के अद्भुत लीला कार्य से ही रह सकी । तब तो भगवान् के पधारते समय रुदन करना चाहिये था । बल्कि भगवान् की इच्छा से पाण्डवगण थोड़े से भी नहीं रोये । इस प्रसंग में कहते हैं—

श्लोक—**न्यरुधन्नुद्गलद्बाष्पमौत्कण्ठ्याद्देवकीसुते ।**
निर्यात्यगारान्माऽभद्रमिति स्याद् बान्धवस्त्रियः ।।१३।।

श्लोकार्थ—देवकीजी के पुत्र कृष्ण वहाँ से पधार रहे हैं, उस समय उनके विरह के स्मरण से नेत्रों में आँसू आ जाते हैं। परन्तु उन आँसुओं से अमंगल न हो जाय, इसलिये बन्धुओं की स्त्रियाँ आँसुओं को रोके हुये हैं ।।१३।।

सुबोधिनी—**न्यरुन्धन्निति**। पूर्वस्थित्या उद्गलदपि बाष्पं देवकीसुते गृहान्निर्गच्छति सति अभद्रममङ्गलसूचकं मा भूदिति नेत्रेष्वेव स्तम्भितवत्य:। एवं हि भगवदिच्छा प्रबला। स्वयं कुत: शरीरादिकं त्यक्ष्यन्ति। यत: प्रेमौत्कण्ठ्यादुद्गतं बाष्पमपि निवारयन्ति। **देवकीसुत इति** युक्तमेव भगवद्गमनम्। यतो महत्तपस्यया देवक्या पुत्रत्वेन प्रार्थित: पुत्रो जात:। कथं तां द्रष्टुं न गच्छेत्। अत एवाऽस्माभिरपशुकनं न विधेयमिति भाव:। **अगारादिति**। अस्मद्गृहे भगवान् समागत:। कृतश्चोपकार:। तादृशस्य स्वगृहगमने अपशकुनकरणमयुक्तं स्यादिति हेतोर्बान्धवस्त्रियो न्यरुन्धन्निति सम्बन्ध:। बन्धुत्वमपि स्फुरितमिति भाव: ।।१३।।

व्याख्यार्थ—पूर्व वर्णन के अनुसार नेत्रों में से आँसू निकलते हैं, तो भी देवकीजी के पुत्र घर से बाहर पधार रहे हैं, अत: अमंगल सूचक अपशकुन न होवे, ऐसा विचार कर आँसुओं को आँखों में ही थाम लिया है। इसमें भगवान् की इच्छा प्रबल है। प्रेम की अत्यधिकता के कारण, आने वाले आँसुओं को भी रोका जा सका है। तो फिर शरीर आदि को तो कैसे छोड़ा जा सकता है? इस प्रकार भगवान् की इच्छा की प्रबलता बताई गई है। भगवान् देवकीजी के पुत्र हैं; इसलिये उनका पधारना तो योग्य है ही। क्योंकि देवकीजी ने अत्यधिक तपस्या करके भगवान् से पुत्र रूप में प्रकट होने की प्रार्थना की थी इसलिये भगवान् पुत्र रूप में पधारे हैं। वे देवकीजी से मिलने के लिये भला क्यों न पधारें? इसलिये अपने को अपशकुन नहीं करना चाहिये, इस अभिप्राय से उन्होंने आँसू रोक लिये हैं। भगवान् घर से बाहर पधार रहे हैं, उस समय, आँसू रोके गये हैं; इसका यह अभिप्राय हुआ कि भगवान् ने अपने घर पधारकर बहुत बड़ा उपकार किया है, और अब वे वापस अपने घर पधार रहे हैं; इसलिये अपशकुन करना अपने को उचित नहीं है, ऐसा समझकर प्रत्येक बान्धवों की स्त्रियों ने आँसू रोक लिये हैं। इस प्रकार यहाँ बन्धुपने का भाव सामने आया है ।।१३।।

आभास—भगवतो निर्याणोत्सवे दशविधवाद्यानि वादितवन्त इत्याह—

आभासार्थ—भगवान् के पधारने के समय दश प्रकार के वाद्य बजाये जा रहे हैं, इस प्रसंग में कहा जा रहा है—

श्लोक—**मृदङ्गशङ्खभेर्यश्च वीणापणवगोमुखाः ।**
धुन्धुर्य्यानकघण्टाद्या नेदुर्दुन्दुभयः समम् ।।१४।।

श्लोकार्थ—मृदङ्ग, शङ्ख, भेरी, वीणा, पणव, गोमुख, धुन्धुरी, आनक, घंटे और नोबत ये दश प्रकार के बाजे एक साथ बजाये गये ।।१४।।

सुबोधिनी—मृदङ्गेति तत्र मृदङ्गभेरीपणवानकदुन्दुभयः पञ्चाऽऽनद्धभेदाः । शङ्खगोमुखौ सुषिरभेदौ । वीणैका ततरूपा । घण्टाधुन्धुर्यौ घनभेदौ । एवं चतुर्विधमपि वाद्यमुग्दम् । एतेषां लक्षणानि वाद्याध्याये प्रसिद्धानि ।।१४।।

व्याख्यार्थ—मृदङ्ग, भेरी, आनक,पणव, दुंदुभि ये पाँच बाजे ताड़न द्वारा बजाये जाते हैं । अतः इन वाद्यों को 'आनद्ध' के नाम भेद से जाना जाता है । शंख और गोमुख मुख से बजाये जाते हैं, अतः उन्हें सुबिर भेद से जाना जाता है ।

वीणा तो अपने आप में एक है ही । घण्टा और धुन्धुरी घन वाद्य कहे गये हैं । इस प्रकार आनद्ध,सुबिर, वीणा और घन ये चार भेद वाले वाद्य बजाये जाने लगे । इन दश बाजों के लक्षण वाद्य वाले अध्याय में प्रसिद्ध हैं ।।१४।।

आभास—उत्सवे स्त्रीणां दर्शनं वर्णनीयमिति पुष्पवृष्टिसहितं तदाह ।

आभासार्थ—उत्सव में स्त्रियों के दर्शन का वर्णन किया जाना चाहिये इसलिये पुष्प वृष्टि के साथ उनका वर्णन इस प्रकार है ।

श्लोक—**प्रासादशिखरारूढाः कुरुनार्यो दिदृक्षया ।**
ववृषुः कुसुमैः कृष्णे प्रेमव्रीडास्मितेक्षणाः ।।१५।।

श्लोकार्थ—श्री कृष्ण में प्रेम और लज्जा से मन्द हास्य के साथ दर्शन करती हुई कुरु की स्त्रियां महलों के ऊपरी भागों पर चढकर उत्सव देखने की इच्छा में पुष्पों की वृष्टियां करने लगीं ।।१५।।

सुबोधिनी—प्रासादेति । शिखरमन्तिमगृहम् । कुरुनार्य इति । कुलस्त्रीणां बहिर्गमनाभावः। पुष्पवृष्टौ सत्यां भगवानात्मानं पश्येदिति कुसुमैर्ववृषुः । प्रेमव्रीडास्मितानि गुणकार्याणि ईक्षणसहकारीणि । प्रेमादिपूर्वकमीक्षणं यासाम् । भक्तिधर्मज्ञानप्रकारैर्बहुविधैर्भगवान् दृष्ट इत्यर्थः ।१५।

व्याख्यार्थ—महल का शिखर अर्थात् महल के सबसे ऊपर का कक्ष उस के ऊपर कुरु की स्त्रियाँ बैठी हुई हैं। क्योंकि उच्च कुल के घर की स्त्रियाँ बाहर जा नहीं सकती, यह बताया है। भगवान् की दृष्टि अपने ऊपर पड़नी चाहिये, अतः वे स्त्रियाँ पुष्प वृष्टि करें तो भगवान् सामने देखें, तो दर्शन हों। इसलिये कुरु प्रदेश की स्त्रियां प्रभु के ऊपर पुष्प वृष्टि कर रही हैं। इसी प्रकार प्रेम, लज्जा, और मंद हास्य ये सात्त्विक, राजस और तामस तीनों गुणों के कार्य हैं। उसमें दृष्टि साथ रहती है अतः प्रेम से युक्त जिन की दृष्टि है ऐसी सब स्त्रियां पुष्प की वृष्टि करती हैं। भगवान् में कार्य होना यह भक्ति का कार्य है। लज्जा के साथ मन्द हास्य कर रही हैं यह स्त्रियों का स्वभाव है और दृष्टि का कार्य इन सब का ज्ञान करना है, इस तरह कई-कई प्रकारों से भगवा केन् दर्शन किये ॥१५॥

आभास—पुरुषाणां कृत्यमाह त्रिभिः।

आभासार्थ—इस प्रकार स्त्रियों के कार्यो का निरूपण करके अब तीन श्लोकों द्वारा पुरुषों के कार्यों का निरूपण करते हैं।

श्लोक—**सितातपत्रं जग्राह मुक्तादामविभूषितम्।**
रत्न दण्डं गुडाकेशः प्रियः प्रिय प्रियतमस्य ह ॥१६॥

उद्धवः सात्यकिश्चैव व्यजने परमाद्भुते।
विकीर्यमाणः कुसुमैः रेजे मधुपतिः पथि ॥१७॥

श्लोकार्थ—भगवान् के प्रिय अर्जुन ने अतिप्रिय मोतियों को माला से शोभित रत्नों के दण्ड वाले श्वेत छत्र को धारण किया। उद्धव और सात्यकी ने परम अद्-भुत् पंखे धारण किये। इस प्रकार मार्ग में पुष्पों की वृष्टि किये जाते हुये मधुपति भगवान् की शोभा हुई।

सुबोधिनी—सितातपत्रमिति। आरक्तो दण्डः। श्वेतं छत्रम्। मुक्तादामानि परितो लम्बन्ते। **गुडाका** निद्रा। तस्या ईशः। गतभ्रमोऽर्जुनः। **उपचारेषु सर्वेषु महाराजत्वमुत्तम्। तस्य चिह्नं सितच्छत्रमर्जुनस्तेन बुद्धिमान्। प्रियः** प्रीतिविषयः। अनेन भगवता बहु कृतमिति सूचितम्। **प्रियतमस्य** भगवतः। स्वयुधिष्ठिराद्यपेक्षयाऽपि भगवान् प्रियतमः। अतो महाराजयोग्यम्। स्वस्य

हीनत्वमपि बोधयित्वा धृतवानित्यर्थः। हेत्याश्चर्ये। लौकिकत्यागात्। **व्यजने** चामरव्यजने। **परमाद्भुते** स्वत एव शीतलसुगन्धवायुजनके। पथि पुष्पैर्विकीर्यमाणो गृहादिस्थितै **रेजे** परमशोभां प्राप्तवान्। सर्वाण्येव पुष्पाणि पुष्पवृष्टौ समागतानीति वसन्त एवाऽयं भगवानाविर्भूत इति **मधुपतिरि**त्युक्तम्। विष्णुपूजा वा तैः सर्वैः कृता। नाऽल्पार्थे पुष्पाणि विनियुक्तानीति **मधुपतिरि**त्युक्तम्। "**विष्णोः पदे परमे मध्व उत्स**" इति श्रुतेः। सिंहासनोपवेशनापेक्षयाऽपि पथि परमा शोभा जाता।।१६। १७।।

व्याख्यार्थ—छत्र का दण्डा लाल है और छत्र श्वेत है। सब ओर से उस छत्र में मोतियों की झालरें झूलती हुई सुन्दर लग रही हैं। यहां अर्जुन को 'गुडाकेश' कहा गया है, उसका कारण यह है कि अर्जुन निद्रा का ईश्वर है, अतः उसका भ्रम जाता रहा है। "प्रत्येक प्रकार के उपचार में महाराजपने का उपचार उत्तम है, उसका चिन्ह छत्र है, वह अर्जुन ने ले रखा है। अतः मुख्य कार्य अर्जुन ने किया हैं, सिद्ध है कि अर्जुन बुद्धिमान है।"

अर्जुन भगवान् को प्रिय है, ऐसा कहने से, भगवान् की उसने बहुत सेवा की है, यह सूचित हुआ। अर्जुन के लिये युधिष्ठिर की तुलना में भी भगवान् बहुत प्रिय हैं। अतः अपना लघुत्व बताने के लिये महाराज के योग्य छत्र को अर्जुन ने भगवान् के ऊपर धारण किया है। उसने लौकिकपना छोड़ दिया है। मूल में 'ह' अव्यय द्वारा आश्चर्य बताया गया है। चामर अर्थात् व्यजन (बीजणा) बहुत ही अनूठे हैं जो स्वयं में से सुगन्धित और शीतल वायु उत्पन्न करते हैं।

मार्ग में पुष्पों की वृष्टि हो रही है, इसलिये अपनी अपनी दुकानों व मकानों आदि में रहने वाले मनुष्य भगवान् पर पुष्पों की वृष्टि करते हैं। इससे भगवान् बहुत शोभित हो रहे हैं।

पुष्पों में हर जाति के पुष्प उपयोग में आये हैं। जिस प्रकार बसन्त ऋतु में हरेक प्रकार के पुष्प प्रफुल्लित होते है उसी प्रकार प्रत्येक प्रकार के पुष्प आये हैं। क्योंकि यहां बसन्त रूपी भगवान् प्रकट हुये हैं? यही सूचित करने के लिये मूल में 'मधुपति' शब्द दिया गया है। अथवा उनमें से प्रत्येक ने विष्णु भगवान् की पूजा की है। थोड़े से कारण के लिये पुष्प समर्पित नहीं किये हैं, यही सिद्ध करने के लिये 'मधुपति' शब्द का प्रयोग किया गया है। वेदों में कहा गया है कि "उत्तम विष्णु के चरण में मधु का स्रोत है।" इस प्रकार श्रुतियों में 'मधु' का प्रयोग आनन्द आदि

के लिये हुआ है। वह 'मधु' भगवान् के चरण कमल में रहता है, यह बताया गया है। पुष्प वृष्टि करने वालों को इस बात का ज्ञान है, यह बताने के लिये 'मधुपति' शब्द कहा गया है। सिंहासन पर विराजने से जो शोभा होती है उससे कहीं अधिक मार्ग में पधारते समय की शोभा वृद्धि हो रही है ।।१६।।१७।।

आभास—एवमन्यवर्णानां कृत्यमुक्त्वा ब्राह्मणानामाह—

आभासार्थ—इस प्रकार दूसरे वर्णों के कार्यों को कहकर, अब ब्राह्मणों ने जो कार्य किया है, उसका वर्णन करते हुए कहते हैं:—

श्लोक—**अश्रूयन्ताऽऽशिषः सत्यास्तत्र तत्र द्विजेरिताः ।**
नानुरूपानुरूपाश्च निर्गुणस्य गुणात्मनः ।।१८।।

श्लोकार्थ—भगवान् अपने निर्गुण स्वरूप के प्रतिकूल तथा गुणात्मक स्वरूप के अनुकूल स्थान स्थान पर ब्राह्मणों के द्वारा उच्चारे गये सत्य आशीर्वादों को अंगीकार करने लगे ।।१८।।

सुबोधिनी-अश्रूयन्ताऽऽशिष इति । ब्राह्मणानामयं जातिधर्मो यदीश्वरे **आशीर्दानम**विद्यमानार्थस्याऽऽशंसनरूपम् । तदैव तेषां वाक्यं प्रमाणं स्यात् । अनधिगतार्थगन्तृत्वात् । प्रकृते तु तद्भावः । आशिषां सिद्धत्वेनाऽनुवादात् । तथापि यथादृष्टार्थत्वपर्यवसानात्सत्या एवाऽऽशिषः । अत एव श्रुता एव न गृहीताः । अनुवादांशे अनुरूपाः । आशंसायामननुरूपाः । उभयोः समासः । चकारात्प्रत्येकरूपाश्च । प्रत्येकरूपत्वे हेतुः-**निर्गुणस्य गुणात्मन इति** निर्गुणस्य अननुरूपा गुणात्मनोऽनुरूपाः । अन्ये च तद्विपरीताः । सर्वभवनसमर्थत्वाद्भगवतः सर्वा एवाऽऽशिषः सत्याः । अतः श्रुता इत्यर्थः । **द्विजेति** वारद्वयजन्मना व्यग्राः सन्तो निर्धार्य वचने अशक्ता इति सूचितम् ।।१८।।

व्याख्यार्थ—ईश्वर को भी आशीर्वाद प्रदान करना यह ब्राह्मणों का जाति धर्म है। परन्तु वे आशीर्वाद ईश्वर में जिस कारण से न हों, उन्हें सिद्ध करने के लिये हों, तभी वे प्रामाणिक माने जा सकते हैं। कारण यह कि जो तथ्य अन्य प्रकार से सिद्ध न होता हो उसे सिद्ध कर देना ही प्रमाण रूप गिना जाता है। यहां पर भगवान् को आशीर्वाद दिये जाने वाले सब गुण तो (भगवान् में) पहले से ही सिद्ध हैं। अतः आशीर्वाद केवल अनुवाद रूप ही हुआ। जो बात उनमें न हो उसे सिद्ध करना ही प्रमाण माना जाय, वह बात तो यहां है नहीं। अतः अनुवाद मात्र होने से इसमें प्रामाणिकता नहीं है। यह सब कुछ होते हुये भी जो जो वास्तविकताएँ देखने में

आ रही है उन्हें ही आशीर्वाद रूप में कहा गया है। इसलिये ये आशिष सत्य हैं। मूल में आशिष का सुना जाना नहीं लिखा गया है। इसलिये ब्राह्मणों द्वारा दिया गया आशीर्वाद भगवान् में रहने वाले गुणों का अनुवाद है। यह अंश रूप में अनुकूल है। जो बात भगवान् में नहीं है उसे सिद्ध करने के लिए ही ये आशीर्वाद हैं; ऐसा कहना ठीक नहीं है। मूल में 'च'कार होने से अनुकूलता तथा प्रतिकूलता दोनों ही स्थितियां या गुण धर्म भगवान् के स्वरूप में ही सिद्ध हो रहे हैं। यही बताने के लिए मूल में कहा गया है कि निर्गुण स्वरूप को आशीर्वाद देना योग्य नहीं है; यह तो सगुण स्वरूप के ही योग्य है। वे सगुण होने से सब गुणों से युक्त है, उन्हें आशीर्वाद देना योग्य नहीं। परन्तु निर्गुण में गुणों की स्थापना करने के लिए आशीर्वाद देना योग्य है, यह अभिप्राय निकलता है। भगवान् सब प्रकार से बन जाने में समर्थ है अतः प्रत्येक आशीर्वाद सत्य और शुभ है। मूल में आशीर्वाद देने वाले ब्राह्मणों को द्विज कहा गया है। इसका तात्पर्य यह है कि जोदो बार जन्म ग्रहण करे वह 'द्विज' कहलाता है। अतः दो बार जन्म लेने से व्यग्र होने के कारण उनका निश्चयपने से कथन करने में असमर्थ है, ऐसा सूचित किया है ॥१८॥

आभास—एवं सर्वेषां कृत्यमुक्त्वा, विरहादिसहनमेवक्रिया च भगवत्सान्निध्येऽपि बहिर्मुखत्वं च भगवदिच्छयैव नाऽज्ञानादिति वक्तुं तासां ज्ञानमाविष्करोति।

आभासार्थ—इस प्रकार प्रत्येक का कार्य कह कर, भगवान् की समीपता में भी बहिर्मुख होने की स्थिति भगवान् की इच्छा से ही हुई है, अज्ञान के कारण नहीं हुई. यह कहने के लिए स्त्रियों का ज्ञान बताते हैं।

श्लोक—**अन्योन्यमासीत्सञ्जल्प उत्तमश्लोकचेतसाम्।**
कौरवेन्द्रपुरस्त्रीणां सर्वश्रुतिमनोहरः ॥१९॥

श्लोकार्थ—अति उत्तम कीर्ति वाले भगवान् में ही पिरोया हुआ है चित्त जिनका ऐसी कौरवेन्द्रपुर की स्त्रियां, समस्त श्रुतियों के मन का हरण करने वाले भगवान् के विषय में परस्पर वार्तालाप करने लगीं ॥१९॥

सुबोधिनी— **अन्योन्यमासीदिति**। यत्र स्त्रीणामेवं ज्ञानं तत्र किं वक्तव्यमन्येषामिति भावः। सम्यक् जल्पः। स्वपक्षस्थापनपूर्वकपरपक्षदूषणवाक्सन्दर्भो जल्पः। यद्यपि कथारूपजल्पस्य मध्यस्थाद्यपेक्षा तथापि विचाररूपजल्पस्य नाऽन्यसापेक्षत्वमिति सुष्ठुत्वम्। "**अपि चक्रुःप्रवचनमेकमि**"

ति न्यायो नाऽत्र । किन्तु अन्योयं सर्वे श्रोतारः सर्वे वक्तारश्चेति । एतादृशकथने हेतुः-**उत्तमश्लोकचेतसामिति** । यथा लौकिके स्त्रीणां निपुणता भवति तच्चितानां तथा भवगत्यपि इदमित्थतया ज्ञानं युक्तमेव । किञ्च । कुरोर्महापुरुषस्य धर्मत्वेन परिणतस्य वंश्या अपि धर्मत्वेन ज्ञानवन्तः । तत्राऽप्यय युधिष्ठिरः परमैश्वर्यं प्राप्तः पूर्णज्ञानादिमान् । तस्य पुरस्त्रीणां भगवत्परत्वं युक्तमेव । ननु "**अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वाऽन्येभ्य उपासत**" इति न्यायेन तासां ज्ञानमस्तु । न तु सञ्जल्पः । तत्राऽऽह-**सर्वश्रुतिमनोहर इति** । सर्वासां श्रुतिनां वेदानां मनस्तात्पर्य्यं हरतीति । सर्वेषां वा श्रुतिमनसी स्ववशे करोतीति तथा । न ह्येतादृशः सञ्जल्पो यथाकथञ्चिद्भवति । किन्तु भगवच्चेतसामेव भवति ॥१६॥

व्याख्यार्थ—जहाँ स्त्रियों को भी ऐसा ज्ञान है वहां यदि अन्यों को भी यह ज्ञान हो तो वहां कहना ही क्या ? यह बताने के लिये स्त्रियों के वाक्यों का निरूपण करते हैं कि उनमें संजल्प (वार्तालाप) होने लगा । अपने पक्ष को मजबूत सिद्ध करते हुए दूसरे के पक्ष को दोष पूर्ण सिद्ध कर देने वाला वाक्य समूह 'जल्प' कहलाता है । परन्तु इस प्रकार की कथारूप वाणी का समूह जल्प नहीं होता, प्रत्युत विलास रूप होता है । इसीलिये तो 'संजल्प' का प्रयोग हुआ है । यद्यपि कथा-रूप वाद अथवा शास्त्रार्थ में तो किसी निर्णायक या मध्यस्थ की अपेक्षा होती है परन्तु विचार रूप 'जल्प' में किसी मध्यस्थ की जरूरत नहीं पड़ती । जो बात निर्णीत हो चुकी हो वह विचार रूप कहलाती है । अतएव यहाँ सम्यक् जल्प 'संजल्प' का प्रयोग हुआ है । सनकादिक मुनियों ने श्रुतियों के तात्पर्य का निरूपण किया है । ऐसी स्थिति में एक कथा कहने वाले हैं बाकी सब सुनने वाले हैं । ऐसा तो यहाँ हो नहीं रहा । परन्तु सभी बोल रहे हैं और सभी सुन रहे हैं । इसका कारण यह है कि सबके चित्त भगवान् में लगे हुए हैं । जिस प्रकार लौकिक में स्त्रियों की निपुणता होती है उसी प्रकार यहाँ अलौकिकता में भी उनकी निपुणता सिद्ध हो गई है । भगवान् के विषय में भी उनका ज्ञान कुशलता लिये हुए है । और भी इसके कारण हैं ।

कुरु महापुरुष थे और धर्मिष्ठ थे । अतः उनके वंश में उत्पन्न होने वाले ज्ञान परायण तथा धार्मिक होवें, यह उचित है ही । उनमें भी फिर राजा युधिष्ठिर पूर्ण ऐश्वर्य को प्राप्त तथा परम ज्ञान सम्पन्न हैं ; अतएव उनके नगर की स्त्रियाँ ज्ञान सम्पन्नाएँ होवे तो क्या आश्चर्य ? उन स्त्रियों के चित्त का भगवत् परायण होना योग्य ही है । गीता जी में कहा गया है कि "अन्य लोग भगवान् के माहात्म्य को

इस रूप में नहीं जानते वे तो दूसरों से सुनकर ही भगवान् की उपासना करते हैं। इस न्याय से भी उनमें भगवत् विषयक ज्ञान का होना उचित है।

अतः इन वार्तालापों को संजल्प नहीं कहा जा सकता। इस प्रसंग में और स्पष्ट किया गया है। यह वार्तालाप वेदों के मन रूपी तात्पर्य को भी हरने वाला है अथवा प्रत्येक के कानों एवं मन का हरण करने वाला वार्तालाप है। इस प्रकार का असाधारण वार्तालाप किसी भी स्थिति में 'संजल्प' वाला अर्थ नहीं रखता। क्योंकि जिनके चित्त भगवान् में लगे हुए हैं, उनसे ही इस प्रकार की भगवत् चर्चाएं निकलना संभव है ॥१९॥

आभास—तं सञ्जल्पमाह दशभिः—

आभासार्थ—अब दश श्लोकों में उस वार्तालाप का निरूपण किया जा रहा है।

श्लोक—स्त्रिय ऊचुः—**स वै किलाऽयं पुरुषः पुरातनो**
य एक आसीदविशेष आत्मनि।
अग्रे गुणेभ्यो जगदात्मनीश्वरे
निमीलितात्मन्निशि सुप्तशक्तिषु ॥२०॥

श्लोकार्थ—स्त्रियां कहने लगीं, ये निश्चय ही वही पुराण पुरुषोत्तम श्री कृष्ण हैं, जो पहले (प्रलय काल में) गुणों से रचित जगत् को अविशेष रूप से (किसी गुण की विशेषता धारण न करने वाले) प्रलय निशा में अपनी शक्तियों में सुलाये हुये, अपनी आत्मा को निमीलित किये हुए एक मात्र अकेले ही स्थित थे ॥२०॥

सुबोधिनी—**स वै किलाऽयमिति**। "**यस्मिन् विदिते सर्वमिदं विदितं भवती**" ति श्रुत्या मूलं भगवान् ज्ञातव्य। तत्र को भगवानित्यपेक्षायां यत्सान्निध्यमात्रेणैवोपासनोपदेशविचारव्यतिरेकेण अस्माकं सर्वज्ञता स भगवान्। अतोऽयमेव भगवान्। किञ्च। न केवलमस्मदुपपत्तिः। अपि तु सर्वलोकवेदप्रसिद्धिः। वै निश्चयेन। तत्र स्वानुभवेन युक्तिरुक्ता। ननु तथापि वेदादिप्रमाणेन "**आत्मैवेदमग्र आसीत्पुरुषविधः। पूर्वमेवाऽहमिहाऽऽसमिति तत्पुरुषस्य पुरुषत्वम्। पुरुषो ह वै नारायणोऽकामयते**" त्यादिश्रुतिषु पुरुषात्सृष्टिरुक्ता। "**जन्माद्यस्य यत**" इति न्याये च यो जगत्कर्ता स आत्मा स भगवान् तद्ब्रह्मे ति। न चाऽत्र पुरुषशब्द आकृतिवाची। येनेदानीन्तनैरतिव्याप्तिर्भवति। किन्तु पुरातनत्वेन यत्किञ्चिन्मनसा वचसा निरूप्यं तस्मात्सर्वस्मादपि पुरातनत्वेन। तथा च व्याससमाधौ—"**अपश्यत्पुरुषं पूर्णमि**" ति तस्माद्यः सनातनः पुरुषः स

भगवान् नाऽन्यो भवितुमर्हतीत्याशङ्क्याऽऽह-**अयं पुरुषः पुरातन इति**। यो भवद्भिरुक्तः सोऽयमेव। "**यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः। अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तम**" इत्ययमेवाऽऽह। नन्वस्य वैकुण्ठवासिनो मायाद्यनेकप्रचिवस्य कयाचिदुपपत्त्या पुरुषत्वं भवतु नाम। न तु भगवत्त्वमित्याशङ्क्याऽऽह-य **एक आसीदिति**। **य इति** प्रसिद्धौ। "**सदेव सौम्येदमग्र आसीत्। एकमेवाऽद्वितीयमि**" ति यः श्रुत्या सजातीयविजातीयस्वगतभेदराहित्येन निरूपितः सोऽप्ययमेव। यतोऽयमेव ए आसीत्। ननु कथमेतद्घटते। अधिकरणकालस्थितिक्रियादिसापेक्षत्वात्। अत आह **अविशेष आत्मनीति**। न ह्ययं क्वचिदन्यत्र स्थितः। किन्त्वात्मन्येव। ननु तथाप्याधारत्वादिधर्मपुरस्सरे आत्मनि स्थितो वक्तव्यः। ततश्च पूर्वोक्तदोष इति। तत्राऽऽह। **अविशेषे**। सर्वाधारादिधर्मविशेषरहिते। अनेन कालादीनामपि सत्त्वं तदानीं निवारितम्। **ननु "अग्रे" "तदानीमि"** त्यादिशब्दाः कालवाचका एव? सत्यम्। तदानीं प्रमाणाभावाद्वक्त्राद्यभावाच्च केवलं रूपं निरूपयितुं न शक्यते। पश्चात् कालादिनिरूपणपुरस्सरं तज्जातमिति इदानीन्तनं व्यवहारमाश्रित्य **तदानीमित्युक्तम्**। ननु कालसत्त्वं प्रतिपाद्यते। उभयप्रतिपादने वाक्यभेदप्रसङ्गात्। ततः पूर्वं प्रमाणान्तरेणाऽसिद्धत्वान्नाऽनुवादः। '**एकमेवाऽद्वितीयमि**" ति विरोधश्च। कथं वा स्वयं स्वगतादिभेदं निराकुर्वन् कालमनुवदेत्। तस्मादिदानीं बोधनसमयानुसारेण वाग्व्यवहारल्लोकप्रतीत्यर्थं सर्वाधारतया प्रतीयमानकालोपरञ्जनतया निरूपणम्-**तदानीमिति**। आसनक्रियाऽपि स्वरूपमेव। तस्मात्सुष्ठूक्तमविशेष आत्मनि एक एवाऽऽसीदिति। एवं श्रौतप्रकारेण निरूप्य पुराणादिप्रकारेण निरूपयति-**अग्रे गुणेभ्य इति**। **गुणेभ्यः** सत्त्वरजस्तमोरूपेभ्यः। **अग्रे** प्रथमम्। तदा गुणरूपेण स्वयं नाऽऽविर्भूत इत्यर्थः। अथवा। '**पूर्ववद्वा**' इति सिद्धान्तानुसारेण भगवान्स्वधर्मरूपः प्रथमं भवति। पश्चाच्छक्तिरूपः कार्यरूपश्च। तदाह-**अग्रे गुणेभ्य इति**। स्वधर्मनिर्माणात्पूर्वमित्यर्थः। नन्वसतः सत्ताया अनङ्गीकाराज्जगतः पूर्वं सत्त्वमङ्गीकर्त्तव्यम्? अत आह - **जगदात्मनीति**। कालनिराकरणार्थमाह-**ईश्वर इति**। जीवनिराकरणार्थमाह-**निमीलितात्मन्निति**। नितरां मीलिता जीवरूपेण न प्रकटा आत्मानो यस्मिन्। लुप्तसप्तम्यन्तं पदम्। स्वशक्तिव्यावृत्त्यर्थमाह-**सुप्तशक्तिष्विति**। सुप्तासु शक्तिषु सतीष्वित्यर्थः। अनादिरयं संसारप्रवाहः। न च महाप्रलय एक एव। ब्रह्माण्डभेदानां सृष्टिभेदानां च श्रुत्यादिसिद्धत्वात्। अतो यस्यां कस्याञ्चित्सृष्टौ वक्तव्यायां पूर्वावस्था वक्तव्या। ततोऽपि पूर्वं सृष्टिरासीदिति ज्ञापयति सुप्तासु शक्तिष्विति। पूर्वसृष्टिः शक्तिभिरुपसंहृता। ततो ब्रह्मणोऽन्तिमदिवसस्य समाप्तौ रात्रिकाले चोपगते ब्रह्माण्डभङ्गात्तत्त्वानामपि लयाद्दिवसोद्गमाभावेन रात्र्यपगमाभावात्स कालो रात्रित्वेन व्यपदिष्टः। शक्तयश्च सुप्तप्रतिबुद्धन्यायेन भगवत्युद्गच्छन्ति। सुप्तानां च भगवत्त्वमेव। अतः शक्तिशयनमारभ्य गुणोत्पत्तेः प्राक् भगवानेक एवाऽऽसीदित्युक्तं भवति ॥२०॥

व्याख्यार्थ— "जिन्हें जान लिये जाने पर यह सब कुछ जान लिया जाता है," ऐसा श्रुतियों में कहा गया है। उनका मूल भगवान् है। वे ही जानने योग्य हैं। भगवान् कौन हैं? यह जानने की इच्छा होने पर, कहते हैं कि प्रभु के केवल पास जाने मात्र से ही, उपासना उपदेश अथवा विचार किये बिना ही हमें सब कुछ जान लेने वाली स्थिति प्राप्त हो जाती है, वही भगवान् हैं। इसीलिये श्रुतियों में प्रभु को

जानने योग्य कहा गया है। वे ही ये साक्षात् श्री कृष्ण भगवान् हैं। उस प्रसंग में अपने अनुभव की युक्ति कही गई है। उसमे केवल अपनी युक्ति ही नहीं, परन्तु लोक तथा वेद में भी ऐसी प्रसिद्धि है, यह बताने के लिये मूल में 'वै' अव्यय दिया गया है। उसमें अपने अनुभव की युक्ति हीक गई है।

यहां यदि यह शंका उठे कि वेदादिक प्रमाण में तो इस रीति से प्रतिपादन नही किया गया है। वेदों में तो कहा गया है कि "यह सारा जगत् पहले आत्मा रूप था। पहले मात्र 'मैं' ही था। यही पुरुष का पुरुषपना है। पुरुषोत्तम नारायण भगवान् ने इच्छा की और फिर स्वयं जगत् रूप बन गये।" इन सब बातों के आधार पर सृष्टि में पुरुष की सृष्टि कही गई है। "जिस ब्रह्म से इस जगत् के जन्मादिक होते हैं," ऐसा व्यास सूत्र में कहा गया है। अतः वे ही जगत् के कर्ता और आत्मा हैं और वे ही ब्रह्म रूप हैं। यही बात श्रुतियों में कही गई है कि पुरुष शब्द किसी आकार को बताने वाला नहीं है। जिस प्रकार हम लोगों में, जा कि आकृति वाले हैं, अति व्याप्ति (दूसरों में पहले वालों के लक्षण मिलते रहें, उसे अति व्याप्ति कहते हैं) होती है। परन्तु जो पुरातन होने से, मन व वचन द्वारा निरूपण करने योग्य हैं, वे भगवान् सबसे प्राचीनतम हैं। इसीलिये जब व्यासजी ने समाधि लगाई तो पूर्ण पुरुषोत्तम के दर्शन किये, ऐसा लिखा हुआ है। अतः जो सदैव रहने वाले पुरुष हैं, उन्हें भगवान् होना ही चाहिये। दूसरे भगवान् होने के योग्य नहीं; ऐसी शंका करके अब उसका समाधान करते हैं, कि श्री कृष्ण पुराण पुरुष हैं।

जिसे पुराण पुरुष कहा गया है, वे श्री कृष्ण ही हैं। क्योंकि गीताजी में कहा गया है कि "जिस कारण से मैं क्षर रूप (प्रति पल परिवर्तन रूप) सर्व भूत प्राणी मात्र का उल्लंघन कर रहा हूं पर वस्तुतः अक्षर से भी उत्तम हूं। यही कारण है कि मैं लोक में और वेद में पुरुषोत्तम नाम से प्रसिद्ध हूं।" इस कथन से श्री कृष्ण ही पूर्ण पुरुषोत्तम हैं।

अब यहां भी कोई शंका करे कि कृष्ण तो वैकुण्ठ में विराजने वाले हैं, जिनकी आज्ञा में माया आदि कार्य करने वाली हैं। उनमें किसी तर्क द्वारा पुरुषपना तो सिद्ध किया जा सकता है, परन्तु वे भगवान् भी हैं, यह नहीं कहा जा सकता। इस शंका का स्पष्टीकरण देते हैं कि भगवान् एक ही थे। श्रुति में एक स्थान पर उद्दा-

लक से श्वेतकेतु ने कहा है कि "हे सौम्य जगत् पहले सद् रूप था, जिसका कोई न हो ऐसे वे एक ही ब्रह्म थे।" इस श्रुति द्वारा सजातीय (समान गुण धर्म वाला) विजातीय (विरुद्ध गुण धर्म वाला) और स्वगत (अपने ही रूप में स्थित) भेदों से ब्रह्म रहित है अर्थात् ब्रह्म में किसी भी प्रकार का विकार नहीं है, ऐसा निरूपण किया गया है। ऐसे वे, ये श्री कृष्ण ही हैं। कारण कि पहले यही एक थे। अब यहां पुनः यह शंका उठ खड़ी हो, कि पहले एक मात्र श्री कृष्ण ही थे, ऐसा कहने पर तो समय-काल, उस समय की स्थिति और क्रिया आदि अवश्य होने चाहिएं; अन्यथा वे एक ही थे ऐसा कहना ही कैसे संभव हो सका ? उसका समाधान करते हैं।

किसी भी प्रकार के धर्म से रहित भगवान् आत्मा में निवास करते हैं। इसलिये ये भगवान् कहीं बाहर किसी स्थल पर नहीं रहे, परन्तु अपनी ही आत्मा में स्थित रहे।

तो फिर अन्य किसी को आधार बनाकर रहते होंगे परन्तु बाद में भी वे ही शेष रहे, यह कैसे संभव हुआ ?

ऐसी शंका के उत्तर में कहते हैं कि हरेक के आधार रूप में रहते हुए भी किसी भी प्रकार का धर्म उनमें नहीं रहता। वे अपने में ही लीन रहते हैं।

तो उस समय काल तो विद्यमान रहता होगा ? इसका भी निवारण इस प्रकार है। क्योंकि सदैव सौम्य इस श्रुति में अग्रे (आगे-पहले) शब्द दिया गया है जो कि काल का वाचक शब्द है। उसमें "नासदासीन्नो सदासीद् तदानीम्" इस उल्लेख के अनुसार श्रुति में 'तदानीं' शब्द भी काल को बताने वाला है। तो (फिर इतने सारे काल में) एक ही आत्मा थे, यह कैसे संभव हुआ ?

उसके समाधान में कहते हैं कि पहले वाली श्रुति में (श्रुति के पूर्व भाग में) एव शब्द लिखा है जिससे इसमें सत् और असत् दोनों का निषेध किया गया है। उस समय में कोई भी कहने वाला न होने से प्रभु के मूल स्वरूप का निरूपण नहीं हो सकता। उनके बाद में काल आदिक अस्तित्त्व में आये। उनका भी निरूपण करते समय पहले कोई नहीं था। ऐसा समझकर ही 'तदानीं' तथा 'अग्रे' इन दो

शब्दों का व्यवहार किया गया है। परन्तु इनसे यह सिद्ध नहीं हुआ कि उस समय कालादिक थे। कि उस समय में ब्रह्म का प्रतिपादन करे और साथ ही साथ काल का भी प्रतिपादन करे। जब कि श्रुति में तो एक ही ब्रह्म बताया गया है। पहले वाली बात मानी जाय तो भेद आ जाने का प्रसंग पैदा हो जाता है। अतः किसी भी प्रकार के प्रमाण से ब्रह्म के अतिरिक्त किसी भी अन्य के होने की स्थिति सिद्ध नहीं होती। उस श्रुति में अग्रे पद लिखने से 'काल था' ऐसा अनुवाद किया गया है, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता। कारण यह है कि 'एकमेवा द्वितीयं' इस श्रुति में सजातीय, विजातीय और स्वगत इन तीनों प्रकार के भेदों से रहित ब्रह्म का निरूपण किया गया है, उसमें विरोध उत्पन्न हो जाय। श्रुति स्वयं में तीन प्रकार के भेदों का निषेध करके 'काल था' ऐसा अनुवाद करे, यह बात भी सभव नहीं। यह तो हमें बोध करवाने के लिये मर्यादा के अनुसार वाणी का प्रयोग किया गया है। इस लोक में विश्वास के लिये, किसी को जानने का आधार रूप मानने के लिये, काल को प्रसन्न बनाने वाले उपरंजन रूप में निरूपित किया गया है। उससे आगे कोई नहीं था, ऐसा कहने से ही काल आदिक जाने जाते हैं। परन्तु उस समय तो काल भी नहीं था। तो उस रूप में ब्रह्म की जो भी स्थिति या क्रिया रही हो वह भी स्वरूपात्मक हुई। इसलिये किसी भी प्रकार के धर्म से रहित आत्मा में ये कृष्ण एक ही थे। ऐसा जो कहा गया है, वह उचित है। इस प्रकार से वैदिक रूप में निरूपण करके अब पुराणों के प्रकार से निरूपण करते हैं।

सत्त्व गुण, रजो गुण और तमो गुण से पहले यह श्री कृष्ण ही थे। अतः गुणात्मक स्वरूप से प्रभु प्रकट नहीं हुए। 'पूर्ववद्धा' इस व्यास सूत्र में जो सिद्धान्त कहा गया है उसके अनुसार भगवान् पहले स्वधर्म रूप से प्रकट होते हैं। बाद में शक्ति रूप से प्रकट होते हैं। अन्त में कार्य रूप से प्रकट होते हैं। इसे बताने के लिये कहते हैं कि गुणों से पहले अपने धर्मों को प्रकट किया। अतः सब से पहले श्री कृष्ण ही थे।

अब यहाँ फिर शंका हो कि मिथ्या पदार्थ की सत्ता स्वीकार नहीं होती अतः जगत् था ही नहीं। तो सबसे पहले जगत् था, यह स्वीकार करना पड़े। जगत् के आरोप से रहित रूप अर्थात् अनागन्तुक रूप (पूर्व निर्मित) भगवान् में था अर्थात् भगवान् जगत् रूप थे। उस समय काल नहीं था उसे बताने के लिये कहते हैं कि वे

ईश्वर हैं। एकादश स्कन्ध में कहा गया है कि "इस जगत् का उपादान कारण प्रकृति है और आधार परपुरुष है और उसके सत्य स्वरूप को जानने वाला काल है।" ये तीनों ब्रह्म हैं। "ये सब कुछ मैं हूं" भगवान् के इस वाक्य से सब के मूल रूप वे स्वयं ही हैं।

अब यहां फिर शंका ने सिर उठाया कि श्वेताश्वतर उपनिषद् में जीव नित्य है, ऐसा कहा है। तो क्या यह मान लिया जावे कि उस समय जीव की विद्यमानता थी। उसकी निवृत्ति के लिये कहते हैं कि जिस प्रकार अग्नि में से चिनगारियां निकलती हैं उसी प्रकार ब्रह्म में से जीव निकले हैं। ब्रह्म से निकलने के बाद ही जीव अंश रूप में प्रकट हुआ है। उससे पूर्व तो उसमें जीव भाव ही नहीं था। अतः उस समय जीव थे, ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये। उसकी अपनी स्वयं की कोई शक्ति नहीं थी यह बताने के लिए कहा गया है कि भगवान् की हरेक शक्तियां सोई हुई थी। इस संसार का प्रवाह तो अनादि है। महा प्रलय एक ही नहीं है। ब्रह्माण्ड और सृष्टि के अनेक भेद हैं, ऐसा वेदों से सिद्ध होता है। अतः जिस किसी सृष्टि के विषय में कहा जाय वह उसकी पहले वाली अवस्था समझनी चाहिये। यह उससे पहले वाली सृष्टि हुई ऐसी जानकारी हुई। कारण कि शक्तियों को सोया हुआ कहा गया है, अतः इससे पूर्व सृष्टि थी, यह सिद्ध हुसा। इससे पूर्व की सृष्टि का अपनो शक्ति द्वारा उपसंहार किया। इस प्रकार ब्रह्मा के अन्तिम दिन की समाप्ति हुई। अब प्रथम रात्रि का समय आया। तब ब्रह्माण्ड का भंग होने से तत्त्वों का भी लय हो जाता है। तिथि-दिवस भी उदय नहीं होता और रात्रि मिटतो नहीं। इसीलिये प्रलय शब्द का रात्रि के रूप में व्यवहार होता है। आत्मा की शक्तियां सुप्त-प्रतिबुद्ध न्याय से भगवान् में रहती हैं। जिस प्रकार जगत् में मनुष्य सो जाता है उसी प्रकार उनकी शक्तियां भी सो जाती है। उस प्रमाण से आत्मा की शक्तियां भी स्वरूप में लीन हो जाती हैं। जब तक शक्तियां सोई रहती हैं तब तक वे भगवद् रूप बन जाती हैं।

जहां तक शक्तियां सोई हुई हैं, वहां तक के समय में अर्थात् सत्त्वादिक गुणों के उत्पन्न होने की स्थिति से पहले वाली अवस्था तक श्री कृष्ण एक ही थे, यह इस श्लोक में निरूपण किया गया है ।।२०।।

आभास—एवं पूर्वावस्थाँ निरूप्य भक्तिसहितामिदानीन्तनसृष्टयवस्थां वक्तुमादितः प्रकारमाह—

आभासार्थ— इस प्रकार पहले की अवस्था और सृष्टि का प्रतिपादन करके जिस लिये इस सृष्टि को किया गया है, उसका प्रयोजन साधन की परम्परा के क्रम से निरूपण करते हैं:—

श्लोक—**स एव भूयो निजवीर्यचोदितां, स्वजीवमायां प्रकृतिं सिसृक्षतीम् ।**
अनामरूपात्मनि रूपनामनी, विधित्समानोऽनुससार शास्त्रकृत ।।२१।।

श्लोकार्थ—वेदों के बनाने वाले ऐसे श्रीकृष्ण भगवान् ने नाम रूप रहित होते हुये भी अपने स्वरूप में नाम और रूप की इच्छा की । काल से प्रेरित अपने अंशभूत जीत को मोह उत्पन्न करने वाली और सृष्टि की इच्छा करने वाली माया प्रभु का सम्पूर्णतः अनुसरण करने लगी ।।२१।।

सुबोधिनी—**स एव भूय इति** । स एव पूर्वोक्त एव । **भूय इति** पूर्वमप्येवं सृष्टिं कृतवान् । तत्र प्रथमं स्ववीर्यरूपं कालं सृष्टवान् । तेन कालेन चोदिताम् । सुप्तां मुख्यां मायाशक्तिं कालः प्रेरितवान् । सा च माया द्विविधा । स्वप्रतिकृत्या सम्बद्धं भगवन्त जगद्रूपेण करोति । स्वेच्छया प्रादुर्भूतान्जीवांश्च व्यामोहयति । तदेयं सृष्टिर्जीवार्था भवति । अतो मायाया इदानीन्तनाया जीवमायेति नाम । तया सृष्टिप्रकारमाह-**प्रकृतिं सिसृक्षतीमिति** । यद्यपि प्रकृतिपुरुषौ सृष्टौ तथापि पुरुषो भगवद्भागे पतित इति **प्रकृतिं सिसृक्षतीमित्युक्तम्** । तादृशीं मायां भगवाननुससार। तद्व्यापारानन्तरं स्वयं तदनुकूलतया पितेव मिलितवानित्यर्थः । अस्यां सृष्टौ विशेषप्रयोजनमाह-**अनामरूपात्मनि रूपनामनी विधित्समान इति** । पूर्वसृष्टो न भगवतोऽवतारः । न नामानि रूपाणि च इदानी सृष्टेर्भक्तिप्रधानत्वाद्भगवतोऽवताररूपनामान्यपेक्ष्यन्ते । अतः पूर्वमनामरूपात्मनि स्वस्मिन्निदानीं रूपनामनी विधित्समान इति । अतो जोवार्थमेव स्वस्याऽपि रूपनामानि करोतीत्यर्थः । किञ्च । **शास्त्रकृत्** । देवकर्त्ता । केवलनामरूपकरणे युगपदेव सर्वमुक्तिप्रसङ्गात्सृष्टिकालह्रासः प्रसज्येत । उत्पादिते तु वेदे स्वभावगुणभेदेन भिन्नेन तेन व्यामोहितेषु कांश्चिदेव मुच्यत इति क्रमेण सर्वमुक्तौ सृष्टिकालस्य न ह्रासो भवेदित्यर्थः ।।२१।।

व्याख्यार्थ—मूल में तो भगवान् एक मात्र हैं । ऐसा कहने से पहले वाले श्लोक में जो निरूपण किया गया हैं वह ध्यातव्य (समझ लेने योग्य) हैं । 'भूयः'(फिर से) यह अव्यय. 'भगवान् ने पहले भी इसी प्रकार की जगत् रचना की थी', इसे बताता है । सृष्टि करने के क्रम में पहले अपने वीर्य रूप काल को बनाया । काल से प्रेरित की गई माया भगवान् के प्रयोजनानुसार अपनी सेवाएँ समर्पित करने लगी । अब

तक सोई हुई शक्तियों को काल ने जगाया। ऐसी वह माया दो प्रकार की हुई। उसमें एक तो वह माया है जो भगवान् की निज प्रकृति या यों कहिये कि अपनी प्रति कृति से सम्बन्धित है, वह भगवान् को जगत् रूप से जनाती है। माया दूसरा कार्य यह है अथवा दूसरी माया वह है जो अपनी इच्छा से उत्पन्न की गई सृष्टि के जीवों को भुलावे में डालती है। अतः यह सृष्टि जीव के पुरुषार्थ की सिद्धि के लिये निर्मित होती है, उसे जीव माया के नाम से भी जाना जाता है। उस माया का सृष्टि रचने की प्रक्रिया का वर्णन इस प्रकार है।

वह प्रकृति को रचने की इच्छा करती है। सृष्टि संरचना कार्य में प्रकृति एवं पुरुष दोनों हैं। यहां पुरुष का अन्तर्भाव भगवान् में अन्तर्निहित है। अतः भगवान् प्रकृति को बनाते हैं ऐसा अर्थ नही हुआ प्रत्युत प्रकृति के कार्यों का भगवान् अनुसरण करते हैं। माया की की हुई क्रियाओं के बाद में भगवान् स्वयं उससे एक पिता के समान मिले हैं।

गीता जी में कहा गया है कि "समस्त योनियों में जितने आकारें प्रकार हैं उनमें ब्रह्म सबसे बड़ी योनि है"। तात्पर्य यह कि "बीज देने वाला पिता मैं ही हूं"। उस प्रमाण से भगवान् ने माया को भेजा है।

इस सृष्टि में विशेष प्रयोजन इतना ही है कि पहले की सृष्टि में भगवान् का अवतार, नाम और रूप इत्यादि कुछ भी नहीं था। अपनी सृष्टि भक्ति प्रधान होने से भगवान् के अवतार, रूप और नामों की विशेष आवश्यकता है। जो प्रभु पहले नाम रूप आदि से रहित थे, अपने स्वरूप में ही रूप व नामों को इच्छा वाले बने। भगवान् जीवों के लिये नामों व रूपों वाले हुये।

ऐसे वे प्रभु वेदों के बनाने वाले हैं। केवल नाम व रूप करने से एक साथ ही सबके मुक्त हो जाने का प्रसंग उत्पन्न हो जाय तब तो सृष्टि काल का ही ह्रास हो जाय। अतः भगवान् ने वेदों को बनाया। जिससे सबके स्वभाव और गुण अलग-अलग होने से वेदों में सभी मोह को प्राप्त हो जाते हैं। स्वभावानुसार युगानुसार अर्थ लगाकर वास्तविकता से वंचित हो जाते हैं। अस्तु कोई कोई ही भगवत् कृपा से वेदों के वास्तविक भाव को जानकर मुक्त बनते हैं। इसी क्रम से सबकी मुक्ति होती है। अतः सृष्टि काल का नाश नहीं होता ।।२१।।

आभास—एवं पूर्वावस्थां सृष्टिं चोपपाद्य यदर्थमियं सृष्टिस्तत्प्रयोजनं साधनपरम्पराक्रमेण निरूपयति—

आभासार्थ—इस प्रकार पहले की अवस्था तथा सृष्टि का प्रतिपादन करके अब जिस लिये सृष्टि को रचा गया उसका प्रयोजन साधन की परम्परा के क्रम से निरूपण किया जाता है:-

श्लोक—**स वा अयं यत्पदमत्र सूरयो जितेन्द्रिया निर्जितमातरिश्वनः ।**
पश्यन्ति भक्त्युत्कलितामलात्मना नन्वेष स त्वं परिमार्ष्टुमर्हति ।।२२।।

श्लोकार्थ—जिसने इन्द्रियों तथा प्राणवायु को जीत लिया है, ऐसे योगी भक्ति से उल्लसित शुद्ध आत्मा द्वारा जिन भगवान् के चरण कमल का दर्शन करते हैं, ये वही श्रीकृष्ण हैं । ये ही वे सत्व हैं, जो माया को दूर करने में समर्थ है ।।२२।।

सुबोधिनी—**स वा अयमिति** । ननु केषांचिन्मते सगुणादपि सृष्टिः सम्भवति । ब्रह्मविदामुपास्यः स न भवति । तस्माद्ब्रह्मविदुपास्यत्वेनैव ब्रह्मत्वनिश्चयः । स च समाधिना उपास्य आन्तर आत्मा न तु बाह्य इत्याशङ्क्य स एवाऽयमित्याह । स एव वै निश्चयेन अयम् । बाह्याभ्यन्तरदोषाभावः पूर्वमेव निरूपितः बहुकालं समाधौ स्थित्वा, तत्र भगवन्तमनुपलभ्य, कुत्राऽयमात्मा भगवान् प्रकट इति विचार्य, योगजधर्मेणाऽवगत्य, भगवान् साम्प्रतं कृष्णरूपेणैव प्रकटो नाऽन्यत्रेति निश्चित्य, समाधिफलं भगवच्चरणारविन्दमत्रैवाऽऽगत्य पश्यन्ति । अतस्तद्वाक्यादवगम्यते अयमेव भगवानिति । ननु तेषाँ पूर्णसाधनाभावात्समाधौ नाऽऽत्मसाक्षात्कार इति चेत् ? तत्राऽऽह **सूरयो जितेन्द्रिया निर्जितमातरिश्वन इति** । ते ह्युपनिषदर्थं विचारपूर्वकं गुरुमुखात्सम्यगवगत्य सूरयो भूत्वा, पश्चाद्ब्रह्मचर्य्यादिना जितेन्द्रिया भूत्वा अपहतपाप्मानो, यमादिक्रमेण निर्जितो मातरिश्वा यैस्तादृशाः । तस्मान्न तेषां साधनाभावः । ननु चक्षुर्ग्राह्यः कथं भगवान् ? तत्राऽऽह **भक्त्युत्कलितामलात्मनेति** । न हि ते चक्षुषा भगवन्तं पश्यन्ति । किन्त्वतःकरणेन । यथा आत्मसाक्षात्कारे-"**पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयम्भूस्तस्मात्पराङ् पश्यति नाऽन्तरात्मन् । कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्नि**" ति श्रुतौ प्रत्याहारेणाऽन्तर्नीतेन चक्षुषा हृदयं प्रविष्टेन स्वाऽऽत्मानं पश्यति तथा बहिः स्थिते भगवति भक्त्या उत्कलितेनाऽन्तःकरणेन ऊर्ध्वं कलितेन बहिरागतेन चक्षुःप्रविष्टेन भगवन्तं पश्यन्तीत्यर्थः । ननु तथापि तत्वमस्यादिवाक्यैरनुपदिश्यमानः कथमात्मा भवेत् ? तत्राऽऽह-**नन्वेष स त्वमिति** । **नन्विति** कोमलसम्बोधने । एष एव स आत्मत्वेनोपदिष्ट इत्यर्थः । कुत एतत् ? तत्राऽऽह-**स त्वमिति** । स एव त्वमित्यर्थः । नन्वेवं जीवात्मत्वेन भगवत्युपदिष्टे किं प्रयोजनम् ? तत्राऽऽह-**परिमार्ष्टुमर्हतीति** । आत्मनि प्रकृतिसम्बन्धेन योऽयमनात्मवर्ग उल्लिखितस्तं परितः सर्वतः सवासनं मार्ष्टुं दूरीकर्तुमर्हति । आत्मत्वेनोपदिष्टो भगवान् सवासन प्रकृतिकार्यं नाशयतीत्यर्थः ।।२२।।

व्याख्यार्थ—किन्ही किन्ही के मत में सगुण से भी सृष्टि उत्पन्न हो सकती है। वह सगुण आत्मा जो ब्रह्म को जानता हो उसके द्वारा उपासना करना योग्य नहीं है अतः ब्रह्म ज्ञाताओं द्वारा जो उपासना करने योग्य हो वही ब्रह्म कहलाता है। ब्रह्म को जानने वालों के द्वारा तो समाधि में अन्तरात्मा की उपासना की जाती है। बाहर की ओर कोई उपासना नहीं है। ये कृष्ण तो बाहर की ओर हैं तो कृष्ण की उपासना किस प्रकार से हो सकती है। ऐसी शंका करके उसका समाधान करते हैं कि समाधि द्वारा जो उपासना करने योग्य है, वे ही ये श्री कृष्ण हैं। इनमें बाहरपने तथा अन्दरपने का कोई दोष नहीं। "स वै किलायं" इस श्लोक में निरूपण किया गया है, कि योगी बहुत वर्षों तक समाधि में रहकर जिन भगवान् को प्राप्त नहीं कर सके तो यह भगवान् कैसे प्रकट हो गये ? ऐसा विचार करके योग से उत्पन्न हुये धर्म द्वारा प्रभु को जानकर, कि हमारे भगवान् श्री कृष्ण रूप से प्रकट हुये हैं, अन्य किसी स्थल पर प्रकट नहीं हुये ऐसा निश्चय करके यहां आकर समाधि के फल रूप भगवान् के चरण कमल का दर्शन करते हैं। अर्जुन ने गीता में कहा है कि "सब ऋषि, देवर्षि नारद, असित, देवल और व्यासजी जो कहते हैं उसे ही आप भी कह रहे हो; यह सब बात सत्य है, और मैं यह मानता हूं कि आपके प्रकटपने को कोई भी नहीं जानता।" इस वाक्य से यह जानकारी हो जाती है, कि यह श्री कृष्ण ही भगवान् हैं।

अब यहां शंका की जाय कि उन योगियों को समाधि के दर्शन नहीं हुये। उनके पास पूरे साधन न होने से समाधि में साक्षात्कार नहीं हुआ। इस प्रसग में कहते हैं कि वे बड़े योगी इन्द्रियों तथा प्राणों को भी जीतने वाले, जिन्होंने उपनिषदो के अर्थ को विचार पूर्वक सब प्रकार से गुरु के पास से जान लिया है और बड़े विद्वान बन गये हैं, बाद में ब्रह्मचर्य आदि से वे योगी जितेन्द्रिय होकर, पाप रहित होकर और यम नियमों के क्रम से जिन्होंने प्राणों को जीत लिया है ऐसे उन योगियों को साधनों का अभाव नहीं है।

अब शंका करते हैं भगवान् का ग्रहण नेत्रों से कैसे हो सकता है ? जिनके लिये 'उनका दर्शन करते हैं' ऐसा कहा गया है। यहां कहते हैं भक्ति के उत्कलित (उछलते) शुद्ध आत्मा द्वारा वे योगी दर्शन करते हैं। अतः वे नेत्रों द्वारा भगवान् का दर्शन नहीं करते बल्कि अंतः करण में भगवान् के दर्शन करते हैं। जिस प्रकार वेदों में

आत्म साक्षात्कार के विषय में लिखा है कि "ब्रह्मा ने इन्द्रियों को उलटी दृष्टि वाला बनाया है अतः वे बाहर को ओर देखती हैं, अन्तरात्मा को नहीं देख सकतीं। उनमें कोई धीर हो, जिसकी इन्द्रियां अन्दर की ओर देखती हों और जिन्हें अमृत की इच्छा हो ऐसा पुरुष साक्षी रूप आत्मा का दर्शन करता हैं।" इन श्रुतियों में प्रत्याहार (योग का एक साधन) द्वारा नेत्रों से अन्दर की ओर देखने को कहा गया है। जिससे हृदय में आये हुए नेत्रों द्वारा अपनी आत्मा के दर्शन करते हैं। उसी प्रकार बाहर रहने वाले भगवान् में भक्ति से उछलते हुए अन्तःकरण द्वारा बाहर आये हुए और नेत्रों में प्रवेश कराये गए अन्तकरण द्वारा भगवान् के दर्शन करते है अर्थात् अन्दर दर्शन करते हैं। जैसे अन्तःकरण में नेत्रों को प्रवेश कराके योगी दर्शन करते हैं, वैसे ही जब भगवान् बाहर विराजते हैं तो अन्तःकरण को नेत्र में प्रवेश कराके दर्शन करते हैं। यहां शंका होती है कि साम वेद के छान्दोग्य उपनिषद् में छठे प्रपाठ में उद्दालक ने अपने पुत्र श्वेतकेतु को नौ बार जो 'तत्त्वमस्यादि' वाक्यों द्वारा आत्मा का उपदेश किया है। वह उपदेश जब तक न हो तब तक वे भगवान् आत्मा में किस प्रकार प्रकट हों? उसके समाधान में कहते हैं कि आत्मा रूप यही तो हैं अर्थात् श्री कृष्ण ही आत्मा रूप हैं। शंका में 'ननु' ऐसा कोमल सम्बोधन दिया गया है, इसलिए श्री कृष्ण का आत्मा रूप से किस लिये उपदेश हो। ऐसी शंका करके कहते हैं कि 'तत्त्वमस्यादि' वाक्य में 'वह आप हो' ऐसा कहा गया है अतः 'वे आप ही है' यह अभिप्राय हुआ।

यहां फिर यह शंका हुई कि जीवात्मापने से लक्षित किये गये भगवान् की स्थिति के वर्णन का क्या प्रयोजन है?

आत्मा और प्रकृति के सम्बन्धों की प्रक्रिया में जो अनात्म पदार्थ चिपट गये हैं अर्थात् जो आत्मा से कोई मतलब ही नहीं रखते, ऐसे व्यर्थ पदार्थों में भी आत्मा होने का भ्रम होने लगता है ऐसे उन अनात्म वस्तुओं के भ्रम को दूर करने में समर्थ प्रभु को ही यहां आत्मा शब्द से उल्लेखित किया गया है। भगवान् के लिए ऐसा उपदेश किया जाना योग्य है। वे भगवान् वासना सहित प्रकृति के कार्यों का नाश करते हैं॥२२॥

आभास—एवं सर्वप्रकारेण साक्षाद्भगवानेवाऽयमित्युक्ते प्रपञ्चकर्त्तृत्वेन भोक्तृत्वादिभावापत्तौ जीवतुल्यता स्यादित्याशङ्क्याऽऽह–

आभासार्थ—इस तरह सभी प्रकारों से श्री कृष्ण ही साक्षात् भगवान् हैं, यह निर्धारित हुआ। प्रपंच के बनाने वाले होने से तथा साथ ही उसे भोगने वाले होने से श्री कृष्ण ही दोनों स्थितियों के आधार रूप हुए। ऐसी स्थिति में तो अहंता और ममता के लिए उनकी संसार में आसक्ति भी होनी चाहिए। क्योंकि भगवान् तो इस स्थिति में जोव की बराबरी पर आ ठहरे। ऐसी शंका का समाधान करते हैं:—

श्लोक—**स वा अयं सख्यनुगीतसत्कथो वेदेषु गुह्येषु च गुह्यवादिभिः।**
य एक ईशो जगदात्मलीलया सृजत्यवत्यत्ति न तत्र सज्जते ॥२३॥

श्लोकार्थ—ये ईश्वर अपनी लीला द्वारा जगत् को बनाते हैं, रक्षा करते हैं और संहार करते हैं तो भी इसमें नहीं बंधते। इसीलिए वेदों के गूढ़ मन्त्रों से मन्त्रों को जानने वालों द्वारा जिनकी सारी कथा का गान किया गया है, हे सखि! ये वे ही श्री कृष्ण भगवान् हैं ॥२३॥

सुबोधिनी—**स वा अयमिति**। कर्त्तृत्वसमानाधिकरणं भोक्तृत्वं क्वचिदेव। यत्र स्वार्थं क्रियते। भगवांस्तु जीवार्थं करोतीति न भोक्तृत्वम्। जीवरूपेणैव भोक्तृत्वम्। तेन रूपेण दोषसम्बन्धे न दोषः। न हि दन्तकेशादीनां शुभ्रत्वादिसम्बन्धे अंशिनो देहस्य काचित्क्षतिर्भवति। अंशेषु तु स गुण एव न दोषः। तदर्थमेव तथा निष्पत्तेः। अंशानां तु न स्वतो जगन्निर्माणसामर्थ्यं पालकानामिव। ननु "**प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते**" इति स्वप्रयोजनाभावे केवलं परार्थं कथं कुर्यात्? तत्राऽऽह—**सख्यनुगीतसत्कथ इति**। हे सखि। अनु पश्चात् करणानन्तरं गीता रागपुरस्सरसभिव्यक्ता सद्भिः कथा यस्य। भगवतः प्रयोजनं तथा कृते सन्तः कीर्तयन्तीति। सखिभिर्वा सख्यपर्यन्त प्राप्तैरनुगीता भगवन्निरूपणानन्तरं रागपूर्वकमुक्ता सद्रूपा भगवद्रूपा कथा यस्य। जीवानां मुक्तिदानार्थं तथा करोतीत्यर्थः। अस्मिन्पक्षे कृपया परदुःखदूरीकरणार्थं प्रवृत्तिरित्युक्तम्। नन्वत्र किं प्रमाणम्। न हि भगवान् स्वयमागत्य कथयति। किन्तु कविनिबद्धवक्तृत्वमेवेत्याशङ्क्याऽऽह–वेदेषु **गुह्येषु च गुह्यवादिभिरिति**। गुह्येषु वेदेषु परमोपनिषत्सु— "**विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे**" "**आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्य**" इति "**अम्भस्यपार**" इत्यारभ्य सर्वान् तत्तत्प्रकरणे स्थितान् भगवद्गुणाननूद्य "**य एनं विदुरमृतास्ते भवन्ती**" त्यन्ते भगवत्स्वरूपगुणज्ञानानन्तरं भगवत्स्वरूपं प्रतिपादितम् तथा '**भक्त्या मामभिजानाति**" "**शृण्वन्ति गायन्ति**" "**सभाजयन्ते मम पौरुषाणी**" त्यादिवाक्यैश्च गुह्यमेव कथयन्तीति विशकलिततया निरूपितम्। ननु नानाप्रकरणेषु निरूपितो भगवान् प्रकरणभेदाद्भिन्नो भवेत्। शब्दान्तराभ्यासवत्प्रक्रियाया अपि भेदकत्वात्। तत्राऽऽह—**य एक इति**। सर्वप्रकरणेषूक्तो भगवानेक

एव । "**सर्ववेदान्तप्रत्ययं चोदनाद्यविशेषादि**" त्यत्र निरूपितम् । "**सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशादि**" त्यत्र च । एकस्य सर्वत्रोपदेशे हेतुमाह—**ईश इति** । ईशो हि सर्वैरनुवर्त्तिभिर्निरूप्यते । जगतो निर्माणे क्लेशाभावमाह—**आत्मलीलयेति** । ईश्वरलीलया । अन्येषां दुष्करत्वेऽपि भगवतस्तु सा लीला । **अत्ति** संहरति । आत्मनि स्थापयति वा । यद्यपि गुणानुकथनद्वारा सज्जते तथापि तत्र न सज्जते ।।२३।।

व्याख्यार्थ—जो कर्ता हो और वही भोक्ता हो, ऐसा प्रसंग होने पर तो जहां अपने लिये कार्य किया जावे वहां किसी किसी स्थल पर ही भोक्तापने की स्थिति को माना जा सकता है । परन्तु भगवान् तो प्रत्येक जीव के लिये करते है, अतः उनमें भोक्तापना नहीं है । जीव का रूप भी भगवान् का ही है । इससे यदि उनमें भोक्तापना माना जाय तो जीव रूप से दोष के सम्बन्ध में हानि नहीं है । जैसे शरीर में केश होते हैं वे श्वेत हो जाते हैं, दांत कमजोर हो जाते हैं । ये सब देह के अंग हैं । इन अवयवों (अंगों) की हानि हो जाने पर भो देह को कोई क्षति नहीं होती । केश रूप अंश में जो सफेदपना आता है, वह गुण है, दोष नहीं । क्योंकि जीव के लिए ही इस प्रपंच को भोग्यपने से उत्पन्न किया है । इसलिये उनका भोग्यपना बताया गया है । जैसे केश आदिकों की स्वयं की कोई सामर्थ्य नहीं है वैसे ही जीव अंश होने से उसमें अपने लिये जगत् निर्माण करने की सामर्थ्य नहीं ।

अब प्रश्न यह उठता है कि "मूर्ख भी बिना प्रयोजन किसी कार्य में नहीं लगता," तो भगवान् का अपना कोई प्रयोजन नहीं, फिर दूसरों के लिये ही जगत् निर्माण क्यों किया ? इसका उत्तर देते हुये कहते हैं कि हे सखि ! इस जगत् का निर्माण करने के बाद सत् पुरुषों ने प्रेम पूर्वक प्रभु की कथा को प्रकट किया है । अतः इस जगत् को बनाने का प्रयोजन इतना ही है कि सत् पुरुष प्रभु का कीर्तन करें । अथवा यदि 'सखि' शब्द को पृथक् से न माना जाय और एक साथ पद करके माना जाय तो अर्थ यह होगा कि जो भक्त सख्य भक्ति तक पहुंच गये हैं उन्होंने भगवान् का निरूपण करने के बाद प्रेम पूर्वक भगवान् की कथा कही है । अतः भगवान् जीवों को मुक्ति देने के लिये ही ऐसा करते हैं । इसका यह अभिप्राय हुआ, कि जीव जगत् में भटकने से बहुत दुःखी हो गये हैं; अतः उन जीवों पर कृपा करते हुए उनका दुःख दूर करना, यह भगवान् की प्रवृत्ति (स्वभाव) है ।

भगवान् जीवों पर दया करते हैं, इसका क्या प्रमाण ? भगवान् स्वयं पधार कर तो यह बात कहते नहीं, कवियों द्वारा बनाई गई कथाओं से ही उनका वक्तापना सिद्ध होता है ।

ऐसी शंका के उत्तर में कहते हैं कि गूढ़ वेदों में, उपनिषदों में कहा गया है कि "विष्णु के कर्मों को देखो, यह आत्मा ही देखने योग्य है, यह ही सुनने योग्य है", "जल के पार उससे भी ऊपर स्थित है", वे ही भगवान् भूत भविष्यत् तथा वर्तमान रूप हैं। इस प्रकार उस प्रकरण में भगवान् के गुणों का अनुवाद करके कहा गया है कि "जो इस रीति से जानता है, वह मरण रहित हो जाता है।" यही बात गीताजी में भी है कि "भक्ति द्वारा ही मुझे जाना जाता है।।" श्री भागवत जी में कहा गया है कि "जो मेरे चरित्र को सुनते हैं,गाते हैं और उस की प्रशंसा करते हैं", इत्यादि वाक्यों द्वारा गूढ़ अभिप्राय का प्रतिपादन किया गया है। अलग-अलग प्रकारों से इस गूढ़ता की व्याख्या की गई है।

यहाँ शंका हो कि अलग-अलग प्रकरणों में भगवान् का निरूपण किया गया है, उन प्रकरण भेदों के अनुसार भगवान् में भी भेद होगा ही, क्योंकि शब्दों की तरह ही प्रकरणों से भी भगवान् का भिन्न भिन्न वर्णन किया गया है।

इसके समाधान में कहते हैं, कि समस्त प्रकरणों में कहे गये भगवान् एक ही हैं यह बात व्यास सूत्र के तीसरे अध्याय में तीसरे पाद के प्रारंभ में ही "सर्व वेदान्त प्रत्ययाधिकरण" के अन्तर्गत निरूपित है। ऐसे ही प्रथम अध्याय के दूसरे पाद के प्रारम्भ में "सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशाधिकरण" है, वहाँ भी यही बात बताई गई है।

भगवान् एक ही हैं, ऐसा प्रत्येक स्थल पर उपदेश किया गया है। उस का कारण यह है कि भगवान् प्रत्येक के स्वामी हैं और स्वामी का निरूपण प्रत्येक अनुजीवी को करना ही चाहिए। इसलिये प्रत्येक स्थल पर एक का ही निरूपण किया गया है। जगत् का निर्माण करने में भगवान् को क्लेश नहीं होता, यह बताने के लिये कहा गया है कि "अपनी लीला से ही इस जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय करते हैं।" अन्य से तो यह काम हो ही नहीं सकता और भगवान् तो इसे लीला मात्र से कर देते हैं। बिना परिश्रम कार्य का किया जाना लीला कहलाता है। इस प्रकार जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय है। यह कार्य रजोगुण, तमोगुण और सतोगुण का है। ऐसा कहने से भगवान् उस में बँध जाते हों,ऐसा अनुमान होता है। पर सच बात तो यह है कि उन कार्यों के करने पर भी भगवान् गुणों के साथ बँधते नहीं। स्वयं में ही अखंड पने से इन समस्त गतिविधियों को करते हैं।।२३।।

आभास—एवं सर्वप्रकारेण भगवत्त्वे निरूपिते तादृशस्याऽत्राऽऽगमने को हेतुरित्यात्राऽऽह ।

आभासार्थ—इस तरह विविध प्रकारों से एक मात्र श्री कृष्ण ही सिद्ध हुए, ऐसा निरूपण करने के बाद, उनका पृथ्वी के ऊपर पधारने में क्या प्रयोजन था ? यह वर्णन किया जाता है—

श्लोक—**यदा ह्यधर्मेण तमोधियो नृपा जीवन्ति तत्रैष हि सत्त्वतः किल ।**
धत्ते भगं सत्यमृतं दयां यशो भवाय रूपाणि दधद्युगे युगे ।।२४।।

श्लोकार्थ—जब तमोगुण की बुद्धि वाले राजा अधर्म करते हुये जीते हैं, तब-तब ये भगवान् युग-युग में सत्त्व गुण से रूप अंगीकार करते हुये जगत् के कल्याण के लिये ऐश्वर्य, सत्य, सुनृतवाणी, दया और यश को धारण करते हैं। (हे सखि! ये वे ही कृष्ण हैं) ।।२४।।

सुबोधिनी—**यदेति** । स्थितिर्हि भगवत्कार्या सामान्यविशेषभेदेन द्विविधा । तत्र सत्त्वादयो गुणा अधिकृताः । ते च **"रजस्तमश्चाऽभिभूय सत्त्वं भवती"** त्यादावन्योपमर्देनैव प्रादुर्भूताः । तत्र यदा सत्त्वं तिरस्कृत्य रजस्तमसी प्रादुर्भवतस्तदा स्थितावधिकृतं सत्त्वं स्वतो दुर्बलं सत् भगवन्तं निवेद्य समानयति रजस्तमसोः सकार्ययोरुपमर्दनार्थम् । तदा सत्त्वेन रूपाणि धत्ते । सत्त्वस्य शरीरसमवायित्वं वा शरीरबोधकत्वं वा शरीरत्वं वा प्रादुर्भावनिमित्तत्वं वा भवति । तदा सत्त्वस्य अवयवा अपि पृथक् पृथक् रूपाणि बिभ्रति । सर्वयुगेष्वेवं व्यवस्था । अत सत्त्वसहायार्थं भगवदागमनमित्यर्थः । **यदेति** नैमित्तिकमुक्तम् । निमित्ते सञ्जाते नैमित्तिकस्याऽऽवश्यकत्वमिति हिशब्दार्थः । धर्मस्य प्रतिच्छायारूपोऽधर्मः सघृतकज्जलवत्प्रत्यहमुपचीयमानः । सर्वासां प्रजानां राजनि वर्तुलं भवति । ततश्चाऽधर्मेण बुद्ध्यावरकेण **भ्राम्यमाणचक्षुषा परिदृश्यमान**घटादिवत् पापव्याप्तदृष्ट्या वस्तूनां याथात्म्यं न प्रकाशते । तदा ह्यन्धा इव पदार्थान् गृह्णन्ति केवलं जीवनार्थम् । राजानो हि पालने भगवदंशास्तेषामन्धत्वेन जीवन निमित्तम् । **नृ**पान्तीति पालितानामप्यधर्मनिष्ठता सूचिता । एवं सर्वतोऽप्यधर्म उत्थितः । तत्र तन्निराकरणार्थमेष एव **परमात्मा** । सगुणस्य तत्र सामर्थ्याभावात् । **किलेति** । **"यदा यदा हि धर्मस्ये"** ति वाक्यानि प्रमाणानि । रूपाणि दधद्वा सत्त्वेन भगादि धत्ते । भगादि वा दधत्सत्त्वेन रूपाणि धत्ते । एतद्व्याख्यानद्वयेऽपि भगादीनां कथन व्यर्थमिति चेन्न रूपाणि दधद्यदि भगं न धत्ते तदोत्पन्नो भगः ऐश्वरो भावोऽधर्मेण गृहीतो विपरीतफलः स्यात् । यदा वा भगं गृहीत्वा रूपाणि न गृह्णीयात्तदा राज्ञां वधो न स्यात् । मूलभूतत्वाच्च तेषाम् । अतोऽधर्मनिराकरणार्थं भगादीनां ग्रहणम् । राजनिराकरणार्थं च रूपाणाम् । **भगस्तु** भगवदैश्वरो भावः । ईश्वरधर्मः प्रमेयबलपोषकः । **ऋतमनुष्ठीयमानो धर्मः** पूर्वकाण्डार्थं प्रवृत्तिस्वभावप्रमाणबलपोषकः । **सत्यं** प्रमीयमाण उत्तरकाण्डार्थो निवृत्तिप्रमाणबलपोषको ज्ञानरूपः । **दया** लौकिको धर्मो व्यवहारपोषकः । **यशस्तु** भक्तिप्रतिपादकः **पुष्टिधर्मः**। एते हि पञ्चांऽशा विद्याया भगवदिच्छा धर्मो ज्ञानं दया भक्तिरिति पूर्वोक्तानामुद्भवाय ।।२४।।

व्याख्यार्थ - सामान्य और विशेष भेद से भगवान् की दो प्रकार की स्थितियों का वर्णन किया जाना है। उस प्रसंग में सत्त्व आदि गुणों को अधिकृत किया गया है। वे गुण गीताजी में कहे गये प्रमाण से "रजोगुण व तमोगुण को हराकर सत्त्व गुण प्रतिष्ठित रहता है।।" इस प्रकार अन्य दो गुणों का उपमर्दन करके एक गुण प्रकट होता है। जब सत्त्व गुण का तिरस्कार करके रजोगुण व तमोगुण प्रकट होता है तब जगत् के पालन करने के अधिकार वाला सत्त्वगुण दुर्बल होने से भगवान् की प्रार्थना करता है। इस प्रकार भगवान् से अपनी निर्बलता का निवेदन करके रजोगुण व तमोगुण के कार्यों को दूर करने के करवाने के लिये भगवान् को यहीं पधराता है। तब भगवान् सत्त्वगुण द्वारा स्वरूप धारण करते हैं। यह सत्त्वगुण आनन्द रूप भगवान् का आसन रूप होने से भगवान् के शरीर में समवायि (साथ मिलकर कार्य करने वाला) कारण है। अथवा भगवान् के शरीर रूप पृथ्वी आदि से बने हुये जीवों के शरीरों को ही शुद्ध करके उनमें भगवान् को लाता है। अथवा यह सत्त्वगुण ही उसमें कारण रूप होकर अपने आप में भगवान् को लाता है। अथवा पृथ्वी आदि में रहते हुये सत्त्वगुण को जब रजोगुण तथा तमोगुण पीड़ा देने लगते हैं तब भगवान् के प्रकट होने में यह सत्वगुण कारण भूत होता है। तब सत्त्व गुण के अवयव (अंग-विभिन्न भाग) भी अलग अलग रूप धारण करते हैं। ऐसी व्यवस्था प्रत्येक युग में है। सत्त्वगुण की सहायता के लिये ही भगवान् पृथ्वी पर पधारते हैं। मूल में, जब अधर्म द्वारा राजा जीने लगते हैं, तब भगवान् पधारते हैं, ऐसा कहा गया है। भगवान् के पधारने में इस स्थिति को निमित्त बताया गया है। जब निमित्त उपस्थित हो जाय तो भगवान् को पधारना ही चाहिये, इस सुनिश्चितता को बताने के लिये ही यहां (निश्चय वाची) 'हि' शब्द का प्रयोग हुआ है।

घी का दीपक जलता हो उसकी छाया में काजल पड़ता है। वह हमेशा पड़ता रहता है और बढ़ता रहता है। इसी तरह धर्म के सामने की छाया अधर्म है। वह अधर्म हर तरीके से इकट्ठा होकर राजाओं में पिंड रूप से स्थित हो जाता है। उन की बुद्धि पर पर्दा डालने वाला अधर्म है। जिस प्रकार भ्रान्ति युक्त नेत्रों से घट इत्यादि पदार्थ ठीक-ठीक नहीं दिखाई देते उसी प्रकार पाप से जिन की दृष्टियां व्याप्त हो गई हैं उन्हें सत्य नाम की कोई भी वस्तु नहीं दिखाई देती। जिस प्रकार कोई अन्धा मनुष्य किसी भी पदार्थ का ग्रहण इसलिये करता है कि उसे जीवित रहना है,

न कि इसलिये कि उस पदार्थ का सत्य स्वरूप क्या है ? उसी प्रकार पृथ्वी का पालन करने में राजागण भगवान् के अंश रूप हैं। परन्तु जब वे अन्धों की तरह यथार्थ वस्तु को नहीं जान सकते और केवल जीवन जीना मात्र उनका लक्ष्य बन जाता है, भगवान् का अंश होने से प्रजा का पालन करना ही उनका कर्त्तव्य है, इस बात को वे भूल जाते हैं, तब भगवान् के पधारने में ऐसे राजागण ही कारण भूत बनते हैं।

मूल में राजा शब्द का वाचक 'नृप' शब्द दिया गया है, जिसका अर्थ यह होता है कि 'नृ' अर्थात् स्वतन्त्र पुरुषों का पालन करने वाला राजा। जिन राजाओं को पालन करना चाहिये वे भी अधर्म में निष्ठा वाले हो गये हैं। कारण यह है कि जीव मात्र भगवान् के आधीन हैं, वे स्वतन्त्र हो गये हैं अत: चो तरफ से अधर्म उठ खड़ा हुआ है। उसका निराकरण करने में सगुण ईश्वर की सामर्थ्य न होने से ये श्री कृष्ण प्रभु पधारे हैं। क्योंकि जो सगुण होते हैं वे तो गुण के आधीन होते हैं, इसलिये रजोगुण व तमोगुण की प्रबलता को हटाने की सामर्थ्य उनमें नहीं। श्री कृष्ण तो गुणातीत होने से उन पर गुणों का बल नहीं चल सकता। मूल में निश्चय वाचक 'किल' अव्यय दिया गया है। गीताजी में कहा गया है कि "जब जब धर्म की ग्लानि होती है और अधर्म की वृद्धि होती है तब-तब भगवान् अवतार धारण करते हैं," ये वाक्य प्रमाण रूप हैं, ऐसा सूचित हुआ। अथवा भगवान् रूपों को धारण करते हैं तब सत्त्वगुण द्वारा भग (ऐश्वर्य) और सत्य इत्यादि को धारण करते हैं। वे सत्त्व गुण से रूपों को धारण करते हैं। इन दोनों अर्थो में भग (ऐश्वर्य) इत्यादि को धारण करने वाली बात कही गई है। इसे व्यर्थ समझने वाली बात नहीं। कारण कि भगवान् रूपों को तो धारण करें और ऐश्वर्य इत्यादि को धारण न करें तो ईश्वर से सम्बन्ध रखने वाला भाव ही भग कहलाता है, तब उत्पन्न हुये भग को यदि अधर्म ग्रहण करले तो विपरीत फल हो।

यदि भगवान् भग को ही ग्रहण करें तो राजाओं का वध रूप कार्य न हो,कारण यह कि ईश्वर भाव का नाम भग है। उस भाव का मूल भूत राजा होता है। अत: अधर्म का निराकरण करने के लिये भग इत्यादि का ग्रहण करते हैं और राजाओं का निराकरण करने के लिये भगवान् इत्यादि को धारण करते हैं। भग तो भगवान् का एक ईश्वर सम्बन्धी भाव है। ईश्वर का यह धर्म प्रमेय बल का पोषण करने

वाला है। ऋत अर्थात् वह समस्त वाणियां जिनका अनुष्ठान वेदों में होता है। जो वास्तविकता वेद के पूर्व कांड में लिखि है, वह धर्म रूप है। वे प्रवृत्ति स्वभाव वालों को प्रमाण बल से पोषित करते हैं। 'सत्य', इस शब्द की विवेचना वेद के उत्तर कांड में हुई है, वह निवृत्ति रूप प्रमाण बल का पोषण करने वाला है। अतः यह ज्ञान रूप है। दया लौकिक धर्म है, वह व्यवहार का पोषण करने वाला है। "यश", यह भगवान् की भक्ति का प्रतिपादक है अतः पुष्टि धर्म है। ये पांचों विद्या के अंश हैं। उनमें भग भगवान् की इच्छा रूप है। इस तरह ऋत धर्म रूप, सत्य ज्ञान रूप, दया लोक धर्म व्यवहार रूप और यश भक्ति रूप है। समस्त लोकों के कल्याण के लिये भगवान् इन्हें धारण करते हैं ।।२४।।

आभास– एवं भगवदवतारप्रयोजनमुक्त्वा प्रासङ्गिकानाँ फलमाह **अहो इत्यादि** पञ्चभिः—

आभासार्थ—इस प्रकार भगवान् के अवतारों का प्रयोजन कहकर, 'अहो' इत्यादि पांच श्लोकों द्वारा अवतारों के प्रसंगों में आये हुये फलों का वर्णन करते हैं:—

श्लोक —**अहो अलं श्लाघ्यतमं यदोः कुलं अहो अलं पुण्यतमं मधोर्वनम्।**
यदेष पुंसामृषभः श्रियः पतिः स्वजन्मना चङ्क्रमणेन चाऽञ्चति।२५।

श्लोकार्थ—अहो, यादव कुल अत्यन्त प्रशंसनीय है, अहो मधुवन के पुण्य का कहना ही क्या ? कारण कि पुरुषों में श्रेष्ठ और लक्ष्मीजी के पति ये श्रीकृष्ण यदुकुल को अपने जन्म द्वारा और मधुवन को अपने भ्रमण द्वारा प्रशंसनीय और सर्वाधिक पुण्य युक्त बनाते हैं ।।२५।।

सुबोधिनी अवतीर्णो हि क्वचिद्वंशे भवति। क्वचिद्देशे कश्चित्तिष्टति। कैश्चित्सह व्यवहरति। तथापि न तेषु तात्पर्य्यम्। तेषां तु भगवत्सम्बन्धमात्रेणैव कतार्थता। तत्र प्रथमं जन्माधिकरणयोर्वंशदेशयोराह। **अहो** इत्याश्चर्य्ये। कुत्र यदुः पित्रा शप्तो लोकैर्निन्दितः। कुत्राऽयमुत्कर्षः। भगवत्यवतीर्णे तद्वंशीयं स्मृत्वा लोको नमस्यति। **अलं** पूर्णम्। एतस्मादुत्कर्षादन्योत्कर्षो न वक्तव्य आधिक्यशौर्यादिहेतुकः। **श्लाघ्यतममिति**। अन्येषां हि वंशानां धर्माद्यर्थं कदाचिन्निरूपणमायाति। भगवतस्तु सर्वेषामपेक्षितत्वात्तन्निरूपणार्थं यदुवंशः सर्वदा स्तुतो भवतीति। एवं मधोरपि वनम्। सतां निवासाभावान्न मथुरा निर्दिष्टा। मधोर्दैत्यस्य वनम्। पश्चात्पुत्रादिभ्यो विभागः। अतो वृन्दावनादिकमपि मधुवनमेव। तस्य देशस्य पुण्यतमत्वेऽपि दैत्याक्रान्तत्वादधमत्वम्। वनत्वाद्भू-

यानकत्वम् । दैत्यभयाक्रान्ते भगवत्स्मरणमपि दूरे कुतो भगवान् । **अलमिति** । न ह्येतस्मादन्य उत्कर्षः सम्भवति । देवर्ष्यधिष्ठाने हि देशस्य पुण्यतमत्व भवति । तत्र सर्वदेवर्षीणां भर्तरि भगवति किं वक्तव्यम् ? तत्र वंशस्य सर्वोत्कर्षे हेतुः—यत् यस्मात्कारणात्पुंसामृषभः स्वजन्मना अञ्चति पूजयति गच्छति वा । अन्ये हि स्त्रीणां भर्त्तारः । पुरुषोत्तमस्तु पुंसाम् । तथाच जगति सर्वे स्त्रीसहिताः पुरुषा एतस्य भवन्ति । अतस्तस्य पूजने सर्वैः पूजितं भवति । तद्गमने वा सर्वैर्गतं भवति । मधुवनस्योत्कर्षे हेतुः—यस्मादेष श्रियः पति चङ्क्रमणेनाऽञ्चति । चकाराज्जन्मना च । वनं हि सुन्दरसुवर्णाद्यभावान्न श्लाघिष्ठं भवति । भगवति तु समागते लक्ष्मीरपि समागतेति लौकिकीमलौकिकीं च शोभां प्राप्नोतीत्यर्थः । चङ्क्रमणं चाऽलसगतिः । श्रीपतित्वेन गोपिकाक्रीडाऽपि सूचिता ।।२५।।

व्याख्यार्थ—पृथ्वी पर अवतार लेने से किसी वंश का होना, किसी स्थल में रहना और किसी के साथ व्यवहार होना यह कुछ भी तात्पर्य नहीं रखता । वे तो भगवान् के सम्बन्ध मात्र से ही कृतार्थ हो गये । उसमें पहले जन्म और रहने के स्थान रूप देश को कृतार्थ करने का निरूपण किया जाता है । मूल में 'अहो' अव्यय आश्चर्य बताने वाला है । कहाँ वह यदु, जिन्हें पिता के द्वारा शाप दिया गया है तथा जो लोक में निन्दित हैं और कहाँ उसी वंश में प्रभु के प्राकट्य से उत्पन्न उत्कर्ष की स्थिति । कारण कि भगवान् उस कुल में प्रकट हुये और लोक उस वंश को याद करते हुये भगवान् को नमस्कार करते हैं, यह यदु का महत्त्व बढ़ा इसलिये पराक्रम आदि से होने वाली बढ़ाई के विषय में कहने को जरूरत नहीं । किसी समय धर्म आदि के अर्थ में अन्य वंश का निरूपण आता है । भगवान् की अपेक्षा तो सभी को होती है । इसलिये भगवान् का निरूपण करने के लिये यदु वंश की हमेशा स्तुति होती है ।

इसी प्रकार मधु दैत्य का वन भी अत्यन्त पुण्य वाला हुआ । मथुरा में सत्पुरुषों का निवास न होने से यहां उसका नाम नहीं लिया गया है । मधु दैत्य का वन मधुवन था । बाद में उसके पुत्रों द्वारा विभाग कर दिये गये । इसीलिये वृंदावन आदि मधुवन के अन्तर्गत आ जाते हैं । मधुवन तो अपने नाम मात्र से ही अतीव पुण्यवाला है परन्तु दैत्य से आक्रान्त होने के कारण उसे अधम कहा गया है । 'वन' शब्द से उसकी भयानकता प्रकट होती है । दैत्य के भय से आतंकित होने के कारण उस वन में भगवान् की प्राप्ति होना तो दूर रहा प्रत्युत भगवान् का स्मरण करना भी कठिन हो गया था । मूल में 'अलम्' अव्यय आया है, अतः किसी अन्य प्रकार से

उसके उत्कर्ष को कोई सम्भावना ही नहीं। जिस देश (यहां स्थान वाचक) में देवता या ऋषि गण निवास करते हों वही पुण्य वाला माना जाता है। यहाँ तो समस्त देवताओं तथा ऋषियों के स्वामी विराजते हैं, अतः इस स्थल की बढ़ाई का तो कहना ही क्या ?

यादव वंश की तो सब प्रकार से महत्ता है। क्यों कि पुरुषों के स्वामी श्रीकृष्ण अपने जन्म से वंश में पूजन करते हैं,गमन करते हैं। अन्य पुरुष तो स्त्रियों के स्वामी हैं और श्रीकृष्ण तो पुरुषों के भी स्वामी हैं। इस प्रकार जगत् में स्त्रियों सहित सब पुरुष श्रीकृष्ण के ही हुये। श्रीकृष्ण ने यदु वंश का पूजन किया अतः सभी ने उस वंश का पूजन किया। उसके गमन करने पर सभी गमन करते हैं। श्री कृष्ण मधुवन में पधारे तो सभी देवता व ऋषि गण भी उस वन में पधारे।

ये लक्ष्मी के पति श्रीकृष्ण मधुवन में फिरते हैं, मधुवन को सम्मान देते हैं, यही उसकी महानता का कारण है। मूल में 'च कार' होने से जन्म के कारण तो उस की महानता है ही। समान्यतया तो यदि वन में सुन्दरता न हुई, स्वर्ण आदि धातुओं की खानों का उसमें अभाव हुआ, तो वह प्रशंसनीय नहीं होता, परन्तु भगवान् पधारे इसलिए लक्ष्मीजी भी साथ में पधारे दोनों के साथ पधारने से वह मधुवन लौकिक तथा अलौकिक दोनों ही प्रकार की शोभाओं से युक्त हो गया। इतना ही नहीं, वरन् भगवान् इस वन में चंक्रमण करते हैं, मंद-मंद गति से टहल-कदमी करते हैं, जिससे वन की शोभा और भी अधिक बढ गई है। भगवान् को लक्ष्मी पति कहने से, इस वन में गोपियों के साथ की गई क्रीड़ाओं की सूचना भो मिलती ।।२५।।

आभास—इदं त्वत्याश्चर्य्यं यत् कुशस्थल्या उत्कर्षः तदाह—

आभासार्थ- यह तो बहुत ही आश्चर्य की बात है, कि कुश दैत्य के रहने की भूमि को भी बड़ा बताया गया है। उस प्रसंग में कहते हैं:—

श्लोक—**अहो बत स्वर्यशसस्तिरस्करी कुशस्थली पुण्ययशस्करी भुवः ।**
पश्यन्ति नित्यं यदनुग्रहेषितं स्मितावलोकं स्वपतिं स्म यत्प्रजाः ।।२६।।

श्लोकार्थ—अहो, कुश दैत्य के रहने की भूमि द्वारकापुरी स्वर्ग के यश का भी

तिरस्कार करने वाली है और पृथ्वी के पवित्र यश को विस्तृत करती है। जिन भगवान् की कृपा से जहाँ की प्रजा अपने पति श्रीकृष्ण के मन्दहास्य युक्त मुख कमल का नित्य दर्शन करती है। ॥२६॥

सुबोधिनी—अहो बतेति । अहो इति पूर्ववत् । अधिकोऽत्र विशेषो—**बतेति** । देशप्रान्तभूमिर्दोषाक्रान्ता सिकतामयी च । सा स्वर्यशसस्तिरस्करी जाता । तिरस्करणशो ा । स्वर्गे हि देवास्तिष्ठन्ति । द्वारकायां तु देवाधिदेवः । स्वर्गे त्वप्सरसः । अत्र तु लक्ष्मीः । तत्रत्याः पतन्ति । अत्रत्या मुच्यन्ते । सभापारिजातादयस्तु तत एवाऽऽनीताः । अपकृष्टादुत्कृष्टे हि समानीयन्ते । इत्याद्यनन्तोत्कर्षः। किञ्च। भुवोऽपि पुण्ययशस्करी यथा देहे चक्षुरेकदेशोऽपि सर्वस्यैहिकामुष्मिकं फलं प्रयच्छति तथा द्वारकया सम्बद्धा सर्वाऽपि भूः । धन्या पृथिवी यस्यां द्वारका वर्तत इति । तिष्ठतु दूरेऽयमुत्कर्षः । समाधिहृदयापेक्षयाऽपीयमुत्कृष्टा । तदाह—**पश्यन्तीति** । समाधौ कश्चिदेव कदाचिदात्मानं पश्यति । अत्रत्यः सर्वदा सर्वोऽपि । समाधौ स्थितिरति कठिना । वायुमनसोश्चञ्चलत्वात् । प्रयासाधिक्याच्च । द्वाराकायां तु भगवदनुग्रहेण स्थिति अनुग्रहश्च सुखात्मा स्थिरः तादृर्शनार्थमेव भगवांस्तत्र स्थित । स्मितावलोक इति भक्तिज्ञानप्रदत्वं सर्वेन्द्रियाह्लादकत्वं च । स्वपतित्वेन निश्शङ्कता दोषाभावश्च । प्रजापदेन च पाल्यता । पतिपदेन च तदेकगतित्वम् ॥ २६ ॥

व्याख्यार्थ—पहले के श्लोक की तरह ही आश्चर्य बताने वाला अहो अव्यय दिया गया है। इसके साथ ही विशेषता बताने के लिये 'बत' अव्यय भी दिया गया है। देश के आस-पास की भूमि दोष से व्याप्त और रेतीली है। ऐसी वह भूमि स्वर्ग के यश का भी तिरस्कार करने वाली हुई है। कारण यह कि, स्वर्ग में तो देवता ही रहते हैं और द्वारका में तो देवताओं के भी अधिदेव विराजते हैं। स्वर्ग में अप्सरायें हैं, तो द्वारका में लक्ष्मी जी विराजते हैं।

स्वर्ग में रहने वालों का पुण्य समाप्त हो जाने पर पात होता है (उन्हें धरती पर जन्म लेना पड़ता है) जब कि द्वारका में रहने वाले मुक्त हो जाते हैं। ये सारी स्वर्ग की तुलना में द्वारका का महत्त्व सिद्ध करने वाली हैं। सुधर्मा सभा और पारिजात वृक्ष स्वर्ग से द्वारका में लाये गये हैं। हीन स्थान से उत्तम पदार्थों को श्रेष्ठ स्थान पर लाने की परम्परा नित्य सिद्ध है। यही नहीं द्वारका पृथ्वी के यश को भी पवित्र करती है। इस प्रकार वह इस लोक तथा परलोक के फलों को देती है। इस प्रकार से सब स्थानों की पृथ्वी द्वारका से सम्बन्ध रखने वाली होने से धन्य है। समाधि युक्त योगियों के हृदय से भी यह द्वारका उत्तम है। समाधि में तो कोई कोई ही कभी न कभी प्रभु के दर्शन कर सकते हैं, पर ये द्वारका वासी तो हमेशा ही भगवान् के दर्शन करते हैं। वायु और मन बहुत ही चंचल होने से और उन्हें

उन्हें नियन्त्रण में रखने के बहुत परिश्रम करने से समाधि की स्थिति रहना बहुत कठिन कार्य है। द्वारका में तो भगवान् के अनुग्रह से मन आदि सभी स्वतः स्थिर रहते हैं। यह प्रभु का अनुग्रह सुख रूप है और स्थिर है। द्वारका में प्रत्येक मनुष्य को दर्शन देने के लिये ही प्रभु वहाँ विराजते हैं और हास्य से युक्त मुखारविंद का दर्शन प्रदान करते हैं, उससे वे भक्ति और ज्ञान को देते हैं। हरेक इन्द्रिय को प्रसन्न बनाने वाला प्रभु का दर्शन है। भगवान् द्वारका की प्रजा के पति हैं अतः दर्शन कराने में उनका निःशंकपना है, जिससे किसी भी प्रकार का दोष नहीं रहता। वह प्रजा भक्त होने से भगवान् द्वारा पालन करने योग्य है। भगवान् पति होने से प्रजा की गति हैं। पति ही एक मात्र गति रूप होता है, ऐसा सूचित हुआ ॥२६॥

आभास—एवमचेतनानामुत्कर्षमुक्त्वा चेतनानां मध्ये भगवत्पत्नीनामत्युत्कर्षमाह त्रिभिः—

आभासार्थ—इस प्रकार अचेतन पदार्थों की महत्ता बताकर अब तीन श्लोकों द्वारा चेतन पदार्थों के मध्य में भगवान् की स्त्रियों का अतिशय महत्त्व कहते हैं:—

श्लोक—**नूनं व्रतस्नानहुतादिनेश्वरः समर्चितो ह्यस्य गृहीतपाणिभिः ।**
पिबन्ति याः सख्यधरामृतं मुहुर्व्रजस्त्रियः सम्मुमुहुर्यदाशयाः ॥ २७ ॥

श्लोकार्थ—जिन ने व्रत, स्नान और होम इत्यादि के द्वारा भगवान् का पूजन किया है ऐसी वे व्रज की स्त्रियां और वे स्त्रियां जिन्होंने भगवान् का पाणिग्रहण किया है, मोह को प्राप्त हुई हैं। हे सखि ! जिन स्त्रियों ने भगवान् के अधरामृत का पान किया है वे अधरामृत से युक्त अन्तःकरण वाली भगवान् के मोह को प्राप्त हुई हैं ॥२७॥

सुबोधिनी—नूनमिति। स्त्रियो हि द्विविधा मर्यादया पुष्ट्या च तदीया जाताः। तासामुभयासां (१) यत्सर्वपुरुषार्थनाशकमसाधनं च तदेव सर्वपुरुषार्थसाधकं जातम्। एवं स्वरूपे भेदद्वयं साधने चैकमिति। अस्य गृहीतपाणिभिः नूनं हरिरर्चितः। गार्हस्थ्यफलं, धर्मसाध्यं, भगवत्फलं भक्तिसाध्यम्। तदुभयमेकीभूतम्। तत्र प्राधान्य गार्हस्थ्यस्य। गोपिकावाञ्छितार्थभोगात्। अतो धर्महेतून प्राधान्येन निर्दिशति। **व्रतं** तामसम्। **स्नानं** राजसम्। **होमः** सात्त्विकः। आदिशब्देन त्रयाणां भेदाः। एभिः कृत्वा पूर्वजन्मनि अयमेव भगवानीश्वरः सम्यगर्चितः। **होति** युक्तोऽयमर्थः। फलेन कारणानुमानं युक्तम्। कारणेन कार्यानुमानं व्यभिचरत्यपि। यद्यप्येतैर्भगवान् प्रीणाति तथापि महापुरुषपूजायाः सिद्धिः काऽप्यानुषङ्गिकी पूजैवोक्ता। अथवा। व्रतादौ पूजा विहिता।

तत्र व्रतमङ्गत्वेन कृत्वा पूजामेव मुख्यत्वेन कृतवत्य । तत्र पूजाव्रतयोर्धर्मभक्तित्वाद्भगवतः पतित्वेन सम्बन्धः । ननु कथमेवमवगम्यते अयमेवेश्वरः पूजति इति । तत्राऽऽह । याः हे सख्यः (?) अधरामृतं पिबन्ति । अमृतपानं हि ईश्वराराधनपूर्वकधर्मकार्यम् । अधरामृतं तु ततोऽपि । तदग्रे वर्णयिष्यामः । हे **सखीति** स्पृहया तुल्यदुःखत्वमस्माकमपीति बोधितम् । अधरामृतमग्रे वर्णयिष्यामः । ननु धर्मभक्तिफलमेवैतदस्तु । किमेतदाराधनेनेत्याशङ्क्य प्रकारान्तरे व्यभिचारमाह— **व्रजस्त्रिय इति** । गोप्योऽपि कात्यायनीव्रते भक्त्या गानपूर्वकं व्रतस्नानपूजादिकं कृतवत्यः । परमर्चनं कात्यायन्याः कृतम् । तेन तासामिच्छा न पूर्णा । यतः यस्मिन्नधरामृते आशयो यासां ताः केवलं मोहमेव प्राप्तवत्यः ।।२७ ।

व्याख्यार्थ—भगवान् को स्त्रियां मर्यादा व पुष्टि भेद से दो प्रकार की हुई । उन दोनों प्रकार की स्त्रियों को ही पुरुषार्थ की नाशक निःसाधनता प्राप्त हुई । वे साधन ही सब प्रकार के पुरुषार्थ को सिद्ध करने वाले होते हैं । इस रोति से स्त्रियों के स्वरूप में मर्यादा और पुष्टि ये दो भेद हैं । पाणिग्रहण रूप साधन एक है । अतः जिन्होंने श्री कृष्ण का पाणिग्रहण किया है उन्होंने निश्चय ही श्री हरि की पूजन की है । गृहस्थाश्रम सम्बन्धी फल धर्म से सिद्ध होता है और भगवान् से सम्बन्ध वाला फल भक्ति से सिद्ध होता है, ये दोनों फल यहीं एकत्रित हो गये हैं । उसमें जो गोपीजनों द्वारा इच्छित सेवा-भगवान् के अधरामृत का भोग ये सब भगवान् की स्त्रियों को हमेशा प्राप्त होता है । जिससे गृहस्थाश्रम के धर्म सम्बन्धी फल की मुख्यता है, ऐसा मानकर मुख्य रूप से धर्म के कारणों को कहकर बताया गया है कि उन्होंने व्रत स्नान और होम इत्यादि से ईश्वर का पूजन किया है । उसमें व्रत तामस है, स्नान राजस है और होम सात्त्विक है । 'आदि' शब्दों से उन उन धर्मों का भेद लिया जाता है । इन धर्मों के द्वारा ये श्री कृष्ण ही पूर्व जन्म में सब प्रकार से पूजे गये हैं । मूल में 'हि' अव्यय होने से उस अर्थ की योग्यता बताई गई है । कारण को देखकर कार्य का अनुमान करने में कुछ अन्तर पड़ जाता है, पर कार्य को देखकर कारण का अनुमान करने में कुछ भी अन्तर नहीं पड़ता । अतः ये भगवान् का पाणिग्रहण करने वाली स्त्रियां सदैव उन प्रभु के अधरामृत का पान करती हैं । इसे देखकर उनके द्वारा पूर्व जन्म में श्री कृष्ण का व्रत, स्नान व होम से पूजन किया गया है, यह अनुमान होता है, जो कि योग्य है । व्रत, स्नान और होम से भगवान् प्रसन्न होते हैं । छठे स्कन्ध में इन्द्र दिति से कहते हैं, कि "महापुरुष (भगवान्) की पूजा की सिद्धि किसी अवांतर फल के नियम से सहज ही में प्राप्त होती है," इसलिये यहां भी व्रतादिक से भगवान् का पूजन करना कहा गया है

अथवा व्रत आदि के अन्तर्गत पूजा कहा गया है। व्रत अंग रूप होने से मुख्य तो पूजा ही बताई गई है। पूजा व व्रत के धर्म तथा भक्ति से युक्त होने के कारण भगवान् का पति रूप से सम्बन्ध हुआ।

इन्होंने श्री कृष्ण की ही पूजा की है, ऐसा निश्चय कैसे हो ? ऐसी शंका करके कहते हैं कि हे सखियों ! "जिन स्त्रियों ने भगवान् का अधरामृत पान किया है" आदि वाक्य से इसकी पुष्टि होती है। अमृत का पान करना यह तो ईश्वर का आराधन पूर्वक धर्म का कार्य है। अधरामृत तो अमृत से भी विशेष है। इसका वर्णन आगे होगा। 'हे सखि !' ऐसा कहने से अपने को भी उस अधरामृत की इच्छा होने से समान दुःख होता है, ऐसा जनाया है। अधरामृत का वर्णन आगे दशम स्कन्ध में करेंगे। भगवान् की स्त्रियां उस अधरामृत का पान करती हैं, यह तो धर्म और भक्ति का ही फल है। तो फिर भगवान् की आराधना में क्या विशेषता हैं ?

इस शंका के समाधान में कहते हैं कि, अन्य प्रकार से करने में वह फल नहीं मिलता। ऐसा बताया है कि कुमारिकाओं ने कात्यायनी देवी के व्रत में भक्ति से गान पूर्वक व्रत, स्नान व पूजा आदिक की है। परन्तु भगवान् का पूजन न करके देवी का पूजन किया, जिससे भगवान् के साथ उनका रमण हुआ। पति की तरह भगवान् सदा हमारे पास ही विराजें, उनका यह मनोरथ पूर्ण नहीं हुआ। अतः अधरामृत में ही जिनका अन्तःकरण संलग्न है ऐसी वे व्रजांगनाएँ केवल मोह को ही प्राप्त हुई हैं ॥२७॥

आभास—अस्त्वासां भाग्यम्। इतोऽपि रुक्मिण्यादीनां महद्भाग्यम्। या हि कालवशात्प्रवाहे पतिता अन्यत्र नीयमाना अपि बलाद्भगवान् स्वयमुद्यम्य आत्मासात्कृत्वा अमृतं पाययति। स्वसदृशान् पुत्रांश्च प्रयच्छति। तासामीश्वरपूजनं महादित्याहुः—

आभासार्थ—इनके भाग्य की तुलना में रुक्मिणी आदि का भाग्य महत्वपूर्ण है। जो कालवश से प्रवाह में पड़ी हुई थी जिन्हें अन्य ले जा रहे थे, वहां से भगवान् ने उद्यम करके बलपूर्वक अपना बना लिया। इतना ही नहीं, वरन् अपने अधरामृत का उन्हें पान कराते हैं, अपने समान पुत्रों को देते हैं ; इसलिये रुक्मिणी जी का ईश्वर पूजन विशेष महत्वशाली है, अब इसे कहते हैं:—

श्लोक—**या वीर्यशुल्केन हृताः स्वयंवरे प्रमथ्य चैद्यप्रमुखान्हि शुष्मिणः ।**
प्रद्युम्नसाम्बाऽम्बसुतादयोऽपरा याश्चाऽऽहृता भौमवधे सहस्त्रशः ॥२८॥

एताः परं स्त्रीत्वमपास्तपेशलं निरस्तशौचं बत साधु कुर्वते ।
यासां गृहात्पुष्करलोचनः पतिर्न जात्वपैत्याहृतिभिर्हृदि स्पृशन् ॥२९॥

श्लोकार्थ—जिन श्री रुक्मिणी जी को श्री कृष्ण ने पराक्रम रूपी शुल्क से स्वयंवर में हरण किया तथा शिशुपाल आदि कामुक राजाओं को हरा दिया । प्रद्युम्न, साम्ब, अम्ब जैसे पराक्रमी पुत्र जिन रुक्मिणी आदि से उत्पन्न हुये । जिन श्री कृष्ण ने भौमासुर का वध करके अन्य हजारों स्त्रियों को अंगीकार किया ॥२८॥ वे स्त्रियां, जिनमें न उत्कृष्ट कोटिका सौन्दर्य है और न ही जिनमें पवित्रता रह गई है, आश्चर्य यह है कि भगवान् ने उनके हृदयों को स्पर्श करते हुये उन्हें उत्तम बना दिया है । कमल के समान नेत्रों वाले भगवान् उनके घरों से कभी भी बाहर नहीं पधारते ॥२९॥

सुबोधिनी—या वीर्यशुल्केनेति । वीर्यमेव शुल्कं कार्यनिर्वाहकं द्रव्यम् । तेन हृताः । तेन राक्षसो विवाह उक्तः । **स्वयंवर इति** गान्धर्वः । **'गान्धर्वो राक्षसश्चैव धर्म्यौ क्षत्रस्य तौ स्मृतावि"** ति मुख्यविवाहेन परिगृहीताः । नन्वन्यस्मै दीयमानाः कथं हृताः ? तत्राऽऽह—**प्रमथ्येति । चैद्यः** शिशुपालः । तत्प्रमुखान् जरासन्धादीन् । **शुष्मिणः** कामुकान् । अयमर्थः । क्षत्रियाणां युद्धजयेनाऽपि सत्त्वमुत्पद्यते । तेन धर्मादिकमपि सिध्यति । स्त्रियो हि धर्मभक्तियोग्याः स्वयं च शिशुपालादयो दुरात्मानः कामुका ब्राह्मणवत्प्रतिग्रहेण प्राप्तुमिच्छन्ति । अतो युक्तं भगवता हृता इति । प्रद्युम्नः, साम्ब , अम्बश्च, सुता यासां रुक्मिणीजाम्बवतीमित्रविन्दानाम् । **महांस** एव अम्बः । महानंसो यस्येति यौगिक एव शब्दस्तत्र गृहीतः । याश्च षोडशसहस्त्रं भौमवधे जाते आहृतास्तासां गणना ऋषिभिरेव ज्ञायते नाऽन्यैरिति सहस्त्रश उक्तम् । तासां भगवदाराधने साधनं स्त्रीत्वमेव । तदपि न भगवतो भोगयोग्यम् । भगवत्सौन्दर्यापेक्षया तासामपेशलत्वात् । शापेन, बन्द्या अन्यपरिग्रहेण च **निरस्तशौचं** शुद्धिरहितम् **बतेति** खेदे अस्मदादीनामेतदभावेऽपि न भगवत्प्राप्तिः । अतो यथा भगवतः सामर्थ्यमतिनिकृष्टमप्यत्युत्कृष्टं करोति स्वेच्छया तथैता अप्यत्यन्तनिकृष्टं स्त्रीत्वं परं साधु कुर्वते । साधुत्वं सत्सु सनकादिषु वर्तते । तदपेक्षयाऽपि परमुत्कृष्टं कुर्वते । तत्र हेतुः—**यासां गृहादिति** । सन्तो हि भगवद्गृहे समागत्य कदाचिदेव पश्यन्ति । आसां तु विपरीतम् । भगवानासां गृहात्कदाचिदपि नाऽपगच्छति । प्रत्युत पारिजाताद्याहरणैर्मानापनोदनमपि करोति । अनु तर्हि दोषमेव सम्पादयति न गुणम् । ततः किं तासां भाग्यमित्याशङ्क्याह— **हृदि स्पृशन्निति** । तासां हृदि भगवान् स्थित्वा ताः स्पृशन् । तासां हृदि भगवानस्तीति न तासां दोषः ॥२८॥२९॥

व्याख्यार्थ—जिस कार्य के लिये जितना द्रव्य आवश्यक है उसे 'शुल्क' कहते हैं। पराक्रम रूपी मूल्य से भगवान् रुक्मिणी आदि को लाये हैं । इसलिये यह राक्षस विवाह किया । स्वयंवर में विवाह हो वह गान्धर्व विवाह कहलाता है "गान्धर्व और राक्षस ये दोनों प्रकार के विवाह क्षत्रियों के लिये धर्म प्राप्त हैं," ऐसा वाक्य होने से क्षत्रियों को जिस प्रमाण से विवाह करना योग्य है, उसी प्रमाण से मुख्य विवाह से उनको ग्रहण किया ।

अन्यों को दी जाने वाली कन्याओं का हरण भगवान् ने क्यों किया ? ऐसी शंका का समाधान करते हैं, कि शिशुपाल जरासन्ध इत्यादि राजा कामुक थे । उनमें शिशुपाल मुख्य था । जरासन्ध आदि उसके प्रमुख सहयोगी थे । उनका मर्दन करके भगवान् रुक्मिणी जी को लाये हैं । क्षत्रियों को युद्ध में जीतने से अपनी सत्ता स्थापित होती है उससे धर्म इत्यादि की भी सिद्धि होती है । स्त्रियां धर्म व भक्ति के योग्य थीं, शिशुपाल आदि दुष्ट थे । वे ब्राह्मणों की तरह प्रतिगृह द्वारा स्त्रियों को प्राप्त करने की इच्छा करते थे । इसलिये भगवान् उनका हरण कर लाये, ऐसा उचित किया । प्रद्युम्न जी जिनके पुत्र हैं ऐसे रुक्मिणी जी, जाम्बवती के पुत्र साम्ब, जिनके पुत्र अम्ब हैं ऐसे मित्रविंदाजी, इन तीनों को ही भगवान् पराक्रम से लाये हैं। मित्रविंदा के पुत्र अम्ब को ही महांस भी कहा गया है । उनके कन्धे पुष्ट होने के कारण उन्हें महांस कहा गया है । इसी प्रकार भौमासुर को मार कर सोलह हजार स्त्रियों को लाये हैं । उनकी गणना ऋषियों से ही हो सकती है । अन्यों से गणना नहीं की जा सकती । अतः मूल में 'सहस्रशः' यह शब्द दिया गया है । उनके द्वारा भगवान् के आराधन करने का साधन स्त्रीपना ही है । वे भगवान् के द्वारा भोग करने योग्य नहीं है । कारण यह है कि उनकी सुन्दरता भगवान् के सामने कहीं नहीं ठहरती । उन्हें शाप लगा हुआ होने के कारण कैदी के रूप में रहना पड़ा । अन्यों के द्वारा ग्रहण किए जाने के कारण उनका स्त्रीपना भी अशुद्ध हो चुका था । अत एव उनका स्त्रीपना भगवान् के लिये ही था । मूल में 'बत' अव्यय होने से यह बताया गया है कि वैसा दोष अपने में न होने पर भी भगवत् प्राप्ति नहीं हुई । भगवान् की सामर्थ्य अत्यन्त साधारण को भी अपनी इच्छा से उत्तमोत्तम बना देती है । ये स्त्रियां निकृष्ट होते हुए भी साधुपने को प्राप्त हुईं । सनकादिक ऋषियों में साधुपना है परन्तु उनकी तुलना में भी इन स्त्रियों में विशेष साधुपना है । कारण यह है कि

उनके घर में से प्रभु बाहर पधारते ही नहीं । सत्पुरुष तो भगवान् के घर पर आकर कभी कभी ही दर्शन पाते हैं, परन्तु यहां तो बिल्कुल विपरीत हैं कि भगवान् कभी भी घर से बाहर पधारते ही नहीं । ये सत्पुरुषों से विशेष है इतना ही नहीं प्रत्युत् पारिजात आदि वृक्ष लाकर उनका मान भी दूर करते हैं ।

तब तो भगवान् दोषों का ही सम्पादन करते हैं, गुणों का नहीं । तब उन स्त्रियों का भाग्य ही क्या हुआ ? इस शंका का समाधान करते हुए कहते हैं, कि भगवान् उनके हृदय में विराजकर उनका स्पर्श करते हैं । चूंकि उनके हृदय में भगवान् स्थित रहकर उनका स्पर्श करते हैं अतः वे निर्दोष बन चुकी हैं ।।२८।।२९।।

आभास—एवं भगवद्रूपं प्रासंगिकं च फलं भगवान् श्रुत्वा सम्मत्या सत्यवादित्वं स्थिरीकृत्य मन्दहासेन च ता वशीकृत्य भक्तिं च दत्वा तासां वचनं सत्यं कुर्वन्द्वारका-मगमदित्याह—

आभासार्थ—इस प्रकार भगवान् का रूप और उस प्रसंग में आये हुए फल का प्रत्येक स्त्री ने निरूपण किया । उसे सुनकर सम्मति पूर्वक सत्यवादीपना स्थिर करके, मन्द मुस्कान से स्त्रियों को वश में करके, उन्हें भक्ति प्रदान करके उनके वचनों को सत्य करते हुए भगवान् द्वारका में पधारे, ऐसा निरूपण किया जाता है:—

श्लोक—**एवंविधा गदन्तीनां स गिरः पुरयोषिताम् ।**
निरीक्षणेनाऽभिनन्दन् सस्मितेन ययौ हरिः ।।३०।।

श्लोकार्थ—नगर की स्त्रियों के द्वारा इस प्रकार कही हुई वाणी को सुनते हुए भगवान् मन्द हास्य युक्त निरीक्षण से उनका अभिनन्दन करते हुए वहां से पधारे ।।३०।।

सुबोधिनी—एवंविधा इति । अयमेकः प्रकारः । एवमन्येऽपि प्रकाराः सन्ति । स्त्रीसमूहानां बहुत्वात् । सर्वा एव गिरो भगवता श्रुताः । उच्चैः कथने हेतुः— **पुरयोषितामिति** । अभिनन्दनं सत्यमुक्तमिति ।।३०।।

व्याख्यार्थ—यह एक प्रकार कहा गया है । इस प्रकार स्त्रियों ने अनेकों प्रकार से भगवान् के गुणों का वर्णन किया है । कारण यह है कि स्त्रियों के अनेक समूह

हैं । उन प्रत्येक की वाणी भगवान् ने सुनी है । भगवान् श्रवण कर सकें, इसलिए ऊंचे स्वरों में गुणानुवाद करती हैं, क्योंकि वे नगर की स्त्रियां हैं । उन प्रत्येक की बात सुनकर, "तुम सत्य कह रही हो," इस अनुमोदन के साथ भगवान् ने सबका अभिनन्दन किया है ।।३०।।

आभास—राज्ञो हि ज्ञानाद्भक्तिरधिकेति ज्ञापयितुमाह–

आभासार्थ—राजा युधिष्ठिर की दृष्टि में ज्ञान से अधिक भक्ति का महत्व है, यह बताने के लिए कहा जाता है:—

श्लोक—**अजातशत्रुः पृतनां गोपीथाय मधुद्विषः ।**
परेभ्यः शङ्कितः स्नेहात्प्रायुङ्क्त चतुरङ्गिणीम् ।।३१।।

श्लोकार्थ—शत्रुओं की शंका से राजा युधिष्ठिर ने स्नेह पूर्वक श्री कृष्ण भगवान् की रक्षा के लिए चतुरंगिणी सेना साथ में भेजी ।।३१।।

सुबोधिनी—अजातशत्रुरिति । नामविपरीतं कार्यं भगवदिच्छया । ज्ञानवत्स्वभावोऽपि तथा । **गोपीथाय** रक्षणार्थम् । **मधुद्विष** इति शङ्काभावाय । **परेभ्यः** हतबन्धुभ्यः । **चतुरङ्गिणीं** हस्त्यश्वरथपदातिरूपाम् ।।३१।।

व्याख्यार्थ—राजा युधिष्ठिर का नाम अजातशत्रु है अर्थात् जिसका कोई शत्रु न हो । परन्तु शत्रु की शंका करना नाम के विपरीत काम हुआ । यह काम भगवान् की इच्छा से हुआ । युधिष्ठिर ज्ञान युक्त स्वभाव वाले हैं, तो भी यह शंका रूपी कार्य उनसे हुआ है । भगवान् मधु दैत्य को मारने वाले हैं, अतः यों भी शंका नहीं की जानी चाहिये थी । इस युद्ध में जिनके बान्धव मर गये थे वे भी शत्रु रूप ही हुये । वे कुछ विघ्न उपस्थित न कर दें, इस शंका से युधिष्ठिर ने हाथी, घोड़ा, रथ एवं पैदल यह चतुरंगिणी सेना भगवान् की रक्षा के लिये साथ कर दी ।।३१।।

आभास—एतावत्कालं कौरवयादवा मिलिताः स्थिताः । अथोभये पश्चिद्भिन्नतया गता इत्याह–

आभासार्थ—इतने समय तक कौरव और यादव मिलकर रहे हैं। बाद में दोनों ही अपने अलग अलग मार्गों पर चल दिये, यह निरूपण किया जा रहा है:–

श्लोक—**अथ दूरागतान् शौरिः कौरवान् विरहातुरान् ।
सन्निवर्त्य दृढं स्निग्धान् प्रायात्स्वनगरीं प्रियैः ।।३२।।**

श्लोकार्थ—इसके बाद दूर तक आये हुये, विरह से भारी मन वाले एवं दृढ़ स्नेह से भरे हुए कौरवों के लौट जाने पर, भगवान् अपने प्रिय वर्ग के साथ अपनी नगरी द्वारका की ओर रवाना हुये ।।३२।।

सुबोधिनी—अथेति । उभयत्राऽपि भगवानेव हेतुः । दूरपर्यन्तमागतान् । **शौरिरिति** लोक-व्यवहारदार्ढ्यं सूचितम् । शूरः पाण्डवानां मातामहो भगवतः पितामहः । अत उभये एक एव । न दूरागमनेन आतुराः किन्तु विरहेण । तथापि न ह्यातुरैः सह गमनमुचितम् । अत आतुरान्निवर्त्य प्रियैः सहाऽगमत् । कौरवाः स्वमनस्येव वयं सह न गमिष्याम इति विरहातुराः । अतो भगवता निवर्तिताः । नन्वत्यन्तमातुरा गृहेऽपि न गच्छेयुरिति नाऽऽशङ्कनीयम् । यतस्ते दृढं स्निग्धाः । न हि दृढं स्निग्धः शीघ्रं नश्यति ।।३२।।

व्याख्यार्थ—कौरवों और यादवों के साथ रहने में तथा अलग रहने में भगवान् ही कारण रूप हैं । पाण्डव भगवान् को विदा करने के लिये बहुत दूर तक आये हैं, तब भगवान् ने उन्हें वापस लौटाया है । भगवान् शौरि हैं, ऐसा कहने से लौकिक व्यवहार की दृढ़ता बताई है । शूर नाम के यादव पाण्डवों के मातामह (नाना) थे, और भगवान् के पितामह थे, अतः दोनों एक ही हैं । दूर तक चले आने से पाण्डव विह्वल हो गये हैं, तो भी आतुरता के कारण जाना तो योग्य नहीं है; इसलिये, आतुर पाण्डवों को वापस लौटाकर भगवान् प्रियजनों के साथ पधारे हैं । अपन तो भगवान् के साथ नहीं चल सकेंगे, ऐसा विचार करके भगवान् के विरह से आतुर थे, इसलिए भगवान् ने उन्हें वापस भेजा । जब वे इतने आतुर ही थे, तो उन्हें घर की ओर लौटना ही नहीं चाहिये था, मन में ऐसी शंका लाने का कोई कारण ही नहीं । क्योंकि पाण्डव भगवान् में दृढ़ स्नेह वाले थे । ऐसा मजबूत प्रेम शीघ्र ही नहीं मिटता ।।३२।।

आभास—मार्गस्थदेशान् श्लोकद्वयेन निर्दिशति—

आभासार्थ—भगवान् जिन जिन देशों में होकर द्वारका की ओर बढ़ रहे हैं, उनका वर्णन दो श्लोकों में दिया जा रहा है:-

श्लोक—**कुरुजाङ्गलपाञ्चालाञ्छूरसेनान् सयामुनान् ।
ब्रह्मावर्त्तं कुरुक्षेत्रं मत्स्यान् सारस्वतानथ ।।३३।।**

श्लोक—**मरुधन्वमतिक्रम्य सौवीराभीरयोः परान् ।**
आनर्त्तान् भार्गवोपागाच्छ्रान्तवाहो मनाग्विभुः ।।३४।।

श्लोकार्थ—कुरु जाङ्गल देश, पाञ्चाल देश, यमुना देश के साथ शूरसेन देश, ब्रह्मावर्त देश, कुरुक्षेत्र देश, मत्स्यदेश और मरुदेश, उसी प्रकार धन्व देश को पार करते हुये सौवीर और आभीर देश के अन्तर्गत स्थित आनर्त्त देश में भगवान् पधारे। यहाँ तक पहुंचते पहुंचते रथ के घोड़े भी थोड़े बहुत थक चुके थे ।।३३।।३४।।

सुबोधिनी– कुरुजाङ्गेति । **कुरुजाङ्गल**देशो हस्तिनापुरदेशः पाञ्चालादिदेशैकदेश । तदा नैवं विभागेन मार्गे स्थित इति तानुद्दिशति । **पाञ्चाल**देशः कम्पिलादेशः । **शूरसेनान्** वटेश्वरदेशान् । अन्यांश्च यमुनातीरदेशान् परपारस्थान् । ततः कुरुक्षेत्रदेशः । सरस्वतीदृषद्वतीमध्यदेशो **ब्रह्मावर्त्तम । मत्स्य**देशो विराटदेशः । ततः सरस्वतीतीरदेशोऽम्बिकावरादिः । **मरु**रल्पोदकदेशः । **धन्वो**ऽनुदकदेशः । भूमिसिकताभेदनिरूपणाय अथशब्दः । **सौवीर**देशः सुराष्ट्रदेशः । **आभीर**देशः कुन्तीपुरदेशः । ततोऽपि परा**नानर्त्तान्** द्वारकादेशान् । मध्ये देशनामभिरुद्विग्न सम्बोधयति—**हे भार्गवेति** । युक्तमेव भृगुवंशस्य तथात्वम् । किन्तु भगवानेव तान् देशानुपागात् । एकेनैव दिवसेन तावद्दूरगमनेऽपि मनागेव श्रान्तवाहो जातो न तु सर्वथा । किमित्येकेनैव दिवसेन गत इत्यत्र हेतुः-**विभुरिति** ।। ३३ ।। ३४ ।।

व्याख्यार्थ—कुरुजाङ्गल देश हस्तिनापुर का प्रदेश कहलाता है । पाञ्चाल देश का भाग जैसा आज है वैसा नहीं था । इसलिये मार्ग में आये हुये देशों के नाम बताये गये हैं । पाञ्चालदेश को कंपिला देश भी कहते हैं । शूरसेन देश को वटेश्वर देश कहते हैं । श्री यमुनाजी के सामने वाले दूसरे किनारे पर स्थित देश के बाद कुरुक्षेत्र आता है । सरस्वती और दृषद्वती के बीच वाले भाग को ब्रह्मावर्त देश कहते हैं । मत्स्यदेश, यह विराट् राजा का देश है । इस के बाद सरस्वती के किनारे के प्रदेश को अम्बिका वन कहते हैं । मरु प्रदेश में जल की कमी है । धन्व देश में जल का अभाव है । इन सभी देशों को भगवान् पार कर गये । रेत वाली जमीन का अन्तर बताने के लिये मूल में 'अथ' शब्द दिया गया है । सौवीर देश, यह सौरठ देश है । आभीर देश, यह कुंतीपुर प्रदेश है । इससे थोड़ी ही दूर पर द्वारका के समीप आनर्त देश आता है, यहां पर भगवान् पधार आये हैं ,

यहाँ सूतजी महाराज पुराने देशों के नाम गिनने लगे तो शौनक ऋषि उद्वेग युक्त होने लगे । यह जानकर उन्होंने, "आप भृगुवंश में उत्पन्न हुये हो," ऐसा सम्बोधन दिया है । भृगुवंश वालों को यह योग्य ही है । इतना ही नहीं वरन् भगवान्

भी उस देश के समीप में पधारे हैं। एक ही दिन में इतनी दूर पधार आने पर भी घोड़े थोड़े से ही थके हैं न कि पूरी तरह से। एक ही दिन में वे इतनी दूरी कैसे तय कर सके ? उसके उत्तर में कहते हैं कि भगवान् "विभु" हैं, अतः अपने व्यापकत्व के कारण सर्व समर्थ हैं ।।३३।।३४।।

आभास—मध्ये तत्र तत्र भगवत्पूजामाह—

आभासार्थ—भगवान् जिन-जिन देशों में होकर पधारे वहाँ-वहाँ ही उनका पूजन हुआ, यह निरूपण करते हैं—

श्लोक—**तत्र तत्र ह तत्रत्यैर्हरिः प्रत्युद्यतार्हणः ।**
सायं भेजे दिशं पश्चाद्गविष्ठो गां गतस्तदा ।।३५।।

श्लोकार्थ—जिस-जिस देश में होकर भगवान् पधारे वहाँ-वहाँ के निवासियों ने भगवान् का पूजन किया। सायंकाल होने पर भगवान् सूर्य पश्चिम के सागर में अस्त हुये और भगवान् कृष्ण ने सागर के पश्चिमी तट पर पड़ाव डाला ।।३५।।

सुबोधिनी—तत्र तत्रेति । हेति निश्चये । कोऽपि देशो भगवत्पूजारहितो न जात इत्यर्थः । प्रत्युद्यतमर्हणं यस्य । पूर्वमेव भगवानायास्यतीति मार्गे व पूजासाधनानि स्थापितवन्त इत्यर्थः । एवं पूजितो भगवान् सायङ्काले पश्चाद्दिशं पश्चिमसमुद्रतीरं भेजे । तत्र विश्रामं कृतवान् । गौधूलिकायां नगरप्रवेशः कर्त्तव्य इति । भगवान् यदा सन्ध्याप्रतीक्षया स्थितस्तदा सूर्येण न विलम्बः कृत इत्याह-**गविष्ठो गां गतस्तदेति** । गवि किरणेऽवस्थिते बिम्बमात्रं दृश्यत इत्यर्थः । तादृश. सूर्यो गां गतः जले प्रविष्टः । "**अद्भ्यः प्रातरुदेत्यपः सायं प्रविशती**"ति श्रुतेः । सुमुहूर्त्तं जातमित्यर्थः ।।३५।।

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीवल्लभदीक्षित-
विरचितायां प्रथमस्कन्धे दशमोऽध्यायः ।। १० ।।

व्याख्यार्थ—मूल में आया हुआ 'ह' अव्यय निश्चय की स्थिति को बताता है। कोई भी देश ऐसा नहीं बचा था, जिसने भगवान् का पूजन न किया हो। पहले से ही पूजन की सामग्री तैयार रखी गई थी तथा उस-उस देश के मनुष्य पूजन के लिये बिल्कुल तैयार खड़े थे, कि भगवान् ज्योंही पधारें, त्योंही उसी समय उनका पूजन किया जाय। इस प्रकार से भगवान् का परम सम्मान किया गया है।

भगवान् संध्या समय में पश्चिमी समुद्र के किनारे पर पधारे। गोधूलि लग्न में नगर में प्रवेश करने के विचार से भगवान् ने समुद्र के किनारे पर विश्राम किया। जब भगवान् संध्याकाल की प्रतीक्षा करते हुये विराजे तब सूर्यदेव ने भी विलम्ब नहीं किया। यह बताने के लिये कहा गया है कि किरणों में केवल सूर्य का बिम्ब मात्र दिखाई दे रहा है, ऐसा सूर्य जल में प्रवेश कर रहा है। इसीलिये वेदों में कहा गया है कि "प्रातःकाल जल में से सूर्य का उदय होता है और सायंकाल में वह जल में प्रवेश कर जाता है" इस प्रकार गोधूलि लग्न एक शुभ मुहूर्त्त सिद्ध हुआ ।।३५।।

इति श्रीमद्भागवत महापुराण, प्रथमस्कन्ध के १०वें अध्याय की
श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण कृत श्री सुबोधिनी (संस्कृत टीका)
के 'उत्तमाधिकार प्रकरण' का चतुर्थ अध्याय
हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण ।।१०।।

राग नट

ते नर कहियतु आतम-घाती।
जिन्हें अनरुचि राधापति सों रोचत सुत धन नाती ।।
जिन्हें अनप्रीति रसिक माधव सों रहत कुटिल मन काती।
दुल्लभ वृथा जात विमुखनि सँग मानुषतन सब घाती ।।
जे हरि कथा सुनत उपहासत कुकथनि हुलसति छाती।
आनँद रस-निधि नीर छोडि कटु फाँकत भव दुख पाती ।।
को जानें किहि भाग्य गुरुहि भजि उपरामता उरझाती।
'कृष्णदास' हित इहै जु जाँचत मिलियौ सदा सुजाती ।।

राग बिलावल

तेरे चरन को हौं सरन।
राखि राखि दयालु मूरति रसिक गिरिवरघरन ।।
काम क्रोध जु दाव दाह्यौ कुबुधि लाग्यौ मरन।
कृपाद्रष्टि जिवाइ नव घनस्याम अंबुज चरन ।।

निरखि नखमनि-ज्योति वैभव मुदित अन्तःकरन ।
'कृष्णदासनि' तेरौई बल बिरह्-जलनिधि तरन ।।

राग बिलावल

धर्मपुत्र कौं दै हरि राज । निजपुर चलिबे कौं कियौ साज ।
तब कुंती बिनती उच्चारी । सुनौ कृपा करि कृष्न मुरारी ।
जब-जब हमकौं बिपदा परी। तब-तब प्रभु सहाइ तुम करी ।
तुम बिनु हमहिं राज किहिं काम? सूर बिसारहु हमैं न स्याम ।।

राग सारंग

स्यंदन बैठी चलत जिहिं मारग नर-नारी कौ मनु मोहै ।
आछी दृष्टि परी मुख-अंबुज तृपति न आवै सब अँग सोहै।।
कोटि मदन कौ देख्यो सारु नयन-कमल-दल चितवनि चारु।
पीतांबर-परिधान मनोहर नख-सिख सुंदर बन्यों सिगारु ।।
पुरी द्वारका घर-घर मंगल जदुनंदन लीला अवतारु ।
'परमानँद' प्रभु सब सुख-दाइक दानव-दलन हरनु-भुव-भारु।।

राग गौरी

गोबिंद ! सोई दिन नीकौ जौ लौं मिलेई रहौ ।
बलि-बलि जाउँ बात चलिबे की तुम्ह मत कबहुं कहौ ।।
राजसूय–क्रतु जीति सकल नृप इहि जानो संसार ।
दुर्जोधन कौ मान–भंग कियो पाँडौ बाँह पगार ।।
बिनती करै जोरि कर कुंती लागति हरि के पाँइ ।
'परमानँद' स्वामी तुम राजा कत छाँडत इहि दाँइ ।।

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

● श्रीमद् भागवत संहिता ●

श्री मद्वल्लभाचार्य चरण द्वारा विरचित

श्री सुबोधिनी (संस्कृत टीका)

हिन्दी अनुवाद सहित

प्रथम स्कन्ध

अध्याय—११

उत्तमाधिकार प्रकरण

द्वारिका में भगवान् का स्वागत

कारिका— एवं कौरवाभक्तानां सर्वसौख्यं निरूपितम् ।
द्वारकास्थितभक्तानामेकादश उदीर्यते ।।१।।
प्रवेशे च प्रविष्टस्य स्थितस्याऽप्युत्सवस्त्रिधा ।
प्राकृतानामिव स्नेहः शास्त्रार्थं जानतामपि ।
कृष्णेच्छातस्तदित्युक्त्वा प्रत्यापत्तिर्निरूप्यते ।।२।।

कारिकार्थ—इस प्रकार कुरुवंश में उत्पन्न हुए भक्तों का हरेक प्रकार के सुख का निरूपण हुआ है। अब द्वारका में रहने वाले भक्तों के सुख का निरूपण अगले श्लोक में कहा जा रहा है। भगवान् ने प्रवेश किया उस समय का उत्सव, प्रवेश करने के बाद का उत्सव और वहाँ विराजे उसका उत्सव, इस प्रकार से तीन प्रकार

का उत्सव बताया हैं। उनमें शास्त्रों को जानने वालों का भी प्राकृत जैसा ही स्नेह है। भगवान् कृष्ण की इच्छा से ही ऐसा हुआ है। जैसा सुख पहले था उसी सुख की फिर प्राप्ति हुई, ऐसा निरूपण किया गया है ।।१।।२।।

आभास—पूर्वाध्यायान्ते भगवतो द्वारकाप्रवेशार्थ सुमुहूर्त निरूपितम् । अत्र प्रथमं प्रवेशे मङ्गलमाह ।

आभासार्थ—पहले वाले अध्याय के अन्त में भगवान् का द्वारका में प्रवेश करने के लिये श्रेष्ठ मुहूर्त का निरूपण किया गया है। अब इस अध्याय में यहां प्रथम प्रवेश के समय का मंगल निरूपित किया जा रहा है।

कारिका—**शङ्खनादस्तथा स्निग्धदर्शनं स्तोत्रमेव च ।**
दूरान्मङ्गलमेतद्धि कलशादिस्तथाऽन्तिके ।।
दुःखिते नगरे कृष्णो न प्रवेशमिहाऽर्हति ।
अतः शङ्खनिनादेन सुखिनस्तान् करोति हि ।।
द्वारका जलदुर्गं हि तदन्ते नगरं महत् ।
आनर्त्ताख्यं तत्प्रवेशः पूर्वं पश्चात्पुरस्य हि ।।

कारिकार्थ—शंख नाद, स्नेह पूर्वक भगवान् का अवलोकन करना, स्तोत्र पाठों से स्तुति करना आदि दूर से ही मंगल को बताने वाले हैं। घर के आगे तोरण बनाना तथा कलशों की स्थापना करना आदि समीप का मंगल कहलाता है। दुःखी नगर में श्रीकृष्ण भगवान् का पधारना योग्य नहीं है, इसलिये शंख बजाकर भगवान् ने प्रत्येक को सुखी किया। द्वारका जल का किला है। उसके अगले भाग में आनर्त नाम का बड़ा नगर है। उसमें भगवान् के प्रवेश को पहले बताया गया है, बाद में द्वारका प्रवेश का निरूपण है।

आभास—अतो भगवानानर्त्तपुरनिकटे गत्वा पाञ्चजन्यध्वनिं कृतवानित्याह—

आभासार्थ—अतः भगवान् ने आनर्त्तपुरी के समीप जाकर पाञ्चजन्य नाम का अपना शंख बजाया, इस प्रकार पौराणिक श्री सूत जी ने निरूपण किया है—

सूत उवाच—श्लोक—**आनर्त्तान स उपव्रज्य स्वृद्धान् जनपदान्स्वकान् ।**
दध्मौ दरवरं तेषां विषादं शमयन्निव ।।१।।

श्लोकार्थ—सब प्रकार से समृद्धि वाले अपने आनर्त्त देश के समीप जाकर उन का खेद दूर करने के लिये भगवान् ने सुन्दर शंख को बजाया ॥१॥

सुबोधिनी – **आनर्त्तानिति** । बहुवचनमवान्तरग्रामाभिप्रायम् । **स्वृद्धान्** । सुष्ठु ऋद्धान सस्यधनादिभिः । **स्वकान्**। स्वकीयान् द्वारकानिवेशानन्तरं वासितान् ।'**यस्य ध्वनिर्दानवदर्पहन्ते**' स्वमङ्गलरूपदैत्यानां निराकरणार्थं **दरवरं** शङ्खश्रेष्ठं वादितवान् ॥१॥

व्याख्यार्थ – आनर्त्त शब्द बहु वचन में दिया गया है जो कि आस-पास के सभी जनपदों को बताने वाला है । वे सभी नगर धन धान्य इत्यादि से वैभव वाले हैं । द्वारका बसाने के बाद उन्हें भी बसाया गया है, यह बताने के लिये मूल में 'स्वकान्' अर्थात् 'अपने कहा गया है । 'जिसका शब्द दानवों के दर्प का नाश करने वाला है', अतः अमंगल रूप दैत्यों का निराकरण करने के लिये भगवान् ने अपने उत्तम शंख का नाद किया है ॥१॥

आभास—भगवता वाद्यमानः शङ्खः केनचिद्वर्णितः । सोऽप्युपनिबद्धः—

अभासार्थ—भगवान् ने जब शंख बजाया तब किसी ने उसका वर्णन किया है । वह श्लोक भी यहां प्रकाशित किया गया है :-

श्लोक–**स उच्चकासे धवलोदरो दरोऽप्युरुक्रमस्याऽधरशोणशोणिमा ।**
दाध्मायमानः करकञ्जसम्पुटे यथाऽब्जषण्डे कलहंस उत्स्वनः ॥२॥

श्लोकार्थ–श्रीकृष्ण के हस्त कमल के सम्पुट में बजाया जाने वाला वह शंख अन्दर से श्वेत है, परन्तु भगवान् के ओठों की लालिमा के स्पर्श से वह लाल रंग के प्रकास से युक्त हो गया है, अतः अन्दर से श्वेत और बाहर से लाल हो जाने से वह शंख कमल के अन्दर ऊँचे स्वर से बोलने वाले कलहंस की शोभा को धारण किये हुए है ॥२॥

सुबोधिनी—**स उच्चकास इति** । ऊर्ध्वमत्यन्तं चकासे । धवलमुदरं यस्य । एतादृशो दरः । उरुक्रमस्याऽधरशोणेन रूपेण शोणिमा शोणयुक्तः । करकमलद्वयस्य मध्ये सम्पुटे । यथा कमलसमूहे ऊर्ध्वे शब्दायमानो हंसो भवति ॥२॥

व्याख्यार्थ—वह शंख बहुत ही सुन्दर लगा । जिसके अन्दर का भाग श्वेत है, ऐसा वह शंख है भगवान् के ओठों की ललाई से वह शंख लाल रंग वाला हो गया

है। दोनों हस्त कमल का सम्पुट बना हुआ है, उसके बीच में शंख धारण किया हुआ है। जैसे कमल में ऊँचा शब्द करने वाला हंस हो ऐसे उस शंख की शोभा हुई ॥२॥

आभास—पाञ्चजन्यध्वनिं श्रुत्वा सर्वे देशनगरवासिनो निश्चयेन भगवन्तमागतं ज्ञात्वा परमानन्दनिर्वृता अपि दर्शनार्थमग्रे गता इत्याह—

आभासार्थ—पाञ्चजन्य शंख का शब्द सुनकर देश व नगर में रहने वाले प्रत्येक व्यक्ति परमानन्द में मग्न हो गये। निश्चय ही भगवान् पधार आये हैं, ऐसा जानकर दर्शनों के लिए सामने दौड़े आ रहे हैं, यह बताया जा रहा है—

श्लोक—**तमुपश्रुत्य निनदं जगद्भयभयावहम्।**
प्रत्युद्ययुः प्रजाः सर्वा भर्तृदर्शनलालसा ॥३॥
तत्रोपनीतबलयो रवेर्दीपमिवाऽऽदृताः।
आत्मारामं पूर्णकामं निजलाभेन नित्यदा ॥४॥
प्रीत्युत्फुल्लमुखाः। प्रोचुर्हर्षगद्गदया गिरा।
पितरं सर्वसुहृदमवितारमिवाऽर्भकाः ॥५॥

श्लोकार्थ—जगत् के भय को भय देने वाले उस शङ्ख के शब्द को सुनकर स्वामी के दर्शनों की इच्छा वाले प्रत्येक प्रजाजन भगवान् के सामने आये ॥३॥

अपने ही लाभ से सन्तुष्ट, आत्माराम और पूर्णकाम भगवान् श्रीकृष्ण के सामने वे लोग भेंटें लेकर इस प्रकार आये मानो आदर पूर्वक सूर्य के सामने दीपक अर्पण कर रहे हों ॥४॥

प्रत्येक पर स्नेह रखने वाले और रक्षा करने वाले पिता के सामने बालक जिस प्रकार बोलता है, उसी प्रकार प्रेम से जिनके मुख खिले हुए हैं, ऐसे वे प्रजाजन हर्ष से भरे हुए गद्-गद् वाणी में कहने लगे ॥५॥

सुबोधिनी—तमुपश्रुत्येति। यस्मिन् श्रुते मृत्युभयमपि गच्छति किमन्यद्भयमित्याह—**जगद्भयभयावहमिति**। पाञ्चजन्यं ह्यायुधं शत्रुवधार्थं निष्पादितं घातकस्वभावम्। तदत्र मङ्गले कथमुपयुज्जत इत्याशङ्क्य अत्रापि घातकरूपेणैव मङ्गलत्वमिति जगतो यद्भयं तस्य भयमावहतीत्युक्तम्। **प्रत्युद्ययुः**। अन्योन्यं प्रतिकूलतया उत् ऊर्ध्वमग्रे ययुः। या प्रापणे। अन्योन्योपमर्दन

अहमहमिकया अग्रे गता इत्यर्थः । **सर्वा इति** । नाऽत्राऽवान्तरजातिनियामिका । भर्तृत्वस्य तुल्यत्वात् । शास्त्रार्थपरिपालनाय सर्वे उपायनपाणयः समागताः । तत्रोच्चावचत्वसिद्धये दरिद्रा अपि सम्भवति । तेषामुपायन **भगवतः** क्वोपयोगायेत्याशङ्क्याऽऽह-**रवेर्दीपमिति** । बलिः पूजासाधनद्रव्यम् कयाचित्क्रियया हि भिन्नो भगवति सम्बध्यते । तदेव हि परमानन्दः । तत्र दृष्टचेन्द्रियसम्बन्धेऽपि देहसम्बन्धसिद्ध्यर्थमुपायनानयनम् । सूर्योद्देशेन दीपदानं विहितम् । न हि दीपेन सूर्यस्य किञ्चित्कार्य सिद्धयति । तथापि त्वत्परोक्षे वयमनेन जीवाम इति दैन्यख्यापनेन दयोत्पत्तौ हेतुर्भवति । तथा भगवत्यपि स्वविद्यमानद्रव्येणोपढौकनम् । तदा भगवता ताः सर्वा **आदृता** आदरेण सुखिताः कृताः । तेषां पूर्णमनोरथानां यत्कार्य तदाह-**आत्मारामममिति** । अथवा । पूर्वमेवाऽऽदृता आत्मारामं प्रत्युद्ययुरिति सम्बन्धः । स्तोत्रोपक्रमस्तु **प्रोत्फुल्लेति** । उत्कृष्टैरप्युपनात उपायने भगवतोऽपेक्षा नास्तीति वक्तुं तं विशिनष्टि **आत्मारामं पूर्णकाममिति** । उभये हि विषयान्नाऽपेक्षन्ते । येषां विषयापेक्षैव **नास्ति** ये वा पूर्णविषयाः । तत्र विषयापेक्षाभावः—**"परं दृष्टवा निवर्तत"** इति वाक्याद्भगवति प्राप्ते भवति । भगवांस्तु प्राप्तभगवानात्मारामः । अत एव पूर्णकामः । **"आत्माराम आप्तकाम"** इति श्रुतेः । अथवा । कामस्तु पूर्व सृष्टचर्थं **भगवत्युत्पन्न** । स सर्वसृष्टपदार्थान् व्याप्य स्थितः पूर्ण इत्युच्यते । स जीवेषु कदाचिन्न पूर्णो भवति । सर्वजीवार्थत्वाद्विषयाणाम् । भगवतस्तु सर्व प्राप्तमिति पूर्णत्वम् । उभयत्राऽपि हेतुः—**निजलाभेति** । निजं स्वरूपम् । निजा वा सर्वे प्रापञ्चिकाः पदार्थाः । **नित्यदेति** । तिरोभावानुत्पत्तिदशायामपि । अव्यक्तादिनिधनत्वात् । अव्यक्तस्य च भगवत्त्वाद्विषयतक्षे सदेत्युक्तम् । अवतीर्णदशायामपि स्वरूप एव स्थितत्वात्-**नित्यदेति** । स्तोत्रपक्षे समागतस्य क्लिष्टत्वमाशङ्क्य तथात्वे स्तोत्रासम्भवात्तन्निवृत्त्यर्थमुक्तमात्मारामादि । स्नेहमुद्गिरन्त्यः स्तोत्रं कुर्वन्तीति तासां स्वरूपमनुवदति भगवत्प्रीत्यर्थम् **प्रोत्फुल्लमुखा इति** । प्रीत्या ह्युत्फुल्लमुखत्वं लोकसिद्धम् । येषां यद्विरहेण मुकुलता मुखस्य तेषां तद्दर्शनेनोत्फुल्लता । तदा हि मुखे स्थितं माधुर्यं प्रकटीभवति । ततस्तत्सहितानि वाक्यानि मिष्ठानि भवन्ति । किञ्च । **हर्षगद्गदया गिरेति** । स्तोत्रं हि गानात्मकं वेदे प्रसिद्धं स्थिरमनसां कर्मोपयोगि न तु भक्तानां प्रेम्णा ससम्भ्रमचित्तानाम् । अतो **गिरेत्युक्तम्** । तत्राऽपि यो हर्ष आनन्दोद्गमस्तेन गद्गदया । **गद्गद**शब्दोऽनुकरणशब्दः शब्दे तथा ध्वनियुक्तत्वं वदति । **गद** व्यक्तायां वाचीति गदधातुर्द्विरुक्त आदरं बोधयति । एवं हर्षादराभ्यां परिगृहीता वाणी यथाकथञ्चिन्निस्सरति । सा श्रोतर्यपि हर्षमादर च जनयनि । तदुक्तम्-**गद्गदयेति** । धाष्टर्चदोषं वारयति-**पितरमिति** । यथा प्रोषिते पितरि समागते महाराजाधिराजेति तत्पुत्रा उद्गच्छन्ति । अत्र तथा विकलत्वं नास्तीति दृष्टान्तान्तरमाह-**सर्वसुहृदमिति** । सर्वसुहृद्गौः । **"गौर्वाव सर्वस्य मित्रमि"** ति श्रुतेः । तां यथा तद्वत्स- सन्ध्यापर्यन्तं क्षुधितः स्वजातिशब्दं कुर्वन्नुपधावति । अत्राऽपि दीनतमत्वाभावाद् दृष्टान्तान्तरमाह-**अवितारमिति** । यथा अरण्यादौ भयस्थाने चौरादिभिर्मार्यमाणा अर्भकाः पूर्वपरिचितं रक्षणसमर्थं दृष्टवोद्गच्छन्ति, वदन्ति च स्वखेदम् । तद्वदित्यर्थः ।।३।।४।।५।।

व्याख्यार्थ—जिसके सुनने से मृत्यु का भय भी जाता रहता है, वहां दूसरे भयों का कहना ही क्या ? इसी अभिप्राय से कहते हैं कि शंख का शब्द जगत् के भय को भी डरा देने वाला है । पाञ्चजन्य नाम का शंख रूपी आयुध शत्रु का वध करने के लिये उत्पन्न किया गया है ।

जब उसका स्वभाव मारने वाला है, तो मंगल के लिये उसका उपयोग किस तरह हुआ ? ऐसी शंका करके कहते हैं कि उस शंख के घातक रूप में ही मंगलपना स्थित है। यह बात बताने के लिये, "जगत् के भय को भी भय देने वाला है," ऐसा कहा गया है।

एक दूसरे को हटाकर दर्शन करने के लिये आगे आ रहे हैं। पहले मैं दर्शन करूँगा, दूसरा व्यक्ति भी यही सोचता है कि पहले मैं दर्शन करूँगा, इस तरह की धक्कापेल में एक दूसरे से आगे आने की होड़ में लगे हुये हैं। भगवान् तो समान रूप से प्रत्येक के स्वामी हैं और सारी प्रजा एक के आगे एक चली आ रही है, इससे जाति का भेद भाव रह नहीं गया है कि अमुक जाति वाला पहले आया और अमुक जाति वाला बाद में आया।

शास्त्र में कही हुई रीति का पालन करने के लिये प्रत्येक व्यक्ति हाथ में भेंट लेकर आया है। प्रजा में ऊँचापना और नीचापना भी होता ही है। उनमें दरिद्रपना भी होता है अतः दरिद्री की लाई हुई भेंट भगवान् के किस उपयोग में आई होगी ? ऐसी शंका करके कहते हैं कि जैसे पूजा करते समय सूर्य को दीपक अर्पण किया जाता है, उसी प्रकार वे लोग भेंटें समर्पित कर रहे हैं। मूल में 'बलि' शब्द लिखा हुआ है वह पूजा में काम आने वाली वस्तुओं के लिये लिखा गया है। जो अलग है वह भी किसी क्रिया से भगवान् में बंधा हुआ है, उसी से परमानन्द होता है। यहाँ दृष्टि द्वारा इन्द्रियों का सम्बन्ध हुआ है, परन्तु देह का सम्बन्ध सिद्ध करने के लिये भेंटें लाई गई हैं। शास्त्रों में सूर्य के लिये दीपदान करने की बात लिखी हैं, वहाँ दीपक से सूर्य का कार्य सिद्ध नहीं होता; तो भी आपके प्रत्यक्ष न होने पर हम इस दीपक से ही जीते हैं, इस प्रकार की दीनता बताने के लिये तथा दया की प्राप्ति के लिये यह बात कही गई है। ठीक इसी तरह भगवान् के सम्बन्ध में भी अपने द्रव्य के अर्पण करने वाली बात घटित होती है। भगवान् ने सभी को सामने लाकर उन्हें आदर दिया है तथा आदर के द्वारा उन्हें सुखी बनाया है। जिससे उनके मनोरथ पूर्ण हो गये हैं। अब उन्होंने जो कार्य किये हैं, उन्हें कहा जाता है। आत्मा में ही रमण करने वाले भगवान् को भेंट अर्पित की अथवा पहले ही आदर युक्त होकर आत्माराम भगवान् के सामने आये।

स्तोत्र का आरंभ तो इस पिछले श्लोक से हुआ है अमूल्य, बहुमूल्य भेंटें भी लाई गई, उनमें भगवान् की इच्छा नहीं थी। इस अभिप्राय से भगवान् के स्वरूप का वर्णन किया गया है, कि प्रभु आत्माराम तथा पूर्ण काम हैं। जगत् में दो प्रकार के मनुष्य विषयों की परवा नहीं करते। एक तो वे जिन्हें विषय की इच्छा ही नहीं होती दूसरे वे जिनके सभी विषय परिपूर्ण हो गये हों। दोनों ही प्रकार के व्यक्तियों को विषयों की आवश्यकता नहीं होती।

"परं के दर्शन करने से विषयों की निवृत्ति हो जाती है", ऐसा गीताजी में कहा गया है। अतः जिसे 'परं' अर्थात् भगवान् की प्राप्ति हो जाती है, उस को विषयों से इच्छा दूर हो जाती है और भगवान् को तो और कोई भगवान्पना प्राप्त करना है नहीं। अतः स्वयं भगवान् होने से उन्हें भगवान्पना तो पूर्व से ही सिद्ध है इसलिये वे आत्माराम हैं और इसी कारण पूर्णकाम भी। श्रुतियों में कहा गया है कि, "परमात्मा आत्माराम और प्राप्त काम हैं।" अथवा सर्व प्रथम तो सृष्टि उत्पत्ति के लिये काम भगवान् में ही उत्पन्न हुआ। वह काम बनाये हुये पदार्थों में व्यापक रूप से रहता रहता है, इसलिये भी भगवान् पूर्णकाम कहलाते हैं। वही काम विषयों के रूप में जीवों में रहता है और वह पूर्ण हो नहीं सकता। परन्तु भगवान् को तो यह स्वयं में ही प्राप्त होने से पूर्णता प्राप्त है। भगवान् स्वयं में स्वयं के स्वरूप से ही लाभ वाले हैं अथवा जगत् के सारे पदार्थ भी वे स्वयं ही हैं; अतः उन्हें वे सब पदार्थ सर्वत्र सर्वकाल उपलब्ध रहने से भी वे पूर्णकाम कहलाते हैं। वे प्रभु यदि (अवतार दशा में) विराजमान वाली स्थिति में न भी हों और किसी प्रकार से न समझे जा सकने वाली स्थिति में हों तो भी वे पूर्ण काम ही हैं। एक कारण यह भी है कि वैसे भी प्रत्येक पदार्थ का प्रारंभ और लय स्पष्ट रीति से समझ में नहीं आता अर्थात् अक्षर में प्रत्येक का लय है और अक्षर भगवद् रूप है जब तक प्रपंच उत्पन्न न हुआ हो तब तक वह जानने में आ नहीं सकता परन्तु उस स्थिति में भी वह अक्षर में स्थित है और तिरोभाव के समय भी वह अक्षर में ही लीन हो जाता है; अतः भगवान् को सब पदार्थ प्राप्त हैं। यदि विषय के पक्ष में भी लें तो उन्हें विषय भी सदैव प्राप्त हैं अवतार दशा में भी अपने ही स्वरूप में स्थित रहते हैं, इसलिये मूल में 'नित्यदा' शब्द लिखा गया है। स्तोत्र के पक्ष में आये हुये भगवान् को क्लेश हो, ऐसी शंका के उत्तर में कहते हैं कि क्लेश न हो तो स्तोत्र भी नहीं हों। इसकी

निवृत्ति के लिये कहते हैं, कि भगवान् के आत्मा रामादि धर्म बताये गये हैं।

प्रजा का प्रत्येक व्यक्ति भीतरी स्नेह को बाहर प्रकट करने के लिये स्तुति करता है। भगवान् की प्रीति उत्पन्न करने के लिये उनके स्वरूप का वर्णन किया जाता है।

प्रेम से मुख खिल उठता है, यह तो लोक में प्रसिद्ध बात है। प्रभु के विरह में जिन का मुख सूख गया था उन्हें प्रभु के दर्शन होने से प्रफुल्लता प्राप्त हुई। जिससे उनमें मीठास पैदा हुई। उस मीठास से वाक्यों में हर्ष की अभिव्यक्ति हुई। हर्ष से उत्पन्न हुई गद्गद् वाणी के द्वारा वे वैदिक स्तोत्रों से स्तुतियां करने लगे। वेदों में जो ज्ञानात्मक स्तोत्र हैं. वे स्थिर मन वालों के लिये उपयोगी हैं। परन्तु प्रेम से जिन का चित्त बैचेन हो उठा है, ऐसे भक्तों के लिये वे उपयोगी नहीं। इसलिये वाणी से बोले, ऐसा कहा गया है। उनमें जो हर्ष की स्थिति है वह आनन्द का प्रवाह है। इसलिये वे गद्गद् वाणी से बोल रहे हैं, ऐसा कहा गया है। गद्गद् शब्द ध्वनि का अनुकरण वाचक शब्द है। उन शब्दों में उन ध्वनियों का योग है। गद् धातु अस्पष्ट बोलने के अर्थ में आती है। उस समय गद्गद् के प्रयोग से आदर बताया जा रहा है। इस प्रकार हर्ष और आदर के भाव से मिली जुली वाणी बड़ी कठिनाई से मुख से निकल रही है। उसे सुनने वालों को भी हर्ष और आदर उमड़ रहा है। ऐसा गद्गद् शब्द से ज ाया गया है।

उन के धृष्टतापने के दोष को दूर करते हुये कहते हैं कि जिस प्रकार बालक पिता से बोलते हैं, उसी प्रकार वे बोल रहे हैं। जिस प्रकार पिता परदेश गये हुये हों तो भले हो वे महाराजाधिराज हों तो भी जब पिता लौटकर आते हैं तो पुत्र उनके सामने आते हैं। यहां तो वैसी व्याकुलता नहीं है, यह बताने के लिये दूसरा दृष्टान्त देते हैं। वेदों में कहा गया है कि "गाय प्रत्येक का मित्र है"। जिस प्रकार गाय सुबह अपने बछड़ों को स्तनपान करा कर चरने निकल गई हो और बछड़े सांझ तक भूख से व्याकुल हुये ज्यों ही उसके लौटने का शब्द सुनें और अपनी जाति का शब्द करते हुए उसके पास दौड़े चले जांय, उसी प्रकार प्रजा का प्रत्येक व्यक्ति श्री कृष्ण के सम्मुख दौड़ा चला आ रहा है। इस दृष्टान्त में अत्यधिक दीनता न होने से दूसरा दृष्टान्त दिया जा रहा है। जिस प्रकार बालक को जंगल में चोर

* श्री सुबोधिनी *

॥ श्री वृन्दावनेश्वर ॥

वृन्दावनेश्वर मुकुन्द मनोज्ञवेष, वंशीविभूषित कराम्बुज पद्मनेत्र ।
विश्वेश केशव व्रजोत्सव भक्तिवश्य, देवेश पाण्डवपते मम देहि दास्यम् ॥

श्री मद्वल्लभाचार्य

आदि मारते हों, उस भय से भयभीत उसको कोई पूर्व परिचित अपनी रक्षा करने में समर्थ पुरुष मिल जावे, उसे देखकर बालक सामने दौड़ता है और अपना दुःख कहता है, उसी प्रकार सारी प्रजा भगवान् के सामने दौड़ी चली आई ।।३।४।५।।

आभास— सर्वाः प्रजाश्चतुर्विधाः । स्त्रीपुम्भेदेन प्रथमं द्विविधाः । पुरुषास्त्रिविधाः । ज्ञानिविषयिभक्तभेदेन । तत्राऽऽद्यानां ज्ञानिनां वचनमाह—

आभासार्थ—सारी प्रजा चार प्रकार की है । प्रथम भेद तो स्त्री और पुरुष, दो प्रकार का है । उसमें भी ज्ञानी विषयी और भक्त इस रीति से तीन प्रकार के पुरुष हैं । उसमें पहले ज्ञानियों के वचन का निरूपण करते हैं:—

श्लोक—**नताः स्म ते नाथ सदाऽङ्घ्रिपङ्कजं विरिञ्चिवैरञ्च्यसुरेन्द्रवन्दितम् ।**
परायणं क्षेममिहेच्छतां परं न यत्र कालः प्रभवेत्परप्रभुः ।।६।।

श्लोकार्थ—हे नाथ ! ब्रह्मा, शिवजी और इन्द्रादि देवों से वन्दना किये जाते हुए आपके चरण कमलों में हम नमस्कार करते हैं । आप कल्याण चाहने वालों के सबसे बड़े आश्रय हो । हे सर्वोत्तम प्रभो ! आप द्वारा निर्मित होने से काल आप पर छा नहीं सकता ।।६।।

सुबोधिनी नताः स्मेति । तेऽङ्घ्रिपङ्कजं नताः स्म । "**नमो नम इत्येतावत्सदुपशिक्षितमि**"ति सिद्धान्ताद्भगवति दृष्टे नमनमेव कर्त्तव्यम् । सर्वज्ञत्वेऽपि भिन्नतया स्थापितत्वात् । "**किमासनं ते गरुडासनाये**' ति वाक्याच्च ननु किं फलार्थं नमनम् । तत्राऽऽह । **हे नाथ!** हे पालक भर्त्तः । स्वत एव सर्वकामनापूरकत्वान्नित्य एवाऽयं नमस्कारः । न काम्य इति ज्ञापयति—**सदेति** । प्रवेशोऽपि नाऽपेक्ष्यत इत्यभिप्रायः । ननु कथं ब्रह्मलोकादिगमनफलपरित्यागेन सदा नमनेनैवं स्थितिः प्रार्थ्यते । तत्राऽऽह – **विरिञ्चिवैरञ्च्येति** । **विरिञ्चि**र्ब्रह्मा । **वैरञ्च्यो** महादेवः । **सुरा** देवा अन्ये । इन्द्रश्च । एभिश्चतुर्विधैरुत्कृष्टैरपि वन्दितम् । तत्र गतानामप्येतदेव कार्यम् । ततो दूरापेक्षया निकट एव स्थित्वा नमनं वरम् । ननु यद्यपि ज्ञानिनामैहिकामुष्मिकफलविरागो भवति । भगवत्सायुज्यं च भक्तिरसान्नाऽपेक्ष्यते । तथापि भगवता सह गमनसामर्थ्यं स्थानच्युतिहेतुप्रतिबन्धाभाव स्थितज्ञानादिसंरक्षण चाऽपेक्ष्यत एव ततस्तदर्थं कथं न नमनमित्याशङ्कयाऽऽह **परायणमिति** । इह संसारप्रवाहे परं क्षेममिच्छतां यत्परायणमाश्रयभूतम् । रक्षकमिति यावत् । चरणारविन्दमेव सर्वसाधकं **क्षेममिहेच्छतामिति** पदत्रयेणोक्तम् । तत्र **क्षेमपदेन** ज्ञानादिरक्षा । **इहेति** स्थानादप्रच्युतिः । **इच्छतामिति** सह गमनेच्छायां तत्सामर्थ्यदानं च । यद्यपि वाक्यार्थो न भवति तथापि पदार्थः । ननु देहस्य कालप्रवाहजातत्वान्नमनसिद्ध्यर्थमपि देहस्थितिः काम्येति चेत् ? तत्राऽऽह—**न यत्र काल इति** । यत्र नमने स्थितौ भगवति नम्रत्वाद्भगवत्सेवकस्य कालस्य न प्रभवः । **परो** वासुदेवः प्रभुर्यस्य ।।६।।

व्याख्यार्थ—हम आपके चरण कमलों में नमस्कार करते हैं। क्योंकि पञ्चम स्कन्ध में नाभिराज के यज्ञ में भगवान् के दर्शन हुए, तब ऋषियों ने कहा है कि "बड़े पुरुषों को बार बार नमन करना चाहिए, यही सत्पुरुषों से शिक्षा लेनी चाहिये" महान् पुरुषों को नमस्कार करने का सिद्धान्त होने से, भगवान् के दर्शन होने पर उन्हें नमस्कार करना चाहिये। भगवान् सर्वज्ञ होने से अपने मन के अभिप्राय को जानते हैं, फिर भी स्वयं को अलग रूप से स्थापित किया है। जीव नमस्कार के अतिरिक्त और कर भी क्या सकता है? कारण कि 'वेदात्मक गरुड़ जो जिनके आसन रूप हैं उन्हें वेद के एक मन्त्र से कैसे आसन दिया जा सकता है?" इत्यादि वाक्यों से कहा गया है।

फिर यह नमन किस फल के लिये है? ऐसी शंका करके कहते हैं कि, हे नाथ, आप तो पालन करने वाले स्वामी हैं, अतः स्वयं ही कामनाओं को पूर्ण करते हो, इसलिए आपको नित्य नमस्कार है। परन्तु वह नमस्कार कामना युक्त नहीं है। वह काम्य नहीं है, यह बताने के लिए कहते हैं कि हमेशा आपको नमस्कार करना चाहिए। उससे सायुज्यादि मुक्ति को भी हमें आवश्यकता नहीं, ऐसा सूचित किया गया है। ब्रह्म लोक आदि में जाने के फल को त्याग करके हमेशा आपको नमन करते रहने वाली स्थिति की प्रार्थना किस लिये? इस शंका का समाधन करते हैं कि ब्रह्मा, शिव और देवता इन्द्र ये सभी उत्तम देवता हैं। उन्होंने भी आपका वन्दन किया है। इसलिए जो ब्रह्म लोक आदि में चले गये हैं, वे भी नमस्कार करते हैं। वे लोग तो दूर से ही नमस्कार करते हैं, परन्तु यहां तो पास से नमस्कार करने वाली स्थिति और भी श्रेष्ठ है।

ज्ञानियों को इस लोक तथा परलोक के फल में भी वैराग्य हो जाता है। इसलिए वे भगवान् के साथ सायुज्य मोक्ष तथा भक्तिरस की इच्छा भी नहीं करते। तो भी भगवान् के साथ जाने का साधर्म्य है, उनकी रक्षा करनी चाहिये। इसलिए स्थान से दूर होने के कारण का प्रतिबन्ध हो और प्राप्त हुये ज्ञान की रक्षा हो, यह बात तो ज्ञानियों में भी रहती ही है। इसलिये उस फल के लिए किसलिए नमन की अपेक्षा करना चाहिये? ऐसा कह कर निरूपण करते हैं, कि इस संसार के प्रवाह में उत्तम कल्याण की इच्छा करने वालों के जो उत्तम आश्रय रूप हैं। "यहां कल्याण की इच्छा करने वालो को," इन तीन पदों द्वारा यह स्पष्ट किया है कि चरण कमल

ही सब सिद्ध करने वाले हैं। इसमें जो 'क्षेम' पद आया है, वह ज्ञान की रक्षा के लिये आया है। स्थान से न हटना पड़े इसके लिये 'इह' पद आया है। 'इच्छतां' पद से जाने की इच्छा हो तो भगवान् के चरण कमल ही सामर्थ्य देते हैं, ऐसा सूचित किया है। यद्यपि यह वाक्यार्थ नहीं है, तदपि पदों का अर्थ है।

यह देह काल के प्रवाह में स्थित है, अतः नमन की सिद्धि के लिये देह की स्थिति मांगना ही चाहिए. ऐसा कोई कहे तो उसका समाधान करते है कि नमन को स्थिति से भगवान् में उसका नम्र भाव बना रहता है। अतः भगवान् के सेवक के लिए काल उत्पन्न नहीं होता। क्योंकि उस सेवक के प्रभु वासुदेव हैं ; अतः प्रभु के सेवकों को काल बाधा नहीं दे सकता, उनका पराभव नहीं कर सकता ॥६॥

आभास—विषयपरा आहुः—

आभासार्थ—अब अगले श्लोक में जो विषयी हैं वे प्रभु को इस प्रकार नमस्कार करते हैं:—

श्लोक—**भवाय नस्त्वं भव विश्वभावन त्वमेव माताऽथ सुहृत् पतिः पिता।
त्वं सद्गुरुर्नः परमञ्च दैवतं यस्याऽनुवृत्त्या कृतिनो बभूविम ॥७॥**

श्लोकार्थ—हे विश्व भावन ! आप हमें बनाने वाले हैं। आप ही हमारे माता हो, पिता हो, मित्र हो, पति हो। आप ही हमारे सद्गुरु हो और परम देवता हो। आपकी कृपा से हम कृतार्थ हो गये हैं ॥७॥

सुबोधिनी—**भवाय नस्त्वमिति**। **हे विश्वभावन**! सर्वानेव विषयसम्बन्धेन भावयस्यधिकान् करोषि। अतोऽस्माकमप्युद्भवाय भव। **नस्त्वमिति** वा हेतुः। यतोऽस्माकं त्वं स्वामी। सर्वप्रार्थनायामनुचितत्वाभावाय भगवति षंधर्मत्व प्रतिपादयति-**मातेत्यादि**। त्वमेव नो माता। त्वद्गर्भादेव निर्गतत्वात्। उदरस्थानां जीवानामेव बहिः सृष्टेः। ब्रह्माण्डाख्ये चोदरे साम्प्रतमपि स्थितेः। लोकप्रतीत्या तु या माता सा जरायुवत्पोषकवद्वा। अतस्त्वमेव माता। अतो रोदनेन बलाद्वा त्वमेव प्रार्थनीयः। किञ्च। **अथ सुहृत्** अविवेकदशायां यथा त्वं प्रार्थनीयः। **अथ** तदनंतरं विवेकदशायामपि त्वमेव प्रार्थ्यः। यतस्त्वं **सुहृत्** मित्रम्। "**द्वा सुपर्णा सयुजा सखाये**" ति श्रुतेः। सुष्ठु हृदयं यस्य स सुहृत। एकस्मिन्नेव हृदये उभयोः स्थितत्वात्। सुष्ठु हरतीति वा। सवफलभोक्तृत्वात्। अत एव युक्ताऽपि भवानेव प्रार्थनीयः। सवफलदातृत्वात्। किञ्च। असेवाद्यपराधेन दण्डनेऽपि भवानेव प्रार्थनीय इत्याह—**पतिरिति**। न ह्यन्या गतिरस्माकमस्ति। यथा

स्वयमनलंकृतोऽपि भार्यामलङ्करोति बहुभिराभरणैः। अलंकृते तु सन्देह एव नास्ति। अतस्त्वं महानस्मानलंकुर्वित्यर्थः। किञ्च। त्वमस्माकं **पिता**। अतो जन्ममात्रेणैव वयं ते दायभागिनः। जगत्कर्तृत्वेनव भवतः श्रवणात्। एवमैहिकसर्वफलदानार्थं चतूरूपत्वमुक्त्वा पारलौकिकसर्वदानार्थमाह – **त्वं सद्गुरुर्नः परमञ्च दैवतमिति**। प्रक्रियान्तरत्वात्पुनस्**त्वमिति** ग्रहणम्। परलोकस्तु तदर्थविहितकर्मज्ञानभक्तिभिर्भवति। तत्राऽज्ञानादन्यथा ज्ञानान्मोहनार्थं वा पाखण्डादिबहवो मार्गा जाताः। तत्र सन्मार्गवक्ता दुर्लभः सन्देहेन विश्वासाभावाच्च। '**त्वं त्वदयं ज्ञानमि**" ति वचनात्त्वमेव गुरुः जीवास्त्वसद्गुरवः त्वमेव सद्गुरुरिति। अतो '**गुरुशुश्रूषये**" ति वाक्यात्स्वसेवामेव शिक्षयेत्यर्थः। एवं कर्मणां फलमिति पक्षे गुरुसेवयैव कृतार्थता देवताफलदानपक्षे "**फलमत उपपत्तेरि**" ति। ब्रह्मफलदानपक्षेऽपि त्वमेव फलदातेत्याह –**परमञ्च दैवतमिति**। देवतादानपक्षेऽपि नाऽङ्गदेवताः फल प्रयच्छन्ति किन्तु सहकारिणो भवन्ति अतः **परममि**त्युक्तम्। मध्ये चकाराद्ब्रह्मपक्षेऽपि परमा देवता भवानेव। देवानां त्वदशत्वात्। ब्रह्मरूपत्वच्च। अतस्तवाऽऽराधनमेवाऽस्माकं कर्तव्यम्। अन्यत्तु स्वत एव भविष्यतीत्याह – **यस्याऽनुवृत्त्येति**। कृतमस्याऽस्तीति कृती। भगवदनुवृत्तिव्यतिरेकेण कृतेनाऽन्येन धर्मादिना न कृतित्वं भवति। "**धर्मः क्षरति कीर्तनात**" "**कृतघ्ने नाऽस्ति निष्कृतिरि**" ति। अतस्तवानुवृत्त्यर्थं तथा सम्पादय यथा कृतिनो बभूविमेत्यर्थः ॥७॥

व्याख्यार्थ—हे विश्व भावन! इस सम्बोधन देने का अभिप्राय यह है कि आप प्रत्येक को विषय के सम्बन्ध से अधिक बना देते हो। इसलिए हमारी उत्पत्ति के लिए भी आप ऐसा ही कीजिए अथवा आप हमारे ही हो, इसलिए भी हमारी उत्पत्ति के लिए आप हो, कारण कि आप हमारे स्वामी हो। इसलिए हरेक प्रकार से प्रार्थना करने में कोई अनुचित वात नहीं, यह बताने के लिये भगवान् में छह धर्म स्वरूपों को बताया जाता है कि आप ही हमारी माता हो। क्योंकि आपके उदर में रहने वाले जीवों को ही बाहर सृष्टि हुई है। हम आपके गर्भ में से निकले हैं। वैसे भी आपके ब्रह्माण्ड रूप पेट में हम अभी भी स्थित हैं हो, इसलिये आप हमारी माता हो। संसार की दृष्टि में जिसे माता कहा जाता है, वह तो अपने दूध से पोषण करने वाली है। हम तो वस्तुतः आप ही के पेट से निकले हैं और आप ही के पेट में स्थित हैं, अतः आप हमारी माता हो। रोते हुये बलात्कार पूर्वक आप ही प्रार्थना करने योग्य हो। जिस तरह अविवेक दशा में आप की ही प्रार्थना की जाती है उसी प्रकार विवेक दशा में भी आप ही प्रार्थना करने योग्य हो।

आप हमारे मित्र हो। क्योंकि 'जीव और ईश्वर दोनों साथ रहने वाले सखा हैं", ऐसा वेदों में कहा गया है। यहाँ मित्र कहने के लिये 'सुहृद्' शब्द का प्रयोग किया गया है। जिसका अभिप्राय यह है कि जो हृदय में सबसे अधिक निकटता के

साथ भली प्रकार से विराजमान हो। एक ही हृदय में दोनों की स्थिति साथ होने से सुहृत् हो। प्रत्येक फल के भोगने वाले भगवान् ही हैं, इसलिये भला करते हैं। इन सब युक्तियों के आधार पर आप ही प्रार्थना करने योग्य हो, कारण यह कि आप प्रत्येक को फल देने वाले हो।

सेवा आदि के न बन सकने पर अपराध होता है तो आप दंड भी देते हो। ऐसी स्थिति में भी आप ही प्रार्थना करने योग्य हो। आप हमारे पति हो अतः आप के अतिरिक्त हमारी कोई भी दूसरी गति नहीं है। पति भले ही स्वयं आभूषण न पहने परन्तु पत्नी को बहुत से आभरणों से अलंकृत कर देता है। पति स्वयं भी गहने पहने हुये हो तो स्त्री को और भी गहनों से सुन्दर बना देगा, इसमें सन्देह ही क्या ? अतः आप हमें शृंगार से युक्त बनाइयेगा।

आप हमारे पिता हो। इसलिये जन्म मात्र से ही हम आपके वारिस हैं, उत्तराधिकारी हैं। इतना ही नहीं, जगत के बनाने वाले होने से भी आप हमारे पिता हो। इस प्रकार से इस लोक का फल देने के लिये माता, सुहृद्, पति और पिता इन चार रूपों का बताकर अब परलोक का फल देने के प्रसंग में कहते हैं कि आप सद्गुरु हो उत्तम दैवत हो। अब परलोक की प्रक्रिया के प्रसग में 'त्वम्' शब्द के विषय में कहा जा रहा है। परलोक की प्राप्ति के लिये शास्त्रों में कहा गया है कि कर्म, ज्ञान और भक्ति करने वालों को परलोक की प्राप्ति होती है। उसमें अज्ञान से अथवा अन्य का ज्ञान से मोह को उत्पन्न करने के लिये पाखण्डादिक मार्ग होते हैं। उसमें सच्चे मार्ग को कहने वाले दुर्लभ हैं। यह सच्चे मार्ग को कहने वाला है अथवा मिथ्या मार्ग को बताने वाला है ऐसा संदेह होता है। जिससे किसी भी स्थल पर किसी को विश्वास रहता नहीं। आपका तो किसी भी प्रकार से नाश होता नहीं है अतः ज्ञान रूप हो। इसलिये आप ही गुरु हो। जीव तो असद् गुरु है और आप ही सद्गुरु हो, इसलिये गुरु की सेवा से ही समस्त पुरुषार्थों की सिद्धि है, ऐसा वाक्य कहा गया है। गुरु की सेवा के माध्यम से आपने अपनी ही सेवा की शिक्षा दी है।

इस रीति से कर्म द्वारा फल की प्राप्ति के पक्ष में सेवा द्वारा ही कृतार्थता बताई गई है। गुरु आप है। आपकी सेवा से ही कृतार्थता प्राप्त होती है। यदि यह माना जाये कि देवता फल प्रदान करते हैं तो भी ब्रह्म से ही फल की प्राप्ति सिद्ध हुई।

व्यास सूत्र में भी यही बताया गया है कि ब्रह्म ही सब को फल प्रदान करते हैं। ऐसा माने जाने पर भी आप ही फल के दाता हो यही निर्धारित हुआ। इन सब युक्तियों के आधार पर आप ही परम दैवत हो। देवता स्वयं फल के देने वाले नहीं हैं वरन् फल देने में सहायक मात्र हैं, क्योंकि मुख्य देवता तो आप हो, आप ही फल देते हो। परम उत्तम देवता आप ही हो। मध्य में 'चकार' होने से ब्रह्म द्वारा फल दिए जाने के पक्ष में देवता आप के अंश रूप हैं। वे देवता अक्षर ब्रह्म रूप हैं और आप तो उत्तम देवता हैं अतः आप ही फल देते हो। इसलिए हम तो आपकी ही आराधना करते हैं। अन्य बातें तो स्वतः सिद्ध हो जाती हैं। जिनकी सेवा से हम कृतार्थ होते हैं अथवा हमारे किए हुए कर्म नाश को नहीं पाते, ऐसे वे आप ही हैं, जिनकी सेवा करना हमारा कर्त्तव्य है।

"किये हुये धर्म को दूसरे से कहने पर वह नष्ट हो जाता है" और "कृतघ्न मनुष्य के पापों की निवृत्ति का कोई उपाय नहीं है," ऐसा कहा गया है। अतः भगवान् को सेवा के अतिरिक्त कोई भी धर्म कृतार्थ करने वाला नहीं। इसलिये आपकी अनुवृत्ति के लिये आप की सेवा करते रहना ही कृतार्थता है, जिससे हमारे कर्म नाश को प्राप्त होने के स्थान पर सदैव सिद्ध रहें। अतः आप हमारे लिये वैसा ही कीजिये जिससे हम कृतार्थ बनें।।७।।

आभास—भक्ता आहुः-

आभासार्थ—अब भक्त पुरुष अपने भाव प्रकट करते हैं—

श्लोक—**अहो सनाथा भवता स्म यद्वयं त्रैविष्टपानामपि दूरदर्शनम्।**
प्रेमस्मितस्निग्धनिरीक्षणाननं पश्येम रूपं तव सर्वसौभगम् ।।८।।

श्लोकार्थ—अहो, हमें सनाथ कीजिये। क्योंकि सबका सौभाग्य रूप आपका स्वरूप जो मन्द मुस्कान और स्नेह युक्त नेत्र कमलों वाला मुखारविन्द, देवताओं को भी दिखाई देना कठिन है, उसे आप हमें दर्शन कराके सनाथ बनाइये।।८।।

सुबोधिनी अहो इति। अहो इत्याश्चर्ये। वयं त्वद्भक्त्यैव पूर्णमनोरथाः। इदानीं त्वमपि मिलित इत्याश्चर्यम्। अथवा। अल्पीयसी भक्तिः कृताऽस्माभिः। फलं तु महज्जातमित्याश्चर्यम्। भवता वयं सनाथाः। "**नारायणपराः सर्वे न कुतश्चन बिभ्यती**" ति न्यायेन भक्तानामपेक्षाऽभा-

वान्नियन्ता नाऽपेक्ष्यते । भगवतस्तु भक्तिविषयत्वेनैव ग्रहणम् । एवमपि भगवानेव स्वयमुद्यम्य पालनादिकं करोति चेत्तदा ते सनाथा भवन्ति । तत्वाश्चर्यकरं भवति । इह तु भवता वय सनाथाः । स्वयमागत्य सर्वकार्यं निर्वाहयसीत्यर्थः । किञ्च । इदं पुनः सर्वजनीनं गुप्ततया भक्तानां भगवान् स्वयं किञ्चित्करोतीति श्रूयते । अत्र तु साक्षात्सर्वजनीनं सर्वं करोतीति **स्मेत्युक्तम्** । किञ्च । यद्वयं सर्वदा पश्येम । न हि सर्वदा भगवान् सर्वैः साक्षात्क्रियते । सात्विकैः क्रियत इति यदि, तदाऽऽह–**त्रैविष्टपानामपि दूरदर्शनमिति** । त्रिविष्टपे स्वर्गे भवास्तिष्ठन्तीति वा । तत्र भूमिष्ठानां दर्शनशङ्कैव नास्ति । किञ्च । कदाचिद्देवानामापदायां कृपया भगवत्साक्षात्कारो भवति । तथापि नैव रूपं पश्यन्तीत्यभिप्रायेणाऽऽह–**प्रेमस्मितस्निग्धनिरीक्षणाननमिति** । प्रेम्णा स्मितेन च स्निग्धं यन्निरीक्षणं तत्सहितमाननं यस्येति । "**ये यथा मां प्रपद्यन्ते**" इति प्रेमभक्तेषु भगवतोऽपि प्रेम । ज्ञानेन मुक्ताः कालान्तरे स्वसेवार्थं भक्ताः क्रियन्ते । तेन मोहिता इवते इति स्मितम् । अथवा । भगवद्भक्तेषु मोहनमल्पम् । भगवद्गुणरूपयोरेव मोहो नाऽन्यत्रेति मायारूपहासस्य मन्दत्वम् । अनेन दया निरूपिता भवति । प्रेमदयाभ्यां हि सर्वं वस्तु स्निग्धं भवति । मूर्त्तानां तैलादि स्नेहहेतुः । अमूर्तानां स्नेहहृदये आत्मसम्बद्धानाम् । तेन भगवद्दृष्टिरुभाभ्यामतिस्निग्धा । प्रथमतो भगवद्दर्शनमेव । दुर्लभम् । तत्राऽपि सन्मुखतया । तत्राऽपि भगवद्दृष्टिः स्वस्मिन् पतति । तदा हि भगवद्दृष्ट्या गृहीतो भगवति प्रविष्ट एव । तत्राऽपि स्निग्धया दृष्टया गृहीतः कदापि न विश्लेषमेति । तत्राऽपि हेतुपूर्वकं स्निग्धया । हेतुष्वपि दया । साऽपि स्नेहेन सम्बद्धा । नाऽस्मादन्यः कश्चिदुत्कर्षोऽस्ति भगवदीयानां भगवती । किञ्च । एतादृशमपि रूपं सर्वसौभाग्ययुक्तं भवति स्वापेक्षितसर्वविषयभूतम् । एतावता नाऽत्र विषयत्यागोऽप्यपेक्षितः । विषयरूपोऽपि स्वयमेव जात इति । तस्मादेतन्महदाश्चर्यमिति ।।८।।

व्याख्यार्थ—हम तो आपकी भक्ति से ही पूर्ण मनोरथ वाले हुये हैं । तिसपर भी आपने हमें दर्शन दिये हैं यह तो बहुत ही आश्चर्य है, यह बताने के लिये 'अहो' आश्चर्य वाचक अव्यय दिया गया है । अथवा हमने बहुत थोड़ी भक्ति की है तो भी आप हमें मिले यह बहुत बड़ा फल हुआ, यह आश्चर्य बताने के लिये 'अहो' अव्यय दिया गया है । आपने हमें सनाथ किया है, कारण कि 'जो नारायण में लगे रहते हैं वे किसी भी प्रकार का भय प्राप्त नहीं करते'' ऐसा श्रीमद् भागवत जा में कहा गया है । भगवान् में परायण जनों को किसी प्रकार की इच्छा नहीं होती, इसलिये नियंता की जरूरत नहीं होती । क्योंकि जो अपेक्षा वाला होता है वह अधिक ग्रहण करता है । उसकी सिद्धि के लिये नियंता की जरूरत होती है । परन्तु भगवान् में परायण रहने वाले भक्तों को इच्छा नहीं होती अतः ग्रहण करने के लिये उन्हें नियन्ता की भी अपेक्षा नहीं रहती । जो भगवान् का ग्रहण करते हैं वे तो भक्ति रस के स्वाद से ग्रहण करते हैं अर्थात् प्रभु की भक्ति कर्त्तव्य रूप है । जो नारायण में परायण होते हैं भगवान् स्वयं उनके लिये श्रम करके उनका पालन पोषण करते हैं, जिससे भक्त

सनाथ होते हैं। परन्तु यह वास्तविकता कोई आश्चर्य उत्पन्न करने वाली नहीं है। यहां तो थोड़ी भक्ति वाले होने पर भी सनाथ हुये, क्योंकि भगवान् स्वयं पधारकर प्रत्येक कार्य करते हैं, यह आश्चर्य है। वैसे तो दूसरा आश्चर्य प्रत्येक मनुष्य में प्रसिद्ध है कि भक्त के लिये भगवान् जो करते हैं वह गुप्त रीति से करते हैं, परन्तु यहाँ तो सब मनुष्यों के जानने में आवे, ऐसे साक्षात् कार्य करते हैं। उस प्रसिद्धि को बताने के लिये मूल में स्म अव्यय दिया गया है।

मात्र इतना ही नहीं,और भी विशेष आश्चर्य बताया जा रहा है कि भगवान् का साक्षात्कार प्रत्येक मनुष्य हर समय नहीं कर सकता हमें तो हमेशा उनके दर्शन होते हैं, यह विशेष आश्चर्य है।

जो सात्त्विक होते हैं वे भगवान् का साक्षात्कार करते हैं ऐसा कोई कहे, वहाँ समाधान करते हैं कि स्वर्ग में हुये अथवा वहाँ के रहने वालों को भी भगवान् का दर्शन दूर है, तो पृथ्वी पर रहने वालों को ऐसा कैसे ? जब कभी देवताओं पर कष्ट आया तो भगवान् ने कृपा करके उन्हें दर्शन दिये। उस स्थिति में भी भगवान् के इस रूप के दर्शन वे नहीं कर सके। इसी अभिप्राय से कहा गया है कि आपके मुख कमल में प्रेम से मन्दहास्य हो रहा है और उस मन्दहास्य से युक्त स्नेहमय आपका अवलोकन हो रहा है, ऐसे आपके स्वरूप का दर्शन हमें होता है।

गीताजी में भगवान् ने कहा कि "जिस रीति से मेरी शरण में आता है उसी प्रमाण से मै उसे भजता हूं।" उस आधार पर जो प्रेमी भक्त होता है उस पर भगवान् का भी प्रेम हो जाता है। जो ज्ञान से मुक्त हुये हैं उन्हें किसी समय में अपनी सेवा करवाने के लिये भगवान् भक्त बनाते हैं। उन ज्ञानी भक्तों को मानो भगवान् मोह उत्पन्न कर रहे हों, ऐसा मन्द हास्य करते हैं। अथवा भगवान् के रूप तथा गुण में मोह होता है अन्य वस्तु में मोह नहीं होता, इस हेतु उन्हें थोड़ा मोहित करते हैं; यह बताने के लिये अपने माया रूपी हास्य को मन्द बना लिया है,यों कहा गया है। उनकी इस मन्द हास्यता से दयालुता का निरूपण हुआ है। प्रेम और दया से प्रत्येक वस्तु स्नेह वाली हो जाती है। जितने भी आकार वाले पदार्थ हैं, तैल आदि उन्हें चिकना बना देते हैं। परन्तु जिनकी कोई बनावट नहीं है और जो आत्मा के साथ ही बँधे हुये हैं वे तो स्नेह तथा दया से ही चिकने किये जाते हैं। अतः भगवान् की

दृष्टि स्नेह तथा दया से स्निग्ध बनी हुई है ।

पहली बात तो यह है कि भगवान् के दर्शन ही बड़े दुर्लभ हैं तिसपर भी अपने ऊपर भगवान् की दृष्टि पड़े यह तो और भी कठिन है । अतः भगवान् की दृष्टि उस प्रकार के भक्तों को ग्रहण करती है । वे भक्त मानो भगवान् में ही प्रवेश हो गये हों, ऐसा लगता है । उसमें भी जो भक्त स्नेह की दृष्टि द्वारा ग्रहण किये गये हों वे प्रभु से कभी भी अलग नहीं होते । कारण कि जिसके ऊपर जिसका स्नेह हो वह उसे पृथक् नहीं होने देता । भगवान् की दृष्टि अपने पर पड़ना दया कहलाती है, वह स्नेह से बँधी हुई है । इसलिये जिन भगवदीयों पर भगवान् की स्नेह रूपी दृष्टि पड़ती है उस महानता का वर्णन जगत् में कहीं कोई नहीं कर सकता ।

सार बात यह है कि समस्त सौभाग्यों से भरपूर भगवान् का स्वरूप है । अतः अपने द्वारा चाही गई प्रत्येक वस्तु भगवान् का स्वरूप है । तात्पर्य यह हुआ कि किसी भी पदार्थ के त्याग करने की आवश्यकता नहीं है यहां भगवान् स्वयं भक्तों के लिये पदार्थ रूप बन गये हैं, यह सबसे बड़ा आश्चर्य है ।।८।।

आभास—स्त्रियः स्त्रीप्रधानाश्चाऽऽहुः । एता हि न भगवन्तं न वा गुणाञ्जानन्त्यपि तु स्वानुभवम् । तत्र वस्तुसामर्थ्याद्यज्जायते तदनुवदन्ति—

आभासार्थ—अब स्त्रियाँ तथा स्त्री प्रधान पुरुष कहते हैं । स्त्रियाँ न तो भगवान को ही जानती हैं और न उनके गुणों को ही, तो भी अपने अनुभव को बताती हैं । भगवान् का रूप अपनी सामर्थ्य से जैसा हो जाता है, उसका यहाँ वर्णन करती हैं—

श्लोक—**यर्ह्यम्बुजाक्षाऽपससार नो भवान् कुरून् मधून्वाऽथ सुहृद्दिदृक्षया ।**
तत्राऽब्दकोटिप्रतिमः क्षणो भवेद्रवेर्विनाऽक्ष्णामिव नस्तवाऽच्युत ।।९।।

श्लोकार्थ—हे कमल जैसे नेत्रों वाले भगवान्, जब आप कुरुदेश के सम्बन्धियों को तथा मधुदेश के सम्बन्धियों को स्नेह से देखने के लिये पधारते हो तब सूर्य के बिना नेत्रों के समान, हे अच्युत आपके दर्शनों से रहित हमारा एक एक क्षण करोड़ों वर्षों की तरह बीतता है ।।९।।

सुबोधिनी—**यर्ह्यम्बुजाक्षेति** । हे कमलनयन । दृष्टचैवाऽमृतं पाययतीति तथा सम्बोधनम् ।

नः अस्माननादृत्य किमेता म स्वरूपाविदोऽत्रस्तत्र गमिष्यामि यत्र मां जानन्तीत्यपससार । **भवानिति** । गमनसमयेऽपि वयं सम्मुखतया न दृष्टाः । **कुरून्** हस्तिनापुरदेशम् । **मधून्** मथुरादेशम् । **अथ** तत एव प्रक्रियान्तरेण भीष्मादिदर्शनार्थं कुरूनगम् । **तत्र** तस्मिन्समये एकः क्षणोऽब्दकोटिप्रतिमो भवेत् । यातनास्वेवं श्रूयते क्षणमध्ये वर्षसहस्रं कृत्वा भोजयन्तीति । तथवाऽस्माकमनुभवः । ननु सुखेऽपि श्रूयते क्षणमात्रेण कल्पभोग न् भुङ्क्त इति । तत्राऽऽह । **रवेर्विनाऽक्ष्णामिव** । विषयसंस्कारकत्वेन अधिष्ठातृत्वेन च यदा रवि प्रविशति तदा विषयग्रहणसमर्थं चक्षुर्भवति । तथाऽस्माकमन्तर्बहिश्चेद्भवांस्तिष्ठति तदा सर्वकार्यक्षमत्वम् । अयमर्थः । यथा योगिनः समाधौ प्रत्याहारेण चक्षुर्निमीलनं कृत्वा देवतां स्ववशे स्थापयित्वा तिष्ठन्ति । ततश्च बहुकोटिवर्षानन्तरमुन्मेषणनिमेषणकर्त्ता सूर्य उन्मेषणं करोति । एवं कोटिवर्ष एको निमेषो भवति । तथा त्वदीयानामस्माकं त्वन्निमित्तत्वादस्मदायुषस्त्वत्कार्याभावे एकोऽपि क्षणो नाऽपगच्छति । क्षणे क्षणे मूर्च्छिता भवाम इति । जीवनं तु **अच्युतेति** सम्बोधनात् । यथा त्वमच्युतस्तथा वयमप्यस्मिन्नंशे जाता इति द्योतितम् ॥६॥

व्याख्यार्थ—आप तो दृष्टि से ही अमृत का पान कराते हो, यह बताने के लिये, 'आप कमल नयन हो, ऐसा सम्बोधन दिया गया है। भगवान् यहाँ से क्यों पधार जाते हैं ? भगवान् सोचते हैं कि ये लोग मेरे स्वरूप को जानते नहीं हैं इसलिये यहाँ रहकर क्या करें ? जहाँ के लोग मेरे स्वरूप को जानते हैं, वहीं मुझे चलना चाहिये । ऐसा विचार करके ही भगवान् हमारी उपेक्षा करके यहाँ से बाहर पधार जाते हैं। जब वे यहाँ से पधारने लगते हैं और हम उनके सामने जाते हैं, उस समय भी वे हमें देखते तक नहीं ।

कुरुदेश हस्तिनापुर का प्रदेश है और मधुदेश मथुरा का प्रदेश है। जब किसी अन्य प्रक्रिया से आप भीष्म आदिकों से मिलने पधारते हो तब आपके वियोग में हमारा एक एक क्षण करोड़ों वर्षों के समान व्यतीत होता है। यम की यातना भोगने के प्रसंग में ऐसा सुना जाता है कि एकक्षण में वहाँ हजारों वर्षों का भोग भोग लिया जाता है। उसी प्रमाण से हमें भी अनुभव होता है। सुख की स्थिति में भी एक क्षण में हजारों वर्षों का भोग भोगा जाता है, एक कल्प का भोग भोग लिया जाता है, यह भी सुना है। उस प्रसंग में उदाहरण देते हैं कि सूर्य के बिना नेत्र देख नहीं सकते। जब देखे जाने वाले पदार्थ घट पट आदि के विषय में सूर्य आधिदैविक रूप से नेत्रों में प्रवेश करता है तब नेत्र उन पदार्थों को देख सकने में समर्थ होते हैं। उसी प्रकार से जब आप हमारे अंदर और बाहर विराजते हो तभी हम प्रत्येक कार्य करने में समर्थ बन पाते हैं। जिस प्रकार योगीजन समाधि में इन्द्रियों को जीतने के

लिये नेत्रों को बन्द करके नेत्रों के आधिदैविक देवता सूर्य को अपने वश में लेकर स्थित रहते हैं, उसके बाद करोड़ों वर्ष पीछे नेत्रों को खोलने व बन्द करने वाला सूर्य उनके नेत्रों को खोलता है। उनका वह एक करोड़ वर्ष एक निमेष बन जाता है। उसी प्रकार हमारे लिये आप हो। हमारा जीवन आपके लिये ही है। आपकी सेवा के अभाव में हमारा एक क्षण भी व्यतीत नहीं होता। क्षण क्षण में हमें मूर्च्छा आ जाती है। जिस प्रकार आप अच्युत होने से अपने स्वरूप से दूर नहीं जाते उसी प्रकार हमारा जीवन भी आप से अलग होकर कैसे रह सकता है? यह बताने के लिये ही मूल में 'अच्युत' सम्बोधन दिया गया है ॥९॥

आभास—एवं चतुर्विधानां वाक्यं भगवान् सत्यत्वेन समर्थयित्वा सत्यवाक्य-श्रवणं मङ्गलमनुभूय पुरं प्राविशदित्याह—

आभासार्थ—इस प्रकार चार प्रकार के पुरुषों द्वारा सत्य वचनों से समर्थन प्राप्त करते हुये तथा सत्य वाक्यों के श्रवण से मंगल का अनुभव करते हुये भगवान् ने नगर में प्रवेश किया, इस प्रकार का निरूपण किया जाता है—

श्लोक—**इति चोदीरिता वाचः प्रजानां भक्तवत्सलः ।**
शृण्वानोऽनुग्रहं दृष्टया वितन्वन्प्राविशत्पुरीम् ॥१०॥

श्लोकार्थ—इस प्रकार प्रजाजन से कही जाती हुई वाणी को सुनते हुये भक्त वत्सल श्री कृष्ण भगवान् दृष्टि द्वारा अनुग्रह को फैलाते हुये द्वारका पुरी में पधारे ॥१०॥

सुबोधिनी - इतीति । चकारादन्यान्यपि बहुविधानि । **प्रजानामिति** नात्र वचने दोषग्रहणम् । तदा भगवतो महती कृपोद्गदेति बोधयति—**भक्तवत्सल इति** । यथा गौर्वत्सं दृष्ट्वा व्याकुला भवति तथा भगवाञ्जात इत्यर्थः । **दृष्टयाऽनुग्रहं वितन्वन्** । तथा तासु दृष्टिः पतिता । भगवाञ्ज्ञानादिसम्पन्नो यथावत्तासां हृदये प्रविष्टः । येन सुखिता न किञ्चिदुक्तवत्यः । ततः **पुरीं** द्वारकां प्रकर्षेण महता सम्भ्रमेण अविशत् प्रविष्टवान् ॥१०॥

व्याख्यार्थ—मूल में 'चकार' होने से प्रजाजनों ने कई कई प्रकारों से अनेक-अनेक बचन प्रभु श्री कृष्ण की स्तुति में कहे हैं। प्रजा के सभी स्तर के व्यक्ति स्तुति करते हैं, भगवान् उनमें किसी भी प्रकार का दोष नहीं देखते। भगवान् की बहुत बड़ी कृपा हुई। यह बात सूचित करने के लिये मूल में 'भक्त वत्सल' शब्द आया है। यह

विशेषण भगवान् के लिये आया है। जिस प्रकार से गाय बछड़े को देखकर व्याकुल हो जाती है वैसे ही भगवान् भी अपनी प्रजा को देखकर व्याकुल हो गये हैं। अपनी दृष्टि के द्वारा प्रजा के ऊपर अनुग्रह का विस्तार करते हैं। भगवान् की कृपा मय दृष्टि प्रजा के प्रत्येक व्यक्ति पर पड़ी है। ज्ञानादिक से युक्त भगवान् सत्यरूप से अपनी प्रजा के हृदय में पैठ गये।

इससे प्रत्येक प्रजा सुख युक्त हो गई। इस स्थिति में वह कुछ भी बोल नहीं सकी। ऐसे वातावरण में महान् उत्सव के साथ भगवान् ने द्वारका में प्रवेश किया ॥१०॥

आभास—तां पुरीं वर्णयति पञ्चभिर्**मधुभोजेति** विद्या यथा तथा पुरीति विज्ञापयितुम्। **अधिष्ठाने वहिश्चोर्ध्वमन्तश्चाऽङ्गविभेदतः । सुन्दरं भगवद्योग्यं स्थानं नाऽन्यत्कथञ्चन** । तत्राऽधिष्ठातृन्वर्णयति—

आभासार्थ—पाँच श्लोकों द्वारा द्वारकापुरी का वर्णन किया जाता है। जिस प्रकार विद्या के पाँच पर्व हैं उसी प्रकार इस नगरी के कुल रूप पाँच पर्व हैं। यही बताने के लिये पाँच श्लोकों द्वारा इसका वर्णन किया गया है। रहने के स्थानों में बाहर ऊपर और अन्दर इन अंगों के भेद से दूसरा कोई भी सुन्दर स्थान भगवान् के योग्य नहीं उनमें रहने वालों का वर्णन किया जाता है—

श्लोक—**मधुभोजदशार्हार्हकुकुरान्धकवृष्णिभिः ।**
आत्मतुल्यबलैर्गुप्तां नागैर्भोगवतीमिव ॥११॥

श्लोकार्थ—मधु, भोज, दाशार्ह, कुकुर, अंधक, वृष्णि, ये सब प्रकार के यादव आत्मतुल्य बलवाले हैं। वे सब द्वारका पुरी की रक्षा इस प्रकार से करते हैं जैसे नाग भोगवती पुरी की रक्षा करते हैं ॥११॥

सुबोधिनी—मधुभोजेति । षड्विधा यादवाः मधवो भोजाः, दशार्हेष्वर्हाः,कुकुरा,अंधका, वृष्णयश्च । तैर्गुप्ताम् । सत्त्वरूपमन्तःकरणं यदा षडिन्द्रियैः संरक्ष्यते तदा भगवत्प्रवेशयोग्यं भवति । "**इन्द्रियैर्विषयाकृष्टैरि**"ति वाक्यात्तैरेव नाशश्रवणात् । पुरी च गृहभेदे नश्यति । **आत्मतुल्यबलैः** । यथा आत्मा देहस्तत्तुल्यं बलं येषाम् । आत्मा वायुर्वा । "**अहं मनुरभवं सूर्यश्चे**"ति सूक्ते अहंदेवताया वायुभेदत्वात् । मण्डलमध्यत्वादस्य सूक्तस्य । बल सेना वा । भगवत्तुल्य-

सेना: । सर्वाऽप्रवेशने दृष्टान्त:—**नागैरिति** । शरीरमिव वा । **नागै:** प्राणै: । **भोगवती** तनु: । प्राणायामैः संरक्षितां योगितनुं यथा भगवान्प्रविशति । भोगवती गङ्गाप्रवाहो वा । रक्षाऽभावे देवैरपि सा ह्रियेत ।।११।।

व्याख्यार्थ—मधु, भोज, दाशार्हों में योग्य कुकुर, अन्धक और वृष्णि ये छह प्रकार के यादव द्वारका में रहते हैं । उन यादवों से द्वारकापुरी की रक्षा हो रही है । सत्त्वगुण रूपी अन्तःकरण की रक्षा इन्द्रियों से होती है तब अन्तःकरण भगवान के प्रवेश करने योग्य होता है । क्योंकि "विषयों से आकर्षित की गई इन्द्रियों से फेंके गये मन को धारण करने वाली पुरुष की बुद्धि सत्ता को जल के समीप रहने वाला वृक्ष जिस प्रकार से खींच लेता है, उसी प्रकार बुद्धि उस विषयी मन को धारण कर लेती है ।" इस वाक्य से इन्द्रियों से ही नाश होना सुना जाता है । इसलिये जब इन्द्रियाँ अन्तःकरण की रक्षा करती हैं तभी अन्तःकरण भगवान् के प्रवेश योग्य बनता है । घर में ही मनुष्यों में परस्पर भेद हो जाय तो पुरी का नाश हो जाता है । अतः यहाँ छह प्रकार के यादव उस पुरी की रक्षा करते हैं, ऐसा कहा गया है ।

देह के अतिरिक्त केवल इन्द्रियों द्वारा सत्त्वयुक्त अन्तःकरण की रक्षा नहीं हो सकती । अतः कहा जा रहा है कि जिस प्रकार से यादवों के शरीर हैं उसी प्रमाण से रक्षा करने में भी वे समर्थ हैं । अन्तःकरण की रक्षा गुणों से होती है, इसलिये यहाँ देह की रक्षा उपयोगी नहीं, ऐसी शंका का उत्तर देते हैं कि आत्मा वायु है, उसके समान बल वाले प्रत्येक यादव हैं ।

"मैं ही मनु हुआ, मैं ही सूर्य हुआ", ऐसा वेदों में लिखा हुआ है । वहाँ 'अहं' देवता के वायु का भेद बताया है । बृहदारण्यक श्रुति में तो वायुपना सिद्ध होता नहीं परन्तु ऋग्वेद की संहिता के प्रमाण से वायुपना सिद्ध होता है । यहाँ इस प्रसंग में कमरे के अन्दर रहने वाला वायु कहना चाहिये । तब भी सत्त्वयुक्त अन्तःकरण की रक्षा नहीं होती । यह सूक्त मण्डल के मध्य का है, जिसमें यह श्रुति मिली है । मडल के दश भेद होने से पशु में दश प्राण हैं, ऐसा श्रुति में कहा गया हैं । वहाँ प्राणों के बराबर मंडल की संख्या होने से प्राणवायु के अर्थ का सूचन हुआ है । इसलिये आत्मा का अर्थ वायु से लिया गया है । अथवा आत्मा के बराबर सेना वाला प्रत्येक यादव है । जिस प्रकार से अन्तर्यामी अन्तःकरण को सद्मार्ग पर जाने की

प्रेरणा करते हैं तब अन्तःकरण सद्मार्ग पर जाने में प्रवृत्त होता है। तभी जाकर सन्मार्ग की रक्षा होती है। इसी प्रमाण से छह प्रकार के यादव द्वारका की रक्षा करते हैं। वे सब भगवान् की जितनी सेना वाले हैं। प्रत्येक यादव पुरी में प्रवेश करके रहते हैं।

यहाँ दृष्टान्त दिया जाता है कि जिस प्रकार नाग लोगों द्वारा भोगवती नगरी की रक्षा होती है उसी प्रकार यादवों द्वारा द्वारकापुरी की रक्षा होती है।

नाग शरीर में रहने वाले प्राण हैं उनसे जिस प्रकार भोग वाले शरीर की रक्षा होती है, उसी प्रकार प्राणायाम करने वाले योगी के शरीर की भगवान् रक्षा करते हैं। उसी प्रकार यादवों से रक्षा की गई द्वारकापुरी में भगवान् पधारे हैं।

अथवा पाताल में जो गंगाजी हैं उनका नाम भोगवती है। उन गंगाजी की रक्षा नाग करते हैं। यदि वे नाग रक्षा न करे तो भगवान् के चरण कमल का जल होने से उसे देवता ले जावें अतः नाग रक्षा करते हैं ॥११॥

आभास—एवमधिष्ठातृभिः सुरक्षितत्वमुक्त्वा बहिः शोभातिशयमाह—

आभासार्थ—इस प्रकार अधिष्ठाताओं से सब प्रकार से द्वारका की रक्षा की गई है, यह कहकर अब उसकी बाहरी शोभा का वर्णन किया जा रहा है—

श्लोक— **सर्वर्त्तु सर्वविभवपुण्यवृक्षलताश्रयैः।**
उद्यानोपवनारामैर्वृतां पद्माकरश्रियम् ॥१२॥

श्लोकार्थ—सब ऋतुओं में जहाँ प्रत्येक प्रकार के पुष्प आदि की सम्पत्तियां हैं, और जहाँ पुण्यकार्य में काम आने वाले वृक्षों तथा लताओं का समूह आश्रय लिये हुये हैं, ऐसे उद्यान तथा उपवन एवं आराम शोभित हैं। जिस द्वारका में चो तरफ विभिन्न कमलों से भरे हुये तालाब हैं, ऐसी उस नगरी में भगवान् पधारे ॥१२॥

सुबोधिनी—**सर्वर्त्विति**। सर्वेषु ऋतुषु सर्वे विभवाः पुष्पादिसम्पत्तयो येषाम्। एतादृशाश्च ते धर्मजनकाश्च। ते च ते वृक्षाः। लताश्च। तेषामाश्रयो येषु त उद्यानादयः। **उद्यानं** पुष्पप्रधानवाटिका। **उपवनं** फलप्रधानम्। **आरामाः** क्रीडास्थानानि। उद्यानान्युपवनान्यारामाश्च। तैः सर्वत आवृताम्। पद्माकराणां श्रियो यस्यां सा पद्माकरश्रीः ॥१२॥

व्याख्यार्थ—प्रत्येक ऋतु के प्रत्येक प्रकार के वैभव हैं। वृक्ष पुष्प और फलों के वैभव से लदे हुये हैं। वे वृक्ष धर्म को उत्पन्न करने वाले हैं तथा लताओं ने उनमें आश्रय ले रखा है। उनसे उद्यान, आराम और उपवनों की शोभा हो रही है। जिससे द्वारका पुरी की शोभा हो रही है। जहाँ अधिक पुष्पों वाले वृक्ष हों उसे उद्यान कहते हैं। जिस स्थान पर फलों को देने वाले वृक्ष अधिक हों उसे उपवन कहा जाता है। जिनमें क्रीड़ा करने के स्थान भी हों, उन्हें आराम अर्थात् बगोचा कहा जाता है। उन उद्यानों, उपवनों और बगीचों में तालाबों की सुन्दरता भी मन मोहती है। पद्मों से भरे हुये वे तालाब द्वारका की शोभा का अतिशय विस्तार करते हैं। ऐसी सुन्दर द्वारका में भगवान् पधारे ॥१२॥

आभास—उपरि शोभातिशयमाह—

आभासार्थ—अब ऊपर की शोभा का वर्णन करते हैं—

श्लोक—**गोपुरद्वारमार्गेषु कृतकौतुकतोरणाम् ।**
चित्रध्वजपताकाग्रैरन्तःप्रतिहतातपाम् ॥१३॥

श्लोकार्थ—नगर के महाद्वारों पर, घर-घर के दरवाजों पर प्रसन्नता प्रकट करने के लिये तोरण बाँधे गये हैं। जहां चित्र-विचित्र ध्वजा पताकाएँ अग्र भागों पर लगाई गई हैं जो अन्दर के ताप को दूर कर रही हैं ऐसी द्वारका नगरी में भगवान् की सवारी पधार रही है ॥१३॥

सुबोधिनी—**गोपुरेति**। पुरबहिर्द्वारं **गोपुरम्**। अन्यानि द्वाराणि। **मार्गा** हट्टमध्योपरिभागाः। तेषु कृतानि कौतुकतोरणानि यस्याम्। विचित्रा ध्वजाः पताकाश्च। गरुडादिचिह्निता ध्वजाः। जययन्त्राङ्किताः **पताकाः**। तेषामग्रैर्लम्बायमानविचित्रपटैरन्तःप्रतिहत आतपो यस्याम् मध्याह्ने ध्वजादेश्छायाजनकत्वादग्रैरित्युक्तम्। यद्यप्यन्तस्तापो निवार्यते। तथापि शोभा बहिरेव। फलांशेन तूत्तराङ्गम् ॥१३॥

व्याख्यार्थ—नगर का बाहरी द्वार गोपुर कहलाता है। इसके अतिरिक्त नगर के भीतरी दरवाजें हैं। मार्ग में स्थान-स्थान पर तोरण बांधे गये हैं। दरवाजों पर, बाजार के रास्तों पर बाहर की ओर ऊपरी भागों में ये तोरण सुन्दरता छिटका रहे हैं। जिनमें गरुड़ आदि के चिन्ह हों उन्हें ध्वजा कहते हैं। विजय पत्र जिनमें जड़े

हुये हों उन्हें पताका कहा जाता है । उनके अगले भागों में लम्बे किये गये विचित्र वस्त्रों द्वारा अन्दर का ताप दूर किया जा रहा है । दोपहर के समय में उन वस्त्रों की छाया मार्ग में पड़ती है, जिनसे अन्दर का ताप दूर हो रहा है । परन्तु उनकी शोभा बाहर की ओर हो रही है । ताप दूर हो गया है, यह फल का बाद वाला अंग है ॥ १३ ॥

आभास—अन्त: शोभामाह—

आभासार्थ—अब अन्दर की शोभा के विषय में वर्णन किया जा रहा है—

श्लोक—**सम्मार्जितमहामार्गरथ्यापणकचत्वराम् ।**
सिक्तां गन्धजलैरुप्तां फलपुष्पाक्षताङ्कुरैः ॥१४॥

श्लोकार्थ—नगर के बड़े मार्गों को स्वच्छ किया गया है । गलियों, बाजारों, चौराहों और प्रांगणों को सुगन्धित जलों से छिड़का गया है । फल पुष्प, अक्षत और ज्वारे आदि मांगलिक द्रव्य भगवान् के स्वागतार्थ उन पथों पर बिखेरे गये हैं । ऐसी अनूठी सजी धजी द्वारका में भगवान् पधारे ॥१४॥

सुबोधिनी **सम्मार्जितेति । महामार्गो** राजमार्गः । **रथ्या** अन्याः । **आपणकः** पण्यवीथी । **चत्वर**मङ्गणम् । एतानि सम्मार्जितानि यस्याम् । **गन्धजलैः सिक्ताम्** । सन्निधानात्पूर्वोक्तस्थानेषु अविशेषेण सर्वत्र वा । मङ्गलार्थं फलानि पुष्पाण्यक्षता यवाङ्कुराश्च तैरुप्ताम् । आम्रफलसहित-शाखा भूमौ निखाताः । तथा पुष्पगुच्छानि । तथा अक्षता ऊर्ध्वं निखाताः । तथैवाऽङ्कुराश्च । तत **उप्तामित्युक्तम्** ॥१४॥

व्याख्यार्थ—महामार्ग अर्थात् राजमार्ग, रथ्या अर्थात् गली, आपण याने दुकानें तथा इसी प्रकार प्रांगण ये सभी भली प्रकार से स्वच्छ किये गये हैं । सुगन्धी जलों से उनका छिड़काव हुआ है । नगर भर में समान रूप से यह सब शोभा साज हुआ है । मंगल के लिये फल, पुष्प, अक्षत, ज्वारे अवस्थित किये गये हैं । आंगनों में आम्र फलों से लदी शाखाएँ भूमि की ओर झुक रही हैं । इसी प्रकार पुष्पों के गुच्छे भी भूमि पर विकीर्ण किये गये हैं । अक्षत ऊपर की ओर से (भवनों से) फेंके गये हैं तथा ज्वारे ऊपर की ओर से ही बरसाये गये हैं । इन सभी मांगलिक पदार्थों से श्री प्रभु का स्वागत द्वारका नगरी में हो रहा है । इन सब युक्तताओं के कारण ही तो यहां 'उप्ताम्', यह विशेषण दिया गया है ॥१४॥

आभास—अङ्गालङ्कारमाह—

आभासार्थ—अब नगर के अंगों की अलंकृत छवि का वर्णन इस प्रकार करते हैं—

श्लोक—**द्वारि द्वारि गृहाणां च दध्यक्षतफलेक्षुभिः ।**
अलङ्कृतां पूर्णकुम्भैर्बलिभिर्धूपदीपकैः ।।१५।।

श्लोकार्थ—घर-घर, द्वार-द्वार पर दही, अक्षत, फल, ईख, पूर्ण कलश, भेंट-सामग्रियां, धूप-दीप से शृंगार की गई द्वारकापुरी में भगवान् कृष्ण पधार रहे हैं ।। १५ ।।

सुबोधिनी- **द्वारि द्वारीति** । चकारात्सभाहट्टनगरद्वारेष्वपि । गृहग्रहणं मार्गस्थादृष्टतया अलङ्काराभावशङ्कानिवृत्त्यर्थम् । दधि पात्रस्थम् । अक्षता राशीभूताः । फलानि च । अतो न पुनरुक्तिः । इक्षवश्चोभयतः स्थापिताः । तैः पूर्णकुम्भादिभिश्चाऽलङ्कृताम् । द्वारि द्वार्यलङ्कृतामित्यवयवालङ्कादेणाऽप्यलङ्कृतामिति बोधितम् । उत्सवार्थमेवं करणम् । सूर्यवत्सर्वत्र भगवत्तेजसो व्याप्तत्वाद्वा ।।१५।।

व्याख्यार्थ—मूल में 'चकार' लिखा हुआ होने से सभा, हाट, नगर द्वारों पर भी वैसी ही शोभा की गई है, ऐसा सूचित किया गया है । मार्ग में रहने वाले हों, अथवा आने-जाने वाले हों तो अन्दर की शोभा को नहीं देख सकते । अतः घरों की सजावट की गई है, अथवा नहीं इस शंका को दूर करने के लिये घर के द्वारों को शृंगारा गया है । वहां पात्रों में दही भरा है, चावल की फूलियों के डबरे भरे रखे हैं, उन पर फल भी स्थापित हैं । दरवाजों के दोनों ओर गन्नों के समुच्चय शोभित हैं । जल-कलश स्थापित किये गये हैं; इस तरह समस्त द्वार सजाये गये हैं । तात्पर्य यह हुआ कि द्वारका नगरी का प्रत्येक अवयव, अंग-अंग अलंकारों से दम-दमा रहा है । यह बोध हुआ ।

यह महामहोत्सव भगवान् के पदार्पण पर किया गया है। अथवा यों कहिये कि सूर्य के समान भगवान् कृष्ण का तेज ही सब ओर व्यापक बन कर छा रहा है ।१५।

आभास—अन्तस्थैरपि भगवानन्तर्नीत इति येषां दर्शनार्थं स्वयं गच्छेते पित्रादयः स्वयमागता इति सम्बन्धज्ञानापेक्षया भगवज्ज्ञानमेव तेषां बलिष्ठमिति प्रदर्शयन्नाह **निशम्येति** सार्द्धैस्त्रिभिः—

आभासार्थ—अति निकट के परिवार वाले जनों ने भी श्री कृष्ण को भगवत् रूप से हृदय में पधराया है। माता-पिता आदि स्वयं श्री कृष्ण को लिवाने आये हैं; पर इस सम्बन्ध से नहीं कि यह हमारा पुत्र है, प्रत्युत् ये साक्षात् प्रभु हैं, इस भाव की ही इस प्रसंग में बलिष्ठता है। अगले साढ़े तीन श्लोक 'निशम्येति' में इस भाव को प्रदर्शित करते हुये कहते हैं—

श्लोक—**निशम्य प्रेष्ठमायान्तं वसुदेवो महामनाः।**
अक्रूरश्चोग्रसेनश्च रामश्चाऽद्भुतविक्रमः ॥१६॥
प्रद्युम्नश्चारुदेष्णश्च साम्बो जाम्बवतीसुतः।
प्रहर्षवेगोच्छ्वसितशयनासनभोजनाः ॥१७॥
वारणेन्द्रं पुरस्कृत्य ब्राह्मणैः ससुमङ्गलैः।
शङ्खतूर्यनिनादेन ब्रह्मघोषेण चाऽऽदृताः।
प्रत्युज्जग्मू रथैर्हृष्टाः प्रणयागतसाध्वसाः ॥१८॥

श्लोकार्थ—हे ब्रह्मन्! हमारे प्रिय भगवान् पधारे हैं, ऐसा सुनकर उदार मन वाले वसुदेवजी, अक्रूर, उग्रसेन, अद्भुत पराक्रम वाले बलदेवजी, प्रद्युम्न, चारुदेष्ण, जाम्बवती के पुत्र साम्ब; ये सब अत्यधिक हर्ष के बढ़े हुये वेग से शयन आसन, और भोजन इत्यादि छोड़-छाड़कर, एक विशाल हाथी को आभूषणों से सजाकर आगे प्रस्थान कराते हुये, पीछे मंगलपाठ करने वाले ब्राह्मणों का वेदपाठ, पश्चात् शंख, तुरही की ध्वनियों से आदर प्रकट करते हुये, रथों में बैठकर स्नेह से अधीर बने हुये श्री कृष्ण के सामने आये ॥१६॥१७॥१८॥

सुबोधिनी—अत एव सम्बन्धिशब्दमनुक्त्वा **प्रेष्ठमित्युक्तम्**। मनसो महत्त्वं देहादिविस्मरण-पूर्वकभगवद्ग्रहणात्। उग्रसेनो राजा। भक्तेर्मुख्यत्वान्न लौकिकमहत्त्वं क्रमनियामकम्। सर्वत्र चकारस्तद्वर्गग्राहकः। ननु रामस्य कथमुद्गमनम्। जामात्रादिवधं कृत्वा भगवतः समागतत्वादित्याशङ्क्य—नाऽयं रामः प्राकृतः। भगवत इवाऽस्याऽप्यद्भुत एव पराक्रमः। कौरवेषु स्नेहं ख्यापयन्, गदायुद्धादिकमपि शिक्षयन्, तदिष्टमिव वदन्, दुर्योधनादीन्स्वयमेव मारितवानिति युद्धबोधनात्प्रतीकारादवगम्यते। लोकप्रतीतिस्त्वन्यथा तदुक्तमेवे याह—**अद्भुतविक्रम इति**। **जाम्बवतीसुत इति**। श्रीणामिवाऽलङ्करणमस्य प्रियमिति यत्र तादृशालङ्कारेण गच्छति तत्र व्यासस्तं तथा विशिनष्टि। **पिता सम्बन्धिनश्चैव पुत्राश्च परिकीर्तिताः**। भगवदागमनं श्रुत्वा यो हर्षो जातस्तस्य वेगेन जातेन महाप्रयत्नेनोच्छ्वसिताः श्वासवत्त्यक्ता गमनव्यतिरिक्ता अन्या अवस्थाः शयनासनभोजनादयस्तमस्सत्त्वरजोरूपा यैः। मङ्गलार्थं वारणेन्द्रं हस्तिश्रेष्ठं पुरस्कृत्य। सुमङ्ग-

तद्रव्यसहितैर्ब्राह्मणैरिति यथैतेषां तदेकमनस्त्वं तथा ब्राह्मणानामपीति विज्ञापितम् । भगवता सह सर्ववाद्यानां समागमनेऽपि तूरीशङ्खयोर्मङ्गलार्थं सम्मुखतया नयनम् । न तु स्वमहत्त्वख्यापकम् । मङ्गलघोषो वेदपाठः । चकारान्मङ्गलाष्टकादि । आहृताः पूर्वमेव सम्मुखतया गताः । रथयानैर्गमने हेतु प्रणयेनाऽऽगतसाध्वसाः । प्रणयेन आगतं साध्वसं भयादि येषाम् । लौकिकपदार्थसहितभगवत्स्मरणे हर्षः । पश्चात्केवलस्मरणे साध्वसमिति विवेकः ।।१६।।१७।।१८।।

व्याख्यार्थ—यही तो कारण है कि सम्बन्धी शब्द न कहकर मूल में 'प्रेष्ठ' शब्द का प्रयोग किया गया है । श्री वसुदेवजी को बड़े मन वाला इसीलिये कहा गया है कि भगवान् को ग्रहण करने के लिये जिनने देह सम्बन्धी ज्ञान को भुला दिया है । उग्रसेन तो राजा हैं फिर भी सामने आये हैं । भक्ति की मुख्यता होने से लौकिक बड़प्पन वाली बात यहाँ नहीं आई ।

लौकिक दृष्टि से उग्रसेन राजा होने से बड़े हैं परन्तु भक्ति की विशेषता होने से वसुदेव का नाम सबसे पहले लिया गया है । मूल में प्रत्येक स्थान पर 'च' कार का प्रयोग हुआ है, जिससे सबके अलग-अलग वर्ग सूचित हुये हैं ।

भगवान् तो बलदेवजी के जमाई इत्यादि को मारकर पधारे हैं तो फिर बलदेवजी किसलिये श्री कृष्ण के सामने पधार रहे हैं ? इस शंका का समाधान करते हुये कहते हैं, कि श्री बलदेवजी प्राकृत नहीं हैं, वरन् भगवान् के ही समान अद्भुत पराक्रम से युक्त हैं । कौरवों में उनका स्नेह प्रसिद्ध है । उन्हें गदायुद्ध आदि का शिक्षण स्वयं बलदेवजी ने ही प्रदान किया है, कौरवों के हित की बात भी वे कहते हैं; परन्तु सच बात तो यह है कि दुर्योधन आदि को आपने ही मारा है । यह बात इसी से सामने आ जाती है, कि बलदेवजी ने कौरवों को युद्ध का प्रशिक्षण तो दिया परन्तु महाभारत के युद्ध को बन्द करवाने में कोई प्रयास या उपाय नहीं किया । परन्तु लोक की समझ के अनुसार बलदेवजी कौरवों के पक्ष में थे । ऐसा होना ठीक ही है क्योंकि बलदेवजी अद्भुत पराक्रम वाले हैं ।

जाम्बवतीजी के पुत्र भी सामने आये हैं, ऐसा जो कहा गया है उसका अभिप्राय यह है, कि साम्ब को स्त्रियों जैसे आभूषण अच्छे लगते हैं, वे स्त्रियोचित वेशभूषा पहनकर पधारे हैं, अतः व्यासजी ने "जाम्बवतीजी के पुत्र" का विशेषण दिया है ।

पिता-सम्बन्धी और पुत्र सामने आये हैं । उन सबने "भगवान् पधार आये हैं" इतना सुनते ही बहुत हर्षित होकर, हर्ष के वेग से बहुत प्रयत्न पूर्वक छोड़े गये श्वास

के समान भगवान् के सामने जाने की गति के अतिरिक्त शयन, आसन और भोजन भी छोड़ दिये हैं।

सोना—यह तमोगुण की अवस्था है, बैठना—यह सत्त्वगुण की स्थिति है और भोजन करना—यह रजोगुण की प्रवृत्ति है। इन तीनों गुणों की अवस्था को छोड़कर, मंगलकारी एक उत्तम हाथी को आगे करके सारे मंगल द्रव्यों के साथ ब्राह्मणों को साथ लेकर स्वागत के लिये ये सभी कुटुम्ब वाले श्री कृष्ण के सम्मुख उपस्थित हुये। वसुदेवजी का मन भगवान् से जुड़ा हुआ है और उसी तरह ब्राह्मणों का मन भी भगवान् में लवलीन हो रहा है। भगवान् के साथ में कई-कई प्रकार के बाजे आ रहे हैं, परन्तु मंगल के समय बजाये जाने वाले शंख और तुरही को ही वे साथ लाये हैं, न कि बड़ापन दिखाने के लिये अन्य वाद्यों को।

वेदपाठ के द्वारा मंगल का उद्घोष हो रहा है। मूल में 'च' कार लिखा होने से मङ्गलाष्टक इत्यादि का पाठ भी हो रहा है। वे आदर से भरे हुये हैं, इसलिये पहले से ही सामने आ गये हैं। रथों पर बैठकर शीघ्रता से आ गये हैं। उसका कारण बताते हुये कहते हैं, कि उनमें स्नेह के कारण भय उत्पन्न हो गया। लौकिक पदार्थों के साथ भगवान् का स्मरण करने से हर्ष हुआ है और बाद में केवल भगवान् के महात्म्य का स्मरण करने से भय उत्पन्न हुआ है, यही विवेक है ॥१६॥१७॥१८॥

आभास—केवलवैषयिकसुखजनका अन्तर्बहिर्भेदेन ये जीवास्ते तु भगवन्तं प्रत्युज्जग्मुरित्याह—

आभासार्थ—अन्दर और बाहर के भेद से केवल विषय सुख को उत्पन्न करने वाले जीव भी भगवान् के सामने आये हैं; जिसका वर्णन इस प्रकार है—

श्लोक—**वारमुख्याश्च शतशो यानैस्तद्दर्शनोत्सुकाः ।**
लसत्कुण्डलनिर्भातकपोलवदनश्रियः॥१९॥

नटनर्तकगन्धर्वाः सूतमागधबन्दिनः ।
गायन्ति चोत्तमश्लोकचरितान्यद्भुतानि च ॥२०॥

श्लोकार्थ—शोभायमान कुण्डलों ने स्वच्छ कपोलों वाली मुख की शोभा से प्रकाशमान सैंकड़ों वेश्यायें उत्साह युक्त हुई, पालकियों में बैठकर भगवान् के दर्शन के लिये आई। नट, नर्तक, गन्धर्व, सूत मागध, बन्दोजन भगवान् के अद्भुद् पराक्रम का गायन करने में लगे हुये हैं ॥१९-२०॥

सुबोधिनी--**वारमुख्याश्चे ति**। वराणां समूहो वारम्। तदेव मुख्यं यासामिति। वेश्याः। चकारादन्या अपि प्रगल्भाः। तास्ववान्तरभेदोऽस्तीति ख्यापनाय **शतश** इत्युक्तम्। तासामपि यानानि। यानानां प्रयोजनमाह—**तद्दर्शनोत्सुका इति।** बाहुल्येन नरयानानि। स्वस्थानस्थितावपि दर्शनं सम्भवति। तथाऽप्युत्सुकतया गमनं पुरस्कारार्थम्। मङ्गलत्वख्यापनाय तासामलङ्कारवर्णनम्—**लसत्कुण्डलेति**। लसत्कुण्डलैः नितरां भाताः कपोलयुक्तवदनानां श्रियो यासाम्। **नटाः** शास्त्रानुसारनर्त्तकाः। **नर्त्तका** लौकिकाः। **गन्धर्वा** गायकाः। **सूताः** पौराणिकाः। **मागधा** वंशशंसकाः परिहाराः। **बन्दिनो** वैतालिकाः प्रस्तावसदृशोक्तयः। सर्वेऽपि गायन्तः। चकारात्स्मरन्तश्च। अद्भुतानां कथनं स्पष्टतया लोके वक्तुमयुक्तम्। तदपि गायन्त इति चकारार्थः ॥ १९ ॥ २० ॥

व्याख्यार्थ—जिन स्त्रियों के बहुत से वर हों, उन्हें वैश्या कहा जाता है। वे भी प्रभु के सन्मुख आई हैं। मूल में 'च' कार होने से अन्य चतुर स्त्रियाँ भी आई हुई हैं। उन में कई प्रकार के भेद हैं, यह कहने के लिये 'शतशः' शब्द दिया गया है। उन वेश्याओं के बैठने के लिये पालकियाँ थीं। भगवान् के दर्शनों के लिये वे बड़ी उतावली हो रही थीं। अतः दर्शनों की शीघ्रता से वे पालकियों में बैठकर आई हैं। अपने भवनों के झरोखों से भी दर्शन किये जा सकते थे, फिर आने का कारण क्या? कारण यह कि वे भगवान् के दर्शनों के लिये बहुत ही उत्साहित थीं, अतः समय की बाधा को सहन नहीं करती हुई प्रभु के सम्मानार्थ सामने आई।

उनके अलंकारों का वर्णन इस प्रयोजन से किया गया है कि वे मंगल कार्य में सम्मिलित हो रही हैं। कानों के कुण्डलों के प्रकाश से उन के गाल चम चमा रहे हैं। उस प्रकाश से उनके मुख की शोभा कई गुनी बढ़ गई है। ऐसी वेश्याएँ प्रभु के सन्मुख आई हैं।

वहाँ अनेक नट, नर्त्तक, गन्धर्व और बन्दीजन भी आये हैं। शास्त्रों की रीति से नाचने वाले नट कहलाते हैं। लोक परम्परा के अनुसार नाचने वाले नर्तक कहलाते हैं। जो केवल गाते ही हैं, नाचते नहीं वे गन्धर्व कहे जाते हैं। उसी प्रकार से सूत,

मागध और बन्दी जन भी आये हुये हैं। पुराणों का वाचन करने वाले सूत कहलाते हैं। वंश का बखान करने वालों को मागध कहा जाता है। उन्हें परिहार भी कहा जाता है। प्रस्तुत प्रसंग का अनुसरण करते हुये बोलने वालों को बन्दीजन के नाम से पुकारा जाता है। उन्हें वैतालिक भी कहा जाता है। वे सभी भगवान् के अद्भुद् चरित्र का गायन कर रहे हैं। मूल में 'च' कार होने से वे स्मरण करते हैं, ऐसा भी सूचित होता है। जो अद्भुद् चरित्र होते हैं उनका वर्णन स्पष्ट रूप से लोक में कहने का प्रचलन नहीं है, तो भी वे उन चरित्रों का वर्णन स्पष्ट रूप से गा रहे हैं। यही बताने के लिये मूल में 'च' दिया है। भगवान् उत्तम यश वाले हैं अतः उत्तम पुरुष ही उनके अद्भुद् चरित्रों का गान कर रहे हैं ॥१९-२०॥

आभास—लौकिकप्रभुवत्कृष्णे गतानां न पाक्षिकफलत्वम्। अपि तु सर्वे सफला इत्याह—

आभासार्थ—लौकिक स्वामियों (राजाओं) के पास जाने के समान, श्रीकृष्ण के पास जाने वालों को थोड़ा फल प्राप्त नहीं हुआ है, वरन् उन्हें जीवन का सर्वस्व ही फल रूप में मिल गया है, अतः वे सफल हो गये हैं।

श्लोक—**भगवांस्तत्र बन्धूनां पौराणामनुवर्तिनाम्**
यथाविध्युपसङ्गम्य सर्वेषां मानमादधे ।२१॥

श्लोकार्थ—भगवान् ने बन्धु रूप, प्रजारूप और सेवक रूप से अपने सामने आई हुई प्रजा द्वारा यथाविधि सम्मान को ग्रहण किया ॥२१॥

सुबोधिनी-भगवानिति। सर्वे हि समुदायेन त्रिविधाः। बान्धवाः पुरवासिनः सेवकाश्चेति। पुरवासित्वमविशिष्टमिति मध्ये वचनम् ॥२१॥

व्याख्यार्थ—भगवान् के सामने आई हुई प्रजा के तीन भेद हैं। कितने ही उनमें बान्धव हैं, कितने ही नगर निवासी हैं,तो कई सेवक हैं। सामान्यतया तो सब प्रजा है ही। अतः उन्हें मध्य में ग्रहण किया गया है। क्योंकि बान्धव, नागरिक और सेवक सब द्वारका में रहने वाले हैं। भगवान् ने उनके भावानुसार किये गये सम्मान को अङ्गीकार किया ॥२१॥

आभास—तेषाँ सम्मुखतया यथा गमनमुचितं तथा कृतवान्। तदाह—

आभासार्थ—जैसी कि भगवान् ने गीताजी में प्रतिज्ञा की है, कि "जो व्यक्ति मुझे जिस रूप से चाहता है मैं भी उसे उसी रूप में चाहता हूं।" अतः वहाँ जो जिस भाव से प्रभु के सामने सम्मान अर्पण कर रहा था, भगवान् भी उसे वैसा ही व्यवहार प्रदान कर रहे थे। इसी विषय में आगे वर्णन किया जा रहा है:—

श्लोक—**प्रह्वाभिवादनाश्लेषकरस्पर्शस्मितेक्षणैः।**
आश्वास्य चाऽऽश्वपाकेभ्यो वरैश्चाऽभिमतैर्विभुः ॥२२॥

श्लोकार्थ—नम्रता, नमस्कार, भेंटना, हस्तस्पर्श करना, हास्य सहित देखना और चाहे गये वरदानों को प्रदान करते हुये भगवान् ने चांडाल पर्यंत को आश्वासन दिया। इस प्रकार करते हुये भगवान् द्वारका में पधारे ॥२२॥

सुबोधिनी-प्रह्वेति। **प्रह्वो** नम्रीभावः पित्रादिषु। अभिवादनं ब्राह्मणेषु। आश्लेषो मित्रेषु। करस्पर्शो मुख्यसेवकेषु। स्मितेक्षणानि सर्वत्र। आश्वासनं स्वविरहखेदनिराकरणेन। चकारान्निवेदितदुःखनिराकरणेन। **श्वपाकाश्चाण्डालाः।** **वराः** साधनेनाऽप्राप्या विषयाः। चकारादन्येऽपि विषयाः। सर्वदाने हेतुः—**विभुरिति** ॥२२॥

व्याख्यार्थ—जो अत्यन्त नम्र हो उसे 'प्रह्व' कहते हैं। इस प्रकार भगवान् ने पिता आदि में नम्रता दिखाई है। ब्राह्मणों के लिये नमस्कार किया है। मित्रों से भुजा भरभर मिले हैं। मुख्य सेवकों के शिरों पर भगवान् ने अपना श्री हस्त पधराया है। इसके अतिरिक्त बाकी प्रजा पर मन्द हास्य वाली दृष्टि से अवलोकन किया है। प्रत्येक जन के द्वारा चाहे गये वरदानों को प्रदान करते हुये भगवान् ने उन्हें आश्वासन दिया है। इस प्रकार अपने विरह से उत्पन्न हुये कष्ट को दूर किया है। मूल में 'चकार' होने से जिनने भगवान् के सामने अपने दुःख का निवेदन किया है, भगवान् ने उसे भी दूर किया है। इस प्रकार चान्डाल पर्यंत प्रत्येक के दुःख का भगवान् ने निवारण किया है। यहाँ तक कि हरेक साधनों के करने के बाद भी जो विषय नहीं मिल सकते वे भी भगवान् ने प्रदान कर दिये हैं। इस प्रकार भगवान् ने उन्हें इच्छित वरदान दिये हैं। मूल में एक और 'च' कार भी है, जिसका तात्पर्य यह है कि इसके अतिरिक्त भी जिसने जो जो चाहा, प्रभु ने वह सब प्रदान किया। इन सब विषयों को प्रदान करने का कारण यह है कि प्रभु सर्व समर्थ हैं, सब कुछ दे सकने की सामर्थ्य उनके पास है ॥२२॥

आभास—ननु जीवेभ्यः कथं भगवान् विषयान्प्रच्छति ? तत्राऽऽह—

आभासार्थ—भगवान् जीवों को ये सब विषय क्यों देते हैं ? इस का समाधान करते हुये आगे कहते हैं—

श्लोक—**स्वयञ्च गुरुभिर्विप्रैः सदारैः स्थविरैरपि ।**
आशीर्भिर्युज्यमानोऽन्यैर्बन्धुभिश्चाऽविशत्पुरीम् ।।२३।।

श्लोकार्थ— स्त्रियों सहित गुरुओं, ब्राह्मणों, वृद्धों तथा अन्य बन्धुओं द्वारा दिये गये आशीर्वादों से युक्त होकर भगवान् श्री कृष्ण ने द्वारकापुरी में प्रवेश किया ।।२३।।

सुबोधिनी-स्वयञ्चेति । स्वयञ्च तैर्मानितः । स्वसम्माननार्थमेव तेभ्यः प्रयच्छतीनित भावः । गुरवो विप्रा अन्ये च । विप्राश्च गुरवः अन्ये च । **सदारैरिति** सर्वत्र विशेषणम् । स्थविरैरन्यैरपि वृद्धैः । आशीर्भिर्युज्यमानः । कर्तृकरणयोस्तृतीये । सन्तोषादभिनन्दनरूपा आशीरन्यैरपि बन्धुभिः कृतेत्याह । अथवा । नूतनतया सम्बद्धैः पुत्रश्वशुरादिभिर्युज्यमानः पुरमविशत् । अत्र क्रियैव सर्वोत्कृष्टेति न व्यावर्त्तकत्वेन निरूप्यते । केवल भक्तिप्रधानत्वाच्च स्तोत्रतत्त्वादिनिरूपणम् ।।२३।।

व्याख्यार्थ—भगवान् को सभी लोगों ने सम्मान दिया है अतः भगवान् द्वारा भी उन्हें कुछ प्रदान किया जाना चाहिये । भगवान् ने उन्हें कई प्रकार के पदार्थ प्रदान किये हैं । ये सब विषय भगवान् द्वारा प्रदान किये हुये होने से बन्धन को करने वाले नहीं हैं, अस्तु निर्दोष हैं । वहाँ ब्राह्मणों सहित अन्य दूसरे गुरु लोग हैं । बहुत से ब्राह्मण गुरु पद वाले भी हैं, बहुत से दूसरे भी हैं, ये सब स्त्रियों सहित आये हैं । इससे अतिरिक्त बहुत से वृद्ध जन भी हैं जिन ने भगवान् को आशीर्वाद प्रदान किया है । संतोष पूर्वक अभिनन्दन करना आशीर्वाद कहलाता है। इसी प्रकार अन्य बन्धुओं के प्रति भी कहा गया है । मूल में 'अन्य' शब्द का यह भी अर्थ है कि अपने पुत्रों के नवीन सम्बन्ध भी जुड़े हैं, अतः उन पुत्रों के श्वशुरों आदि सहित भगवान् पधारे हैं ।

यहाँ यदि यह शंका उत्पन्न हो कि पुर में पधारने वाली बात तो पहले ही बता दी गई है, अतः यहाँ तो यह कहा जाना चाहिये था कि पुर में पधारते हुये भगवान् को आशीर्वाद दिये गये और कितने ही बन्धुओं सहित भगवान् पधारे हैं, यह बात भी

बतलानी चाहिये थी । यह सब कुछ न बतलाकर, भगवान् पुर में पधारे, यही क्यों कहा गया ?

उसका समाधान करते हैं कि पहले तो आनर्त्त देश में पधारने की बात बतलाई गई है, बाद में पुर प्रवेश की बात कही गई है,अतः द्वारका में प्रवेश करने की स्थिति अधिक उत्तमता से वर्णित की गई है, यह बताने के लिये ही भगवान् द्वारकापुरी में पधारे, ऐसा कहा गया है । पुर में पधारने मात्र से ही सर्वोत्तमपने की सिद्धि हो गई तब तो स्तोत्र आदि किये जाने सब व्यर्थ हैं ? इस शंका का समाधान कहते हैं, कि उन स्तोत्रों में केवल भक्ति की ही प्रधानता है । वे स्तोत्र कहने वाले सब भक्ति से परिपूर्ण हैं, यह सूचित किया गया है ।।२३।।

आभास—मर्यादास्थितस्त्रीणां कृत्यमाह—

आभासार्थ—अब मर्यादा में रहने वाली स्त्रियों ने क्या किया ? यह बताया जा रहा है—

श्लोक—**राजमार्गं गते कृष्णे द्वारकायाः कुलस्त्रियः ।**
हर्म्याण्यारुरुहुर्विप्रास्तदीक्षणमहोत्सवाः ।।२४।।

श्लोकार्थ—हे ब्राह्मणों, भगवान् राजमार्ग पर पधार रहे हैं, अतः दर्शन करने वालों का यह एक बहुत बड़ा उत्सव है, इसलिये द्वारका की कुलांगनाएं भगवान् के दर्शनार्थ महलों के ऊपर चढ़ गई ।।२४।।

सुबोधिनी-राजमार्गमिति । स्त्रियोऽपि मार्गस्था भगवानपि मार्गस्थ इति दर्शनमुचितमिति भावः । **विप्रा इति** सम्बोधनं भगवता द्वारकायामपि सर्वे मार्गा रक्षिता इति ज्ञापयितुम् । तदीक्षणमेव महानुत्सवो यासाम् । अनेन सर्वाभरणभूषितत्वमन्यदर्शनकृतदोषाभावाश्च निरूपितः ।।२४।।

व्याख्यार्थ—स्त्रियाँ भी मार्ग में रहती हैं और भगवान् भी मार्ग से पधार रहे हैं इसलिये उनका दर्शन करना योग्य है ही । भगवान् ने द्वारका में भी सब मार्गों की रक्षा की है, यह बताने के लिये 'विप्राः' यह सम्बोधन दिया गया है । भगवान् के दर्शन करना यही जिनका सबसे बड़ा उत्सव है, ऐसी वहां की प्रत्येक कुल अंगना

है, ऐसा कहा गया है । इसलिये उन्होंने आभूषणों से स्वयं को शृंगारित किया है अन्य पुरुष को देखने का दोष उन स्त्रियों में नहीं है वे तो प्रभु के दर्शनार्थ ही भूषण भूषित होकर महलों की अटारियों पर चढ गई हैं, ऐसा सूचित किया गया है ।।२४।।

आभास—ननु दर्शनस्य कथमुत्सवत्वम् । नित्यत्वादित्याशङ्क्याऽऽह—

आभासार्थ—उत्सव उसे ही कहा जाता है जिससे अत्यधिक आनन्द की उत्पत्ति हो । यहां भगवान् के दर्शन को महान् उत्सव को संज्ञा किस आधार पर दी गई है? इसका विवेचन 'नित्य' आदि श्लोकों से दिया जा रहा है—

श्लोक—**नित्यं निरीक्षमाणानां यदपि द्वारकौकसाम् ।**
न वितृप्यन्ति हि दृशः श्रियो धामाङ्गमच्युतम् ।।२५।।

श्लोकार्थ—यद्यपि द्वारका के निवासी भगवान् के हमेशा दर्शन करते हैं, फिर भी लक्ष्मी के निवास रूप जिनके श्रीअंग हैं, ऐसे श्री अच्युत भगवान् के दर्शन करते हुये उन की दृष्टि कभी तृप्त नहीं होती, नहीं थकती ।।२५।।

सुबोधिनी–नित्यमिति । नित्योत्सवत्वाद्भगवतो न भगवद्दर्शनस्य धारावाहिकज्ञानत्वम् । प्रतिक्षणमलौकिकार्थबोधात् । पूर्वपूर्वदर्शनस्य रुच्युत्पादकत्वमेव । न विषयत्वम् । भगवतो विषयत्वाभावात । रुचिस्तु विषयसामर्थ्यात् । औषधवत् । अत एव न कदापि तृप्तिर्भगवद्दर्शने । दोषात्परमग्रहणम् । यथा महादोषे औषधमपि गृहीतुं न शक्यते । तत्र दृष्टेस्तेजस्त्वाद्विषयदोषेणैव दुष्टता । परमार्थनिर्णये धर्ममार्गे तु कर्त्तृधमसम्बन्धेऽपि । स च विषयदोषो द्वारकावासिनां नाऽस्तीत्याह–**द्वारकौकसामिति** । अनेनैव वा सर्वे दोषा निवारिताः । **"पराञ्चि खानि व्यतृणदि"** त्यौत्पत्तिकदोषो भगवद्दर्शनेन निवार्यते । अनन्यशक्यत्वात् । अन्ये तु द्वारकादिभिरिति निर्णयः । ननु भगवतो रसात्मकत्वादमृतौषधवत्कथं नोभयसाधकत्वम् ? तत्राऽऽह–**न वितृप्यन्तीति** विशेषेण न तृप्यन्ति । **हि** युक्तोऽयमर्थ । यदा हि दृश्यते भगवांस्तदा तृप्ता भवन्ति । द्वितीयक्षणे पूर्वक्षणस्थदर्शनेन रुचेरुत्पादितत्कात् । यद्यपि विषय एव रुचिमुत्पादयति तथापि ज्ञानद्वारेति ज्ञानप्राधान्यम् । ज्ञानन्तु विषयद्वारा तृप्तिं जनयतीति तृप्तौ विषयप्राधान्यम् । अतो विषयाज्ज्ञानं प्रबलमिति न विशेषेण तृप्यन्तीत्यर्थः । **दृश इति** स्त्रीबहुत्वनिर्देशादप्येकस्माद्भगवद्रूपादवितृप्तिः सूचिता । किञ्च । यदप्येकं रूपमनुभवयोग्यं तदपि **श्रियो धामाङ्गं** लक्ष्म्याः स्थानरूपमङ्गम् । अतस्तया सहितो नाऽन्यस्त्रीणां तृप्तिजनको भवति । किञ्च । स्वस्मिन् प्रविष्टे हि पुरुषे तृप्यन्ति स्त्रियः । तदत्र प्रकृते नाऽस्तीत्याह–**अच्युतमिति** । न विद्यते च्युतं यस्य । अतो विषयविचारेणाऽपि दृष्टीनां न तृप्तिसम्भावना ।।२५।।

व्याख्यार्थ—यहाँ मूल में, "भगवान् के दर्शन करते हुये दृष्टि तृप्त नहीं हुई," इसलिये उनका दर्शन उत्सव रूप है, ऐसा कहा गया है। भगवान् के अंग दृष्टि से स्वतन्त्र होते नहीं प्रतिक्षण अलौकिक लगते हैं, इसलिये दृष्टि तृप्त नहीं होती। जब कि द्वारका के रहने वालों को प्रभु के दर्शन नित्य होते हैं, तो भी उनकी आँखें भरती नहीं। कारण यह है कि उन के अंग लक्ष्मीजी के स्थान रूप हैं, इसलिये भगवान् तो नित्य उत्सव रूप हैं। क्षण क्षण में नये नये रूपों से दर्शन देते हैं, अतः आनन्द भी नये नये प्रकार का आता है। पहली बार दर्शन करने पर जो ज्ञान होता है, वह दूसरी बार दर्शन करने पर मिट जाता है। जिस प्रकार समुद्र की लहरें मध्य में उत्पन्न होती हुई, दूसरी लहरों को उत्पन्न करने का कारण बनती हैं तथा इस क्रम से किनारे तक पहुंच जाती हैं अथवा जल की धारा का प्रवाह चलता रहता है तथा उस प्रवाह को आगे की ओर बढ़ाते रहने में पिछला जल कारण रूप बनता है। उसी प्रकार भगवान् के दर्शन बार-बार करने पर हर बार नया पन लगता है। परन्तु अन्तर इतना सा है कि धारावाहिक ज्ञान के उदाहरण की तरह प्रभु के पहले वाले दर्शन दूसरी बार वाले दर्शन के कारण रूप नहीं बन सकते। क्योंकि भगवान् के दर्शन अलौकिक अर्थ का बोध देते हैं, अतः आनन्द तो होता है पर तृप्ति नहीं। पहला दर्शन दूसरे दर्शन के लिये रुचि उत्पन्न कर देता है। दर्शन करने के प्रसंग में पदार्थ या विषयपने की बात भगवान् में नहीं है। जिस तरह औषधि (दवा) रुचि उत्पन्न करने वाली होती है उसी तरह प्रभु के एक बार दर्शन हो जाने पर फिर सदा उससे मन भर ही नहीं सकता। यदि शरीर में दोष अधिक मात्रा में हो गया हो तो दवा भी कुछ लाभकारी नहीं हो सकती, उसी तरह भगवान् से विमुख रहने के कारण भक्ति का अभाव रूपी दोष उत्पन्न हो जाता है, अतः ऐसे लोग ही दर्शन के समय अनुभवहीन बने रह जाते हैं। परन्तु द्वारका वासियों में ऐसा कोई दोष या अभाव है ही नहीं अतः प्रभु दर्शन से उनका जी कभी नहीं भरता। उनकी दृष्टि में तेजपना है। सूर्य, नेत्र इन्द्रियाँ और रूप ये तेज से अलग नहीं है। इसीलिये भगवान् गीताजी में आज्ञा करते हैं, "कि प्रत्येक स्थल पर मेरा ही तेज है"। अतः जिस दृष्टि में भगवान् से सम्बन्ध वाला तेज होता है, वही दृष्टि भगवान् के दर्शन में प्रीति वाली होती है।

प्रत्येक दृष्टि ही तेजो रूप होने से बहिर्मुखियों की दृष्टि भी तेजो रूप मानना

चाहिये । परन्तु जिस प्रकार चान्डाल की अग्नि भी अग्नि ही है, पर उसका दुष्ट से सम्बन्ध होने के कारण वह वैदिक कार्यों में काम नहीं आती, उसी प्रकार दृष्टि का सम्बन्ध बाहरी चीजों के विचार से जुड़ जाने पर वह बहिर्मुखी कहलाती है और इस स्थिति में उस दृष्टि की रुचि भगवान् के दर्शनों में नहीं होती । धर्म के विचार में धर्म करने वाला जिस रीति से धर्म का सम्बन्ध मानता हो, उस रीति से धर्म प्राप्त होता है । उसी प्रकार बहिर्मुखी पुरुषों का भगवान् में साधारण पुरुष जैसा भ्रम होने से उनकी दृष्टि में दोष आ जाता है, वह दोष भरी दृष्टि भगवान् के दर्शन नहीं कर सकती । परन्तु यह दोष द्वारका वासियों में नहीं है, यह बताने के लिये कहा गया है कि वे द्वारका में ही रहते हैं ।

'द्वारका' शब्द का अर्थ ही यह होता है कि जो द्वार के विषय में बतलाने वाले हो । वह द्वारकापुरी भक्तिरूप साधन के विषय में बतलाती है । उसमें भी भगवान् के दर्शन कर लेना, यह तो भक्ति रूप ही होना है । ये सब साधन द्वारका में विद्यमान रहते हैं,वहाँ किसी भी प्रकार का दोष नहीं है,प्रत्येक दोष का निवारण हो चुका है । वेदों में कहा गया है, कि "भगवान् के दर्शन इन इन्द्रियों से नहीं हो सकते, क्योंकि ये इस तरह से बनाई गई है ही नहीं ।" ऐसी स्थिति में उनका दर्शन करने में सहज दोष आता है, परन्तु भगवान् उन दोषों को हटाकर अपने प्रत्यक्ष दर्शन उन्हें प्रदान करते हैं । इन्द्रियां भगवान् को ग्रहण नहीं कर सकतीं, इस दोष को भगवान् स्वयं दूर करते हैं, वह दोष दूर भी तभी हो सकता है, अन्य किसी भी साधन के द्वारा यह दोष दूर नहीं होता । यहां तो भगवान् ने प्रकट होकर उस दोष को मिटा दिया है ।

यहाँ कोई यह शंका करे, कि भगवान् तो रसात्मक हैं, वे अमृत रूप औषधि के द्वारा सब दोषों की निवृत्ति तथा तृप्ति ये दोनों कार्य कैसे नहीं कर सकते ?

इस शंका का समाधान करते हैं कि विशेष करके दृष्टि तृप्त नहीं होती, यही अभिप्राय योग्य है । क्योंकि जिन्हें दर्शन हो जाते हैं वे तृप्त भी हो जाते हैं । परन्तु दूसरे ही क्षण प्रथम किये हुये दर्शनों द्वारा रुचि उत्पन्न हो जाती है और इसी क्रम से अगले दर्शनों के लिये रुचि निरन्तर होती रहती है, इस कारण तृप्ति नहीं हो पाती । जिन स्थानों में पदार्थों के प्रति रुचि उत्पन्न होती हैं, वहां यही नियम होता

है। यहाँ भगवान् के दर्शन हो रहे हैं, इसलिये रुचि उत्पन्न हो रही है। दृष्टि के विषय रूप भगवान् ही रुचि उत्पन्न कर रहे हैं। उनके आनन्द को जानकर रुचि उत्पन्न हो रही है। यहाँ ज्ञान की मुख्यता कही गई है। विषय से ज्ञान प्रबल होने से तृप्ति नहीं हो रही।

मूल में 'दृशः' शब्द लिखकर दृष्टियों की अधिकता बताई गई है। भगवान् का एक ही स्वरूप होने से और दृष्टियों का अनेक होने से भी तृप्ति नहीं हो पाई। एक से अनेकों को तृप्ति नहीं हो सकती यह जनाया है।

भगवान् का एक रूप होने से वे अनुभव किये जा सकते हैं, परन्तु वे लक्ष्मी के स्थान रूप भी तो हैं। भगवान् लक्ष्मी के साथ हैं, इसलिये दृष्टि रूप अन्य स्त्रियों को तृप्ति नहीं दे रहे। पुरुष जब स्त्रियों में प्रवेश करे तब स्त्रियों को तृप्ति होती है। यह स्थिति भगवान् में है ही नहीं, क्योंकि वे अच्युत हैं। यदि भगवान् को दर्शन का विषय मानकर भी विचार किया जाय तो भी तृप्ति की कोई सम्भावना नहीं रह जाती ॥२५॥

आभास—नन्वङ्गान्तरदर्शनेन तृप्यन्ताम्। उरःस्थानमात्रं हि लक्ष्म्याः ? तत्राऽऽह—

आभासार्थ—लक्ष्मी का स्थान तो केवल वक्षःस्थल ही है, इसके अतिरिक्त दूसरे अंगों का दर्शन करके तो तृप्ति का अनुभव किया जा सकता है। ऐसी शंका का समाधान इस प्रकार किया जा रहा है—

श्लोक—**श्रियो निवासो यस्योरः पानपात्रं मुखं दृशाम्।**
बाहवो लोकपालानां सारङ्गाणां पदाम्बुजम् ॥२६॥

श्लोकार्थ—जिन भगवान् का वक्षःस्थल लक्ष्मीजी का निवास रूप है, जिन भगवान् का मुख, दृष्टियों का पान पात्र है, जिनकी भुजाओं में लोकपालों का निवास है और भक्तों के निवास हेतु चरण-कमल हैं ॥२६॥

सुबोधिनी—श्रियो निवास इति। कोऽपि भागस्तादृशो भगवति नास्ति यो लक्ष्म्यादिभिर्न परिगृहीतः तत्रोपरिभागो लक्ष्म्यैव गृहीतः स्थानदर्शनाभ्याम्। तदाह। श्रियो निवासो यस्योरः वक्षस्थलम्। तस्या एव दृशां भगवन्मुखं पानपात्रम्। लक्ष्म्याः स्वरूपे निविष्टत्वाद्भिन्नतया

स्थित्यभावाद्भोक्तृत्वाभावाल्लक्ष्मीनयनाभ्यां निर्गता दृष्टय एव भोक्त्र्यो जाताः। तासां करणा-पेक्षायां यत्रैव लावण्यामृतं तिष्ठति तदेव करणम्। तत्र मुखस्य पानपात्रत्वं श्रुतिसिद्धम्। **"अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुन्धमि"**ति श्रुतेः। पात्रपदप्रयोगाद्विहितत्वम्। बहूनामेकपात्रत्वात्ता-सामेव तृप्तिर्दुर्लभा कुतोऽन्यासामिति भावः तर्ह्यङ्गान्तरे दृष्टिर्निवेश्यतामित्याशङ्क्याऽऽह। सन्ति बाहव आङ्गिनयोग्याः। परमन्यैः पुरुषैराक्रान्ताः। न च ते दूरीकर्तुं शक्याः। बहुत्वात्। पुरुषत्वाच्च। एका स्त्री यत्र निवारयितुमशक्या स्थानद्वयमाक्रम्य तिष्ठिति तत्र लोकपालाः कथं शक्याः। आवश्यकाश्च ते। लोकपालत्वात्। तर्हि ततोऽप्यवर्गिवयवेषु दृष्टिः पातनीयेत्या शङ्क्याऽऽह–**सारङ्गाणामिति**। मध्ये येऽवयवास्ते वस्त्रादिभिरेव वेष्टिता दर्शनयोग्या न भवन्ति। अतः परमवशिष्यते चरणद्वयम्। तत्राप्येकश्चरण उपरिगतो ब्रह्मादिभिरेव गृहीतो लोकस्थि-त्यर्थं तत्रैव स्थियो गङ्गया च गृहीतो ब्रह्माण्डबिले तिष्ठति। अन्यथा जलेन ब्रह्माण्डपूरणेन सर्वनाशः स्यात्। अथाऽवशिष्यत एकश्चरणः। स च बहुभिराक्रान्तः। सारं गच्छन्तीति सारङ्गाः सदाचाराः कर्मनिष्ठाः। पुनश्च–सरतीति सरः। तस्य समूहः सारम्। रससमूहमिति यावत्। अक्षरव्यत्यासेन वा। ते कर्मफलार्थिनो विषयिणो योगिनो वा। पुनः सारं गच्छन्ति जानन्तीति सारङ्गा ज्ञानिनः। पुनः–सार गायन्तीति सारङ्गा भक्ताः पुनः—अरसहितं सुदर्शनसहितं सारं भगवन्तं सुदर्शनं वा कालेन भीताः सन्तो गच्छन्ति गायन्ति वा ते सारङ्गाः सात्वताः। सर्वेषा-मेकशेषः। समानरूपत्वात्। एवं बहवो बहुविधाः। तेषां पदाम्बुजमेकमाश्रयः। पदत्वादेव ते ततो न गच्छन्ति। समुदायत्वया च त एव रसं जानन्ति। अम्बुजत्वात्सर्व एव रसार्थिनः। तस्माद्दृष्टीनां स्वतत्रस्थानाभावादतृप्तिर्युक्तेत्यर्थः ॥ २६ ॥

व्याख्यार्थ—भगवान् का कोई भी भाग ऐसा नहीं बचा जो लक्ष्मीजी आदि द्वारा ग्रहण किया हुआ न हो। लक्ष्मीजी ने स्वयं की स्थिति से और दृष्टि से ऊपर के अंग भागों को ग्रहण कर रखा है। लक्ष्मीजी का निवास रूप भगवान् का वक्षः स्थल है और उन्हीं की दृष्टि से पान किये जाने का पात्र भगवान् का मुखारविन्द है। लक्ष्मीजी भगवान् के स्वरूप में ही विराजते हैं.अतः उनकी स्थिति अलग न होने से उनका भोगपना भी नहीं है। इसलिये लक्ष्मीजी के नेत्रों से निकलने वाली दृष्टि के द्वारा ही वे भगवान् को भोगने वाली हुई हैं। उन के भोगे जाने में साधन की अपेक्षा होनो चाहिए, तो वहाँ लावण्य रूपी अमृत रहता है, वही दृष्टि द्वारा भोगने का साधन है। मुख का पान पात्र होना, श्रुतियों में सिद्ध किया गया है। उसमें पात्र शब्द का प्रयोग किया गया है। दृष्टियाँ तो अनेक हैं और पीने का पात्र एक मुखारविन्द ही है, जिससे लक्ष्मीजी को भी तृप्ति होना बड़ा कठिन हो गया हैं, तो दूसरों को कैसे तृप्ति हो सकती है ?

तो दूसरे अंगों में दृष्टि को जोड़ लेना चाहिये, ऐसा कोई कहै तो उसके समा-धान में कहते हैं, कि भगवान् के श्री हस्तु आलिंगन करने योग्य हैं। दृष्टि द्वारा

उनका आलिंगन भली प्रकार से किया जा सकता है। पर उन भुजाओं को भी तो दूसरे पुरुषों ने आक्रान्त कर रखा है। अतः वहाँ तक दृष्टि चली जावे, यही कठिन कार्य है। वे पुरुष संख्या में बहुत होने से हटाये भी नहीं जा सकते।

जहां एक स्त्री (लक्ष्मीजी) को ही नहीं हटाया जा सकता, जिसने केवल दो ही स्थानों को दबा रखा है तो लोकपालों को कैसे हटाया जा सकता है? लोकों का पालन करने के लिये वे आवश्यक रूप अनिवार्य हैं।

जब ऐसा भी नहीं, वैसा भी नहीं तो नीचे वाले अंगों से ही अपनी दृष्टि तृप्त कीजिये। ऐसी शंका करके उसका समाधान देते हैं, कि मध्य में जो अंग हैं, वे वस्त्र आदि से ढंके हुये हैं, इसलिये उनके दर्शन नहीं हो सकते। अब बच रहते हैं केवल दो चरणों के दर्शन। उसमें भी त्रिविक्रम (वामन) भगवान् ने बलि राजा के पास से तीन लोक लेने के लिये त्रिलोकी को नापा था तब एक चरण ऊपर के लोक में चला गया था, वह ब्रह्मा आदि ने ग्रहण कर लिया। वह चरण उस लोक की स्थिति बनाये रखने के लिये वहां ही रहा। वह गङ्गाजी के द्वारा ग्रहण किया हुआ होने के कारण ब्रह्माण्ड के छिद्र में रहता है। यदि वह चरण छिद्र की आड़ में न रहे तो गङ्गा के जल से ब्रह्माण्ड भर जाने और सर्वनाश हो जाय।

अब मात्र एक ही चरण बच रहा, जिसे बहुत से लोकों ने आक्रान्त कर लिया। वह चरण सारङ्ग का स्थान रूप हुआ। सारङ्ग का तात्पर्य सदाचार वाले तथा कर्म निष्ठ जनों से लिया जाना चाहिये। सर अर्थात् चलने वाला, और चलने वाले समूह को 'सार' कहा जाता है। रस के समूह को सार कहा जाता है। उस रस के समूह को पान करने वाले कर्म फल की इच्छा करने वाले विषयी पुरुष तथा योगियों से समझना चाहिये। जो सार को जान लेता है वह सारङ्ग कहलाता है, इस व्याख्या के अनुसार 'सारङ्ग' का अर्थ भक्त हुआ। इसी प्रकार 'सर' सुदर्शन चक्र का भी नाम है। उससे युक्त होने के कारण भगवान् सार कहलाते हैं। जो आरों से युक्त हो उसे सार कहते हैं, इस प्रकार सुदर्शन चक्र अर्थ हुआ। वह चक्र काल रूप है। काल के भय से जो जाते हैं अथवा उसका गान करते हैं उन्हें सारङ्ग कहते हैं। ये सब समान भाव वाले होने से इन सब का एक प्रतिनिधि अर्थ ही शेष रह जाता है। यों तो सारङ्ग के अनेक अर्थ हैं। परन्तु उन सब का आश्रय रूप रूप एक ही चरण कमल

है। वह चरण कमल उन ज्ञानियों, योगियों, कर्म निष्ठों, भक्तों का स्थान है, अतः वे उसे छोड़कर अन्य स्थान पर नहीं जाते। 'सारंग' शब्द का सामूहिक अर्थ करने पर भ्रमर अर्थ भी होता है। कमल में रहने वाले मकरंद को तो भँवरा ही जान सकता है। इसलिये ऊपर कहे गये प्रत्येक अर्थ को भ्रमर में मानकर उसका तात्पर्य समझना चाहिये। अतः भक्त गण चरण कमल के रस की इच्छा वाले हैं। उन भक्तों की दृष्टियों को स्वतन्त्र स्थान न मिलने से, उन की तृप्ति का न हो सकना, यह योग्य ही है ॥२६॥

आभास—एवं सामान्यतः पुरीं तत्स्थान् भक्तांश्च निरूप्य भगवान् कथं विशेषतया न वर्णित इत्याकाँक्षायामुपमानाभावादित्युक्ते भक्तानां बुद्धयाऽभूतोपमया वर्णनीय इति सिद्धान्तं वक्तुमाह—

आभासार्थ—इस प्रकार साधारणपने से द्वारकापुरी तथा उसमें रहने वाले भक्तों का निरूपण करके भगवान् का वर्णन विशेषता पूर्वक क्यों नहीं किया गया? ऐसी जिज्ञासा होने पर समाधान देते हैं कि उपमान वस्तु नहीं होने से ऐसा वर्णन किया गया। उपमान के अभाव में भी भक्तों की बुद्धि द्वारा तो अभूत पूर्व उपमाओं द्वारा वर्णन किया जाता है, इस सिद्धान्त को बताने के लिये आगे कहते हैं—

श्लोक—**सितातपत्रव्यजनैरुपस्कृतः प्रसूनवर्षैरभिवर्षितः पथि ।**
पिशङ्गवासा वनमालया बभौ घनो यथाऽर्कोडुपचापवैद्युतैः ॥२७॥

श्लोकार्थ—भगवान् पर श्वेत-छत्र छाया किये हुये हैं, दोनों ओर से चमर ढुराये जा रहे हैं, मार्ग में पुष्पों की बरसात सी हो रही है। भगवान् श्री कृष्ण पीले वस्त्र धारण किये हुये हैं। वन माला धारण किये हुये आप अतिशय सुशोभित लग रहे हैं इस सारे सौन्दर्य का एकत्रित रूप ऐसा लगता है मानो श्री कृष्ण, सूर्य, चन्द्रमा, बिजली, इन्द्रधनुष से युक्त मेघ हों ॥२७॥

सुबोधिनी सितातपत्रेति। सितातपत्रं च व्यजने च सितातपत्रव्यजनानि प्रसूनवर्षैः सर्वतः प्रवृत्तैः। प्रसूनभेदात्पुरुषभेदाद्वा बहुवचनम्। पीताम्बरं नित्यमपि रूपवद् वर्णनायां हेतुत्वेन निरूप्यते। वनमालया उपलक्षितः सहितो वा। एवं सर्वसामग्र्यां सत्यां वनमालयैव बभाविति वा। यथा मध्ये नीलो मेघो भवति। उपरि सूर्यः। परितो द्वौ चन्द्रौ लोलौ। स्थिरा विद्युत् कटितटे। इन्द्रधनुर्द्वयमुभयतो मिलितम्। तदा भगवानिव भवेदित्यभूतोपमा ॥ २७॥

व्याख्यार्थ—ऊपर श्वेत छत्र है, दोनों बाजुओं पर चमरों से पवन किया जा रहा है, चारों ओर से पुष्पों की वृष्टियां हो रही हैं। पीताम्बर धारण किये हुये तथा वनमाला पहिने हुये भगवान् श्रीकृष्ण बहुत ही लुभावने लग रहे हैं। पुष्प अनेक जातियों के हैं अथवा वृष्टि करने वाले बहुत होने से पुष्प की वृष्टि में बहुवचन लिखा है। पीताम्बर नित्य है तदपि रूप वाले पदार्थ के रूप में बताया गया है। उस में कारण रूप से पीताम्बर का वर्णन किया गया है। वन माला से युक्त हैं। सभी शोभनीय सामग्रियों के होने पर भी वनमाला से ही भगवान् अधिक रूप से शोभित हैं। जैसे कोई नीले रंग वाला मेघ, जिसके ऊपर की ओर सूर्य हो, दोनों ओर चंचल चन्द्रमा हों, मध्य भाग में बिजली को जड़ दिया हो, दोनों ओर से दो इन्द्र धनुष आकर मिल गये हों, ऐसी अद्भुत् शोभा से युक्त हो तो भगवान् श्रीकृष्ण की शोभा से समानता करे। यहाँ भगवान् श्रीकृष्ण को अद्भुद् उपमाओं से मण्डित किया गया है। जो बात कभी घटित हुई हो न हो और उसे कवि सत्य के द्वारा घटित कर दिया जावे उसे अभूत उपमा या अद्भुद् उपमा अलंकार शास्त्रों में कहा गया है ॥२७॥

आभास—एवं वर्णनां समाप्य सम्बन्धिनां स्नेहातिशयमाह—

आभासार्थ—इस वर्णन की समाप्ति के बाद सम्बन्धियों के बढ़े हुये स्नेह का चित्रण किया जा रहा है—

श्लोक—**प्रविष्टस्तु गृहं पित्रोः परिष्वक्तः स्वमातृभिः।**
ववन्दे शिरसा सप्त देवकीप्रमुखास्तदा ॥२८॥

श्लोकार्थ—अपने माता-पिता के घर में प्रवेश करते हुये भगवान् को माताओं ने स्नेह से लिपटाया। उस समय भगवान् ने मस्तक नवाकर देवकीजी सहित सात माताओं को वन्दना की ॥२८॥

सुबोधिनी—प्रविष्ट इति। तुशब्दः पूर्ववर्णनां व्यावर्तयति। **पित्रोरिति।** मातृत्वेन सर्वा मातर एकाः। अपृथग्धर्मशीलत्वात्। सर्वासां पितुश्चैकं गृहम्। भेदे कारणाभावाच्च। प्रवेशमात्रेणैव भगवत्क्रियातः पूर्वं ता एव परिष्वङ्गादिकं कृतवत्य इत्याह—**परिष्वक्त इति।** "**ये यथा मां प्रपद्यन्त**" इति वाक्यान्मातृः प्रति बालक एव प्रतिभाति। भगवद्धर्मापेक्षया लौकिकधर्मस्य बहिरङ्गत्वान्नमस्कारापेक्षया परिष्वङ्गः प्रथमः। **स्वमातृभिरिति** पितुरपि मातरः सन्ति। अतः स्वमा-

तृभिरित्युक्तम् । सप्त देवकीभगिन्य: । एकादशाऽपरा: । एकजातासु कन्यासु एकस्मै वराय बहूनां दानमपृथग्धर्मशीलत्वेनैव वरस्य । कन्यानां च तदैव पत्नीत्वम् । अन्यथा नाऽर्द्धत्वम् । **"यास्ते शीलमनुव्रता"** इति वाक्यात् । अयमेव हेतु: पतिबहुत्वेऽपि । अत एव देवकीप्रमुखा: सप्त एकस्वभावान्मातर इत्युच्यन्ते । एकदा सर्वा ववन्दे । **शिरसेति** भगवद्धर्मत्वम् शब्देन सर्वासां सकृद्वन्दनं सम्भवति न तु कायिकम् । अत: शिरसा । **तदेति** भगवद्धर्मप्राकट्याय ।।२८।।

व्याख्यार्थ—मूल में 'तु' शब्द है जो पहले वाले वर्णन की समाप्ति पर दूसरे वर्णन के प्रारंभ करने हेतु प्रयोग में लिया जाता है। माता-पिता को एक साथ बताने वाला शब्द 'पित्रो:' द्विवचन में आया है; इसलिये मातापने से प्रत्येक माता के लिये मान लिया गया है । कारण यह कि माताओं के स्वभाव और धर्म इत्यादि समान हैं । अत: माताओं का और पिता वसुदेवजी का एक ही घर है । अलग घर बनाने का कोई कारण नहीं । कारण यह कि स्त्रियों के धर्म और स्वभाव में अलगाव हो तो ही अलग-अलग घरों की आवश्यकता होती है, वह स्थिति तो यहाँ है नहीं, अस्तु एक ही घर है ।

भगवान् ने उस घर में प्रवेश किया । वहाँ भगवान् द्वारा कुछ किये जाने से पहले ही माताओं आदि ने उठकर उन्हें अपनी स्नेहमयी भुजाओं में लिपटा लिया । गीताजी में कहा गया है, "जो मुझे जिस रूप में समझना चाहता है मै भी उसकी समझ में उसी प्रकार से आ जाता हूं ।" भगवान् अपनी माताओं के लिये तो बालक ही हैं । भगवत् धर्म की अपेक्षा लौकिक व्यवहार के कारण माताओं ने भगवान् को नमस्कार करके पहले आलिंगन किया । वहाँ पिताओं की भी माताएँ हैं अत: अपनी माताओं ने आलिंगन किया, ऐसा कहा गया । वसुदेवजी के अठारह स्त्रियाँ थीं । उन में सात तो देवकी सहित सब बहिनें थीं और ग्यारह अन्य पत्नियाँ थीं । सगी बहिनों को एक ही वर के लिये दे देना प्राय: देखा गया है । वर और कन्या के स्वभाव में एकता हो तो ऐसा कर दिया जाता है तब उनका पत्नी होना सिद्ध हो जाता है । यदि ऐसा न हो तो उन्हें केवल भार्यापद मिलता है, जिनका कि भरण पोषण ही किया जाता है । यहाँ देवकी जी आदि सात माताओं को एक ही स्वभाव वाला बताया गया है । भगवान् ने एक ही बार में सब माताओं की वन्दना की है । मस्तक से सबकी वन्दना की है, यह भगवद् धर्म सिद्ध किया है । कारण यह कि शब्द से तो सभी को एक ही बार में प्रणाम किया जा सकता है, पर शरीर द्वारा सातों माताओं का एक साथ वन्दन किया जा सकना संभव नहीं । श्रीकृष्ण ने स्वयं के भगवान् होने

की कार्य प्रणाली को प्रकट करते हुये एक ही बार में सबकी वन्दना की। भगवद्धर्म को सूचित करने के लिये ही मूल में 'तदा' अव्यय दिया गया है ॥२८॥

आभास—नमस्कारानन्तरं भगवति बालत्वमेव प्रकटमिति बालकपुत्रे यत्कर्तव्यं तच्चक्रुरित्याह—

आभासार्थ—नमस्कार करने के बाद भगवान् में बालकपना प्रकट हुआ। अब बालक पुत्र पर माताओं का जो भाव जागा, उस मनोदशा का वर्णन इस प्रकार कहा गया है—

श्लोक—**ताः पुत्रमङ्कमारोप्य स्नेहस्नुतपयोधराः।**
हर्षविह्वलितात्मानः सिषिचुर्नेत्रजैर्जलैः ॥२९॥

श्लोकार्थ—स्नेह से स्तनों से दूध झराती, हर्ष से विह्वल आत्मावाली उन माताओं ने श्री कृष्ण को गोदी में बिठलाकर स्नेह के आँसुओं से सींचा ॥२९॥

सुबोधिनी—**ता इति**। सर्वा एव पुत्रमङ्कमारोप्य बालकस्नेहस्नुतपयोधरा जाताः। न तु तस्य पयसः कश्चन विनियोगो जातः। भगवतो महत्त्वं प्रौढत्वं जानन्त्योऽपि हर्षेण विह्वलितात्मानः। पूर्वसंस्कारस्य दृढत्वात्। नेत्रजैर्जलैः शिखाः सिषिचु ॥२९॥

व्याख्यार्थ—सभी माताएँ श्रीकृष्ण को गोद में पधराकर स्नेहवश स्तनों से दूध बहाने लगीं। उस दूध का कोई उपयोग तो था नहीं केवल यह जानकर कि भगवान् बड़े हुये फिर प्रौढ भी हो गये, वे विह्वल अन्तः करण वाली हो गईं। भगवान् के बचपन का जो संस्कार उनके हृदयों में जमा हुआ था वह आज की स्थिति में भी उतना ही सुदृढ़ था। प्रत्येक माता नेत्रों से निकलते हुये हर्ष के जल से भगवान् कृष्ण के मस्तक को सींचने लगी ॥२९॥

आभास—भार्याणामवस्थामाह—

आभासार्थ—अब भार्याओं की मनः स्थितियों का वर्णन किया जा रहा है—

श्लोक—**अथाऽविशत्स्वभवनं सर्वकाममनुत्तमम्।**
प्रासादा यत्र पत्नीनां सहस्राणि च षोडश ॥३०॥

पत्न्यः पतिं प्रोष्य गृहानुपागतं
विलोक्य सञ्जातमनोमहोत्सवाः ।
उत्तस्थुराराात्सहसाऽऽसनाशया-
त्साकं व्रतैर्व्रीडितलोचनाननाः ।।३१।।

श्लोकार्थ—समस्त प्रकार के भोग्य पदार्थों से भरपूर अर्थात् समस्त कामनाओं को पूर्ण करने वाले अपने उस राज भवन में भगवान् श्रीकृष्ण ने प्रवेश किया; जिसमें पत्नियों के रहने के लिये सोलह हजार प्रासाद निर्मित थे ।।३०।।

विदेश में रहकर घर पर पधारे हुये पति के दर्शन करके जिनके मनों में महान् महोत्सव हुआ है । पति की परदेश गमन वाली स्थिति में जिनने किसी भी प्रकार के अलंकार को धारण न करने का व्रत ले रखा है, वे पहले तो एकदम आसन के ऊपर खड़ी हो गई और तब लजीले नयनों से युक्त मुख वाली हो गई ।।३१।।

सुबोधिनी—अथेति एकस्मिन्नेव भवने विश्वकर्मणा षोडशसहस्त्रं प्रासादाः कृताः स्वचातुरीख्यापनार्थम् । अत एवाऽनुत्तमम । न विद्यते उत्तमं यस्मात् । सर्वे कामा यस्मिन् । सर्वकामनापूरकपदार्थसद्भावो यस्मिन्वा । यथा मातृषु पुत्रत्वेन स्वयं प्रविष्टस्तथा पत्नीष्वपि प्रविष्टः पतित्वेन। न प्रभुत्वेन । अतस्तासां साधारणपतित्वेन कृत्य युक्तम् । दूरादागच्छन्तं पतिं विलोक्य सम्यक जातो मनसि महानुत्सवो यासाम् । **आरात्** दूरादेवोत्तस्थुः । **सहसेति** न सावधानभूताः । यथैव स्थितास्तथैवोत्तस्थुः । देह आत्मा च आसने चिन्तायां निमग्नौ स्थितौ । तदिदानीं द्विरूपा आसनादाशयादप्युत्तस्थुः । परं व्रतानि स्थितान्येव । विशेषालङ्काररहितत्वादिति भावः । अत एव व्रीडया मुकुलितानि लोचनाननानि यासाम् ।।३० ।३१।।

व्याख्यार्थ—एक ही भवन में विश्वकर्मा ने चतुराई प्रसिद्ध करने के लिये सोलह हजार महलों को बनाया । उस भवन की तुलना में दूसरा कोई उत्तम स्थान नहीं था । समस्त इच्छा पूर्तियाँ जिसमें व्यवस्थित हैं । सब प्रकार की कामनाओं को पूरा करने वाले पदार्थ जिसमें रखे हुये हैं, ऐसे भवन में श्रीकृष्ण ने प्रवेश किया ।

जिस प्रकार माताओं में भगवान् ने पुत्र पने से प्रवेश किया उसी प्रकार अपनी स्त्रियों में पतिपने से प्रवेश किया, न कि प्रभुपने से । अतः उनका पति के व्यवहार रूप से साधारणतया जो काय हुआ, वह ठीक ही हुआ । दूर से पति को पधारे हुये देखकर जिनके मन में महान उत्सव हुआ । इस प्रकार प्रत्येक स्त्री पहले तो जो

जिस स्थिति में थी दूर से ही खड़ी हो गई है। जब तक वे सावधान नहीं हुई थीं, उनका देह और आत्मा, आसन और चित्त में मग्न थे। हमारे भगवान् पधार आये हैं तो आसन और अन्त:करण में से उनके देह और आत्मा एकदम बाहर निकल आये। परन्तु उन्होंने विशेष अलंकार धारण नहीं कर रखे थे। क्योंकि पति के बाहर होने पर स्त्री को गहनें नहीं पहनने चाहियें, ऐसे व्रत का पालन वे कर रही थीं। तभी सुना कि कृष्ण पधार आये तो शरीर की मलिनता दूर करने का तथा गहने पहनने का समय ही नहीं मिला अत: लज्जा से उनकी आखें मुँद सी गई और मुख नीचे की ओर झुक गये ॥३०॥३१॥

आभास—ताभिः कृतां भगवत्पूजामाह—

आभासार्थ—उनके द्वारा की गई भगवान् की पूजा का वर्णन इस प्रकार किया जा रहा है—

श्लोक—**तमात्मजैर्दृष्टिभिरन्तरात्मना दुरन्तभावाः परिरेभिरे पतिम् ।**
निरुद्धमप्यास्रवदम्बु नेत्रयोर्विलज्जतीनां भृगुवर्य विक्लवात् ॥३२॥

श्लोकार्थ—जिनके भावों का पार नहीं पाया जा सकता ऐसी उन पत्नियों ने घर पर पधारे हुये पति भगवान् का पुत्रों द्वारा, दृष्टि द्वारा और अन्तरात्मा द्वारा परिरम्भण किया (आलिंगन किया)। हे शौनक ! उन लज्जित होती हुई स्त्रियों के नेत्रों में ठहरे हुये आँसू, आनन्द की विकलता से ढुलक पड़े ॥३२॥

सुबोधिनी–तमात्मजैरिति। तमागच्छन्तमेव। ताः सर्वा युगपदेव कायेन मनसा चाऽऽलिङ्गनं कृतवत्यः। तत्र प्रकारभेदमाह—**आत्मजैर्दृष्टिभिरन्तरात्मनेति**। पुत्रान् हस्ते प्रयच्छन्त्य इव निकटसम्बद्धाः कायेन परिरेभिरे। तथा–**दृष्टिभिः**। दृष्टिं दृष्ट्या योजयन्त्यः परिरम्भणभावोग्दिरणेन अलसवलितादिभिः परिरेभिरे। **अन्तरात्मना**। भगवति प्रविष्टेन मनसा च परिरेभिरे। तासां परिरम्भण एव मनोरथः समाप्तः। न बाह्यं कृत्यं कृतवत्यः। तत्र हेतुः—**दुरन्तभावा इति**। दुष्टः अन्तो यस्य। भावस्त्वान्तरः। तस्मिन्हि समाप्ते बहिः क्रिया भवति। स च पानापनोदनावधिः। अतो वैक्लव्यात्मानापनोदनात्पूर्वमेवाऽश्रु समागतम्। तन्मानवतीभिर्निरुद्धमप्यास्रवदीषत्सुस्राव। ननु मानवतीनामेतदनुचितम्। तत्राऽऽह। **हे भृगुवर्य**। भगवन्माहात्म्यादित्युक्तं भवति। प्रत्युत तासामेव वैक्लव्यं जातम् ॥३२॥

व्याख्यार्थ—जिस समय भगवान् पधारे उस समय में प्रत्येक स्त्री एक बारगो

ही उठ खड़ी हुई। वे शरीर तथा मन से भगवान् को भेंटने लगीं। उनके इस भेंटने के प्रकार को बताया जा रहा है। अपने छोटे छोटे पुत्रों को भगवान् के हाथ में अर्पण कर रही हैं। इस प्रकार पुत्रों के द्वारा मिल रही हैं। समीप में आकर शरीर से भगवान् को भेंट रही हैं तथा कई भगवान् की दृष्टि से दृष्टि मिलाकर आलिगन का भाव प्रकट कर रही हैं। इस प्रकार के माध्यमों से वे चेष्टाओं द्वारा भगवान् से परिरम्भण करती हैं। कई भगवान् में मन को प्रवेश कराकर आलिगन करती हैं। उनका मनोरथ आलिगन करने में ही समाप्त हो गया है। उन्होंने बाहरी कृत्य कुछ भी नहीं किया है। उनके अन्तःकरण के भावों की थाह नहीं पाई जा सकती। क्योंकि भाव आन्तरिक (भीतरी) क्रिया है। उसकी समाप्ति पर ही बाहर की क्रिया प्रकट होती है। भगवान् बहुत समय बाद पधारे हैं, अतः उन स्त्रियों ने मन में मान धारण कर रखा है। यह मान भगवान् जब तक दूर न करें, तब तक रहने की स्थिति में है। यहाँ बड़ा ही अनूठापन हुआ है कि मान की निवृत्ति होने से पहले ही नेत्रों में से आसूं बरस पड़े। उन मानवतो स्त्रियों ने यद्यपि आँसुओं को रोक रखा है परन्तु रोके जाने पर भो वे कुछ कुछ ढुलक पड़े हैं।

मानवती स्त्रियों के नेत्रों से आँसुओं का निकल पड़ना योग्य नहीं है, ऐसी बात यदि शौनकजी के मन में आवे तो उसका निराकरण दिया जा रहा है, कि आप भृगुकुल में उत्पन्न हुये हो। इस सम्बोधन द्वारा उनके वंश के महत्त्व को बताया है। भृगु ऋषि ने भगवान् के माहात्म्य का अनुभव किया था और उस वंश में हे शौनक जी आप उत्तम हो। अतः आप को भी उनके माहात्म्य का ज्ञान है। उनके माहात्म्य से ही मानवती स्त्रियों के नेत्रों से जल निकलने लगा। उन स्त्रियों को तो मान रखना चाहिये था पर इसके बजाय उनमें व्याकुलता भर गई॥३२॥

आभास—एवं तासामतिभावं भगवति निरूप्याऽऽश्चर्यमिति शङ्कायां हेतुमाह—

आभासार्थ—भगवान् के प्रति उन स्त्रियों का भाव इतनी अधिक मात्रा में बढ़ा हुआ है, यह निरूपण करने के बाद, जो भगवान् के साथ हमेशा रहते हैं, उनमें भी इस भाव के बढ़े रहने का आश्चर्य है, अब इस शंका का निराकरण करते हुये आगे कहते हैं—

श्लोक—**यद्यप्यसौ पार्श्वगतो रहोगतस्तथापि तस्याऽङ्घ्रियुगं नवं नवम् ।**
पदे पदे का विरमेत तत्पदाच्चलाऽपि यच्छ्रीर्न जहाति कर्हिचित् ।।३३।।

श्लोकार्थ—यद्यपि भगवान् उनकी बाजू में ही रहते हैं, उनके साथ एकांत का सेवन करते हैं तथापि श्रीकृष्ण के दोनों चरण कमल नये नये लगते हैं । क्षण क्षण में उनके चरण कमलों से भला कौन विराम को प्राप्त हो । चंचल होते हुए भी लक्ष्मीजी जिनके चरण कमलों का त्याग कभी भी नहीं करती हैं ।।३३।।

सुबोधिनी—यद्यप्यसाविति । यद्यपि रोदनमनुचितम् । वस्तुनोऽलाभे तद्भवति । स च पार्श्वगतः । तत्राप्येकान्ते । भावनानुसारेणैव भगवता कृतत्वात् । तथापि तस्याऽङ्घ्रियुगं नूतनम् । तासां हि मनोरथश्चरणद्वयं हृदये स्थाप्यमिति । स चात्यन्तं रसाविर्भावे बन्धादिभिर्जाते कर्तुं शक्यः । प्रथमं च भक्त्या धर्मेण वा लोकतो वा चरणक्षालने कृते संवाहने च कृते पूर्वोक्तो भवति । ततश्च भगवतश्चरणारविन्दस्य नित्यनूतनत्वात्प्रथमक्रिययैव जन्मसमाप्तिः । अतो रोदनमुचितमित्याह । **पदे पदे** क्षणे क्षणे प्रतिपदं वा नूतनादपि नूतनमेव । अतः का वा स्त्री मनोरथपूर्त्यभावात्सकृदपि विरता भवेत् । अथवा । तत्पदाद्भक्तिविषयात्प्रथमसेवातो विरता भवेत् । तदा ह्यग्रिममनोरथारम्भः । अतो रोदनमुचितमिति भावः । अत्रार्थे निदर्शनमाह — **चलाऽपीति** । वस्तुतः श्रीश्चला । तथाप्येकस्मिन् कार्ये समाप्तेऽन्यत्र गच्छेत् । तद्भगवत्येकमपि कार्यं न समाप्नोति । नित्यनूतनत्वात् । अतो भगवन्तं कदाचिदपि न जहाति ।।३३ ।

व्याख्यार्थ—मानवती स्त्रियों को रोना उचित नहीं है । मनुष्य को वस्तु न मिलने पर ही रोना उचित है । परन्तु भगवान् तो सदैव पास में ही विराजते हैं और वह भी एकान्त में, अतः उनका रोना ठीक नहीं है । इन सब स्थितियों के बावजूद भी भगवान् के चरण कमल नये नये हैं । जिनकी जैसी भावना है भगवान् ने उसे वैसे ही बर्तने के लिये कहा है । भगवान् के दोनों चरण कमलों को हृदय में पधराना चाहिये, ऐसा उनका अभिप्राय है । संसर्ग की स्थिति में ही अत्यन्त रस की उत्पत्ति हो सकती है, तभी वह मनोरथ पूरा हो सकता है । पहले तो भक्ति द्वारा, धर्म द्वारा और लोक द्वारा चरणारविन्द का प्रक्षालन करे और इसके बाद चरणारविन्द की सेवा करे तब कहीं जाकर पहले वाला मनोरथ सिद्ध हो । परन्तु भगवान् के चरणारविन्द तो सदैव नवीन हैं । इसलिये चरण कमलों की सेवा रूप क्रिया करे । वैसा करते करते अपने जन्म की समाप्ति हो जाय । कारण कि चरणारविन्दों के नित्य नवीन होने से एक चरण की सेवा के बाद दूसरा चरण नवीन हो गया । फिर उसकी सेवा करने के बाद तीसरा नवीन हो गया । इस प्रकार चरणारविन्द

बार-बार नया रूप धारण करते हैं और वे उनकी सेवा करते जाते हैं, इस तरह सेवा करते करते ही उनका जन्म समाप्त हो जाता है। अतः अपना मनोरथ सिद्ध करने का समय ही नहीं आता, इस प्रकार उनका रोना ठीक ही है। इसे और अधिक स्पष्ट करते हुये कहते हैं कि क्षण क्षण में नवीन होते हुये इन चरण कमलों की सेवा करते करते भला कोई स्त्री थक सकती है ?

मनोरथ के पूर्ण न होने पर भी कोई भी, किसी भी समय विराम को प्राप्त नहीं होती। अथवा भगवान् के चरण कमल भक्ति रूप होने से, भक्ति के विषय रूप उन चरणों की पहले से की जा रही सेवा ज्यों ही रुकने को होती है त्यों ही अगला मनोरथ प्रारंभ हो जाता है। इस तरह किसी प्रकार का विराम न पाने से आगे का मनोरथ सफल नहीं होता अतः इस बात के लिये रोना ठीक ही है।

इस विषय पर दृष्टान्त दिया जाता है कि लक्ष्मीजी चलायमान हैं, तो भी भगवान् को छोड़ती नहीं। जब एक जगह का काम पूरा हो तभी दूसरी जगह जाया जा सकता है, परन्तु प्रभु के चरण कमल हमेशा नवीन होने से, चरण कमल के सेवा रूप कार्य से ही लक्ष्मीजी नहीं निमट पाती, इसलिये वे भगवान् को किसी भी समय नहीं छोड़ती ॥३३॥

आभास—यथैवम्प्रकारेण लक्ष्मीमन्याश्च भार्या अपरिसमाप्तकार्या एव स्थापयति। ताश्च न जानन्ति। एवमेव भूभारहरणार्थं प्रवृत्तो भगवानेकक्रिययैव मध्येऽसमाप्तया कार्यं समापितवानित्याह—

आभासार्थ—ऊपर बताये गये प्रकार से लक्ष्मीजी का तथा दूसरी स्त्रियों का कार्य पूरा न हो सकने की स्थिति में भगवान् ने उन्हें रख छोड़ा है। परन्तु वे स्त्रियाँ यह नहीं जानतीं, कि भगवान् ने स्वयं को भी अपूर्ण कार्य वाला ही बना रखा है। पृथ्वी का भार हटाने के काम में लगे हुये भगवान् ने एक ही क्रिया द्वारा अधूरे कार्य को समाप्त कर दिया, यह आगे बताया जा रहा है—

श्लोक—**एवं नृपाणां क्षितिभारजन्मनामक्षौहिणीभिः परिवृत्ततेजसाम्।**
विधाय वैरं श्वसनो यथाऽनलं मिथो वधेनोपरतो निरायुधः ॥३४॥

श्लोकार्थ—अक्षौहिणी सेनाओं से बढ़े हुये तेज वाले भूमि के भार रूप राजाओं को आपस में लड़ाकर वैसे ही मार दिया जैसे बांसों में आग लग जाने पर जंगल नष्ट हो जाता है। जिन भगवान् का जन्म भूमि का बोझ हटाने के लिये ही हुआ है, वे इस प्रकार आयुध रहित होकर शाँत हो गये ॥३४॥

सुबोधिनी-एवं नृपाणामिति। यथा स्त्रियः स्वयमेव तिष्ठन्ति क्षणान्तरकार्यार्थं न प्रार्थ्यन्ते। एवं भूभारहरणे प्रथमकार्ये समारब्धेऽन्तिमपर्यन्तं तदेवाऽनुवर्त्तते। यथा प्रथममग्निसम्बन्धे सर्वदाहपर्यन्तं स्वयमेवाऽनुवर्तते। एवमयमद्भुतकर्मा न लोकसदृशः। भूभारार्थं जन्म येषाम्। स्वतः कार्यं भूभारजननम्। तत्राऽप्यक्षौहिणीभिः अक्षौहिणीसङ्ख्यासेनाभिः परिवृत्तं द्विगुणीभूतं तेजो येषाम्। तत्र भगवत्कार्यमाह। **विधाय वैरम्।** मिथो वैरं विधाय। तस्य वैरस्य सामर्थ्यमाह— **श्वसनो यथाऽनलमिति।** वायुर्निमित्तम्। अग्निरेव दाहकः। **स तु** वंशघर्षणेन जातः सर्वं **दहति।** तथाऽयमपि मिथो वधेन सम्पन्नेनोपरतः। मिथो वधं कृत्वोपरत इत्यर्थः। जीवत्सु तेषु नोपरमेदिति भावः। **निरायुध इति।** निर्गतान्यायुधानि यस्य। तस्य ह्यन्योन्यमेवाऽऽयुधम्। अग्नेरिन्धनमिव ॥३४॥

व्याख्यार्थ-जिस प्रकार स्त्रियाँ जब एक कार्य में लगी रहती हैं, तो दूसरे क्षण उन से कार्य करने की प्रार्थना नहीं करनी पड़ती, वे स्वयं कार्य में लगी रहती हैं, उसी प्रकार पृथ्वी का भार उतारने के लिए उन्होंने प्रथम कार्य का प्रारम्भ किया और उसके पूरे न हो जाने तक अन्तिम रूप से उसी में जुटे रहे। जिस प्रकार पहले आग का सम्बन्ध हो जाने पर सब को जलाता हुआ अग्नि तब तक जलाने के कार्य में लगा रहता है, जब तक सब जलकर खाक न हो जाय। ये भगवान् अद्भुत कर्म करने वाले हैं, अतः स्वयं उस कर्म में लगे हुए हैं, परन्तु संसार के दूसरे लोगों की तरह ऊपर से काम करते हुए नहीं लगते।

पृथ्वी पर बोझा बनने के लिए ही जिन राजाओं ने जन्म लिया है या यों कहें कि पृथ्वी पर किसी भी प्रकार से भार उत्पन्न करना ही जिन का कार्य है और अक्षौहिणी सेनाओं से घिरे रहने के कारण जिनका तेज और भी अधिक मात्रा में अथवा दुगने रूप में बढ़ा हुआ है। ऐसे भार रूप और बढ़े हुए तेज से युक्त राजाओं के बीच में भगवान् का क्या कार्य है? इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि भगवान् ने उन भार रूप राजाओं में परस्पर शत्रुता की भावना पैदा कर दी। वह वैर कोई साधारण वैर नहीं था, उसका सामर्थ्य अग्नि की दाहक शक्ति के समान था। आग जब जलाने का काम प्रारम्भ करती है तो हवा केवल निमित्त रूप से उसमें सहायक

होती हैं, बाकी तो जलाने का वास्तविक कार्य अग्नि का ही। वह बाँसों की आपस की रगड़ से ही पैदा होती है और उस बांस के जंगल को ही जला डालती है। इस प्रकार भगवान् ने भी उनमें फूट डालकर आपस में लड़ा लड़ा कर मार दिया। जब तक पृथ्वी के भार रूप राजा जीवित रहे तब तक भगवान् को विश्राम नहीं मिला। अग्नि के लिए जिस प्रकार लकड़ियां आयुध रूप हैं। इस प्रकार युद्ध में एक राजा दूसरे राजा को मारने के लिए भगवान् का हथियार रूप था। जब प्रत्येक राजा मर गया तो भगवान् बिना आयुध वाले हो गये। प्रत्येक का संहार करने वाले भगवान् अद्भुत पराक्रम वाले हैं, उनका सब काम समाप्त हुआ ।।३४।।

आभास–एवं सर्वसंहर्त्ता भगवान्महानयमद्भुतकर्मा। तस्य सर्वं कार्यं समाप्तम्। अतः परं भक्तोद्धारकभागवताधिकारिदेहनिष्पादनमवशिष्यते। तदुत्तरत्र वक्ष्यते। मध्ये तस्य विरुद्धधर्माश्रयत्वं वक्तुं शृङ्गारक्रीडामाह—

आभासार्थ—इस प्रकार अद्भुद् कर्म करने वाले भगवान् सबको मारने वाले हैं। इससे सम्बन्ध रखने वाला सब कार्य भगवान् ने समाप्त कर दिया है। इसके बाद भक्तों का उद्धार करने वाले भागवत अधिकारियों के देह को सिद्ध करना बाकी रह गया है, जिसे बाद वाले अध्याय में कहा जायेगा। बीच में भगवान् के विरुद्ध धर्माश्रयपने का वर्णन करने के लिए भगवान् को शृंगार क्रीड़ा का निरूपण करते हैं—

श्लोक—**स एव नरलोकेऽस्मिन्नवतीर्णः स्वमायया।**
रेमे स्त्रीरत्नकूटस्थो भगवान् प्राकृतो यथा ।।३५।।

श्लोकार्थ—अपनी माया के माध्यम से 'वही' भगवान् प्रकृति से नियन्त्रित पुरुष के समान स्त्री रूप के समूह में रहकर रमण करने लगे। दहो संहार कार्य करने वाले कालात्मा भगवान् हैं, अतः काल के लक्षण करने योग्य मनुष्यों में स्वयं मनुष्य रूप धारण करके पधारे ।।३५।।

सुबोधिनी–स एवेति। स एव संहारक एव कालात्मा। मध्येषु नरेषु स्वयमपि तद्रूपेणाऽवतीर्णः। यथा कोऽपि न जानाति तथा स्वमायया मारणनिमित्ते स्त्रीरत्नकूटे सुन्दरस्त्रीसमूहे स्वयमेव विद्यमानो भगवांस्तद्वशमनापन्नः प्राकृतवद्रतिं कृतवान्। यावद्रसे न प्रविष्टस्तावत्तस्य रसं न जानातीति कामशास्त्रम्। स्ववशे स्थितस्य न रस इति ।।३५।।

व्याख्यार्थ— वे ही भगवान् सबका नाश करने वाले काल रूप से भी जाने जाते हैं। मनुष्य, जो कि काल का भोजन हैं ऐसी मानव आकृति में स्वयं भगवान् ने अवतार लिया। एक ऐसी प्रणाली से जिसका रहस्य कोई समझ हो नहीं सकता अपनी माया को आदेशित करते हुए जो मारण निमित्त मनुष्य जगत् में पधारे। अपने आपको ऐसा दिखाया जैसे साधारण मानव समाज के वे भी एक अङ्ग हों। वे अत्यधिक सुन्दर स्त्रियों के मध्य में उनकी वशीभूतता को प्राप्त हुए, प्राकृत जनों के समान गति करने लगे। "जब तक स्वयं रस में प्रवेश नहीं करेंगे रस के विषय में जान ही नहीं पायेंगे," ऐसा काम शास्त्र का सिद्धान्त है। अपने आप में ही स्थित रूप वाला किसी अन्य पदार्थ के रस के विषय में नहीं जान सकता। अतः रस उत्पत्ति के लिए आलम्बन पक्ष का होना आवश्यक होता है। यहाँ आप सुन्दर स्त्रियों के बीच में शृंगार रस की उत्पत्ति हेतु वशीभूत हुए से रस की उत्पत्ति कर रहे हैं ॥३५॥

आभास—एवं भगवत्कृत्याऽङ्गीकृता ग्लानिर्न दोषायेति न्यायेन भगवद्रमणम्। न तु विषयधर्मेण तथात्वामिति प्रतिपादयितुमाह—

आभासार्थ—इस प्रकार भगवान् स्वयं की इच्छा से ही स्त्रियों के वश में हुए हैं। आप ने अपनी इच्छा से उन्हें अङ्गीकार किया है किसी ग्लानि अथवा दोष के लक्ष्य से नहीं। न्यायानुसार भगवान् ने प्रत्येक स्त्री के साथ रमण किया है। विषय धर्म के आधीन भगवान् नहीं होते। स्त्रियों के सम्बन्ध में उनकी विषयगत आधीनता नहीं है, इसी का प्रतिपादन इस प्रकार है—

श्लोक—**उद्दामभावपिशुनामलवल्गुहास-**
व्रीडावलोकनिहतो मदनोऽपि यासाम्।
सम्मुह्य चापमजहात्प्रमदोत्तमास्ता,
यस्येन्द्रियं विमथितुं कुहकैर्न शेकुः ॥३६॥

श्लोकार्थ—वे स्त्रियाँ उद्दाम भाव वाली अपने श्रेष्ठ मनोहर कपट पूर्ण हास्य तथा लज्जा से अवलोकन द्वारा श्रीकृष्ण को विचलित इन्द्रियों वाला नहीं बना सकीं। जिन में स्थित कामदेव ने मोह को प्राप्त होकर अपना धनुष भी छोड़ दिया।

ऐसी वे उत्तम कोटि की प्रमयदायें भगवान् की इन्द्रियों में खलबली न मचा सकीं ।।३६।।

सुबोधिनी—उद्दामेति । यद्यपि स्त्रियोऽतिसमर्थास्तथापि भगवन्मनो जेतुं न शक्ताः । तासां सामर्थ्यमाह । उद्दामस्त्यक्तशृङ्खलो यो भावः । लज्जाभयादयो दामानि । तदभावे उद्दामत्वम् । तस्य पिशुनः सूचकः । अमलो वल्गुर्यो हासः । अज्ञापनीये ज्ञापयतीति पिशुनत्वम् । असमये अस्थाने च । एवमपि सन्नमलः स्वाभाविकत्वान्निर्दुष्टः स्वच्छो वा । सूचितस्य हितकरणात् । तत्र सामर्थ्यम् । **वल्गुः** मनोहरः । पुरुषस्य मनो हरतीति । एतादृशो हासः प्रथमं प्रवृत्तः । ततः कार्यानन्तरं व्रीडा । स्वतः प्रवृत्तत्वात् । ततः स्ववञ्चितत्वसूचकदर्शनम् । तेनाऽपि निहतो मदनः कन्दर्पः सर्वव्यामोहनार्थं प्रवृत्तो दृष्टिबलं ज्ञात्वा स्वयं चापमजहात् । मत्कार्यमेता एव करिष्यन्तीति किं चापेनेति । यत्र मामपि मोहयन्ति तत्र कथमन्यो न मुग्धो भवेदिति । एवं कामादप्यधिका कामपूतना ता एवैता भगवत्स्त्रियः । अथापि यस्य भगवत इन्द्रियं मनो विमथितुं वशीकर्तुं कुहकैरनेकविधकपटैः न शेकुः न समर्था जाताः दृष्टिमात्रेणैव मदनो जितः । कुहकैरपि तस्य मनो जेतुं न शक्ता इत्यर्थः । पितामहत्वाद्युक्तमिति भावः ।।३६।।

व्याख्यार्थ—वे भगवान की स्त्रियां यद्यपि बहुत ही समर्थ थीं, तो भी भगवान् के मन को जीतने में समर्थ नहीं हो सकीं । यह बताने के लिए उनकी सामर्थ्य का निरूपण करते हैं । उनका भाव सभी सीमा बन्धनों को तोड़ चुका था । न उनमें लज्जा ही रह गयी थी,न उनमें कोई डर ही बाकी बचा था । इन सब बातों को सूचना दे रहो है । उनको लुभावनी हंसी इस हंसी की सूचना में एक महत्वपूर्ण शब्द 'पशुन' भी मिला हुआ है । बिना स्थान देखे बिना किसी समय का ध्यान रखे जो न बताने योग्य बात को भी जनादे उस व्यवहार को पिशुन कहते हैं । प्रत्येक स्त्री के इस उच्छृङ्खल भाव को उनका हास्य प्रकट कर रहा है, इस अर्थ में पिशुन शब्द का प्रयोग हुआ है । यह सब कुछ होते हुए भी वे निर्मल हैं । स्वाभाविकता होने से उनमें दोष नहीं है । जिसे वह हास्य सूचन करता है उसके लिए वह हित करने वाला है । इसलिए वह हास्य स्वच्छ है । पुरुष के मन का हरण कर लेना उस हास्य की सामर्थ्य है । इस प्रकार यह हास्य पहले तो अपनी कार्य सिद्धि के लिए सक्रिय हुआ परन्तु जब कार्य हो गया तो वही लज्जा के रूप में परिवर्तित हो गया । क्योंकि वे स्त्रियां होकर भी इस कार्य हेतु पहले कार्य प्रारम्भ करने वाली सिद्ध हुई । बाद में उन्हें लगा कि हम ठगी गई हैं, अतः लजाने लगीं । कामदेव ने भी अपने हथियार डाल दिये । जो कामदेव प्रत्येक को मोह उत्पन्न करने के लिए ही बना है, वह स्वयं ही मोहित हो गया है । उस कामदेव ने भगवान् श्रीकृष्ण की स्त्रियों के दृष्टि बल को जानकर अपने बाण उनके नयन सेन से छोड़े थे और उनका प्रभाव भगवान् के

सामने अस्तित्त्व हीन रहा। कामदेव ने सोचा कि जो काम मुझे करना है उसे तो ये भगवान् की स्त्रियाँ ही करेंगी, तो अपने को धनुष धारण की आवश्यकता क्या है? ऐसा मानकर धनुष छोड़ दिया। ओह, जब मैं मोहित करने वाला काम ही मोह को प्राप्त हो रहा हूं तो अन्यों के मोहित हो जाने की बात ही क्या?

काम से भी काम की सेना अधिक बल वाली है। भगवान् की स्त्रियाँ ही यहाँ काम की सेना रूप हैं। भगवान् के इन्द्रिय रूप मन को अनेक प्रकार के कपट करते हुये भी वे स्त्रियाँ जीतने में समर्थ नहीं हुई। दृष्टि मात्र से ही कामदेव को जीत लिया है। हाव भाव रूपी कपटों से भगवान् का मन वश में कैसे किया जा सकता है? कारण कि भगवान् काम के पितामह हैं। उन वासुदेव से प्रद्युम्न रूप काम देव ही उत्पन्न हुये थे। इस रूप में भगवान् काम के पितामह हुये ।।३६।।

आभास—एवमपि स्वयं पराजिता अशक्ता अप्यज्ञानात्स्वधर्मं भगवत्यारोपयन्तीत्याह—

आभासार्थ—इस प्रकार से हारी हुई भगवान् की सारी स्त्रियाँ भगवान् को जीतने में समर्थ न होते हुये भी अज्ञान से अपना धर्म भगवान् में आरोपित करती हुई कहती हैं—

श्लोक—**तमयं मन्यते लोको ह्यसङ्गमपि सङ्गिनम्।**
आत्मौपम्येन मनुजं व्यापृण्वानं यतोऽबुधः ।।३७।।

श्लोकार्थ—उन संग रहित भगवान् को भी यह लोक संग करने वाला मानता है। जन सामान्य की तरह व्यवहार करता हुआ देखकर यह मानव अपने ही समान भगवान् को भी समझने लगा, क्योंकि वह अज्ञानी है ।।३७।।

सुबोधिनी—तमयमिति। लोको भ्रान्तोऽसङ्गमपि भगवन्तं सङ्गिनं मन्यते स्वदृष्टान्तेन। **भगवान् सङ्गी। विषयसहचरितात्मत्वात्। देवदत्तवत्।** इत्यनुमानेन उपाध्यग्रहणसहितेन भगवन्तमपि सङ्गिनं मन्यते। तत्र विचारकाणामप्युपाध्यग्रहे हेतुः—**मनुजं व्यापृण्वानमिति।** आत्मानं मनुजं यथा लोको मन्यते तथा विशेषचेष्टाकर्त्तारम्। अतस्तात्पर्यापरिज्ञानादज्ञत्वादिबोधने विद्यमाने उपाधौ जीवत्वरूपे तदज्ञानाच्च तथा मन्ता अबुध इत्यर्थः ।।३७।।

व्याख्यार्थ—यह लोक भ्रमित है, जो संगरहित भगवान् को भी संगवाला मानता

है। इस प्रसंग में लोग स्वयं का दृष्टान्त लेते हैं। भगवान् संगी है। देव दत्त' (एक किसी उदाहरण देने के लिये दर्शन शास्त्र की परिकल्पित सज्ञा) के समान विषय वाले चरित्र जैसा अनुमान करके कि जैसे हम लोग विषयों की ओर आकर्षित होकर रमण करते हैं, भगवान् भी उसी प्रकार रमण करते रहे होंगे। इसलिये उन को भी विषयों का संग था, ऐसा मानते हैं।

भगवान् विषयों को ग्रहण नहीं करते यह बात यह लोक नहीं जान पाता। इस विषय में वे अपना उदाहरण लेकर भगवान् के चरित्र का मूल्यांकन करते हैं। कारण यह है कि भगवान् स्वयं को ऐसा ही प्रदर्शित करते हैं, जिससे कि लोग बाग उन्हें एक मनुष्य मात्र समझें। वास्तविक स्थिति यह है कि भगवान् जो मनुष्यों जैसे कार्य करते हैं, वैसो चेष्टाएँ करते हैं वह केवल दूसरों के लिये ही करते हैं, स्वयं का उससे कोई सम्बन्ध नहीं रहता। परन्तु सृष्टि के गुणों से युक्त उपाधि वाले जीव उस तात्विक स्वरूप को समझ नहीं पाते क्योंकि वे 'अबुध' हैं, अज्ञानी हैं। इधर भगवान् भी 'विरुद्धधर्म' का आश्रय लिये हुये लोक व्यवहार में लौकिक व्यक्ति जैसा अभिनय करते हैं अत एव मनुष्य उन्हें साधारण अपना जैसा ही समझ बैठने की भूल कर जाते हैं।

यह उनका अज्ञान जीव रूप उपाधि के कारण ही है, जिसका आरोपण उन ने भगवान् पर भो कर दिया है। अतः वे अज्ञानी हैं ।।३७।।

आभास—ननु बोधनक्रियाय यथा ज्ञानजनकत्वं तथा स्वाश्रयस्य निकृष्टत्व-सम्पादकत्वमपि। लोके तथैव व्याप्तेः। **अज्ञानादिकं जीवत्वसमानाधिकरणम्। दोषजन्यत्वात्। मूर्च्छादिवत्।** इति निष्प्रत्यूहानुमानेन जीवत्वमपि ज्ञापयति। भ्रमजनकत्वेन प्रतारकत्वाच्च जीवत्वम्। न च जीवत्वे प्रतारणं व्यर्थमिति वाच्यम्। मुक्तजीवानामपि तथा करणदर्शनात्। स्वबन्धभयादेव तत्र तथा करणं दृश्यते नाऽन्य-थेत्येवमाशङ्क्य जीववैलक्षण्यं वदन् विषयसम्बन्धस्य न जीवत्वबोधकत्वमित्याह—

आभासार्थ—स्वयं को न जान पाना ही अज्ञान है, यह अज्ञान की क्रिया ही हीन-पने का सम्पादन भी करती है, सामान्यतया जोव में अज्ञानपना होना स्वाभाविक है जिस प्रकार मूर्च्छा आ जाने पर व्यक्ति को अपने देह आदि की स्थिति का कोई बोध नहीं रह जाता वैसे ही अज्ञान होने पर जीव को अपने आत्मस्वरूप का कोई

भी ज्ञान नहीं रहता। यह अज्ञान मूर्च्छा के समान दोष को उत्पन्न करने वाला है। इसी स्थिति से जीव भगवान् में भी जीवपना मान लेते हैं। हम स्वयं अज्ञानी हैं इसलिये भगवान् भी ऐसे ही हैं यह कहना दूसरों के लिये भ्रम उत्पन्न करता है। यह भ्रम ही प्रतारणा है, एक यही ऐसी विवशता है जिससे जीव में हीन भावना घर कर गयी है, जिससे वह खुद अपने आप के विषय में धोखे में पड़ गया है। यह छलावे की स्थिति केवल जीव में ही रहती है। प्रायः यह देखा गया है कि मुक्त हुये जीव भी लोक में इस प्रकार का आचरण करते हैं, जिससे लोग बागों को उनके विषय में वास्तविकता पता न लगे। ऐसा वे इसलिये करते हैं कि कहीं दुबारा सांसारिक बन्धनों में न पड़ जायें। परन्तु जिन भगवान् के बन्धन में पड़ने की कोई सम्भावना ही नहीं, वे ऐसा दिखाने का आचरण क्यों करते हैं? ऐसी शंका करके जीव से स्वयं का विलक्षणपना बताते हुये अब यह कहा जा रहा कि भगवान् का विषय से सम्बन्ध होना उनके जीवपने को नहीं बताता—

श्लोक—**एतदीशनमीशस्य प्रकृतिस्थोऽपि तद्गुणैः।**
न युज्यते सदाऽऽत्मस्थैर्यथाऽबुद्धिस्तदाश्रया ॥३८॥

श्लोकार्थ—ईश्वर की ईश्वरता यही तो है, कि प्रकृति में स्थित होने पर भी वे सदैव आत्मा में ही स्थित रहते हैं तथा प्रकृति के गुणों से नहीं जुड़ते। जैसे ईश्वर का आश्रय लेने वाली बुद्धि प्रकृति के गुणों से प्रभावित नहीं होती (तो ईश्वर वैसे कैसे हो सकते हैं)॥३८॥

सुबोधिनी—एतदीशनमीशस्येति। विपरीतमेतदुच्यते विषयसम्बन्धेन जीवत्वमिति। भ्रमादेव विषयसम्बन्धे तथात्वम्। अयं त्वीश्वरत्वबोधकः। नियतकार्यजनकस्य तत्र कार्याजननात्। जीवधर्माणामप्रतिबन्धकत्वात्। मणिमन्त्रादेरप्यलौकिकत्वाद्भगवच्छक्तिमत्त्वम्। अतः प्रकृतिस्थोऽपि विषयेषु रममाणोऽपि तद्गुणैः कर्तृवशत्वापादकत्वस्वरूपप्रच्युतिदोषजनकत्वादिभिर्न युज्यते। नन्वापाततोऽग्निस्पर्शे दाहो न जात इति नियतसम्बन्धेऽपि न जायते। तथा भगवत्यपि भविष्यतीत्याशङ्क्याऽऽह—**सदाऽऽत्मस्थैरिति। सर्वाश्रयत्वाद्भगवतः** संयुक्तसमवायेन वा सदाऽऽत्मन्येव ते धर्मा वर्त्तन्ते। ते यदि स्वाश्रये स्वकार्यं सम्पादयेयुर्भगवदाश्रिता न भवेयुः। भगवतो वा सर्वाश्रयत्वं धर्मो न भवेत्। तथाच यमनाश्रित्यैव भ्रमात्तदीयत्वेन ज्ञाता भवन्ति त एव सङ्गित्वं वा जीवत्वं वा बोधयन्ति। न नियताश्रिताः। अन्याश्रयैरेवाऽन्यत्र दोषजनकत्वं चोरादिषु भोगेषु च लोके सिद्धम्। अत्र दृष्टान्तमाह—**यथाऽबुद्धिस्तदाश्रयेति।** महाराजसमीपे शस्त्रपाशादिकं न स्वाश्रये किञ्चित्करोति। अन्यार्थत्वेनैव तस्य सङ्ग्रहात्। "**श्रिया पुष्टचा**

गिरा कान्त्या कीर्त्या तुष्टयेलयोर्जया । विद्ययाऽविद्यया शक्त्या मायया च निषेवितमि" ति "**विद्याविद्ये मम तनू**" इति च वाक्ये भगवदाश्रयत्वेनाऽमतिरविद्या निरूपिता । मतिर्विद्या । तत्प्रतिस्पर्द्धिनी सपत्नीर (?) मतिरविद्या । यथा अविद्या भगवति स्वकार्यं न करोति तथैतेऽपि विषया इत्यर्थः । "**एकस्यैव ममांऽशस्य जीवस्यैव महामते । बन्धोऽस्याऽविद्ययाऽनादिर्विद्यया च तथेतर**" इति वाक्यान्न विषयाणां स्वाश्रयदुष्टत्वसम्पादकत्वम् । इदानीं रमणस्य त्वीश्वरत्वबोधकत्वम् । अविद्यावदज्ञानादीनामपि दैत्यव्यामोहकत्वम् । दोषनिराकरणं तु सद्धर्म एव । अतो दुष्टानां प्रतारणं सद्धर्म एव । तस्मान्निर्दोषपूर्णगुणो हरिः ।।३८।।

व्याख्यार्थ—विषय के सम्बन्ध से ही जीवपने की शंका भगवान् में की जाती है । यह बात एकदम उलटी है । यदि भ्रम से विषय का सम्बन्ध हो तो जीवपना घटित हो सकता हैं किन्तु विषय को अपने आधीन रखकर सम्बन्ध किया जाय तो उसमें ईश्वरपने की सिद्धि होती है । जीवपने के कई कार्य तो पूर्व से ही निश्चित किये गये हैं, वे नियमित कार्य भगवान् में नहीं । जीवपने के धर्म भगवान् को बाधा पहुंचाने वाले नहीं हैं । मणि में और मन्त्रादिकों में जो अलौकिक शक्ति देखने में आती है, वह भगवान् की शक्ति है । इस कारण भगवान् प्रकृति में रहे हैं, विषयों में रमण भी किया है परन्तु प्रकृति के गुणों से वे जुड़े हुये नहीं हैं ।

कर्तापने के वशीभूत हो जाना, अपने स्वरूप को भूल जाना आदि दोषों को उत्पन्न करना, प्रकृति के गुण हैं । सामान्यतया ऊपर से अग्नि का स्पर्श करने पर नहीं जलता, ऐसा मान कर कोई यह सोचले कि हमेशा ही आग से सम्बन्ध रखूंगा तो भी नहीं जलूंगा तो यह बात केवल भगवान् में ही होती है । ऐसी शंका का उत्तर देते हुये कहते हैं, कि वे गुण भगवान् में स्वयं के अन्तर्गत रहते हैं, कारण यह है कि भगवान् सब के आश्रय रूप हैं या इसी बात को यों समझ लें कि संयुक्त समवाय सम्बन्ध (नेत्र के साथ संयोग सम्बन्ध से घट रहता है, उस घड़े में वह रूप समवाय सम्बन्ध से रहता है तथा नेत्र के संयुक्त समवाय के सम्बन्ध से घड़े के रूप का बोध होता है, यह सम्बन्ध संयुक्त समवाय कहलाता है)से सदैव आत्मा में ही प्रकृति के गुण रहते हैं, अतः प्रकृति के साथ आत्मा का संयोग है ।

प्रकृति में वे गुण समवाय सम्बन्ध से (मिट्टी घड़े में और तन्तु वस्त्र में समवाय सम्बन्ध से रहते हैं) रहते हैं । यदि वे गुण स्वयं के आश्रय में अपना कार्य सम्पादन करें तो भगवान् का आश्रय करके न रहें । क्योंकि प्रकृति के गुण भगवान् में अपना कार्य कर सकते होते तो भगवान्पना टूट जाता और न उनमें सर्व आश्रयत्व धर्म ही

सिद्ध होता। अतः जो गुण उन में नहीं हैं, वे भी उनमें हैं, ऐसा मात्र भ्रम है। अज्ञान के कारण ही हमें भगवान् में प्रकृति के गुण दिखाई देते हैं। वे गुण ही भगवान् का संगीपना और जीवपना बतलाते हैं, परन्तु नियम से आश्रय करके रहने वाले गुण, संगीपना तथा जीवपना नहीं बताते। जैसे कोई किसी का धन या पदार्थ लेने की इच्छा करता है तो उसमें दोष उत्पन्न हो जाता है। चोरों के द्वारा चुराया जाकर अथवा रोगों में फँसकर उसकी दुर्गति होती है। संसार में इन बातों को सभी जानते हैं। उसी प्रकार जैसे कुष्ठ रोग संसर्ग से दूसरे को भी लग जाता है और फिर दोषों की एक परम्परा सी प्रारम्भ हो जाती है, यह एक लोक सिद्ध बात है। दूसरे का आश्रय लेकर रहने वाले गुणों से ही दूसरों को दोष उत्पन्न होता है, परन्तु जो सदैव से अपने में ही रहते आये हैं वह अपने के प्रति दोष उत्पन्न नहीं करते।

इस विषय में एक उदाहरण दिया जा रहा है। जैसे अविद्या भगवान् का आश्रय करके रहती है वह भगवान् में दोष उत्पन्न नहीं करती। जिस प्रकार राजा दूसरों के लिये शस्त्र और पाश आदि रखता है परन्तु अपने समीप रहने वालों का कुछ भी बिगाड़ नहीं करता, उसी प्रकार अविधा भगवान् में आश्रय करके रहती है परन्तु भगवान् में दोषों को उत्पन्न नहीं कर सकती।

श्री भागवत दशम स्कन्ध में अक्रूरजी को भगवान् ने दर्शन दिये, उस प्रसंग में कहा गया है कि 'श्री, पुष्टि, गिरा, कांति, कीर्ति, तुष्टि, इला, ऊर्जा, विद्या, अविद्या शक्ति और माया द्वारा भगवान् सेवा किये जाते हैं।'

एकादश स्कन्ध में भगवान् उद्धवजी के प्रति कहते हैं, कि 'विद्या और अविद्या ये दो मेरे शरीर हैं' इत्यादि वाक्यों में भगवान् का आश्रय करके अविद्या रहती है, ऐसा निरूपण किया गया है। मति विद्या है, और इसकी सौत के समान बराबरी करने वाली अमति अथवा अविद्या है। वह अविद्या जिस प्रकार भगवान् में अपना कार्य नहीं कर सकती, उसी प्रकार ये विषय भी भगवान् में कुछ भी दोष उत्पन्न नहीं कर सकते, यह तात्पर्य हुआ।

श्रीकृष्ण भगवान् ने उद्धवजी से ग्यारहवें स्कन्ध में कहा है, कि "हे श्रेष्ठ बुद्धि वाले उद्धव, मेरे अंश रूप जीव को अनादिकाल से ही अविद्या का बन्धन लगा हुआ है और उसका मोक्ष विद्या से ही होता है।" इस वाक्य से यह प्रमाणित हो जाता

कि विषय जिसका आश्रय करके रहते हैं, उसमें दोषों का सम्पादन नहीं करते। श्री कृष्ण अपनी स्त्रियों में जो रमण करते हैं, वह रमण तो श्रीकृष्ण का ईश्वरपना सिद्ध करता है। अविद्या जिस प्रकार जीव को मोहित करने वाली है उसी प्रकार अज्ञान आदि भी दैत्यों को मोह उत्पन्न करने वाले हैं। यही कारण है, कि दैत्य भगवान् के स्वरूप को नहीं जानते। 'अज्ञानी देवाधिदेव भगवान् का अपमान करते हैं,' ऐसा वाक्य हैं, इस प्रमाण से भगवान् का स्मरण न करने पर जो दोष उत्पन्न होता है, उसे दूर करने के लिये ही तो सद्धर्म की उपयोगिता है।

अतः दुष्टों से अपना स्वरूप छिपाकर उन्हें छल लेना अथवा भुलावे में डाले रहना सद्धर्म कहलाता है। सिद्ध यह हुआ, कि भगवान् हरि दोषों से रहित तथा सारे गुणों से भरपूर हैं ॥३८॥

आभास—किञ्च। लोका भ्रान्ता भवन्त्येव। नियतसम्बन्धा अपि भ्रमन्त इत्याह—

आभासार्थ—इससे अधिक और क्या कहा जा सकता है ? कि सभी लोक भगवान् के विषय में भ्रमित हैं। यहां तक कि जिन लोगों का भगवान् से नियत सम्बन्ध है, वे भी भगवान् के विषय में भ्रमित हैं। इससे आगे यही बात बताई जा रही है—

श्लोक—**तं मेनिरेऽबला मूढाः स्त्रैणं चाऽनुव्रतं रहः।**
अप्रमाणविदो भर्तुरीश्वरं मतयो यथा ॥३९॥

श्लोकार्थ—ज्ञान के साधन रूप शास्त्र, जिन ईश्वर को विभिन्न दृष्टिकोणों से मानते हैं, उन अपने पति रूप भगवान् के प्रमाण को न जानने वाली मूढ स्त्रियाँ, उन्हें एकान्त में अपना अनुसरण करने वाले तथा स्त्रियों के वश में रहने वाले 'स्त्रैण' के रूप में मान बैठती हैं ॥३९॥

सुबोधिनी—तं मेनिर इति। **अबला** ज्ञानजनकक्रियाकरणेऽसमर्थाः। अत एव **मूढा** ज्ञानरहिताः। अन्यार्थं भगवत्कृतं भगवदर्थं मन्यन्ते। तदाह—**स्त्रैणमिति** : स्त्रीलम्पटम्। चकारात्तद्वशमपि। तत्र हेतुः—**रहः अनुव्रतमिति**। एकान्ते अनु व्रतं यस्य। यदैवैकान्तस्थानं तत्रैव भगवान् सन्निहितः। अतो निरन्तरमेकान्तशीलत्वात्स्त्रैणं मेनिरे। नन्वेवमेव स्यादित्यत आह—**अप्रमाणविदो भर्तुरिति** भर्तुर्भगवतः प्रमाणं न जानन्तीति। यथाऽन्धा हस्तिनं मन्यन्ते स्पर्शेन। स हि

चक्षुषैव ज्ञेयः । तथा भगवच्छास्त्रेणैव भगवान् विज्ञेयः । न त्ववस्थाविशेषेण क्रियामात्रेण । तथा करणमपि भर्त्तृत्वात् । "**अप्रमत्ता रक्षत तन्तुमेनमि**"ति श्रुतेः । भगवानेव श्रुत्यर्थप्रतिपादकः । अतो भर्त्तृत्वादेकान्तशीलत्वम् । स्त्रीरक्षार्थं तु भगवांस्तथा करोति स्त्रीणां तु तदज्ञानम् । तत्र दृष्टान्तमाह–**ईश्वरं मतयो यथेति** । यथा मतयो दर्शनशास्त्राणि भगवतैव प्रवर्तितानि स्वयुक्त्या तमेवाऽन्यथा मन्यन्ते । ईश्वर एव नास्तीति केचित् । अन्ये यज्ञादय एवेश्वर इत्यपरे । कर्ता केवलमित्यन्ये । जीवविशेष एवेति केचित् । सर्वेषामेतेषां मूलप्रमाणाज्ञानात्स्वोत्प्रेक्षया तथात्वम् । तथैतासामपीत्यर्थः ॥३६॥

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीवल्लभदीक्षित-विरचितायां प्रथमस्कन्ध एकादशोऽध्यायः ॥११॥

व्याख्यार्थ—जो अबलाएँ होती हैं, वे ज्ञान को उत्पन्न करने वाली क्रिया में समर्थ नहीं होतीं । ज्ञान से रहित होने के कारण ही उन्हें मूढ बताया गया है । भगवान् के विषय में वे दूसरा ही अर्थ निकालती हैं । जो कार्य भगवान् दूसरों के लिए करते हैं, वही हमारे लिए भी करते हैं, ऐसा मानती हैं । अपनी मान्यता को वे स्त्रियाँ यह कहकर प्रकट करती हैं, कि भगवान् स्त्री लम्पट हैं । मूल में 'च' कार होने से भगवान् स्त्रियों के वश में हैं, ऐसा भी वे स्त्रियां मानती हैं । इसका कारण यह है, कि जब एकान्त स्थान होता है, तो भगवान् उन स्त्रियों के पास ही बने रहते हैं । उनके ऐसे एकान्तिक स्वभाव के कारण, उन्हें स्त्री लम्पट मान लेने की मूर्खता कर बैठी हैं, निरन्तर एकान्त में स्त्रियों के पीछे पीछे लगे रहना ही जैसे श्रीकृष्ण का व्रत हो, ऐसा प्रत्येक स्त्री मानती है ।

उन स्त्रियों का ऐसा मानना उचित ही है । वे स्त्रियाँ अपने पति भगवान् का प्रमाण नहीं जानतीं । जिस प्रकार अन्धे व्यक्ति केवल स्पर्श के द्वारा हाथी का रूप नहीं समझ सकते । वे जिस जिस अङ्ग का स्पर्श करते हैं, उसी उसी आकार को हाथी का वास्तविक रूप मान बैठते हैं । कोई अन्धा हाथी को खम्भे के आकार का बताता है, क्योंकि उसके हाथ में पांव आया हैं, कोई उसे पेट का स्पर्श करने के कारण कोठी के आकार का समझ बैठता है । इसी प्रकार कान का स्पर्श करने वाले सूप जैसा, दांतों का स्पर्श करने वाला खूंटी जैसा तथा पूंछ को छूने वाला डण्डे जैसा मान लेता है । उस हाथी का वास्तविक आकार तो नेत्रों से ही जाना जा सकता है ।

ऐसे ही भगवान् के शास्त्रों द्वारा ही भगवान् को जाना जा सकता है। अलग-अलग समय में भिन्न-भिन्न रीति से भगवान् विराजते हों और पृथक-पृथक क्रियाएं करते हों तो भगवान् समझ में नहीं आ सकते। भगवान् स्त्रियों के साथ एकान्त में विराजते हैं, परन्तु भर्ता (स्वामी) की तरह हो रहते हैं। क्योंकि श्रुतियों में कहा है, कि "सावधानी पूर्वक स्त्रियों को रक्षा करना चाहिये"। इस प्रमाण से श्रुतियों के अर्थ का प्रतिपादन करने वाले भगवान् ही हैं। अतः स्त्रियों के स्वामी होने से एकान्त में रहना, भगवान् का स्वभाव है। उन स्त्रियों की रक्षा करने के लिए ही भगवान् ऐसा करते है। परन्तु यह ज्ञान उन स्त्रियों को कहां ?

इस प्रसङ्ग में दृष्टान्त दिया जा रहा है, कि जैसे ज्ञान के साधन रूप शास्त्रों को भगवान् ने ही बनाया है, तो भी अलग अलग विचारधारा वाले अपने तर्कों व मान्यताओं द्वारा भगवान् के विषय में अपना मत प्रकट करते हैं, और वे मत भगवान् की दृष्टि के अनुकूल न होकर अन्यथा अर्थ वाले अथवा विपरीत विचार वाले हो जाते हैं। निरीश्वर साङ्ख्यवादी कहते हैं कि ईश्वर है ही नहीं। नास्तिक मतावलम्बी भी यही कहते हैं। जैमिनीय मत वाले 'यज्ञ' को ही ईश्वर मानते हैं। वैशेषिक मत वाले अपने न्याय शास्त्रों में ईश्वर को केवल कर्ता के रूप में ही स्वीकारते हैं, जब कि साङ्ख्य मत की एक शाखा विशेष प्रकार के जीव के रूप में ईश्वर का अस्तित्व मानती है।

इस प्रकार प्रत्येक मानने वाले को मूल प्रमाण रूप वेद का ज्ञान न होने से अपनी कल्पना से भगवान् का रूप समझ में आता है। ठीक इसी प्रकार भगवान् की स्त्रियों को भगवान् के स्वरूप तथा अभिप्राय का ज्ञान न होने से, स्त्री लम्पट कहना पड़ा ॥३९॥

इति श्रीमद्भागवत महापुराण, प्रथमस्कन्ध के ११वें अध्याय की
श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण कृत श्री सुबोधिनी (संस्कृत टीका)
के 'उत्तमाधिकार प्रकरण' का पंचम अध्याय
हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण ॥११॥

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

● श्रीमद् भागवत संहिता ●

श्री मद्वल्लभाचार्य चरण द्वारा विरचित
श्री सुबोधिनी (संस्कृत टीका)
हिन्दी अनुवाद सहित

प्रथम स्कन्ध

अध्याय—१२

उत्तमाधिकार प्रकरण

राजा परीक्षित का जन्म

कारिकाएं—**एवमेकाग्र्य सिद्धार्थं सर्वं कार्यं निरूपितम् ।**
अधुना श्रोतृदेहस्य रक्षणम् विनिरूप्यते ॥१॥

यथा वेदान्तविज्ञाने पञ्चाग्नौ देहसम्भवः ।
तथा भागवतज्ञाने ब्रह्माग्नौ बोधसंयुते ॥२॥

सर्वलक्षणसम्पन्नः सर्वदोषविवर्जितः ।
बीजसंस्कारसहितः श्रोता भागवते मतः ॥३॥

कारिकार्थ—इस रीति से एकाग्रता सिद्ध करने के लिए प्रत्येक कार्य का निरू-

पण किया गया, अब इस अध्याय में श्री भागवत के श्रोता परीक्षितजी के देह की रक्षा का निरूपण किया जायेगा ।।१।।

ब्राह्मण द्वारा फेंके गये ब्रह्मास्त्र रूप अग्नि से जलने के बाद परीक्षितजी की रक्षा की गई, इससे तो पहले ही रक्षा करना ठीक था। जलने के बाद भगवान् ने क्यों रक्षा की ? वह तो जल ही चुका होगा, न भी जला होगा तो उसमें चेतना की गति विधि किस रूप में रही होगी ? इस शंका का समाधान करते हुए कहते हैं, कि पंचाग्नि में से शरीर की उत्पत्ति होती है। जिस प्रकार शुद्ध होने के बाद वेदान्त जानने का अधिकारी बनता है उसी प्रकार ज्ञान युक्त ब्रह्माग्नि में देह शुद्ध होने के बाद भागवत के ज्ञान का अधिकारी बनता है ।।२।।

सब लक्षणों से युक्त, सब दोषों से रहित और बीज अवस्था में ही जिसका संस्कार हो गया हो, ऐसे पुरुष को ही भागवत का श्रोता माना गया है ।।३।।

आभास—व्यवहितत्वाच्छौनकः पूर्वकथां स्मारयति—

आभासार्थ—शौनक ऋषि ने चौथे अध्याय में परीक्षितजी के जन्म आदि के विषय में प्रश्न किये थे, किन्तु प्रसंगानुसार बीच में दूसरी कथाएं आ गई थीं, अतः शौनक ऋषि फिर से पहले वाली कथा को याद दिलाते हुए उसे सुनने के लिए पूछते है—

शौनक उवाच-श्लोक—अश्वत्थाम्नोपसृष्टेन ब्रह्मशीर्ष्णोरुतेजसा ।
उत्तराया हतो गर्भ ईशेनाऽऽजीवितः पुनः ।।१।।

श्लोकार्थ—अश्वत्थामा के द्वारा फेंके गये अत्यधिक तेज वाले ब्रह्मास्त्र से जब उत्तरा का गर्भ नष्ट हो रहा था तब ईश्वर श्रीकृष्ण ने उसे फिर से जीवित कर दिया ।।१।।

सुबोधिनी-अश्वत्थाम्नोपसृष्टेनेति । त्वद्वाक्यानां समभिव्यवहारादस्माभिरेवमवगतम् । अश्वत्थाम्नो ब्राह्मणोत्तमत्वात्तेन निरूपितस्य ब्रह्मास्त्रस्य चाऽमोघत्वादुत्तराया गर्भो हतः । पश्चादीशेनाऽऽजीवितः । स्वसामर्थ्यात्पूर्वमपि दुर्विभाव्याभिः स्वशक्तिभिर्बीजे तं प्रवेश्याऽऽजीवितवान् । इदानीमपि दग्धे बीजे पुनस्तं प्रवेश्याऽऽजीवयतीति **पुनः**शब्दार्थः ।।१।।

व्याख्यार्थ—आपके वाक्य आपस में मिल जाने से ऐसा जाना है कि अश्वत्थामा ब्राह्मण है और उसका फेंका हुआ ब्रह्मास्त्र सफल है, जिससे कि उत्तरा का गर्भ नष्ट हो गया था। श्रीकृष्ण ने वह गर्भ अपनी सामर्थ्य से पुनः जीवित कर दिया। पहले किसी की समझ में न आ सके ऐसी रीति से अपनी शक्ति द्वारा बीज में उसका प्रवेश कराकर जीवित कर दिया। इस समय भी वह बीज ब्रह्मास्त्र से जल गया तब फिर से बीज में उस परीक्षित का प्रवेश कराकर जीवित कर दिया। इस प्रकार मूल में लिखे हुए 'पुनः' शब्द का अर्थ हुआ ॥१॥

आभास—अनुवादाँशमुक्त्वा श्रोतव्यांशमाह—

आभासार्थ—इस प्रकार पिछली घटना का वर्णन करके अब आगे सुने जाने वाले प्रसंग के विषय में पूछा जा रहा है—

श्लोक—**तस्य जन्म महाबुद्धेः कर्माणि च महात्मनः।**
निधनञ्च यथैवाऽऽसीत् स प्रेत्य गतवान् यथा ॥२॥

श्लोकार्थ— श्रेष्ठ बुद्धि वाले उन महात्मा परीक्षित जी का जन्म और कर्म जिस प्रकार हुआ तथा मृत्यु को प्राप्त करके जिस प्रकार उनका जाना हुआ, यह सब सुनने की मेरी इच्छा है ॥२॥

सुबोधिनी—**तस्य जन्मेति। महाबुद्धेरिति** पूर्वमेव तस्य ज्ञानं सिद्धम्। **महात्मन इति** शुभानि कर्माणि। जन्मकर्मावदातस्य मृत्युसम्भावनाऽभावाद्गर्भ एव च मृत्योर्निवर्त्तितत्वात्पश्चात्केन प्रकारेण निधनमिति प्रश्नः। किञ्च। यथा पूर्वजन्मनि ज्ञानादिषु सिद्धेष्वप्येतद्देहसम्बन्धो जात एवमुत्तरत्राऽपि भविष्यतीत्याशङ्क्य पृच्छति—**स प्रेत्य गतवान् यथेति। प्रेत्य** शरीरं त्यक्त्वा। **यथेति** प्रष्टव्यार्थः ॥२॥

व्याख्यार्थ—वे परीक्षितजी उत्तम बुद्धि वाले थे, इसलिए उन्हें पहले से ही ज्ञान सिद्ध था। वे महात्मा थे, अतः उनके कर्म भी श्रेष्ठ थे, उन कर्मों को आप हमसे कहिये। जो जन्म और कर्म से शुद्ध होता है, उसकी तो मृत्यु की संभावना भी नहीं होती। अतः उनकी मृत्यु को तो गर्भ में ही दूर कर दिया गया है, फिर किस प्रकार उनकी मृत्यु हुई? यह प्रश्न रह जाता है। जिस प्रकार पहले के जन्म में उन्हें ज्ञान आदि सिद्ध थे तो भी उन्हें उत्तरा के गर्भ का सम्बन्ध हुआ और फिर देह का सम्बन्ध हुआ होगा, ऐसी शंका करके कहते हैं, कि वे परीक्षित राजा जिस प्रकार शरीर छोड़कर गये, यह बात कहिये। यह शौनकजी के प्रश्न का अभिप्राय है ॥२॥

श्लोक—**तदिदं श्रोतुमिच्छामि गदितुं यदि मन्यसे ।**
ब्रूहि नः श्रद्दधानानां यस्य ज्ञानमदाच्छुकः ।।३।।

श्लोकार्थ—यदि आप कहना उचित समझते हों तो श्रद्धा को धारण किये हुए, सुनने की इच्छा वाले हमसे वही ज्ञान की बात कहिये; जो शुकदेवजी ने राजा परीक्षित के प्रति कही थी ।।३।।

सुबोधिनी **तत्** पूर्वोक्तं त्रयमुत्पत्तिस्थितिप्रलयाख्य**मिदं** च परलोकगमनं शास्त्रार्थसन्देहाच्छ्रोतुमिच्छामि । बहुकालनिर्बन्धात्क्लेशेऽपि यदि सर्वथैतद्वक्तव्यमिति मन्यसे तदा श्रद्धायुक्ता वयं श्रोतुमिच्छामः । इच्छया कथने भगवच्चरित्रमत्राऽस्तीत्यवगम्यते । अत एवमाह - **गदितुं यदि मन्यस इति ।** अन्यकथात्वेऽपि भगवदीयत्वाच्छ्रद्धा । अन्यथा शुकस्य ज्ञानदानं न सम्भवेत् । अतस्तस्य चरित्रं कथयेत्यर्थः ।।३।।

व्याख्यार्थ–ऊपर कहे गये प्रमाण से उनकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय तथा उनका परलोक में गमन किस रीति से हुआ ? उस विषय में शास्त्रों के अर्थ का सन्देह होने से सुनने की इच्छा करता हूं । उस ज्ञान को कहने में बहुत समय लगने से क्लेश होते हुए भी यदि आप उसे कहना आवश्यक मानते हो तो हम सब भी श्रद्धा से युक्त हुए सुनने की इच्छा रखते हैं । इच्छा से कहने वाली बात में भगवान् का चरित्र विद्यमान है, ऐसा समझा गया है । इसीलिए कहा गया है "यदि आप कथन करना योग्य समझते हैं," तो हम सुनने को तत्पर है । चाहे वह कथा परीक्षित के जन्म व कर्म से सम्बन्ध रखती हो या भगवान् के अतिरिक्त अन्य किसी की कथा हो तो भी भगवान् के भक्त की कथा तो है ही अतः उसे सुनने में हमारी श्रद्धा है । यदि परीक्षितजी भगवदीय न होते तो जो ज्ञान शुकदेवजी ने उन्हें दिया है उसे न देते । उस ज्ञान दान की संभावना तक न होती । परीक्षितजी भगवदीय हैं, अतः उनका चरित्र हमसे कहिये ।।३।।

आभास—जन्मनिरूपणार्थं वंशकालदेशानामुत्तमत्वमाह त्रिभिः–

आभासार्थ—परीक्षितजी का जन्म निरूपण करना है, इसलिए उनका वंश, देश व काल की उत्तमता पौराणिक सूतजी तीन श्लोकों से कहते हैं—

सूत **उवाच**–श्लोक–**अपीपलन्महाराजः पितृवद्रञ्जयन् प्रजाः ।**
निस्पृहः सर्वकामेभ्यः कृष्णपादानुसेवया ।।४।।

श्लोकार्थ—श्रीकृष्ण के चरणारविन्दों की सेवा से सब विषयों से निस्पृह हुए और पिता के समान प्रसन्न रखने वाले राजा युधिष्ठिरजी प्रजा का पालन करने लगे ।।४।।

सुबोधिनी—अपीपलदिति । अपालयदित्यर्थः । **स्वधर्मविष्णुभक्तिभ्यां महान् सर्वो न चाऽन्यथा । विषयेषु च वैतृष्ण्यं सेवार्थं भक्तिसूचकम् ।** तत्र राज्ञः प्रजापालनं धर्मः । **पितृवद्रञ्जयन् प्रजा इति** ज्ञानसहितत्वमुक्तम् । अन्यथा भगवद्दृष्ट्यभावे रञ्जनं न स्यात् । **निस्पृह इति** नैरपेक्ष्यम् । कृष्णपादानुसेवा शास्त्रानुसारेण फलजननात्सम्यक्कृतेति ज्ञायते । अनेन राज्ञ उत्तमत्वात्तद्राज्य स कालो वंशश्चोत्तम इति राजधर्ममेव प्रजाः कुर्वन्तीति तद्राज्ये सर्वत्र कृष्णसेवैव प्रसृता । अतो देश उत्तमः । ज्ञानभक्तिकर्मणा धर्मेण तस्मिन् काले विद्यमानत्वात्कालोत्कर्षः ।।४।।

व्याख्यार्थ— राजा युधिष्ठिरजी प्रजा का पालन करने लगे हैं । स्वधर्म का पालन करने से और विष्णु भगवान् की भक्ति से प्रत्येक व्यक्ति महान् बन जाता है । इससे अतिरिक्त महान् नहीं बना जा सकता । विषयों में से तृष्णा चली जाय, यह स्थिति प्रभु की सेवा के लिए भक्ति को सूचित करती है । उसमें भी प्रजा का पालन करना तो राजा का धर्म है ।

धर्मराज पिता के समान प्रजा का आनन्द बढ़ाते हैं, ऐसा कहा गया है । वे युधिष्ठिरजी ज्ञान सहित राज्य करते हैं, यह बताया गया है । यदि वे ज्ञान वाले न हों तो प्रत्येक में भगवान् की दृष्टि न होने से प्रजा का रंजन नहीं हो सकता ।

राजा युधिष्ठिर इच्छा रहित हो गये हैं, ऐसा कहकर उनकी निरपेक्षता बताई गई है । श्रीकृष्ण भगवान् की सेवा का तत्त्व ज्ञान सब प्रकार से हो जाने पर शास्त्रों के अनुसार जो भजन होता है, वही कारण रूप है । इसलिए श्रीकृष्ण के चरण कमलों की सेवा युधिष्ठिर ने सब प्रकार से की है, ऐसा बताया गया है । कारण कि उन्हें शास्त्रानुसार फल मिला है । अतः विषयों में उनका वैराग्य हो गया है । भगवान् की सेवा के साथ प्रत्येक स्थल पर उनका भाव भगवान् मय बन गया है । यह श्रीकृष्ण की सेवा करने का फल है ।

यह निरूपण करने का अभिप्राय यह है कि राजा युधिष्ठिर उत्तम होने से उनका राज्य, वह समय और उनका वंश भी उत्तम है । राजा के धर्म के अनुसार

ही प्रत्येक प्रजा धर्म करती है। उनके राज्य में प्रत्येक स्थान पर श्रीकृष्ण की सेवा ही फैली हुई है, इसलिए वह देश उत्तम है। ज्ञान, भक्ति और कर्म रूप धर्म भी उस समय विद्यमान होने से, वह काल उत्तम कहा गया है ॥४॥

आभास—ननु वैराग्यं कुत्रोपयुज्यते। तस्य च राज्यस्य च विरुद्धत्वादित्याशङ्क्य न साधनत्वेनाऽत्र वैराग्यं किन्तु भक्तेरानुषङ्गिकमिति तन्निरूपयति—

आभासार्थ—युधिष्ठिर को वैराग्य कैसे हो गया? कारण कि राज्य और वैराग्य में तो विरोध है। ऐसी शंका का उत्तर देते हुए कहते हैं, कि युधिष्ठिर का वैराग्य साधन रूप नहीं है अपितु भक्ति से भरा हुआ है। वैराग्य तो भक्ति के साथ आनुषङ्गिक (पीछे से जुड़ा हुआ) है, ऐसा निरूपण किया जा रहा है—

श्लोक—**सम्पदः क्रतवो विप्रा महिषी भ्रातरो मही।**
जम्बूद्वीपाधिपत्यं च यशश्च त्रिदिवं गतम् ॥५॥

किं तेऽकामाः सुरस्याऽर्हा मुकुन्दमनसो द्विजाः।
अधिजह्रुर्मुदं राज्ञः क्षुधितस्य यथेतरे ॥६॥

श्लोकार्थ—हे ब्राह्मणो! समृद्धि, यज्ञ, पट्टरानी, पृथ्वी, जम्बूद्वीप पर सर्वोपरि शासन और स्वर्ग तक गया हुआ यश और देवताओं द्वारा भोगे जाने योग्य विषय युधिष्ठिरजी ने नहीं चाहे। कारण यह कि राजा युधिष्ठिर का मन मोक्ष देने वाले मुकुन्द भगवान् में लगा हुआ था जिस प्रकार भूखे मनुष्य को स्त्री आदि विषय का आनन्द नहीं दे सकती, उसी प्रकार युधिष्ठिर का मन भगवान् में होने से वे विषय उन्हें आनन्दित करने वाले सिद्ध न हो सके ॥५-६॥

सुबोधिनी-सम्पद इति। राज्यधनाशनादीनां सम्पत्तय आधिक्यम्। **क्रतवो** राजसूयादयः। **विप्रा इति** सम्बोधनमस्मिन्नर्थे संवादार्थम्। **महिषी** द्रौपदी। **भ्रातरो** भीमादयः। मही सर्वाऽपि। राजत्वाच्छास्त्रतो मही। पौरुषेणाऽऽधिपत्यमिति भेदः। अर्जुनेनेन्द्रोऽप्युपकृत इति त्रिदिवं गतं यशः। एते भगवत्कृपया स्वतः सिद्धाः। अत एवाऽकामाः। हृदये नाऽऽगता इति **न इत्युक्तम्**। वस्तुत एते विषया देवयोग्या मनुष्यस्य काम्या भवन्ति। न तु विष्णुभक्तस्य। यस्तु बहु कामयते बहु वा प्राप्तो भवति तस्य न क्षुद्रेषु कामना प्राप्तेष्वपि। मुकुन्दे मनो यस्य। मोक्ष एव यस्य मनस्तस्याऽप्येतद्भवति। किमुत तद्दातरि। **द्विजा इति** पूर्ववत्सम्बोधनम्। किं मुदमधिजह्रुः। अपि तु न कृतवन्त एवेत्यर्थः। विषहाणां स्वधर्माजनने दृष्टान्तमाह—**क्षुधितस्येति। इतरे** स्त्रक्त्र्यादयः॥५॥६।

व्याख्यार्थ—राज्य, धन और घोड़े आदि की सम्पत्ति राजा युधिष्ठिर के पास बहुत है तथा उन्होंने राजसूय यज्ञ आदि भी किये हैं। यहाँ, 'हे विप्राः' यह सम्बोधन दिया गया है, वह इस विषय के प्रमाण के लिये है। द्रोपदी युधिष्ठिर की पट्टरानी है, भीम आदि भाई हैं, सारी पृथ्वी का राज्य उनके पास है। राजा होने के कारण शास्त्रानुसार उन्हें पृथ्वी प्राप्त हुई है। उन के पराक्रम से प्रत्येक स्थान पर उनकी सत्ता फैली है। इस प्रकार वे शास्त्रानुसार राजा तथा पौरुष के कारण अधिपति बने हैं, यही राजा व अधिपतिपने में भेद है। अर्जुन ने तो इन्द्र पर भी उपकार किया है, अतः उनका यश स्वर्ग तक चला गया है। ये समस्त विषय भगवान् की कृपा से उनके लिये सिद्ध हुये हैं। इसीलिये यह कहा गया है कि युधिष्ठिर जी ने उन विषयों को नहीं माँगा। वे विषय तो राजा के हृदय में भी नहीं आये, यही कारण है, कि उन विषयों की बात छिपे रूप में कही गई है। सच कहा जाय तो वे वियय देवताओं के योग्य हैं। मनुष्य चाहे उनकी इच्छा रखे, पर भगवान् के भक्त विषयों को नहीं चाहते। जो बहुत इच्छा करता हो, जिसे बहुत प्राप्त हो गया हो उसे यदि तुच्छ विषयों की प्राप्ति हो तो वह उन की इच्छा नहीं करता।

युधिष्ठिर जी का मन मुकुंद भगवान् में लगा हुआ है, अतः जिनका मन मोक्ष में हो उनकी विषयों में इच्छा नहीं रहती। जिसका मन मोक्ष को देने वाले भगवान् में लगा हुआ हो उन भक्तों को विषयों से क्या?

यहाँ 'द्विजाः', यह सम्बोधन दिया गया है, वह प्रमाण बताने के लिये है। मोक्ष में लगे हुये मन वाले को विषय अच्छे नहीं लगते इस बात को वे द्विज भली प्रकार जानते हैं। अतः वे समस्त सम्पत्तियाँ राजा युधिष्ठिर को आनन्दित नहीं कर सकीं। वे विषय युधिष्ठिर जी में आसक्तियाँ मोह आदि उत्पन्न नहीं कर सके।

यहाँ इस प्रसंग में एक दृष्टान्त दिया जा रहा है, कि जिस प्रकार भूखे मनुष्य में स्त्री आदि अपने धर्म विषय आदि को उत्पन्न नहीं कर सकती, उसी प्रकार मोक्ष को देने वाले भगवान् में युधिष्ठिर जी का मन लगा होने के कारण सम्पत्ति आदि विषय उन्हें आनन्द नहीं दे सकते ॥५-६॥

आभास—एव राज्ञो माहात्म्यमुक्त्वा तद्वंशे स्वभावत एवाऽयमेतादृश इति विशेषमाहात्म्यमेवाऽऽह—

आभासार्थ—इस प्रकार राजा युधिष्ठिर का माहात्म्य कह कर, उनके वंश में उत्पन्न राजा परीक्षित का स्वभाव भी इतना ही उत्कृष्ट था, यह बताने के लिये अब उनका माहात्म्य बताया जा रहा है—

श्लोक—**मातुर्गर्भगतो वीरः स तदा भृगुनन्दन ।**
ददर्श पुरुषं कञ्चिद्दह्यमानोऽस्त्रतेजसा ।।७।।

श्लोकार्थ—हे शौनक ! माता के गर्भ में स्थित उस वीर ने ब्रह्मास्त्र के तेज से जलते समय, किसी पुरुष को देखा ।।७।।

सुबोधिनी--**मातुर्गर्भगत इति ।** मातुरित्यसमासाद्गृह इव भिन्नतया स्थितिरुच्यते । अतो गर्भगतक्लेशो निवारितः । पूर्वमेव ज्ञानादिसहितः केवलं गर्भं प्राप्तः । **वीर इति दाम्ना न बद्धः** पराक्रमसहित एव तिष्ठति । भगवतः साक्षात्परब्रह्मणो दृष्ट्या देवैर्दाम्ना बन्धनस्याऽकृतत्वात् । अत्र "**देवा वै राजन्यादि**" ति श्रुत्यर्थोऽनुसन्धेयः । वीरः स इति सम्बन्धः । अत्र विश्वासार्थं सम्बोधनम् । तदा दह्यमान एव ब्रह्मास्त्रतेजसा वीरत्वात्तदविगणय्य कञ्चित्पुरुषं ददर्श । भगवान् सर्वं कार्यं निष्पाद्य सर्वदैत्याप्रवेशाय सर्वतत्त्वसहितस्तद्रक्षार्थमुदरे प्रविष्टः परिभ्रमति । स्वोपकारज्ञापनाय तं प्रत्यात्मानं प्रदर्शितवान् । वेदे प्रसिद्धानि यानि रूपाणि तत्र यत्प्रथमं भावयितुमप्यशक्यं तेन रूपेण प्रकट इति तपः (? स्वधर्मसहितो ददर्श ।"**अतप्ततनूर्न तदामो अश्नुत**" इति श्रुतेः । **कञ्चिदिति** । विशेषाकारेण न निर्वचनायम् । ७।।

व्याख्यार्थ—मूल में 'मातुः' और 'गर्भगतः' ये शब्द अलग-अलग हैं जिसका कि अभिप्राय यह है, कि जिस प्रकार घर में मनुष्य अलग-अलग प्रकार से रहते हैं उसी प्रकार माता के गर्भ में परीक्षित जी अलग ही प्रकार से रहते हैं अतः उन्हें गर्भ में जाने का क्लेश नहीं है, यह बताया गया है । वे गर्भ की स्थिति से पहले ही ज्ञान आदि से युक्त हैं । गर्भ में तो वे केवल आये हैं । वे वीर हैं, ऐसा कहने का तात्पर्य यह है, कि वे बन्धन में बँधे हुये नहीं हैं प्रत्युत पराक्रम सहित रहते हैं । कारण यह है कि उनके ऊपर साक्षात् पर ब्रह्म की दृष्टि होने से देवताओं ने भी उन्हें बन्धन में नहीं बाँधा । क्योंकि गर्भ को तो दाम (डोरी, रस्सी) द्वारा देवता बाँधते हैं। यद्यपि ऐसी प्रसिद्धि बहुत अधिक नहीं है, तो भी "राजा के उत्पन्न होते ही देवता डरने लगे", ऐसा तैत्तारीय श्रुति में कहा गया है और वहाँ भय होना लिखा हुआ है, अतः बन्धन घट सकता है । परन्तु परीक्षित जो ता वीर हैं, उनको बन्धन का भय नहीं है, ऐसा बताया गया है । इस विश्वास को दृढ़ करने के लिये मूल में, 'भृगुनन्दन' सम्बोधन

दिया गया है।

जब वे ब्रह्मास्त्र के तेज से जल रहे थे, तब उसकी जलन को कुछ भी न गिनते हुये एक पुरुष के दर्शन कर रहे थे। भगवान् प्रत्येक कार्य सिद्ध करके, सब दैत्यों का प्रवेश न होने देने के लिये परीक्षित के रक्षार्थ सब तत्वों को साथ लेकर पेट में प्रवेश करके भ्रमण करने लगे। प्रभु उसकी रक्षा कर रहे हैं, अपना यह उपकार बताने के लिये वे अपने स्वरूप का दर्शन दे रहे हैं।

वेदों में जितने रूप प्रसिद्ध हैं, उसमें जिस प्रथम रूप की भावना भी नहीं की जा सकती, उस रूप से भगवान् प्रकट हुये हैं। परीक्षित गर्भ में ब्रह्मास्त्र से जल रहे थे, यह उनका तप है, और उनकी वीरता स्वधर्म है। तप और स्वधर्म से युक्त परीक्षित ने भगवान् के दर्शन किये। "जिसको तप का अनुभव नहीं होता वह अपक्व (कच्चा) कहलाता है। ऐसा व्यक्ति पुरुष पद को प्राप्त नहीं कर सकता" ऐसा श्रुतियों में कहा गया है। अतः ब्रह्मास्त्र से जलना परीक्षित का तप है, उससे उन्हें भगवान् के दर्शन हुये। गर्भ में दिखाई दिये भगवान् के स्वरूप का वर्णन न किये जा सकने के कारण उन्हें 'कोई पुरुष' कहकर सम्बोधित किया गया है। परीक्षित जी ने 'किसी पुरुष' को देखा, ऐसा कहा गया है ॥७॥

आभास—तद्रूपमनुवर्णयति—

आभासार्थ—अब उस रूप का वर्णन किया जा रहा है—

श्लोक—**अङ्गुष्ठमात्रममलं स्फुरत्पुरटमौलिनम्।**
अपीच्यदर्शनं श्यामं तडिद्वाससमच्युतम् ॥८॥

श्रीमद्दीर्घचतुर्बाहुं तप्तकाञ्चनकुण्डलम्।
क्षतजाक्षं गदापाणिमात्मनः सर्वतोदिशम्।
परिभ्रमन्तमुल्काभां भ्रामयन्तं गदां मुहुः ॥९॥

श्लोकार्थ—अंगूठे जितने, शुद्ध, प्रकाशमान स्वर्ण के मुकुट वाले, सुन्दर दर्शन वाले, श्याम वर्ण, बिजली के जैसे पीले वस्त्र पहिने हुये, अच्युत, शोभायमान और

लम्बे चार श्री हस्त वाले तपे हुये स्वर्ण के कुण्डल धारण किये हुये, रक्तिम नेत्रों वाले, श्री हस्त में गदाधारण किये हुये, अपने चारों ओर उल्का जैसी गदा को बार-बार घुमाते हुये भगवान् के दर्शन परीक्षित ने किये ।।८-९।।

सुबोधिनी—अङ्गुष्ठमात्रमिति । "**अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽङ्गुष्ठं च समाश्रितः। ईशः सर्वस्य जगतः प्रभुः प्रीणाति विश्वभुगि**" ति श्रुतेः । ब्रह्मत्वादेवाऽमलमतिस्वच्छम् । गर्भे हि विद्यमानस्य तन्मलसम्बन्धः सम्भवति । तद्व्यावृत्त्यर्थमुक्तम् । **स्फुरत्पुरटमौलिनमिति** । दाहोत्तीर्णसुवर्णमुकुटयुक्तम् । अनेनैश्वर्यं ज्ञापितम् । **अपीच्यदर्शनम्** । अपीच्यरूप दर्शन यस्य ।"**प्रिय स्त्रीणामपीच्य**" इति श्रुतेः । सौन्दर्यपरीक्षायां सर्वस्त्रीदर्शनस्य निकषत्वात् । अपीच्यवद्दर्शनं यस्येति सर्वसुन्दरः । अनेन लक्ष्म्याश्रयत्वं प्रतिपादितम् **श्याममिति** वैष्णवसिद्धान्तसिद्धम् । अनेन भक्ताश्रयत्वं निरूपितम् । **तडिद्वाससम्** । स्थिरविद्युन्निभवस्त्रम् । अनेन पूर्वविशेषणसहितेन सर्वं कामैवर्षकत्वं सूचितम् । **अच्युतम्** । परिभ्रमणेऽपि सर्वदेशसम्बन्धसहितम् । शङ्खचक्रादिसहितं वा । अनेन रक्षायां सामर्थ्यं ज्ञापितम् । **श्रीमद्दीर्घचतुर्बाहुम्** । श्रीमन्तो दीर्घाश्चत्वारो बाहवो यस्य । सूक्ष्मरूपे आकारः सम्यगभिव्यक्तो न भवेदिति शङ्कयैवमुक्तम् । आजानुबाहुत्वमुक्तं भवति। पुरुषार्थचतुष्टयदानाय चतुर्णां प्रदर्शनम् । गतिपर्यन्त क्रियेति दीर्घत्वम् । उभयो(? लक्ष्मीसहितयोरेव कार्यनिर्वाहाच्छ्रमत्वम् । अनेनैहिकामुष्मिकफलदानं सूचितम् । **तप्तकाञ्चनकुण्डलम्** । तप्तकाञ्चनवर्णे कुण्डले यस्येति । साङ्ख्ययोगयोः कुण्डलत्वात्सर्वविद्याप्रदत्वं सूचितम् । तप्तकाञ्चनपदात्सन्तप्रदशायामेव ज्ञानप्राप्तिरिति सूचितम् । **क्षतजाक्षम्** । क्षतजवल्लोहितवदक्षिणी नेत्रे यस्य । बाधकदूरीकरणाय प्रकटितक्रोधलेशयुक्तम् । अनेन भक्तरक्षायामासक्तिः सूचिता । उग्रत्वाद्वा सावधानत्वं सूचितम् । **गादापाणिम्** । "**ओजःसहोबलयुत मुख्यतत्त्वं गदां दधति**" ति वाक्यादासन्ययुक्तम् । अनेन तस्य प्राणगमनभयाभावः सूचितः। किञ्च । तेजोग्रासे वायुतत्त्वमेव समर्थम्। अत एव तेजोग्रासार्थे वायुमेव गदां हस्ते गृहीत्वा तिष्ठति। आधिक्ये निर्वापयिष्यामीति। आत्मनः सर्वतोदिश परिभ्रमन्त जीवस्य सर्वत्राऽहमिति ज्ञापयितुम् । रक्षां च । प्रकृते विशेषमाह—**उल्काभां गदां भ्रामयन्तमिति** । स्वस्य तेजोहेतुत्वं ज्ञापयन्ती गदा स्वान्तःस्थं तेजोऽप्रकटयत् अत उल्काभा दृश्यते । दैत्यनिवारणार्थं मुहुर्गदां भ्रामयन्तम् ।।८।।९।।

व्याख्यार्थ—'भगवान् का स्वरूप अङ्गुष्ठ परिमाण वाला है,वे परपुरुष अंगूठे का सब प्रकार से आश्रय करके रहते हैं । वे सब के स्वामी हैं,सारे जगत् के प्रभु हैं और सारे जगत् के भोगने वाले हैं । वे प्रभु सभी को आनन्द प्रदान करते हैं," ऐसा वेदों में कहा गया है । जो अङ्गुष्ठ मात्र हैं, वह ब्रह्म रूप हैं, अतः अतीव स्वच्छ है । जो गर्भ में रहते हों तो मल से सम्बन्ध होने की संभावना होती है । उसे दूर करने के लिये कहा गया है कि भगवान् ने तपे हुये स्वर्ण के कुन्डलों को धारण कर रखा है, इससे उनका ऐश्वर्य बताया गया है। उन प्रभु का दर्शन बहुत ही सुन्दर है, इसीलिये स्त्रियों को सुन्दर पुरुष प्रिय लगता है, ऐसा श्रुतियों में कहा गया है । सुन्दरता की

परीक्षा में प्रत्येक स्त्री को सुन्दर लगे, यही सुन्दर होने की कसौटी है। अतः सब स्त्रियों को जिनका दर्शन सुन्दर लगता है, ऐसे वे प्रभु प्रत्येक को सुन्दर लगते हैं, इसलिये वे लक्ष्मी जी के भी आश्रय रूप हैं। वैष्णव सिद्धान्त से सिद्ध भगवान् का श्याम स्वरूप है, जिससे भक्तों के आश्रय रूप भगवान् हैं, ऐसा बताया गया है। बिजली जैसे वस्त्र बताकर यह कहा गया है कि वे काल की वृष्टि करने वाले प्रभु हैं। प्रभु अच्युत हैं इसलिये परिभ्रमण करते हैं, फिर भी समस्त देश से सम्बन्ध वाले हैं, अथवा शंख और चक्रादि के साथ हैं जिससे उनकी रक्षा करने की सामर्थ्य प्रकट होती है।

भगवान् के चार श्री हस्त लम्बे और शोभायमान हैं। सूक्ष्म स्वरूप में आकार भली प्रकार स्पष्ट नहीं होता, ऐसी किसी को शंका हो, इसलिये भगवान् की लम्बी चार भुजाएँ हैं, यह कहा गया है। उन्हें घुटनों तक लम्बी भुजाओं वाला बताया गया है। चारों पुरुषार्थ देने के लिए चार भुजाओं से दर्शन दिये हैं। चारों पुरुषार्थों को देने आदि की क्रिया गति तक बताई है। यही बात बताने के लिये श्री हस्त की लम्बाई के विषय में कहा गया है। क्रिया और गति लक्ष्मी जी के साथ हो, तब ही कार्य की सिद्धि होती है। यह बताने के लिये 'श्रीमद् दीर्घ चतुर्बाहुम' (लक्ष्मीजी युक्त चार लम्बे हाथों वाले) कहा गया है। जिससे, वे इस लोक तथा परलोक के फलों को प्रदान करने वाले हैं, यह सूचित किया है। तपे हुये स्वर्ण के रंग वाले दो कुण्डल हैं अर्थात् साङ्ख्य और योग ही दो कुण्डल हैं। अतः हरेक विद्या को प्रदान करने वाली स्थिति उस स्वरूप में विद्यमान है। तपे हुये स्वर्ण की उपमा देने का अभिप्राय यह है, कि क्लेश से ताप होता है और उसे ज्ञान की प्राप्ति होती है।

प्रभु रुधिर जैसे लाल नेत्रों वाले हैं, ऐसा कहकर बाधक रूप ब्रह्मास्त्र को दूर करने के लिये सहज क्रोध को प्रकट किया है। इससे भक्तों की रक्षा करने में प्रभु की आसक्ति बताई हैं। प्रभु का उग्रपना बताकर उनकी सावधानी सूचित की है।

भगवान् के श्री हस्त में गदा है। बारहवें स्कन्ध में कहा गया है कि "कि मन की शक्ति, इन्द्रियों की शक्ति और शरीर की शक्ति युक्त मुख्य तत्त्व रूप गदा को भगवान् ने धारण कर रखा है।" ऐसा वाक्य कहने से वह गदा आसन प्राणयुक्त

है, यह सिद्ध किया है। इससे प्राण जाने के भय का अभाव बताया है।

वायु में तेज की उत्पत्ति होने से तेज का लय वायु में होता है। तेज का ग्रास करने में वायु तत्त्व ही सक्षय है, अतः ब्रह्मास्त्र के तेज का ग्रास करने के लिये वायु रूपी गदा को भगवान् ने धारण किया ताकि बढ़े हुये तेज को वह वायु गदा शान्त करदे। भगवान् ने ऐसा निश्चय करके श्री हस्त में गदा को धारण किया। भगवान् की गदा चौतरफ फिरती हुई "सर्वत्र मैं ही मैं हूं, मैं ही रक्षा करता हूं", जीव को भगवान् का यह सन्देश देती है।

यहाँ यह एक विशेष बात बताई गई है, कि जिस प्रकार आकाश में चमकते तारों (उल्काएं) की प्रकाश रेखाए गिरती हैं, वैसी तेजस्वी गदा को भगवान् फिरा रहे हैं। तेज में अपने कारणपने को बताती हुई वह गदा अपने अन्दर रहने वाले तेज को प्रकट कर रही है, वह उल्का के समान दिखाई देती है। गदा को लगातार फिराते रहने का आशय यह है, कि वे दैत्यों का निवारण कर रहे हैं। अपनी गदा से ब्रह्मास्त्र के तेज का नाश कर रहे हैं ।।८-९।।

आभास—किञ्च—

श्लोक—**अस्त्रतेजः स्वगदया नीहारमिव गोपतिः ।**
विधमन्तं सन्निकर्षे पर्यैक्षत क इत्यसौ ।।१०।।

श्लोकार्थ—जिस प्रकार सूर्य कोहरे को नष्ट कर देता है, उसी प्रकार अपनी गदा द्वारा वे प्रभु ब्रह्मास्त्र के तेज को दूर कर रहे थे। ऐसे उन भगवान् को, ये कौन हैं ? इस प्रकार वे परीक्षित चारों ओर देखने लगे ।।१०।।

सुबोधिनी—अस्त्रतेजः स्वगदयेति । जननपर्यन्तं ब्रह्मास्त्रं चेत्तिष्ठेत्तदा निर्गमनसमये दैत्याद्युपोद्बलनात्कदाचिद्दहेत् । अत इदानीमेव स्वरूपतो नाशयति । अग्निवन्नाशनेऽपि तदंशभूतं भस्म तिष्ठेत् । अतो निरंशैनाशनज्ञापनार्थं **नीहारमिव गोपतिरित्युक्तम्** । कुहरं सूर्य इव दर्शनसमय एवैतत्कुर्वाणम् । **सन्निकर्ष इति** तस्मिन् स्नेहः प्रदर्शितः । तदा जिज्ञासाऽभूत्तस्य कोयऽमिति । ततो ज्ञानार्थं परीक्षां कृतवान् । तत्र परीक्षायां विषयमाह— **क इति** । निश्चयमाह— **असाविति** । योऽसि सोऽसीति ।।१०।।

व्याख्यार्थ—अपनी गदा से भगवान् ब्रह्मास्त्र के तेज का नाश कर रहे हैं। इसलिये कि उस गर्भ के जन्म तक ब्रह्मास्त्र रहे, तो गर्भ के बाहर निकलने पर वह अशुभ और मलयुक्त होने से दैत्य का बल बढ़ जाये अथवा उसको जलाकर ही नष्ट करदे, अतः अपने ही स्वरूप से नाश करते हैं। अग्नि की तरह नाश करने पर भी उस का अंश रूप भस्म तो रह ही जाय, अतः वह भस्म भी न रहे, इस कारण स्वरूप से उसका नाश करते हैं। यह बताने के लिये दृष्टान्त दिया जा रहा है, कि जिस प्रकार सूर्य कोहरे को मिटा देता है उसी प्रकार प्रभु का स्वरूप ब्रह्मास्त्र का नाश कर देता है। उस गर्भ को जब प्रभु का दर्शन हुआ तो ब्रह्मास्त्र का नाश करते हुये हुआ।

वे अत्यधिक निकट हैं, यह कहकर उनके ऊपर स्नेह बताया गया है। बिल्कुल पास में दर्शन करते हुये, कि ये कौन हैं,ऐसी जानने की इच्छा परीक्षित जी को हुई। उन्हें समझने के लिये परीक्षा की और यह विचार पूर्वक जान लिया कि ये सदैव रहने वाले हैं, और वही मेरे अनुभव में आ रहे हैं। ये कृत्रिम (बनावटी) नहीं हैं, जैसे कभी मायामय रूप से दिखाई देते हैं, ये वैसे नहीं हैं ॥१०॥

आभास—एवं सर्व कार्य कृत्वा स्वाभिप्रेतार्थसिद्धौ मध्ये भोगार्थमन्तर्धानं प्राप्तवानित्याह—

आभासार्थ—इस तरह प्रत्येक कार्य करके उन (परीक्षित जी) की रक्षा करने में भगवान् का जो अभिप्राय था उसके सिद्ध हो जाने पर, मध्य में उनके द्वारा राज्य आदि का भोग सिद्ध करने के लिये वे अन्तर्धान हो गये, ऐसा कहा जा रहा है–

श्लोक—**विधूय तदमेयात्मा भगवान् धर्मगुब्विभुः।**
मिषतो दशमास्यस्य तत्रैवाऽन्तर्दधे हरिः ॥११॥

श्लोकार्थ—जिनका स्वरूप सीमा में नहीं आ सकता, ऐसे धर्म कीं रक्षा करने में समर्थ भगवान् ने ब्रह्मास्त्र के तेज को नष्ट कर दिया तथा दस महीने तक गर्भ द्वारा दर्शन किये जाते हुए वहाँ ही स्वयं में अन्तर्हित हो गये कारण यह कि प्रभु भक्त के दुःखों को दूर करने वाले हैं ॥११॥

सुबोधिनी—विधूयेति। ततेजो विधूय। तर्हि परीक्षिता कथं न रक्षित इत्याशङ्क्याऽऽह—**अमेयात्मेति**। मनसाऽपि ज्ञातुमशक्य: केन रक्षितुं शक्यत इत्यर्थ:। **भगवानित्यप्राकृतत्वाय**। अन्तर्धाने धर्मरक्षा हेतु:। नन्वेतावतैव कथं सर्वं कार्य सेत्स्यतीत्याशङ्क्याऽऽ—**विभुरिति**। सर्वसमर्थो यथैवेच्छति तथैव करोतीत्यर्थ:। दशमासपर्यन्तं स्थित्वा पश्चादन्तर्हित:। दशमास्य, दशमास्यस्येति वा पाठ:। **मिषत** इत्यन्यत्र गमनशङ्का वारिता। अन्यतो भगवान्नाऽऽगत: किन्तु तत्रैव प्रकट इति ज्ञापयितुं तत्रैवाऽन्तरधीयत। पूर्णज्ञानस्योत्पत्तौ बन्धूना दु:खं स्यादिति शुकतुल्य एवाऽयं प्राकृत इव कृत इत्याह—**हरिरिति**॥११॥

व्याख्यार्थ—उस ब्रह्मास्त्र के तेज को नष्ट करके भगवान् अन्तर्धान हो गये तब परीक्षितजी ने किसलिये उन्हें नहीं रोके रखा? ऐसा कोई कहै तो उसका समाधान है, कि जब भगवान् का स्वरूप मन को भी पकड़ में नहीं आ सकता तो उसे कौन रोके रख सकता है? अर्थात् कोई भी नहीं रोक सकता। वे प्राकृत नहीं हैं, यह बताने के लिये, यहाँ भगवान् शब्द का प्रयोग किया गया है। परीक्षित द्वारा धर्म की रक्षा करानी है, इसलिये भगवान् अन्तर्धान हो गये।

उस गर्भ की रक्षा करने मात्र से ही प्रत्येक कार्य कैसे सिद्ध हो जायेगा? ऐसी शंका का उत्तर देते हैं, कि वे भगवान् सब कुछ करने में समर्थ हैं। भगवान् की जैसी इच्छा होती है, वैसा ही करते हैं। दस महीने तक भगवान् गर्भ में विराज कर फिर अन्तर्हित हुये हैं। अथवा जब उस गर्भ को दस महीने व्यतीत हो गये तब भगवान् अन्तर्हित हुये। उस गर्भ के देखते-देखते प्रभु न दिखाई देने वाले हो गये। इसलिये भगवान् किसी दूसरे स्थान पर पधार गये, इस शंका को दूर किया है। भगवान् वहाँ किसी दूसरी जगह से नहीं आये, बल्कि वहीं प्रकट हुये थे, यह बताने के लिये वहाँ ही गायब हो गये ऐसा कहा गया है।

परीक्षित जो शुकदेवजी के ही बराबर हैं, परन्तु उन्हें पूर्ण ज्ञान हो जाता तो वे भी जन्म लेते ही घर छोड़ कर चल देते और इससे उनके बन्धुओं को दु:ख होता, अत: भगवान् ने परीक्षित को प्राकृत जैसा ही बनाये रखा। यह बताने के लिये कहा गया है, कि भगवान् हरि हैं, अत: भक्तों के दु:खों का हरण करने वाले हैं ॥११॥

आभास—एवं भगवत्कृपां प्राप्य मुख्येनाऽधिकारिदेहेन महापुरुषत्वज्ञापनार्थं मुख्ये काले प्रादुर्भूत इत्याह—

आभासार्थ—इस तरह भगवान् की कृपा को प्राप्त करके, मुख्य अधिकारी के देह द्वारा महापुरुषपना बताने के लिये, मुख्य काल में परीक्षित का जन्म हुआ, उसे बताया जा रहा है-

श्लोक—**ततः सर्वगुणोदर्के सानुकूलग्रहोदये ।**
जज्ञे वंशधरः पाण्डोर्भूयः पाण्डुरिवौजसा ।।१२।।

श्लोकार्थ—इसके बाद सब गुणों के फलों को प्राप्त करने का समय आया और उसमें अनुकूल ग्रहों का उदय हुआ । उस समय में पाण्डु के वंश को धारण करने वाला, मानो मन की शक्ति से दूसरा ही पाण्डु उत्पन्न हुआ हो, इस प्रकार श्री परीक्षित जी का जन्म हुआ ।।१२।।

सुबोधिनी—**तत इति** सर्वे गुणा उदर्के उत्तरफले यस्य। तादृशे काले। कालस्य हि बहवो गुणाः ते कदाचिदुपकुर्वन्ति । अस्य त्वग्र उपक रिष्यन्तीत्यर्थः । **सानुकूलग्रहोदये** । अनुकूललग्नसहितानां ग्रहाणामुदयो यत्र । अनेन ग्रहफलादपि भावि तस्य सर्वफल ज्ञातुं शक्यमित्युक्तम् । **वंशधरः** । एतस्याऽग्रे पुत्रा भविष्यन्तीति ज्ञापितम् । पाण्डोवंशो गत एव स्थितः । अनेन धृत इति नित्यसापेक्षत्वादसमर्थसमासः । यथा पाण्डू राजकामनायामेवाऽवतीर्णः । अन्धस्य ज्येष्ठस्य राज्यानर्हत्वात् । तथा पाण्डवानां भगवता सह वैकुण्ठगमनावश्यकत्वाद्राजत्वायाऽय मवतीर्ण इत्यर्थः । ओजसाऽप्यय पाण्डुतुल्यः ।।१२।।

व्याख्यार्थ—अन्त में जब गुणों के फल-उदय का समय आया, तब परीक्षित जी का जन्म हुआ । काल के बहुत गुण हैं, वे कभी उपकार करते हैं और आगे आने वाले समय में भी वे उपकार करेंगे । इसलिये अनुकूलता के साथ उस समय में ग्रहों का उदय हुआ उन ग्रहों के फल से बालक के भविष्यफल को भी जाना जा सकता है, ऐसा कहा है । वे परीक्षित वंश को धारण करने वाले हैं, इस से उनके आगे पुत्र होगा, ऐसा जनाया गया है । पाण्डु राजा का वंश नष्ट हो ही गया था, इस गर्भ द्वारा ही वंश को रक्षा हुई । ऐसा नित्य सापेक्ष होने से, असमर्थ पद का समास किया गया है । पाण्डु से पहले धृतराष्ट्र उत्पन्न हुये थे, वे अन्धे थे । पर अन्धे को कोई कार्य करने का अधिकार नहीं, अतः धृतराष्ट्र राज्य करने के योग्य नहीं थे । राज्य के लिये योग्य पुत्र होने की कामना थी, अस्तु मानो पाण्डु राजा का ही इस रूप में पुनः जन्म हुआ हो । पाण्डवों का भगवान् के साथ जाना भी जरूरी था, अतः पृथ्वी

पर राजा होना चाहिये इसलिये इन परीक्षित जी का जन्म हुआ। जिस प्रकार का ओजबल पाण्डु राजा का था, वैसा ही परीक्षित जी में है, यह बताया गया है ॥१२॥

आभास—तस्य प्रासङ्गिकं कृत्यमाह–

आभासार्थ—अब उनके जन्म हो जाने पर, उससे सम्बन्धित प्रासंगिक कार्यो को कहा जा रहा है–

श्लोक—**तस्य प्रीतमना राजा विप्रैर्धौम्यकृपादिभिः ।**
जातकं कारयामास वाचयित्वा च मङ्गलम् ॥१३॥

श्लोकार्थ—प्रसन्न मन हुये राजा युधिष्ठिर ने धौम्य और कृपाचार्य आदि ब्राह्मणों से मङ्गल सूचक स्वस्तिवाचन कराते हुये, परीक्षित का जातकर्म संस्कार करवाया ॥१३॥

सुबोधिनी—**तस्येति** । यद्यपि गार्भिकबैजिकैनो नास्ति तथाप्यपूर्वपक्षमाश्रित्याऽष्टाचत्वारिंशत्संस्कारान् वदन् जातकर्माऽऽह । मूर्द्धाभिषिक्तस्य स्वतः करणायोगाद्विप्रैरित्युक्तम् । **धौम्यः** पाण्डवपुरोहितः । **कृपः** परम्परागतः **जातकं** कर्मनामधेयम् । **मङ्गलं** पुण्याहवाचनम् ॥१३॥

व्याख्यार्थ—यद्यपि गर्भ सम्बन्ध से अथवा बीज सम्बन्ध से उस बालक में कोई पाप नहीं है, तदपि जातक के निमित से बालक का संस्कार किया जाना चाहिये। इस पक्ष का आश्रय करके, अड़तालीस संस्कारों का निरूपण करने के अन्तर्गत जात कर्म संस्कार भी आ जाता है, उसका निरूपण किया जाता है।

राजा युधिष्ठिर का पट्टाभिषेक हुआ है, अतः वे स्वयं इस कर्म को नहीं कर सके इसलिये ब्राह्मणों से यह कर्म करवाया गया है। धौम्य ऋषि पाण्डवों के पुरोहित हैं और कृपाचार्य परंपरा से राजकुल में सम्मानित हैं तथा इसी प्रकार कई ब्राह्मणों ने बालक परीक्षित का जात कर्म संस्कार कराया। उस संस्कार में पुण्याहवाचन भी किया गया ॥१३॥

आभास—जन्मोत्सवमाह–

आभासार्थ—जन्म के समय का उत्सव वर्णन किया जा रहा है—

श्लोक—**हिरण्यं गां महीं ग्रामान् हस्त्यश्वान्नृपतिर्वरान् ।**
प्रादात्स्वन्नञ्चविप्रेभ्यः प्रजातीर्थे सतीर्थवित् ।।१४।।

श्लोकार्थ—तीर्थ के स्वरूप को मानने वाले ब्राह्मण जिनके साथ हैं, ऐसे राजा युधिष्ठिर ने पुत्र जन्म रूप तीर्थ में ब्राह्मणों को सोना, गाय, भूमि, गांव, हाथी, घोड़े इच्छित वस्तुएं तथा बहुत सा अन्न प्रदान किया ।।१४।।

सुबोधिनी—**हिरण्यमिति । महीं** वृत्तिकरीं भूमिम् । **वरान्** अभिमतार्थान् । **स्वन्नमामं** गोधूमादि । **प्रजातीर्थे "देवाश्च पितरश्चे"**ति वाक्यात्पुत्रजन्मसमये सर्वदेवतासान्निध्यात्प्रजातीर्थं इत्युक्तम् । वैदिके कर्मणि ज्ञानादेव फलमित्यस्य तीर्थत्वेनाऽप्रसिद्धत्वात्फल न भवेदित्याशङ्क्याऽऽह **सतीर्थविदिति** । तीर्थविद्भिः सहितः । अतस्तदुपदेशाज्ज्ञात्वा कृतवानित्यर्थः ।।१४।।

व्याख्यार्थ—आजीविका चलने जितनी भूमि ब्राह्मणों के लिये दान में दी गई। जिसने जिस वस्तु की चाहना प्रकट की, उसे वही वस्तु दी गई । गेहूं आदि अन्नों के भण्डार मुक्त कर दिये गये । ये सभी दान पुत्र के जन्म रूपी तीर्थ में दिये गये । पुत्र जन्म के समय "देवता तथा पितर वहां प्रसन्न होकर आते हैं," ऐसा वाक्य होने से सब देवता वहां उपस्थित हैं, अतः उसे प्रजातीर्थ कहा गया है ।

वैदिक कर्म में ज्ञान से ही फल उत्पन्न होता है । यहां पुत्र जन्म को तीर्थ मान लिया जाना प्रसिद्ध अर्थ के अन्तर्गत कैसे हुआ ? क्योंकि उसका कोई फल नहीं । इस शंका के समाधान में कहते हैं कि तीर्थ के स्वरूप को जानने वाले ब्राह्मण उनके साथ थे, अतः उनके उपदेश के अनुसार राजा युधिष्ठिर ने सब कार्य सम्पन्न किये ।।१४।।

आभास—अधिकसन्तोषार्थं जातकमाह—

आभासार्थ—अब अधिक सन्तोष उत्पन्न करने के लिये ज्योतिष सम्बन्धी बातें कही जा रही हैं—

श्लोक—**तमूचुर्ब्राह्मणास्तुष्टा राजानं प्रश्रयानतम् ।**
एष ह्यस्मिन्प्रजातन्तौ कुरूणां पौरवर्षभ ।।१५।।

दैवेनाऽप्रतिघातेन शुक्ले संस्थामुपेयुषि ।
रातो वोऽनुग्रहार्थाय विष्णुना प्रभविष्णुना ।।१६।।

तस्मान्नाम्ना विष्णुरात इति लोके बृहच्छ्रवाः ।
भविष्यति न सन्देहो महाभागवतो महान् ।।१७।।

श्लोकार्थ—विनयशील राजा युधिष्ठिर से प्रसन्न हुये ब्राह्मण कहने लगे, कि हे पुरुवंश में श्रेष्ठ, कुरुवंश की प्रजा में (जिसके बचाव का) तन्तु मात्र भी उपाय नहीं था, दैव से जो गर्भ मरण को प्राप्त हो रहा था, तब तुम्हारे ऊपर कृपा करने के लिये ही अत्यन्त प्रभाव वाले विष्णु ने उस गर्भ की रक्षा की। तुम्हारा यह पुत्र जगत् में बहुत बड़े यश वाला, भगवान् का महान् भक्त और विष्णुरात नाम से प्रसिद्ध होगा, इसमें किसी भी प्रकार का सन्देह नहीं ।।१५-१६-१७।।

सुबोधिनी—तमूचुरिति । अस्मिन्बालके द्वेधाऽप्युत्कर्षोऽस्ति । **भगवत्कृत** कालकृतश्च । तत्र भगवत्कृतं ये वसिष्ठादयो ब्राह्मणाःसर्वं अतिदानेन सन्तुष्टा विनयेन नम्रं गुह्यमूचुः । **एष इति** प्रथमं निर्दिशति । यस्य गुणा अग्रवक्तव्याः स एष इति निर्दिश्यते । यथा— '**सोमक्रयण्येषे**''ति । इममर्थं ज्ञापयति—**हीति** । **अस्मिन्निति** राजानं बालकं वश्यांश्च निर्दिश्य **प्रजातन्तौ** पुत्रपौत्रादि-रूपे वंशे । **कुरूणामिति** । कुरोर्भगवदीयत्वेन तद्वंशसंस्थाया अनुचितत्वात् । प्रधानसंस्थायामेव संस्थाव्यपदेशाच्च । **पौरवर्षभेति** । पितृभक्तत्वाच्च पुरोस्तस्याऽपि वंशसंस्थाऽनुचितेति । उपघात-हेतुमाह—**दैवेनेति** । वंशजनकानामदृष्टं समाप्तमिति । विच्छेदकादृष्टेन वा । प्रसवचनकादृष्टस्य विच्छेदकप्रतिबन्धकस्य चाऽभावात्संस्थाऽवश्यं भाव्या । अदृष्टं च नास्ति । **भगवांश्चवर्तते** । **किमत्र** भविष्यतीत्याशङ्कायां यथाकथञ्चिद्वंशेनोभयं समाहितं भविष्यतीस्याशङ्क्य तन्निषेधार्थे **शुक्ल** इत्युक्त्वा (?) "**दैवबलं बलमि**"ति वाक्यात् संस्थामुपेयुषि सति । अदृष्टे कालादीनामनुकूल-त्वात् । केवल भगवान् पुष्टिमार्गमाश्रित्य (?) **भवतामनुग्रहार्थाय** । पूर्वं यो भवत्स्वनुग्रहः कृत-स्तस्याऽर्थः **प्रयोजनमिदमिति** । "**नाऽपुत्रस्य लोकोऽस्ती**"ति श्रुतेः । अमृतत्वसम्पादकत्वाच्च भगवतः । **सामान्यामृतत्वाद्वंशस्य** । **प्रजामनु प्रजायन्ते तदुत मर्त्यामृतमि**"ति श्रुतेः । **भगवताऽयं** रक्षितः **किञ्च** । **स्वार्थमप्ययं** रक्षितो भागवतादिरूपेण प्रकर्षेणोद्भविष्णुना सर्वेषु **भगवद्भक्तेषु** **भागवतद्वाराऽऽविर्भावैकरसेन** । अतोऽर्थप्रतिपादक नाम **भवतीति** संज्ञाशब्दापेक्षया **यौगिकशब्द-**स्याऽजहत्स्वार्थेन मुख्यत्वान्नाम्ना **विष्णुरात इति** लोके **भविष्यति** प्रसिद्धो भविष्यतीत्यर्थः । कार-णोत्कर्षमुक्तत्वा कार्योत्कर्षमाह—**बृहच्छ्रवा इति** । भगवदाद्यपेक्षाऽप्यधिककीर्तिमान् । न हि भवन्त एवं रक्षिताः । न कालो निगृहीतः । न वा भगवतं **प्राप्तमिति** संस्थाप्रापककालादेः प्रति-बन्धकत्वात्कथमेवं भविष्यतीत्याशङ्कायामाह—**न सन्देह इति** । तत्र हेतुः—**महाभागवत इति** । भागवतस्य महत्त्वं भगवत्प्रियत्वेन । तदस्मिल्लक्षणादिना अवगम्यते । अतएव कालादीना नाऽत्राऽप कारजनकत्वम् । तदुत्तरत्र प्रश्नोत्तराभ्यां निरूपयिष्यते । किञ्च । यथा कालादिभ्यो भगवता बल दत्तं ततोऽप्यस्मै बहु दत्तमिति नाऽस्मिञ्छङ्का विधेयेत्याह—**महानिति** ।। १५ ।। १६ ।। १७ ।।

व्याख्यार्थ—इस बालक में दो प्रकार के उत्कर्ष हैं, भगवान् के द्वारा किया गया

तथा काल के द्वारा किया गया। भगवान् के द्वारा किये गये उत्कर्ष के अन्तर्गत वहां सर्वज्ञ वसिष्ठ आदि ब्राह्मण, जो दान को प्राप्त कर बहुत सन्तुष्ट हुये हैं; विनय से नम्र हुये राजा युधिष्ठिर के प्रति उस रहस्य का वर्णन करते हैं। 'एष इति' कहकर पहले से ही परीक्षित के उन गुणों की ओर निर्देश कर दिया है जो कि आगे बताये जाते हैं। जिस प्रकार (ज्योतिष विद्या के आधार पर पहले से ही) यह बता दिया जाता है, कि यह स्त्री सोमवल्ली को बेचने वाली है, उसी प्रकार इस बालक परीक्षित के विषय में भी कहा जा रहा है। इस अर्थ को बताने के लिये मूल में 'हि' अव्यय दिया गया है। राजा, बालक और वंश में उत्पन्न हुये अन्य लोगों का निर्देश करके कहा जा रहा है, कि इस प्रजातन्तु में अर्थात् पुत्रादि रूप वंश में ये परीक्षित भी उत्पन्न हुये हैं, जिनकी रक्षा भगवान् ने की है। कुरुराजा के वंश में यह बालक हुआ है। कुरुराजा के भगवदीय होने से उनके वंश की समाप्ति होना योग्य नहीं है। मुख्य के नाम से ही वंश गिना जाता है, बहुत दूर के पुरुष के समाप्त होने पर भी मुख्य के नाम से ही समाप्ति कहलाती है।

यहां 'पौरवर्षभ' सम्बोधन दिया गया है, जिसका अभिप्राय यह है कि पुरु राजा ने अपने पिता ययाति का बुढ़ापा लेकर अपनी युवा अवस्था उन्हें देदी। इस बात से बात से वे पिता के भक्त सिद्ध हुये। पिता पर जिसकी पूर्ण भक्ति होती है, उसका वंश नहीं मिटता। अतः भगवान् विष्णु ने बालक की रक्षा की है। उस गर्भ का अत्यधिक समीपता से नाश होने का कारण बताया जा रहा है। जो वापस कभी नहीं लौटता, ऐसे दैव के द्वारा उनका नाश हो गया था। इससे वंश के कर्त्ताओं का अदृष्ट समाप्त हो गया था अथवा अदृष्ट वंश का विच्छेद करने पर तुल गया था। उस गर्भ का सुख पूर्वक प्रसव कराने में, या कि प्रतिबन्ध दूर करने में अदृष्ट कारण नहीं था, अतः वंश की समाप्ति सुनिश्चित थी।

अदृष्ट वंश को रक्षा करने वाला नहीं था। भगवान् ने रक्षक रूप में पधारकर रक्षा की। यह बात कैसे सम्भव हुई? ऐसी शंका होने पर उसका समाधान इस प्रकार बताया जा रहा है। वंश रहने की इस आशंका को करके, फिर उसका निषेध करने के लिये ही यह कहा गया है, कि गर्भ की मृत्यु हुई।

नवम स्कन्ध में यह कथा है कि 'युवनाश्व राजा के सौ स्त्रियां थीं, उनमें से किसी के प्रारब्ध में संतति नहीं थी। ऋषियों ने उनके संतति करने का विचार

किया और पुंसवन का अभिमंत्रित किया हुआ जल एक घड़े में भर दिया गया। रात में प्यास से व्याकुल हुये राजा ने वह जल पी लिया। प्रातः ऋषियों को यह बात ज्ञात हुई, तब ऋषियों ने कहा, कि "दैव बल बलवान है।" सौ स्त्रियों में से एक के भी प्रारब्ध में सन्तान नहीं थी, परन्तु ईश्वर की प्रेरणा से राजा उस जल को पी गया। बाद में उस राजा की कोंख को फाड़कर एक पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसका नाम मान्धाता रखा गया।

वहां दैव बल की व्याख्या की गई है। वह गर्भ मृत्यु को प्राप्त हो ही, ऐसा अदृष्ट था। कालादिक उसके अनुकूल थे। उस समय भगवान् ने केवल अनुग्रह रूप पुष्टिमार्ग का आश्रय करके ही उसकी रक्षा की है, कारण कि किसी भी अन्य प्रकार से उसकी रक्षा हो ही नहीं सकती थी। उस अनुग्रह का प्रयोजन गर्भ की रक्षा करना मात्र ही था। "पुत्र के बिना उत्तम लोक की प्राप्ति नहीं होती" ऐसा वेदों में कहा गया है। "प्रजा के बाद में प्रजारूप होना, यही मनुष्य के लिये अमृत है," यह भी वेदों में कहा गया है, अतः वंश की वृद्धि हुई, यह सामान्य अमृत हैं। भगवान् अमृत का संपादन करने वाले हैं, इसीलिये भगवान् ने इस बालक की रक्षा की है। भगवान् ने अपने लिये भी परीक्षित की रक्षा की हैं। भू-लोक में से अवतार रूप से तिरोहित हो जाने के बाद श्री भागवत के रूप में प्रकट होने की आप की इच्छा हुई। भागवत द्वारा भक्तों में आविर्भाव होने के लिये ही आप एक रस रूप हुये। अतः परीक्षित द्वारा श्री भागवत की प्रसिद्धि करवाने के लिये ही प्रभु ने गर्भ की रक्षा की। विष्णु ने गर्भ की रक्षा की, ऐसा अर्थ होने के कारण इस बालक का नाम 'विष्णुरात' लोक में प्रसिद्ध हुआ।

संज्ञा नाम की अपेक्षा अर्थ की व्यावहारिकता वाला नाम ही वास्तविक नाम होता है। जिस नाम में उसका अर्थ त्याग न हो अर्थात् जैसा नाम वैसा काम हो, तभी नाम की सार्थकता है। इसीलिये 'विष्णुरात' नाम से यह बालक प्रसिद्ध हुआ। उसकी उत्पत्ति के महत्त्व प्रतिपादन के बाद अब कार्य के द्वारा महत्ता बताई जा रही है। यह बालक बहुत यश वाला होगा। यों तो आप सभी पाण्डव बहुत यश वाले हो, परन्तु यह बालक परीक्षित आपसे भी बढ़चढ़कर कीर्ति प्राप्त करेगा। कारण यह है कि भगवान् ने इस प्रकार किसी की भी रक्षा नहीं की। काल ने भी तुम्हें इस तरह नहीं बांधा। इसी तरह आपको भगवत भी प्राप्त नहीं हुआ।

मृत्यु को प्राप्त करने वाले काल द्वारा बाधा पहुंचाये जाने पर भी ये सब बातें इस रूप में किस तरह घटित हुई। ऐसी शंका करके कहते हैं, कि इसमें सन्देह नहीं है। क्योंकि वे परीक्षित जी भगवान् के परम भक्त हैं। भगवान् के भक्त की महानता भगवान् के प्रिय होने पर ही होती है। ये सभी बातें इस बालक के लक्षण आदि को देखकर जानी गई हैं। यहीं कारण है, कि काल आदि यहां किसी भी प्रकार का अपकार करने वाले सिद्ध नहीं हुये। काल कुछ भी बिगाड़ नहीं सका। इसे आगे चलकर पृथ्वी तथा धर्म के वार्तालाप द्वारा वर्णन किया जायेगा। जिस समय कलियुग के निग्रह का प्रसंग आयेगा, उस समय कलियुग व परीक्षित जी के संवाद से इसे भली प्रकार समझाकर कहा जायेगा।

जिस प्रकार काल आदि को भगवान् ने बल प्रदान किया है उसी प्रकार परीक्षित जी को भी भगवान् ने बहुत कुछ प्रदान किया है; इसमें सन्देह करने का कुछ भी स्थान नहीं, कि यह बालक निश्चय ही महान् होगा ।।१५-१६-१७।।

आभास—एवं महद्भिरर्थे निरूपिते कालाद्भयं मन्यमानः "**सर्वं कालकृतं मन्य**" इत्युक्तत्वात्कालज्ञान्पृच्छति—

आभासार्थ—इस प्रकार परीक्षित जी की महानता का निरूपण करने के पश्चात्, पहले जो भीष्मपितामह ने कहा था, कि "तुम्हें जो दुःख आदि प्राप्त हुये है, ये काल द्वारा हुये हैं; ऐसे काल से भयभीत हुये राजा युधिष्ठिर, काल के जानने वाले ज्योतिषियों से पूछते हैं—

राजोवाच-श्लोक—**अप्येष वंश्यान् राजर्षीन् पुण्यश्लोकान् महात्मनः।**
अनुवर्त्तिता स्विद्यशसा साधुवादेन सत्तमाः ।।१८।।

श्लोकार्थ—हे उत्तम सत्पुरुषो ! क्या यह बालक, हमारे वंश में पहले उत्पन्न हुये, पुण्य यश वाले महात्माओं तथा राजर्षियों के यश एवं श्रेष्ठ पुरुषों से दिये गये साधुवाद के अनुसार आचरण करने वाला होगा ? ।।१८।।

सुबोधिनी—अप्येष इति। भगवत्कृपाव्यतिरेकेणाऽपि यथा कालेनाऽस्मद्वश्या रक्षिता यशस्विनश्च कृतास्तथाऽयं किं भविष्यतीति प्रश्नः। वंश्येष्वपि ये पुण्यश्लोकाः पुरूरवस्प्रभृतयः।

तत्राऽपि ये महात्मानः कुरुसदृशाः । यशः सर्वजनीनम् । साधुवादः सद्भिरेव क्रियमाणः । चरित्र-स्वभावोत्कर्षौ वा यशःसाधुवादशब्दाभ्यामुक्तौ । वेदार्थसर्वज्ञाः सत्तमाः ।।१८।।

व्याख्यार्थ—भगवान् की कृपा के अतिरिक्त भी जैसे काल ने हमारे वंशजों की रक्षा की तथा उन्हें यश वाला बनाया, क्या उसी प्रकार यह बालक भी बनेगा ? ऐसा प्रश्न युधिष्ठिर ने किया । वंश में भी जो पुरुरवा आदि के समान पुण्य श्लोक हुये हैं तथा कुरु के समान महात्मा पुरुष हुये हैं, क्या यह बालक वैसा ही यशस्वी, पुण्यश्लोक और महात्मा बनेगा ? यश तो सर्वजनीन होता है । सभी जन यश को जानने वाले होते हैं, परन्तु साधुवाद तो श्रेष्ठ लोगों के द्वारा ही दिया जाता है; क्या यह ऐसे साधुवाद का पात्र होगा ? चरित्र, स्वभाव, उत्कर्ष की स्थितियों का कथन, साधुवाद शब्द में समाहित करते हुये कहा गया है । वेद के तात्पर्य को पूरी-पूरी तरह जानने वाले और सर्वज्ञता की स्थिति वाले जनों को "सत्तमाः" शब्द से सम्बोधित किया है ।।१८।।

आभास—तत्र सर्वमेव कालोत्कर्षमाहुः—

आभासार्थ—परीक्षित के प्रसंग में काल द्वारा किये गये सब ही उत्कर्षों को ब्राह्मणों द्वारा इस प्रकार कहा जा रहा है—

ब्राह्मणा ऊचुः-श्लोक—**पार्थ प्रजाविता साक्षादिक्ष्वाकुरिव मानवः ।**
ब्रह्मण्यः सत्यसन्धश्च रामो दाशरथिर्यथा ।।१९।।

श्लोकार्थ—हे पार्थ ! जिस प्रकार साक्षात् मनु का पुत्र इक्ष्वाकु हो वैसा ही यह प्रजा का पालन करने वाला होगा । यह परीक्षित, श्री दशरथ के पुत्र श्री रामचन्द्र जी के समान ब्राह्मणों का भक्त और सत्य का पालन करने वाला होगा ।।१९।।

सुबोधिनी—पार्थेति । यद्यपि भगवतैवं रक्षिते सन्देहोऽनुचितस्तथापि हे पार्थ अयं साक्षात् प्रजाविता न मन्त्रिद्वारा । स्वयमेवेष्टादिकरणात् । यद्यपि मनोर्बहवः पुत्रा जातास्तथाप्यान्तवंशकृदिक्ष्वाकुरेव जातः । तस्य यथा प्रजापालनविच्छिन्नमेवमस्याऽपि । शत्रुमित्रादिषु समो वा । शशादनिष्कासनात्सर्वज्ञत्वाद्वा तथा वदन्ति । मानवो वैवस्वतमनोः पुत्रः । ब्रह्मण्यो ब्राह्मणभक्तः । सर्वस्वदानात् । सत्यसन्धः सत्यप्रतिज्ञः । वनवासगमनात् । दाशरथी रघुनाथः । कालस्याऽपकारजनकत्वं स्वेच्छया भगवत्यपीति भगवद्दृष्टान्तः ।।१९।।

व्याख्यार्थ—यद्यपि भगवान् के द्वारा इस प्रकार रक्षा किये जाने पर सन्देह करना अनुचित हैं तथापि हे पार्थ ! यह परीक्षित साक्षात् प्रजा की रक्षा करने वाले बनेंगे, न कि मन्त्री द्वारा रक्षा कार्य करायेंगे । स्वयं प्रजा से सीधा सम्पर्क रखते हुए उनके हित आदि इष्ट कार्यों को करने वाले होंगे । यों तो मनु के बहुत से पुत्र हुये परन्तु अन्त में वंश को आगे बढ़ाने वाला एक इक्ष्वाकु ही हुआ । जिस प्रकार उसका प्रजा पालन कर्म बाधा रहित था या निरन्तरता युक्त था वैसा ही प्रजा पालक यह परीक्षित भी होगा, अथवा उसी प्रकार शत्रु तथा मित्र में समान भाव रखने वाला होगा । इक्ष्वाकु ने अपने पुत्र शशाद को किसी अपराध के दण्ड स्वरूप नगर से बाहर निकाल दिया था, इससे उसका प्रजा में समान भाव होना सूचित हुआ, वैसा ही समदृष्टा यह भी होगा । अथवा वे ब्राह्मण सर्वज्ञ होने से ये सब बातें बता रहे हैं । इक्ष्वाकु वैवस्वत मनु के पुत्र थे । उन्हीं के वंश में उत्पन्न राम ने ब्राह्मणों को सर्वस्व दान में दिया था, अतः वे ब्राह्मण भक्त थे । वे राम सत्य प्रतिज्ञ थे, जो कि उनके वनवास गमन से प्रमाणित होता है । राम ही की तरह परीक्षित भी ब्राह्मण भक्त तथा सत्य का पालन करने वाले बनेंगे । अपनी इच्छा से काल को भी दण्ड देने की सामर्थ्य भगवान् में हैं और वही क्षमता इस बालक में भी है, अतः यहाँ भगवान् सम्बन्धी उदाहरण दिया गया है ।।१९।।

श्लोक—**एष दाता शरण्यश्च यथा ह्यौशीनरः शिबिः ।**
यशो वितनिता स्वानां दौष्यन्तिरिव यज्वनाम् ।।२०।।

श्लोकार्थ—यह, उशीनर देश के राजा शिबि के समान दाता तथा शरण आये हुये की रक्षा करने वाला होगा । दुष्यन्त के पुत्र राजा भरत के समान यज्ञों का करने वाला तथा अपने जनों का यश विस्तार करने वाला बनेगा ।।२०।।

सुबोधिनी—**शरण्यः** शरणागतरक्षकः । चकारात्प्रत्येकसमुदायाभ्यां कीर्तिमान् । उशीनर-वंशोत्पन्नः शिबिः । तस्य समुदायकीर्त्तिरेव प्रसिद्धा इन्द्राऽग्निसंवादे । **दौष्यन्तिर्भरतः** सर्वस्याऽपि सोमवंशस्य यशःप्रदः । यज्वनां च । शताधिकाश्वमेधकरणात् । **सर्वत्र** चकारे पूर्वोक्तसम्बन्धो दृष्टांते दार्ष्टन्तिके चाऽवगन्तव्यः ।।२०।।

व्याख्यार्थ—शिबि राजा शरणागत की रक्षा करने वाले थे । मूल में चकार होने से दाता और शरणागत रक्षक होंगे, ऐसा कहा गया है । इस प्रकार ये दोनों

प्रकार से कीर्ति वाले बनेंगे ।

शिबि राजा उशीनर के वंश में हुये थे । उनकी दोनों ही प्रसंगों में कीर्त्ति थी । उनके पास में इन्द्र कबूतर बनकर तथा अग्नि बाज बनकर गये थे । शरण में आये कबूतर की रक्षा के लिये शिबि ने अपना मांस देकर रक्षा कार्य किया । इन्द्र और अग्नि के संवाद में उनकी कीर्त्ति प्रसिद्ध है । दुष्यन्त से शकुन्तला में उत्पन्न पुत्र भरत हुये । वे समस्त सोमवंश के यश तथा यज्ञों के विस्तार करने वाले थे । कारण यह, कि उन्होंने सौ से भी अधिक अश्वमेध यज्ञों का अनुष्ठान किया था । भरत के समान ही आपका पुत्र परीक्षित भी अपने पूर्वजों के यश को बढ़ाने वाला होगा । मूल में चकार है, जिससे यह बताया गया है, कि राजा भरत के समान अपने पूर्वजों का यश बढ़ाने वाला होगा तथा यज्ञों को फैलाने वाला होगा, ऐसा कहा गया है ।

सभी जगह आये हुये चकार से पहले कहे गये दृष्टान्त तथा जिसके लिये दृष्टांत दिया जा रहा है उसे समझ लेना चाहिये ॥२०॥

श्लोक—धन्विनामग्रणीरेष तुल्यश्चार्जुनयोर्द्वयोः ।
हुताश इव दुर्धर्षः समुद्र इव दुस्तरः ॥२१॥

श्लोकार्थ—धनुष धारण करने वालों में यह अर्जुन तथा सहस्रार्जुन के समान अग्रणी होगा । अग्नि के समान दुधर्ष तथा समुद्र के समान किसी से भी पार न किया जा सकने जैसा होगा ॥२१॥

सुबोधिनी—धन्विनां धनुर्धराणाम् । **अर्जुनः** पितामहः । कार्त्तवीर्योऽर्जुनश्च । चकारादधिकश्च । कालनिग्रहात् । **हुताशो**ऽग्निः । **धर्षण**मतिक्रमः । आज्ञोल्लङ्घनमिति यावत् । **दुस्तरः** । **युद्धे सेनायाः स्वस्य वा** जयाभावोऽतरणम् । तद्वानित्यर्थः ॥२१॥

व्याख्यार्थ—धनुष को धारण करने वालों में पितामह अर्जुन और कार्त्तवीर्य सहस्रार्जुन के समान यह बालक पराक्रमी होगा । इतना ही नहीं, वरन् यह तो काल का भी निग्रह करेगा, इस प्रकार यह दोनों अर्जुनों से बढ़चढ़ कर होगा; यह बात चकार से सूचित होती है । आग को कोई भी नहीं उलांघ सकता, इसी प्रकार इस परीक्षित की आज्ञा को भी कोई टाल नहीं सकेगा । जिस प्रकार समुद्र में तैरा नहीं जा

सकता वैसे ही युद्ध में परीक्षित तथा इसकी सेना कोई हरा नहीं सकता ॥२१॥

श्लोक—**मृगेन्द्र इव विक्रान्तो निषेव्यो हिमवानिम ।**
तितिक्षुर्वसुधेवाऽसौ सहिष्णुः पितराविव ॥२२॥

श्लोकार्थ— (यह परीक्षित) सिंह के समान पराक्रम वाला, हिमालय के समान सेवन करने योग्य, पृथ्वी के समान सहनशील तथा माता-पिता के समान सहिष्णु (अपराधों को सहन करने वाला) होगा ॥२२॥

सुबोधिनी— **विक्रान्तः** पराक्रमवान् । देहापेक्ष्याऽधिककौशलबलवान् । **मृगेन्द्र** सिंहः । **निषेव्यो** देवादीनामप्याश्रयः । यथा हिमवान् महादेवादेः । निर्दोषस्थानाद्वा । अतएव ऋषिवासस्तत्रैव । गुणेष्वेव दृष्टान्ताः सर्वत्र । **तितिक्षुः** अतिक्रमसहनवान् । **वसुधा** सर्वं सहा । **सहिष्णुः** तद्दोषसहनशीलः । स्वस्मिन्नपराधसहनं पृथ्वीवत् । तस्यैवाऽनुचितसहनं पितृवत् ॥२२॥

व्याख्यार्थ—(परीक्षित) सिंह के समान पराक्रमशील होगा । देह की तुलना में अधिक कौशल से युक्त तथा बल से सम्पन्न होगा । जिस प्रकार हिमालय देवताओं तथा महादेवजी आदि द्वारा सेवन किया जाता है अथवा महादेव जिस प्रकार हिमालय का आश्रय लेकर रहते हैं उसी प्रकार परीक्षित भी देवताओं का आश्रयभूत होगा । हिमालय दोषरहित होने से ऋषियों द्वारा सेवित होता है, वे उसमें तपश्चर्या करते हैं, उसी प्रकार परीक्षित के राज्य में भी (शौनक आदि) ऋषिगण निवास करते हैं । सभी स्थान पर गुणों को प्रकट करने के लिये ही दृष्टान्त दिये गये हैं । जैसे पृथ्वी पर अनेक प्रकार के अतिक्रम किये जाने पर भी वह उन्हें सहन कर जाती है, वैसे ही अपने प्रति किये गये अपराधों को भी यह सहन करेगा । माता-पिता अपनी सन्तानों द्वारा किये गये अनुचित कार्यों को भी जिस प्रकार सहन कर लेते हैं वैसे ही अपने प्रति किये गये अनुचित कार्यों को भी यह सह लेगा ॥२२॥

श्लोक—**पितामहसमः साम्ये प्रसादे गिरिशोपमः ।**
आश्रयः सर्वभूतानां यथा देवो रमाश्रयः ॥२३॥

श्लोकार्थ—(यह परीक्षित) ब्रह्माजी के समान सबमें समान दृष्टि रखने वाला होगा, कृपा करने में महादेव के समान होगा, लक्ष्मीजी के आश्रयरूप विष्णु भगवान् के समान सभी का आश्रय रूप होगा ॥२३॥

सुबोधिनी—**पितामहो** ब्रह्मा । **साम्यं** देवदैत्यनरेषु तुल्यता । **प्रसादे** अविचारितदाने । **गिरिशो** महादेवः । **आश्रय** आधारः । अवलम्बनमिति यावत् । सर्वार्थेषु यथा लक्ष्म्या **भगवां**स्तथा सर्वेषां **भगवान्** । निदर्शनं स्पष्टार्थम् । तथाऽयमित्यर्थः । धर्मादीनामपि रक्षकत्वात् ॥२३॥

व्याख्यार्थ—जिस प्रकार ब्रह्माजी देवता, दैत्य व मनुष्यों में समान दृष्टि वाले हैं, उसी प्रकार यह सभी को समान दृष्टि से देखने वाला होगा । पात्र का विचार न करते हुये जिस प्रकार महादेवजी वरदान देते हैं, वैसा ही वरदान दाता यह होगा (कलियुग को इच्छित स्थान देने के उदाहरण रूप में यह वरदानशीलता घटित हुई है) । जिस प्रकार प्रत्येक अर्थ में भगवान् लक्ष्मीजी तथा भूत प्राणियों के आश्रयरूप हैं उसी प्रकार यह प्रत्येक का आधार रूप सिद्ध होगा । सबका आधार किस रूप में होगा, इसे स्पष्ट करने के लिये भगवान् का दृष्टान्त दिया गया है । जैसे भगवान् धर्म आदि की रक्षा करते हैं, वैसे ही यह करेगा ॥२३॥

श्लोक—**सर्वसद्गुणमाहात्म्य एष कृष्णमनुव्रतः ।**
रन्तिदेव इवोदारो ययातिरिव धार्मिकः ॥२४॥

श्लोकार्थ—सभी सद्गुणों के माहात्म्य में श्री कृष्ण के ही सिद्धान्तों का अनुकरण करने वाला होगा । रंतिदेव राजा के समान उदार और ययाति के समान धार्मिक होगा ॥२४॥

सुबोधिनी—**सर्वे** यावन्तः सद्गुणाः सत्यशौचादयस्तेषां **माहात्म्यं** परमोत्कर्षः । तदर्थं **कृष्णं** भगवन्तमनु व्रतं यस्य । उपासनया कृपया तत्तुल्य इत्यर्थः । **रन्तिदेवो** नवमस्कन्धे वक्ष्यते । यस्तु पुष्कसाय जलं दत्वा सन्तुष्टः । **उदारो**ऽत्यन्तदातृस्वभावः । यथा ययातिर्देवयान्यां शुक्रदुहितर्ययुक्तायामपि मनस्तु तद्गत बुध्वा धर्मोऽयमित्यङ्गीकृतवान् ॥२४॥

व्याख्यार्थ—सत्य, शौच इत्यादि कितने ही गुण हैं, उन गुणों की उन्नति के लिये श्री कृष्ण भगवान् के कार्यो का अनुव्रत करने वाला होगा । कृष्ण के ही लक्ष्यों पर आचरण करेगा । क्योंकि इसने श्री कृष्ण की उपासना की है अतः प्रभु की इस पर कृपा होने से यह उनकी बराबरी का माना गया । रंतिदेव राजा की कथा नवम् स्कन्ध में कही जायेगी । रंतिदेव राजा के ४८ उपवास हो जाने के बाद उन्हें भोजन एवं जल मिला । उसमें से भोजन भिक्षुक को दे दिया तथा पानी एक प्यासे चाण्डाल को पिला दिया; इस तरह अपनी बहुत बड़ी उदारता का परिचय दिया । राजा

ययाति ने भी शुक्राचार्य जी की पुत्री देवयानी को कुए से बाहर निकाला था, तब देवयानी ने राजा ययाति से विवाह की प्रार्थना की। राजा को ब्राह्मण की पुत्री के साथ विवाह नहीं करना चाहिये, तो भी वह दैव योग से प्राप्त हुई है तथा राजा का मन भी उसमें लग गया है, इसलिये यह विवाह धर्मरूप हुआ, यह मानकर राजा ने इस कार्य को किया। (बृहस्पति के पुत्र कचका देवयानी को शाप था, अतः उसका विवाह ब्राह्मण के साथ होने वाला नहीं था, इसलिये ययाति का मन उसमें लगा, कारण कि वह विवाह धर्मरूप था)। इसी प्रकार यह बालक भी धर्म के स्वरूप को जानने वाला होगा ।।२४।।

श्लोक—**धृत्या बलिसमः कृष्णे प्रह्लाद इव सद्ग्रहः।**
आहर्त्तैषोऽश्वमेधानां वृद्धानां पर्युपासकः ।।२५।।

श्लोकार्थ—बलि राजा के समान धैर्यशाली, प्रभुभक्ति में आग्रह रखने वाले प्रह्लाद के समान भक्त होंगे। (ये परीक्षित) अश्वमेध यज्ञों के करने वाले और वृद्धों को उपासना करने वाले होंगे ।।२५।।

सुबोधिनी—धैर्ये बलिसमः। स चाऽष्टमे वक्ष्यते। सद्ग्रहो भक्तिः। समीचीनो ग्रहो वा। यज्वनामित्यत्र यागान्तरैरपि तथात्वसम्भवादश्वमेधाहरणं पृथगुक्तम्। स्वस्य सर्वापेक्षयाऽप्यधिकगुणत्वेऽपि न गर्व इत्याह—**वृद्धानामिति**। पुत्रद्वाराऽप्युत्कर्षः ।।२५।।

व्याख्यार्थ—बलिराजा के समान परीक्षित जी धैर्य धारण करने वाले होंगे। श्री कृष्ण में जैसी भक्ति प्रह्लाद जी की थी, इस भक्ति के प्रति वे जितने सद् आग्रही थे वैसे ही भक्त परीक्षित जी होंगे। यह बालक अश्वमेध यज्ञों का करने वाला होगा। ऊपर भरत राजा का दृष्टान्त यश करने वालों का यज्ञ बढ़ाने के विषय में कहा गया था। अन्य दूसरे प्रकार के यज्ञों को करने से भी यश बढ़ सकता है, अतः यहां विशिष्ट यज्ञ शब्द का प्रतिपादक अश्वमेध यज्ञ का करने वाला बताया गया है। अन्यों से बढ़चढ़ कर होने पर भी, सर्वाधिक गुणों का भण्डार होने पर भी इसे अभिमान तनिक भी स्पर्श नही करेगा। यही बात बताने के लिये उसे वृद्धजनों का उपासक कहा गया है। (बड़ों के समान विनम्रता, आज्ञापालन, सिद्धान्त, अनुसरण आदि वृद्धों की उपासना कहलाती है)। पुत्र आदि द्वारा भी परीक्षित जी की गौरव वृद्धि बताई जा रही है ।।२५।।

श्लोक—**राजर्षीणां जनयिता शास्ता चोत्पथगामिनाम् ।**
निग्रहीता कलेरेष भुवो धर्मस्य कारणात् ।।२६।।

श्लोकार्थ—(यह बालक परीक्षित) राजर्षियों को भी उत्पन्न करने वाला होगा। नीति विरुद्ध चलने वाले लोगों को शिक्षा देने वाला होगा। पृथ्वी तथा धर्म की रक्षा के लिये यह कलियुग का भी निग्रह करने वाला होगा ।।२६।।

सुबोधिनी—**राजर्षीणां** जनमेजयादीनां जनयिता। पुत्रमपि दण्डयेदिति तदनन्तरं शासनमुक्तम्। असकृन्मर्यादोल्लङ्घने दण्डः। शासनं शिक्षापूर्वकदण्डः। **निग्रहीता** निग्रहं करिष्यति। भुवो धर्मस्य च कारणात् चरित्रे स्पष्टं भविष्यति ।।२६।।

व्याख्यार्थ—आपका यह बालक अपने पुत्रों द्वारा भी यश प्राप्त करने वाला होगा। जनमेजय आदि राजर्षि पुत्रों को यह उत्पन्न करने वाला होगा। अपराध करने पर पुत्र को भी दण्ड देने वाली बात बताने के लिये तुरन्त ही यह कहा जा रहा है कि बार-बार मर्यादा तोड़ने वाले को यह दण्ड देने वाला होगा। शिक्षापूर्वक दण्ड दिये जाने को शासन कहा जाता है। परीक्षित के शासनकाल में जो नियम से उल्टा चलने वाला होगा उसे यह दण्ड द्वारा नियमित करेगा। यह कलियुग का भी नियन्त्रण करने वाला बनेगा। कलियुग का यह निग्रह पृथ्वी तथा धर्म की रक्षा के कारण ही किया जायेगा। यह सब वास्तविकता उनके चरित्र से स्पष्ट हो जायेगी। ।।२६।।

आभास—वैराग्यमन्ते निकटे फलपर्यवसायि भविष्यतीत्याह—

आभासार्थ—अन्त में वैराग्य इसे बहुत ही पास से फल को देने वाला होगा, ऐसा बताया जा रहा है—

श्लोक—**तक्षकादात्मनो मृत्युं द्विजपुत्रोपसर्जितात् ।**
प्रपत्स्यत उपश्रुत्य मुक्तसङ्गः पदं हरेः ।।२७।।

जिज्ञासितात्मयाथात्म्यो मुनेर्व्याससुतादसौ ।
हित्वेदं नृप गङ्गायां यास्यत्यद्धाऽकुतोभयम् ।।२८।।

इति राज्ञ उपादिश्य विप्रा जातककोविदाः ।
लब्धोपचितयः सर्वे प्रतिजग्मुः स्वकान् गृहान् ।।२९।।

श्लोकार्थ—शमीक ब्राह्मण के पुत्र शृंगी द्वारा भेजे जाने वाले तक्षक सर्प से स्वयं की मृत्यु सुनकर, यह परीक्षित सब प्रकार के संग का त्याग करके हरि भगवान् के पद को प्राप्त करेगा ।।२७।।

हे युधिष्ठिर जी, यह बालक व्यास जी के पुत्र शुकदेव जो से आत्मा के यथार्थ स्वरूप को जानने की इच्छावाला होगा और अपने शरीर को गङ्गाजी में त्यागकर साक्षात् भगवान् को प्राप्त होगा ।।२८।।

इस प्रकार ज्योतिष शास्त्र के पारंगत पण्डितों ने राजा को (परीक्षित विषय समस्त भविष्य) बताया तथा राजा से बहुत सी दक्षिणादि प्राप्त करके अपने-अपने घरों की ओर प्रस्थान कर गये ।।२९।।

सुबोधिनी—**तक्षकादिति** । **आत्मनो** देहस्य । **मृत्युं** नाशम् । **द्विजपुत्रः** शृङ्गी । **उपसर्जितात्** प्रेषितात् । उपश्रुत्य **मुक्तसङ्गः** कृतसंन्यासः । **हरेः** पदं गङ्गातीरसत्सभाम् । तत्र हि **भगवत्पदम्**-भिव्यक्तम् । **व्याससुतान्मुनेः** शुकात् । **जिज्ञासितः** सम्यग्विचारपूर्वकं ज्ञातः **आत्मनो भगवतः** स्वस्य च **याथात्म्य**मिदमित्थतया निर्णयः । **असावित्यन्ते** प्रतिनिर्देशः प्रत्यापत्त्यर्थः । एतावत्कालं मध्ये कार्यार्थे भगवता रक्षितः । पुनरन्ते ब्रह्मास्त्रेणैव ब्राह्मणप्रेषिततक्षकरूपेणोपसंहृत इति । **इदं** शरीरम् । **नृपेति** सम्बोधनं राज्ञां युद्धनिष्ठानाममोहत्वज्ञापनाय । **अद्धा** निश्चयेन । **अकुतोभयं** भगवच्चरणारविन्दम् । **उपादेशनमेकान्ते** राजमात्रज्ञापनम् । तेषां ज्ञाने हेतुः—**जातककोविदा इति** । **जातकं** ज्योतिश्शास्त्रैकदेशः । प्रकृतोपयोगित्वादेतदुक्तम् । वस्तुतः सर्वांशविदः । **लब्धा** उपचितिः प्रत्युपकारो धनादिर्यैस्ते । **सर्वे** पूर्वोक्ता एते च । पूर्णमनोरथत्वात्स्वगृहानेव गता नाऽन्यत्र । भगवत्परितुष्टे पुरुषे कालादिना भगवत्सेवकेनैतावत्क्रियत इत्युक्तम् ।।२७।। २८।। २९।।

व्याख्यार्थ—स्वयं के देह का नाश ब्राह्मण के पुत्र शृङ्गी ऋषि द्वारा भेजे गये तक्षक नाम के सर्प से सुनकर, ये परीक्षित जी समस्त प्रकार के संग का त्याग करके सन्यास ग्रहण कर लेंगे एवं हरि भगवान् के चरण कमलों को प्राप्त होंगे । गंगाजी के किनारे पर जहां सत्पुरुषों की सभा होगी, वहां इन्हें भगवान् के चरणों की प्राप्ति होगी । ये, व्यासजी के पुत्र शुकदेव जी के पास से विचारपूर्वक भगवान् का निर्णय पूरी तरह जान जायेंगे साथ ही अपने स्वरूप को भी निर्णयात्मक रूप से समझलेंगे ।

यह बालक भय आदि को भगवान् में समर्पित कर देगा। "यह बालक," ऐसा शब्द कहकर यह निर्देश किया गया है, कि इसे फिर से ब्रह्मास्त्र की प्राप्ति होगी। मध्य में उससे कार्य करवाने हेतु ही भगवान् ने उसकी रक्षा की। बाद में तक्षक सर्प रूपी ब्रह्मास्त्र से उसका उपसंहार किया गया है, जिससे यह अपना शरीर छोड़ेगा। "हे नृप," ऐसा जो सम्बोधन दिया गया है, वह इसलिये कि युद्ध में निष्ठा वाले राजाओं को मोह नहीं होता। जिन भगवान् के चरण कमलों की शरण होने पर भय स्पर्श भी नहीं कर सकता; यह परीक्षित उन चरण कमलों को प्राप्त होगा। एकांत में इस वास्तविकता को पण्डितों द्वारा केवल युधिष्ठिर जी को ही बताया गया है। उन ब्राह्मणों को ऐसा ज्ञान होने में कारण बताया जा रहा है, कि वे जातक विद्या के ज्ञाता थे। जातक विद्या ज्योतिष शास्त्र का एक भाग है जो कि भविष्य कथन के लिये बहुत ही उपयोगी है। अतः पण्डितों को जातक जानने वाला बताया गया है। वैसे तो सत्य बात यह है, कि ब्राह्मण सभी बातों को सर्वांश रूप से जानने वाले थे। उन ब्राह्मणों द्वारा जातक के कथन किये जाने पर राजा ने बहुत सी दक्षिणायें धन आदि भेंट के रूप में दी। इस प्रकार वे सब ब्राह्मण पूर्ण मनोरथ होकर अपने-अपने घर गये, कहीं अन्यत्र नहीं गये। जिन पर भगवान् सन्तुष्ट होते हैं, ऐसे पुरुषों के लिये सेवक रूप में स्थित काल आदि भी अनुकूल स्थितियां जुटा देते हैं, ऐसा इस सन्दर्भ में कहा गया है ॥२७॥ २८॥ २९॥

आभास—क्रमात्तदुक्तस्य संवादमाह—

आभासार्थ—ऊपर किये गये कथनों के आधार पर अब क्रम से उन संवादों का कथन किया जा रहा है।

श्लोक—**स एष लोके विख्यातः परीक्षिदिति यत्प्रभुः।**
पूर्वदृष्टमनुध्यायन् परीक्षेत नरेष्विह ॥३०॥

श्लोकार्थ—वे ये परीक्षित जी इस प्रकार लोक में विख्यात् हैं। भगवान् द्वारा सामर्थ्यं प्रदान करने से ये प्रभु के समान ही हैं। पहले जिनका दर्शन किया था, उन्हीं पुरुष का ये अब ध्यान करते हैं, अतः ये "परीक्षित" नाम से प्रसिद्ध हैं ॥३०॥

सुबोधिनी—**स एष इति**। यो भगवता रक्षितः स इदानीमग्रिमकथार्थमनूद्यते एष इति। परीक्षिदिति विख्यातः। ननु विष्णुरात इति विख्यातो भविष्यतीति सर्वज्ञानां वचनम्। तत्कथं

परीक्षिदिति । लोके विख्यात इति । तत्राऽऽह--**यत्प्रभुरीति** । यस्मात्कारणादयं प्रभुः । भगवता स्वसामर्थ्यदानाद्भगवद्रूपो जात इति पूर्वं भगवत्करणापेक्षयाऽपीदानीन्तनभगवत्कृत्यं सन्निहित-त्वादादरणीयम् । पूर्वस्य च फलमिति विष्णुरातनाम्ना प्रसिद्धोऽपि परीक्षित्वेनैव प्रसिद्धः । तत्र निमित्तमाह--**पूर्वदृष्टमिति** । इदं हि नाम तस्य क्रियोद्बोधकम् । परीक्षितमात्मानं श्रुत्वा परितो भगवन्तमीक्षते । परित ईक्षामित परीक्षितः । अथवा । **इदिति** इवार्थेऽव्ययं **"सर इन्मुखं त"** इत्यत्र प्रसिद्धम् । परित **ईक्ष** दर्शनम् । अविभक्तिकधातुनिर्देशः । परितो दर्शनमिवाऽयमिति तकारान्तः । तेनैतत्सङ्गेऽन्यस्याऽपि परितो दर्शनं भवतीति ज्ञापितम् । **नरेष्विति । "आविस्तरां प्रपश्यन्ती"**ति वाक्याद्भगवद्दर्शनाधिकारः सूचितः । अथवा । परीक्षिदिति विख्यातः । तत्र हेतुः । यस्मात्प्रभुर्भगवानेव ज्ञातवानयं बालकोऽग्रे नरेषु पूर्वदृष्टं रूपमनुध्यायन् **परीक्षेत** परीक्षां कुर्यादिति । **"अङ्गुष्ठमात्रं पुरुषं निश्चकर्ष यमो बलादिति"** जीवोऽप्यङ्गुष्ठमात्रो भवति । परमित-रसामग्रीरहितः । अनेन वैलक्षण्येन जीवस्वरूपाद्भिन्नं भगवत्स्वरूप जानात्वियेतदर्थं नामेत्यर्थः । **इह** संसारे । अत्राऽऽगतस्य बुद्धिभ्रंशः प्रायेण भवतीति ॥३०॥

व्याख्यार्थ—जिनकी रक्षा भगवान् ने की है उनकी कथा के लिए यह अनुवाद किया जा रहा है कि ये परीक्षित नाम से विख्यात होंगे । सर्वज्ञ ब्राह्मणों का यह वचन है, कि 'विष्णुरात' नाम से यश प्राप्त करेंगे । बाद में परीक्षित् नाम से क्यों प्रसिद्ध हुए, ऐसी कोई शंका करे वहां कहते हैं, कि जिस कारण ये प्रभु हैं, अर्थात् भगवान् ने अपना सामर्थ्य प्रदान किया, इसलिए ये भगवत् रूप हुए हैं । पहले भगवान् ने जो किया है उसकी तुलना में अब भगवान् का कार्य सम्पादन करने से ये अधिक आदरणीय हुए है । भगवान् द्वारा परीक्षित् की रक्षा भी इसीलिए की गई, कि यह रक्षा हो जाने पर धर्म की रक्षा करेगा जिससे भागवत की प्रवृत्ति होगी । 'विष्णुरात' (विष्णु से रक्षित हुआ) नाम से प्रसिद्ध होने पर भी परीक्षित् नाम से प्रसिद्ध हुआ है, इसमें कारण यह है कि पहले गर्भ में जिनका दर्शन किया है, उन्हीं का ध्यान करते हुए परीक्षा करते हैं, अतः यह परीक्षित् नाम उनके कार्य को बताने वाला है । अथवा नाम परीक्षित् सुनकर चौ तरफ भगवान् को ही देखने लगे । "परि" (चारों ओर) 'ईक्षाम्' (देखने से) होने से इनका नाम परीक्षित् हुआ । अथवा परीक्षित् शब्द में इत् शब्द 'इव' के अर्थ में अव्यय रूप से प्रयुक्त है । है । पांचवें स्कन्ध में आग्नीन्ध्र राजा ने पूर्वचिति नाम की अप्सरा से ये वाक्य कहे थे, वहां "सर इन्मुखं त" ऐसा कहा गया है, अतः ईक्ष् धातु देखने के अर्थ में आता है इसी को आधार मानकर अर्थ करने से, चौ तरफ जिसे भगवान् के दर्शन होते हैं, ऐसा अर्थ परीक्षित् शब्द का हुआ । परीक्षित् जी के संग से अन्यों को भी भगवान्

के दर्शन हुये, यह भी सिद्ध हुआ। पुरुषों में परीक्षा करते हैं, ऐसा कहा गया है। एकादश स्कन्ध में भगवान् ने उद्धव जी से कहा है कि पुरुष शरीर में भगवान् को प्रकट देखना चाहिये। इससे पुरुष के शरीर में भगवान् के दर्शन का अधिकार बताया गया है। अथवा परीक्षित नाम से प्रसिद्ध होने का एक कारण और भी है, कि भगवान् ने जाना कि यह बालक मेरे स्वरूप का जिस रूप में दर्शन कर चुका है, उस स्वरूप को पुरुष शरीर में देखकर, ध्यान करते हुये यह परीक्षा करेगा कि इसी स्वरूप का मुझे पहले दर्शन हुआ था। इन सभी कारणों से इनका परीक्षित नाम से विख्यात होना युक्ति युक्त है। "अंगूठे जितने आकार वाले पुरुष को बल पूर्वक यम देवता ने खींचा," ऐसा एक वाक्य आता है; जिसके आधार पर जीव भी अंगुष्ठ मात्र होता है। पर उसे तो अन्य रूप में नहीं माना जा सकता, क्योंकि भगवान् ने जो दर्शन जिन-जिन आयुधों, वस्त्रों आदि सामग्रियों के साथ दिये थे, वे जीव के साथ होती ही नहीं। इस विलक्षणता के कारण भगवान् का स्वरूप जीव से भिन्न होता है। उस भिन्नता को समझ लेने की क्षमता के कारण ही इनका नाम परीक्षित है। इस संसार में आये हुओं का बुद्धिनाश बहुत अधिक हो चुका होता है, पर उस बुद्धि में भगवान् की स्मृति बनी रही, यह सिद्ध करने के लिये यहां परीक्षित नाम दिया गया है ॥३०॥

आभास—दग्धशरीरत्वात्क्षीणतामाशङ्क्याऽऽह—

आभासार्थ—उनका शरीर अश्वत्थामा के द्वारा फेंके गये ब्रह्मास्त्र से जल गया है, अतः उस शरीर में क्षीणता आ गई होगी ? ऐसी शंका का उत्तर देते हुये कहते हैं, कि—

श्लोक—स राजपुत्रो ववृध आशु शुक्ल इवोडुपः।
आपूर्यमाणः पितृभिः काष्ठाभिरिव सोऽन्वहम् ॥३१॥

श्लोकार्थ—जिस प्रकार शुक्ल पक्ष में ताराओं का पति चन्द्रमा बढ़ता है, उसी प्रकार सदैव नवीन कलाओं से पूर्ण होता हुआ, पिताओं द्वारा उन्नत किया जाता हुआ परीक्षित प्रतिदिन बड़ा होने लगा ॥३१॥

सुबोधिनी—स राजपुत्रो ववृद्ध इति। शुक्ले शुक्लपक्षे। उडुप इति स्त्रीवेष्टितत्वमुक्तम्।

ता एव हि पोषणाभिज्ञाः । पितृभिरापूर्यमाणः । सर्वाभीष्टपदार्थदानात् । काष्ठाभिः कलाभिः । प्रत्यह वैलक्षण्यदर्शनार्थं दृष्टान्तः ।।३१।।

व्याख्यार्थ—शुक्ल पक्ष में तारों का पति चन्द्रमा जिस प्रकार बड़ा होता है, उसी प्रकार वह राजपुत्र बढ़ने लगा । जैसे चन्द्रमा स्त्रियों से घिरा रहता है, क्योंकि स्त्रियाँ पोषण करने में चतुर होती हैं, वह भी उनके बीच दिनोंदिन पोषित हो रहा है । युधिष्ठिर आदि पितागण भी बालक परीक्षित को प्रत्येक इच्छित वस्तु प्रदान करते हुये पूर्ण बनाते हैं । कलाओं से पूर्ण होता हुआ चन्द्रमा जिस प्रकार प्रतिदिन विलक्षण दिखाई देता है, उसी प्रकार यह राजपुत्र प्रतिदिन विशेष गुणों को धारण करता हुआ विकसित होता है । यही विकास बताने के लिये यहां चन्द्रमा का दृष्टांत दिया गया है ।।३१।।

आभास—एवं तस्य चरित्रं सर्वमुक्त्वा पूर्वं भगवन्मानसकृतमश्वमेधं पुनः काले केवलं भगवतैव सम्पादितमिति वक्तुं प्रकारमाह—

आभासार्थ—इस प्रकार परीक्षित का सब चरित्र कहकर, पहले भगवान् द्वारा मन से अश्वमेध यज्ञ किया जाकर और फिर से भगवान् द्वारा ही (यज्ञ) सम्पादित किये जाने वाली बात कही गई है । यह कहने के लिये ही अब वह प्रकार बताया जा रहा है—

श्लोक—यक्ष्यमाणोऽश्वमेधेन ज्ञातिद्रोहजिहासया ।
राजाऽलब्धधनो दध्यावन्यत्र करदण्डयोः ।।३२।।

तदभिप्रेमालक्ष्य भ्रातरः कृष्णचोदिताः ।
धनं प्रहीणमाजह्रुरुदीच्यां दिशि भूरिशः ।।३३।।

तेन सम्भृतसम्भारो धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ।
वाजिमेधैस्त्रिभिर्भीतो यज्ञैः समयजद्धरिम् ।।३४।।

श्लोकार्थ—जाति के द्रोह को छोड़ने की इच्छा से अश्वमेध यज्ञ द्वारा यजन करने वाले राजा युधिष्ठिर कर और दंड के अतिरिक्त अन्य किसी स्थल से धन न मिलने पर विचार करने लगे ।।३२।।

युधिष्ठिर के अभिप्राय को जानकर, भगवान् से प्रेरित किये गये उनके भाईयों ने उत्तर दिशा से धन लाकर प्रदान किया ।।३३।।

ऐसे धर्म के पुत्र राजा युधिष्ठिर ने उस धन द्वारा प्रत्येक सामग्री एकत्रित करके, भयपूर्वक तीन अश्वमेध यज्ञों द्वारा हरि भगवान् का भलीभांति यजन किया ।।३४।।

सुबोधिनी—वक्ष्यमाण इति । करदण्डादिकं त्वकर्त्तव्यम् । द्रोहपरिहारार्थत्वादश्वमेधस्य । उचितकरादेस्तु राज्यनिर्वाहकत्वम् । अतो राजा अलब्धधनः कथं धनं प्राप्स्यामीति दध्यौ । करदण्डयोरुक्तो विनियोगः । राजत्वादेव न प्रतिग्रहः । देवताधिष्ठानान्न मेर्वादेः समानयनम् । पूर्वं राज्यवर्णने य उत्कर्ष उक्तः स प्रजानामर्थे । राज्ञस्तु कुतोऽपि याचनमयुक्तम् अतश्चिन्ता । भगवानपि न याचितः । अन्यथा नूतनमेव दद्यात् । किन्तु तदभिप्रेतमालक्ष्य भ्रातर एव समानीतवन्तः । तेऽपि चिन्ताकुलिता भगवतैव प्रेरिताः । अनेन भक्तानामल्पचिन्तामपि भगवान्न सहत इति सूचितम् । **प्रहीणं** बहु । अतिनिन्दितं वा । ब्राह्मणानां तदिति । आनयनं भगवप्रेरणात् । द्रोहस्तेषां पीडा । ब्राह्मणादीनां दुःखदूरीकरणार्थं प्रवृत्तोऽश्वमेधो ब्राह्मणानामेव द्रव्यैरुचितः । **उदीच्यां दिशि** । मरुत्तयज्ञे दक्षिणात्वेन प्राप्तं द्रव्यं भारान्नेतुमशक्यमुत्तरदेशे बहु परित्यक्तमस्ति । तदानीतमित्यर्थः । **तेन सम्भृतसम्भारः** । धनेन सम्भृता आज्यं पशवः पुरोडाशीयादयः सम्भारा येन । तस्याऽयुक्तत्वं निराकरोति —**धर्मपुत्र इति** । त्यक्तं भूमौ राजकीयमिति । युधि स्थिरत्वादश्वमेधसिद्धिः । अश्वमेधैरेव यज्ञैः । **"यज्ञेन यज्ञमयजन्ते"**ति श्रुत्यर्थख्यापनार्थमेवमुक्तम् । **हरिमिति** । ब्राह्मणानामपि दुःखदूरीकर्त्तारम् । अतो न पूर्वोक्तविरोधः । आहूत इति श्लोकद्वयं प्रक्षिप्तम् ।।३२ ।। ३३ ।। ३४।।

इति श्री भागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीवल्लभदीक्षितविरचितायां प्रथमस्कन्धे द्वादशोऽध्यायः ।।१२।।

व्याख्यार्थ—जाति का द्रोह दूर करने के लिये अश्वमेध यज्ञ करना ही चाहिये था, परन्तु नये कर लगाकर या दण्ड रूप में धन लेकर यह सम्पन्न नहीं किया जा सकता था, क्योंकि इससे प्रजा का द्रोह भड़क उठता । जो कर आदि सदैव से योग्य रूप में चला आ रहा था, वह तो राज्य व्यवस्था को संचालित करने में ही पूरा हो जाता था । अतः यज्ञ के लिये इन तरीकों से धन प्राप्त करना उचित न होने के कारण युधिष्ठिर को अन्य माध्यमों से धन प्राप्त न हुआ । यज्ञ के लिये धन कहाँ से आयेगा ? इस विचार में युधिष्ठिर तल्लीन हैं । कर और दण्ड से मिला हुआ धन तो राज्य के आवश्यक कार्यों में व्यय करने के लिये है । राजा होने से युधिष्ठिर यज्ञ

हेतु दान भी नहीं मांग सकते थे। मेरु पर्वत आदि में देवताओं का निवास है, अतः वहां से भी धन नहीं लिया जा सकता था। पहले राजा युधिष्ठिर के राज्य-वर्णन प्रसंग में उनकी प्रजा की रक्षा के विषय में महानता का वर्णन किया गया है। जो धन प्रजा से प्राप्त हुआ है, वह तो उसी के लिये व्यय किये जाने के लिये है। प्रजा से प्राप्त उस धन को राजकीय धन के रूप में खान-पान आदि खर्चों में नहीं लगाया जा सकता था। राजा किसी से माँगे, यह भी उचित नहीं लगता, अतः युधिष्ठिर इसी चिंता में उलझे हुये हैं ॥३२॥

श्री युधिष्ठिर ने भगवान् से भी धन विषयक याचना नहीं की, अन्यथा भगवान् तो उसे नूतन धन ही प्रदान कर देते। युधिष्ठिर का अभिप्राय जानकर उनके भाईयों ने धन लाकर प्रदान किया। पहले तो वे सब भाई भी चिन्ता से व्याकुल हुये, बाद में भगवान् की प्रेरणा से वे धन लाये। भक्तों को थोड़ी सी भी चिन्ता हो जावे, इसे भगवान् नहीं सह सकते। इस प्रसंग में यही सूचित किया गया है। उत्तर दिशा से लाया गया धन बहुत अधिक था अथवा बहुत निन्दित था। कारण यह है कि वह धन ब्राह्मणों का था। उस धन को वे भगवान् की प्ररणा से लाये हैं। युधिष्ठिर जी का अभिप्राय किसी को भी पीड़ा देने का नहीं था, प्रत्युत् ब्राह्मणों आदि का दुःख दूर करने के लिये ही यह अश्वमेध यज्ञ किया जाना था, अतः ब्राह्मणों के धन से ही इस यज्ञ का किया जाना उचित था, इसीलिये भगवान् ने प्रेरणा की। यह धन उत्तर दिशा में स्थित था। राजा मरुत्त के यज्ञ में यह धन ब्राह्मणों को दक्षिणा के रूप में दिया गया था। वह धन इतनी अधिक मात्रा में था, कि उस बोझ को ब्राह्मण अपने साथ नहीं ले जा सके, अतः उसे उत्तर दिशा में ही छोड़ दिया गया, उसी धन को अब इस समय लाया गया है ॥३३॥

उस धन से पशु पुरोडाश तथा ऐसे ही अनेक पदार्थों का संचयन करके वह यज्ञ सम्पन्न किया गया। ब्राह्मणों के धन से यज्ञ का किया जाना तो ठीक नहीं था, ऐसी शंका का उत्तर दिया जाता है, कि युधिष्ठिर धर्मपुत्र हैं, अतः किसी के भी द्वारा पृथ्वी पर छोड़ दिया गया धन राजा का ही कहलाता है, इस धर्म को राजा युधिष्ठिर जानते हैं। दिग्विजय करने के बाद ही अश्वमेध यज्ञ सम्भव है। जो युद्ध में स्थिर रहे उसी से अश्वमेध सिद्ध होता है, यह बताने के लिये ही राजा का नाम युधिष्ठिर प्रयोगित हुआ है। युधिस्थिर, युद्ध में स्थिर अर्थात् युधिष्ठिर, यह नाम

सिद्ध हुआ । तीन अश्वमेध यज्ञों के द्वारा प्रभु का यजन किया गया है । पुरुष सूक्त कहा गया है कि "यज्ञों द्वारा देवताओं ने यज्ञ का यजन किया ।" उस अर्थ को प्रसिद्ध करने के लिये यज्ञों द्वारा हरि का यजन करना लिखा गया है । भगवान् हरि होने से ब्राह्मणों का भी दुःख दूर करने वाले हैं, अतः ब्राह्मणों ने जो धन पृथ्वी के ऊपर छोड़ दिया था, उसे लाने के लिये भगवान् ने प्रेरणा की, यह बात पहले कही गई बात का विरोध नहीं करती । इस प्रसंग में "आहूतः" इत्यादि दो श्लोक इस अध्याय में और मिलते हैं जो कि प्रक्षिप्त हैं ।।३४।।

इति श्रीमद्भागवत महापुराण, प्रथमस्कन्ध के १२वें अध्याय की
श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण कृत श्री सुबोधिनी (संस्कृत टीका)
के 'उत्तमाधिकार प्रकरण' का षष्टम् अध्याय
हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण

राजा परीच्छित की गर्भ में रक्षा

गर्भ परीच्छित जारन गयौ । तब हरि ताहि जरन नहिं दयौ ।
रूप चतुर्भुज गर्भ-मंझारि । ताकौं तासौं लियौ उबारि ।
जन्म परीच्छित को जब भयौ । कह्यौ, चतुर्भुज कहँ अब गयौ ?
पुनि जब हरि कौं देख्यौ जोइ । पाइ संतोष सुखी भयौ सोइ ।
राजा जन्म समय कौं देखि । मन में पायौ हर्ष बिसेखि ।
गर्भ–परीच्छित रच्छा करी । सोइ कथा सकल बिस्तरी ।
श्री भगवान् कृपा जिहिं करै । सूर सो मारैं काके मरै ।
हरि, हरि भक्तनि कौं सिर नाऊं। हरि, हरि भक्तनि के गुन गाऊं ।
हरि, हरि भक्त एक, नहिं दोइ । पै यह जानत बिरला कोइ ।
भक्त परीच्छित हरि कौ प्यारौ । गर्भ–मंझार हुतौ जब बारौ ।
ब्रह्म–अस्त्र तें ताहि बचायौ । जुग-जुग बिरद यहै चलि आयौ ।
बहुरि राज ताकौ जब भयौ । मिस दिग्विजय चहूं दिसि गयौ ।

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

श्रीमद् भागवत संहिता

श्री मद्वल्लभाचार्य चरण द्वारा विरचित
श्री सुबोधिनी (संस्कृत टीका)
हिन्दी अनुवाद सहित

प्रथम स्कन्ध

अध्याय—१३

उत्तमाधिकार प्रकरण अध्याय–७

विदुर जी के उपदेश से धृतराष्ट्र और गांधारी का बन में जाना

कारिकायें—एवं भागवतश्रोतुर्देहोत्पत्तिर्निरूपिता ।
पुरुषत्रयमुक्तिर्हि तन्मुक्त्यर्थं निरूप्यते ॥१॥

पिता पितामहश्चैको धृतराष्ट्रस्ततः परः ।
प्रपितामहमुक्तिर्हि पूर्वं तत उदीर्यते ॥२॥

ततोऽध्यायद्वयेनैव द्विरूपत्वात्पितामहे ।
सनिमित्तां मुक्तिमाह हेतुकार्यविभेदतः ॥३॥

अमुक्तपितृका मुक्तिं नाऽऽमुवन्तीति वार्यते ।
अतो निश्चिन्ततासिद्ध्यै चित्तशुद्धिरिहोच्यते ॥४॥

ततो द्वयेनेन्द्रिययाणां राज्यशौर्यादिवर्णनैः ।
ततो वैराग्यसत्सङ्गावधिकारः फलोन्मुखः ।
ततो भवति पुष्टोऽपि नाऽन्यथेत्यग्रिमा कथा ।।५।।

कारिकार्थ—इस प्रकार भागवत के श्रोता परीक्षित की देह उत्पत्ति का निरूपण किया गया । अब उनकी मुक्ति के लिये तीन पुरुषों की मुक्ति का निरूपण किया जाता है ।।१।।

पिता, पितामह और प्रपितामह धृतराष्ट्र, इन तीन पुरुषों की मुक्ति का निरूपण किया जाता है । इसमें पिता अभिमन्यु चन्द्रमा के अंश थे और युद्ध में उनका सन्मुख मरण हुआ है अतः वे तो मुक्त हुये ही । बाकी बचे पांच पितामह, उनमें युधिष्ठिर मुख्य होने से प्रतिनिधि रूप में एक मानकर गणना की गई और धृतराष्ट्र प्रपितामह हैं, अब इन दोनों की मुक्ति का निरूपण किया जाता है । इस तेरहवें अध्याय में पहले धृतराष्ट्र की मुक्ति का निरूपण किया जा रहा है ।।२।।

मुक्ति होने का कारण और मुक्तिरूप कार्य, ये दो भेद युधिष्ठिर में होने से चौहदवें और पन्द्रहवें अध्याय में उनकी मुक्ति का निरूपण किया जायेगा । भगवान् भूतल पर से पधारे यह उनकी मुक्ति होने का कारण है और बाद में इन्द्रियों आदि के लय होने की भावना की, यह मुक्तिरूप कार्य में नियामक है । भगवान् के पधारने को सूचित करने वाले उत्पात युधिष्ठिर ने देखे । उन निमित्तों के साथ चौहदवें और पन्द्रहवें अध्यायों से युधिष्ठिर आदि की मुक्ति का निरूपण होगा । युधिष्ठिर जी द्वारा उत्पातों का देखा जाना एक अध्याय में है और दूसरे अध्याय में वे प्रत्येक पदार्थ का त्याग करके निकल पड़े और मुक्त हो गये, इस बात का वर्णन किया गया है ।।३।।

जिनके पिता, पितामह इत्यादि मुक्त न हुये हों, वे मुक्त नहीं होते । इसलिये पिता, पितामह आदि की अमुक्ति का वर्णन किया है, वे तो मुक्त हो हो गये थे, ऐसा कहा है । अतः राजा परीक्षित को उस विषय में चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं रह गई थी । इसके पश्चात् तीन अध्यायों में उनकी चित्त की शुद्धि का निरूपण किया गया है । वे उनकी मुक्ति में उपकार करने वाले आधार हैं । इसलिये तीनों पुरुषों की मुक्ति परीक्षित जो की मुक्ति को सिद्ध करने में कारण रूपा हैं ।।४।।

सोलहवें तथा सत्रहवें अध्याय द्वारा इन्द्रियों, राज्य तथा पराक्रम आदि का वर्णन किया गया है। अट्ठारहवें तथा उन्नीसवें अध्याय में परीक्षित जी के वैराग्य तथा सत्संग किये जाने का वर्णन है। वे उस फल के सिद्ध होने में अधिकार देने वाले आधारभूत तत्त्व हैं। तभी तो परीक्षित भागवत की कथा के श्रोता होने से पुष्ट अर्थात् अनुगृहीत हुये। यदि शुकदेव जी का सत्संग नहीं होता तो परीक्षित जी पुष्ट नहीं होते, इसलिये उन्नीसवें अध्याय की कथा कही गई है ॥५॥

आभास—तत्र प्रथमं धृतराष्ट्रमुक्तिरुच्यते । सा ज्ञानसाध्येति ज्ञानसिद्धयर्थं विदुरप्रसङ्ग उच्यते । विदुरोऽवान्तरव्यापारः । धर्मराजत्वेन गुरुर्वा । भगवता स्मृत इति तस्य दोषनिवृत्तिः । विदुरमैत्रेयकथां स्कन्धद्वये वक्ष्यति । तदग्रिमकथाऽत्र प्रयोजनार्थं निरूप्यते—

आभासार्थ—धृतराष्ट्र को ज्ञान सिद्ध होने में विदुर जी के प्रसंग का निरूपण किया जा रहा है। धृतराष्ट्र को पहले सनत्सुजात आदि ने उपदेश दिया था उसी उपदेश को विदुरजी ने फिर से सुनाया। उसमें विदुरजी अवांतर व्यापार रूप हैं। अथवा विदुरजी धर्मराज के अवतार होने से धृतराष्ट्र को समझाने लगे थे, अतः वे गुरु हुये। उद्योग पर्व में विदुरजी ने धृतराष्ट्र को नीति बतलाई है वहां "ज्ञान का उपदेश करने में मेरा अधिकार नहीं," ऐसा कहकर, सनत्सुजात को बुलाकर, उनके द्वारा धृतराष्ट्र को ज्ञान का उपदेश दिलवाया। यहां क्या उपदेश दिया गया? ऐसी शंका का समाधान करते हुये कहते हैं, कि श्री कृष्ण भगवान् ने प्रभास लीला के समय में विदुर जी को याद करके मैत्रेय जी के लिये आज्ञा दी थी कि आप विदुर जी के लिये ज्ञान का उपदेश करना। उस प्रमाण से उपदेश मिलने के बाद वे यहां आये हैं। विदुर जी को शूद्रपने का शाप सौ वर्ष की अवधि तक का था वे वर्ष पूरे हो चुके थे, अतः उपदेश न दे सकने का दोष निवारण हो चुका था। श्री भागवत में श्री विदुर जी और मैत्रेय जी का प्रसग लक्षण रूप में प्रतिपादन किया गया है। उसमें दश लीलाओं के अन्तर्गत सर्ग लीला और विसर्ग लीला होने से तीसरे और चतुर्थ स्कन्ध में उसका वर्णन किया जायेगा। उस कथा के प्रयोजन रूप में यहां उसका प्रसंग कहा जा रहा है—

सूत उवाच—श्लोक—**विदुरस्तीर्थयात्रायां मैत्रेयादात्मनो गतिम् ।**
ज्ञात्वाऽगाद्धास्तिनपुरं तया चाऽऽत्मविवित्सितः ।।१।।

श्लोकार्थ—तीर्थयात्रा में मैत्रेय जी से आत्मा की गति जानकर, उस गति से आत्मा के स्वरूप को पहचान कर विदुर जी हस्तिनापुर पधारे ।।१।।

सुबोधिनी—विदुर इति । तीर्थयात्रायां समाप्तायां चित्तशुद्धावुद्धवोपदेशान्मैत्रेयं प्राप्य **आत्मनो** भगवतो **गतिं** चेष्टाम् । लीलामिति यावत् । तां ज्ञात्वा ज्ञानसम्पन्नो हस्तिनापुरमगमत् । भगवत्क्रिययैव तस्याऽऽत्मयाथात्म्यं स्फुरितम् । तदाह—**तया चाऽऽत्मविवित्सित इति** । तया गत्या । विवित्सितो विशेषेण ज्ञातः । अयमर्थः । मैत्रेयसमीपे गत्वा स्वस्य सर्वज्ञतासिद्ध्यर्थं बहु पृष्टवान् । तत्र **"यस्मिन् विदिते सर्वमिदं विदितं भवती"**ति न्यायेन भगवच्चरित्रे ज्ञाते सर्वं ज्ञातं भवतीति तच्चरित्रं स्कन्धद्वयेनाऽवगतम् । तत्रैवमर्थः सम्पन्नः । सर्वं भगवदधीनम् । स यथा करिष्यति तथा भविष्यतीति केवलं तदाश्रयतया स्थातव्यम् । यथा प्रेरयति तथा स करोतीति कर्त्तव्यम् । तत्र मध्ये भगवदिच्छया धृतराष्ट्रमुक्त्यर्थं प्रेरितोऽग्रिमचरित्रमज्ञात्वाऽपि फलज्ञानाच्छीघ्रं पुनर्नगरे समागत इति ।।१।।

व्याख्यार्थ—विदुर जी की तीर्थ यात्रा समाप्त हुई तब चित्तशुद्धि हो जाने से तथा उद्धव जी के कहने से मैत्रेय जी से मिलकर, उनसे भगवान् की लीला जानकर वे ज्ञान सम्पन्न हुये और इसके बाद वे हस्तिनापुर गये । भगवान् की क्रिया द्वारा ही उन्हें भगवान् का वास्तविक स्वरूप स्फुरित हुआ है । इस प्रसंग में कहते हैं कि उस गति के द्वारा ही विदुर जी ने आत्मा के स्वरूप को विशेष रूप से जाना है । इसलिये विदुर जी ने मैत्रेय जी के पास जाकर अपने आप में सर्वज्ञपने की सिद्धि के लिये बहुत पूछा । "जिसके जान लिये जाने पर यह सब कुछ जान लिया जाता है" ऐसा वेदों की श्रुतियों में कहा गया है । उस न्याय के अनुसार भगवान् का चरित्र जाना जाय तो सब कुछ जानने में आ जाता है । इसलिये तृतीय व चतुर्थ इन दो स्कन्धों द्वारा भगवान् का चरित्र विदुर जी ने जाना है । उसमें यह अर्थ सिद्ध हुआ कि सब कुछ भगवान् के अधीन है । जैसा भगवान् करेंगे वैसा ही होगा, अतः केवल उनका आश्रय रखकर रहना चाहिये । वे जैसी प्रेरणा करते हैं, वैसा ही सब करते हैं, ऐसा समझकर कार्य करना चाहिये । ऐसा समझने से मध्य में धृतराष्ट्र की मुक्ति करने के लिये भगवत् इच्छा ने विदुर जी को प्रेरणा की । चौथा स्कन्ध पूरा होने पर पांचवें स्कन्ध में वर्णन किये गये चरित्र विदुर जी ने नहीं जाने, तो भी अन्यथा रूप छोड़कर अपने स्वरूप में रहना मुक्ति का स्वरूप है, ऐसा प्रत्येक स्थान पर जानने

में आया है। इसलिये भगवान् का आश्रय सिद्ध होने के लिये श्री भागवत में दश लीलाओं का वर्णन है, यह विदुर जी के जानने में आया है, अतः शीघ्र ही हस्तिनापुर आये ॥१॥

आभास—अतएव पूर्वं ये बहवः पदार्थाः पृष्टास्तानश्रुत्वैव समागत इत्याह—

आभासार्थ—विदुर जी की जानकारी में श्री भागवत का सारा फल आ गया, इसलिये उनसे बहुत से पदार्थों के विषय में पूछा गया, पर वे उस विषय में कुछ भी न सुनते हुये सीधे हस्तिनापुर चले आये—

श्लोक—यावतः कृतवान् प्रश्नान् क्षत्ता कौषारवाग्रतः ।
जातैकभक्तिर्गोविन्दे तेभ्यश्चोपरराम ह ॥२॥

श्लोकार्थ—जितने प्रश्न विदुर जी ने मैत्रेय जी के पास कहे हैं, उनमें से गोविन्द भगवान् में मुख्य भक्ति कराने वाले प्रश्नों के अलावा बचे हुये प्रश्नों के प्रसंग में विदुर जी मौन रह गये ॥२॥

सुबोधिनी—यावत इति। क्षत्ता अन्तःपुराध्यक्षः। अनेनाऽतिनिपुणत्वं बोधितम्। **कौषारवः** कुषारोः पुत्रो मैत्रेयः। उत्तमाधिकारित्वात्त्वरित्वैकदेशश्रवणेऽपि भक्तिर्जाता। अतः फलस्य जातत्वात्तेभ्यः प्रश्नेभ्य उत्तरमश्रुत्वाऽप्युपरराम ॥२॥

व्याख्यार्थ—अन्तःपुर के अध्यक्ष को क्षत्ता कहा जाता है, यहां विदुर जी का नाम क्षत्ता कहा गया है, जिससे उनका जनाना में अध्यक्ष होना सिद्ध होता है। इससे यह सूचित किया गया है, कि वे बहुत ही चतुर थे। उनने मैत्रेय जी से अनेक प्रश्न किये हैं। मैत्रेय जी को यहां कौषारव नाम से पुकारा गया है, जिससे कि मैत्रेय जी कुषारु के पुत्र सिद्ध होते हैं। विदुर जी उत्तम अधिकारी थे, अतः सर्ग विसर्गादिक दश लीलाओं में से सर्ग व विसर्ग इन दो लीलाओं को सुनकर ही उन्हें भक्ति सिद्ध हो गई। फल सिद्धि हो जाने के कारण बाकी के प्रश्नों से विराम प्राप्त कर लिया अर्थात् इसे सुनकर वे कृत कार्य हुये ॥२॥

आभास—एवं तस्य ज्ञानवत्त्वाय पूर्वकथामनूद्य समागतस्याऽग्रिमकृत्यं वदन् समयप्रतीक्षार्थं स्थितिसिद्धये तस्य सत्कारमाह तं बन्धुमित्येकादशभिः—

आभासार्थ—इस प्रकार विदुर जी ज्ञान वाले हैं, यह बताने के लिये उनकी पहली कथा का अनुवाद करके विदुरजी यहां आये हैं। अब उनके बाद का कार्य कहा जा रहा है। यही उनके कार्य का समय है, अतः उनकी उस स्थिति को सिद्ध करने के लिये यहां उनके सत्कार का निरूपण किया गया है। अब आगे ग्यारह इन्द्रियों की प्रीति के लिये ग्यारह श्लोकों द्वारा निरूपण किया जा रहा है—

श्लोक—तं बन्धुमागतं दृष्ट्वा धर्मपुत्रः सहानुजः।
धृतराष्ट्रो युयुत्सुश्च सूतः शारद्वतः पृथा ॥३॥

गान्धारी द्रौपदी ब्रह्मन् सुभद्रा चोत्तरा कृपी।
अन्याश्च जामयः पाण्डोर्ज्ञातयः ससुताऽऽस्त्रियः ॥४॥

प्रत्युज्जग्मुः प्रहर्षेण प्राणं तन्व इवाऽऽगतम्।
अभिसङ्गम्य विधिवत्परिष्वङ्गाभिवादनैः ॥५॥

मुमुचुः प्रेमबाष्पौघं विरहौत्कण्ठ्यकातराः।
राजा तमर्हयाञ्चक्रे कृतासनपरिग्रहम् ॥६॥

श्लोकार्थ—आये हुये अपने बन्धु को देखकर सब भाइयों सहित युधिष्ठिर, धृतराष्ट्र, युयुत्सु, संजय, कृपाचार्य, कुंती, गान्धारी, द्रोपदी, सुभद्रा, उत्तरा, द्रोणाचार्य की स्त्री कृपी और पाण्डु की अन्य कुल स्त्रियां तथा पुत्रों सहित पुत्रवधुएं अपनी जाति के साथ बहुत हर्षित होकर उनके स्वागत के लिये सन्मुख गये। यहां दृष्टान्त दिया जा रहा है, कि जिस प्रकार प्राण आने पर हाथ, पैर आदि सारा शरीर जागृत होकर चलने फिरने लगता है उसी प्रकार ये सब सामने आये हैं। उन विदुर जी से मिलकर आलिंगन तथा अभिवादन शास्त्र की विधि के अनुसार यथायोग्य सम्पन्न करके विरह के कारण प्रेम बढ़ जाने से कातर हुये सभी प्रेमभरी अश्रुधारायें बहाने लगे। विदुर जी को आसन प्रदान किया गया। उनके आसन ग्रहण कर लेने पर राजा युधिष्ठिर ने उनकी पूजा की ॥३-४-५-६॥

सुबोधिनी—सर्वेन्द्रियप्रीतिनिमित्तं बध्यतेऽनेनेति बन्धुः। सुखदुःखज्ञानमोक्षैर्यथाधिकारं निर्णयः। आगतं दृष्ट्वा। अन्यार्थमागतत्वान्न दूराज्ज्ञापनं येनोद्गच्छेयुः। सूतः सञ्जयः। शार-

द्वतः कृपः । शरस्तम्बे जातत्वात् । ब्रह्मन्निति सम्बोधनं स्त्रीणां गणनायां विकाराभावाय । कृपी द्रोणपत्नी । जामयः कुलस्त्रियः । देवरे लज्जाभावार्थम्—पाण्डोरिति । ज्ञातयः पुरुषाः । सुतैः श्चा सर्वत्रः स्त्रीभिश्च सहिताः । सकुटुम्बा ज्ञातय इत्यर्थः । प्रत्युज्जग्मुः । सम्मुखतया गताः तन्व इव । करचरणादय इव अभिसङ्गम्य । मिलित्वा । विधिवत् । शास्त्रानुसारेण यथायोग्यम् । कैश्चिदभिवादनम् । प्रेम्णा बाष्पसमूहम् । विरहे यदौत्कण्ठ्यं प्रेमा तभरत्वं तेन कातर दीनाः । पूर्वं तस्मिन् गते यत्प्रेम जातं, भगवतः प्रेमैव आनन्दरूप भवतीति, तेन प्रम्णा दीना. । विषयालाभात् । एवं सर्वेषु स्थितेषु मुख्यस्य पूजाधिकाराद्राजा त पूजयामास । दत्तो आसने स्वीकृतमासनं येन । अनेन पूजायां निषेधाभाव. सूचितः ॥३-४-५-६॥

व्याख्यार्थ—प्रत्येक इन्द्रियों की प्रीति के कारण जो परस्पर बंधे हुये हों, उन्हें बन्धु कहा जाता है अर्थात सुख, दुःख, ज्ञान और मोक्ष इनमें से जिसका जितना-जितना अधिकार है, उसेके साथ उसी प्रकार जो बंधा हुआ है, इस रीति से विदुर जी बन्धु हैं। वे धृतराष्ट्र की मुक्ति के लिये आये हैं, पाण्डवों के काम के लिये नहीं। इसलिये उन्होंने दूर से खबर नहीं भिजवाई। जो पहले से खबर भेजी हुई होती, तो प्रत्येक उन्हें लिवाने के लिये सामने जाता। उनके पास आने पर, उन्हें देखकर सभी खड़े हो गये। संजय, कृपाचार्य, जिन्हें बाणों के समूह में से उत्पन्न होने के कारण 'शारद्वतः' भी कहा गया है और कुंती आदि स्त्रियां सभी उठ खड़े हुये। यहाँ स्त्रियों की गणना करते समय 'ब्रह्मन्' यह सम्बोधन दिया गया है, वह इसलिये कि वे विकारों से रहित हैं। कृपी अर्थात् द्रोणाचार्य की स्त्री तथा पाण्डु की अन्य कुल स्त्रियों ने भी विदुर जी की लज्जा इसलिये नहीं की कि वे देवर थे, अतः उन्होंने भी विदुर जी का खड़े होकर सन्मुख स्वागत किया। चारों ओर से पुरुष स्त्रियों तथा पुत्रों सहित विदुर जी महाराज के सम्मान में जुट गये। अपने-अपने कुटुम्बियों सहित वे सारे पुरुष इस प्रकार सामने आये हैं जैसे प्राणों के आने पर हाथ, पैर इत्यादि सभी अंग एक साथ संचालित हो गये हों। वे सब विदुर जी से मिलकर विधि प्रमाण से आलिंगन और अभिवादन करने लगे। समान अवस्था वालों ने आलिंगन तथा छोटी उम्र वालों ने अभिवादन किया है। इस प्रकार जिसे जो करना उचित था उसी प्रमाण से वह विदुर जी से मिला है। प्रेम की अधिकता से नेत्रों से आंसू झरने लगे है। विदुर जी के विरह में जो अतिशय प्रेम प्रकट हुआ है उसके कारण वे दीन हो गये, उनका हृदय आकुल हो उठा। पहली अवस्था में जब विदुर जी गये हुये थे, उस समय उनमें जो प्रेम था, वह भगवान् के समान आनन्द रूप वाला नहीं था, अतः उनसे न मिलने के कारण वे प्रेम से कातरता की स्थिति में उत्कण्ठित हो

उठे। यह स्थिति प्रत्येक की थी। विदुर जी की पूजा करने में मुख्य का अधिकार होने से युधिष्ठिर जी ने ही पूजा की, ऐसा कहा गया है। आसन प्रदान किये जाने पर विदुर जी ने आसन स्वीकार किया और इस प्रकार उन्होंने अपनी पूजा किये जाने पर कोई निषेध नहीं किया, यह सूचित हुआ ।।३-४-५-६।।

आभास—"**गतश्रमं पृच्छेदि**"ति धर्मशास्त्राच्छ्रमापनोदनमाह—

आभासार्थ—विदेश से आये हुये मनुष्य की थकान आदि उतरने पर कुशल समाचार आदि पूछने चाहिएं, ऐसा धर्म शास्त्रों में लिखा है। उनके श्रम निवृत होने के प्रसंग में इस प्रकार कहा जा रहा है—

श्लोक—**तं भुक्तवन्तं विश्रान्तमासीनं सुखमासने।**
प्रश्रयावनतो राजा प्राह तेषाञ्च शृण्वताम् ।।७।।

श्लोकार्थ—उन विदुर जी के भोजन कर लिये जाने पर तथा विश्राम से निवृत्त होकर सुख पूर्वक आसन पर विराजमान होने पर, जिसे दूसरे भी सुन सकें इस प्रकार विनय से नम्र हुये राजा युधिष्ठर पूछने लगे ।।७।।

सुबोधिनी—**तं भुक्तवन्तमिति**। प्रत्येकप्रश्नव्यावृत्यर्थं **तेषाञ्च शृण्वतामित्युक्तम्**। चकारान्मध्य आगताः पूजानन्तरमागताश्च परिगृह्यन्ते ।।७।।

व्याख्यार्थ—प्रत्येक विदुर जी से नहीं पूछ रहा केवल राजा युधिष्ठिर ही प्रश्न कर रहे हैं। इस बात को बताने के लिये ही "वे सब सुन रहे हैं" ऐसा कहा गया है। युधिष्ठिर जी के पूजा करने के बाद, जो बीच में आये हैं, वे भी प्रत्येक सुन रहे हैं, यह बताने के लिये मूल में चकार लिखा है ।।७।।

आभास—प्रथमतो दयामुत्पादयति—

आभासार्थ—सबसे पहले राजा युधिष्ठिर उन में अपने प्रति दया उत्पन्न कर रहे हैं—

युधिष्ठिर उवाच-श्लोक—**अपि स्मरथ नो युष्मत्पक्षच्छायासमेधितान्।**
विपद्गणाद्विषाग्न्यादेर्मोचिता यत्समातृकाः ।।८।।

कया वृत्त्या वर्त्तितं वश्चरद्भिः क्षितिमण्डलम् ।
तीर्थानि क्षेत्रमुख्यानि सेवितानीह भूतले ॥९॥

श्लोकार्थ—विष तथा लाक्षागृह की अग्नि आदि जैसी विपत्तियों के समूह में हम माता सहित बचा लिये गये, आप के ही पक्ष के छाया तले हमारा विकास हुआ, इस प्रकार के हम क्या कभी आप के द्वारा याद भी किये जाते हैं ? इस पृथ्वी मण्डल पर भ्रमण करते समय आपने किस आजीविका से अपना जीवनयापन किया। इस भूतल के क्षेत्रों में जो मुख्य तीर्थ हैं, उनमें से आपने किन किन का सेवन किया ?॥८-९॥

सुबोधिनी—**अपि स्मरथेति** । युष्मत्पक्षच्छायासमेधितान् नः अस्मान् । **अपीति** सम्भावनायाम् । **स्मरथ** । पूर्वं वयं भवद्भिरेव परिपालिताः । पक्षः पक्षपातः । तस्य छाया हिताचरणम् । पक्षिणामेषा व्यवस्था । मातरं पितरं पुत्रं वा कालान्तरे ते न परिचिन्वन्ति । तदर्थं पक्षादिपदप्रयोगः । स्मरणार्थं पालनविशेषं ज्ञापयति—**विपद्गणान्मोचिता इति** । आपदां समूहात् । तमेव गणयति **विषाग्न्यादेरिति** । विषमोदकदानं लाक्षागृहदाहश्च प्रत्येकसमुदायनाशकौ । **समातृका इति** स्त्रीणामपि वधे शत्रूणां न विचिकित्सा । सरक्षका मोचिता इति वा । एवं दयामुत्पाद्य क्लेशजनितं दुःखमनुवादेन गच्छतीति वृत्तिप्रश्नः । **वृत्तिर्जीविका** । वर्णाश्रमविभागविहितया यादृच्छिकया वेति । **वः** युष्माभिः । जीवनस्याऽनभिप्रेतत्वात्तत्प्रति स्वातन्त्र्याभावान्न कर्तरि तृतीया । अपि तु सम्बन्धमात्रे षष्ठी । भूपर्यटने तु विवक्षितत्वात्कर्तृत्वम् । अतश्चरद्भिरित्युक्तम् । **क्षितिमण्डलमित्यत्**यन्तसंयोगे द्वितीया । तेन सर्वत्रैकविधान्नाभावात्परित्यागभावनां कृत्वाऽपरित्यागभावनां वा कृत्वा जीवितमिति प्रश्नार्थः । द्वितीयपक्ष अतः परमत्र स्थास्यन्तीति मनोरथः । क्षेत्राणि मुख्यानि यत्र । जलप्रधानं **तीर्थम्** । स्थलप्रधानं **क्षेत्रम्**। क्वचिदुभयमेकीभवत् । प्रयागवेणीवदिति । तानीह भूतले सेवितानि । मुख्यानां सेवितत्वादतः परं न गन्तव्यमिति भावः ॥८-९॥

व्याख्यार्थ—आपके पक्ष की छाया में बढ़े हुये हमें क्या कभी आप याद करते हैं ? पहले तो आपने ही हमारी रक्षा की । हमारी ओर आपका पक्षपात था इसलिये आपने हमारा हित आचरण किया । पक्षियों में ऐसी व्यवस्था है कि अपने पंखों की छाया में बच्चों की वृद्धि करते हैं । इस के बाद माता-पिता अपने पुत्र को भी कालान्तर में भूल जाते हैं । उसी प्रकार आपने हम को बढ़ाया है, यह बताने के लिये मूल में 'पक्षच्छाया' शब्द दिया गया है । विदुर जी को याद दिलाने के लिये, उनके द्वारा पाले जाने वाली बात कही गई है, और कहा है कि आपने हमें विपत्तियों के समूह से छुड़ाया है । जहर के लड्डू आये थे तथा लाख के बने हुये महलों का

दाह किया गया था, इन दो प्रसंगों की याद दिलाई है, जिसमें जहर के लड्डू वाला प्रसंग भीमसेन को लक्ष्य करके कहा गया है और लाक्षागृह के दाह की बात प्रत्येक के ही लिये कही गई है। इस प्रकार कभी आपने एक को तो कभी सभी को एक साथ बचाया है, यह सूचित किया गया है। हमें ही नहीं, हमारे साथ साथ माता को भी बचाया है। ऐसा कहकर यह बताया गया है, कि स्त्रियों को मारने में भी शत्रु को किसी प्रकार का विचार नहीं आता। अथवा हमारी रक्षा करने वाली माता सहित आपने हमारी रक्षा की, ऐसा बताया गया है ॥८॥

वर्णाश्रम की जो आजीविका शास्त्रों में लिखी है उसी के अनुसार रहे हो अथवा भगवान् की इच्छा से जो कुछ मिल गया उससे सन्तुष्ट रहे हो। आप को तो जीवन की कोई विशेष इच्छा नहीं है, अतः स्वतन्त्रता नहीं है। यहाँ कर्त्तापने को बताने वाली तृतीया विभक्ति का प्रयोग नहीं किया गया है। केवल जीवन के साधन रूप में आजीविका इत्यादि के साथ सम्बन्ध मात्र है, यह बताने के लिये मूल में छठी विभक्ति लिखी गई है। पृथ्वी के ऊपर फिरने में तो अपनी स्वतन्त्रता को कहने की इच्छा रहती है, इसलिये वहाँ कर्त्ता के सम्बन्ध में तृतीया विभक्ति दी गई है। "पृथ्वी मण्डल में फिरते हुये", ऐसा कहा गया है, वहां अत्यन्त संयोग के अर्थ में द्वितीया विभक्ति का प्रयोग हुआ है। आप प्रत्येक स्थल में एक प्रकार का अन्न न होने से त्याग की भावना करके जीवित रहे हो या अत्याग की भावना करके जीवन बिताया है, यह पूछने का अर्थ है। इतने दिनों तक यदि परित्याग की भावना से रहे हो तो अब बाद में भी यहीं रहोगे, युधिष्ठिर जी का ऐसा मनोरथ है। क्षेत्र जिनमें मुख्य हैं, ऐसे कितने तीर्थों का आपने सेवन किया है। जहाँ जल की मुख्यता हो वह तीर्थ कहलाता है तथा जहाँ स्थल की महत्ता हो उसे क्षेत्र कहा जाता है। किसी स्थान पर ये दोनों स्थितियाँ साथ साथ होती हैं, जैसे कि प्रयाग में जल व स्थल दोनों की मुख्यता है। इस प्रकार आपने पृथ्वी के सारे ही तीर्थों व क्षेत्रों का सेवन कर लिया है, अतः अब आपसे कोई स्थान बचा नहीं रह गया है। तात्पर्य यह है, कि अब तो आप यहां ही निवास कीजिये ॥९॥

आभास—ननु फलस्याऽसिद्धत्वात्सम्यक् चित्तशुद्धिपर्यन्त तीर्थाटनं कर्त्तव्यमिति चेत्? तत्राऽऽह—

आभासार्थ—जब तक फल सिद्ध न हो और जब तक पूरी तरह चित्त शुद्ध न हो तब तक तीर्थों में भ्रमण करना चाहिये, यदि विदुर जी ऐसा कहें तो उसका स्पष्टीकरण दिया जा रहा है—

श्लोक—भवद्विधा भागवतास्तीर्थभूताः स्वयं विभो।
तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि स्वान्तःस्थेन गदाभृता ॥१०॥

श्लोकार्थ—हे समर्थ, आप जैसे भगवान् के भक्त तो अपने आप में ही तीर्थ रूप हैं। अतः आपके हृदय में विराजने वाले गदा धारण किये हुए भगवान् द्वारा तीर्थों को भी तीर्थ रूप बना दिया जाता है ॥१०॥

सुबोधिनी—**भवद्विधा इति**। न हि भवतां तीर्थाटनेन कश्चिद्गुणो भवति। तत्राऽधिकारिणस्त्वन्ये। नन्वस्मद्विधा अपि तीर्थेषु पर्यटन्तीत्याशङ्क्याऽऽह—**भवद्विधा इति**। सत्यं पर्यटन्ति। न तु स्वार्थं किन्तु तीर्थकृपया। "**हरन्त्यघन्तेऽङ्गसङ्गात्तेष्वास्ते ह्यभिद्धरिरि**"ति वाक्यात्। स्वयमेव ते तीर्थभूताः पापिनां स्पर्शदोषाद्दुष्टानि तीर्थानि तेषां दोषं स्वयं गृहीत्वा। स्वग्रहणात्पूर्वमतीर्थानि तीर्थीकुर्वन्ति। तर्हि तेषां का गतिरित्यत आह—**स्वान्तःस्थेन गदाभृतेति**। तेषां हृदये भगवान् गदां गृहीत्वा प्रकटस्तिष्ठति। अतो गदाया आसन्यरूपत्वाद्भगवान् साधनं चाऽपहतपाप्मरूपम्। '**ते ह आसन्यं प्राणमूचुरि**'त्यत्र यथा सर्वपापनाशस्तथा प्रकृतेऽपीति। तीर्थानामपि पापं भगवत्समीपं प्राप्य गच्छतीत्यर्थः। अनेन भगवदाज्ञायामेव तीर्थाटनं कर्त्तव्यमन्यथा भगवतः प्रयासजननान्न कर्त्तव्यमिति भावः। अतोऽत्रैव स्थातव्यमिति फलति ॥१०॥

व्याख्यार्थ—आपके द्वारा तीर्थाटन करने में कोई गुण नहीं। तीर्थाटन के अधिकारी तो और ही होते हैं। हमारे जैसे भी तो तीर्थों में भ्रमण करते ही हैं,ऐसा यदि विदुर जी कहें तो वहां कहा जाता है कि यह बात तो सत्य है कि आप जैसे जिन जिन तीर्थों में फिरते हो तो किसी अपने स्वार्थ से नहीं प्रत्युत् तीर्थो पर कृपा करने के लिये घूमते हो। नवें स्कन्ध में भगीरथ राजा ने गंगाजी से पृथ्वी पर पधारने की प्रार्थना की, उस समय गंगाजी का यह कथन है, कि "मैं पृथ्वी पर तो आऊँ परन्तु पृथ्वी के लोग मुझ में अपने पाप धोएंगे तब, मैं उन पापों को कहाँ धोऊँगी। तब भगीरथ जी ने कहा है, कि "भगवान् के भक्त आप में स्नान करेंगे, वे अपने अंग के संग से आपके पापों को दूर कर देंगे, कारण यह है कि भक्तों में पापों के हरण करने वाले हरि भगवान् निवास करते हैं," ऐसा वाक्य है। इसलिये आप जैसे भक्त तो स्वयं ही तीर्थ रूप हैं। पापी पुरुषों के स्पर्श से पापियों के दोष तीर्थ

में आ जाते हैं, इस प्रकार तीर्थ भी दोषयुक्त हो जाते हैं। उन तीर्थों के दोष को भगवान् के भक्त ग्रहण करके, जो उन दोषों के कारण पहले अतीर्थ रूप हो गये हैं, उन्हें भी तीर्थ रूप बना देते हैं। तब तो तीर्थों के दोष जब भक्तों में आते हैं तब उनकी क्या दशा होती है। इस शंका का समाधान करते हैं, कि भक्तो के हृदय में भगवान् गदा लेकर प्रकट रूप से विराजते है। वह गदा आसन्य प्राण रूप होने से भगवान् में या पाप रहित शुद्ध साधन में दोषों को नहीं रहने देतो। वेदों में आसन्य प्राण के विषय में लिखा है। वहाँ आसन्य प्राण से प्रत्येक पाप का नाश लिखा गया हैं और यहां आसन्य प्राणरूप गदा को लेकर भगवान् भक्तों के हृदय में विराजते हैं। अतः ऐसे भक्तों का स्पर्श तीर्थों को होने पर वे पाप भगवान् के समीप में आते ही नष्ट हो जाते हैं। इस श्लोक का यह अभिप्राय है, कि भगवान् को आज्ञा हो तभी भक्तों को तीर्थाटन करना चाहिये। भगवान् की आज्ञा न हो तो तीर्थाटन नहीं करना चाहिये। क्योंकि भगवान् का भक्त तीर्थों में जावे, उन तोर्थों में पापी पुरुषों के स्नान से जो पाप लगा हुआ हो, तो भक्त के हृदय में विराजमान भगवान् को वह पाप दूर करना पड़ता है। जिससे भगवान् को श्रम होता है। अतः भगवान् की आज्ञा को पूरी तरह समझकर ही भगवद् भक्तों को तीर्थों में जाना चाहिये, इसके अलावा नहीं। अतः अब आपको यहीं रहना चाहिये, ऐसा अभिप्राय युधिष्ठिर जी विदुर जो महाराज को बता रहे हैं ॥१०॥

आभास—एवमागतं कुशलं पृष्टवा भगवद्भक्तत्वादयं भगवद्वृत्तान्तं ज्ञास्यतीति पृच्छति—

आभासार्थ—इस प्रकार पधारे हुये विदुर जी से कुशल प्रश्न पूछकर, विदुर जी भगवान् के भक्त होने से भगवान् का वृत्तान्त जानते होंगे, ऐसी सम्भावना करके पूछते हैं—

श्लोक—**अपि नः सुहृदस्तात बान्धवाः कृष्णदेवताः ।**
दृष्टाः श्रुता वा यदवः स्वपुर्यां सुखमासते ॥११॥

इत्युक्तो धर्मराजेन तत्सर्वं समवर्णयत् ।
यथानुभूतं क्रमशो विना यदुकुलक्षयम् ॥१२॥

श्लोकार्थ—हे तात, श्री कृष्ण ही जिनके देवता हैं, ऐसे हमारे स्नेही बन्धु यादव अपनी पूरी द्वारका में सुख पूर्वक तो निवास करते हैं न ? आपने उन्हें देखा तो होगा ही अथवा उनके विषय में सुना ही होगा ? ।।११।। इस प्रकार धर्मराज युधिष्ठिर के पूछने पर, विदुर जी ने जो अनुभव जिस प्रकार किया था उसे क्रम पूर्वक बताने लगे । केवल यदुकुल के विनाश की बात को नहीं बताया ।।१२।।

सुबोधिनी—**अपि न इति** । विदुरेण सह तथा सम्बन्धाभावेऽप्यस्माभिः सह सम्बन्ध इति न इत्युक्तम् । विदुरमप्यात्मत्वेन स्वीकृत्य वा । **सुहृदो** मित्राणि । **तातेति** स्नेहेन सम्बोधनं तेष्वपि स्नेहबोधनाय । **कृष्णदेवता इति** सुखवासे हेतुः अतएव त्वया दृष्टाः । बन्धुत्वेन लज्जया चेन्न दृष्टास्तर्हि भगवदीयत्वाच्छ्रुताः । **स्वपुर्यां** द्वारकायाम् । स्वस्थानेऽल्पेनाऽपि विषयेण सुख भवतीति । **यदव इति** भक्तवशत्वादपि सुखं सम्भावितम् । अनेन त्रिविधमपि दुःखं निवारितम् । कृष्णदेवतत्वान्नाऽऽधिदैविकम् । यदु (?) त्वान्नाऽऽध्यात्मिकम् । स्वपुर्यामिति नाऽऽधिभौतिकम् । एवं सम्भावितकुशला भवन्मुखान्निश्चिताश्चेत्तदाऽस्माकं सुखमिति प्रश्नाभिप्रायः । एवं स्मरणादिकुशलान्तैः प्रश्नैः पृष्टः सर्वमेव यथानुभूतं सम्यगवर्णयत् । परं मौसलव्यतिरेकेण ।।११-१२।।

व्याख्यार्थ—विदुर जी का यादवों के साथ वैसा सम्बन्ध नहीं है जैसा युधिष्ठिर जी का यादवों के साथ हैं, इसलिये 'हमारे बान्धव', ऐसा कहा गया है, अथवा विदुर जी को भी अपने आत्मा के ही रूप में मानकर 'अपने बन्धु' ऐसा कहा गया है । 'सुहृद्' मित्र का अर्थ बताता है । हे तात ! यह स्नेह मय सम्बोधन दिया गया है । इससे यह सूचित हुआ है, कि विदुर जी का भी यादवों में स्नेह है । यादव सुख पूर्वक निवास करते हैं, कारण कि उनके एकमात्र देवता श्री कृष्ण ही हैं । आपने उन्हें देखा होगा ? अथवा जब आप तीर्थ यात्रा पर पधारे हुये थे तो आपका अवधूत वेष होने से उनके पास जाने में लज्जा आ गई, हो, अतः उन्हें न भी देखा हो ? तो भी आप भगवदीय हैं, इसलिये उनके विषय में आपने सुना तो होगा ही । वे यादव अपनी पुरी द्वारका में रहते हैं, यह पूछने का अभिप्राय यह है कि अपने स्थान पर व्यक्ति थोड़े से साधनों से भी सुखी रहता है । यदु राजा भक्त थे, अतः उन्हीं के वंश के होने से यादवों को भी सुख होने की संभावना है । इसलिये तीनों प्रकार के दुःख उन्हें नहीं हो सकते, यह निवारण किया गया है । फिर भी उनके देवता श्री कृष्ण होने से आधिदैविक दुःख उनमें नहीं है । यदु वंश के होने से आध्यात्मिक दुःख भी उनमें नहीं है और अपनी ही पुरी में निवास करने के कारण आधिभौतिक

दुःख भी उनके पास नहीं है। इस प्रकार यादव कुल के विषय में सम्भावना की गई है। आप के मुख से निश्चयात्मक समाचार सुनकर हमें सुख होगा, ऐसा था, युधिष्ठिर जी के पूछने का अभिप्राय है ॥११॥

इस तरह अपनों के विषय में सँभाल पूछी। जहां से आरम्भ करके युधिष्ठिर जी ने कुशल क्षेम पूछी थी, वहाँ से लगाकर विदुर जी को जिस प्रकार का अनुभव हुआ था, उस प्रकार कुल के विषय में सारा वर्णन बताया। केवल मूसल वाली घटना के विषय में नहीं बताया। प्रभास लीला के विषय में उद्धव जी सुना से जो विदुर जी ने उसे युधिष्ठिर के प्रति नहीं कहा ॥१२॥

आभास—"**अब्रुवन् विब्रुवन् वाऽपि नरो भवति किल्बिषी**"ति सभारूपे समाजे धर्मराजेन पृष्टः कथं नोक्तवानित्याशङ्कयाऽऽह—

आभासार्थ—"राजा की सभा में बोले नहीं अथवा विपरीत बोले तो ऐसा मनुष्य पापी कहलाता है", ऐसा वाक्य है। यहाँ सभारूपी समाज में धर्मराज युधिष्ठिर के द्वारा पूछे जाने पर भी विदुर जी ने प्रभास लीला की सत्यता को उद्घाटित क्यों नहीं किया ? ऐसी शंका के उत्तर में कहते हैं—

श्लोक—**नन्वप्रियं दुर्विषहं नृणां स्वयमुपस्थितम्।**
नाऽऽवेदयेत्सकरुणो दुःखितान्द्रष्टुमक्षमः ॥१३॥

श्लोकार्थ—बहुत ही कठिनाई से जिसे सहन किया जावे, ऐसा अप्रिय मनुष्यों के लिये स्वयं आपड़ा है। वे विदुर जी दुःखियों को देख सकने में समर्थ नहीं हैं, अतः करुणाशाली उन विदुर जी ने प्रभासलीला की घटना को नहीं बताया ॥१३॥

सुबोधिनी—**नन्वप्रियमिति**। सर्वं पृष्टमेव वक्तव्यं न त्वप्रियम्। '**सत्यं ब्रूयात्प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात्सत्यमप्रियम्। प्रियं च नाऽनृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातन**" इति वाक्यात्। पृष्टेऽपि सत्यमप्यप्रियं न वक्तव्यम्। तत्राऽपि दुर्विषहम्। यस्मिञ्छ्रुते श्रोताऽपि म्रियेत। अतो धर्मनाशकं श्रवणं न कारणीयमिति। तर्हि कथमग्रिमकार्यसम्पत्तिरत आह-**नृणां स्वयमुपस्थितमिति**। स्वत एव जनमुखादेव ज्ञास्यन्ति किं स्ववचनेनेति। किञ्च। करुणावान् सर्वथा न वदेत्। दुःखितं दृष्ट्वा स्वस्याऽपि दुःखसम्भावात्। न हि कश्चित्स्वदुःखार्थं यतते। अतो धर्मशास्त्रान्नीतिशास्त्राद्युक्तेश्च परस्मै दुःखं न वदेदिति भावः। यतो—**दुःखितान्द्रष्टुमक्षमः** ॥१३॥

व्याख्यार्थ—जो पूछा गया हो उसे सब कहना चाहिये, परन्तु अप्रिय बात नहीं कहनी चाहिए। कहा भी गया है कि, "सत्य बोले, प्रिय बोले परन्तु ऐसा सत्य न बोले जो अप्रिय लगता हो, साथ ही ऐसा खोटा भी न बोले जो प्रिय लगता हो, यही सनातन धर्म है।" ऐसा वाक्य होने से, पूछा हुआ होने पर भी तथा सत्य होने पर भी यदि वह कड़वा लगता हो तो नहीं कहना चाहिये। उस में भी जो सहन हो ही नहीं सकता उसे तो नहीं ही कहना चाहिये। क्योंकि जो श्रोता सुनने मात्र से तुरन्त ही मर जाय अर्थात् जिसे बात सुनाना हो, उस सुनने वाले का ही नाश हो जाये तो ऐसी बात नहीं सुनाना चाहिए। यदि वह बात कही ही न जाय तो सुनने के बाद जो कार्य करना चाहिये, वह कैसे सिद्ध हो? ऐसी शंका होने पर कहते हैं कि वह तो स्वत: ही प्राप्त होता है, अपने हो किसी मनुष्य द्वारा कह दिया जाता है, स्वयं आगे होकर कहें उससे क्या? यही विचार करके विदुर जी ने प्रभास लीला की घटना नहीं बताई। तिस पर भी यदि वक्ता दयालु हृदय वाला हो तो बिल्कुल ही नहीं कहता, कारण कि वैसी बात कहने से सुनने वाला दु:खी होता है। उसे देखकर स्वयं को भी दु:ख होना सम्भव है। इसलिए धर्मशास्त्र और नीतिशास्त्र तथा युक्ति से भी दूसरों को दु:खी करने वाली बात नहीं कहना चाहिये। विदुर जी दु:खियों को देखने में असमर्थ हैं, क्योंकि वे अतिशय दया से भरे हृदय वाले हैं ॥१३॥

आभास—स्वकार्यं ते मा जानन्त्विति गुप्तभाव: स्वावसरप्रतीक्षया तत्रैव स्थित इत्याह—

आभासार्थ—इसलिये विदुर जी के हृदय में जो अभिप्राय है, उसे कोई न जान सके, ऐसा वह गुप्तभाव हैं, अत: अपने अवसर की प्रतीक्षा करते हुये विदुर जी वहां ही विराजे, ऐसा अब आगे कहा जा रहा है—

श्लोक—**कञ्चित्कालमथाऽवात्सीत्सत्कृतो देववत्सुखम्।**
भ्रातुर्ज्येष्ठस्य श्रेयस्कृत्सर्वेषां प्रीतिमावहन् ॥१४॥

श्लोकार्थ—अपने बड़े भाई धृतराष्ट्र का कल्याण करने वाले और प्रत्येक से

प्रीति करने वाले विदुर जो सत्कार रूप में देवताओं के समान सुख प्राप्त करते हुये कुछ समय वहाँ ही रहे ।।१४।।

सुबोधिनी—कञ्चित्कालमिति । अथ प्रश्नसमाप्त्यनन्तरम् । **देववत्** । यथैव वदन्ति कुर्वन्ति तदेव मन्यते । विश्वासार्थं स्वसुखं ज्ञापयन् पूजितस्तिष्ठतीत्यर्थः । स्थितौ हेतुमाह । **भ्रातुर्ज्येष्ठस्य** धृतराष्ट्रस्य । **श्रेयस्कृत्** वैराग्यादिसम्पादनेन मोक्षसाधकः । **सर्वेषां प्रीतिमावहन्निति** विश्वासार्थं सम्भावितदुःखदूरीकरणधमर्थिं वा ।।१४।।

व्याख्यार्थ—युधिष्ठिर जो के पूछ लेने के बाद, जिनका सम्मान देवताओं के समान हुआ है ऐसे विदुर जो जैसा सब कहते हैं वैसा ही करते हैं, उन्हें अपना मानते हैं, कारण कि प्रत्येक को विश्वास उत्पन्न करते हैं, अतः वहां उन्हें सुख प्राप्त हो रहा है । जैसे अन्य विदुर जी का सम्मान करते हैं, वैसे वे वहां रह रहे हैं । वहां रहने का कारण यह है कि अपने बडे भाई धृतराष्ट्र को वैराग्य उत्पन्न करके मोक्ष सिद्ध करवाना चाहते हैं, इसलिये प्रत्येक को प्रेम करते हैं । अतः विश्वास उत्पन्न करने के लिये अथवा जो दुःख अब होना है, उसे दूर करने में अपना धर्म मानकर विदुर जी वहां निवास कर रहे हैं ।।१४।।

आभास—नन्वस्य कनिष्ठस्याऽयथाजातस्य कथं मोक्षसाधकत्वम् । अनधिकारात् । तत्राऽऽह—

आभासार्थ—अब यहां यह शंका हो कि विदुर जी तो धृतराष्ट्र से छोटे हैं और दासी पुत्र हैं, इसलिये उन्हें उपदेश देने का अधिकार नहीं है, अतः उनका दिया हुआ उपदेश किस प्रकार मोक्ष को सिद्ध कर सकेगा ? इसका निवारण कहते हैं—

श्लोक—**अबिभ्रदर्यमा दण्डं यथावदघकारिषु ।**
यावद्दधार शूद्रत्वं शापाद्वर्षशतं यमः ।।१५।।

श्लोकार्थ—जब तक शाप के कारण यम देवता ने सौ वर्ष तक शूद्रपना धारण किया, तब तक पाप करने वाले जीवों को यथायोग्य दण्ड देने का कार्य अर्यमा ने किया है ।।१५।।

सुबोधिनी—अबिभ्रदिति । उत्तरोत्तरज्ञानात्पूर्वबलिष्ठतेति देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणात्मनां व्यवस्था । तत्र यद्यात्मा ज्ञायते अयमहमिति तदाऽन्ये धर्मा दुर्बलाः । अतएव कुटुम्बादे (?) रप्युपदेष्टृत्वम् । पूर्णज्ञानवानपि सर्वत्राऽविचारिन्नभक्षणात्काकत्वं प्राप्तः । देहत्यागसमयेऽपि काकचर्यया वा । तस्मान्नायं कनिष्ठभ्राता न वा शूद्रः । किन्तु यमः । "**माण्डव्यशापाद्भगवान् प्रजा संयमनो यमः । भ्रातुः क्षेत्रे भुजिष्यायां जातः सत्यवतीसुतादि**"ति वक्ष्यति । तर्हि क इदानीं यमलोकेऽधिकारीत्याशङ्क्याऽऽह—**अबिभ्रदिति** । "**विवस्वानर्यमा पूष**"त्यादिद्वादशाऽऽदित्याः । तत्र द्वितीयोऽर्यमा । स यावच्छूद्रत्वं दधार माण्डव्यशापात्, वर्षशतं तावदर्यमाऽधिकारं कृतवान्यथावत्पापकारिषु । शतवर्षानन्तरं तु न शूद्रत्वम् । अत उपदेशेऽपि न दोषः ।।१५।।

व्याख्यार्थ—देह, इन्द्रिय, प्राण, अन्तःकरण और आत्मा इनका उत्तरोत्तर ज्ञान न होने से पहले-पहले इन्हें बलवान् माना गया है। क्योंकि आत्मा का ज्ञान न होने से अन्तःकरण को बलिष्ठ माना गया है। अन्तःकरण का ज्ञान हो तब तक प्राणों को बलवान् माना गया है । जब तक प्राण का ज्ञान न हो तब तक इन्द्रियों का बलवान् माना गया है । ऐसे ही इन्द्रियों का ज्ञान न होने तक शरीर को बलवान् माना गया है । उसमें 'यह अमुक मैं हूं' ऐसा आत्मा को जान ले तो अन्य धर्म दुर्बल पड़ जाते हैं। इसलिये काकभुषंडजी भी उपदेशक के रूप में माने गये हैं । काकभुषंडजी पूर्णज्ञानवाले थे, परन्तु सभी स्थान पर बिना विचार किये अन्न खाने से अथवा देह त्याग के समय भी काक जैसी ही वृत्तियों में रहने से वे काकपने को प्राप्त हो गये थे, परन्तु उपदेश देने वाली स्थिति उनमें थी । उसी प्रकार ये विदुर जी धृतराष्ट्र के छोटे भाई अथवा शूद्र नहीं थे, वरन् यमराज थे । "प्रजा को नियम में रखने वाले यम को माण्डव्य ऋषि का शाप होने से, सत्यवती के पुत्र व्यास जी से अपने भाई विचित्रवीर्य की क्षेत्र रूपा दासी में हुये हैं," ऐसा तृतीय स्कन्ध में कहा जायेगा । यमराज को शाप होने से वे शूद्र बने । तब हमारे यम लोक के अधिकारी कौन रहे ? ऐसी शंका उत्पन्न होने पर कहते हैं, कि विवस्वान् अर्यमा, पूषा इत्यादि बारह सूर्य हैं, उनमें दूसरे क्रम पर अर्यमा हैं । जब तक माण्डव्य ऋषि के शाप से यम देव शूद्र बने तब तक अर्यमा यमपुरी के अधिकारी रहे । इसलिये यम का अधिकार अर्यमा ने किया है । जिसने जितने पाप किये हों उस प्रमाण से दण्ड देने का अधिकार भोगा है । इसलिये जब यमराज शूद्र हुये तो विदुर जी के रूप में रहे । उनके सौ वर्ष का शाप पूरे हो जाने पर शूद्रपना जाता रहा । अतः विदुर जी द्वारा उपदेश देने में कोई दोष नहीं रहा ।।१५।।

आभास—युधिष्ठिरस्य विदुरविस्मरणार्थं कञ्चिद्राज्यभोगमाह—

आभासार्थ—युधिष्ठिर जी को थोड़ा बहुत राज्य भोगों ने घेर लिया अतः वे विदुर जी की उपस्थिति को भुला बैठे, इस प्रसंग पर आगे कहा जा रहा है—

श्लोक—**युधिष्ठिरो लब्धराज्यो दृष्टवा पौत्रं कुलन्धरम् ।**
भ्रातृभिर्लोकपालाभैर्मुमुदे परया श्रिया ।।१६।।

श्लोकार्थ—युधिष्ठिर जी ने राज्य प्राप्त करके, कुल को धारण करने वाले पौत्र परीक्षित को देखकर, इन्द्रादिकलोकपाल जैसी कान्ति वाले भाइयों के साथ उत्तम लक्ष्मी को प्राप्त करके आनन्द का अनुभव किया ।।१६।।

सुबोधिनी—**युधिष्ठिर इति** । राज्यं लब्ध्वा पौत्रं च राज्ययोग्यं दृष्टवा भ्रातृभिरिन्द्रादितुल्यैः सहितः श्रिया परयेन्द्रदुर्लभया ब्रह्मतुल्यया वा मुमुदे । **राज्यं वंशो भ्रातरश्च धनं चाऽज्ञानहेतवः** ।।१६।।

व्याख्यार्थ—राज्य को प्राप्त करके और राज्य के योग्य पौत्र को देखकर, इन्द्र आदि जैसे अपने भाईयों के साथ, इन्द्रादि को भी न प्राप्त न हो सकने वाली लक्ष्मी से युक्त, अथवा ब्रह्मा जी के समान लक्ष्मी से युधिष्ठिर हर्ष को प्राप्त हुये । "राज्य वंश, भाईगण और धन ये अज्ञान के कारणरूप हैं," इस सुख में डूब जाने पर फिर अन्य कोई ज्ञान शेष नहीं रहता ।।१६।।

आभास—ततः किमत आह—

आभासार्थ—यदि ऐसा हो भी गया तो क्या होगा ? उस प्रसंग में कहते हैं—

श्लोक—**एवं गृहेषु सक्तानां प्रमत्तानां तदीहया ।**
अत्यक्रामदविज्ञातः कालः परमदुस्तरः ।।१७।।

श्लोकार्थ—इस प्रकार घर में आसक्त हुये और उन्हीं गतिविधियों में प्रमत्त बने हुये पाण्डवों को नहीं जाना जा सकने वाला तथा बहुत ही दुःख से पार किया जा सकने वाला समय प्राप्त हुआ ।।१७।।

सुबोधिनी—**एवं गृहेष्विति** । ते हि भगवति विद्यमान एव पौत्रे प्रौढे जाते भगवन्तं पृष्ट्वा

पौत्र राज्ये प्रतिष्ठाप्य निरन्तरं भगवच्चिन्तका भगवत्सत्रदीक्षिता भवितु युक्ता । तत्तु तेषां न राज्यदोषाद्वृत्तमित्याह—**एवं गृहेषु सक्तानामिति** । षड्विंशतिवर्षपर्यन्तं राज्यं कृतम् । षोडशवर्षानन्तरमेव राज्ययोग्य: पौत्र: । तथाप्येवं पूर्वोक्तप्रकारेण गृहेष्वासक्तानां गृहेतिकर्त्तव्यतया च प्रमत्तानां स्वकार्येऽसावधानानामज्ञात एव कालो गत: । तज्ज्ञातमद्यैव राज्य उपविष्टमिति ।।१७।।

व्याख्यार्थ—भगवान् जब भूतल पर बिराजते थे तभी परीक्षित युवक हो गये थे तब पाण्डवों ने द्वारका में जाकर भगवान् से पूछा था और प्रभु भी आज्ञा प्रमाण से पौत्र परीक्षित को राज्य पर स्थापित किया था और वे सदैव भगवान् का चिन्तन करते रहते थे । वे भगवान् की भक्ति में ही दीक्षित होने के योग्य थे । भगवान् की भक्ति में जुड़जाने के लिये ही भगवत् सत्र में दीक्षित हुये, ऐसा कहा गया है, जिससे पाण्डवों को राज्य दोष नहीं हुआ । इस विषय में कहते है, कि पाण्डवों ने छत्तीस वर्ष तक राज्य किया । सोलह वर्ष बाद में परीक्षित राज्य करने योग्य हो गये थे । ऊपर कहे गये प्रमाण से वे घर में आसक्त हो गये थे, अत: घर सम्बन्धी कार्यों में ही व्यग्र रहा करते थे । वे अपने काम में सावधान नहीं रह गये थे । उन पाण्डवों को यह विचार ही नहीं आया कि कितना काल बीत गया है, वे यही समझते रहे कि हम ही सदैव राज्य सिंहासन पर बैठे रहेंगे ।।१७।।

आभास—एतत्स्वरूपं कियत्कालवासेन विदुरो ज्ञातवान् । एते स्वार्थे प्रमत्ता: कालग्रस्ता भविष्यन्तीति । अन्यथा चेदेते भक्ता भवेयुस्तदाऽयोध्यावत्सर्वमेव नगरं वैकुण्ठं गच्छेत् । तदा धृतराष्ट्रस्य कर्तव्यं नाऽवशिष्येत । तत्तु नास्तीति निश्चित्य कलिप्रवेशे बुद्धिभ्रंशेऽन्योन्यमारणेन धृतराष्ट्रस्य च भीमेन महद्भयं भविष्यतीत्याशङ्क्य धृतराष्ट्रबोधार्थं प्रवृत्त इत्याह—

आभासार्थ—कुछ समय रहने के बाद विदुर जी यह जान गये कि ये पाण्डव अपने कार्य में इतने प्रमत्त हो चुके हैं, कि काल के ग्रास हो जायेंगे । यदि ये स्वार्थ में न डूबे रहें और भक्त हो जावें तो अयोध्या की तरह सारा नगर ही वैकुण्ठ में चला जाय । धृतराष्ट्र का भी कोई कर्त्तव्य शेष न रहे, कारण कि जब सारा नगर ही वैकुण्ठ को जावे तो धृतराष्ट्र भी जावें ही । पर ऐसा नहीं हो सका । उन्होंने यह निश्चय कर लिया कि कलियुग का प्रवेश होगा । प्रत्येक की बुद्धि का नाश हो जायेगा । एक दूसरे को मारेंगे, तब भीम से धृतराष्ट्र को बड़ा भय होगा । ऐसी शंका करके धृतराष्ट्र को बोध कराने के लिये विदुर जी प्रसन्न हुये, अब उस प्रसंग को कहते हैं—

श्लोक—**विदुरस्तदभिप्रेत्य धृतराष्ट्रमभाषत ।**
राजन्निर्गम्यतां शीघ्रं पश्येदं भयमागतम् ।।१८।।

श्लोकार्थ—इस वास्तविकता को जानकर विदुरजो धृतराष्ट्र से बोले कि हे राजन्, सामने आते हुये भय को देखो और जितना शीघ्र हो सके यहाँ से निकल चलो ।।१८।।

सुबोधिनी—**विदुर इति** । कालस्य परमदुस्तरत्वकथनात्तादृशानामपि कालांशानां बहूनामतिक्रमात्सर्वनाशककालमध्ये पतितो धृतराष्ट्र इत्यभिप्रेत्य त प्रत्यभाषत-**राजन्निर्गम्यतामिति** । राजानो हि कालस्य शीघ्रं भक्ष्याः । राज्येनाऽधर्मबाहुल्यात् । शीघ्रनिर्गमने हेतुः-**पश्येदं भयमागतमिति** । यथा भगवतोऽधिकारी कालस्तथा कालस्य भयनामा कश्चिच्चतुर्थस्कन्धे वक्तव्यः । स इदानीं भगवति निर्गते तदीयानां स्वतोऽनिर्गमनेऽयमधिकारी सर्वान् भक्षयति पत्नीरिव । अथवा ये पूर्वं भक्ष्यत्वेनैवोपस्थिता भगवद्दृष्ट्या च न भक्षितास्तानिदानीं भक्षयितुमागतः । अग्रे वेधदीक्षान्यायेन ज्ञानसञ्चारसामर्थ्यं बोधयितुं स्वसामर्थ्यबलेन तं प्रदर्शयन्नाह-**आगतमिति** ।।१८।।

व्याख्यार्थ—कलियुग रूप काल बहुत ही कठिन है, यह कहा गया है । उस प्रकार के काल अंश बहुत व्यतीत हो गये हैं । सब का नाश करने वाले काल के मध्य में धृतराष्ट्र पड़े हुये हैं । यह जानकर धृतराष्ट्र के प्रति विदुर जी बोले कि हे राजन् तुम शीघ्र ही घर से निकलो, क्योंकि राज्य के लिये सदैव बहुत अधर्म करना पड़ता है । यही कारण है, कि राजा गण काल के भक्षण शीघ्र ही बन जाते हैं । शीघ्र निकलने में कारण बताया जा रहा है कि इस आते हुये भय का तुम देखो । जिस प्रकार काल भगवान् का अधिकारी है, और उसे काल की पुत्री जरा वरण करने गई । इसी प्रकार काल का एक अनुचर भय नाम वाला भी है, जिसका वर्णन चतुर्थ स्कन्ध में किया जायेगा । हमारे भगवान् भूतल के ऊपर से पधार चुके हैं, इसलिये जो भगवान् के भक्त हैं उन्हें भी अपने कल्याण के लिये घर से निकल जाना चाहिये । इतना होने पर भी कोई घर से न निकले तो अष्टावक्र मुनि ने जिन को शाप दिया गया था और भौमासुर जिसे उठा लाया था उस कुश की स्त्रियों के समान यह भय रूप अधिकारी प्रत्येक का भक्षण कर जायेगा । गीताजी में विश्व रूप दर्शन के समय अर्जुन ने कहा है, कि "यह सब आपके मुख में प्रवेश कर रहे हैं और भय से काँपते हुये कितने ही हाथ जोड़कर आपकी स्तुति कर रहे हैं ।" वहाँ लक्ष्यपने से पहले ही निरूपण कर दिया गया है । उस प्रमाण से जो पहले ही लक्ष्य-

पने से रहते थे और उन पर भगवान् की दृष्टि थी जिससे भय ने उनका भक्षण नहीं किया, पर हमारा भक्षण करने के लिये तो भय आ रहा है। विधि पूर्वक दीक्षा में जिस प्रकार गुरु अपने में स्थित ज्ञान को शिष्य के लिये प्रदान करते हैं, तान्त्रिक दीक्षा में भी जिस प्रकार अपने में रहने वाले देवताओं का संचार गुरु अपने शिष्यों में कर देते हैं, उसी प्रकार अपने में रहने वाले ज्ञान का संचार विदुर जी अपने सामर्थ्य से धृतराष्ट्र में कर रहे हैं। अपने सामर्थ्य की शक्ति से वे धृतराष्ट्र को सामने आते हुये काल भय को बताते हुये कहते हैं कि देखो सामने से आने वाले भय को देखो ॥१८॥

आभास—तर्हि पूर्ववदिदानीमपि प्रतीकारः कर्त्तव्य इत्याशङ्क्याऽऽह—

आभासार्थ—पहले की ही तरह अब भी इसे हटाने का कोई उपाय करो, ऐसी शंका यदि धृतराष्ट्र की ओर से की जाय, वहाँ कहते हैं—

श्लोक—**प्रतिक्रिया न यस्येह कुतश्चित्कर्हिचित् प्रभो ।**
स एव भगवान् कालः सर्वेषां नः समागतः ॥१९॥

श्लोकार्थ—हे प्रभो, जिसे दूर करने का उपाय किसी भी समय किसी से भी नहीं किया जा सकता वे ही भगवान् काल रूप से हम सबके लिये आ रहे हैं ॥१९॥

सुबोधिनी—**प्रतिक्रियेति**। भगवति गतेऽन्यस्मात्कुतश्चिदपि यस्य प्रतिक्रिया नास्ति। पूर्वमप्येवं व्यवस्था। तदाह—**कर्हिचिदिति**। **प्रभो इति** सम्बोधनेनाऽन्यत्र प्रभुत्वं चलति नाऽत्रेत्युपहासः। तर्हि किमस्मानेव भक्षयितुमागत उत सर्वान्। अन्त्ये यथा सर्वे न प्रतीकारं कुर्वन्ति तथाऽस्माभिरपि न कर्त्तव्यः। द्वितीये त्वन्याश्रयणं कर्त्तव्यम्। कथं न प्रतीकार इत्याशङ्क्याऽऽह **स एवेति**। यः पूर्वं कृष्णाख्यस्त्वत्पुत्रादीनुपसंहृतवान् स एवेदानीं त्वामुपसंहर्त्तुमागतः। न च स गत इति मन्तव्यम्। भगवत्त्वात्। पूर्वमन्येन रूपेण स्थितः। साम्प्रतमन्येन। नामस्वरूपे ते एव। आकृतिमात्रं भिद्यते। इत्याह **काल इति**। कलयति सर्वानाकालयतीति। ननु पूर्वं यथा पाण्डवा उर्वरितास्तथेदानीमप्युर्वरिता भविष्यन्ति। ततश्च तदाश्रयेण वयमपि जीविष्याम इत्याशङ्क्याऽऽह। **सर्वेषां नः समागत इति** पूर्वस्माद्वैलक्षण्यम्। इदानीं मामपि ग्रहीष्यतीति न इत्याह ॥१९॥

व्याख्यार्थ—भगवान् भूतल पर से पधार गये, इसलिये अन्य कोई भी उस काल का प्रतिकार नहीं कर सकता। पहले भी यही व्यवस्था थी। यहाँ कहा जाता है, कि हे प्रभो, ऐसा जो सम्बोधन दिया गया है, उसमें पाण्डवों को छलने वाले काल में आपका

प्रभुपना चलता है, यहाँ भी वह प्रभुपना चले ही, ऐसा नहीं है। यह कहकर धृतराष्ट्र से विदुर जी ने उपहास किया है। अपना भक्षण करने के लिये ही यह काल चला आ रहा है अथवा सभी का भक्षण करने आ रहा है। जो यह काल सभी का भक्षण करने चला आ रहा है, तो कोई भी इसे दूर करने का उपाय नहीं करता उसी प्रकार हमें भी इससे बचने का कोई उपाय नहीं करना चाहिये। यदि यह काल केवल अपना ही भक्षण करने चला आ रहा हो तो पाण्डवों का आश्रय छोड़कर अन्य का आश्रय कर लेना चाहिये। क्या इसका कोई उपाय ही नहीं? ऐसी शंका करके कहते हैं, कि पहले कृष्ण नाम वाले काल भगवान् ने तुम्हारे पुत्रों को मारा वे ही अब तुम्हें और हमें मारने चला आ रहा है। भगवान् कृष्ण भूतल ऊपर से पधार गये हैं, ऐसा नहीं मानना चाहिये। भगवान् पहले बीज रूप से रहते थे और अब भी बीज रूप से रहते हैं, अतः उनका स्वरूप ही अलग हुआ है, नाम तथा रूप तो वही है। इसे बताने के लिये कहते हैं, कि वे काल हैं, इसलिये सब को गणना रखते हैं। पहले जिस प्रकार पाण्डव बच गये थे उसी प्रकार अब भी बच जायेगें। उन का आश्रय करने से क्या हम भी बच जायेंगे? ऐसी आशंका का उत्तर देते हुये कहते हैं कि अपन सब का काल आ रहा है। यह पहले की अपेक्षा विलक्षण है। इस समय तो यह मुझे भी ले जायेगा। यह बताने के लिये ही "अपन सब का काल आया है," ऐसा कहा गया है ॥१६॥

आभास—तर्हि किं विधेयमित्याशङ्क्य येन दोषेण स ग्रसति स दोषः परिहार्यं इति वक्तुमहन्तां ममतां त्यजेदित्यभिप्रायेणाऽऽह—

आभासार्थ—तब फिर हमें क्या करना चाहिये? ऐसी शंका करके कहते हैं, कि जिन दोषों के कारण काल भक्षण कर जाता है, उन दोषों को छोड़ देना चाहिये। अर्थात् अहंता और ममता को छोड़ देना चाहिये। इसी अभिप्राय से आगे कहा जा रहा है—

श्लोक—**येन चैवाऽभिपन्नोऽयं प्राणैः प्रियतमैरपि।**
जनः सद्यो वियुज्येत किमुताऽन्यैर्धनादिभिः ॥२०॥

श्लोकार्थ—जिस काल से पराभव पाया हुआ यह मनुष्य बहुत ही प्रिय अपने प्राणों को भी छोड़ देता है तब धन इत्यादि से इसे अलग हो जाना पड़े तो इसमें कहना ही क्या ? ॥२०॥

सुबोधिनी - **येन चैवाऽभिपन्नोऽयमिति** । कालस्त्वात्मानं वस्तुतो न ग्रसति । आत्मत्वात् । परं स्वनिष्पादिते यदि प्रविशति तदा पेश्यकीटवत्तमपि भक्षयति । ततश्च देहेन्द्रियादावहन्तादि-स्त्याज्यः । नन्वेते रक्षकाः कथं त्याज्या इत्याशङ्क्याऽऽह-**प्राणैरिति** । यावत्स नाऽऽगतस्तावदेवं व्यवस्था । तस्मिन्नागते तु सर्वदा रक्षकाः प्रियाः प्राणा अपि त्यज्यन्ते । **चैवेति** रोगादिसामग्री अवश्यगमनं चोक्तम् । अत्यन्तं प्रियाः प्राणा अपि त्यज्यन्ते यन्मूलकाः सर्वे । तेषां त्यागे को विचार इत्याह–**किमुतेति** । तस्मिन्नागते पूर्वं महता प्रयासेन पोषिता अप्येते त्यक्त्वा गच्छन्तीत्यर्थः ॥२०॥

व्याख्यार्थ — काल आत्मा का ग्रास नहीं कर सकता । कारण यह है कि आत्मा प्रत्येक स्थल पर व्याप्त है । अपने द्वारा उत्पन्न किये गये शरीर आदि में ही वह प्रवेश कर सकता है । रेशम में रहने वाले कीड़े के समान उन देहादि का भक्षण करता है । इसलिये देह और इन्द्रियों में अहंता ममता आदि छोड़ देना चाहिये । देह इत्यादि तो रक्षा करने वाले हैं, इन्हें कैसे छोड़ा जा सकता है । ऐसी शंका करके कहते हैं कि जब तक काल नहीं आता वहीं तक यह व्यवस्था है, जब काल आता है तो सदैव रक्षा करने वाले प्राण हैं । उन प्राणों को भी छोड़ देना पड़ता है । 'च' तथा 'एवं' ये दो अव्यय दिये गये हैं, वे रोग आदि को सूचित करते हैं । यह देह तो जायेगा ही, ऐसी सूचना देते हैं । जिन प्राणों के मूल से धन इत्यादि हैं, ऐसे बहुत ही प्रिय प्राणों को भी छोड़ देना पड़ता है, वहाँ धन इत्यादि के छूट जाने का तो विचार ही क्यों हो ? क्योंकि जब काल आता है तो बहुत परिश्रम से पोषित किया गया यह देह भी छोड़ देना पड़ता है । देह प्राणों को छोड़ कर चला जाता है ॥२०॥

आभास—ननु तदैव त्यक्तव्यं किमन्तरा गमनेन । "**विमुञ्चेन्मुच्यमानेष्वि**" ति न्यायात् । तत्राऽऽह–

आभासार्थ—जो अपने को छोड़ते हों उन में ममता को छोड़ देना ही न्याय है इसलिये जब काल आ रहा है तो सबको छोड़ देना चाहिये । हम बीच में ही इन

सब को छोड़ दें, इसका क्या फल है ? यदि इस तरह की शंका धृतराष्ट्र की ओर से हो तो कहा जाता है—

श्लोक—पितृभ्रातृसुहृत्पुत्रा हतास्ते विगतं वयः ।
आत्मा च जरया ग्रस्तः परगेहमुपासते ।।२१।।

श्लोकार्थ—पिता, भाई, स्नेही, सम्बन्धी और तुम्हारे पुत्रों को मार डाला गया है । आपकी अवस्था भी चली गई है और बुढापे के कारण तुम्हारी देह भी गल गई है, फिर भी तुम दूसरे के घर में क्यों पड़े हुये हो ।।२१।।

सुबोधिनी—पितृभ्रात्रिति । एवं स वदेद्यस्य समीचीना विषया भवेयुः । तव तु जीवनान्मरणमुत्तमम् । '**रोगी चिरप्रवासी पराम्नभोजी परावसथशायी । यज्जीवति तन्मरणं यन्मरणं सोऽस्य विश्राम**" इति वाक्यात्तवेदानीमेव त्याग उचितः । कथम् । तदुपपादयति । **पिता** भीष्मः। **भ्रातरो** भूरिश्रवआदयः । शल्यादयः **सुहृदः** । **पुत्रा** दुर्योधनादयः । एकोऽपि यत्र हन्यते तत्र सलज्जो न तिष्ठति किमुत सर्वे । **वयः** आयु । **आत्मा** देहः । **जरा** कालकन्या । एवमपि परेषां शत्रूणां गेहं गृहपालवदुपासत इति ग्लानिदर्शनम् ।।२१।।

व्याख्यार्थ— जो भोगे जाने वाले विषय हैं, वे इस प्रकार कहते हैं कि काल आ रहा है, इसलिये हम जा रहे हैं । तुम्हारा तो जीना भी मरने के समान ही है । कारण कि "हमेशा प्रवास करने वाला और बाहर फिरने वाला, रोगी, दूसरे का अन्न खाने वाला और दूसरे के स्थान में शयन करने वाला जो जीव है वह मरे बराबर ही है । जिसका मरण होता है, वह उसका एक विश्राम है, ऐसा कहा गया है । इसलिये तुम्हें और हमें तो यह त्याग करना ही उचित है । उन्हें सिद्ध किया जा रहा है कि भीष्म पितामह जो पिता ही थे मारे गये । भूरिश्रवा आदि भाई मारे गये । शल्य आदि तुम्हारे मित्र मारे गये । दुर्योधन आदि तुम्हारे पुत्र भी मारे गये । सब कुछ नाश हो गया है । इतनों में से एक भी मर जाय तो लज्जा वाला रह नहीं सकता । जब हमारे सभी मार दिये गये तो अब हमें यहाँ क्यों रहना चाहिये । यही नहीं, आपकी अवस्था भी समाप्त हो गई है । काल की कन्या जरा ने देह को गला दिया है । इतना सब कुछ होने पर भी तुम शत्रु के घर में उसी प्रकार पड़े हो जैसे घर की रखवाली करने वाला कुत्ता पड़ा रहता है । ऐसी बात कहकर विदुरजी ने धृतराष्ट्र के मन में ग्लानि पैदा की है ।।२१।।

आभास—सामान्यकथनेन विशेषमाह–

आभासार्थ—अब साधारणतया ग्लानि उत्पन्न करके, विशेष बात कही जा रही है—

श्लोक—**अहो महीयसी जन्तोर्जीविताशा यया भवान् ।**
भीमेनाऽऽवर्जितं पिण्डमादत्ते गृहपालवत् ।।२२।।

श्लोकार्थ—अहो प्राणियों की जीवन आशा कितनी बड़ी होती है । उस आशा के अधीन होकर तुम भीम द्वारा दिये गये अन्न पिण्ड को घर के चौकीदार कुत्ते की तरह खाते हो ।।२२।।

सुबोधिनी—अहो इति । येन पुत्रस्य रुधिरं पीतमर्थात्त्वयैव तेनाऽवज्ञया दत्तं बहिर्बलिदान-पिण्डवत्। तत्राऽप्यन्यः समायास्यतीति भयात्तद्गृहपालः श्वा शीघ्रं भक्षयति। तद्वदादत्ते।।२२।।

व्याख्यार्थ—जिस भीमसेन ने तुम्हारे पुत्र दुःशासन का खून पी लिया था अर्थात् तुम्हारा ही खून पी डाला था, उससे अपमान पूर्वक दिये गये अन्न को बाहर के बलिदान पिण्ड की तरह आप खाते हो । जिस प्रकार घर के आँगन में पड़े हुये कुत्ते को अन्न डाला जाता है और वह कुत्ता उसे इसलिये जल्दी जल्दी खा जाता है कि कोई अन्य कुत्ता आकर उसे न झपट ले, ठीक वही स्थिति तुम्हारी हो रही है ।।२२।।

आभास—ननु निरभिमानस्यैतदुचितम्? तत्राऽऽह–

आभासार्थ—जिन्हें अभिमान नहीं है, उन्हें तो जो मिल जाय, वही खाना योग्य है, यदि धृतराष्ट्र इस प्रकार कहें तो आगे उसका समाधान करते हुये कहते हैं–

श्लोक—**अग्निर्निसृष्टो दत्तश्च गरो दाराश्च दूषिताः ।**
हृतं क्षेत्रं धनं येषां तद्दत्तैरसुभिः कियत् ।।२३।।

श्लोकार्थ—जिन के ऊपर अग्नि डाली गई, जिन्हें जहर दिया गया, जिन की स्त्रियों को दूषित किया गया तथा जिनका घर व धन ले लिया गया, उन्हीं के द्वारा दिये गये प्राणों से अब तुम्हारा क्या प्रयोजन है ।।२३।।

सुबोधिनी—अग्निर्निसृष्टो दत्तश्चेति । स्यादेवं यदि भवद्भिरपकार: कृतो न स्यात् । अतो भवद्भिरेव शत्रुत्वस्य स्थिरीकृतत्वाद्युक्तं भीमकृतम् । न त्वत्कृतम् । **न द्विषतोऽन्नमश्नीयाद्द्विषन्तं नैव भोजयेत् । द्विषता हि हविर्भुक्तं नेह नाऽमुत्र तद्भवेदि**' ति स्मृते:। अग्निर्निसृष्टो लाक्षागृहे । विपरीतकथनं सामान्यविशेषाभावात् । **दारा:** द्रौपदी । चकारात्तेऽपि । वल्कलादिपरिधानात् । **क्षेत्रमिति** । स्थितिस्थानमपि । अत एवमपकृतर्जीवरक्षणं लोकशास्त्रविरुद्धम् । **कियदिति** । न तज्जीवनेन किञ्चित्प्रयोजनं सेत्स्यतीति भाव: ।।२३।।

व्याख्यार्थ—यदि तुमने कभी भी उनका बुरा न चाहा होता तो इस प्रकार अभिमान रहित होकर भोजन करना उचित था, परन्तु तुमने तो पाण्डवों के साथ सदैव शत्रुता का व्यवहार किया है । अत: भीम ने दु:शासन का रक्त पीकर उचित ही किया । परन्तु तुम्हारे द्वारा यहां भोजन किया जाना उचित नहीं । क्योंकि न तो शत्रु का अन्न खाना चाहिये और न ही शत्रु को खिलाना चाहिये । 'शत्रु का खाया हुआ अन्न इस लोक तथा परलोक में फल देने वाला नहीं होता' ऐसा स्मृतियों में कहा गया है । लाक्षागृह में उनके ऊपर अग्नि डाली गई । भीमसेन को जहर के लड्डू खिलाए गए । लाक्षागृह में तुमने पाँचों पाण्डवों का अपराध किया । उस में साधारण रीति से भीमसेन भी आ गया था, उसका विशेष रूप से अपराध किया गया, यह बताने के लिये जहर के लड्डू वाली घटना कही गई है । द्रोपदी के वस्त्र तथा केश खींचे गये, इस प्रकार उसे दूषित किया गया । पाण्डवों को वृक्ष की छाल पहनने के लिये विवश किया गया, इस प्रकार उन्हें भी दूषित किया गया । उनके रहने का स्थान भी तुमने छीन लिया था, इस प्रकार तुमने तो उनका बहुत ही अपकार किया । उन्हीं के द्वारा तुम्हारे जीवन की रक्षा किया जाना लोक तथा शास्त्र के विरुद्ध है । वे तुम्हें खाने को देते हैं और तुम्हारे प्राणों की रक्षा करते है, ऐसे प्राणों से तुम्हें अब क्या लेना देना है । इस प्रकार जीने से कोई भी प्रयोजन सिद्ध होने वाला नहीं हैं, यह अभिप्राय हुआ ।।२३।।

आभास—एवमपि सर्वविरोधेन पोषितो देह: स्वयमेव न तिष्ठतीत्याह—

आभासार्थ—इस तरह प्रत्येक का विरोध करके जिस देह का पोषण किया गया है, वह देह वैसे भी नहीं रहने वाला, यह कहा गया है—

श्लोक—**तस्याऽपि तव देहोऽयं कृपणस्य जिजीविषो: ।**
परैत्यनिच्छतो जीर्णो जरया वाससी इव ।।२४।।

श्लोकार्थ—इस प्रकार दीन बने हुये तदपि जीने की इच्छा रखने वाले, यह शरीर चला न जावे ऐसी विचार धारा वाले तुम्हारे इस शरीर को बुढ़ापा पुराने वस्त्र की तरह नष्ट कर देगा ।।२४।।

सुबोधिनी—**तस्याऽऽपोति** । एवं ग्लानिमनुभवतोऽपि । **कृपणस्य** दीनस्य । "**कृपणः स तु विज्ञेयो योऽनालोचितयाचक**" इति भीमयाचकस्य वा । **जिजीविषोः** जीवितुमिच्छोः । **परैति** अपगच्छति । तत्र हेतुः-**जरया जीर्ण इति** । अव्यवह्रियमाणे अपि परिधानोत्तरीये वाससी स्पर्शमात्रेणैव जीर्णे गच्छतः । प्रक्षालनेनाऽपि नश्यतीत्यर्थः ।।२४।।

व्याख्यार्थ—यह बात नहीं है कि तुम इस ग्लानि का अनुभव न करते हो, तो भी तुम कृपण हो रहे हो । माँगने का पदार्थ, माँगने की योग्यता अपना स्वरूप तथा देने वाला, इन चारों में से एक का अथवा सबका स्वरूप आदि विचारे बिना जो माँगता है, उसे कृपण कहा जाता है । अथवा भीमसेन से तुम्हें नहीं मांगना चाहिये । उससे पास से माँगते हो इसलिये तुम कृपण हो । आज भी तुम्हें जीने की बहुत बड़ी इच्छा है । तुम्हारा शरीर वैसे भी बुढ़ापे के कारण नष्ट होता जा रहा है । पहनने का वस्त्र अथवा कोई और वस्त्र उपरना आदि प्रयोग में न लेने से जीर्ण हो जाता है । फिर वह स्पर्श करने मात्र से अथवा धोने से भी नष्ट हो जाता है ।।२४।।

आभास—तर्हि किं कर्त्तव्यमित्यत्राऽऽह-

आभासार्थ—तो फिर अब हमें क्या करना चाहिये ? ऐसा यदि धृतराष्ट्र पूछे तो उसका उत्तर दिया जा रहा है-

श्लोक—**गतस्वार्थमिमं देहं विरक्तो मुक्तबन्धनः ।**
अविज्ञातगतिर्जह्यात्स वै धीर उदाहृतः ।।२५।।

श्लोकार्थ—धीर पुरुष वह होता है, जो वैराग्य से युक्त हो, बन्धनों से मुक्त हो गया हो, किसी से भी न जानी जा सकने वाला गति वाला होकर इस देह को अपना न मानते हुये छोड़ दे ।।२५।।

सुबोधिनी—गतस्वार्थमिममिति । विषयदोषदर्शनेन वैराग्यविवेकोत्पत्तावग्रिमबाधाभावाय वृक्षधर्मत्वादय देहस्तत्र त्यक्तव्यो यत्र त्यक्त कोऽपि न जानाति । अपरित्यागदशायामेवाऽस्याऽप-कारजनकत्वात् । परित्यागो हि भर्जनवद्बीजस्याऽङ्कुरोत्पत्तौ प्रतिबन्धकः । तावदय देहो रक्ष्या यावत्स्वस्य कार्यं सिद्ध्यति । सिद्धे कार्ये त्यक्तव्य इति **गतस्वार्थमित्युक्तम्** । जातस्वार्थमित्यर्थः । अथवा । पूर्वोक्तत्यागेन गतः स्वर्थो ज्ञानधर्मादयो येन । अतोऽपकारिणमिमम् अस्मिन् रागं परि-त्यज्य तस्य शृङ्खलारूपपुत्रादिभिर्विमुक्तः सन् दुष्टत्वादस्य देहस्य **जह्यात्** इमं देहं परित्यजेत् । न विज्ञाता गतिर्यस्य । शृङ्खलानां पुनः सम्बन्धाभावाय । किं ततः स्यात् ? तत्राऽऽह—**स वै धीर उदाहृत इति** । धीरस्य यत्फलं भवेत् । "**द्वौ सम्मताविह मृत्यु दुरापावि**" ति धैर्यफलम् । ननु तादृशमेव धैर्य्य तत्फले प्रयुज्यत इत्यत आह । **वै निश्चयेन** । यत्र फलार्थं धैर्यगणना कृता तत्रै-तादृशमपि धैर्यं गणितं निश्चितफलत्वेन । तस्माद्यथा तयोर्धैर्ययोः फलं तथाऽस्यापीयदर्थः ।।२५।।

व्याख्यार्थ—विषयों में दोष देखने से जिन्हें वैराग्य उत्पन्न हो गया है फिर उसे आगे बाधा नहीं होती । इसलिये इस देह को वृक्ष के समान बताया गया है । इस शरीर को ऐसी जगह छोड़ना चाहिये जहाँ इसका छोड़ना कोई न जान सके । जब तक शरीर नहीं छोड़ दिया जाता तब तक ही यह अपकार करने वाला है । इस शरीर का त्याग भुने हुए बीज के समान करना चाहिए, जिसमें से फिर कभी अंकुर की उत्पत्ति न हो, पुनः जगत् में उत्पन्न न हो । इस शरीर की रक्षा का प्रयोजन तब तक ही मानना चाहिए जब तक इससे अपना (आत्म सम्बन्धी) कार्य सिद्ध हो । कार्य सिद्ध होने पर इस देह का परित्याग कर देना चाहिए, इस स्थिति को ही गत स्वार्थ कहा गया है । अथवा सिद्ध हो गया है स्वार्थ जिसका, ऐसे देह को छोड़ देना चाहिए । पहले कह गए के अनुसार त्याग की परिभाषा के अन्तर्गत जिन का ज्ञान धर्म आदि स्वार्थ चला गया है, उन को देह त्यागना ही उचित्त है । यह शरीर अपकार ही करने वाला है । इसलिए इसमें से आसक्ति को छोड़कर और इस की सांकल रूप पुत्रादि का परित्याग करके इसके इस दुष्ट देह को छोड़ना चाहिए । जिस आत्मा की गति को नहीं जाना जा सकता अथवा यह शरीर जहां छोड़ाजाना है, उसे कोई न जान सके । पुत्रादि शृङ्खला से फिर न बंधना पड़े, इसलिये इसको छोड़ने को गति भी किसी को ज्ञात नहीं होना चाहिये । इसका क्या फल होता है, उसे बताया जा रहा है । इस प्रकार जो शरीर को छोड़ता है, वह धीर पुरुष कह-लाता है । धीर पुरुष को जो फल मिलता है, वही उसको मिलता है । "ब्रह्म की धारणा करके, प्राणों को जीतकर, योग में प्रीति रखकर इस शरीर को छोड़े अथवा

युद्ध में आगे होकर इस देह का त्याग करे", ये दोनों प्रकार की मृत्यु मिलना बड़ा कठिन है। छठे स्कन्ध में वृत्रासुर के कथन के अनुसार दोनों प्रकार की मृत्यु को उत्तम माना गया है। यही धैर्य का फल है। उस फल के मिलने तक ही धैर्य धारण करना चाहिये। यह बात बताने के लिये मूल में 'वै' अव्यय दिया गया है। जहाँ फल के लिये ही धैर्य की गणना की गई है। वहाँ निश्चयात्मक फल पने से इस धैर्य की गणना हुई है ॥२५॥

आभास—एवमेकेन प्रकारेण देहपरित्याग उक्तः। प्रकारान्तरमप्याह—

आभासार्थ—इस तरह प्रत्येक प्रकार से शरीर को छोड़ना बताया गया है। अब शरीर को छोड़ने का दूसरा प्रकार भी बतलाते हैं—

श्लोक—**यः स्वकात्परतो वाऽपि जातनिर्वेद आत्मवान्।**
हृदि कृत्वा हरिं गेहात्प्रव्रजेत्स नरोत्तमः ॥२६॥

श्लोकार्थ—अपना हित चाहने वाला, सम्बन्धी अथवा शत्रु से जिसे वैराग्य हो उत्पन्न हो गया है, ऐसे पुरुष को धैर्यवान होकर, भगवान् को हृदय में धारण करके घर से निकल जाना चाहिये, वही पुरुष उत्तम है ॥२६॥

सुबोधिनी—**यः स्वकादिति**। स्वकीयाद्बन्धोर्हितकर्त्तुः। **परतः** शत्रोः। वक्तृगतगुणदोषराहित्येन योऽस्मिन्नर्थे कार्यदृष्टिः सन् जातवैराग्यः। देहेन्द्रियादिकमज्ञानादन्यार्थं विनियुज्य तैः सर्वस्वनाशे तत्त्यागः **प्रथमः पक्षः**। प्रथमत एव भोगार्थमकृत्वा यादृशैरपि तादृशैर्वाक्यैस्तृष्णाभावाय जातवैराग्यस्तेन देहादिना भगवन्तं सपरिकरं ज्ञात्वा तं हृदि संस्थाप्य देहत्यागेच्छां परित्यज्य तेन दुर्लभं भगवत्स्मरणं कुर्वाणो गृहस्य बाधकत्वात्पुनः सम्बन्धाभावाय **प्रव्रजेत्** संन्यस्य गच्छेत् स **नरोत्तमः** सर्वेभ्यः प्राणिभ्य उत्तम इत्यर्थः ॥२६॥

व्याख्यार्थ—उपदेश देने वाला और अपना हित करने वाला बन्धु हो अथवा शत्रु हो तो भी वक्ता के गुण दोष को मन में नहीं रखना चाहिये। ऐसी दृष्टि से जिसे वैराग्य उत्पन्न हो गया है तथा घर से निकल पड़ा है, वही उत्तम है। इसलिये देह तथा इन्द्रियों आदि के अज्ञान से दूसरों के लिये विनियोग करके जिससे सबका नाश हो जाय, इस प्रकार देह का त्याग करना चाहिये, यह प्रथम पक्ष है। अपने शरीर आदि का विनियोग भोगों के लिये नहीं करना चाहिये। जिस किसी भी

वाक्य से तृष्णा उत्पन्न न हो इसलिये जिसे वैराग्य उत्पन्न हुआ है, ऐसा पुरुष देह आदि के साथ तथा परिकर के साथ भगवान् को जाने, प्रभु को जानने के बाद हृदय में पधरावे, इसके बाद देह त्याग करने की इच्छा को छोड़कर, उस देह से दुर्लभ ऐसे भगवान् का स्मरण करता करता बाहर निकल जाय। घर बाधक होने से फिर उस का सम्बन्ध न हो जाय इसलिये कर्म से सन्यासी होकर बाहर जाये, ऐसा पुरुष प्रत्येक प्राणी की तुलना में उत्तम है।।२६।।

आभास—तर्हि मया किं कर्त्तव्यं ? तदाह—

आभासार्थ—तब फिर मुझे क्या करना चाहिये, इस प्रकार धृतराष्ट्र पूछे तो उसके लिये पहले ही कहा जा रहा है—

श्लोक—**अथोदीचीं दिशं यातु स्वैरज्ञातगतिर्भवान् ।**
इतोऽर्वाक् प्रायशः कालः पुंसां गुणविकर्षणः ।।२७।।

श्लोकार्थ—अब अपनों से भी जानने में न आ सके, इस प्रकार तुम उत्तर दिशा में जाओ, क्योंकि अब जो काल आने वाला है, वह पुरुषों के गुणों का अत्यधिक खिचाव करेगा ।।२७।।

सुबोधिनी—**अथेति**। भवतस्त्वन्य एव मार्गः। न देहपरित्यागो न वाऽन्यत्र विनियोगाभाव। तस्मादेतत्स्थानपरित्याग एवोत्तमः। नन्वनुभयरूपत्वात्किमेवं परित्यागेन ? तत्राऽऽह—**उदीचीं दिशं यात्विति**। महाप्रस्थानमध्येको मार्ग उक्तः। "**अपदोषतैव विगुणस्य गुण**" इति न्यायात्। अत्र स्थितौ दोषसम्भवात्। "**एषा वै देवमनुष्याणां शान्ता दिग्**" इत्युक्तेः दिश उत्कृष्टत्वात्तत्र स्थितौ न देवा बुद्धिनाशं कुर्वन्ति। न स्वतः। परमस्मिन्नर्थे स्वकीयाः प्रतिबन्धका इति तथा न ज्ञायते तथा गन्तव्यम्। ततो यथाऽधिकारमग्रे वक्ष्याम इति भावः। ननु दोषाभावार्थमेव चेद्गमनं तदाऽत्रैव स्थित्वा दोषो दूरीकर्त्तव्यः। किं गमनेन। विवेकधैर्यसङ्गभगवद्गुणानामत्रैव सम्भवात् तत्राऽऽह **इतोऽर्वागिति**। सर्वत्रैव प्रथमपुरुषवचनं हीनत्वबोधनाय। अयमेव कालः सर्वेषां बुद्धिनाशकः। त्वद्दृष्टान्तात्। इतोऽप्यर्वाग् यः कालो बाहुल्येन स्वतन्त्राणां विवेकादिमतामपि विवेकनाशकः। तत्र कथं विवेकोत्पत्तिरिति भावः। देशापेक्षस्यैव कालस्य दोषजननात्। अत एवोत्तरदेशस्थर्षीणां न कलिकालादिना बुद्धिभ्रंशः। परित्यागवैयर्थ्यापत्तेश्च। "**तस्यैव हेतोरि**" त्यत्र सर्वोत्कृष्टफले कालस्याऽहेतुत्वप्रतिपादने देशस्याऽपि प्रयोजकतोक्ता। "**भयं प्रमत्तस्य वनेष्वपि स्यादित्यत्र**" त्वीश्वरेच्छाया नियामकत्वान्न केवलेन विरोधः। **तस्मादिदानीमेतत्स्थान** परित्यज्योत्तरदेशे गन्तव्यमिति सिद्धम्।।२७।।

व्याख्यार्थ—तुम्हारा मार्ग ही अलग है अतः तुम्हें तो देह का त्याग करना नहीं है। अन्य स्थान पर आप का विनियोग हो जायेगा, यह बात भी नहीं, इसलिये इस स्थान का त्याग करना ही उत्तम है। देह का त्याग भी न हो, दूसरे स्थल पर विनियोग भी न हो तो ऐसे त्याग का क्या फल है? ऐसी शंका धृतराष्ट्र की ओर से हो, उसके उत्तर में कहते हैं, कि आप उत्तर दिशा की ओर जाओ क्योंकि उधर जाना महा प्रस्थान कहलाता है। वह एक ही मार्ग बताया गया है। "जो गुण रहित होता है, उसे दोष नहीं लगता, फिर भी एक गुण है" इस न्याय से यहां रहने में दोष उत्पन्न होना सम्भव है। इसलिये जो उत्तर दिशा है व देवताओं तथा मनुष्यों की शांत दिशा है, ऐसा वेदों में कहा गया है। अतः उत्तर दिशा उत्तम होने से वहां निवास करने पर देवतागण उस की बुद्धि का नाश नहीं करते और स्वयं से भी बुद्धि का नाश नहीं होता। परन्तु ऐसा करने में उसके सम्बन्धी बाधक बन जाते हैं, अतः उन की जानकारी में न आ सके इस रीति से तुम्हें जाना चाहिये। इसके बाद जैसा अधिकार है उसके अनुसार करने वाली बात आगे बताऊंगा। दोषों को दूर करने की ही बात हो तब तो यहीं रहकर दोष दूर करना चाहिये। विवेक धर्य सत्संग और भगवत् गुण यहीं हो सकते हैं, इसके लिये बाहर जाने से क्या फल? ऐसी शंका होने पर उत्तर देते हैं, कि अब जो काल आने वाला है वह पुरुष के गुणों को खींचने वाला है। सभी वाक्यों में विदुर जी ने क्रियापद में प्रथम पुरुष के एक वचन का प्रयोग किया है, वह धृतराष्ट्र की दयनीय स्थिति सिद्ध करता है। आपके उदाहरण को ही ले लो कि यह समय प्रत्येक की बुद्धि का नाश करने वाला है और इसके बाद जो काल आने वाला है, वह तो विवेकशील स्वतन्त्र पुरुषों की विवेकशीलता को भी नष्ट करने वाला है। तब विवेक की उत्पत्ति तो हो ही कैसे सकती है। पुरुष तो अपने ही देश की अपेक्षा रखता है। काल दोषों को उत्पन्न करने वाला होने से आप देश की इच्छा छोड़कर चले जाओ। अपना देश छोड़कर उत्तर दिशा में जो ऋषि गये हैं, उनकी बुद्धि का नाश काल नहीं कर सका। देश का त्याग करने के बाद भी यदि बुद्धि भ्रष्ट हो जाये तब तो त्याग करना ही व्यर्थ है। पहले स्कन्ध में नारद जी ने व्यास जी से कहा है, कि 'जिस प्रकार काल द्वारा बिना परिश्रम के ही दुःख होता है उसी प्रकार सुख भी काल द्वारा ही मिलता है, अतः उसके लिये परिश्रम नहीं करना चाहिए। परन्तु जो ऊपर नीचे घूमते हुए भी नहीं मिलता, उसके लिए ही मनुष्य प्रयत्न करे", ऐसा कहा गया है। इसलिए सर्वोत्तम फल मिलने

में काल कारण नहीं है, यह कहा गया है, उसी प्रसंग में देश का प्रयोजनपना भी कहा गया है। पांचवें स्कन्ध में ब्रह्मा जी ने प्रियव्रत से कहा है, कि "जिस के साथ काम क्रोधादिक होते हैं, ऐसे उन्मत्त पुरुष को वन में निवास करने पर भी, भय बना रहता है।" वहाँ तो ईश्वर की इच्छा का ही नियन्त्रण होता है, इसलिये देश और काल उसे सिद्ध नहीं कर सकता, यह कहा गया है। परन्तु इस प्रसंग में तो काल और देश को बाधक बताया गया है, इसलिये यहाँ देश छोड़कर जाने वाली बात कही गई है। अतः ऊपर वाले वाक्यों का विरोध नहीं होता। इसलिये हमें यह स्थान छोड़कर उत्तर दिशा में चला जाना चाहिये, यह सिद्ध हुआ ।।२७।।

आभास—तत्तथैव कृतवामित्याह–

आभासार्थ—इस प्रकार विदुरजी के कहने पर धृतराष्ट्र ने वैसा ही किया, उसे आगे कहते हैं—

श्लोक—**एवं राजा विदुरेणाऽनुजेन प्रज्ञाचक्षुर्बोधितो ह्याजमीढः ।**
छित्वा स्वेषु स्नेहपाशान् द्रढिम्नो निश्चक्राम भ्रातृसन्दर्शिताध्वा।।२८।।

श्लोकार्थ—इस प्रकार छोटे भाई विदुर जी द्वारा समझाया गया, अजमीढ के वंश में उत्पन्न हुआ धृतराष्ट्र, भाई के द्वारा जिसे सब प्रकार का मार्ग बता दिया गया है, अपनों में बँधे हुये स्नेह पाश को तोड़कर, घर से निकल गया ।।२८।।

सुबोधिनी—**एवमिति । राजेति** तथा करणे सामर्थ्यम् । **अनुजेनेत्य**प्रतारकत्वम् । **प्रज्ञाचक्षु**रित्युत्तमाधिकारित्वम् । **आजमीढः** । अजमीढवंशोत्पन्नः । तस्य हस्तिनापुरपरित्यागे पितृकृतनगरपरित्यागेन सर्ववंशधर्मपरित्यागो बोधितः । तदुक्तप्रकारेणैव गत इति ज्ञापयितुमाह-**छित्वा स्वेष्विति । द्रढिम्नो** दृढतरान् । भ्रात्रा विदुरेण सम्यग्दर्शिता बहिरन्तर्मार्गो यस्य । केचिदेनं प्रथमपक्षस्थं मन्यन्ते ।।२८।।

व्याख्यार्थ—धृतराष्ट्र राजा है, इसलिये उस प्रकार से करने में उन का सामर्थ्य है, यह कहा गया है। बोध कराने वाले छोटे भाई विदुरजी हैं, इसलिये वे उन्हें कोई अनुचित बात बतावें या छल करें यह संभव नहीं। धृतराष्ट्र 'प्रज्ञाचक्षु' हैं ऐसा कहने का अभिप्राय यह है, कि उनके बुद्धि रूपी नेत्र हैं, अतः उनका उत्तम अधिकार बताया गया है। वे अजमीढ़ के वंश में उत्पन्न हुये हैं, यह कथन इस ओर संकेत

करता है कि अजमीढ राजा ने अपने पिता हस्ति द्वारा बसाया गया नगर हस्तिनापुर छोड़ दिया था। इस प्रकार पिता द्वारा नगर का त्याग करने से वंश का प्रत्येक धर्म त्याग करना बताया गया है। विदुरजी ने जैसा कहा है, उसी प्रमाण से वे गये हैं, यह बताने के लिए धृतराष्ट्र का अप ों में जो दृढ़ बना हुआ स्नेह था, उस बन्धनपाश को उन्होंने काट दिया भाई विदुरजी ने बाहर का और भीतर का मार्ग उन्हें बता दिया है। जिसलिए स्वार्थ गया है, ऐसे इस देह को भगवान् को हृदय में रखकर छोड़े, उसे धीर कहा गया है, ऐसा विदुर जी ने कहा है। उस पक्ष में रहने वाले ये धृतराष्ट्र धीर हैं ऐसा श्री धर तथा बोपदेव आदि भी मानते हैं ।।२८।।

आभास—भार्यायामपि तेन मोहस्त्यक्त एव। तथापि स्वधर्मत्वेन तया गतमित्याह—

आभासार्थ—धृतराष्ट्र ने स्त्री से भी मोह छोड़ दिया है, तो भी स्त्री का यह धर्म है कि वह पति **के साथ** जावे, इसलिए वह भी साथ ही गई है, यह कहा जा रहा है—

श्लोक—**पतिं प्रयान्तं सुबलस्य पुत्री पतिव्रता चाऽनुजगाम साध्वी।**
हिमालयं न्यस्तदण्डप्रहर्षं मनस्विनामिव सत्सम्प्रहारम् ।।२६।।

श्लोकार्थ—साध्वी और पतिव्रता सुबल की पुत्री गान्धारी अपने पति धृतराष्ट्र के पीछे उस हिमालय पर्वत पर गई, जहां वीर पुरुष को तथा सत्पुरुषों को मानो प्रहार लगा हो और प्राणी मात्र के ऊपर जिसने दण्ड छोड़ा हो ऐसे सत्पुरुषों को जहां बहुत आनन्द होता है, इस प्रकार के हिमालय पर वह भी गई ।।२६।।

सुबोधिनी - **पतिमिति**। **सुबलस्य पुत्रीति** क्षत्रियाभिमानः। ततो जातिधर्मेणाऽपि गमनमुक्तम्। **अनुजगामेति** वचनादग्रेऽप्यनुगमनं सूचितम्। चकाराद्विदुरोऽपि। **साध्वीत्यबाधिका**। तस्य महद्धैर्यसूचनार्थं **हिमालयमि** युक्तम्। नन्वतिदुःखदे देशे चित्तस्थैर्याभावात्परलोकार्थिनां कथं गमनम्? तत्राऽऽह-**न्यस्तदण्डप्रहर्षमिति**। न्यस्तस्त्यक्तो भूतेषु दण्डो यैः। भूताभयदातारः। तेषां प्रकर्षेण हर्षो यत्र। अन्या सर्वा भूर्जीवव्याप्ता। तत्र स्थितोऽनिच्छयाऽपि बहून् मारयति। ततो व्रतं भज्येत। हिमे तु सर्वजीवपरिहाराच्छरीरेऽपि कृमिसम्बन्धाभावात्परमहंसानां हिमस्थानमतिप्रियम्। किञ्च। सर्वपरित्यागी देहपरित्यागार्थमपि प्रवृत्तः। तत्र तु देहपरित्यागसाधनानि सुगमानि। यथा युद्धे। **मनस्विनां** तत्र देहपरित्यागेच्छूनाम्। **सत्कर्तृकः** सम्यक्प्रहारो यत्र युद्धे।

"लक्ष्यं शस्त्रभृतां वा स्यादि" ति स्मृतेः । अथवा । वीररसाविष्टस्य यथा युद्धभूमिस्तथा वैराग्यर-साविष्टस्य सर्वविषयरहितं हिमस्थानम् ।।२६।।

व्याख्यार्थ—गान्धारी सुबल राजा की पुत्री है, ऐसा उसमें क्षत्रियपने का अभिमान बताया है। जाति धर्म से वह भी उनके पीछे गई है। धृतराष्ट्र की मृत्यु के बाद वह सती हो जाएगी, यह सूचित किया गया है। मूल में 'चकार' होने से विदुर जी भी साथ गए हैं, यह सूचित होता है। जो पतिव्रता होती है, वह साध्वी होती है। मूल में साध्वी शब्द कहा गया है, जिसका अर्थ यह है कि सन्यास लेते समय देवता स्त्री पुत्रादि में प्रवेश करके बाधा खड़ी करते हैं। पर उस प्रमाण से उन ने गान्धारी में प्रवेश नहीं किया। धृतराष्ट्र में बहुत धैर्य है, यह बताने के लिए हिमालय में जाना कहा गया है। जिस देश में दुःख बहुत हो वहां चित्त की स्थिरता नहीं होती। जिसे परलोक की इच्छा हो उसके लिये चित्त की स्थिरता बहुत आवश्यक है। वे वहाँ किस प्रकार जा रहे हैं, ऐसी शंका होने पर कहा जा रहा है कि जिसने भूतप्राणी मात्र पर दण्ड छोड़ा है, अतः प्रत्येक प्राणी को अभय देने वाले उस हिमालय पर्वत पर गए, जिस स्थल पर उन्हें विशेष हर्ष होता है। क्योंकि दूसरी सारी पृथ्वी जीवों से भरी हुई है, इसलिए छोटे बड़े सभी जीव प्रत्येक स्थल पर होते हैं। अन्य किसी स्थान पर जो कोई पुरुष रहता है, वह इच्छा के बिना ही बहुत से जीवों को मार डालता है और इस प्रकार उसका व्रत भंग हो जाता है पर हिमालय में तो बर्फ होने से वहाँ कोई जीव नहीं रहता अर्थात् प्रत्येक जीव का परिहार हो जाता है। वहां तो शरीर में भी कृमि आदि जीव नहीं लगते। इसलिए परमहंसो को हिमालय बहुत प्रिय लगता है। जिसने प्रत्येक का परित्याग कर दिया है, वह देह का भी त्याग करने के लिए तैयार हो गया है। उसको तो हिमालय में देह त्याग की सुविधा हो जाती है। जिस प्रकार मनस्वो पुरुषों को युद्ध में देह त्याग करने का साधन सुगम हो जाता है, वहां देह के त्यागने वाले पुरुष को प्रहार प्रिय लगते हैं, उसी प्रकार जिन परमहंस पुरुषों को देह त्याग करना हो, उन्हें हिमालय बहुत प्रिय लगता है। युद्ध में पुरुषों को ऐसा विचार आता है कि या तो विजय मिल जाय या फिर शस्त्र के चिन्ह हो जावें। अतः हिमालय पर जाने वाला दृढ़ विचार से हो जाता है। वीर रस के आवेश वाले पुरुष को जिस प्रकार युद्ध भूमि प्रिय लगती है उसी प्रकार वैराग्य रस वाले पुरुषों को विषय रहित

स्थान हितकर लगता है। इस प्रकार धृतराष्ट्र उत्तर देश में गये ॥२९॥

आभास—एवमुत्तमदेशगमनपर्यन्तमुक्तम्। अग्रिमकृत्यं त्वनुवादात्स्पष्टीभविष्यति। साक्षाद्विदुरोपदेशकथने मर्यादायां विरोध आपद्येत। **यावत्कस्याऽपि हृदयं यस्मिन् सर्वात्मना भवेत्। हृदा बन्धनसद्भावान्न स मुच्येत कर्हिचित्। अत एवेष्टवर्गेच्छा यथा गच्छेत्तथा चरेत्। धृतराष्ट्रे तथा बन्धो मा भूदिति हरेः प्रियः। युधिष्ठरादिमोहस्य नाशमाह स नारदः। मोहाभावः स्वतो नाऽस्ति तस्येति प्राक्कथा तता।** एवमर्धरात्रसमये धृतराष्ट्रे निर्गते उदयानन्तरं प्रहरपर्यन्तं जिज्ञासा नाऽभूत्। तदाह—

आभासार्थ—इसके बाद धृतराष्ट्र ने क्या किया? इसका स्पष्टीकरण नारदजी युधिष्ठिर जी को करेंगे। विदुरजी द्वारा प्रत्यक्ष उपदेश देने से धृतराष्ट्र गए हैं, यदि नारद जी ऐसा कहते हैं तो युधिष्ठिर के मन में यह बात आवे कि पहले तो विदुर जी अपने ऊपर स्नेह रखते थे और अब हमारा दोष देखने लगे हैं, अतः ऐसा कहना उचित नहीं लगा। कारण यह है, कि विदुरजी का तात्पर्य धृतराष्ट्र को मुक्ति दिलाने का था, अतः विदुरजी के उपदेश से धृतराष्ट्र गए हैं, यह नहीं कहा। "जब तक किसी का भी हृदय सर्वात्मा से लगा हुआ न हो तब तक बन्धन होने से वह मुक्त नहीं हो सकता। इसलिए इष्ट वर्ग सम्बन्धियों की इच्छा जिस उपाय से निवृत्त हो वही करना चाहिए।" धृतराष्ट्र में युधिष्ठिर जी का बन्धन न रह जाय, इसलिए भगवान् के प्रिय नारद जी ने युधिष्ठिर जी का मोह नष्ट किया। वे स्वयं अपने मोह का नाश नहीं कर सकते थे, इसलिए युधिष्ठिर के प्रश्न आदि की कथा कही गई हैं। इस प्रकार आधी रात्रि में धृतराष्ट्र निकल गए। सूर्योदय के बाद एक प्रहर तक किसी को भी जानने की इच्छा नहीं हुई, उस प्रसंग में आगे इस प्रकार कहा जा रहा है—

श्लोक—**अजातशत्रुः कृतमैत्रो हुताग्नि-**
विप्रान्नत्वा तिलगोभूमिरुक्मैः।
गृहं प्रविष्टो गुरुवन्दनाय
न चाऽपश्यत् पितरौ सौबलीञ्च ॥३०॥

श्लोक— **तत्र सञ्जयमासीनं पप्रच्छोद्विग्नमानसः ।**
गावल्गणे क्व नस्तातो वृद्धो हीनश्च नेत्रयोः ।
अम्बा च हतपुत्रार्त्ता पितृव्यः क्व गतः सुहृत् ।।३१।।

श्लोकार्थ—जिन ने प्रातः काल की सन्ध्या और होम कर लिया है, ऐसे सबके मित्र रूप अजात शत्रु युधिष्ठिर ने ब्राह्मणों को नमन करते हुये उन्हें तिल, गायें, पृथ्वी और स्वर्ण दान में दिया। गुरु को वन्दन करने के लिये ज्यों ही युधिष्ठिर जी ने घर में प्रवेश किया तो वहां धृतराष्ट्र, विदुर जी तथा गान्धारी नहीं दिखाई दिये ।।३०।।

उद्वेग युक्त मन वाले युधिष्ठिर ने वहां बैठे हुये सञ्जय से पूछा कि हे गवल्गण के पुत्र, वृद्ध और नेत्रों से रहित हमारे पिता धृतराष्ट्र कहां हैं ? पुत्रों के नाश से दुःखित माता गान्धारी भी नहीं दिखाई दे रहो और हमारे ऊपर स्नेह रखने वाले काका विदुर जी किधर पधार गये हैं ।।३१।।

सुबोधिनी— **अजातशत्रुरिति** । नाम्नैव वैराभावो निरूपितः । **कृतमैत्र इति** । देवपितृऋषिभूततर्पणेन सर्वत्र मैत्री कृता । अथवा प्रातःसन्ध्या मित्रदैवत्या । "**मित्रस्य चर्षणी धृत**" इत्युपस्थानात् । अनुद्धरणाभ्युदये च मैत्रचरुविधानाच्च । अतः कृतसन्ध्यावन्दन इत्यर्थः । कृतावश्यको वा । गुदस्य मित्रदैवत्यात् । क्रमेण त्रयं ज्ञातव्यम् । **हुताग्निः** । कृताग्निहोत्रः । राज्ञो हि दानं नित्यम् । तत्राऽपि तिलपात्रम् । गोदानं भूमिदानं स्वर्णदानमिति च । आज्यावेक्षणं स्वर्णदान एवोक्तम् । "**तिलैर्विष्णुर्गवा रुद्रो भूम्या चैव प्रजापतिः । सर्वे प्रीताः सुवर्णेन सत्पात्रेषु समर्पणादि**"ति तानि दानानि कृत्वा, ब्राह्मणेभ्यो नमस्कृत्य, परम्परागतं गृहं प्रविष्टः । राजगृह राजशब्दवाच्यत्वं च धृतराष्ट्रे धृतामिति तद्गृहं प्रविष्टः । गुर्वादिवन्दनमपि नित्यम् । नष्टाश्वदग्धरथन्यायेन धृतराष्ट्रस्य पितृत्वं युधिष्ठिरस्य च पुत्रत्वमिति । गुरुषु मातुर्मुख्यत्वात्—**न चाऽपश्यत्**-कुन्तीं नत्वा, धृतराष्ट्रविदुरनमस्कारार्थं प्रविष्टस्तौ सौबलीञ्च दृष्टवानपि न । नमस्कारो दूरे । महानुद्वेगो जातः । अतोऽविचार्यैव सञ्जयं पृष्टवान् । गवल्गणस्य पुत्रो **गावल्गणिः** । पित्रादिक्रमेण त्वमेतेषामेव सेवकः । **कथमद्य प्रमत्त इति** । **नस्तात इति** परमपूज्यत्वम् । **वृद्ध इति** धर्मः । **नेत्रयोर्हीन इति** दया । सम्बन्धमात्रविवक्षया षष्ठी । भार्यासहितत्वेन सुखित्वमाशङ्क्याऽऽह—**अम्बा चेति** । गान्धारी च पुत्रशोकेन भर्त्तृव्रतचर्यया च आर्त्ता पीडिता । गमनसम्भावनाभावात्—**क्वेत्युक्तम्** । **पितृव्यो** विदुरः । सोऽपि **सुहृत्** शुद्धान्तःकरणः । अतो वञ्चन न करिष्यतीति भावः ।।३०-३१।।

व्याख्यार्थ—युधिष्ठिर का नाम अजात शत्रु इसलिये है, कि उनका कोई शत्रु

नहीं । देवता, पितर, ऋषि तथा भूत प्राणियों का तर्पण करने से युधिष्टिर की मित्रता सभी से हो गई । प्रातः सन्ध्या में "मित्रस्य चर्षणी धृतः" इस मन्त्र से सूर्य का उपस्थान होता है और गार्हपत्यादि कुण्ड में से अग्नि निकालने से पहले मित्र (सूर्य) को चरु देने का विधान है। प्रातः सन्ध्या के देवता सूर्य हैं, उनका वन्दन किया है अथवा विसर्ग, इन्द्रिय, वायु के देवता मित्र होने से प्रातःकालीन आवश्यक कार्य राजा ने किये हैं । सर्वप्रथम शौचादि से निवृत्त होना, फिर सन्ध्या वन्दन और बाद में तर्पणादि यह क्रम है । अग्नि में होम किया है । राजा को दान देना चाहिये, उसमें तिलपात्र, गाय का दान, पृथ्वी का दान और स्वर्ण का दान, ये इतने दान तो करने ही चाहियें । स्वर्ण दान के अन्तर्गत आज्यावेक्षण आ जाता है (स्वर्ण पात्र में घी भरकर उसमें मुख देखकर दान देना) । "सत्पात्र को तिल दान देने से विष्णु प्रसन्न होते हैं, गाय का दान देने से महादेव जी प्रसन्न होते हैं पृथ्वी का दान देने से ब्रह्मा प्रसन्न होते हैं ।" दान देने के बाद ब्राह्मणों को नमस्कार किया है । बाद में प्रतिदिन की तरह घर के बड़े बूढ़ों को नमस्कार करने के लिये युधिष्ठिर ने प्रवेश किया । राजा होने से महल का प्रयोग किया । रथ के घोड़े नष्ट हो गये हों तो "दूसरे अश्व हों वे रथ के अश्व कहलाते हैं ।" इस न्याय से धृतराष्ट्र का पितापना तथा युधिष्ठिर का पुत्रपना हुआ । सब गुरुजनों में माता का मुख्य स्थान होने से कुंती जी को नमस्कार करके धृतराष्ट्र व विदुर जी को नमस्कार करने के लिये वे वहां आये हैं । वहाँ उनने गान्धारी को नहीं देखा अतः उद्वेग हो गया ।।३०।।

युधिष्ठिर ने संजय से पूछा कि तुम गवलगण के पुत्र हो इसलिये क्रम से तुम पिता आदि के सेवक हो, फिर असावधान कैसे रह गये । वे हमारे पिता होने से परम पूज्य हैं । वे वृद्ध होने से उनकी संभाल रखना तुम्हारा धर्म है, उनके नेत्र भी नहीं हैं, यह कहकर दया बताई गई है । नेत्रों से हीन हैं, ऐसा कहने के स्थान पर मूल में 'नेत्र' शब्द में षष्ठी विभक्ति का प्रयोग किया गया है, इससे नेत्र के साथ उनका सम्बन्ध मात्र था । धृतराष्ट्र स्त्री सहित गये हैं, अतः जहाँ भी होंगे सुखी होंगे, ऐसी शंका होने पर कहा जा रहा है, कि गान्धारी पुत्र शोक से तथा पतिव्रत के धर्म आचरण से बड़ी दुःखी है, अतः उनके जाने की कोई संभावना नहीं । काका विदुर जी शुद्ध अन्तःकरण वाले हैं, अतः वे कोई छलावा करें, यह भी नहीं माना जा सकता, तब फिर वे सब के सब कहां चले गये हैं ।।३१।।

आभास—गमनाभावाददर्शनाच्च गङ्गोपर्येव गृहस्य विद्यमानत्वाद्गङ्गापतनं सम्भावयति—

आभासार्थ—धृतराष्ट्र आदि कहीं जा भी नहीं सकते और दिखाई भी नहीं दे रहे हैं, अतः गंगाजी के ऊपर घर होने से उसमें डूबने की संभावना करते हुये कहते हैं—

श्लोक—**अपि मय्यकृतप्रज्ञे हतबन्धुः स्वभार्यया ।**
आशंसमानः शमलं गङ्गायां दुःखितोऽपतत् ॥३२॥

श्लोकार्थ—जिनके पुत्र व बन्धु नष्ट हो गये हैं, ऐसे धृतराष्ट्र की मुझमें पुत्र बुद्धि न होने से कहीं वे पाप की शंका करते हुये, दुःखी होकर गंगाजी में तो नहीं डूब गये ? ॥३२॥

सुबोधिनी—अपीति । अकृतप्रज्ञे । न कृता प्रज्ञा पुत्रबुद्धिर्येन । पूर्वं पुत्राश्च बान्धवा हता यस्य । अत उभयाभावाच्छास्त्रतः पुत्रत्वेऽपि यदि पुत्रत्वं न मन्यते तदाऽस्मासु शत्रुत्वमेव स्थितमिति कदाचिदस्मानपि मारयेदिति **शमलं** पापमाशंसमानोऽपमृत्युषु गङ्गामरणं श्रेष्ठमित्यपमृत्युमरणाद्दुःखितो मारणापेक्षया मरणमुत्तममिति गङ्गायामपतत् । विदुरस्तु लज्जयाऽनुक्त्वैव गत इति भावः ॥३२॥

व्याख्यार्थ—धृतराष्ट्र ने मुझमें पुत्र बुद्धि न की हो, कि मेरे अपने पुत्र तो मर ही गये हैं । दोनों ही प्रकार से उनके पुत्र न होने से धृतराष्ट्र ने दुःख की संभावना की है । यों तो शास्त्रों की दृष्टि से हम में पुत्रपना है, परन्तु वे हमें पुत्र की तरह न मानते हों, तो हममें शत्रुपना ही उनको दिखाई दिया हो, कारण कि हमने उनके पुत्रों को मारा है । इसलिये धृतराष्ट्र के मन में यह शंका हुई हो कि जिसने हमारे पुत्रों को मारा है तो कभी हमें भी मार दे, तो हमारी अपमृत्यु (अकाल मृत्यु) हो जाय, इसलिये गंगा में डूबकर मर जाना ही उत्तम है । इसलिये अपमृत्यु से मरने की शंका के कारण दुःखी होकर धृतराष्ट्र के मन में ऐसा विचार आया होगा, कि दूसरे के हाथों से मरने की अपेक्षा गंगा में डूब मरना ही अच्छा है, ऐसा विचार कर वे गंगाजी में तो नहीं पड़ गये । विदुर जी भी उनके पास ही थे, इसलिये लज्जा के कारण बिना कहे ही कहीं चले गये हों ॥३२॥

आभास—तदप्यसम्भावितमिति मत्वाऽऽह—

आभासार्थ– धृतराष्ट्र का गंगा में गिरना और विदुर जी का बिना कहे चले जाना ये दोनों ही बातें असंभव हैं, ऐसा मानकर कहते हैं—

श्लोक—**पितर्युपरते पाण्डौ सर्वान्नः सुहृदः शिशून्।**
अरक्षतां व्यसनतः पितृव्यौ क्व गताबितः ॥३३॥

श्लोकार्थ—जब हमारे पिता पाण्डु मृत्यु को प्राप्त हो गये, तब स्नेह करने योग्य हम बालकों की दोनों ही काकाओं ने दुःख से रक्षा की, तब फिर वे यहां से कहाँ चले गये ॥३३॥

सुबोधिनी– पितर्युपरते इति। वस्तुतस्तूभाभ्यामेव रक्षिता लाक्षागृहाद्दास्याच्च। एवमन्यदपि ज्ञातव्यम्। तदाह—**अरक्षतां व्यसनत इति** ॥३३॥

व्याख्यार्थ—धृतराष्ट्र तथा विदुरजी इन दोनों ने ही सत्य रूप से भली भाँति हमारी रक्षा की। लाक्षागृह में अग्नि का उपद्रव हुआ और विराट् नगर में सेवकपना करना पड़ा, वहाँ प्राप्त दुःखों से भी उन्होंने हमारी रक्षा की। और भी अन्य जो जो दुःख आये उनमें भी उन्होंने हमारी रक्षा की है ॥३३॥

आभास—सञ्जयस्तु पूर्वमेव तदभावं ज्ञात्वा भयादपि मूर्च्छित एव स्थितः। अतो नोत्तरं दत्तवानित्याह—

आभासार्थ—सञ्जय तो पहले ही धृतराष्ट्र को वहाँ न देखकर भय से मूर्छित हो गये थे, इसलिये उन ने उत्तर नहीं दिया, ऐसा सूत जी कहते हैं—

सूत उवाच-श्लोक—**कृपया स्नेहवैक्लव्यात्सूतो विरहकर्षितः।**
आत्मेश्वरमचक्षाणो न प्रत्याहाऽतिपीडितः ॥३४॥

विमृज्य पाणिनाऽश्रूणि विष्टभ्याऽऽत्मानमात्मना।
अजातशत्रुं प्रत्यूचे प्रभोः पादावनुस्मरन् ॥३५॥

श्लोकार्थ—धृतराष्ट्र के विरह से दु:खी हुये, अपने स्वामी को न देखकर बहुत ही दु:खी हुये संजय कृपा व स्नेह से विकल भाव को प्राप्त होकर कुछ नहीं बोले ॥३४॥

हाथ सेनेत्रों के आंसुओं को पोंछकर, अपने मन से अन्त: करण को धीरज बँधाकर, अपने स्वामी धृतराष्ट्र के चरणों का स्मरण करते करते युधिष्ठिर जी को उत्तर देने लगे ॥३५॥

सुबोधिनी– **कृपयेति**। दीनत्वात्कृपा। स्नेह: सहज:। कृपया च स्नेहाधिक्याद्वैक्लव्यम्। **आत्मेश्वरमिति** नीतिरतिपीडायां हेतु:। यद्यपि युधिष्ठिर ईश्वरस्तथापि स्वस्य धृतराष्ट्र एव। अवचनेऽतिपीडैव हेतु:। न त्ववज्ञादि:। तथापीश्वरसान्निध्यात्तूष्णीम्भावोऽनुचित इति "**विकलश्च न वदेदि**"ति स्मृतेर्निर्गतान्यश्रूणि पाणिना विमृज्य अन्येषामनिर्गमार्थं चाऽऽत्मानं विष्टभ्य गुर्वन्तराभावेऽपि स्वयमेव गुरुर्भूत्वा प्रमादकथनेऽपि दण्डं न करिष्यतीत्यजातशत्रुं प्रति धृष्टतौदासीन्यहेलनाद्यभावाय **प्रभो**र्धृतराष्ट्रस्य पादावनुस्मरन् भक्त्या भगवतो वा दण्डाभावाय **प्रत्यूचे** प्रतिकूलमुत्तर दत्तवान् ॥३४-३५॥

व्याख्यार्थ—दीनपना होने से कृपा है और स्नेह तो उन के लिये सहज है ही। कृपा की अपेक्षा स्नेह अधिक होने से विकलता बढ़ी हुई है। अपने स्वामी को न देखकर अत्यधिक पीड़ा होना स्वाभाविक है, ऐसी नीति भी है। यों तो स्वामी युधिष्ठिर हैं, तदपि संजय के स्वामी तो धृतराष्ट्र ही थे, इसलिये वे कुछ भी बोल नहीं सके। कारण यह कि उन्हें अत्यधिक पीड़ा थी। यद्यपि अपमान करने वाली कुछ भी स्थिति नहीं थी तो भी स्वामी के पास में बिना बोले रहना अयोग्य है। "व्याकुल दशा में बोलना नहीं चाहिये" ऐसा स्मृति में कहा गया है। अत: निकलते हुए आँसुओं को हाथ से पोंछकर और पुन: आँसू न ढुलक पड़ें, इस प्रकार अपने आपको संयत किया। वहाँ उन्हें उपदेश देने वाला कोई दूसरा गुरु तो था नहीं, तो स्वयं ही स्वयं का गुरु बनकर मन को नियन्त्रित करने का प्रयास किया। यदि मैं भूल से कुछ कह भी दूंगा, तो भी राजा दण्ड नहीं देगा, यह बताने के लिये पहले ही युधिष्ठिर को अजात शत्रु का सम्बोधन दे दिया है। युधिष्ठिर के साथ बात करने मे धृष्टता, उदासीनता, अथवा उपहास न हो जाय, इसलिये अपने स्वामी धृतराष्ट्र के चरणों का स्मरण करके संजय बोले हैं अथवा भक्ति से प्रभु का स्मरण करते हुये कह रहे हैं। दंड न देने वाली स्थिति का ध्यान रखते हुये, युधिष्ठिर के पूछे जाने पर, संजय प्रतिकूल उत्तर देते हैं ॥३४–३५॥

सञ्जय उवाच-श्लोक—**नाऽहं वेदाऽऽत्मवसितं पित्रोर्वः कुलनन्दन ।**
गान्धार्याश्च महाबाहो मुषितोऽस्मि महात्मभिः ॥३६॥

श्लोकार्थ—हे कुल के आनन्द बढ़ाने वाले महाबाहो युधिष्ठिर, तुम्हारे दोनों पूजनीयों धृतराष्ट्र व विदुरजी के विषय में तथा उसी प्रकार गान्धारी जी ने क्या विचार किया है, यह मैं नहीं जानता। इन दोनों महात्माओं ने मुझे छला है ॥३६॥

सुबोधिनी—न हि जानामीत्युक्ते राज्ञः प्रियं भवति। अज्ञाने हेतुः–**आत्मवसितमिति**। न केनचित्सह मन्त्रणं कृतम्। किन्त्वात्मन्येव **वसितं** अवसितम्। "**वष्टि भागुरिरल्लोपमि**"ति। **पित्रोर्व इति** कदाचिद्भवद्भिर्ज्ञायेत। आत्मत्वात्कुलनन्दनत्वाच्च चिकीर्षितमपि कदाचित्सूचयेत्। अथवा। **कुलनन्दनेति**। तव तु दोषो नास्तीत्यर्थः। **महाबाहो इति**। तव क्रियाशक्तेराधिक्येऽपि यदि त्वं न जानासि कुतो मम ज्ञानमिति भावः **महात्मभिरिति**। महानात्मा आत्मनि वा यस्य। स्वत एव वञ्चनसामर्थ्यं भगवदीयत्वेन वा। उभयथाऽप्यहं वञ्चित इत्यर्थः ॥३६॥

व्याख्यार्थ—मैं नहीं जानता,ऐसा कहने से राजा का प्रिय होता है। नहीं जानने में कारण है कि उन्होंने स्वयं ही कोई निश्चय कर लिया था। उन्होंने किसी के साथ कोई विचार विमर्श नहीं किया, अतः मैं नहीं जानता। उन्होंने तो अपने मन में ही कोई विचार कर लिया था। विचार बताने के लिये मूल में 'वसित' पद दिया है, वहां 'अवसित' कहा जाना चाहिये था। पर भागुरी ऋषि इस का लोप बताते हैं। उस प्रमाण से यहां भी 'अवसित' में 'अ' का लोप किया है। आपके बड़ों का अभिप्राय तो आप ही जान सकते हो, उसे हम किस प्रकार जान सकते हैं। यह बताने के लिये, आपके गुरुजनों का विचार मैं नहीं जानता, ऐसा संजय द्वारा कहा गया है। आप उनके आत्मा रूप हो अतः उनके कुल को आनन्द प्रदान करने वाले हो। इसलिये उन ने अपने विषय में जो करने का विचार किया हो, सम्भवतः उसकी सूचना आप को दी हो अथवा आप तो कुल के आनन्द बढाने वाले हो, अतः आपके दोष से धृतराष्ट्र कहीं चले गये हों, ऐसा भी नहीं। यह बताने के लिये 'कुल नन्दन' सम्बोधन दिया गया है। आप बड़ी भुजाओं वाले हो, इसलिये क्रिया शक्ति आप में विशेष रूप से है। इतना होने पर भी धृतराष्ट्र किधर चले गये, जब यह बात आप को ही ज्ञात नहीं है तो मुझे इस बात का ज्ञान किस प्रकार हो सकता

है ? यह अभिप्राय बताया गया है। आपके पिता की आत्मा विशाल है अथवा उनकी आत्मा में किसी महानता का आवेश है, इसलिये वे स्वयं दूसरों को भुलावे में डालने की सामर्थ्य रखते हैं अथवा भगवान् के भक्त होने से, किसी को भी उनके जाने का ज्ञान न हो, इस रीति से चले गये हों, इस प्रकार मैं तो दोनों ही तरह से ठगा गया हूं, यह आशय है ।।३६।।

आभास—एवं पूर्वकथां निरूप्य विवक्षितकथामारभते। तत्र गावल्गणिवाक्यं श्रुत्वा महामोहग्रस्तो राजा प्रमादं वा कुर्यादित्याशङ्क्य तादृशकार्ये नियुक्तो नारदस्तदा समागत इत्याह—

आभासार्थ—इस प्रकार पहले की कथा का निरूपण करके अब जो कथा कहने की इच्छा है, उसका प्रारंभ करते हैं। उसमें सञ्जय का वाक्य सुनकर महान् मोह में पड़े हुए राजा युधिष्ठिर आत्महत्या आदि न कर बैठें, ऐसी शंका करके उस प्रसंग का समाधान करने में पहले से ही नारद जी को जोड़ दिया गया है। इसलिये वे यहां युधिष्ठिर के मन का समाधान करने आये हैं, ऐसा कहा जा रहा है–

श्लोक—अथाऽऽजगाम भगवान्नारदः सहतुम्बुरुः।
प्रत्युत्थायाऽभिवाद्याऽऽह सानुजोऽभ्यर्चयन्निव ।।३७।।

श्लोकार्थ—उसी समय तुम्बुरु ऋषि के साथ भगवान् नारद वहां आये। छोटे भाइयों सहित राजा युधिष्ठिर ने उठकर नमस्कार किया और पूजा करते हुए से उन से बोले ।।३७।।

सुबोधिनी—अथेति। अथ मोहानन्तरं तदपगमार्थमागत इत्यर्थः। तुम्बुरुरन्य ऋषिः। शोकापनोदे हि सम्मतिरपेक्ष्यते। अधिकारिण उद्वेगाधीनत्वात्। तदा प्रमादं कर्त्तुं विचारयन्नारदं दृष्ट्वा अनेन निर्णयो भविष्यतीत्युत्थाय पूर्वावस्थां त्यक्त्वा ऋषिमभिवाद्य स्वागतादिकमपृष्ट्वैव धृतराष्ट्रं पृच्छति ।।३७।।

व्याख्यार्थ—युधिष्ठिर को मोह होने के बाद उसे दूर करने के लिये शीघ्र ही वहाँ नारद मुनि आये। उन्हीं के साथ तुम्बुरु नाम वाले एक ऋषि भी आये। कारण यह कि शोक दूर करने में दूसरे की सम्मति आवश्यक है। जिस अधिकार के

लिये जिस कार्य का विनियोग किया गया हो अर्थात् जिसे जो कार्य सोंपा गया हो, उसे उस कार्य सम्बन्धी उद्वेग बना रहता है, जिससे हीनता की स्थिति उत्पन्न होती है। इस स्थिति का निवारण करने के लिये ही तुम्बुरु ऋषि के साथ नारद जी आये हैं राजा युधिष्ठिर आत्म हत्या आदि प्रमाद करने का विचार करते थे, पर नारद जी को देखकर, कि ये इस घटना पर निर्णय देंगे, ऐसा विचार करके पहले वाली मोह अवस्था को छोड़कर खड़े हो गये और ऋषि का अभिवादन किया तथा स्वागत विषयक प्रश्न न करके धृतराष्ट्र के विषय में पूछने लगे ।।३७।।

युधिष्ठिर उवाच-श्लोक—**नाऽहं वेद गतिं पित्रोर्भगवन् क्व गतावितः ।**
अम्बा च हतपुत्रार्त्ता क्व गता सा तपस्विनी ।।३८।।

श्लोकार्थ—यहाँ से हमारे काका कहाँ चले गये ? हे भगवान्, उस स्थान को मैं नहीं जानता। उसी प्रकार पुत्रों का नाश होने से दुःखी हुई तपस्विनी माता गान्धारी कहाँ चली गई, इसकी भी मुझे कोई जानकारी नहीं ।।३८।।

सुबोधिनी—**नाऽहं वेदेति** । अमङ्गलसम्भावनां नोक्तवान् । अयुक्तत्वात् ।।३८।।

व्याख्यार्थ—धृतराष्ट्र का कुछ अमंगल हो गया है, ऐसी कुछ भावना युधिष्ठिर के मन में हुई है। परन्तु वह भावना अयोग्य होने से नारद जी के सामने प्रकट नहीं की। केवल इतना ही पूछा कि मेरे माता-पिता कहाँ गये ।।३७।।

आभास— शीघ्रकथनार्थमाह—

आभासार्थ—बात की वास्तविकता को शीघ्र ही बता देने के लिये कहते हैं-

श्लोक—**कर्णधार इवाऽपारे भगवान् पारदर्शनः ।**
अथाऽऽबभाषे भगवान्नारदो मुनिसत्तम ।।३९।।

श्लोकार्थ—जिस प्रकार नाविक अपार समुद्र को भी पार करा देता है उसी प्रकार हे भगवान् नारद जो आप भी पार का दर्शन करा देने वाले हो। हे मुनियों में उत्तम ! उस समय भगवान् नारद जी युधिष्ठिर के प्रति कहने लगे ।।३९।।

सुबोधिनी—कर्णधार इति । शोकसमुद्रे मग्ना वयम् । तत्र सार्वज्ञ्यं नौका । तस्या निर्वा-

हको भवानेव । केवलनाविकवन्न किन्तु **पारदर्शनः** गन्तव्यदेशं पश्यसि । पर्यवसानं जानासी-त्यर्थः । एवमर्द्धवचने स्थितः । उपसंहाराकथानात् तदा नारदस्त्याऽकथनहेतुं ज्ञात्वा स्वय-मेव बभाषे । ज्ञाने हेतुः—**भगवानिति** । अनुबोधे वा । **मुनिसत्तमेति** सम्बोधनम् । पाठान्तरेऽपि प्रकाराणामुक्तत्वादाभासाद्यूहनेन स्वयमूहनीयम् मुनयो हि कृपालवो भवन्ति । अतः कृपया नारदोऽपृष्टमप्याहेत्यर्थः । ३९।।

व्याख्यार्थ—आप प्रवहण (बड़ी नौका) को चलाने वाले नाविक के समान हो अर्थात् हम तो शोक रूपी समुद्र में डूब रहे हैं, उसमें आप की सब कुछ जान लेने वाली क्षमता नौका रूप है । उसका निर्वाह करने वाले आप ही हो । आप जहाज को चलाने वाले कर्णधार के समान ही नहीं हो वरन् समुद्र के दूसरे किनारे को भी दिखा देने वाले हो । जिस स्थान पर पहुंचना है उस गन्तव्य स्थान को भी दिखा देने की सामर्थ्य आप में हैं । वह स्थल किस प्रकार का है, उसे भी आप दर्शन करा देते हो । उसके अन्तिम परिणाम की स्थिति भी आपसे छिपी नहीं है । इस वाक्य को पूरा न करके युधिष्ठिर बीच में ही चुप रह गये । उन्हें इस प्रकार मौन देखकर और उस मौन का कारण जानकर नारद जी स्वयं ही कहने लगे । नारद जी को ज्ञान होने में कारण बताया जा रहा है कि वे भगवान् हैं । युधिष्ठिर का शोक जिस बात से दूर हो, ऐसा उपदेश देने में नारद जी कुशल हैं, यह बताने के लिए "मुनियों में उत्तम नारद जी" यह कहा गया है । 'मुनि सत्तम' यह सम्बोधन सूत जी ने शौनक ऋषि के लिए दिया है, जिसका तात्पर्य यह है कि शौनक जी कही हुई बात का रहस्य तत्काल समझते हैं । मूल में पाठान्तर होने पर भी उसके अभिप्राय का जो विचार करना हो, उसे हृदय में विचार लो । मुनि तो दयालु होते हैं, इसलिए न पूछी गई बात को भी नारद जी दया करके कहते हैं, यह बताया गया है ।।३९।।

आभास—भगवान् संसारिजीवेषु यदज्ञानं करोति तत्सहसा कृतिव्यावृत्त्यर्थम् । अतस्त्वयाऽपि सहसा न किञ्चित्कर्त्तव्यम् । प्रथमतो मोहं दूरीकुरु । पश्चात्पृष्टं वक्ष्यामीत्यभिप्रायेणाऽऽह—

आभासार्थ—भगवान् संसारी जीवों में इसलिए अज्ञान भरते हैं कि वे शीघ्रता में कोई अनुचित बात न कर बैठें । अतः आपको भी शीघ्रता में कोई कार्य नहीं करना है । पहले तो अपने मोह को दूर करो, इसके बाद आप द्वारा पूछे गये प्रश्नों का उत्तर दूंगा, इस अभिप्राय से वे कहते हैं—

नारद उवाच-श्लोक--**मा कञ्चन शुचो राजन् यदीश्वरवशं जगत् ।**
स संयुनक्ति भूतानि स एव वियुनक्ति च ।।४०।।

श्लोकार्थ - हे राजन् किसी का भी शोक न करो। कारण, कि यह जगत् ईश्वर के वश में है। वे ही प्रभु प्राणियों को इस जगत् में मिलाते हैं तथा बिछुड़ा देते हैं ।।४०।।

सुबोधिनी - **मा कञ्चन शुच इति** । शोको ह्यनिष्टज्ञानसाध्यस्वन्यूनतापादकानिष्टपदार्थनिदिध्यासनविशेषः । कोऽप्यनिष्टभावनया न चिन्तनीय इत्यर्थः । **राजन्निति** सम्बोधनान्महाकुटुम्बित्वमुक्तम् । तेन महति राज्ये सर्वदेष्टानिष्टोत्पत्तेः शोके कदाचिदपि राज्यसुखं न स्यात् । अतो राजा न शोचति । किञ्च । शोको निष्फलो विरुद्धश्च । तत्र हेतुः--**यदीश्वरवशं जगदिति** । यस्मात्कारणात्सर्वं जगदीश्वरवशम् । भगवता हि सर्वोऽपि पदार्थः क्रियते नियम्यते च । स न कस्यचिद्द्विष्ट इष्टो वा । स स्वार्थं परार्थं वा करोति । तत्र परार्थकरणे हितमेव करोतीति नियमः । स्वार्थकरणेऽपि स्वलील सिद्धये करोति । तत्र परार्थपक्षे भगवता तस्य हिते क्रियमाणे स्वयं चेच्छोचेत्तदा निषिद्धम् । भगवतश्च कोपो भवेत् । भगवल्लीलायां तु सुतरामेव शोकोऽनौचित्यं च । स्वस्याऽपि ममतास्पददूरीकरणे पूर्वोक्त एव न्यायः । अतो भगवदधीनत्वादात्मानं परं वा कञ्चन मा शुचः । नन्वग्नेरिव संयोगवियोगाभ्यां दुःखजननात्स्वदुःखेन शोक इति चेत् ? तत्राऽऽह--**स संयुनक्तीति** । भूतानि स एव योजयति वियोजयति च । तस्मात्कृताविव संयोगेऽपि सैव युक्तिरनुसन्धेया । उभयथाऽपि सर्वथा भगवान् हितं करोतीति ज्ञातव्यम् ।।४०।।

व्याख्यार्थ—तुम्हें किसी प्रकार का शोक नहीं करना चाहिये। पहले मोह को दूर करो, बाद में पूछी गई बात का उत्तर दूंगा। अपनी हानि समझकर उससे होने वाली कमी को सिद्ध करने वाले जो हानिकारक पदार्थ हैं, उन का मन में ध्यान करना, यही शोक कहलाता है। जैसे कि किसी ने अपना अपमान किया और उससे हमें हीनता का अनुभव हुआ, उस न्यूनता का विशेष ज्ञान ही शोक का स्वरूप समझना चाहिये। अनिष्ट की भावना से शोक होना संभव है। अतः किसी के अनिष्ट की भावना नहीं करनी चाहिये। "आप तो बड़े परिवार वाले हैं", यह बताने के लिये 'राजन्' सम्बोधन दिया गया है। जहाँ बड़ा राज्य हो वहाँ इष्ट-अनिष्ट चलता ही रहता है। यदि इस प्रकार कष्ट ही करते रहे तब तो राज्य सुख भी नहीं भोगा जा सकता। अतः राजा को कोई शोक नहीं करना चाहिये। यह सारा जगत् ईश्वर के अधीन है। भगवान् ने प्रत्येक पदार्थ का निर्माण किया है और सब को नियन्त्रण में रखने वाले भी वे ही प्रभु हैं। वे भगवान् न किसी के शत्रु हैं न मित्र। भगवान्

स्वयं के लिये अथवा दूसरों के लिये इस जगत् को बनाते हैं। यदि यह माना जाता है, कि भगवान् दूसरों के लिये जगत् बनाते हैं तो वे प्रत्येक का भला ही करते हैं, यही नियम है। यदि यह माना जावे कि वे जगत् को स्वयं के लिये बनाते हैं, तो प्रभु अपनी क्रीड़ा सिद्ध करने के लिये ऐसा करते हैं, यह नियम है। भगवान् दूसरों के लिये जगत् बनाते हैं, यह पक्ष स्वीकार करने पर वे जीवों का हित करते हैं। अतः जीव शोक मनावे यह ठीक नहीं। भगवान् जीव का भला करते हुये भी जीव शोक करे तो वे क्रोधित हो जाते हैं। यदि यह पक्ष स्वीकार किया जाय कि भगवान् स्वयं के लिये क्रीड़ार्थ इस जगत् का निर्माण करते हैं तो भी शोक करने पर भगवान् कुपित होते हैं। अतः भगवान् अपना खेल रचाने के लिये यदि कोई कार्य करते हैं तो उसमें शोक करना अयोग्य माना जाता है। भगवान् दूसरों के लिये जगत् बनाते हैं, इस पक्ष के विचार करने पर 'अपने पुत्र का नाश हो जाय' तो यह कैसे माना जाय, कि भगवान् ने भला किया है, ऐसी शंका नहीं करना चाहिये। कारण, कि अपनी ममता के स्थान रूप जो पुत्रादिक हैं, उन्हें दूर करके भगवान् जीव की ममता दूर करते हैं, इस प्रकार वह जीव का भला ही विचारते हैं। इसलिये यह जगत् भगवान् के अधीन होने से, अपना अथवा दूसरे का शोक नहीं करना चाहिये। अग्नि के संयोग और वियोग से दुःखादिक होते हैं, उससे शोक होता है, ऐसा कोई कहे वहाँ उत्तर देते हैं कि भगवान् ही प्रत्येक का संयोग और वियोग करते हैं, अतः भगवान् के कार्य में अपने को शोक नहीं करना चाहिये। जब किसी का संयोग और वियोग हो, तो ऊपर के तर्क को ध्यान में रखना चाहिए अर्थात् दूसरे के लिए ही भगवान् किसी का संयोग और वियोग कराते हैं उसमें हित ही होता है। अतः दोनों प्रकारों से भगवान् प्रत्येक का प्रत्येक प्रकार से हित करते हैं, यह समझना चाहिये ॥४०॥

आभास—ननु स्वार्थपक्षे कथं शोकपरिहारः। भगवाँस्तु स्वलीलार्थं करोति। जीवास्त्वयुक्ते योजितत्वाद्दुःखेन शोचन्ति। भगवल्लीलाया बहुकालविततत्वात्स्वस्य दुःखपरम्परायां शोकस्याऽऽवश्यकत्वात्। तत्राऽऽह—

आभासार्थ—उपर्युक्त विषय में शंका हो कि भगवान् अपने खेल के लिए जगत् बनाते हैं, इस पक्ष के प्रमाण से शोक को किस प्रकार छोड़ा जा सकता है? कारण कि भगवान् तो अपनी क्रीड़ा के लिये करते हैं, पर जीवों को अनुचित कामों के साथ

जोड़ देने से उन के लिए शोक और दुःख पैदा करते हैं। बात यह है कि भगवान् की लीला तो लम्बे समय तक चलती रहती है। और जीव पर तो दुःखों की परम्परा निरन्तर आती रहती है, इसलिए शोक होना तो स्वाभाविक है ही। ऐसी शंका करके अब आगे कहते हैं—

श्लोक—**यथा गावो नसि प्रोतास्तन्त्यां बद्धाः स्वदामभिः।**
वाक्तन्त्यां नामभिर्बद्धा वहन्ति बलिमीशितुः ॥४१॥

यथा क्रीडोपस्करणां संयोगविगमाविह।
इच्छया क्रीडितुः स्यातां तथैवेशेच्छया नृणाम् ॥४२॥

श्लोकार्थ—जिस प्रकार नाथे हुए बैल रस्सी से बंधे हुए होते हैं, और हाँकने वाला जहां ले जाना चाहता है वहां ले जाता है, उसी प्रकार वेद वाणी रूप डोरी में बंधे हुए प्रत्येक जीव अपने नियन्ता स्वामी को सेवाएं या बलि प्रदान करते हैं॥४१॥

जिस प्रकार क्रीड़ा के साधनों का संयोग वियोग क्रीड़ा दिखाने वाले के अधीन रहता है (जिधर चाहे कठपुतली आदि को घुमाए या अन्य पुतलियों से मिलाए व बिछुड़ा दे), उसी प्रकार भगवान् की इच्छा से मनुष्यों का संयोग-वियोग होता है ॥४२॥

सुबोधिनी—यथा गाव इति। "**न दुःखं पञ्चभिः सहे**"ति च तदर्थमेव सृ[ष्टा] वयमिति च तदर्थमेव महद्भिर्विषयैर्योज्यन्त इति चाऽवसरे स्वामिद्रोहस्याऽयुक्तत्वाज्ज्ञात्वा दुःखमपि सोढ्वा अग्रे कृतार्था भविष्याम इति बुद्ध्वा भगवल्लीलामेव सम्पादयेत्। अन्यथा दुःखं बहु प्रयच्छेदिति गावो दृष्टान्तः। **नसि** नासिकायां **प्रोताः**। तदा हि बलीवर्दा वशे भवन्ति। अहन्ताममतारज्ज्वा विषयलक्षणनासिकायां प्रोता इन्द्रिययुक्ता भगवद्वशे भवन्तीत्यर्थः। दृष्टान्तेनैव सामान्यबन्धनमुक्त्वा विशेषबन्धनमाह—**वाक्तन्त्यां नामभिर्बद्धा इति**। वेदलक्षणा दीर्घरज्जुः। ब्राह्मणक्षत्रियरूप ओदनः। स च भगवता भोक्तव्यः। तैर्भगवति सायुज्यं प्राप्तव्यम्। तेषां प्राकृतक्रियास्तुषाः। बीजयोनिसम्बन्धस्तृणसम्बन्धः। इन्द्रियाणि बलीवर्दाः। वेदो मर्यादारज्जुः। भगवदिच्छा स्तम्भः। एवं [स]ति स्वस्येन्द्रियाध्यासे बलीवर्दत्वम्। अन्यथा स्वस्याऽऽधारत्वे त्रिविधपापविमोकश्च फलम्। इन्द्रियाणि तु देवताधिष्ठितानि वैदिककर्मणि प्रवर्तन्ते। तेन स्वस्य मलापकरणं भवति। पुनर्निरन्तरसमाधिना प्राकृततुषेऽपगते ज्ञानाग्निना पक्वा ओदनत्वं सम्पद्यन्ते। **नामभिर्बद्धाः**। ब्राह्मणोऽयं क्षत्रियोऽयं ब्रह्मचारी गृहस्थ इति। **ये यत्र** योजितास्ते तत्रैव परिभ्रमन्ति। कार्यं तु प्रभोः कुर्वन्ति। न तु प्रेरकस्य। तस्मादिन्द्रियाणां भगवदर्थं सृ[ष्ट]त्वात्तैर्भगवत्कार्ये क्रिय-

माणे स्वयं वृथाऽध्यासं कृत्वा शोको न कर्त्तव्य इत्यर्थः । किञ्च । भगवता हि क्रीडार्थं सृष्टाः । यथा बालः प्रतिमाभिः क्रीडति । स यथासुखं प्रतिमाः स्थापयति । कुतश्चिद्वियोज्य कुतश्चिद्योजयति । तथा सर्वे पुरुषा भगवतः क्रीडाप्रतिमाः । ते केनचित्संयुज्यन्ते वियुज्यन्ते च । अत एवं ज्ञात्वा सम्बन्धिषु ममतया शोकहर्षौ न विधेयाविति । समुदायेन विवेकः । पूर्वं तु तत्त्वानां प्रत्येकं विवेक उक्तः ॥४१-४२॥

व्याख्यार्थ—पाँच मनुष्यों के साथ दुःख होता है तो वह दुःख नहीं माना जाता अतः अपनी क्रीड़ा सिद्ध करने के लिए ही ईश्वर ने हम सब को बनाया है । स्वामी की कार्य सिद्धि में बाधा स्वामी द्रोह कहलाता है, ऐसा समझकर हमें वह दुःख सहन करना चाहिए । आगे मैं कृतार्थ होऊंगा यह भाव रखकर स्वामी की क्रीड़ानुसार रहना चाहिए । यदि हम क्रीड़ा में दोष निकालेंगे तो भगवान् को बहुत दुःख होगा । स्वामी द्वारा काम में लगाए जाने पर यदि बैल उसका विरोध करे तो उसे पिटना पड़ता है । बैल की नाक में नकेल डाल दिए जाने पर वह वश में हो जाता है । इसी तरह विषय रूप नासिका में अहंता ममता रूप रस्सी पिरोयी हुई है और यह इन्द्रिय युक्त जीव भगवान् के अधीनस्थ है । इस दृष्टान्त के द्वारा सामान्य बन्धन की बात बताकर अब विशेष बन्धन की बात कही जा रही है । वेद रूप लम्बी रस्सी से भगवान् ने प्रत्येक को बांध रखा है । उसमें ब्राह्मण और क्षत्रिय तो परिपक्व भात के समान भगवान् के आरोगने योग्य हैं, अर्थात् ब्राह्मण और क्षत्रिय तो भगवान् में मिलकर संसार से छूट जाते हैं । उन की लौकिक क्रियाएँ तो चावलों के तुष के समान हैं । जैसे उन छिलकों को दूर करने पर चावल उपयोग में आते हैं वैसे ही ब्राह्मण और क्षत्रिय भगवान् के उपयोग में आते हैं । अन्य दूसरी योनियों का सम्बन्ध बीज और योनि का सम्बन्ध जैसा है जिस प्रकार चाँवल और उससे संलग्न तृण का सम्बन्ध है । इन्द्रियां बैल हैं, वेद बैलों को बाँधने की डोरी है, भगवान् की इच्छा ही स्तम्भ है । जब तक इन्द्रियों का अध्यास है, तब तक बैल समान हैं । बैल के स्थानीय हैं । इन्द्रियों के अध्यास से रहित होकर क्रिया करें तो जीव चाँवलों के फूतरों के समान है । आधिभौतिक, आध्यात्मिक और आधिदैविक पापों से छुटकारे का यह फल है । इन्द्रियों में उन के अधिष्ठाता देवता निवास करते हैं, जिससे वे वैदिक कर्मों में लगती हैं । उन कर्मों से दोष मिटते हैं । इसके बाद निरन्तर समाधि में लगे रहने पर लौकिक क्रिया रूप छिलके पृथक् हो जाते हैं । जिस प्रकार अग्नि में परिपक्व चावल सभी के लिए भोजन योग्य बन जाते हैं, उसी प्रकार ज्ञान

रूपी अग्नि से परिपक्व जीव भगवान् में सायुज्य मुक्ति पाने योग्य हो जाता है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, ब्रह्मचारी और गृहस्थ इन नामों से प्रत्येक बंधा हुआ है। जिसको जहाँ जोड़ दिया गया है, वह वहां ही घूम रहा है और प्रभु का कार्य कर रहा है। प्रेरणा देने वाले वेद कार्य नहीं करते क्योंकि वे तो प्रत्येक को कार्य बताते हैं, पर वह कार्य प्रभु का है। प्रत्येक इन्द्री भगवान् के लिए ही बनी हुई होने से उनके कार्य में भ्रम नहीं करना चाहिए अर्थात् शोक नहीं करना चाहिए। मैं खाता हूं, सुनता हूं आदि इन्द्रियों के आवेश से मिथ्या ज्ञान होता है, वही इन्द्रिया ध्यास कहा जाता है। भगवान् ने तो अपनी क्रीड़ा के लिए हमें बनाया है। जिस प्रकार बालक खिलोनों से खेलता है, सुख पूर्वक उन्हें स्थापित करता है, कभी मिलाता है, कभी पृथक कर देता है, इसी प्रकार से सब पुरुष भगवान् के क्रीड़ा उपकरण हैं, खेलने के निमित्त रूप खिलोनें हैं। वे इस संसार में जिसे चाहते हैं मिला देते हैं, जब चाहते हैं बिछुड़ा देते हैं। इस बात को समझकर सम्बन्धियों में ममता नहीं रखना चाहिए और न ही हर्ष शोक आदि करना चाहिए। इसे समुदायगत विवेक कहते हैं। पहले भिन्न भिन्न तत्त्वों के वर्गीकरण द्वारा विवेक का स्वरूप स्पष्ट किया गया था ॥४१-४२॥

आभास—एवमीश्वरार्थं सृष्टपक्षे शोकोऽनुचित इत्युक्तम्। निरीश्वरादिमतेऽपि बाह्यमतेषु च कुत्रापि शोकः शास्त्रार्थो न भवतीत्याह—

आभासार्थ—इस प्रकार ईश्वर अपनी क्रीड़ा सिद्ध करने के लिए इस जगत् की रचना करते हैं, इस पक्ष के प्रमाण से भी तुम्हें शोक नहीं करना चाहिए, ऐसा कहा है, निरीश्वर वादी मत तथा अन्य बाहर के भी जो मत है, उन के शास्त्रों के अभिप्राय भी शोक न करने वाली ही बातें कहते हैं—

श्लोक—**यन्मन्यसे ध्रुवं लोकमध्रुवं वा न चोभयम्।**
सर्वथा न हि शोच्यास्ते स्नेहादन्यत्र मोहजात् ॥४३॥

श्लोकार्थ—यह लोक नित्य है अथवा अनित्य है अथवा दोनों ही प्रकार का नहीं है, ऐसा मानने पर भी मोह से उत्पन्न होने वाले स्नेह आदि प्रत्येक विधि से शोक करने योग्य नहीं है। केवल स्नेह से ही शोक होता है ॥४३॥

सुबोधिनी—**यन्मन्यसे** इति । सर्वे हि वादिनश्चतुर्विधाः । साङ्ख्याः सर्वं ध्रुवं मन्यन्ते । आविर्भावतिरोभावावेवोत्पत्तिप्रलयौ । बाह्यास्तु सर्वमनित्यं कृतकत्वादध्रुवं मन्यन्ते । बाह्यभेदा एव केचन माध्यमिकादयो नाऽऽसीदस्ति भविष्यतीति न ध्रुवं नाऽध्रुवं मिथ्येति मन्यन्ते । नैयायिकास्तूभयं मन्यन्ते । आकाशादयः परमाणवश्च ध्रुवाः । अन्येऽध्रुवा इति । चतुर्ष्वपि पक्षेषु सर्वथा ते न शोच्याः। न हि नित्यःशोकमर्हति। न वा बुद्बुदरूपमनित्यं शोकमर्हति। शशशृङ्गवत्पक्षस्तु सर्वथा शोकाभावाय। नैयायिकपक्षे शोकःसम्भवति। तत्राऽप्युत्तरमुच्यते। शत्रुमरणे कथं न शोचति मित्रमरणे चशोचति। तत्कृत इति प्रष्टव्यः। स्नेहादिति चेत्। स्नेह एव शोकहेतुरपकारी। सत्यक्तव्यः। ननु कदाचित्सुखं प्रयच्छतीति कथं त्यक्तुं शक्यत इति चेत् ? तत्राऽऽह—**मोहजादिति** । अज्ञानाज्जातः स्नेहः कथं सुखं प्रयच्छेत् । न हि सन्निपाताज्जातं शैत्यं तापापनोदनं करोति । तस्मान्मूर्च्छायां महद्दुःखे सुखमिव मन्यते । अन्यथा तन्निराकरणार्थं न यतेत ।।४३।।

व्याख्यार्थ—वाद करने वाले चार प्रकार के हैं । साङ्ख्य मत वाले सब को नित्य मानते हैं । वे उत्पत्ति को आविर्भाव मानते हैं और प्रलय को तिरोभाव मानते हैं । बाह्यमत वाले (बौद्ध मतानुयायी) जगत् कार्य रूप होने से अनित्य मानते हैं । बाह्यमत के अन्तर्गत कितने ही माध्यमिक आदि तो यह मानते हैं कि यह जगत् था ही नहीं, है ही नहीं और होगा ही नहीं अतः जगत् नित्य भी नहीं और अनित्य भी नहीं अर्थात् मिथ्या है ऐसा मानते हैं । न्याय शास्त्र वाले (कणाद-अक्षपाद) जगत को नित्य मानते हैं । और अनित्य भी मानते हैं । उसमें पृथ्वी,जल तेज और वायु ये चार, परमाणु,आकाशादिक नित्य हैं,इसके अतिरिक्त अनित्य है,ऐसा मानते हैं।इन चारों ही पक्षों में शोक करना योग्य नहीं । क्योंकि नित्य होने पर शोक करना योग्य नहीं पानी के बुलबुलेकी तरह अनित्य भी शोक योग्य नहीं और खरगोश के सींग की तरह जगत को मानाजाय तो भी कतई शोक करने योग्य नहीं है । पर नैयायिकों के पक्ष में शोक संभव है, कारण कि वे नित्य और अनित्य दोनों मानते हैं । इसका उत्तर कहते हैं कि शत्रु की मृत्यु पर शोक क्यों नहीं करते? मित्र की मृत्यु पर शोक क्यों करते हो? वह शोक किस लिए करते हो ? यह उनसे पूछना चाहिए । मित्र के साथ स्नेह होने से शोक करना चाहिए तो स्नेह शोक का कारण हुआ, अतः स्नेह का त्याग कर देना चाहिए । स्नेह से सुख भी होता है, उसका त्याग कैसे हो ? तो कहते हैं कि मोह से उत्पन्न स्नेह में शोक नहीं होता, कारण कि अज्ञान से उत्पन्न स्नेह सुख कैसे दे सकता है । संन्निपात रोग से उत्पन्न शीतलता ताप दूर नहीं कर सकती । मूर्छा आने पर बहुत दुःख होता है, परन्तु ज्ञान न होने से उसे सुख रूप मानते हैं । परन्तु मूर्छा सुख रूप नहीं है । यदि वह सुख रूप हो तो उसे हटाने का यत्न ही नहीं किया

जाय। जैसे मूर्छा को सुख रूप मान लिया जाने पर मोह से उत्पन्न स्नेह को सुख कह दिया जाय। अतः ऐसे स्नेह को छोड़ देना चाहिए ॥४३॥

आभास—फलितमाह—

आभासार्थ—अब नारद जी युधिष्ठिर को फलरूप वाक्य कहते हैं-

श्लोक—**तस्माज्जह्यङ्ग वैक्लव्यमज्ञानकृतमात्मनः।**
कथं त्वनाथाः कृपणा वर्त्तेरन्वनयाश्रिताः ॥४४॥

कालकर्मगुणाधीनो देहोऽयं पाञ्चभौतिकः।
कथमन्यांस्तु गोपायेत्सर्पग्रस्तो यथा परम् ॥४५॥

श्लोकार्थ—हे अंग रूप युधिष्ठिर, स्नेह से ही शोक होता है, ऐसा ऊपर कहा गया है। अतः अज्ञान से उत्पन्न अन्तः करण की व्याकुलता का त्याग करो। यदि यह शंका हो कि अनाथ और दीन वन में गए हुए अपना निर्वाह किस प्रकार चलाते होंगे ? ॥४४॥

तो कहते हैं कि जैसे सर्प से पकड़ा हुआ पुरुष बिना सर्प पकड़े पुरुष की रक्षा नहीं कर सकता वैसे ही काल, कर्म व गुणों के अधीन यह पञ्चमहाभूत का देह अन्य देह की रक्षा किस प्रकार कर सकता है ? ॥४५॥

सुबोधिनी—तस्मादिति। हे अङ्ग। **वैक्लव्यमि**न्द्रियाणामन्तःकरणस्य च विकलताम्। केवलं पदार्थाज्ञानेन जातम्। त्वं विदितपदार्थो **जहि** नाशयेत्यर्थः। अयमेकांशेनाऽपि स्थितः (?) पुनर्दुःख दास्यतीति भावः। मध्ये राजा शङ्कते-**कथं त्वनाथा इति**। रक्षकरहिताः। वने हि रक्षा अपेक्ष्यते। विषयाभावाच्च कृपणाः। यस्य चाऽऽश्रयं कृतवन्तस्तन्नपुंसकमचेतनमिति। उत्तरमाह—**कालकर्मगुणाधीन इति**। किं त्वमेव रक्षकस्तत्र न तिष्ठसीति शोकः। आहोस्विद्रक्षकमात्राभावात्। तत्राऽऽद्यं निराकरोति। त्वं रक्षक इति पक्षस्त्वयुक्तः। राजशब्दस्य देहवाचकत्वात्। न ह्येकेन गृहेण गृहान्तर रक्षितुं शक्यते। किञ्च। व्यवहारानुसारेणाऽपि रक्षकत्वेऽप्यधीनः कथं रक्षेत्। अय देहः कालाधीनः कालप्रेरणां विना कथं रक्षेत्। कालस्तु निमित्तमित्यस्मिन्पक्षेऽपि कर्माधीनः। कालप्रेरणया यत्कर्म कृतवांस्तत्फलभोगस्याऽऽवश्यकत्वात्। कर्माऽपि निमित्तमेव दृष्टसापेक्षत्वादिति चेत्। तत्रापि कर्मैव चेद्दृष्टसामग्रीमपि सम्पादयति तदाऽपि पूर्वोक्त एव दोषः। अथाऽन्यश्चेत्। स्वभावभूतास्ते गुणाः। अतस्त्रिदोषव्याप्तः। स्वयं पञ्चभूतविकारः। भूतानि तु भक्षकाणि। यैरात्मैव भक्षितस्तद्विकारः कथमन्यान् गोपायेत्। अन्ये त्वेत-

व्यतिरिक्ता देहाध्यासरहित: । तुशब्देन च कालानधीना भगवदीया जाता: किञ्च । कालग्रस्त: सर्वथा न रक्षतीति दृष्टान्तमाह—**सर्पग्रस्त इति** । अजगरगिलित: । **परं** बहि: स्थितम् । अतस्त्वां धृतराष्ट्र: शोचितुमर्हति न तु त्वं धृतराष्ट्रमित्यर्थ: ॥४४॥ ॥४५ ।

व्याख्यार्थ—तुम मेरे अंग हो, इसलिये तुम्हें वास्तविकता बता रहा हूं। इन्द्रियों और अन्त:करण की विकलता केवल पदार्थों के अज्ञान से होती है, तुम्हें तो पदार्थों का ज्ञान है, अत: तुम इस विकलता का नाश करो। यदि एक भाग में भी विकलता रह गई तो दूसरे समय दु:ख देगी। बीच में राजा शंका करते हैं कि वन में रक्षा की आवश्यकता होती है और उनकी रक्षा करने वाला कोई नहीं। पदार्थ न मिलने की स्थिति में वे दीन हो जायेंगे। उन्होंने वन का आश्रय किया है जो अचेतन और नपुंसक है। वह वन उनकी रक्षा कैसे करेगा? इसका उत्तर देते हैं कि तुम उनकी रक्षा करने के लिये वहाँ रहे नहीं, इसका शोक है। तुम वहाँ नही रहे, इसलिए शोक है, वह योग्य नहीं। कारण, कि तुम उनकी रक्षा करने वाले हो, यह पक्ष ठीक नहीं। तुम राजा हो, अत: रक्षापने का अभिमान रखते हो। राजा तो देह के लिए प्रयुक्त हुआ है। एक घर से दूसरे घर की रक्षा नहीं हो सकती, तो फिर एक देह से दूसरे घर की रक्षा किस प्रकार हो सकती? व्यवहार का अनुसरण करके तुम रक्षापना मानते हो पर जो स्वयं दूसरे के अधीन हो, वह रक्षा किस प्रकार कर सकता है। तुम्हारा यह देह काल के अधीन है। उस काल की प्रेरणा के बिना तुम कैसे रक्षा कर सकते हो? जब काल ही रक्षा नहीं कर सकता, वह भी रक्षा करने में निमित्त मात्र है। इस पक्ष को स्वीकारा जाय तो देह कर्म के अधीन है। इसलिये काल की प्रेरणा से जो कर्म के अधीन है। इसलिए काल की प्रेरणा से जो कर्म किया गया है, उसके फल का भोग अवश्य करना पड़ता है। कर्म भी देखे हुए कारण की अपेक्षा रखता है, वह भी निमित्त ही है,, ऐसा कहें, तो उस पक्ष में भी देखे गये कारण को कर्म ही सिद्ध कर सकता है। इसलिये पहला दोष उसी में आता है। तो फिर काल व कर्म के अतिरिक्त और कोई कारण रूप हो तो वह स्वभाव रूप सत्त्वादिक गुण हैं। इसलिये काल, कर्म और गुण इन तीनों दोषों से यह देह भरा हुआ है, अर्थात् त्रिदोष से घिरा हुआ है। और यह देह तो पंच महाभूतों का विकार है। जिसका भक्षण करने वाले ये पंच महाभूत ही हैं। जब पंचमहाभूत इस शरीर का भक्षण किये हुए हैं तो विकार वाला यह देह दूसरे की रक्षा किस प्रकार कर सकता है? देहाध्यास से रहित को रक्षा देहाध्यास

वाला नहीं कर सकता। मूल में 'तु' अव्यय दिया गया है, जिसका अभिप्राय है कि ये भगवान् के सम्बन्ध वाले हो गये हैं, वे तो काल के भी अधीन नहीं। जो भक्त काल के भी अधीन नहीं, उनकी रक्षा काल के अधीन रहने वाले किस प्रकार कर सकते हैं? सर्प से पकड़ा हुआ पुरुष बाहर वाले पुरुष की रक्षा नहीं कर सकता। इसलिए अब धृतराष्ट्र काल व कर्म की आज्ञा से बाहर चले गये हैं और तुम अभी काल व कर्म की आज्ञा के अधीनस्थ हो। अत: धृतराष्ट्र तुम्हारा शोक करें यह तो ठीक है, पर तुम उनका शोक करो, यह उचित नहीं ॥४४-४५॥

आभास—भक्ष्याभावस्तु न शङ्कनीय:। सर्वत्रैव भगवता भक्ष्यं क्लृप्तमिति वदन् कोऽपि रक्षको नास्तीति पक्षं दूषयति—

आभासार्थ—वन में धृतराष्ट्र को खाने का नहीं मिलेगा, ऐसी शंका तुम्हें नहीं करना चाहिये, कारण कि भगवान् ने प्रत्येक स्थान पर खाने के पदार्थ बनाए हैं। यह अभिप्राय बताने के बाद, उनका कोई रक्षक नहीं, इस पक्ष में दोष बताते हैं—

श्लोक—**अहस्तानि सहस्तानामपदानि चतुष्पदाम्।**
फल्गूनि तत्र महतां जीवो जीवस्य जीवनम् ॥४६॥

श्लोकार्थ—जो हाथ वाले जीव हैं उनका जीवन बिना हाथ वाले हैं। चार पैर वाले जीवों का जीवन बिना पैर वाले जीव हैं। बड़े जन्तुओं का जीवन छोटे जीव हैं। इस प्रकार एक जीव दूसरे जीव का जीवन है ॥४६॥

सुबोधिनी— **अहस्तानीति**। आदौ स्रष्टव्यत्वेन जीवा एवोपस्थिता:। तेषां सृष्टिर्नाम देहनिर्माणेन तत्र प्रवेशनम्। तत्रोत्तरत्र वृद्ध्याद्यर्थमन्नसर्गे कर्त्तव्ये जीवातिरिक्तमलभमान: सर्वमेवाऽन्नमत्तारं च कृतवान्। तत्र सामान्यप्रकारो विशेषश्च। सामान्यं लौकिकम्। विशेषो वैदिक:। तत्र सामान्यप्रकारे व्यवस्थामाह—**अहस्तानि सहस्तानामिति**। उपलक्षणमेतत्। बलवतां दुर्बलं भक्ष्यम्। तद्बलं क्रिययेति हस्तपादौ क्रियायां करणे इति तयोर्ग्रहणम्। सहस्ता अप्यहस्तानां भक्ष्या भवन्ति। यथा मनुष्या अजगरादानाम्। महान्तोऽपि फल्गूनां भक्ष्या भवन्ति यथा पिपीलिकानां सर्पा:। अतो बलाभिप्रायेणैतदुक्तम्। प्रायिकाभिप्रायेण वा। **अहस्तानि** मत्स्यादीनि। **अपदानि** तृणादीनि। यत्पुनर्जीवाधिष्ठानं नास्ति तदेव नास्ति। भावे वा घटादेरिव न भक्ष्यता। अत एव भगवता सर्वत्र भक्ष्यं क्लृप्तमिति न चिन्ता कार्या। नीवारफलादेररण्येऽपि सत्त्वात् ॥४६॥

व्याख्यार्थ—पहले उत्पन्न करने योग्य जीवों को बनाया उन की सृष्टि हुई। देह का निर्माण करके उसमें जीव का प्रवेश कराया, जिससे सृष्टि आगे बढे, इसलिए खाने के लिये अन्न उत्पन्न करना चाहिये। उस समय जीव के अतिरिक्त अन्य कुछ न मिलने से सारा जगत् ही अन्न से भक्षण करने योग्य और भक्षक के रूप में उत्पन्न किया। उसमें सामान्य और विशेष ये दो प्रकार रखे हैं। अन्न और उसे खाने वाले यह सामान्य प्रकार लौकिक है और विशेष प्रकार वैदिक है। उसमें सामान्य प्रकार की व्यवस्था कहते हैं। बिना हाथ वाला जीव हाथ वाले प्राणियों का भोजन है। उसे एक उदाहरण के रूप में कहा है। पर उसका अभिप्राय यह है कि बलवान् का भक्ष्य दुर्बल बनता है। वह बल क्रिया से होता है। समस्त प्रकार की क्रियाओं को करने में हाथ और पैर ही साधन रूप हैं, इसलिए यहाँ दोनों को हाथ पैर वाला बताया है। बिना हाथ वाले अजगर आदि हाथ वाले मनुष्यादि का भक्षण करते हैं, उसी प्रकार अन्य स्थान पर हाथ वाले मनुष्य भी बिना हाथ वाले प्राणियों का भक्षण करते हैं। अर्थात् बड़े भी छोटे प्राणियों के भक्षण हो जाते हैं। इसी प्रकार चींटियाँ साँप को खा जाती हैं। इसलिए बल के अभिप्राय से कहा गया है कि बलवान् निर्बल को खा जाता है। अथवा साधारण रीति से यह नियम है, इस अभिप्राय से कहा गया है। मछली आदि बिना हाथ वाले हैंवे हाथ वाले मनुष्यों का भक्ष्य हो जाते हैं और बिना पैर वाले तृण घांस आदि हैं वे चार पैर वाले पशुओं का भोजन बन जाते हैं। कोई भी पदार्थ बिना जीव का नहीं। घर आदि बिना जीव के हैं. उन्हें कोई नहीं खाता अर्थात् जो खाए जाते हैं वे जीव युक्त हैं। इसलिए भगवान् द्वारा प्रत्येक स्थल पर भक्षण करने योग्य वस्तु बनाई हुई होने से, धृतराष्ट्र वन में क्या खायेंगे ऐसी चिन्ता तुम्हें नहीं करनी चाहिए। कारण कि वन में भी नीवार, साँवा आदि धान्य तथा फल बहुत से खाने योग्य पदार्थ होते हैं ॥४६॥

आभास—ननु कथमेवं भगवान् करोति। स्वसृष्टमन्यं (?) खादयति। तत्राऽऽह—

आभासार्थ—उपर के प्रसंग से शंका होती है कि अपने ही बनाए हुए जीवों को दूसरे जीव का भोजन बना देने की यह क्रिया भगवान् किसलिए करते है? अब खाने योग्य और खाने वाले का निर्णय बताते हैं—

श्लोक – **तदिदं भगवान् राजन्नेक आत्माऽऽत्मनां स्वदृक् ।**
अन्तरोऽनन्तरो भाति पश्य तं माययोरुधा ॥४७॥

श्लोकार्थ—हे राजन्, सब जीवों के आत्मारूप, स्वयं से ही प्रकाशमान यह जगत् रूप भगवान् एक ही हैं। वे अन्दर और बाहर प्रकाशित हैं और माया से बहुत रूप वाले बने हैं, तुम्हें तुम देखो ॥४७॥

सुबोधिनी–**तदिदं भगवानिति** । वैषम्यनैर्घृण्ये भगवतो न स्तः । स्वात्मानमेव करोतीति । तदाह । **इदं** जगत् भगवान् । तत्र हेतुः–**तदिति** । यस्मात्कारणात्सर्वं सर्वस्य भक्ष्यं तस्मान्न ह्यन्यमन्यो भक्षयितुं शक्नोति । **राजन्निति** सम्बोधनमन्याये **दण्डार्थम्** । तेन यद्यन्यमन्यो भक्षये-द्राजदण्डादिः स्यात् । ननु भगवतोऽप्यनुचितं यत्स्वयं कृत्वा स्वयं भक्षयतीति ? तत्राऽऽह–**एक इति** सृज्यस्रष्ट्रोरभेदात् । सृष्टानामपि । नन्वेतदप्ययुक्तम् । आत्मानं भक्षयतीति । तत्राऽऽह–**आत्मेति** । अतति व्याप्नोतीत्यात्मा । सर्वमेव व्याप्नोतीति बहिःस्थितमन्तः प्रवेशयति । अन्तः-स्थितं तच्च बहिः । स्वस्मिन्नेव स्वयमन्तर्बहिर्भवतीति वस्तुवृत्तम् । तत्र भक्ष्यादिव्यवहारस्तु लौकिकः अथवा । **आत्** भक्षणात् । **मा** निषेधात्मको भवति । न हि सृष्टस्याऽभक्षो आत्मैवाऽव-तिष्ठते । नन्वन्यजीवाधिष्ठितं कथं भक्षयति ? तत्राऽऽह–**आत्मनामात्मेति** भक्षकाणामप्युपसंहर्त्ते-त्यर्थः अथवा। जडानामुपसंहारेऽपि जीवानां विद्यमानत्वात्कथमेक इत्यत आह–**आत्मनामात्मेति**। स्वरूपमित्यर्थः । ननु तथापि जीवदयया न भक्षयेदित्यत आह–**स्वदृगिति** । स्वस्मिन्नेव दृष्टिर्यस्य। अन्यानप्यात्मत्वेनैव जानाति । स्वभोगार्थं वा अन्यान्न पश्यतीत्यर्थः। ननु स क्वाऽस्तीत्याशङ्क्या-ऽऽह–**अन्तरोऽनन्तरो भातीति** । अन्तरः अनन्तरश्च बाह्याभ्यन्तरभावेन स एव भातीत्यर्थः । स सर्वत्र भक्षकत्वेनोपस्थित इति भावः । उपदेशभेदप्रकारेण फलपर्यसितं मन्यमान आह **पश्य तमिति** । तमेव सर्वं सर्वत्र भासमानं च पश्येत्यर्थः । नन्वेकस्य कथमनेकप्रकारत्वम् ? तत्राऽऽह–**माययोरुधेति** मायायाः प्रतिरूपत्वेनोक्तत्वात्तत्र सम्बद्धो जलचन्द्रवदग्निवद्वा अनेकधा भातीत्यर्थः ॥४७॥

व्याख्यार्थ—भगवान् में विषमता या निर्दयता नहीं है। अपनी आत्मा को ही जगत् रूप बनाते हैं, यह बताने के लिये कहते हैं कि यह जगत् भगवान् है। इसमें कारण बताते हैं कि प्रत्येक का भक्ष्य प्रत्येक है, अथवा सब का भक्ष्य सब है। इस-लिये दूसरा दूसरे को खा नहीं सकता। स्वयं ही स्वयं को खाता है। उसका विश्वास बताने के लिये 'राजन्' यह सम्बोधन दिया गया है। जो अन्याय करता है, राजा की ओर से उसे दण्ड मिलता है, यह बताने के लिये 'राजन्' कहा है। यदि दूसरा दूसरे को खाय तो अन्याय माना जाता है। जिससे राजा उसे दण्ड-शिक्षा आदि देता है, उसी प्रकार भगवान् भी शिक्षा देते हैं। भगवान् स्वयं को उत्पन्न करके स्वयं का ही भक्षण करता है, यह तो योग्य नहीं, ऐसी शंका होने

पर कहते हैं, कि प्रभु तो एक ही हैं अर्थात् यह बनाया गया है और यह बनाने वाला है, ऐसा भेद नहीं है। इसलिये उत्पन्न किये गये पदार्थों में कोई भेद नहीं। तब तो भगवान् स्वयं की आत्मा का ही भक्षण करते हैं, ऐसा है तो भी योग्य नहीं। इस शंका का समाधान करते हुए कहते हैं कि वे प्रभु तो आत्मा हैं, इसलिए प्रत्येक स्थान पर व्याप्त होकर रहते हैं। वे आत्मा कहलाते हैं। इस प्रकार भगवान् प्रत्येक पर व्याप्त होकर रहते हैं, जिससे बाहर रहने वाले जीव को अन्दर प्रवेश कराते हैं और अन्दर रहने वाले को बाहर प्रकट करते हैं अर्थात् अपने ही स्वरूप में अन्दर और बाहर रहते हैं। यह स्थिति सभी वस्तुओं की है। उन में भक्ष्य और भक्षण का व्यवहार लौकिक दृष्टि से है। जिस प्रकार कछुआ अपने पैर आदि अंगों को बाहर निकालता है और फिर अन्दर ले लेता है, इसमें उसको किसी प्रकार का विचार नहीं, उसी प्रकार भगवान् को भी प्रत्येक वस्तु बाहर प्रकट करने में और अन्दर खींच लेने में कोई दोष प्राप्त नहीं होता। अथवा आत्मा, इस शब्द में 'आत' और 'मा' ये दो पद हैं, उसका अर्थ यह है कि 'आत्' अर्थात् भक्षण करना और वैसे ही 'मा' याने 'नेति नेति' आदि श्रुतियों में कहे गए प्रमाण से केवल निषेधात्मक (मना करने वाले) ब्रह्म रहते हैं। इसलिए यदि बनाए हुए जीव का भक्षण न करे तो आत्मा ही न रहे, अर्थात् 'आत्मा' शब्द ही सिद्ध न हो। अर्थात् अन्त में जो आत्मा रहती है, वह न रहे। दूसरे जीवों ने जिनका अधिष्ठान किया है, आश्रय लिया है, उनका भक्षण भगवान् किसलिए करते हैं ? ऐसी शंका हो, उसका उत्तर देते हैं कि समस्त आत्माओं के आत्मा भगवान् ही हैं, इसलिए भक्षण करने वाले प्रत्येक का उपसंहार करने वाले भी भगवान् हैं, अथवा प्रत्येक जड़ पदार्थ का उपसंहार करते हैं। परन्तु जीव तो सब हैं और भगवान् एक ही हैं, यह कैसे कहा जाता है ? ऐसी शंका करके कहते हैं, कि प्रत्येक आत्मा का स्वरूप भगवान् हैं। इसलिए तो भगवान् को प्रत्येक जीव पर दया आने से उस प्रकार से भक्षण नहीं करते, ऐसा कोई कहे तो वहां कहते हैं, कि भगवान् की दृष्टि स्वयं में ही रहती है अर्थात् दूसरों को अपनी आत्मा के समान ही समझते हैं। अथवा स्वयं के भोग के लिए दूसरों को नहीं देखते। वे भगवान् हैं कहां ? ऐसी शंका होने पर कहते हैं, कि वे प्रभु अन्दर और बाहर हैं। अतः अन्दर के भाव से और बाहर के भाव से भगवान् ही प्रकाशित हो रहे हैं। वे प्रत्येक के भक्षक रूप में रहते हैं। इस प्रकार से उपदेश किया गया है, कि ऐसे भगवान् के कई भेद हैं। इस प्रकार युधिष्ठिर के मन को

समझाया है । अब यही मानकर कहते हैं, कि तुम उन्हें देखो अर्थात् वे प्रत्येक स्थान पर प्रकाशित हैं । और सभी के रूप बने हुए हैं । ये सब भगवान् हैं, इन्हें तुम देखो जब ये एक ही हैं तो अनेक प्रकार के कैसे हो जाते हैं ? वहां कहते हैं कि भगवान् माया से बहुत प्रकार के हो जाते हैं। कारण कि माया उनका प्रतिबिम्ब रूप बताती है । इसलिए उसके साथ सम्बन्ध होने से अनेक परछाईयां दिखाई देती हैं । जल के बहुत से पात्रों में एक ही चन्द्रमा बहुत से दिखाई देते हैं । एक ही अग्नि का अनेक लकड़ियों के साथ सम्बन्ध होने पर वह अनेक प्रकार से प्रकाशित होती है, ठीक उसी प्रकार भगवान् भी एक होते हुए अनेक प्रकार से प्रकाशित हैं ।।४७।।

आभास—एवं रक्षकत्वाभावमाशङ्क्य भगवतः सर्वरूपेण रक्षकत्वमुक्त्वा तस्येदानीं संहारलीलापरत्वमाह--

आभासार्थ—इस प्रकार धृतराष्ट्र की रक्षा करने वाला कोई नहीं है, ऐसी आशंका करके सर्वरूप द्वारा भगवान् ही रक्षक है, यह निरूपण किया । वे भगवान् हाल ही में संहार लीला करने में तत्पर हुए हैं, यह निरूपण किया जा रहा है–

श्लोक **सोऽयमद्य महाराज भगवान् भूतभावनः ।**
कालरूपोऽवतीर्णोऽस्यामभावाय सुरद्विषाम् ।।४८।।

श्लोकार्थ—हे महाराज युधिष्ठिर, प्रत्येक भूत प्राणीमात्र को उत्पन्न करने वाले वे भगवान् इस समय देवताओं के द्वेषियों को नाश करने के लिए काल रूप से इस पृथ्वी पर अवतरे हैं ।।४८।।

सुबोधिनी—सोऽयमद्येति । महाराजेति सम्बोधनान्न भयं कर्त्तव्यम्। इतोऽप्यधिकं स्वाराज्यं दास्यतीति भाव । **सोऽयमिति** ज्ञ नहष्टचा प्रदर्शयन्नाह दृश्यस्याऽन्यत्वं वारयति–**भगवानिति** । नन्वा गतस्य किं प्रयोजनम् ? तत्राऽऽह–**भूतभावन इति** । भूतानि भावयति पालयति दोषदूरीकरणेनेति । स्वय स्वतन्त्रतया सर्त्तापि विशेषाधिकारित्वात्कालस्य पालयतीति ज्ञापनार्थं भक्तिसिद्धये कालस्य रूपमिव रूपं कृत्वा सुरद्विषामभावायाऽवतीर्णः । वामनव्यावृत्त्यर्थमाह –**अस्यामिति** ।।४८।।

व्याख्यार्थ—'महाराज' सम्बोधन इसलिए दिया है, कि तुम्हें किसी प्रकार का भय नहीं करना चाहिए । अभी तुम्हारा जितना राज्य है, प्रभु उससे भी अधिक

राज्य तुम्हें देगें । अब ज्ञान दृष्टि से जैसे भगवान् को बता रहे हों, इस प्रकार कहते हैं । यह जो कुछ दिखाई दे रहा है, वे भगवान् हैं । तो भगवान् यहाँ किसलिए पधारे हैं ? उसका प्रयोजन बताते हैं, कि प्रभु सब का पालन करने वाले होने से, पालन करने के लिए ही पधारे हैं । वे जिसका संहार करते हैं, उसके दोषों को दूर करके उसे शुद्ध करते हैं । इससे वे प्रभु प्रत्येक का रक्षण करने वाले हैं, यह भावना दूर नहीं होती, उसी प्रकार वे स्वतन्त्र रूप से प्रत्येक का संहार करने वाले हैं तो भी संहार रूप लीला करने का विशेष अधिकार काल को दिया गया है । वे स्वयं तो प्रत्येक का पालन करते हैं । यह बताने के लिए और जीवों को भक्ति सिद्ध कराने के लिए भगवान् काल जैसा रूप धारण करते हैं । यही नहीं, वे देवताओं से द्वेष रखने वाले असुरों का नाश करने के लिए अवतार धारण करके पधारे हैं । वामन भगवान् ने भी उसी रीति से अवतार लिया था, परन्तु इस रीति से कार्य नहीं किया था, इसे बताने के लिए कहते हैं, कि इस पृथ्वी पर श्री कृष्ण भगवान् प्रकट हुए हैं ।।४८।।

आभास—एवं कृष्णचरित्रमुक्त्वोपसंहरन् राजानमुपदिशति—

आभासार्थ— इस रीति से श्री कृष्ण के चरित्र का निरूपण करके उसका उपसंहार करते समय नारद जी युधिष्ठिर राजा को उपदेश करते हैं—

श्लोक—**निष्पादितं देवकार्यमवशेषं प्रतीक्षते ।**
तावद्यूयमवेक्षध्वं भवेद्यावदिहेश्वरः ।।४९।।

श्लोकार्थ—भगवान् कृष्ण ने देवताओं का कार्य पूरा कर दिया है और अवशेष कार्य पूरा करने की प्रतीक्षा कर रहे हैं । जब तक प्रभु पृथ्वी पर विराज रहे हैं, तब तक आप उनकी प्रतीक्षा करो ।।४९।।

सुबोधिनी—**निष्पादितमिति। 'मया निष्पादितं ह्यत्र देवकार्यमशेषत"** इति वाक्यात्। **अवशेषं** भारहारकभारदूरीकरणम् । मोहान्तरानुत्पत्तये तथोक्तम्। वस्तुतस्तु तदपि जातमेव। **तावत्** तच्छ्रवणपर्यन्तमवश्यम्भावित्वादवेक्षध्वं यावद्भगवानिह निवारकत्वेनाऽऽगच्छेत्। नन्वस्मान् स्थापयित्वा गतः कथं निवारयेत् ? तत्राऽऽह—**ईश्वर इति** । सर्वकरणसमर्थः ।।४९।।

व्याख्यार्थ—एकादश स्कन्ध में भगवान् ने उद्धव जी से कहा है, कि "यहाँ पृथ्वी पर मैंने देवताओं का सारा कार्य कर दिया है।" इसलिए अब पृथ्वी का भार उतारने वालों का भार दूर करना है, यही बाकी बचा है, उसी की राह भगवान् देख रहे हैं। अभास में यादव स्थली की लीला हो जाने के बाद की यह घटना है, पर यादव स्थली का प्रसंग कहने से युधिष्ठिर के मन में अत्यधिक मोह हो जावे, उसे छिपाने के लिए भगवान् प्रतीक्षा कर रहे हैं, यह कहा गया है। जबकि सच बात तो यह थी, कि जब नारद जी व युधिष्ठिर का यह संवाद चल रहा था, तब तक भगवान् भूतल पर से पधार चुके थे। इसलिए वहाँ तक तुम प्रतीक्षा करो, यह कहने में नारद जी का अभिप्राय यह है,कि इस वास्तविकता जब तक तुम्हें श्रवण हो तब तक तुम भी राह देखो। अब उस यादव स्थली का वृत्रान्त वे आवश्यक रूप से सुनेंगे ही, बस उस समय तक प्रतीक्षा करना शेष रह गया है। भगवान् की इच्छा पृथ्वी पर जिन्हें रखने की है, उन्हें मृत्यु से दूर करने के लिए अथवा मोह को दूर करने के लिए जब तक भगवान् यहाँ आवें तब तक के समय की आप प्रतीक्षा करो। भगवान् तो हमें यहाँ रखकर द्वारका पधारे हैं, वे हमारे मोह का निवारण कैसे करेंगे ? ऐसी शंका होने पर कहते हैं कि वे प्रभु तो ईश्वर हैं, अतः सब कुछ करने में समर्थ हैं ॥४९॥

आभास—एवं भगवज्ज्ञापनेन मोहाभावं भयं चोत्पाद्य पृष्टे उत्तरमाह—

आभासार्थ—इस प्रकार भगवान् की वास्तविकता बताने से युधिष्ठिर के मोह का अभाव तथा भय भी उत्पन्न करके अब धृतराष्ट्र के सम्बन्ध में जो प्रश्न पूछा गया था, उसका उत्तर नारद जी देते हैं—

श्लोक—**धृतराष्ट्रः सह भ्रात्रा गान्धार्या च स्वभार्यया।**
दक्षिणेन हिमवत ऋषीणामाश्रमं गतः ॥५०॥

श्लोकार्थ—धृतराष्ट्र भाई विदुरजी तथा अपनी पत्नी गान्धारी के साथ हिमालय पर्वत के दक्षिण को ओर जहाँ ऋषियों के आश्रम हैं, वहाँ गये हैं ॥५०॥

सुबोधिनी—धृतराष्ट्र इति । हिमवतो दक्षिणेन हिमालयस्य दक्षिणे भागे। पूर्वमेव सिद्धमृषीणामाश्रमं गतः । गङ्गादक्षिणभागाद्राजगृहाद्धिमदक्षिणभागे ऋषिगृहे गत इत्याधिक्यम् । "**गाङ्गं करिकराद्भ्रष्टं वायुना पल्लवीकृतम् । पुण्यदेशेषु पतितं हिमं तं विद्धि राघवे**" ति वाक्याद्धिमसम्मुखतया तथा शीतेनाऽतिपीडितश्च तिष्ठतीत्यर्थः ।।५० ।

व्याख्यार्थ—हिमालय के दक्षिण दिशा की ओर ऋषियों के आश्रम पहले से ही सिद्ध हैं, वहां धृतराष्ट्र गये हैं । गंगाजी के दक्षिण दिशा की ओर स्वयं के रहने का राजगृह तथा, उस स्थल से हिमालय के दक्षिण की ओर ऋषियों के आश्रम में धृतराष्ट्र गये हैं, ऐसा कहकर उस स्थल की अधिकता को बताया गया है । "ऐरावत हाथी की सूंड में से निकलता हुआ तथा वायु के द्वारा तरंगित किया गया या पल्लवित किया गया गंगाजी का जल पवित्र देशों में गिरता है. हे रामचन्द्रजी उस स्थान को आप हिमालय जानो, ऐसा वाक्य है । इसलिए हिम के सामने रहने में शीतलता अधिक लगती है । उस ठंड से पीड़ित होकर धृतराष्ट्र वहां रहें हैं ।।५०।।

आभास—तत्रर्षीणामनुभावं गङ्गाश्चाऽऽह—

आभासार्थ—वहां के ऋषियों के प्रभाव को तथा गंगाजी के स्वरूप को निरूपित किया जा रहा हैं—

श्लोक—**स्त्रोतोभिः सप्तभिर्यत्र स्वर्धुनी सप्तधा व्यधात् ।**
सप्तानां प्रीतये नाम्ना सप्तस्त्रोतः प्रचक्षते ।।५१।।

श्लोकार्थ—सात ऋषियों की प्रीति के लिये सात प्रवाह से जहां स्वर्गंगा सात प्रकार की हो गई है । वह स्थल सप्तस्त्रोतः नाम से जाना जाता है ।।५१।।

सुबोधिनी—स्त्रोतोभिरिति । तस्याऽऽश्रमस्य **सप्तस्त्रोत** इति नाम । तत्सार्थकमित्याह । यत्राऽऽश्रमे ऋषीणामुत्कर्षस्थापनाय प्रत्येकमृषीणां समीपे प्रवाहरूपेणाऽऽगता । वक्रतया गमने तूच्चनीचता स्यात् । ऋषीणां वैमनस्यं च । अतः **स्त्रोतोभिः सप्तभिरित्युक्तम्। व्यधात्** । जाता आत्मानं वा । **स्त्रोतोभिरिति – 'तृतीया च होश्छन्दसी**" ति कर्मार्थे तृतीया ।तेन स्त्र ।स व्यधादित्यर्थः । **स्वर्धुनीति** स्वतन्त्रतयाऽऽकाशगङ्गा समागतेति ज्ञायते । तेन जलान्तरामिश्रणेनाऽतिपवित्रत्वमुक्तम् । **नाम्ना सप्तस्त्रोत इति** । नानेति पाठे सप्तानां प्रीतये नाना । अनेन यथासङ्ख्यं ज्ञापितम् ।।५१।।

व्याख्यार्थ—उस आश्रम का नाम सप्त स्रोत है, यह यथार्थ है। कारण कि जिस आश्रम में ऋषियों की श्रेष्ठता प्रसिद्ध करने के लिए प्रत्येक ऋषि के समीप में गंगा जो प्रवाह रूप से आई हैं। तिरछेपन से जाने में तो ऊंचाई और नीचाई हो जाय, इसलिए प्रत्येक ऋषि के पास समान प्रवाह न आने से किसी के मन में उदासी आ सकती है। इसलिए वहाँ सात प्रवाह से गंगाजी प्रत्येक ऋषि के आश्रम में पधारे हैं। अथवा गंगाजी ने अपने स्वरूप के सात भाग किए हैं। 'स्रोतोभिः' व्याकरण शास्त्र के प्रमाण से कर्म के अर्थ में तृतीय विभक्ति है, इसलिए सात प्रवाह किये, यह अर्थ निकलता है। स्वर्ग की गंगा सात प्रवाह से वहाँ आई है, ऐसा कहने से अन्य दूसरे जलों से मिश्रित न होकर आकाश गंगा स्वतन्त्र रूप से वहाँ आई है, यह जनाया गया है। अतः वह जल बहुत पवित्र है, ऐसा सूचित हुआ। सात प्रवाहों के कारण 'सप्त स्रोत' यह नाम पड़ा। मूल में 'नाम्ना' के स्थान पर 'नाना' ऐसा पाठ हो तो यह अर्थ होता है, कि सात ऋषियों की प्रीति के लिए, उनकी इच्छा के अनुकूल गंगाजी भिन्न भिन्न प्रवाह रूप बन गए ॥५१॥

आभास—तत्र तस्य कृत्यमाह तूष्णीम्भावव्यावृत्त्यर्थम्-

आभासार्थ—वहाँ धृतराष्ट्र शून्य होकर नहीं बैठे रहे, यह बताने के लिए उनका काम बताया जा रहा है—

श्लोक—**स्नात्वाऽनुसवनं तस्मिन् हुत्वा चाग्नीन् यथाविधि।**
अब्भक्ष उपशान्तात्मा स आस्ते विगतैषणः ॥५२॥

श्लोकार्थ—उस आश्रम में प्रत्येक समय का स्नान करके, विधि प्रमाण से अग्नि में होम करके, केवल जल का पान करके, शान्त चित्त हो कर, तीनों प्रकार की इच्छाओं से निवृत्त होकर धृतराष्ट्र रहे हैं। ५२॥

सुबोधिनी—**स्नात्वेति**। स्नानादयो नियमाः। उपशान्त्यादयो यमाः। **अनुसवनं** त्रिकालम्। सवनानुकल्पतया वा। **अग्नीन्** गार्हपत्यादीन्। अन्धस्याऽपि यथा गार्हस्थ्यं तथा होम इति चाऽदोषः। होमेनाऽग्नय एव संस्क्रियन्त इति संस्कार्यत्वेन कर्मता। आध न कृत्वेत्यर्थः। चकारा-दग्निहोत्रमपि हुत्वा। **यथाविधि** पञ्चाग्निविधानमनतिक्रम्य। अप एव भक्षयतीत्यब्भक्षः। वान-प्रस्थाश्रमेऽकृष्टपच्यादिवायुभक्षान्तमाहारा विहिताः। तत्रापान्त्यमब्भक्षः। उप भगवत्समीपे प्रतीचि वा शान्तः आत्मा अन्तःकरणं यस्य ज्ञानाय भगवदाविर्भावार्थं वा। एषणा,परित्यागेन

मुक्तियोग्यता सूचिता। **आस्त इति** सत्तातिरिक्तधर्मराहित्यं सूचितम्। लोकैषणाऽत्र मुख्या ।।५२।।

व्याख्यार्थ—स्नान आदि नियम कहलाते हैं और उपशांति आदि यम कहलाते हैं। इन दोनों को धृतराष्ट्र ने किया है। वे तीनों काल स्नान करते हैं। अथवा वे तीनों काल की क्रियाओं के रूप में जल स्नान करते हैं। गृह स्थाश्रम में होने से अग्नि में होम किया है। नेत्र रहित मनुष्य को अग्नि में होम नहीं करना चाहिए तो भी जिस प्रकार गृहस्थाश्रम लिया है, उसी प्रमाण से अग्नि में होम भी किया है। होम करने से केवल अग्नि का संस्कार ही किया है, किसी फल की आशा से नहीं किया इसलिए यह कर्म केवल संस्कार की पूर्ति करता है। ये सब धृतराष्ट्र ने किया है। अर्थात् अग्नि की स्थापना करके, अग्नि होत्र का होम करके विधि प्रमाण से जैसा अग्नि होत्र का विधान है, उसका उल्लंघन न करते हुए केवल जल का पान करते हुए रहे। वे स्त्री के साथ वहाँ गये हैं इसलिए वानप्रस्थ धर्म के प्रमाण से वर्तना चाहिए वानप्रस्थ आश्रम में बिना पका अन्न खाने से प्रारंभ करके फिर वायु का भक्षण करने पर्यंत आहार किया है। उसमें अन्तिम भक्षण वायु का है। वायु भक्षण से पूर्व अवस्था जल पीकर रहने की है। भगवान् के समीप में जिनका अन्तःकरण शांत हो गया है अर्थात् ज्ञान के लिए अथवा भगवान् का साक्षात्कार करने के लिए उनमें अन्तः करण की स्थिति शेष है। उन्होंने सब इच्छाओं का त्याग कर दिया है, अतः धृतराष्ट्र को मुक्ति की योग्यता प्राप्त हो गई है यह बताया गया है। स्वयं की विद्यमानता के अतिरिक्त उनमें अन्य कोई धर्म शेष नहीं रह गया है, ऐसा 'आस्ते' क्रियापद से सिद्ध होता है। तीन प्रकार की इच्छाओं में लोकेषणा (लोक की इच्छा) मुख्य है उसका त्याग भी धृतराष्ट्र ने कर दिया है।।५२।।

आभास—एवं यमनियमावुक्त्वा अष्टाङ्गयोग वक्तुमासनादिकमाह–

आभासार्थ—इस रीति से यम नियम कहकर अब अष्टाङ्ग योग को कहने के लिये आसन आदि का निरूपण कर रहे हैं—

श्लोक—जितासनो जित श्वासः प्रत्याहृतषडिन्द्रियः।
हरिभावनया ध्वस्तरजः सत्वतमोमलः ।।५३।।

श्लोकार्थ—(धृतराष्ट्र ने) आसन और प्राणों को जीत लिया है, छह इन्द्रियों

का जिन्होंने प्रत्याहार कर लिया है। भगवान् की भावना से जिनने रज, सत्त्व व तमोगुण के मल को नष्ट कर दिया है ॥५३॥

सुबोधिनी—**जितासन इति।** आसनजयः प्राणानां जयः प्रत्याहारश्च क्रमेणोक्ताः। **षडिन्द्रिय इति** कर्मेन्द्रियाणि नियम एव प्रत्याहृतानि। ध्यानमाह-**हरिभावनयेति।** ध्यानधारणे एकीकृत्योक्ते एकदेशसमुदायभेदेन तयोर्भेदात्। ध्वस्तानि गुणत्रयमलानि रागादीनि यस्य ॥५३॥

व्याख्यार्थ—अष्टांग योग में यम और नियम को पहले बता दिया है, उसके बाद धृतराष्ट्र ने आसन और प्राणों को जीत लिया है, तत् पश्चात् प्रत्याहार किया है। आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार इन्हें क्रम से कह दिया गया है। छह इन्द्रियों का प्रत्याहार मूल में लिखा है। अर्थात् इन्द्रियों को बाहर के विषयों से खींचकर आत्मा की ओर अभिमुख कर दिया है। उसमें कर्म इन्द्रियों का प्रत्याहार हो गया है। अब पांच ज्ञान इन्द्रियाँ और एक मन ये छः इन्द्रियाँ रहीं इन्हें आत्मा से जोड़ दिया है। इसके बाद हरि भगवान् की धारणा की है। उस ध्यान और धारणा दोनों को एक करके नारद जी ने युधिष्ठिर के प्रति कहा है। कारण कि ध्यान एक भाग में रहता है और धारणा समुदाय में रहती है। इस प्रकार ध्यान और धारणा में भेद है। सत्त्व, रज और तम, इन तीनों गुणों के मलरूप रागादिक हैं, वे धृतराष्ट्र के हृदय में नाश को प्राप्त हो गये हैं। इस प्रकार धृतराष्ट्र ने धारणा तक सात अंग पूर्ण कर लिए हैं ॥५३॥

आभास—निर्विकल्पसमाध्यर्थमाह—

आभासार्थ—अब निर्विकल्प समाधि के विषय में कहते हैं—

श्लोक—**विज्ञानात्मनि संयोज्य क्षेत्रज्ञे प्रविलाप्य तम्।
ब्रह्मण्यात्मानमाधारे घटाम्बरमिवाऽम्बरे ॥५४॥**

श्लोकार्थ—विज्ञानात्मा में जीवात्मा को जोड़कर विज्ञानात्मा का क्षेत्र में लय करके, घटाकाश को महाकाश में लय करते हुए, उस क्षेत्र को आत्मारूप अक्षर ब्रह्म में लीन करते हुए धृतराष्ट्र रहे ॥५४॥

सुबोधिनी—**विज्ञानात्मनीति।** अन्ते स एव कर्त्तव्यः। अत्र ह्युत्तरोत्तरं पश्चाऽऽत्मानः।

उत्क्रान्तिगत्या गतिकर्ता जीव: प्रथमो देहमानसभेदेन भिन्न एक एव । स व्यष्ट्यात्मा । ततो महान् । ब्रह्माण्डाभिमानो विज्ञानात्मा समष्टि: । तस्मात्पर: प्रकृत्यधिष्ठाता पुरुष: । ततोऽपि । महानक्षरात्मा । तत: पुरुषोत्तम इति । तत्र स्वात्मानं प्रथमम् । क्रमविलापनेन ब्रह्मपर्यन्त गत इत्याह । स्वात्मानं विज्ञानात्मनि संयोज्य । तं च क्षेत्रज्ञे । अथवा । **विज्ञानात्मा** महत्तत्वं चित्ताविर्भूतचैतन्यम् । तं क्षेत्रज्ञे पुरुषे । तं **ब्रह्मणि** अक्षरे । तस्याऽनात्मत्वे प्रविलापनं व्यर्थमित्यत आह-**आत्मानमिति** । ननु पुरुषाक्षरयो: स्वरूपे वैलक्षण्याभावात्किं प्रविलापनेनेत्यत आह–**घटाम्बरमिति** । घटे भिन्ने यथाऽऽकाशमाकाशं स्यात्। अत: प्रकृत्यधिष्ठातृत्वं दूरीकृतमित्यर्थ:।।५४।।

व्याख्यार्थ—धृतराष्ट्र ने विज्ञानमय आत्मा में जीवात्मा को जोड़ दिया है । अन्त में निर्विकल्प समाधि करना चाहिए । आत्मा के विचार में उत्तरोत्तर पांच आत्माएं हैं । उसमें उत्क्रान्तिगति से गमन करने वाला जीव प्रथम है । वह देह सम्बन्धी व मन सम्बन्धो भेद से पृथक् होता हुआ भी एक व्यष्टि रूप है । उसमें महान् ब्रह्माण्ड के अभिमान वाला विज्ञानात्मा समष्टि रूप है । इन सब से ऊपर प्रकृति का अधिष्ठाता पुरुष है । इन सबसे बड़ा अक्षर ब्रह्म रूप है । पांचवा सब से श्रेष्ठतम पुरुषोत्तम है । इस प्रकार से पाँच प्रकार की आत्मा है। उसमें स्वयं को आत्मा को प्रथम क्रम से उत्तरोत्तर एक दूसरे में लय करके धृतराष्ट्र ब्रह्म तक चले गए हैं।अपनी आत्मा को विज्ञानात्मा में जोड़कर,विज्ञानात्मा को क्षेत्रज्ञ में जोड़ दिया है। अथवा विज्ञानात्मा अर्थात् महतत्त्व रूप चित्तमें प्रकट हुए चैतन्य को क्षेत्रज्ञ/पुरुष में जोड़ दिया है और उस क्षेत्रज्ञ पुरुष को अक्षर में जोड़ा है । अक्षर ब्रह्म का स्वयं का आत्मा न होने से उसमें क्षेत्रज्ञ का लय करना निरर्थक है, ऐसी शंका होने पर कहते हैं, कि वह अक्षर ब्रह्म तो आत्मा रूप है, कारण कि मूल में भी 'आत्मा' रूप ही कहा गया है । प्रकृति के अधिष्ठाता पुरुष और अक्षर ब्रह्म में परस्पर विलक्षणता न होने से पुरुष का लय अक्षर ब्रह्म में करने का क्या फल है ? ऐसी कोई शंका करे वहां कहते हैं कि मिट्टी के घड़े को भंग कर देने पर उसके अन्दर रहने वाला आकाश महा आकाश में मिल जाता है, उसी प्रकार प्रकृति का अधिष्ठातापन धृतराष्ट्र ने दूर कर दिया है । अर्थात् पाँच आत्माएं गिनाई गई हैं, उसमें से चौथे आत्मा में धृतराष्ट्र का जोवात्मा लीन हो गया है ।।५४।।

आभास— तस्याऽक्षरधर्माविर्भावेन दोषनिवृत्तिमुपसंहरति–

आभासार्थ—उनमें अक्षर ब्रह्म के धर्म का आविर्भाव होने से दोषों की समाप्ति हो गई है––

श्लोक—**ध्वस्तमायागुणोदर्को निरुद्धकरणाशयः ।**
निर्वत्तिताखिलाहार आस्ते स्थाणुरिवाऽचलः ।।५५।।

श्लोकार्थ—माया के गुणों के परिणाम से उत्पन्न फल नष्ट हो गये हैं जिनके और इन्द्रिय तथा अन्तः करण के आशय निरुद्ध हो गये, ऐसे धृतराष्ट्र ने आहार करना छोड़ दिया तथा स्तम्भ के समान अचल हो गए ।।५५।।

सुबोधिनी—**ध्वस्तेति** । मायागुणानामुदर्कः **प्रकृतौ व्यामोहेन सम्बन्धः** । नितरां रुद्धाः पुनरुद्गमनसामर्थ्य रहिताः इन्द्रियान्तःकरणानि **करणाशया यस्य** । **निर्वतिताखिलाहार इति** प्राणवृत्तिनिवारणम् । एव चतुर्णां देहेन्द्रियप्राणान्तः करणानां बीजभूतमायागुणसहित नां व्यापारे **निवृत्त अक्षररूपं** ।अस्याऽऽत्मनः स्वतो व्यापाराभावात्स्थाणुरिवाऽऽसीदित्याह–**आस्त इति**। बहिः स्थितवाय्वाद्यचालने दृष्टान्तः। "**वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वमि**" ति श्रुतेः । तत्तुल्यो वा जात इत्यर्थः ।।५५।।

व्याख्यार्थ—प्रकृति में विशेष मोह होने से जो सम्बन्ध होता है, वह माया के गुणों का परिणाम है । वह मोह युक्त सम्बन्ध धृतराष्ट्र में से निकल गया है । इन्द्रिय और अन्तः करण जो साधनों का आशय है वह रुक गया है और समस्त प्रकार के आहार को छोड़ दिया है इससे प्राणों की वृत्तियों का निवारण कर दिया गया है । इस प्रकार देह, इन्द्रिय प्राण और अन्तः करण बीज रूप हैं और माया के गुणों के साथ हैं, जब इन चारों का सम्बन्ध हो गया तो धृतराष्ट्र अक्षर ब्रह्म के रूप को प्राप्त हो गए । उनकी आत्मा का स्वयं से कोई व्यापार न होने से स्तम्भ की तरह वे अचल हो गए हैं । बाहर रहने वाले वायु से भी वे चलायमान नहीं हुए । "वृक्ष की तरह स्तब्ध होकर स्वर्ग में एक पुरुष रहता है, उससे यह सारा जगत् पूर्ण है" यह श्रुति में कहा गया है । धृतराष्ट्र उसी समता को प्राप्त हो गए हैं, यह अभिप्राय है ।।५५।।

आभास—तर्ह्येवं बहुकालं स्थास्यतीति विचार्य समाधिविरतौ समानेय इत्याशङ्कायामाह—

आभासार्थ—तब तो धृतराष्ट्र अभी बहुत समय तक रहेंगे, तब तो समाधि निवृत्त होने पर उन्हें पुनः यहीं ले आना चाहिए, ऐसी शंका यदि युधिष्ठिर को हो, तो उसकी निवृति के लिये आगे कहते हैं—

श्लोक—तस्याऽन्तरायो मैवाऽभूः संन्यस्ताखिलकर्मणः ।
स वा अद्यतनाद्राजन् परतः पञ्चमेऽहनि
कलेवरं हास्यति स्वं तच्च भस्मीभविष्यति ।।५६।।

दह्यमानेऽग्निभिर्देहे पत्युः पत्नी सहोटजे ।
बहिः स्थिता पतिं साध्वी तमग्निमनु वेक्ष्यति ।।५७।।

श्लोकार्थ—अब प्रत्येक कर्म का जिन्होंने त्याग कर दिया है, ऐसे धृतराष्ट्र के लिए तुम विघ्न रूप मत बनो हे राजा युधिष्ठर, वे आज से पाँचवे दिन अपने शरीर का त्याग करेंगे और वह शरीर भस्म हो जायेगा । अग्नि से पर्णशाला के साथ ही पति का देह जलने लगेगा, तब बाहर स्थित उनको साध्वो पत्नो गांधारी अपने पति के पीछे उस अग्नि में प्रवेश कर जायेगी ।।५६-५७।।

सुबोधिनी—तस्याऽन्तराय इति । परमपुरुषार्थे सन्निहितस्य विघ्नरूपस्त्वं मा भूः । त्वद्दर्शनादिना मोह उत्पन्ने सर्वनाशो भविष्यति । किञ्च । त्वया गतेन विषय स्वादनमेव कर्त्तव्यम् । तच्च सन्यासिनो निषिद्धमित्याह । संन्यस्तान्यखिलानि कर्माणि येन । अनेन कर्मार्थमपि विषयग्रहणं निवारितम् । तर्हि रक्षार्थ प्रयत्नः कर्त्तव्य इत्याशङ्क्याऽऽह **स वा इति** । प्रथम बहुकाल स्थितिरेव नास्ति । विनियोगश्च स्वतः सिद्धः । अद्यतनात्पञ्चमेऽहनि । **राजन्निति** सम्बोधनाद्गमनसम्भृतावपि तावान् कालो गमिष्यतीति सूचितम् । **परत** इत्यद्यदिनं परित्यज्य पञ्च दिनानि । तत्र पञ्चमेऽहनि कलेवर हास्यति । **अहनीति** शक्लपक्षादिकमपि सूचितम् । कलेवरपरित्यागे हेतुः—**स्वमिति** । दग्धपटन्यायेनाऽभिमानशेषस्य विद्यमानत्वा । "**भस्मान्तमिदं शरीरमि**" ति श्रुतेस्तस्य प्रतिपत्तिमाह-**तच्चेति** । ब्रह्मणि स्थितोऽपि प्रयत्नशेषेण प्राणदेहादिकं धृत्वा तिष्ठति। तस्य त्यागसमये । आग्नेयीं धारणां कृत्वा त्यक्तवान् (?) । अनस्तद्भस्म जातम् (?) इत्यर्थः । **आधानप्रभृति यजमानो** (?) **ऽग्नयो भवन्ति**" ति श्रुतेः । अन्तःस्थिताग्निप्राकट्ये बहिः स्थितैरपि संसर्गान्महत्यग्नौ संजाते पर्णशालायामपि दग्धायां पातिव्रत्यधर्मेण "**प्रविशेद्वा हुताशनमि**" ति बहिः स्थिताऽपि पत्नो अग्न्युपघाताभावाय साध्वो तमेवाऽग्निमनु प्रवेशं करिष्यतीत्यर्थः ।। ५६ ।। ५७ ।।

व्याख्यार्थ—धृतराष्ट्र के लिए तुम विघ्न रूप मत बनो अर्थात् के पुरुषार्थ की सिद्धि होने वाली अवस्था में गए हैं । अतः अब तुम उस में विघ्न मत करो । यदि आप वहां जाओगे तो तुम्हें देखकर उन्हें मोह होगा और उनका सर्वनाश हो जायेगा । तुम्हारे जाने पर वे पुनः विषयों का सम्पादन करेंगे जो कि सन्यासियों के लिए वर्जित है । इसे स्पष्ट करने के लिए कहते हैं, कि उन्होंने प्रत्येक कर्म का त्याग

कर दिया है। इसलिये कुछ कर्म करने के लिए धृतराष्ट्र को पदार्थ तैयार करके देने का निवारण किया गया है। तो भी रक्षा के लिए प्रयत्न तो करना ही चाहिए, ऐसी आशंका का उत्तर देते हुए कहते हैं, कि पहली बात तो वे बहुत समय तक रहेंगे नहीं, जो तुम वहां जाकर रक्षा कर सको। उनका क्या विनियोग होना है वह तो स्वयं से ही सिद्ध हो गया है, कारण कि आज से पाँचवे दिन उनका शरीर नष्ट हो जायेगा। मूल में 'राजन्' सम्बोधन दिया गया है. जिसका अभिप्राय यह है कि राजा को अपने स्वरूप के प्रमाण से वहां जाने को तयारी करने में पांच दिन तो लग ही जायेंगे. इसलिए उनकी रक्षा के लिए वहां जावें तब तक तो देह हो नहीं रहेगा। आज का दिन छोड़कर पांचवें दिन धृतराष्ट्र प्राणों का त्याग कर देंगे। मूल में 'दिवसे' प्राण त्याग की सूचना देता है। जिससे शुक्ल गति प्रमाण से शुक्ल पक्ष भी सूचित हो रहा है। शरीर छोड़ने में कारण कहते हैं कि वह स्वयं का शरीर है वह जले हुए वस्त्र की तरह अभिमान शेष रह जाने से दिखाई देता है। इसलिए वेद में कहा गया है कि 'अन्त में यह शरीर भस्म हो जाता है," इस प्रमाण से धृतराष्ट्र का शरीर भस्म रूप हो जायेगा। यद्यपि वे अक्षर ब्रह्म में स्थित हैं, थोड़ा सा प्रयत्न और शेष रहने से प्राणों ने देह को धारण कर रखा है। उसके त्याग करने का समय आ गया है. इसलिए अग्नि सम्बन्धी धारणा करके देह का त्याग करेंगे, जिससे उनका देह भस्म हो जाएगा। "अग्नि का आधान करने के बाद यजमान अग्नि रूप हो जाता है", ऐसा वेदों में कहा गया है। इसलिये अग्नि और स्वयं भिन्न भिन्न न होने से, उसकी धारणा करने की आवश्यकता नहीं, अतः वे अन्दर रहने वाली अग्नि को बाहर प्रकट करेंगे। तब बाहर वाले पदार्थों को भी अग्नि का सम्बन्ध होने से स्वयं की पर्ण कुटी भी जलने लगेगी। शास्त्रों में पति के पीछे पत्नी का अग्नि प्रवेश कहा गया है। इससे धृतराष्ट्र की पत्नी गान्धारी भी जो बाहर होगी, पतिव्रत धर्म से अग्नि में प्रवेश कर जायेगी। यज्ञ कार्य करने में जो स्त्री उपयोग में आती है वह पत्नी कहलाती है। उस रीति से गान्धारी पत्नी होने के कारण साध्वी और पतिव्रता होने से पति के पीछे अग्नि में प्रवेश कर जाएगी। पत्नी के बाहर होने पर भी अग्नि इसीलिए ठंडा नहीं पड़ा था (मानो उसे उस साध्वी पतिव्रता को अपने में प्रवेश होने की प्रतीक्षा थी) ।।५६।।५७।।

आभास—एवं दम्पत्योर्विनियोगमुक्त्वा तद्धेतुभूतविदुरविनियोगमाह–

आभासार्थ—इस प्रकार धृतराष्ट्र व गान्धारी दम्पति का विनियोग कहकर, उनमें कारण भूत विदुरजी का भी विनियोग कहा जा रहा है—

श्लोक—**विदुरस्तु तदाश्चर्यं निशाम्य कुरुनन्दन ।**
हर्षशोकयुतस्तस्माद्गन्ता तीर्थनिषेवकः ॥५८॥

श्लोकार्थ—हे कुरुनन्दन, उस आश्चर्य को सुनकर हर्ष और शोक से युक्त हुए विदुरजी वहाँ से तीर्थों का सेवन करने के लिये जायेंगे ॥५८॥

सुबोधिनी—**विदुरस्त्विति** । तुशब्देन तयोरवस्थां तस्य निवारयति । ननु सहाऽऽगतानां मध्ये कथं द्वयोरेव सा गतिर्न तृतीयस्येत्यत आह-**तदाश्चर्यमिति** । पूर्वं तु तत्क्रियायामेवाऽऽसक्तं चित्तमासीत्कि भविष्यतीति । निष्पन्ने तु कार्ये तदाश्चर्यत्वेन स्फुरितं न कर्त्तव्यत्वेन । न ह्यद्भुतं सर्वस्य सम्भवतीति । तर्हि किं कृतवानित्यत आह-**गन्तेति** । **कुरुनन्दनेति** सम्बोधनं तवैतन्न कर्त्तव्यमिति सूचयति । सर्वाह्लादकरत्वात् । पारलौकिकैहिकविचारेण हर्षशोकयुतस्तस्माद्देशाद्देहपातनपर्यन्तं परिभ्रमेदिति विध्यनुसारेण प्रवृत्तत्वान्मध्ये प्रासङ्गिकं समाप्य प्रक्रान्तमेव कृतवानित्याह—**तीर्थनिषेवक इति** ॥५८॥

व्याख्यार्थ—धृतराष्ट्र व गान्धारी की जो अवस्था हुई है, वह अवस्था विदुरजी की नहीं हुई यह बताने के लिये मूल में 'तु' अव्यय दिया गया है । तीनों साथ आये थे, उनमें से दो की ही गति क्यों हुई ? तीसरे विदुर जी की गति क्यों नहीं हुई ? इस शंका का समाधान करते हैं, कि पहले तो विदुरजी का चित्त धृतराष्ट्र का क्या होगा? इसी क्रिया में आसक्त था,अब उस कार्य के सिद्ध होने के बाद आश्चर्य से उन को स्फूर्ति हुई है, कि अब धृतराष्ट्र ने देह त्याग कर दिया है, किसी कर्त्तव्य भावना से नहीं । क्योंकि ऐसा अद्भुत् कार्य सबके लिये सम्भव नहीं होता । तो फिर उन्होंने क्या किया ? उसे कहा जा रहा है, कि वे तो तीर्थ यात्रा करने चले जायेंगे । "कुरुनन्दन" ऐसा सम्बोधन देने से यह सूचित किया गया है कि आप प्रत्येक को आनन्दित करने वाले हैं अतः आप ऐसा न कर बैठना । धृतराष्ट्र के सम्बन्ध में परलोक सम्बन्धी विचार हुआ है, इसलिये उन्हें हर्ष हुआ है और लौकिक विचार के प्रमाण से अपना भाई होने से शोक हुआ है । जिस किसी भी देश में यह देह गिर जाय तब तक घूमते रहने का निश्चय विदुरजी ने किया है । इसलिये उसी निश्चयानुसार वे तीर्थ भ्रमण में प्रवृत हो गये । महाभारत का युद्ध होने से पहले भी तो वे तीर्थ सेवन को निकलते थे परन्तु बीच में इस प्रसंग को लेकर, अपने भाई धृतराष्ट्र को

बोध कराकर, वैराग्य उत्पन्न करके उनका मोक्ष कराने का कार्य पूर्ण किया है। इसलिए अब पहले प्रारम्भ किया हुआ तीर्थ यात्रा करने का कार्य फिर से विदुर जी ने प्रारम्भ किया है ॥५८॥

आभास—एतावता राज्ञः शोको निवृत्त इति नारदगमने पूर्वोक्तस्य समाप्तिमाह—

आभासार्थ—नारदजी द्वारा युधिष्ठिर से ऐसा कहा जाने पर युधिष्ठिर का शोक दूर हो गया, तब नारदजी के वहाँ से जाने के बाद पहले प्रसंग की समाप्ति की जा रही है—

श्लोक—**इत्युक्त्वाऽथाऽऽरुहत्स्वर्गं नारदः सहतुम्बुरुः ।**
युधिष्ठिरो वचस्तस्य हृदि कृत्वाऽजहाच्छुचः ॥५९॥

श्लोकार्थ— इस प्रकार कहकर, उसके बाद तुम्बुरु के साथ नारदजी स्वर्ग में गए और उनके वचनों को हृदय में धारण करके राजा युधिष्ठिर ने शोक का त्याग कर दिया ॥५९॥

सुबोधिनी—**इतीति** । **अथेति** भिन्नप्रक्रमेण पूजितः सन्तुष्टहृदयः । अतः परं भूमौ तस्य कार्यं नास्तीति ज्ञापयति—**आरुहत्स्वर्गमिति** । तुम्बुरुणा कथान्तरसूचनमाशङ्क्य—**सहतुम्बुरुरिति** । उपाख्यानफलमाह—**युधिष्ठिर इति** । शुचः शोकान् । वाक्यस्य शोकबाधकत्वाद्वाक्ये स्थिते शोका निर्गता इत्यर्थः ॥५९ ।

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीवल्लभदीक्षित-
विरचितायां प्रथमस्कन्धे त्रयोदशोऽध्यायः ॥१३॥

व्याख्यार्थ—मूल में अथ अव्यय दिया गया है वह भिन्न प्रसंग बताने वाला है। इसलिए युधिष्ठिर ने नारदजी का पूजन किया और उनका हृदय सन्तुष्ट हुआ। इसके बाद पृथ्वी के ऊपर नारदजी का कार्य शेष नहीं रहा, यह बताया है। तब नारदजी स्वर्ग की ओर गए। यदि वे तुम्बुरु को पीछे ही छोड़ जायें और वे भगवान् की प्रभास लीला की घटना का, यादव स्थली की घटना का किसी से प्रसग उद्घाटित करदें। ऐसी शंका लाकर नारदजी तुम्बुरु ऋषि को साथ ले गये। नारदजी ने जो वास्तविकता युधिष्ठिरजी से कही है, उसका फल बताया जा रहा है कि उनके वचनों को धारण करके युधिष्ठिर राजा ने शोक का त्याग किया है, कारण कि

नारदजी के वाक्य शोक को दूर करने वाले होने से युधिष्ठिर के हृदय में वे वाक्य स्थिर हो गये, इस प्रकार अनेक प्रकारों से उनका शोक जाता रहा ।।५९।।

इति श्रीमद्भागवत महापुराण, प्रथमस्कन्ध के १३वें अध्याय की श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण कृत श्री सुबोधिनी (संस्कृत टीका) के 'उत्तमाधिकार प्रकरण' का सप्तम् अध्याय हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण

—●—

नन्द नन्दन का ध्यान

राग केदारा— कर मन नन्द नन्दन ध्यान ।
सेव चरन सरोज शीतल, तज विषय रस पान ।।

जानु जंघ त्रिभंग सुन्दर, कलित कंचन दंड ।
काछनी कटि पीतपट-दुति, कमल-केसर-खंड ।।

मनौ मधुर मराल-छौना, किंकिनी-कल-राव ।
नाभि-हृद, रोमावली-अलि चले सहज सुभाव ।।

कंठ मुक्तामाल, मलयज, उर बनी वनमाल ।
सुरसरी के तीर मानौ लता स्याम तमाल ।।

बाहु-पानि सरोज-पल्लव, धरे मृदु मुख बेनु ।
अति बिराजत बदन-बिधु, पर सुरभि-रंजित-रेनु ।।

अधर, दसन, कपोल, नासा, परम सुन्दर नैन ।
चलित कुंडल गंड-मंडल, मनहुँ निर्तत मैन ।।

कुटिल भ्रू पर तिलक रेखा, सीस सिखनी-सिखंड ।
मनु मदन धनु-सर सँधाने, देखी घन-कोदंड ।।

सूर श्रीगोपाल की छबि, दृष्टि भरि-भरि लेहु ।
प्रानपति की निरखी सोभा, पलक परनन देहु ।।

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

● श्रीमद् भागवत संहिता ●

श्री मद्वल्लभाचार्य चरण द्वारा विरचित

श्री सुबोधिनी (संस्कृत टीका)

हिन्दी अनुवाद सहित

प्रथम स्कन्ध

अध्याय—१४

उत्तमाधिकार प्रकरण अध्याय—८

अपशकुन देखकर महाराज युधिष्ठिर का शंका करना तथा अर्जुनजी का द्वारिका से आना

कारिकाएँ—एवं हि धृतराष्ट्रस्य मुक्तिमुक्त्वा त्रयोदशे ।
पाण्डवानामतो द्वाभ्यां हेतुपूर्वमुदीर्यते ॥१॥
तेषां नेष्टो ब्रह्मभावः सायुज्यं परमीप्सितम् ।
तन्न स्याद्भूतले कृष्णे सखिभावेन बाधनात् ॥२॥
अतश्चतुर्दशे हेतुं भगवद्गमनं महत् ।
यो वदेत्तस्य सन्दर्शः प्रश्नश्च विनिरूप्यते ॥३॥
सम्भावनाया हेतुत्वं निश्चये किमुतेति च ।
भगवद्गमनं तस्मादुभयत्रोच्यते द्विधा ॥४॥

कारिकार्थ—इस रीति से तेरहवें अध्याय में धृतराष्ट्र की मुक्ति का निरूपण करके अब दो अध्यायों द्वारा पाण्डवों की मुक्ति का निरूपण किया जाता है ।।१।। पाण्डवों को अक्षर ब्रह्म में लीन होना इच्छित नहीं, पर भगवान् के साथ उन्हें सायुज्य (साथ रहने वाली मोक्ष) मुक्ति चाहिये । जब तक श्रीकृष्ण भूतल पर विराजे, तब तक उनमें सख्य भाव होने से बन्धन हो जावे, जिससे सायुज्य मुक्ति नहीं मिल सके ।।२।। अतः चौदहवें अध्याय में पाण्डवों की मुक्ति में भगवान् का भूतल पर से पधारना ही कारण रूप हुआ । इस प्रसंग में उनके दर्शन और प्रश्नों का निरूपण करने में आया है ।।३।। भूतल पर से भगवान् के पधारने को सम्भावना ही कारण रूप है. इसलिए इसका निश्चय होने के बाद पाण्डवों में वैराग्य होना और उनके उत्तर दिशा में जाने के कारण के विषय में कहना ही क्या? अत: दोनों अध्यायों में दो प्रकारों से भगवान् के पधारने का निरूपण किया जा रहा है ।।४।।

आभास—एवं पूर्वाध्याये "**तावद्यूयमवेक्षध्वमि**"ति नारदवाक्याद्भगवन्निर्याणस्याऽऽवश्यकत्वं श्रुत्वा धृतराष्ट्रगमनकृतक्लेशं परिहृत्य स्वगमनहेतुभूतं भगवद्गमनं प्रति चिन्ताकुलित: पर्यालोचनं करोतीति वक्तुं तस्य पीठिकामाह—

आभासार्थ—इस रीति से तेरहवें अध्याय में नारदजी ने युधिष्ठिर से कहा है, कि जब तक भगवान् भूतल पर विराजें वहां तक आप प्रतीक्षा करो । इससे भगवान् का भूतल पर से पधारना तो आवश्यक रूप से सूचित हो ही गया । इसे ही सुनकर धृतराष्ट्र गये, उनका क्लेश करना छोड़कर अब स्वयं के जाने में कारण रूप भगवान् के पधारने की चिन्ता हो गई । इसलिए उस चिन्ता से व्याकुल होकर युधिष्ठिर उसी विषय का विचार करने लगे । इसका वर्णन करने के लिए श्री सूतजी भूमिका प्रारम्भ करते हैं—

सूत उवाच-श्लोक-**सम्प्रस्थिते द्वारकायां जिष्णौ बन्धुदिदृक्षया ।**
ज्ञातुं च पुण्यश्लोकस्य कृष्णस्य च विचेष्टितम् ।।१।।
व्यतीता: कतिचिन्मासास्तदा पाण्डुसुतो नृपः ।
ददर्श घोररूपाणि निमित्तानि कुरूद्वहः ।।२।।
कालस्य च गतिं रौद्रां विपर्यस्तर्तुधर्मिणः ।
पापीयसीं नृणां वार्त्तां क्रोधलोभावृतात्मनाम् ।।३।।

जिह्मप्रायं व्यवसितं शाठ्यमिश्रं च सौहृदम् ।
पितृमातृसुहृद्भ्रातृदम्पतीनां च कल्कनम् ॥४॥

निमित्तान्यत्यरिष्टानि काले त्वनुगते नृणाम् ।
लोभाद्यधर्मप्रकृतिं दृष्ट्वोवाचाऽनुजं नृपः ॥५॥

श्लोकार्थ—अपने बन्धुओं को देखने की इच्छा के भाव से तथा पुण्य श्लोक भगवान् श्रीकृष्ण की विशेष प्रकार की चेष्टाओं को जानने की जिज्ञासा से युधिष्ठिर ने अर्जुन को द्वारका भेजा था ॥१॥ कितने ही महीनों के बीत जाने पर भी जब अर्जुन लौटकर नहीं आये तब तो युधिष्ठिर अमंगल सूचक घोर रूपों वाले अपशकुनों को देखने लगे ॥२॥ युधिष्ठिर ने काल की गति को भयानक, उल्टे होते हुए धर्म, मनुष्यों में पाप वृत्ति, जिनसे उनकी क्रोध व लोभ से घिरी हुई आजीविका एवं व्यवहार आदि को देखा ॥३॥ समस्त व्यवहारों में कुटिलता आ गई, मित्रता में दुष्टता का मिश्रण हो गया । माता-पिता, भाई-बन्धुओं में तथा पति-पत्नी तक में लड़ाई-झगड़ा होने लगा ॥४॥ मनुष्यों की प्रकृति को काल का अनुसरण करते देखकर, लोभ आदि अधर्म के प्रसारित हो जाने पर तथा अन्यान्य विपत्ति सूचक अपशकुनों को देखकर राजा युधिष्ठिर अपने लघुभ्राता भीमसेन से इस प्रकार विचार विमर्श करने लगे ॥५॥

सुबोधिनी—सम्प्रस्थित इति । ज्ञापात्पूर्वं भगवान् किं करोतीति ज्ञानार्थमर्जुनः प्रेषितः । तस्मिन्नपि गते बहवो मासा जाता इति विलम्बे कारणाभावाच्चिन्ता । निमित्तदर्शनाच्च । तत्राऽऽद्यं द्वाभ्यामाह । गमनागमननिरूपणाद्द्वारकायां गतस्य न काऽपि चिन्ता । तत्राऽपि सम्यग्गतस्य । श्वशुरगृहे समाह्वानात् । तत्राऽपि स्वयं जिष्णुः जयशीलः । तत्राऽपि बन्धूनां दर्शनार्थं न कलहाद्यर्थे । तत्राऽपि सर्वानिष्टनिवारकस्य कृष्णस्य विशेषचरित्रं चेष्टितं ज्ञातुम् । **कतिचित्** सप्त मासाः । यदा नाऽऽयात्तदा । **पाण्डुसुतो** दीर्घदर्शी । विचारावश्यकत्वाय च नृपः । आगमने अपशकुनानि दृष्टवान् । घोराणि रूपाणि येषाम् । फलतो भयजनकत्वं दूरे । तेषामेव दर्शने भयं भवतीत्यर्थः । न च तावन्मात्रत्वम् । तानि पुनर्निमित्तान्यनिष्टसूचकानि । शकुनशास्त्रे तथा प्रतिपादनात् । स्वतोऽपि ज्ञानं सम्भवति । महापुरुषवंशोत्पन्नत्वात् । इय ह—**कुरूद्वह इति** । ज्योतिःशास्त्रात्कालगतिश्च क्रूरा जाता । कलेर्दुष्टस्य प्रवेशात् । किञ्च । विपर्यस्ता ऋतुधर्मा यत्र । अनेनाऽपि कालगतिर्दुष्टेति ज्ञातम् । अनापधपि प्राणिनां **वार्त्ता** जीविका **पापीयसी** साधुजुगुप्सिता । कर्तृधर्मेषु क्रोधलोभावेव प्रकटौ । यत्किञ्चित्क्रियते तत्राऽधिकारिविशेषणमेतद्द्वयम । ताभ्यामावृत आत्मा येषाम् । कालस्य कालस्थानां च दोषा उक्ताः । व्यवहारे बुद्धिदोषमाह । बुद्धिर्द्विधा हि समीचीना । व्यवसायात्मिका सर्वप्राणिषु सदादर्जनिका च । तत्रोभयत्राऽपि कौटिल्यं वञ्च-

कता च प्रविष्टा । बुद्धिर्हि वश्चिेष्टाभिरनुमीयते । सा कुटिलस्य न शक्या । वञ्चकस्य च सौहार्द्दम् तस्मादेत द्द्वयं लोके भातमित्यर्थः । लौकिकधर्मदोषमाह । पित्रादिभिः कलहः । येषु सहजः स्नेहो धर्म्यस्तैः सह कलह पित्रादीनां सम्बन्धिभिः सह कलहः । दाम्पतीनां परस्परम्। एवमेतानि निमित्तान्यन्यानि चाऽर्थरिष्टसूचकानि। समूलानि चेत्याह-**कालेत्वनुगत इति** । दोषु कालः सानुकूलः । किञ्च । नृणां प्राणिनां सर्वेषां पूर्वयुगेषु ब्राह्मणादीनां ज्ञानादय इव लोभाद्यधर्माः स्वाभाविका जाताः । प्रकृतित्वेन विगानमपि नास्तीति भावः । **अनुजो** भीमः ।।१।।२।।३।।४।।५।।

व्याख्यार्थ—यादवों को भगवान् का शाप होने से पहले वे द्वारका में क्या कर रहे हैं, यह जानने के लिये युधिष्ठिर ने अर्जुन को द्वारका भेजा था । उनको गये बहुत से महीने व्यतीत हो गए । उस काम में उनके रुकने का कोई विशेष प्रयोजन नहीं था, तदपि अर्जुन को द्वारका से आने में इतना अधिक विलम्ब हुआ है । अपशकुनों को देखकर तो युधिष्ठिर को और भी अधिक चिन्ता होने लगी । अर्जुन के आने में विलम्ब होने की चिन्ता दो श्लोकों से बताई जा रही है । अर्जुन द्वारका में जायें तब किसी प्रकार की चिन्ता नहीं । क्योंकि वहाँ वे सब प्रकार से गए हुए थे । अर्जुन का ससुराल होने से भी तथा बुलाए जाने पर गये हुए होने के कारण चिन्ता का विषय वैसे भी नहीं रह जाता और तिसपर भो 'ये जिष्णु हैं' ऐसा जान कर जप करने वाले हैं । इतना ही नहीं, वे तो द्वारका में सम्बन्धियों से मिलने गये हैं, किसी कलह के प्रसंग से नहीं गये । उसमें भी समस्त अनिष्टों को निवृत्त करने वाले श्री कृष्ण के विशेष चरित्रों को देखने के लिये गये हैं, इन सभो बातों से चिन्ता का कोई कारण उपस्थित नहीं होता । पर उन्हें गए सात महीने व्यतीत हो गए और अब तक द्वारका से नहीं लौटे, यह चिन्ता का कारण बन गया । युधिष्ठिर पाण्डु राजा के पुत्र होने से दीर्घ दृष्टि वाले हैं, इसलिये इस विषय पर वे विचार करने लगे । प्रजा का रक्षक होने से उन्हें विचार करना आवश्यक भी है । इसी बीच उन्हें अपशकुन दिखाई देने लगे हैं । वे अपशकुन बुरे फलों को देंगे, यह बात तो दूर रही, पर वे तो देखने मात्र से भय उत्पन्न करने लगे । उनका अनिष्ट फल उतना ही नहीं था, परन्तु शकुन शास्त्रों में उनका प्रतिपादन होने से वे बार-बार अनिष्ट होने की सूचना दे रहे थे । राजा युधिष्ठिर कुरु वंश के वहन करने वाले होने से महापुरुष के वंश में उत्पन्न हुए थे अतः उनमें स्वयं-स्फूर्त ज्ञान होने की संभावना निश्चित है । अब युधिष्ठिर की दृष्टि ने किन किन अपशकुनों को देखा ? उनका वर्णन किया जा रहा है ।

दुष्ट कलि काल के प्रवेश कर लेने पर काल की गति क्रूर हो गई है। ऐसा ज्योतिष शास्त्र से जाना गया है। इसमें ऋतु के धर्म भी उल्टे हो गये हैं। तिस पर भी काल की गति दोष वाली हो गई है। बिना विपत्ति पड़े भी, सत् पुरुष जिसकी निन्दा करते हैं, ऐसी आजीविका प्राणी लोग करने लगे हैं। कार्य करने वाले लोगों में क्रोध और लोभ प्रकट रूप में दिखाई देने लगे हैं। इसलिये प्रत्येक कार्य में क्रोध और लोभ के द्वारा धरा हुआ रूप ही मनुष्यों में दिखाई देने लगा है। ये दोष काल के तथा काल के अन्तर्गत बर्तने वाले लोगों में एवं प्राणियों में देखे जाने वाले कहे गये हैं। अब व्यवहार में बुद्धि का दोष बताते हैं। निश्चयात्मक बुद्धि तथा सब प्राणियों में स्नेह उत्पन्न करने वाली बुद्धि, ऐसे दो प्रकार की बुद्धि गिनाई गई है। इन दोनों प्रकार की बुद्धि में कुटिलता और वंचकता आ बसी है। बाहर की चेष्टाओं से बुद्धि का अनुमान लगाया जाता है, परन्तु कुटिल बुद्धि का अनुमान नहीं लगाया जा सकता। इसी प्रकार छलने वाले मनुष्य के स्नेह का भी अनुमान नहीं लगाया जा सकता। युधिष्ठिर इन दोनों ही बातों को लोक में देखने लगे। अब लौकिक धर्म में भी दोष दिखाई देने लगे, उस प्रसंग में कहते हैं, कि पिता-माता सम्बन्धी, भाई और स्त्री-पुरुषों में भी कलि के दोष दिखाई देने लगे अर्थात् जिनका परस्पर स्नेह होना चाहिए वहां सहज ही में कलह होता दिखाई देने लगा। इस प्रकार पिता आदि सम्बन्धियों के साथ कलह होने लगा। स्त्री और पति में परस्पर क्लेश होने लगा। ऐसे कई दोष और अनिष्टों को सूचित करने वाले अपशकुन होने लगे। इस युग में कलिकाल की प्रधानता व अनुकूलता होने से उन दोषों का मूल दृढ़ हो गया। पहले युग में ब्राह्मण आदिकों को जिस प्रकार ज्ञानादिक धर्म स्वाभाविक थे उसी प्रकार अब प्रत्येक प्राणियों में लोभादिक अधर्म स्वाभाविक रूप से दिखाई देने लगे। अर्थात् स्वभाव से ही निन्दा करने योग्य कुछ भी नहीं बचा। इस प्रकार राजा युधिष्ठिर, अपशकुनों को देखकर अपने छोटे भाई भीमसेन के साथ विचार करने लगे ॥१-२-३-४-५॥

आभास—आसन्यस्त्वपहतपाप्मा। अतः कालादिदोषसम्भ्रमाभावात्तेन सह विचारो युक्त इति भीमेन सह विचारयति—

आभासार्थ—भीमसेन आसन्य प्राणवायु के अवतार होने से पापरहित हैं, अतः उनमें कालादिक दोषों के होने की संभावना नहीं है। इसलिये भीम के साथ विचार

करना योग्य है । अब वे विचार करते हैं–

युधिष्ठिर उवाच–श्लोक–**सम्प्रेषितो द्वारकायां जिष्णुर्बन्धुदिदृक्षया ।**
ज्ञातुं च पुण्यश्लोकस्य कृष्णस्य च विचेष्टितम् ।।६।।
गताः सप्ताऽधुना मासा भीमसेन तवाऽनुजः ।
नाऽऽयाति कस्य वा हेतोर्नाऽहं वेदेदमञ्जसा ।।७।।

श्लोकार्थ—बन्धुओं की कुशल क्षेम जानने की इच्छा से तथा श्रीकृष्ण की विशेष प्रकार की गतिविधियों का अवलोकन करने की दृष्टि से भेजे गए अर्जुन लौटकर नहीं आए ? ।।६।। हे भीमसेन ! तुम्हारे छोटे भाई अर्जुन जिन्हें गए सात महीने व्यतीत हो गए किस कारण लौटकर नहीं आये ? इसे मैं समझ नहीं पा रहा हूं ।।७।।

सुबोधिनी—सम्प्रेषित इति । चकारादभिप्रायम् । द्वितीयचकारादन्येषामपि कालादीनाम् । तस्य स्वतोऽनिष्टं नास्तीत्याह—**भीमसेनेति ।** भीमा सेना यस्य । अनु पश्चाज्जातत्वात्सोऽपि तादृशः । जिज्ञासितसन्देहेऽप्यागमनाभावे हेत्वभावात्कुतो नाऽऽयातीत्याह ।।६।।७।।

व्याख्यार्थ—मूल में च कहा गया है, वह श्री कृष्ण का अभिप्राय जानने के लिये है और दूसरे च का प्रयोग काल आदि के किये जाने वाले कार्यों को जानने के लिए अर्जुन को भेजा गया है, इसकी सूचना देता है । अर्जुन को स्वयं के विषय में कोई अनिष्ट नहीं, यह बताने के लिए कहा जा रहा है कि तुम भयंकर सेना वाले अर्जुन के भाई हो । तुम्हारे पीछे अर्जुन का जन्म होने से वह भी ऐसा ही है । तुम्हें जो जान लेना चाहिये, उस जानने योग्य में यदि कुछ संदेह रह गया हो तो भी उस के यहां न आने में कोई कारण नहीं, तो फिर वह क्यों नहीं आया ? यह मैं नहीं समझ पाया ।।६-७।।

आभास—शुद्धान्तःकरणत्वात्स्वस्यैव निमित्तं स्फुरित सम्भावनयाऽऽह—

आभासार्थ—शुद्ध अन्तःकरण वाले होने से युधिष्ठिर को स्वयं में जिन जिन निमित्तों की स्फूर्ति हुई है, उनकी संभावनाएँ करके कहा जा रहा है––

श्लोक—**अपि देवर्षिणाऽऽदिष्टः स कालोऽयमुपस्थितः ।**
यदात्मनोऽङ्गमाक्रीडं भगवानुत्सिसृक्षति ।।८।।

श्लोकार्थ—कहीं ऐसा तो नहीं ? कि जैसा देवर्षि नारदजी ने आदेश किया था, कि भगवान् क्रीड़ा के साधन रूप अपने श्री अंग को तिरोभूत करने की इच्छा कर रहे हैं, वही समय उपस्थित हो गया हो ? ॥८॥

सुबोधिनी—**अपीति** । आ समन्तात् क्रीडासाधनम् । माक्रीडासाधनं वा । अन्यथैवं न भवेदिति भावः ॥८॥

व्याख्यार्थ—भगवान् के श्री अंग चारों ओर से क्रीड़ा के साधन रूप हैं । अथवा लक्ष्मीजी की क्रीड़ा के साधन रूप हैं । क्या भगवान् उन्हें छोड़ देने की इच्छा करते हैं ? इसके अतिरिक्त तो कुछ और कारण नहीं हो सकता ॥८॥

आभास—तत्र हेतुमाह—

आभासार्थ—उस प्रसंग में कारण बताया जा रहा है—

श्लोक—**यस्मान्नः सम्पदो राष्ट्रं दाराः प्राणाः कुलं प्रजाः ।**
आसन् सपत्नविजयो लोकाश्च यदनुग्रहात् ॥९॥
पश्योत्पातान्नरव्याघ्र दिव्यान् भौमांश्च दैहिकान् ।
दारुणाञ्छंसतोऽदूराद्भयं नो बुद्धिमोहनम् ॥१०॥

श्लोकार्थ—जिन की कृपा से हमें सम्पदा, राष्ट्र, पत्नियां, प्राण, परिवार और प्रजा प्राप्त हुए हैं । शत्रुओं पर विजय दिलवाने वाले तथा दिव्य स्वर्गादिक लोकों लोक का अनुभव कराने वाले भी वे ही हैं ॥९॥ हे नरव्याघ्र! आप आकाश में, भूमि में तथा शरीर में उत्पन्न होने वाले भयंकर उत्पातों को देखिये । ये उत्पात भय को उत्पन्न करने वाले हैं । इन से बुद्धि मोह को प्राप्त हो रही है ॥१०॥

सुबोधिनी—**यस्मादिति**। **लोकाः** स्वर्गादयः । राजसूयादिकरणादवगम्यन्ते। **हे नरव्याघ्रे**ति दर्शनमात्रेण न भयमिति सूचितम् । **उत्पाताः** अनिष्टसूचकानि निमित्तानि । त्रिविधान्यपि स्वतः क्रूराणि । अतोऽदूरादेव भयं शंसन्ति । बुद्ध्या हि भयं निवर्तयितुं शक्यते । इदं तु भयं बुद्धिमेव मोहयति ॥९॥१०॥

व्याख्यार्थ—जिन प्रभु श्री कृष्ण से हमें समृद्धि, राज्य, स्त्रियाँ, प्राण, कुल, प्रजा और उसी प्रकार शत्रुओं पर विजय प्राप्त हुई है और जिन प्रभु के उत्तम

अनुग्रह से हमें श्रेष्ठ लोक प्राप्त हुये हैं। जिन भगवान् की सहायता से हमने राजसूयादिक यज्ञ सम्पन्न किये हैं तथा स्वर्ग आदि लोकों के उपभोग का अवसर मिला है, ऐसे उन भगवान् के भूतल पर से पधारने का समय समीप आ गया है।

"हे मनुष्यों में व्याघ्र (बाघ) के समान श्रेष्ठ", ऐसा सम्बोधन भीमसेन के लिये देने का यह अभिप्राय है, कि जो तथ्य उत्पात के विषय में कहे जा रहे हैं, वे उत्पात देखने मात्र से ही भय उत्पन्न करते हैं, केवल इतना ही नहीं किन्तु वे अनिष्ट फलों को भी देने वाले हैं। अनिष्ट को सूचित करने वाले अपशकुन उत्पात कहलाते हैं। ये अपशकुन आकाश के, पृथ्वी के तथा शरीर सम्बन्धी तीन प्रकार के हैं। वे अपशकुन स्वयं में बड़े क्रूर हैं, इसलिये थोड़े समय में ही भय को बताने वाले हैं। बुद्धि से भय को दूर किया जा सकता है, पर यह भय तो बुद्धि को भी मोहित करने वाला है ॥९-१०॥

आभास—तत्राऽऽध्यात्मिकं निमित्तमाह—

आभासार्थ—इस प्रसंग में अब आध्यात्मिक अपशकुन कहे जा रहे हैं—

श्लोक—**ऊर्वक्षिबाहवो वामाः स्फुरन्त्यङ्ग पुनः पुनः।**
वेपथुश्चाऽपि हृदय आराद्दास्यन्ति विप्रियम् ॥११॥

श्लोकार्थ—मेरा वाम हृदय, बायाँ नेत्र और वाम भुजा बारबार फड़कती हैं तथा हृदय बार-बार काँपता है। इन लक्षणों से जाना जाता है, कि कुछ अप्रिय शीघ्र ही होने वाला है ॥११॥

सुबोधिनी—ऊर्वक्षीति। प्राण्यङ्गत्वेऽपि नैकवद्भावो भिन्नस्वभावत्वेन दोषज्ञापनार्थः। वेपथुः कम्पः। चकाराच्चिन्तादयः आरात् समीपे ॥११॥

व्याख्यार्थ—व्याकरण शास्त्र के नियम से 'ऊर्वक्षिबाहवः' बहुवचनान्त पद है। प्राणी का अंग होने से उसे एकवचन में होना चाहिये, उसके बजाय बहुवचन में लिखने का यह अभिप्राय है कि भिन्न-भिन्न स्वभाव से पृथक्-पृथक् दोषों को बताया गया है। हृदय काँप रहा है। मूल में च अव्यय दिया गया है, जिससे चिन्ता होना सूचित होता है। ये उत्पात थोड़े समय बाद ही बहुत बुरा फल देने वाले सिद्ध होंगे ॥११॥

आभास—भौतिकमनिष्टमाह—

आभासार्थ—अब आधिभौतिक उत्पातों के विषय में कहा जा रहा है—

श्लोक—**शिवैषोद्यन्तमादित्यमभिरौत्यनलानना ।**
मामङ्ग सारमेयोऽयमभिरौदित्यभीतवत् ।।१२।।
शस्ताः कुर्वन्ति मां सव्यं दक्षिणं पशवोऽपरे ।
वाहांश्च पुरुषव्याघ्र लक्षये रुदतो मम ।।१३।।
मृत्युदूतः कपोतोऽयमुलूकः कम्पयन्मनः ।
प्रत्युलूकश्च कुह्वानैरनिद्रो शून्यमिच्छतः ।।१४।।

श्लोकार्थ—सूर्य के सामने खड़ी होकर सियारिनें रोती हैं । वे मुख से आग उगलती हैं । हे अङ्ग (भीम) मेरे सामने बिना डरे कुत्ते खड़े होकर रोते हैं ।।१२।। श्रेष्ठ पशु गाय आदि तो मेरे बाईं ओर से निकलते हैं और गधे आदि हीन पशु दाहिनी ओर से निकलते हैं । हे पुरुष सिंह भीम ! मैं जब रथ पर सवार होता हूं तो घोड़े भी रोते हुए प्रतीत होते हैं ।।१३।। मृत्यु के दूत ये कपोत, काक, उलूक, श्वान रात को बोलते हैं । इनका बोलना विश्व को शून्य करना चाहता है । ऐसे कुलक्षणों को देखकर मेरा मन काँपता है ।।१४।।

सुबोधिनी—शिवेति । एषा इदानीमपि दृष्टिगोचरः । **अनलानना** स्वभावत एवाऽग्निमुखा । रौति परीत्य **रौतीत्यर्थः** । **सारमेय** श्वा । **अभि** परितः **रोदिति** दुष्टशब्दं करोति । मत्तो भयं न मन्यते । **शस्ता** अश्वादयः । **अपरे** गर्दभादयः । **वाहा** अश्वाः। चकाराद्गजादयः । **पुरुषव्याघ्रे**ति सम्बोधनं तस्य शङ्काभावसूचकम् । ममाऽप्यश्वाः सर्वसुखेन विद्यमाना अपि रोदनं कुर्वन्त इव लक्ष्यन्ते। अयं कपोतो **मृत्युदूतः** मृत्युसमीप आकारणाथमागतः । दक्षिणदेशादागत्य शब्दकरणा-दवसीयते । कपोतोऽयमित्यन्तं भिन्न वाक्यम् उलूकादि भिन्नम् । **प्रत्युलूकः** काकः । जातिविशेषो वा । चकारादन्येऽपि येषां शाश्वतिको विरोधः कुह्वैः (?) कुत्सितशब्दैः। न विद्यते निद्रा याभ्यां तौ । शून्यं जगदिच्छतः ।।१२।।१३।।१४।।

व्याख्यार्थ—अभी दिखाई देती हुई ये सियारिने स्वभाव से ही मुख में से अग्नि की लपटें उगल रही हैं । ये चारों ओर से चक्कर लगाती हुई रो रही हैं । कुत्ते मेरे सामने आकर घूमते हुए शब्द करते हैं और मेरा थोड़ा सा भी भय नहीं करते । पहले तो कभी इस प्रकार निर्भय होकर ये श्वान शब्द नहीं करते थे । घोड़े आदि

श्रेष्ठ पशु मेरी दाहिनी ओर से जाते हैं और गधे आदि हीन पशु मेरी बाँयी ओर से निकलते हैं। मेरे वाहन तथा गायें आदि भी रुदन करते हुए से लगते हैं। मूल में 'च' होने से गायों आदि का बोध होता है। मेरे कथन पर तुम्हें शंका नहीं है, यह बताने के लिए 'तुम पुरुषों में सिंह हो', ऐसा कहा गया है। मेरे घोड़े सब प्रकार से सुखी है, फिर भी जैसे रो रहे हों, ऐसे दिखाई देते हैं। दक्षिण दिशा की ओर से आकर कबूतर पक्षी शब्द करता है। कपोत मृत्यु का दूत है, यह मृत्यु के पास ले जाता है; ऐसा लगता है मानो यह मौत का बुलावा देने आया हो। उल्लू और कव्वा ये दोनों परस्पर विरोधी हैं अथवा उल्लू का विरोधी कोई 'प्रत्युलूक' नाम वाला जाति विशेष एक पक्षी, ये दोनों अमंगलकारी शब्द करते हैं। इन पक्षियों को नींद नहीं आती, इसलिए रात-दिन शब्द ही किया करते हैं, इससे यह जाना जाता है कि ये जगत् को शून्य बना देने की इच्छा करते हैं ॥१२॥१३॥१४॥

आभास—आधिदैविकमाह—

आभासार्थ—अब आधिदैविक अपशकुनों का वर्णन कहा जा रहा है—

श्लोक—**धूम्रा दिशः परिधयः कम्पते भूः सहाद्रिभिः ।**
निर्घातश्च महांस्तात साकं च स्तनयित्नुभिः ॥१५॥
वायुर्वाति खरस्पर्शो रजसा विसृजंस्तमः ।
असृग्वर्षन्ति जलदा बीभत्समिव सर्वतः ॥१६॥
सूर्यं हतप्रभं पश्य ग्रहमर्दं मिथो दिवि ।
ससङ्कुलैर्भूतगणैर्ज्वलिते इव रोदसी ॥१७॥
नद्यो नदाश्च क्षुभिताः सरांसि च मनांसि च ।
न ज्वलत्यग्निराज्येन कालोऽयं किं विधास्यति ॥१८॥

श्लोकार्थ—सब दिशाओं में धुआँ छा रहा है, मानो वह धुआँ ही पृथ्वी का परिधि बन गई है। पर्वतों सहित भूचाल हो रहा है। बिना बादलों के आकाश से गर्जने का शब्द आता है ॥१५॥ पवन धूलि लेकर आकाश को चढ़ता है। सारे नभ-मण्डल में रेत से अन्धकार छा रहा है। सब ओर से भयानक मेघ रुधिर बरसाते हैं ॥१६॥ स्वर्ग में सब ग्रह परस्पर लड़ते हैं। सूर्य कान्ति हीन दृष्टि आती है। यह देखो भूतगणों से व्याकुल होकर सारी पृथ्वी मानो आग के समान जल रही हो ॥१७॥

नदी और नद, ताल और सरोवर क्षोभ को प्राप्त हैं। घी डालने पर भी आग नहीं जलती। न जाने यह बुरा समय क्या कर दिखायेगा ॥१८॥

सुबोधिनी--**धूम्रा दिश इति**। धूमयुक्ता दिश एव परिधयः। मध्ये त्रैलोक्यं ज्वलदग्नि-रित्यर्थः। **निर्घातो** निरभ्रविद्युत्पातः। मेघाभावेऽपि गर्जितानि च। **खरस्तीक्ष्णः** स्पर्शो यस्य **रजसा** पांशुवृष्ट्या। **तमः** अन्धकारम्। **असृक्** रुधिरम्। **बीभत्समिव** विष्ठारूपमिव। **पश्येति** नाऽत्र तिरोहितमिव। ग्रहाणां शुक्रादीनां मर्द्दं **युद्धम्**। पश्येत्युभयत्र सम्बन्धः। **दिवि** आकाशे न तु शास्त्रमात्रे। सम्यक् संकुलैर्भूतप्रेतपिशाचादीनां गणैर्हेतुभिर्द्यावापृथिवी ज्वलिते इव। ते हि मध्ये स्थिता धातुका रुद्रगणा **उपर्यधश्च** ज्वालयन्तीवेत्यर्थः। वाय्वादिहेतुव्यतिरेकेणाऽपि क्षुभिताः पङ्किलावर्त्तमानजलाः। मनांसि चाऽस्मदादीनाम्। अग्निराज्येन न ज्वलति जलेनेव। एवं सर्व-स्याऽन्यथा कर्त्ता कालः किं विधास्यतीति न ज्ञायत इत्यर्थः ॥१५॥१६॥१७॥१८॥

व्याख्यार्थ—धुएं से दिशायें गोलाकार सीमा जैसी लग रही हैं अर्थात् मध्यभाग में तीन लोकों को जलाता हुआ अग्नि दिखाई देता है। बिना बादलों के ही बिज-लियां गिर रही हैं। यद्यपि मेघ नहीं हैं तो भी गर्जना हो रही है। जिसका स्पर्श भी सहन नहीं किया जा सकता ऐसा तीखा पवन चल रहा है। धूल की वृष्टि से वायु अंधकार को उत्पन्न कर रहा है। घृणा उत्पन्न करने वाले विष्ठा के समान खून की वृष्टि हो रही है। इस तेज से रहित सूर्य को तो देखो जो ढके हुए सा दिखाई दे रहा है। आकाश में शुक्र आदि ग्रहों का युद्ध हो रहा है। इसे भी तुम देखो। यह केवल शास्त्रों में पढ़ने वाली बात नहीं है, इस समय ये बातें आकाश में स्पष्ट दिखाई दे रही हैं। अथवा घात करने वाले रुद्र के गण मध्यभाग में रहते हैं वे ऊपर के और नीचे के भाग को जला रहे हैं। अधिक पवन चलने पर नदी, तालाब आदि का जल जिस प्रकार उछलने लगता है उसी प्रकार पवन के न चलने पर भी मिट्टी युक्त अर्थात् कम पानी वाली नदियाँ तथा जल वाली नदियाँ, तालाब तथा झरने उछलने लगे हैं अर्थात् क्षोभ को प्राप्त हो गए हैं। इन प्रकृति में हो रही घटनाओं के समान ही अपने मनों में भी खलबली मच रही है। जल से अग्नि कभी नहीं जलती, यह तो उचित सिद्धान्त हैं, परन्तु घी के डालने पर भी अग्नि प्रज्वलित नहीं हो रहा, यह उल्टी बात है। इस प्रकार प्रत्येक कार्य तथा पदार्थों की स्थितियों व गुण धर्मों में काल ने सब कुछ उलट कर रख दिया है। अब यह काल आगे क्या क्या करेगा? यह मेरी समझ में नहीं आता ॥१५-१६-१७-१८॥

आभास—तेषां निमित्तानामवान्तरफलमपि जातमित्याह–

आभासार्थ—अब उन अपशकुनों के अवान्तर फल (इनके अतिरिक्त फल) कहे जा रहे हैं--

श्लोक—**न पिबन्ति स्तनं वत्सा न दुह्यन्ति च मातरः ।**
रुदन्त्यश्रुमुखा गावो न हृष्यन्त्यृषभा व्रजे ॥१९॥
दैवतानि रुदन्तीव स्विद्यन्ति ह्युच्चलन्ति च ।
इमे जनपदा ग्रामाः पुरोद्यानाकराश्रमाः ।
भ्रष्टश्रियो निरानन्दाः किमघं दर्शयन्ति नः ॥२०॥

श्लोकार्थ—बछड़े गायों का दूध प्रसन्न होकर नहीं पीते। माता स्तनों से दूध नहीं छोड़तीं। गायें सूर्य के सामने खड़ी होकर रोती हैं। खिरकों में वृषभ प्रसन्नता से शब्द नहीं करते ॥१९॥ मन्दिरों में देवताओं की प्रतिमाएँ रो रही हैं। उन्हें पसीना आ रहा है और वे काँप रही हैं। देश, गाँव, शहर, पुर, कुए बाग-बगीचे, आश्रम इन सब की शोभा मलीन हो गई है। आनन्द रह ही नहीं गया है। न जाने ये सारी स्थितियाँ हमें किन पापों का परिणाम भुगवाएंगी ॥२०॥

सुबोधिनी—न पिबन्तीति क्षुधिता अपि वत्साः स्तनं न पिबन्तीत्यर्थः। **मातरो** गावः। सर्वेषामेव तद्दुग्धोपजीवनात्। न दुह्यन्ति दोहनं न कारयन्तीत्यर्थः। अश्रूणि मुखे यासाम्। **ऋषभाः** पुष्टा बलीवर्दाः। **दैवतानि** प्रतिमाः। **स्विद्यन्ति** स्वेदयुक्तानि भवन्ति। **उच्चलन्ति** देशान्तरे गच्छन्ति। भ्रष्टा श्रीर्येषाम्। निर्गत आनन्दो येभ्यः। **अघं** दुःखजनकं पापम्। **नः** अस्मभ्यम् ॥१९॥२०॥

व्याख्यार्थ—भूख लगी होने पर भी बछड़े स्तनपान नहीं कर रहे। गायों का दूध तो प्रत्येक का जीवन है, परन्तु गायें दूध नहीं दे रहीं। गायों के मुखपर्यंत आँसुओं की धाराएँ झर रही हैं। वृषभ अपने ब्रजों में (सांढों के रहने के स्थल) प्रफुल्लित नहीं दिखाई देते। देवताओं की प्रतिमाएं स्वेद से (पसीने से) युक्त हैं। अथवा दूसरे देश में आती जाती रहती हैं। दूसरे देश में चली जाती हैं। इन सब श्रेष्ठ स्थानों की शोभा सम्पदाएँ महिलाएँ अपना स्वत्व नष्ट कर चुकी हैं। आनन्द का भाव हृदयों को छोड़ चला है। दुःखों को उत्पन्न करने में कारणभूत पाप अब हमें क्या क्या पीड़ायें अनुभव करायेगा ॥१९-२०॥

आभास—एतेषां हेतुं सम्भावयति—

आभासार्थ—इन सब अपशकुनों, उत्पातों की घटनाओं की पीछे मूल कारण क्या हो सकता है ? इसको सम्भावनाओं को व्यक्त करते हैं—

श्लोक—**मन्य एतैर्महोत्पातैर्नूनं भगवतः पदैः ।**
अनन्यपुरुषश्रीभिर्हीना भूर्हतसौभगा ।।२१।।

श्लोकार्थ—इस भूमि की सुन्दरता इसलिए जाती रही कि यह श्री कृष्ण की छवि से तथा उनके चरण कमलों से रहित हो गई अतः सौभाग्य हीना हो गई । इन सब अपशकुनों को देखकर यही निश्चय होता है ।।२१।।

सुबोधिनी- मन्य इति । महोत्पातैर्हेतुभिः कृत्वा भूः पदैर्हीनेति मन्ये । न विद्यते अन्य-पुरुषेषु श्रीः ध्वजवज्रादिरूपा येषाम् । एवमन्वयव्यतिरेकाभ्यां सामीचीन्यं सर्वं भगवदन्वयात्सर्वमेवाऽनिष्टं तत्सान्निध्याभावादिति निरूपितम् ।।२१।।

व्याख्यार्थ—इन महान् उत्पातों के पीछे जो कारण है, वह निश्चय ही श्री कृष्ण के चरणों से इस भूमि का रहित हो जाना है । श्रीकृष्ण के अतिरिक्त किसी अन्य पुरुष के चरणों में भगवान् होने के चिन्ह स्वरूप श्री, ध्वजा, पताका आदि के चिन्ह नहीं होते । भगवान् के पधारने के साथ ही इस भूमि का ध्वजा पताकादि चरण चिन्हों से अंकित होना समाप्त हो गया, जिससे भूमि सौभाग्य हीना हो गई । ऐसा मेरी समझ में आया है । अन्वय अर्थात् कारणों की सत्यता सिद्ध करना । भगवान् के विराजमान् रहने तक सारी सौभाग्यमयी स्थितियों का बना रहना और उनके पधारने के साथ ही साथ लुप्त हो जाना यह अन्वय की स्थिति हुई । और व्यतिरेक कारण के अभाव से कार्य के अभाव की स्थिति सिद्ध करने का नाम है । पृथ्वी के सारभूत तत्त्व कृष्ण जो कारण रूप हैं उनका अभाव हो गया । जिससे भगवान् के गुण धर्म रूपी सौभाग्यादि कार्यों का भी अभाव हो गया, यह व्यतिरेक हुआ । अतः यह सब अनिष्ट प्रभु के विराजमान् न होने के कारण ही है । यह निरूपित हुआ ।।२१।।

आभास—सूचकानां शीघ्रफलत्वमाह—

आभासार्थ—अनिष्टों फलों को सूचित करने वाले अपशकुनों का परिणाम शीघ्र ही देखने में आ गया है, जिसे सूतजी कहते हैं—

सूत उवाच—श्लोक—इति चिन्तयतस्तस्य दृष्टारिष्टेन चेतसा ।
राज्ञः प्रत्यागमद्ब्रह्मन् यदुपुर्याः कपिध्वजः ॥२२॥
तं पादयोर्निपतितमयथापूर्वमातुरम् ।
अधोवदनमब्बिन्दून्मुञ्चन्तं नयनाब्जयोः ॥२३॥
विलोक्योद्विग्नहृदयो विच्छायमनुजं नृपः ।
पृच्छति स्म सुहृन्मध्ये संस्मरन्नारदेरितम् ॥२४॥

श्लोकार्थ—हे ब्रह्मन, जिस समय राजा युधिष्ठिर यह चिन्ता कर रहे थे, कि ये बुरे लक्षण क्या करेंगे ? उसी समय उनके पास यदुपुरी से अर्जुन आए ॥२२॥ वे आते ही नीचे की ओर मुख किये धर्मराज के चरणों में आँसू झरते नेत्र कमलों से व्याकुल हुए गिर पड़े ॥२३॥ राजा युधिष्ठिर ने जब यह देखा, कि उनका छोटा भाई अर्जुन कान्ति हीन हो गया है तथा हृदय अशान्त है, तब नारद के पहले कहे हुए वचनों का स्मरण करके अपने भाई-बन्धुओं के बीच में पूछने लगे ॥२४॥

सुबोधिनी—इति चिन्तयत इति । दृष्टमालोचनेनाऽरिष्टं येन । तादृशचेतसा । राज्ञः सतः । **यदुपुर्याः** द्वारकायाः । **कपिध्वज इति** शीघ्रागमनं सूचितम् । प्रतिकूलतयाऽऽगमनम् । आगत्य वचनादिकमनुक्त्वैव पादयोः पतितम् । सर्वदा यथाऽऽयाति न तथेत्ययथापूर्वम् । आतुरं विच्छायं (?) कृशम् । दुःखाविष्काराभावेऽपि बहुकालाभ्यासात्स्वत एवाऽब्बिन्दवो नेत्रकमलाभ्यां पतन्ति । कमलपदं (?) जलावरणसूचकम् । विगता च्छाया कान्तिर्यस्य । एतादृशेन सह सम्भाषणस्याऽनुचितत्वेऽप्यनुजत्वात्तथा । नृपत्वाद्बहुनिमित्तज्ञानम्। तेन न दर्शनमात्रेण भाव्यर्थनिश्चयज्ञानमिति पृच्छति । सुहृदां मध्ये एकान्ततुल्ये । दृष्टश्रुताभ्यामनिष्टशङ्का । अनेनाऽर्जुनतुल्योऽयमपीत्युक्तं भवति । **स्मेति** प्रसिद्धे । अनेन सर्वजनीन तस्य भगवत्परत्वमित्युक्तम् ॥२२॥२३॥२४॥

व्याख्यार्थ—युधिष्ठिर ने अपनी ज्ञान दृष्टि से होने वाले बुरे फलों को जान लिया है । इस प्रकार के विषय में जब राजा अपने चित्त में यह चिन्ता कर ही रहे थे, कि उसी समय द्वारका से अर्जुन आ गये । अर्जुन की ध्वजा में वानर (हनुमान) होने से वे शीघ्रता से आये हैं, यह सूचित हुआ । वे विपरीत परिस्थित से आए हैं अतः बिना कुछ बोले युधिष्ठिर के पैरों में गिर गये । अन्य समयों की तरह अर्जुन के इस बार आने में पहले के समान व्यवहार व भाव नहीं था, जैसा कि पहले बाहर जाकर वापस लौटने पर दिखाई देता था । अतः अर्जुन आतुर तथा दुर्बल दिखाई दे रहे हैं । यद्यपि उन्होंने अपने दुःख को प्रकट नहीं किया है, तदपि बहुत समय से हृदय में दुःख भरा होने

से वह नेत्र कमलों में अश्रुधारा बन बह चला। कमल जल के आवरण रूप हैं, उसी प्रकार नेत्र रूपी कमलों ने अश्रु जल को रोके रखा था, वह प्रवाहित हो गया। यह बताने के लिये 'नेत्र कमल' शब्द का प्रयोग हुआ है। अर्जुन की चमक नष्ट हो गई है अतः कान्ति हीन व्यक्ति से वार्तालाप करना उचित नहीं है। परन्तु छोटा भाई होने से राजा युधिष्ठिर अर्जुन से बात करते हैं। राजा होने से उन्हें कई कारणों का ज्ञान है। फिर भी केवल देखने से भविष्य के अर्थ का निश्चयात्मक ज्ञान नहीं हो सकता, इसलिये पूछते हैं। ये बातें वे सम्बन्धियों के बीच में पूछी जा रही हैं, इसका अभिप्राय यह है कि वह स्थान लगभग एकान्त जैसा ही है। देखने के कारण अथवा सुनने से, युधिष्ठिर के मन में किसी बुरा हो जाने की शंका हो गई है, इसी से अर्जुन के साथ हो युधिष्ठिर भी तेज रहित हो गये, यह तात्पर्य हुआ। यह प्रत्येक मनुष्य के बीच प्रसिद्ध है, कि युधिष्ठिर भगवान् में निरन्तर पूर्ण भावना से संलग्न रहते हैं, यह स्पष्ट करने के लिये मूल में 'स्म' अव्यय का प्रयोग किया गया है ॥२२-२३-२४॥

युधिष्ठिर उवाच-श्लोक—**कच्चिदानर्त्तपुर्यां नः स्वजनाः सुखमासते।**
मधुभोजदशार्हार्हसात्त्वतान्धकवृष्णयः ॥२५॥

श्लोकार्थ—हे भाई (अर्जुन), द्वारकापुरी में हमारे परिवार के व्यक्ति सुख पूर्वक रहते हैं न? मधु, भोज, दशार्ह, अर्ह, सात्त्वत, अन्धक, वृष्णि यादव समूह सभी प्रसन्न मन हैं न? ॥२५॥

सुबोधिनी--आनर्त्तपुरी द्वारका। ये पूर्वं रक्षकत्वेन षड्विधा उक्तास्ते सुखिनः कच्चित्। ते चेत्सुखिनस्तदा मूलस्वास्थ्यं स्वयमेव ज्ञातं भविष्यतीति प्रश्नः ॥२५॥

व्याख्यार्थ—जिन छह प्रकार के यादवों का वर्णन ग्यारहवें अध्याय में द्वारका की रक्षा करने वालों के रूप में वर्णन किया जा चुका है वे छह प्रकार के यादव कुल कुशल तो हैं न? यदि वे सुखी होंगे तो द्वारका में रहने वाले अन्य यादवों की कुशलता अपने आप जानने में आ जायेगी। ऐसा विचार कर युधिष्ठिर प्रश्न करने लगे ॥२५॥

आभास—तान् सामान्यतः पृष्ट्वा विशेषेण पृच्छति—

आभासार्थ—इस प्रकार सामान्य यादवों की कुशलता पूछने के बाद अब विशेष प्रकार के सम्बन्धियों की कुशलता पूछते हैं—

श्लोक—**शूरो मातामहः कच्चित्स्वस्त्यास्ते वाऽथ मारिष ।
मातुलः सानुजः कच्चित्कुशल्यानकदुन्दुभिः ॥२६॥
सप्त स्वसारस्तत्पत्न्यो मातुलान्यः सहात्मजाः ।
आसते सस्नुषाः क्षेमं देवकीप्रमुखाश्च ताः ॥२७॥
कच्चिद्राजाऽऽहुको जीवत्यसत्पुत्रोऽस्य चाऽनुजः ।
हृदीकः ससुतोऽक्रूरो जयन्तगदसारणाः ॥२८॥
आसते कुशलं कच्चिद्ये च शत्रुजिदादयः ।
कच्चिदास्ते सुखं रामो भगवान् सात्त्वतां प्रभुः ॥२९॥
प्रद्युम्नः सर्ववृष्णीनां सुखमास्ते महारथः ।
गम्भीररयोऽनिरुद्धो वर्द्धते भगवानुत ॥३०॥
सुषेणश्चारुदेष्णश्च साम्बो जाम्बवतीसुतः ।
अन्ये च कार्ष्णिप्रवराः सपुत्रा ऋषभादयः ॥३१॥
तथैवाऽनुचराः शौरेः श्रुतदेवोद्धवादयः ।
सुनन्दनन्दशीर्षण्या ये चाऽन्ये सात्त्वतर्षभाः ॥३२॥
अपि स्वस्त्यासते सर्वे रामकृष्णभुजाश्रयाः ।
अपि स्मरन्ति कुशलमस्माकं बद्धसौहृदाः ॥३३॥**

श्लोकार्थ—आदरणीयों में श्रेष्ठ शूर नाना, वसुदेव तो प्रसन्न हैं ? भाईयों सहित मामा कुशल हैं न ? ॥२६॥ सातों बहनें तथा उनकी बहुएं, हमारी मामी, पुत्र वधु सहित देवकी आनन्द में तो हैं न ? ॥२७॥ राजा आहुक, देवक भाई सहित जिसका पुत्र असद् है, वे अभी जीते हैं न ? हृदीक, पुत्र सहित अक्रूर, जयन्त, गद, सारण मंगल का अनुभव करते हैं न ? ॥२८॥ शत्रुजित् आदि मुदित होंगे ? भगवान् सात्त्वतों के प्रभु श्री बलदेवजी भली प्रकार से तो हैं न ? ॥२९॥ सब वृष्णियों में महारथी प्रद्युम्न तो सुखी हैं ? भगवान् के समान ही महा गम्भीर वेग वाले अनिरुद्ध जी कुछ बड़े हुए हैं या अभी छोटे ही हैं ॥३०॥ सुषेण, चारूदेष्ण, जाम्बवती पुत्र साम्ब और सब श्री कृष्ण सुत, पुत्रों सहित ऋषभादिक आनन्दित तो हैं

न ? ॥३१॥ श्री कृष्ण के अनुचर श्रुतदेव, उद्धव आदि, सुनन्द, नन्द जो यादवों में श्रेष्ठ हैं ॥३२॥ श्री राम कृष्ण की भुजा से पालित वे सब प्रसन्न हैं ? जिन्होंने हमसे आत्मीयता की है, वे सब कुशलता पूर्वक हैं न ? ॥३३॥

सुबोधिनी—शूर इति। मारिषः शूरः। सम्बोधनं वा। वाशब्देन वृद्धत्वात्तदकौशलेऽपि न चिन्तेति सूचितम्। अत एव पूर्ववैलक्षण्याय अथ अग्रिमाणां कुशलमपेक्ष्यत एव। **आनकदुन्दुभिरिति** भाग्यवत्त्वं सूचितम्। **सहात्मजा इति** समस्तं पदम्। पर न सादेशः। **आहुकः** पितृनाम्ना निरूपित उग्रसेनः। असन् पुत्रो यस्य। अविद्यमानपुत्रो वा। अत एव दुःखापनोदार्थं राज्येऽधिकृतः। हृदीकः ससुतः। अक्रूरोऽपि। जयन्तादयो भ्रातरः। सर्वे नवमे स्पष्टा भविष्यन्ति। रामो बलभद्रः। सर्वेषां सौख्यं तन्मूलकमिति ते त्रयी भिन्नतया स्वातन्त्र्येण निरूप्यन्ते। बलभद्रः प्रद्युम्नोऽनिरुद्धश्च भगवानिति महारथ इति भगवानिति च। सुदेष्णादयः पुत्राः। **कार्ष्णिप्रवराः** कृष्णपुत्राः प्रवरा येषाम्। प्रद्युम्नादिमित्राणि। ऋषभादयः कार्ष्णिषु वा प्रवराः **शौरेः** भगवतः। सुनन्दनन्दौ शीर्षण्यौ श्रेष्ठौ येषाम्। भगवदीयत्वेन तेषां प्रश्न इत्यभिप्रायेणाऽऽह–तेऽपि स्वस्त्यासत इति। रामपदमावेशाभिप्रायेण प्रतीत्यभिप्रायेण वा। यथा तेषां कुशलमस्माभिः स्मर्यते तथा तेऽप्यस्मत्कुशलं स्मरन्तीति सम्भावना। अनेन कुशलं सकार्यं पृष्टम्। स्वयमतिकुशलाः परकुशलं स्मरन्तीति ॥२६॥२७॥२८॥२९॥३०॥३१॥३२॥३३॥

व्याख्यार्थ—अपने नाना शूर कुशल तो हैं ? शूर की कुशलता पूछने में 'वा' अव्यय दिया गया है, जिसका अभिप्राय यह है, कि वे बूढे हो चले हैं, यदि वे कुशल न भी हो तो विशेष चिन्ता को बात नहीं है, इसलिये सर्व प्रथम उनकी कुशलता पूछी गई है। विलक्षणपना बताने के लिये मूल में अथ अव्यय दिया गया है। अतः अब जिन जिन के विषय में प्रश्न किये जायेंगे, उनकी कुशलता होना आवश्यक है। वसुदेव जी को 'आनक दुन्दुभि' कहा गया है, इसका तात्पर्य उनके जन्म के समय 'आनक और दुन्दुभि' की ध्वनियाँ अपने आप होने लगी थी। इससे वे भाग्यशाली थे, यह सूचित किया गया है। 'सहात्मजाः' यह समस्त पद है, परन्तु यहाँ 'सह' अव्यय का 'स' ऐसा आदेश नहीं हुआ है। उग्रसेन के पिता का नाम आहुक है, परन्तु उनके जीवित न होने की स्थिति में उग्रसेन को आहुक कहा गया है। उग्रसेन का पुत्र दुष्ट था अथवा पुत्र रहित हो गया था, इसलिये उसकी दुःख निवृत्ति के लिये भगवान् ने उग्रसेन को राज्य का अधिकार दिया है। यादव हृदीक और अक्रूर भी अपने पुत्रों के साथ आनन्द में होंगे ? उनके भ्राता जयन्त आदि प्रसन्न हैं न ? ये सारे यादव नवम् स्कन्ध में विस्तार से कहे जायेंगे। राम अर्थात् बलभद्र जो को कुशलता पूछने का यह कारण है कि बलदेवजी अनिरुद्ध जी और प्रद्युम्नजी, इन तीनों

के कारण ही सबको सुख उत्पन्न होता है, इसलिए तीनों को ही भिन्न रूप से अथवा स्वतन्त्र प्रकार से निरूपित किया गया है। इसमें भी बलदेवजी तथा अनिरुद्धजी को 'भगवान्' विशेषण से विभूषित किया गया है। प्रद्युम्नजी को महारथी कहा गया है, वे प्रत्येक यादव को सुखी बनाने में कारण रूप हैं। श्रीकृष्ण भगवान् के पुत्र जिन में मुख्य हैं, ऐसे प्रद्युम्न जी के मित्र सुषेण, ऋषभ आदि की कुशलता कैसी है? भगवान् के अनुचरों में, जिनमें सुनन्द और नन्द श्रेष्ठ हैं, ऐसे भगवदीयों की कुशलता के विषय में पृथक् से पूछा गया है। इन सभी को बलदेवजी तथा श्री कृष्ण की भुजाओं के आश्रित बताया गया है। बल देवजी में भगवान् का आवेश है अथवा जिससे सबको इस बात की प्रतीति (विश्वास) हो, उस प्रकार रहते हैं। जिस प्रकार हम उनकी कुशलता के विषय में स्मरण कर रहे हैं, वे भी हमारी कुशलता के विषय में उसी प्रकार स्मृति बनाए हुये हैं न? ऐसी संभावना की गई है। जो अत्यधिक कुशलता से होते हैं वे दूसरों की कुशलता, स्मरण अवश्य करते हैं। ऐसे कथन से उन की कुशलता स्वतः ही सिद्ध हो जाती है ॥२६-२७-२८-२९-३०-३१-३२-३३॥

आभास—भगवतः कुशलप्रश्नस्य कर्त्तुमयुक्तत्वेऽपि बहूनां रक्षणीयत्वेनोपस्थितत्वादाराध्यानां ब्राह्मणानां कालवशेनोत्पथानां रक्षणवैयग्र्यसम्भवाद्भक्तानामपि तथात्वाच्च शत्रुवधार्थमन्यत्र गमनसम्भावनाद्बहिर्मुखानां यादवानां परस्परं कलहसम्भावनाच्च भगवत्त्वेऽपि प्रकारविशेषं पृच्छति—

आभासार्थ—भगवान् को कुशलता पूछना उचित नहीं है। क्योंकि यह भी हो सकता है कि भगवान् दूसरे बहुत से देशों की रक्षा करने वाले होने से, उन से आराधना किये जाने योग्य ब्राह्मणों के कलियुग से प्रभावित हो जाने पर तथा पाखण्ड मार्ग का अनुसरण करने वालों की रक्षा करने में व्यग्र हो गये हों ऐसी संभावना के साथ भक्तों के भी काम के वशीभूत हो जाने पर, उनके काम निवारणार्थ व्यग्र होकर शत्रुओं का वध करने के लिये कहीं अन्यत्र पधार गये हों, यह संभावना की गई है। बहिर्मुख यादवों में परस्पर कलह हो जाने की सम्भावना को लेकर भगवान् की कुशलता को अब विशेष प्रकार से पूछा जा रहा है—

श्लोक—**भगवानपि गोविन्दो ब्रह्मण्यो भक्तवत्सलः।**
कच्चित् पुरे सुधर्मायां सुखमास्ते सुहृद्वृतः ॥३४॥

श्लोकार्थ—ब्राह्मणों की रक्षा करने वाले भगवान्, भक्तों का पालन करने वाले गोविन्द भी द्वारका पुरी में सम्बन्धियों से घिरे हुए सुधर्मा सभा में सुख पूर्वक विराजते हैं न ? ।।३४।।

सुबोधनी—भगवानपीति । गोविन्दः अस्मदादीनामिन्द्रः । **ब्रह्मण्यः** ब्राह्मणहितः । भक्तेषु वत्सलः । **पुरे** द्वारकायाम् । सुधर्मायां सभायाम् । **सुहृद्वृतः सुखमास्त इति ।** सुहृदां सुखं कुर्वन्नास्त इत्यर्थः । स्यमन्तकप्रसङ्गवदसुखसम्भावनात् ।।३४।।

व्याख्यार्थ—भगवान् गोविन्द होने से हम सब के इन्द्र हैं वे ब्रह्मण्य होने से ब्राह्मणों का हित करने वाले हैं, इसलिये उनके बाहर पधार जाने की सम्भावना से यह पूछा गया है, कि वे द्वारकापुरी में ही विराजमान् हैं न ? सुधर्मा सभा में विराजे होने का प्रश्न भी इसीलिये किया गया है, कि जो यादव बहिर्मुख हैं, उनका हित करने के लिये वे सम्बन्धियों से घिरे हुये सुखपूर्वक विराजमान् हैं न ? सम्बन्धी रूप भक्तों को जिससे सुख हो, इस रीति से भगवान् के विराजने के अभिप्राय को सूचित किया गया है । कारण कि स्यमन्तक मणि के प्रसंग में भगवान् को श्रम हुआ है, इसलिये भक्तों को उससे कष्ट हुआ है, ऐसी संभावना से यह प्रश्न पूछा गया है ।।३४।।

आभास—किमनेन प्रश्नेत्यत आह—

आभासार्थ—इस प्रकार का प्रश्न करने का क्या प्रयोजन है ? अर्जुन यदि ऐसी शंका करें, तो युधिष्ठिर कहते हैं—

श्लोक—**मङ्गलाय च लोकानां क्षेमाय च भवाय च ।**
आस्ते यदुकुलाम्भोधावाद्योऽनन्तसखः पुमान् ।।३५।।

श्लोकार्थ—लोकों के मंगल रूप, कल्याण करने वाले, लोकों की उत्पत्ति करने वाले, अनन्त के सखा रूप, आद्य पुरुष भगवान् यदुकुल रूपी समुद्र में विराजते हैं ।।३५।।

सुबोधिनी-मङ्गलाय चेति। भगवतो यद्द्वारकायां निवसनं तत्सर्वप्राणिनां विशेषतो द्वारकावासिनां मङ्गलाय। निविष्टपदरक्षणाय च आधिक्याय च। ननु यदि तेषां भाग्यं मङ्गलजनकं न भवेत्तदा किं भगवत्स्थित्या । तत्राऽऽह—**आद्य इति** । मूलकारणभूतः इत्यर्थः । "**कालं कर्म स्वभावं च**" ति

वाक्यात्सृष्टिसमये भगवता कार्यार्थं परिगृहीता: कालादय:। ततो जीवान् सृष्ट्वा तेभ्योऽदृष्टरूपं कर्म विभक्तम्। अतस्ते तादृशा एव। अथवा। यथापूर्वं विभक्ता इदानीमपि स्वेच्छया विभज्यन्ते। तस्यैव विभाजकत्वात्। ननु कालेन यथास्थानस्थिता: सर्वेऽपकृष्यन्ते। तद्भगवता कथं क्षेम:। तत्राऽऽह—**अनन्तसख इति।** अनन्त: कालस्तस्य सखा। अनेन भगवदभिप्रेततस्य स्थानं नाऽपकर्षतीत्युक्तम्। ननु प्राकृतस्योद्भव: पूर्वमेव सिद्धो यथाप्रकृतिपरिणामम्। कथमिदानीमुद्भवो भवेत्। तत्राऽऽह—**पुमानिति।** पुरुषाधिष्ठानैव नित्या प्रकृतिस्तथा परिणमति। तस्येदानीमपि विद्यमानत्वादुद्भवेन परिणता भविष्यतीत्यर्थ:। अतो भगवत्स्थितेरेतदर्थत्वात्कार्यं कुर्वंस्तिष्ठति नवेति प्रश्न:। "**न ह्यस्य कर्हिचिद्**" ति वाक्याद् द्वितीय: पक्ष: स्थितौ क्लेशाभावाश्च ध्वनिना सूचित:। अम्भोधावनन्तसख इति शेषशायी समुद्रे तिष्ठतीत्यर्थ: ॥३५॥

व्याख्यार्थ—भगवान् का द्वारका पुरी में निवास, सभी प्राणियों के मंगल के लिये हैं, विशेष करके द्वारका वासियों के मंगल के लिये है। मिले हुए पद की रक्षा और उसे विकसित बनाने के लिये है। यदि उन द्वारका वासियों के भाग्य में मंगल हो ही नहीं, तो भगवान् के विराजने की स्थिति से भी क्या? तो इस प्रसंग में कहा है, कि वे 'आद्य' हैं अर्थात् सारी सृष्टि के मूल कारण हैं। "कालं कर्म स्वभावं चेति," इस वाक्य से सृष्टि के समय में भगवान् ने कार्य करने के लिए काल आदि को अंगीकार किया तदनन्तर जीवों को उत्पन्न करके उन्हें न दिखाई देने वाले कर्म का विभाग किया। इसलिये वे उसी रूप वाले हो गये। अथवा दिखाई देने लगे। अथवा जिस पहले जगत् रचना काल में जीवो का और पदार्थों का विभाग किया था, इस समय अवतार दशा में भी स्वेच्छापूर्वक विभाग कर रहे हैं। क्योंकि उनमें विभाजकत्व शक्ति है। जब कि स्थिति यह है, कि काल के द्वारा यथा स्थान स्थिति सभी को बल पूर्वक खींच लिया जाता है या हटा दिया जाता है तो भगवान् द्वारा मंगल करने वाली बात कैसे सिद्ध हुई? इस प्रसंग में कहते हैं, कि वे 'अनन्त सख' अर्थात् अनन्त के मित्र हैं, काल के सखा हैं। अत: भगवान् के इच्छित स्थान का काल अपकर्षण नहीं कर सकता। इस प्रकार तो प्राकृत का ही उत्पन्न होना पहले सिद्ध हुआ और उसी प्रकार प्रकृति के परिणामों का भी होना सूचित हुआ। फिर अब दुबारा से प्रकृति के विपरीत परिणामों का किस प्रकार उत्पन्न होना सम्भव हुआ? इस प्रसंग में स्पष्ट किया जा रहा है, कि उन्हें 'पुमान्' कहा गया है। पुरुष का अधिष्ठान होने से ही प्रकृति नित्यता के परिणाम को प्राप्त है। पुरुष से रहित तो वह अनित्या है। इसलिए इस अवतार दशा में भी प्रभु के विद्यमानपने से पुरुष की इच्छानुसार ही परिणाम को प्राप्त होगी। इसलिए भगवान् की स्थिति इन मंगल,

रक्षण, भाग्योदयादि कार्यों को करते हुए विराजमान रहने की है अथवा नहीं ? यह प्रश्न हुआ । "न ह्यस्य कर्हिचिदिति" इस वाक्य से दूसरे पक्ष मंगल की स्थिति का होना तथा क्लेशों के अभावों का होना सूचित हुआ । जिस प्रकार क्षीरसागर में भगवान् शेष जी पर स्थित हैं, 'अनन्त सख' हैं, उसी प्रकार यादव कुल रूपी समुद्र में भगवान् कृष्ण के विराजने की स्थिति को वर्णित किया है ॥३५॥

श्लोक—**यद्बाहुदण्डगुप्तायां स्वपुर्यां यदवोऽर्चिताः ।**
क्रीडन्ति परमानन्दं महापौरुषिका इव ॥३६॥

श्लोकार्थ—जिन भगवान् कृष्ण के भुजा रूपी दण्ड से रक्षा की गई द्वारकापुरी में यादव पूजित होकर वैकुण्ठनाथ के पार्षदों की भाँति परम आनन्द में क्रीड़ा करते हैं ॥३६॥

सुबोधिनी—एतस्मिन्नर्थे निदर्शनमाह पुरुषाणां स्त्रीणां च श्लोकद्वयेन क्रमेण । द्वारकायां सर्वे यादवाः स्मर्चिता एव तिष्ठन्ति । चोरदृष्टिशत्रुभयाभावात् । देशभयाभावात्–**स्वेति** । कार्यान्तराभावात् क्रीडन्ति । भोजनशयनादिकमपि क्रीडात्वेन कुर्वन्ति । परमानन्दो यथा भवति तथा। यथा परस्परं क्रीडाकर्तॄणां स्वरूपं क्रीडायां विनियुज्यते तथा परमानन्दं परस्परार्थे विनियुञ्जत इत्यर्थः । भगवत्यात्मीयत्वस्य दृढत्वाद्भगवत्कृतमात्मकृतमेव मन्यमाना महापौरुषयुक्ता इव निःशङ्काः क्रीडन्तीत्यर्थः ॥३६॥

व्याख्यार्थ—इस अर्थ के प्रसंग में पुरुषों तथा स्त्रियों के लिए क्रमशः दो श्लोकों में स्पष्टीकरण दिया है । द्वारकापुरी में सब यादव पूजित हैं । चोरों की दृष्टि तथा शत्रुओं का डर न होने से वे सब भांति सम्मानित तथा प्रतिष्ठित हैं । भगवान् के भुजदण्ड से रक्षित होने के कारण उन्हें देश पर आक्रमण आदि का भी भय नहीं है, अतः वे पुजित हैं । कोई भी कार्य उनके पास न होने से वे क्रीड़ाएँ करते हैं । यहाँ तक कि भोजन, शयन आदि कार्य भी वे क्रीड़ा भाव से ही करते हैं । उनकी ये क्रीड़ाएँ परमानन्द की प्राप्ति के लिए हैं । जिस प्रकार क्रीड़ा करने वाले अपने रूप को खेल में ही लगा देते हैं उसी प्रकार वे परस्पर परमानन्द रूप ही बन गए हैं । भगवान् में आत्मीयता के दृढ़ होने से उनके द्वारा किये गए कार्य को अपने ही द्वारा किया हुआ मानते हुए, महापौरुष से युक्त बने हुए निर्भय होकर क्रीड़ा करते हैं ॥३६॥

आभास—स्त्रीणामपि तथात्वमाह—

आभासार्थ—अब स्त्रियों का दृष्टान्त दिया जा रहा है—

श्लोक—**यत्पादशुश्रूषणमुख्यकर्मणा**
सत्यादयो द्व्यष्टसहस्रयोषितः ।
निर्जित्य सङ्ख्ये त्रिदशांस्तदाशिषो
हरन्ति वज्रायुधवल्लभोचिताः ।।३७।।

श्लोकार्थ—जिन भगवान् श्री कृष्ण के चरण कमलों की सेवा करना ही सत्य भामा आदि रानियों का मुख्य कर्म बन गया है; ऐसे भगवान् सोलह सहस्त्र स्त्रियों को युद्ध में जीतकर लाये । वज्र आयुध वाले इन्द्र की पत्नी के द्वारा ही भोग्य पारिजात को देवताओं सहित इन्द्र से युद्ध में जीतकर ले आये ।।३७।।

सुबोधिनी—**यत्पादेति** । पादशुश्रूषणमेव मुख्यं कर्म । अन्यत्तु लौकिकम् । लौकिकापेक्षया विहितस्यैव मुख्यतया करणात्स्वर्गे भोक्तव्ये धर्मपरित्यागेन भोगो मा भवत्विति विषयबलादत्रैव स्वर्गमानयन्ति । **सत्या** सत्यभामा । तस्याः प्रियत्वप्रसिद्धेस्तद्भावमेवाऽन्या अपि शिक्षन्तीति सत्यादय इत्युक्तम् । द्व्यष्टानां सहस्त्राणां समाहारः । स्त्रीत्वविवक्षाभावान्न ङीप् । त्रिदशान् स्वयं निर्जित्येति स्वेच्छया गरुडप्रेरणयाऽवगम्यते । स्त्रीणां स्त्रीकर्तृकभोगः स्वर्ग एव वाञ्छित इति—**वज्रायुधवल्लभोचिता** इत्याह । वज्रायुधस्य इन्द्रस्य वल्लभा इन्द्राणी । तस्या उचितं पारिजातादि ।।३७।।

व्याख्यार्थ—जिन सत्य भामा आदि रानियों का श्री कृष्ण के चरण कमलों की सेवा करना ही मुख्य कर्म है, अन्य तो सब लौकिक हैं । लौकिक की अपेक्षा आत्मा के लिए निश्चय किया हुआ धर्म करने से ही स्वर्गादि भोगे जाते हैं । धर्म परित्याग करने पर स्वर्ग के भोग नहीं होते । अतः परमधर्म श्री कृष्ण के चरणारविन्दों की सेवा के प्रमेय बल से स्वर्ग को ही अपने महल के प्राङ्गण में ले आई हैं । सत्य भामा जी का श्री कृष्ण की अतीव प्रिया होना प्रसिद्ध है । हम सब रानियाँ भी सत्य भामा जी के समान ही श्री कृष्ण की प्रिय बन जावें, ऐसी प्रेरणा उन्हें मिलती हैं, अतः 'सत्यादयः' कहा गया है । क्योंकि उनके आठ-आठ हजार के दो समूह अर्थात् सोलह हजार रानियाँ अन्य भी तो हैं । स्त्रीत्व शब्द की व्याख्या के अभाव में यहां ङीप् प्रत्यय का प्रयोग नहीं हुआ है । सत्य भामा जी पर विशेष प्रीति को इसलिए भी जाना जाता है, कि उनके प्रेम से वे गरुड़ जी को प्रेरित करते हुए अपनी इच्छा से देवताओं सहित इन्द्र को स्वयं जीतकर पारिजातादि वृक्ष को द्वारका ले आये ।

स्त्रियों के लिये प्राप्य भोग स्वर्ग आदि ही है। 'वज्रायुध वल्लभोचिता' ऐसा जो कहा गया है, वह इसलिये कि वज्र को धारण करने वाले इन्द्र की वल्लभा अर्थात् उसकी रानी शची इन्द्राणी के ही भोग योग्य जो पारिजातादि हैं तथा अन्यों से जो कभी नहीं भोगे जा सकते, ऐसे स्वर्गिक भोगों को श्री कृष्ण ने सत्यभामा को प्रदान किये। इस प्रकार इस लोक व परलोक के सुखों को श्रीकृष्ण की पत्नियाँ सत्यभामादि भोग रही हैं ॥३७॥

आभास—एवमैहिकामुष्मिके एकत्र भुञ्जत इत्युक्तम्। पुरुषाणाँ त्वामुष्मिकस्याऽनुक्तत्वात्सत्यादिवदेकीकृत्य भोगासम्भवादामुष्मिकं पृथगाह—

आभासार्थ—सत्यभामा आदि स्त्रियों को इस लोक तथा परलोक का सुख साथ-साथ ही मिल रहा है, ऐसा कहा गया है। उस प्रकार से पुरुषों को परलोक मिलने की स्थिति का वर्णन पहले नहीं किया गया, क्योंकि सत्यभामा आदिकों के समान उन्हें उस प्रकार के भोग मिलना सम्भव नहीं है। अतः पुरुषों के प्रसंग में परलोक के सुख भोग की स्थिति का वर्णन पृथक् प्रकार से कहा जा रहा है—

श्लोक—**यद्बाहुदण्डाभ्युदयानुजीविनो**
यदुप्रवीरा ह्यकुतोभया मुहुः।
अधिक्रमन्त्यङ्घ्रिभिराहृतां बला-
त्सभां सुधर्मां सुरसत्तमोचिताम् ॥३८॥

श्लोकार्थ—जिन यादवों का जीवन भगवान् के बहुदण्डों के प्रताप से ही है, उन को किसी भी प्रकार का भय नहीं है। स्वर्ग से लाई गई इन्द्रादि के ही योग्य सुधर्मा सभा में यादवगण बैठकर अपने चरणों से बार-बार बलात् अधिक्रमित करते हैं (पाँवों से ठोकरें मारते हैं) ॥३८॥

सुबोधिनी—**यद्बाहुदण्डाभ्युदयानुजीविन इति।** अन्यः स्वर्गतुल्यो विषयः स्वतः सिद्धः। सभा परं न्यूनेति तद्भोगमाह। बाहुदण्डयोरभ्युदयः सर्वोत्कर्षस्तमनु जीवनं यस्य येषाम्। न यदुश्रेष्ठत्वेन निर्भयत्वम्। किन्तु सेवकत्वेन। स्वर्गे हि देवाः सकृत (?) स्नातास्तस्यां सभायां सकृदुपविशन्ति पादावस्पर्शयित्वा। तादृशीं सभां मुहुरङ्घ्रिभिराक्रमन्ति। तत्राऽपि बलात्। न हि लौकिकक्रियया सा लभ्या। शताश्वमेधकर्तृलभ्यत्वात्। तदाह—**सुरसत्तमोचितामिति।** सुरसत्तमा इन्द्रादयः ॥३८॥

व्याख्यार्थ—यादवों के लिये अन्य स्वर्ग तुल्य विषय स्वतः सिद्ध हैं। सभा का भोग तो उनके लिये बहुत न्यून है। बाहुदण्ड का अभ्युदय सब की उन्नति करने वाला है, उस पर ही सब का जीवन अवलम्बित है। यादव श्रेष्ठ हैं, इसलिये निर्भय नहीं है किन्तु भगवान् के सेवक हैं, इसलिये निर्भय हैं। स्वर्ग में देवता भी केवल एक बार स्नान करके ही उस सुधर्मा सभा में चरणों से स्पर्श न करते हुए ही बैठते थे, ऐसी उस सभा में यादव गण बार-बार बैठते हुए पैरों से आक्रमण करते हैं। वहां भी उस सुधर्मा सभा को श्रीकृष्ण द्वारा बल पूर्वक स्वर्ग से द्वारका में लाया गया है। वह सभा लौकिक प्रयत्नों से प्राप्त, नहीं हुई है, वह तो सौ अश्वमेध यज्ञों से प्राप्त होने योग्य है। जिस सभा को देवताओं में उत्तम इन्द्रादि देवता ही भोगा करते थे, श्री कृष्ण के प्रताप से यादव गण उसे भोगने लगे ॥३८॥

आभास—एवं सर्वान् पृष्ट्वाऽर्जुनगतवैक्लव्यहेतूनुद्भावयति—

आभासार्थ—इस प्रकार सब पूछ चुकने पर अब अर्जुन की व्याकुलता के कारणों को पूछते हैं—

श्लोक—कच्चित्तेऽनामयं तात भ्रष्टतेजा विभासि मे ।
अलब्धमानोऽवज्ञातः किं वा तात चिरोषितः ॥३९॥

श्लोकार्थ—हे भाई, तुम स्वस्थ तो हो न ? तुम मुझे तेज रहित लगते हो। कहीं ऐसा तो नहीं कि तुम वहां बहुत समय तक रुके रहे हो, इसलिये तुम्हारे सम्मान में कोई कमी आ गई हो, इस अपमान से क्षुब्ध हो गये हो ॥३९॥

सुबोधिनी—कच्चित्तेऽनामयमिति। अनामयमारोग्यं कच्चित्। रोगेणाऽप्येवं भवति। किञ्च। तेजोऽपि तव गतमिति लक्ष्यते। तत्र मम दृष्टिरेव प्रमाणमित्याह-**विभासीति**। तेजोगमनमन्तःशोकात्पापाच्च भवति। तत्र प्रथममन्तःशोकहेतून् गणयति-**अलब्धमान इति**। श्वशुरगृहे मानाभावोऽन्तस्तापहेतुः। अवज्ञा च सुतराम् अवज्ञायां हेतुः-**चिरोषित इति**। श्वशुरगृहे बहुकालवासेऽवज्ञा भवति। अवज्ञातः किं वेति सम्बधः। अथवा। चिरवास एव शोकहेतुः ॥३९॥

व्याख्यार्थ—हे अर्जुन क्या तुम्हें कोई रोग लग गया है ? रोग से भी कान्ति हीन होना संभव है। तुम्हारा तेज चला गया है। इस विषय में मेरी दृष्टि ही प्रमाण है, क्योंकि मुझे इस बात का विशेष आभास हो रहा है। अन्दर की पीड़ा

से अथवा पाप के कारण ही तेज नष्ट होता है। इस प्रसंग में पहले आन्तरिक पीड़ा के कारणों को गिनाते हैं, कि ससुराल में सम्मान का मिलना मन की पीड़ा का कारण हो सकता है और उस पर भी अपमान किया जाना तो और भी पीड़ा का कारण बन जाता है। इस अवज्ञा के कारण बहुत लम्बे समय तक ससुराल में रहना हो सकता है। श्वसुर गृह में बहुत समय तक रहने से तिरस्कार होता है। अवज्ञा से बहुत समय तक निवास करना ही शोक का कारण हो सकता है ।।३९।।

आभास—एवमन्तःकरणशरीरकृतदोषेण ताप उपपादितः। इन्द्रियकृतदोषमाह–

आभासार्थ—इस प्रकार अन्तः करण और शरीर सम्बन्धी दोष व ताप बताये गये। अब इन्द्रियों से उत्पन्न होने वाले दोषों के सम्बन्ध में बताया जा रहा है–

श्लोक—**कच्चिन्नाऽभिहतोऽभावैः शब्दादिभिरमङ्गलैः।**
न दत्तं युक्तमर्थिभ्य आशया यत्प्रतिश्रुतम् ।।४०।।

श्लोकार्थ—हे अर्जुन, कहीं ऐसा तो नहीं कि तुमने किसी से कटुवचन कह दिये हों या अमंगलकारी शब्दों का प्रहार किसी पर कर दिया हो? किसी को यह आशा देकर, कि तुम्हें अमुक वस्तु दूंगा और फिर वह वस्तु न दी हो? ।।४०।।

सुबोधिनी—**कच्चिन्नाऽभिहत इति**। अभावैः स्नेहशून्यैः रूक्षैः पुरुषैः। अमङ्गलैर्वा गालिदानैः। आदिशब्देन पश्चाऽपि गृहिताः। इदानीमधर्म्याणि सम्भावयति–**न दत्तमिति**। **आशया यत्प्रतिश्रुतम्**। चतुर्थ्यर्थे **"बहुलं छन्दसी"** त्याशायै दास्यामीति प्रतिज्ञातम्। तदाशाभङ्गहेतुत्वाददानं **'सर्वमिष्टं दत्तं वृङ्क्त"** इति श्रुतेस्तेजोहर्तृ भवति ।।४०।।

व्याख्यार्थ—भावना हीन, स्नेह रहित, रूखे शब्दों के प्रयोग से अथवा अमङ्गलकारी शब्द (गाली) कहने से व्यक्ति तेज खो देता है। यहां 'आदि' शब्द के द्वारा भावना हीनता, कटुवचन, प्रतिज्ञा भंग, अशरण को शरण न देना तथा अगम्या स्त्री से गमन करना, इन पांचों स्थितियों को ग्रहण किया गया है। अब अधर्म की सम्भावना बताते हुये कहते हैं, कि किसी व्यक्ति को किसी पदार्थ की आशा दिलाकर फिर उसे वह पदार्थ न दिया जावे तो ऐसा व्यक्ति अपना तेज खो देता है। चतुर्थी के अर्थ में 'दान की आशा वाले के लिये' यह अर्थ हुआ। ऐसे उस आशावान से दान की प्रतिज्ञा करके, फिर उसे तोड़ देना अर्थात् उसे इच्छित वस्तु प्रदान न

करना भी तेज हीनता का कारण बनता है। 'इच्छित वस्तु देने वाला भोगता है,' यह श्रुति का वचन है, जो इसका पालन नहीं करता, वह तेज रहित हो जाता है ॥४०॥

आभास—दानं शरणागतरक्षा च क्षत्रियस्य मुख्यम्। शरणागतानामपि मध्ये त्वमेतानि किं न परिपालितवानसीत्याह—

आभासार्थ—दान देना तथा शरण में आये हुए की रक्षा करना क्षत्रिय का मुख्य धर्म है। शरण में आने वालों के अन्तर्गत भी क्या तुमने इनका परिपालन नहीं किया ? इस प्रकार पूछा जा रहा है—

श्लोक—**कच्चित्त्वं ब्राह्मणं बालं गां वृद्धं रोगिणं स्त्रियम्।**
शरणोपसृतं सत्त्वं नात्याक्षीः शरदप्रदः ॥४१॥

श्लोकार्थ—कहीं ऐसा हुआ हो, कि कोई ब्राह्मण, बालक, गाय, वृद्ध, रोगी, स्त्री और भी कोई दूसरा प्राणी तुम्हारी शरण में आया हो और तुमने शरण देने की योग्यता होते हुए भी शरण प्रदान न की हो, इसीलिये तुम्हारा मुख प्रकाश बुझ गया हो ॥४१॥

सुबोधिनी—कच्चिदिति। ब्राह्मणः सर्वावस्थासु परिपाल्यः। स्त्रियश्च। अन्ये वृद्धबालरोगिणः। अन्यदपि शरणोपसृतं सत्त्वं हरिणादि। **नात्याक्षीः** न त्याजितवानसि। अन्यैः पीडायां समुपस्थितायां ततस्त्याजनं न कृतमित्यर्थः ॥४१॥

व्याख्यार्थ—ब्राह्मण तथा स्त्रियां सभी परिस्थितियों में पालन करने योग्य हैं। अन्य जन, जैसे बालक, बूढे, रोगी भी रक्षा करने योग्य हैं। वन्य प्राणी हरिण आदि शरण में चले आवें तो उनकी रक्षा की जानी चाहिये। ये सभी शरण में आये हुए त्यागने योग्य नहीं होते। दूसरों के द्वारा भी पीड़ित अवस्थाओं को प्राप्त जनों का त्याग नहीं किया जाना चाहिये ॥४१॥

आभास—धर्मसूक्ष्माभावमाह—

आभासार्थ—अब धर्म की सूक्ष्मता के अभाव सम्बन्धी प्रश्न भी पूछे जा रहे हैं—

श्लोक—**कच्चित्त्वं नाऽगमोऽगम्यां गम्यां वाऽसत्कृतां स्त्रियम् ।**
पराजितो वाऽथ भवान् नोत्तमैर्नासमैः पथि ।।४२।।

श्लोकार्थ—हे भाई, अर्जुन तुमने कहीं परस्त्री से तो गमन नहीं कर लिया है और जिसके साथ गमन करना योग्य है, उसकी उपेक्षा कर दी हो ? अथवा मार्ग में हीन जनों से हार कर आये हो, जो बल तथा पौरुष में तुम्हारे समान नहीं हैं और न ही जाति में तुम्हारे समान हैं। तुम्हारी तेज हीनता का कहीं यही तो कारण नहीं ? ।।४२।।

सुबोधिनी—धर्मसूक्ष्माभावमाह । त्वं ना पुरुषो भूत्वा अगम्यामगमः । कामवशेनाऽगम्या-गमनं कृतम् । गम्यां वा असत्कृतां अपमानं कृत्वाऽगम्यामगम इति । शत्रुपराजयोऽप्येतद्धेतुरिति तमाह—**पराजित इति** । अस्य पूर्वोक्तानुभयरूपत्वात्—**अथेति नोत्तमैः** । नसमासः । **नासमैः** । अधमैः । समैर्वाऽधमैर्वा पराजित इत्यर्थः ।।४२।।

व्याख्यार्थ—धर्म की सूक्ष्मता के अभाव में कहा गया है, कि तुम पुरुष होकर अगम्या से गमन तो नहीं कर बैठे। काम के वशीभूत होकर अगम्या से गमन किया हो ? गम्या अर्थात् गमन करने योग्य पत्नी का अपमान करके अगम्या अर्थात् परस्त्री के साथ गमन कर बैठे हो ? कान्ति हीनता का कारण शत्रु से हार जाना भी हो सकता है, यह बात विचार कर अर्जुन से कहा गया है कि तुम शत्रु से परास्त होकर तो नहीं आये हो ? जो शत्रु तुम से बल पौरुष में कमजोर थे तथा नीची जाति के थे, कहीं ऐसे जनों से हार जाने के क्षोभ ने तुम्हें बुझा दिया हो ? इससे पूर्व जो कथन किया गया है वह प्रस्तुत तथ्य से भिन्न है, इसलिये यहां 'अथ' अव्यय का प्रयोग किया गया है। जो उत्तम नहीं है अर्थात् समान हैं और जो समान नहीं है अर्थात् अधम हैं। इन दोनों ही प्रकार के व्यक्तियों से कहीं हार तो नहीं आये हो ? ।।४२।।

आभास—मिष्टान्नादिकं याचकेभ्यो बालादिभ्योऽदत्वा भोजनेऽप्येवं भवतीति लौकिकमाशङ्कते—

आभासार्थ—मीठे पदार्थ तथा अन्न आदि याचकों तथा बालकों को दिये बिना स्वयं खा लेने से भी तेज हानि होती है। ऐसे लौकिक व्यवहार की नीति संबन्धी आशंकाओं को करते हुए पूछा जा रहा है—

श्लोक—**अपिस्वित्पर्यभुङ्क्थास्त्वं सम्भोज्यान् वृद्धबालकान् ।
जुगुप्सितं कर्म किञ्चित्कृतवांश्च यदक्षमम् ।।४३।।**

श्लोकार्थ—सब प्रकार से भोजन कराने योग्य वृद्ध व बालकों को छोड़कर तो कहीं पहले तुमने भोजन नहीं कर लिया ? ऐसा कोई निन्दनीय कर्म तो तुम से नहीं बन गया कि जिसकी बाद में चर्चायें चले ? ।।४३।।

सबोधिनी—**अपिस्विदिति** । परिर्वर्जनार्थः । सम्भोज्यान् वृद्धबालकान् परित्यज्य किमभुङ्क्थास्त्वम् । सम्यग्भोज्या हि ते । भोज्या (?) वृद्धबालकानिति पाठे भोज्याः स्त्रियः । सम्भोज्य वा । **"अथाऽऽदावुत्तरे विभाग"** इति न्यायेन ह्रस्वः । आवृद्धबालकान् वा । अन्यदपि जुगुप्सितं पश्चाज्जुगुप्साजनकम् । अक्षमं च पश्चात्सोढुमशक्यं च ।४३।।

व्याख्यार्थ—यहां 'परि' शब्द का प्रयोग निषेध अर्थ में हुआ है । पहले भोजन कराने योग्य वृद्ध जनों तथा बालकों को भोजन न कराकर तुम स्वयं ने भोजन कर लिया हो ? कहीं ऐसा तो नहीं ? क्योंकि वे पूरी तरह भोजन कराने योग्य हैं । 'भोज्या वृद्ध बालकान्' ऐसा पाठ होने पर 'भोज्या' का अर्थ स्त्री होगा । अथवा 'सम्भोज्य' शब्द ही रह सकता है । "अथवाऽऽदावुत्तरे विभाग" इस न्याय के सूत्र से ह्रस्व उच्चारण भी हो सकता है । ऐसी स्थिति में ह्रस्व को दीर्घ बोला जाता है । अथवा बालक से वृद्ध पर्यन्त पहले भोजन कराने योग्य हैं । अन्य भी कोई दूसरा निन्दनीय कार्य, जो लोगों कोपता लगने पर अपयश का कारण बने और वह अपयश भी ऐसा जिसे बाद में सहन नहीं किया जा सके, इन सब कारणों से तेज नष्ट होता है ।।४३।।

आभास—मुख्यं कारणमुत्प्रेक्षते—

आभासार्थ—अब मुख्य कारण को बताया जा रहा है—

श्लोक—**कच्चित्प्रेष्ठतमेनाऽथ हृदयेनाऽऽत्मबन्धुना ।
शून्योऽसि रहितोऽनित्यं मन्यसे तेऽन्यथा न रुक् ।।४४।।**

श्लोकार्थ—हे अर्जुन, कहीं ऐसा तो नहीं हो गया ? कि हमारे प्राणों से भी प्रिय, नाथ, नित्य हृदय में विराजमान् आत्मा के बन्धु रूप (भगवान् श्री कृष्ण) से

तुम शून्य हो गये हो अर्थात् अब वे नहीं रहे हों। जिससे अब इस जगत् की अनित्यता का विचार तुम्हें हो रहा है मैं तो अब निश्चित रूप से यही मानता हूं कि इसके अतिरिक्त तुम्हें और कोई दूसरा रोग नहीं है, जिससे तुम तेज हीन दिखाई दे रहे हो ॥४४॥

सुबोधिनी—कच्चिददिति । हृदयेन । हृत् अयते प्रविशतीति हृदयोऽन्तर्यामि । अथेति पूर्वव्यावृत्त्यर्थः । आत्मत्वेन बन्धुः । रहितः तादृशेन विरहितः शून्योऽसि । अनित्यं । मन्यसे । आत्मनि गते देहास्थितेर्नित्यत्वात् । अतिशोकेऽयमेव हेतुः । अन्यथा ते न रुक् । अन्यस्याऽविवेकिनो यादृशे(?)ऽपि चिन्ता भवति । तत्र त्वयमेव हेतुरित्यर्थ ॥४४॥

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मज श्रीवल्लभदीक्षित-विरचितायां प्रथमस्कन्धे चतुर्दशोऽध्यायः ॥१४॥

व्याख्यार्थ—हृदय में विराजमान होने के कारण भगवान् अन्तर्यामी हैं । 'अथ' अव्यय का प्रयोग पहले कहे गये सब कथनों को नकार कर मुख्य बात कहने के अर्थ में किया गया है । भगवान् आत्मा रूप से बन्धु हैं । ऐसे उन भगवान् से रहित होने पर अथवा उनका विरह हो जाने पर, हे अर्जुन तुम में रह हो क्या जाता है । अतः तुम शून्य हो गये हो । अब इस जगत् की अनित्यता का विचार तुम्हें हो रहा है । आत्मा में स्थित देह आदि की स्थिति नित्य होती है, पर आत्मा के तिरोहित हो जाने के बाद जैसे देह आदि की स्थिति का कोई अस्तित्त्व नहीं रह जाता वैसे ही आनन्द कन्द श्री कृष्ण जी के तिरोधान लीला करने पर अर्जुन मात्र एक शरीर रह गया है । अतिशोक का यही एक मात्र कारण है । अन्य तुम्हें कोई रोग नहीं । अन्य अविवेकियों को जिस किसी प्रकार की भी सांसारिक चिन्ता होती रहे, परन्तु तुम्हारी चिन्ता का तो यही एक मात्र कारण है ॥४४॥

इति श्रीमद्भागवत महापुराण, प्रथमस्कन्ध के १४वें अध्याय की श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण कृत श्री सुबोधिनी (संस्कृत टीका) के 'उत्तमाधिकार प्रकरण' का अष्टम् अध्याय हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण

❀ इस अध्याय की कथा का सार ❀

अर्जुन का द्वारिका जाना और शोक-समाचार लाना

राग बिलावल

राजा सौं अर्जुन सिर नाइ। कह्यौ सुनौ बिनती महराई।
बहु दिन भए, हरि-सुधि नहिं पाई। आज्ञा होइ तौ देखौं जाई।
यह कहि पारथ हरि-पुर गए। सुन्यौ सकल जादव छै भए।
अर्जुन सुनत नैन जल धार। पर्योर धरनि पर खाई पछार।
तब दारुक संदेस सुनायौ। कह्यो हरि जू जो गीता गायौ।
सौ सुरुप हिरदै महँ आन। रहियौ करत सदा मम ध्यान।
तब अर्जुन मन धीरज धारि। चले संग लै जे नर-नारि।
तहँ भिल्लनि सौं भई लराई। लूटे सब, बिन स्याम-सहाई।
अर्जुन बहुत दुखित तब भए। इहां अपसगुन होत नित नए।
रौवें वृषभ, तुरग अरु नाग। स्यार द्यौस, निसि बोलैं कांग।
कंपै भुव, वर्षा नहिं होइ। भयौ सोच नृप-चित यह जोइ।
इहि अंतर अर्जुन फिरि आयौ। राजा कैं चरननि सिर नायौ।
राजा ताकौं कंठ लगाइ। कह्यो, कुसल हैं जादवराइ?
बल बसुदेव, कुसल सब लोइ। अर्जुन यह सुनि दीन्हौ रोइ।
राजा कह्यौ कहा भयौ तोहिं। तू क्यौं कहि न सुनावै मोहिं।
काहू असत्कार तोहिं कियौ। कै कहि दान न द्विज कौ दियौ।
कै सरनागत कौं नहि राख्यौ। कै तुमसौ काहू कटु भाष्यौ।
कै हरि जू भए अंतर्धान। मोसौं कहि तू प्रगट बखान।
जब अर्जुन नैननि जल डारि। राजा सौं कह्यौ बचन उचारि।
सूरज-प्रभु बैकुंठ सिधारे। जिन हमरे सब काज संवारे।

सूरसागर

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

● श्रीमद् भागवत संहिता ●

श्री मद्वल्लभाचार्य चरण द्वारा विरचित

श्री सुबोधिनी (संस्कृत टीका)

हिन्दी अनुवाद सहित

प्रथम स्कन्ध

अध्याय—१५

उत्तमाधिकार प्रकरण अध्याय—६

अर्जुनजी के मुख से भगवान् के स्वधाम सिधारने के समाचार पाकर पाण्डवों का हिमालय की ओर जाना।

कारिकाएँ—एवं चतुर्दशे हेतुं सम्भाव्याऽथ विनिश्चयात् ।
कृतकार्यः शास्त्ररीत्या मुक्तोऽभूदिति वर्ण्यते ॥१॥
भार्याभ्रातृभिरत्रैव सहितो मुक्तिमेयिवान् ।
पञ्चदशे महाराजः कृष्णभक्त्येति रूप्यते ॥२॥
प्रेमोपकारज्ञानानि जिष्णौ राजार्थमाह हि ।
एवं दृष्ट्वैव राजाऽपि तथैवाऽभूद्यतः परः ॥३॥

कारिकार्थ—इस प्रकार चौदहवें अध्याय में कारणों की संभावना करके, निश्चय हो जाने के बाद राजा श्री युधिष्ठिर जो कृतकार्य हो चुके हैं तथा शास्त्र की रीति

से मुक्त हो चुके हैं, आगे वर्णन करते हैं ।। १ ।। स्त्री और भाईयों सहित युधिष्ठिर ने भगवान् श्री कृष्ण की भक्ति से यहाँ ही मुक्ति को प्राप्त कर लिया, यह पन्द्रहवें अध्याय का वर्णन किया जाने वाला विषय है ।।२।। अर्जुन के अन्दर प्रेम, उपकार तथा ज्ञान का निरूपण किया गया है। इस प्रकार के अर्जुन को देखकर युधिष्ठिर भी वैसी ही दशा को प्राप्त हो गये ।।३।।

आभास—प्रथममर्जुनस्य प्रेमौत्कण्ठ्यमाह **एवमिति** त्रिभिः—

आभासार्थ—अब पहले अर्जुन के अतिशय प्रेम को बताया जा रहा है—

सूत उवाच-श्लोक-**एवं कृष्णसखः कृष्णो भ्रात्रा राज्ञा विकल्पितः ।**
नानाशङ्कास्पदं रूपं कृष्णविश्लेषकर्शितः ।।१।।
शोकेन शुष्यद्वदनहृत्सरोजो हतप्रभः ।
विभुं तमेवाऽनुध्यायन्नाऽशन्कोत्प्रतिभाषितुम् ।।२।।

श्लोकार्थ—श्री सूत जी शौनक आदि ऋषियों से कहते हैं, कि कृष्ण के वियोग में दुःखी हुये, कृष्ण के मित्र अर्जुन से राजा तथा भ्राता युधिष्ठिर ने अपने शंका भरे प्रश्न पूछे ।।१।। शोक के कारण जिन अर्जुन का मुख निस्तेज हो गया है, हृदय कमल मुरझा गया है, ऐसे वे उन्हीं श्रीकृष्ण विभु का ध्यान करते हुए, अपने भाई युधिष्ठिर को उत्तर देने में समर्थ न हो सके ।।२।।

सुबोधिनी-एवं कृष्णोऽर्जुनोनानाशङ्कास्पदं रूपं विकल्पितोऽपि नाऽशन्कोदिति सम्बन्धः।कृष्णस्य भगवतः सखा । सखिस्मरणेनैव व्याकुल इति । एतद्द्वारा वा भगवानेतानुपसंहर्तुमागत इति कृष्णपदप्रयोगः। अत एव कृष्णसखः । अन्यथा तत एव गमतमुचितं स्यात् । **"अर्जुनेनाऽन्विताः सर्वे"** इति भगवद्वाक्येऽपि तत एव गमनमुचितं स्यात् । **"तावद्यूयमवेक्षध्वमि"**ति नारदवाक्यं च सत्यं स्यात् । **"कृष्णौ यदुकुरूद्वहावि"**ति च । अवस्थाप्रकटनं तु विश्वासार्थं भगवतैव (?) लीला । अन्यथा भगवतः सावशेषकार्यकर्तृत्वं स्यात् । अर्जुनस्य तेजः शोकश्चाऽयुक्तः स्यात् । अत एव कृष्ण एवाऽर्जुने समाविष्टः समागत इति युधिष्ठिरमुक्तिरुचिता । नानाशङ्कानां पूर्वोक्तानामास्पदं रूपं प्रति विकल्पितः । रूपमेवाऽर्जुन इति वा । प्रतिभाषितुं नाऽशन्कोदिति वा सम्बन्धः । कृष्णास्य यो विश्लेषः विशेषेण श्लेषो वा । तेन कर्शितः क्षीणः । अनुत्तरे दृष्ट उपाय उक्तः । शोकेन शुष्यच्छोषं प्राप्नुवत् हृत्सरोजं वदनसरोजं च यस्य । अत एव हतप्रभः । अन्त-

स्तापे बहिः कान्तेर्नाशदर्शनात् उत्तरध्यानयोयु गपदुपस्थितावपि तमेव ध्यायन्नुत्तरं वक्तुं नाऽशक्नोत्। तत्र हेतुः—**विभुमिति**। उत्तरापेक्षया ध्यानविषयस्य समर्थत्वात् ॥१॥२॥

व्याख्यार्थ—इस प्रकार कृष्ण रूप अर्जुन से युधिष्ठिर ने अनेक प्रकार के शंका भरे प्रश्न पूछे, परन्तु अर्जुन उनका उत्तर देने में असमर्थ रहे। अर्जुन कृष्ण के मित्र हैं, अतः मित्र का स्मरण करने मात्र से उनके मन में व्याकुलता आ जाती है। अर्जुन के माध्यम से भगवान् ही इन युधिष्ठिरादि का उपसंहार करने आये हैं, अतः कृष्ण पद का प्रयोग हुआ है। इसीलिये अर्जुन को 'कृष्ण सखः" अर्थात् कृष्ण का मित्र कहा गया है। अन्यथा तो कृष्ण के तिरोधान होते ही अर्जुन का वन में चले जाना उचित होता। "सभी अर्जुन से अन्वित रहना, 'अर्थात् अर्जुन से सूचना प्राप्त करने पर ही महाप्रस्थान करना, यदि ये वाक्य भगवान् द्वारा नहीं कहे गये होते तो अर्जुन का महाप्रस्थान करना उचित होता। नारदजी द्वारा कहे गये ये वाक्य भी, कि "जब तक भगवान् निजलोक में न पधारें, आप सब लोग प्रतीक्षा करें," किस प्रकार से सत्य होते। यहाँ जो 'कृष्णौ' शब्द कहा गया है, वह इसलिये कि कृष्ण और अर्जुन दोनों ही यदुकुल तथा कुरुकुल के आधार रूप हैं। 'द्विवचन' होने से द्वन्द्व समास के कारण अर्जुन अर्थ निकला। परिस्थिति विशेष को प्रकट करना अर्जुन में विश्वास उत्पन्न करने के लिये ही भगवान् की एक लीला है। अन्यथा भगवान् का कुछ कार्य अधूरा रह जाता। अर्जुन का तेज तथा शोक उपयोगिता रहित हो जाते। इसलिये श्री कृष्ण ही अर्जुन में प्रवेश करके पधारे हैं। अतः युधिष्ठिर के प्रति यह उक्ति ठीक है। यह बात इससे भी सिद्ध हो रही है कि पहले बताई गई अनेक प्रकार की शंकाओं के प्रतिरूप अर्जुन ही हैं। कारण कि वे उत्तर देने में समर्थ न हो सके। उन का कृष्ण से वियोग हो गया था जिनके प्रति विशेष लगाव था। कृष्ण के पधार जाने से उनका शरीर दुर्बल हो गया था। अब उत्तर न दे सकने की बाहरी स्थितियों को कहा जा रहा है। शोक के कारण जिन अर्जुन का हृदय कमल तथा मुख कमल सूख गया है ऐसे वे तेज हीन हो गये हैं। बाहर की कान्ति नष्ट होने से हृदय में स्थित ताप सूचित हो रहा है। उत्तर देने की विवशता तथा कृष्ण में ध्यान की दोहरी उपस्थिति में भी, उन्हीं कृष्ण में ध्यान लगे रहने से अर्जुन उत्तर देने में समर्थ न हो सके। उसका मूल कारण है व्यापकत्व, जिस के कारण अर्जुन का ध्यान निरन्तर श्रीकृष्ण में लगा हुआ है। उत्तर देने की

तुलना में ध्यान का विषय ही अधिक प्रभावी बना रहा ॥१॥२॥

आभास—शोकसहकृतं ध्यानं जायत इति शोकं दूरीकरोतीत्याह—

आभासार्थ—यह ध्यान शोकयुक्त था, अतः शोक को दूर करने की प्रक्रिया का वर्णन किया जाता है—

श्लोक—**कृच्छ्रेण संस्तभ्य शुचः पाणिनाऽऽमृज्य नेत्रयोः ।**
परोक्षेण समुन्नद्धप्रणयौत्कण्ठ्यकातरः ॥३॥

श्लोकार्थ—बहुत ही कष्ट के साथ शोक को रोककर, हाथ से नेत्र पोंछकर, परोक्षरूप से विराजमान् भगवान् से युक्त स्नेह की उत्कण्ठा से अर्जुन व्याकुल बने हुए हैं ॥३॥

सुबोधिनी—कृच्छ्रेणेति । शोकस्तु स्मरणहेतुक इति स्मरणे विद्यमाने शोकनिवृत्तिरशक्या। तथापि तादृशधर्मविशिष्टं भगवन्तं तेभ्यो धर्मेभ्यः पृथक्कृत्य पूर्वधर्मैः सह संयोज्य शोकदूरीकरणात्कृच्छ्रेणेत्युक्तम् । **शुचः** । शोकाऽश्रूणि । अभ्यन्तरात्समागच्छन्ति तत्रैव स्तम्भितानि । नेत्रयोः समागतानि तु पाणिना आमृज्य आ समन्तात् मृष्ट्वा । एवं कृते पूर्वोक्तधर्मयोजनाद्गतकालसहितः परोक्षशब्दवाच्योऽर्जुनस्याऽन्तः प्रविष्ट इत्याह—**परोक्षेणेति** । अक्षात्परः परोक्षः । स्वेच्छयैव पूर्वमिन्द्रियगोचरोऽपि साम्प्रतमिच्छाया अभावात्परोक्ष एव । तेन **समुन्नद्ध** आविष्टः सम्यङ्नद्धः । अयोगोलकं वह्निनेव । अनेनाऽन्तः कथने बलमुक्तम् । भक्तिरपि पूर्वं प्रविष्टा स्वकार्यं करोतीत्याह—**प्रणयौत्कण्ठ्यकातर इति** । प्रणयेन स्नेहेन यदौत्कण्ठ्यं उद्गतकण्ठता कण्ठाभावः । कण्ठमुद्रणमिति यावत् । तेन कातरः कदा वा वक्ष्यामीत्याकुलः ॥३॥

व्याख्यार्थ—कृष्ण की याद आना ही तो शोक का कारण है, और स्मरण के विद्यमान रहने पर शोक को दूर करना असंभव है। तो भी उस प्रकार के धर्म विशेष से युक्त भगवान् को उन धर्मों से अलग करके पहले वाले धर्मों के साथ जोड़ कर बहुत कठिनाई से शोक को दूर किया जाना कहा गया है। अर्जुन ने अन्तःकरण की गहराईयों से आने वाले शोक के आंसुओं को हृदय में ही रोक लिया है। जो आँसू नेत्रों में आ चुके हैं उन्हें पूरी तरह से हाथ से पोंछ लिया है। ऐसा करके पहले कहे गये बीते हुए समय के साथ वाले भगवान् के धर्म को जोड़कर परोक्ष शब्द से कहे गये अर्जुन के हृदय में प्रवेश को प्राप्त हुए भगवान् को सूचित किया गया है।

परोक्ष का तात्पर्य है, आंखों से दूर हो जाना। अपनी इच्छा से ही इन्द्रियों के द्वारा दिखाई देने वाले, अब इच्छा न होने पर परोक्ष हो गये हैं। उस परोक्ष स्थिति में भगवान् अर्जुन के हृदय में सम्पूर्णतया आविष्ट हो गये हैं। वे अर्जुन के हृदय में इस प्रकार समा गये हैं, जैसे कि लोहे के गोले में आग। इसी से मन की बात प्रकट करने की शक्ति अर्जुन में आ पाई है। अर्जुन के हृदय में पहले से ही प्रवेश पाई हुई भक्ति भी अपना कार्य कर रही है, जिससे एक साथ ही प्रणय, उत्कण्ठा, तथा कातरता आदि के भाव दिखाई देने लगे हैं। प्रेम से उत्कण्ठा हुई और उत्कंठा से कण्ठ अटक गया। अब जब तक कण्ठ से वाणी न निकले तब तक हृदय को कोई भी बात बाहर नहीं आ सकती इसी कारण अर्जुन कातर हो उठे हैं, कि मैं मन की बात कब बता सकूँगा, यही व्याकुलता का कारण है ॥३॥

आभास—भगवान् वदति वक्तव्यम्। भक्तिर्वदति न वक्तव्यमिति। एवं सति भगवत्स्मरणस्य प्राबल्याद्भक्तिहेतुकभगवत्स्मरणेन भगवति पुष्टे तत्तेजसा कण्ठमुद्रणेऽपगते उद्गतेन बाष्पेण कण्ठे गद्गदता जाता। सा पूर्वं व्याख्याता। ततो भक्तिं दूरीकृत्य भगवन्तमेवोररीकृत्य पूर्वधर्मयोगात्तानि स्मरन्नाहेत्याह—

आभासार्थ—भगवान् हृदय में प्रेरणा करते हैं कि कहने योग्य को कह देना चाहिये। भक्ति कहती है कि नहीं कहना चाहिए। ऐसी स्थिति होने पर भगवान् के स्मरण की प्रबलता से भक्ति का तेज बढ़ गया है। परिणाम स्वरूप कण्ठ में अश्रु प्रवाह रूंध गया है। इस भक्ति की व्याख्या पहले कर दी गई है। इसके बाद भक्ति को दूर करके, भगवान् की प्रेरणा को स्वीकार करके, पहले वाले भगवत् धर्मों से जुड़कर उनकी लीलाओं तथा कार्यों का स्मरण करते हुए, अब इस प्रकार कहा जा रहा है—

श्लोक—**सख्यं मैत्रीं सौहृदञ्च सारथ्यादिषु संस्मरन्।**
नृपमग्रजमित्याह बाष्पगद्गदया गिरा ॥४॥

श्लोकार्थ—भगवान् के सारथीपने का, मित्रता का, स्नेह का स्मरण करते हुए, आँसुओं से गद् गद् कंठ वाले अर्जुन, बड़े भाई राजा युधिष्ठिर से इस प्रकार कहने लगे ॥४॥

सुबोधिनी—**सख्यमिति** । समानशीलव्यसनत्वं **सख्यम्** । गुह्यगोपनगुणप्रकटीकरणापद्दतात्यागादिधर्मवत्त्वं **मैत्री** । सारथ्य दिषु भगवता द्वयं कृतम् । **सौहृदञ्च** । सहृदो भावः सतामिव कृत्यम् । बन्धुकृत्यं वा इदमपि प्रकटीकृतम् । चकारात्स्वामित्वगुरुत्वे । आदिशब्देन पार्षदसेवनदौत्यवीरासन (?) अनुगमनादि । असमासनिर्देशः पृथक्स्मरणार्थः । **इति** वक्ष्यमाणप्रकारम् । गिरा । न त्वभिनयेन । शोके तस्याऽपि सम्भवात् ॥४॥

व्याख्यार्थ—एक सा स्वभाव तथा एक सी रुचियाँ "सख्यता" कहलाती है। छिपाने योग्य को छिपाना, गुणों को सामने रखना, विपत्ति के समय साथ न छोड़ना ही मित्रता है। सारथी का कार्य करते समय भगवान् ने मित्रता तथा सख्यता दोनों ही स्थितियों का निर्वाह किया है। सज्जनों के समान सुहृद् भाव के कार्य किये अथवा बन्धुओं जैसे कार्य किये। इन सभी कार्यों को भगवान् ने अर्जुन के लिये किया। यहाँ 'च' शब्द का प्रयोग स्वामित्व व गुरुत्व को बताने के लिये किया गया है। पार्षदपना, सेवा कार्य दूत कार्य, वीरासन, अनुगमन कार्यों के लिये "आदि" शब्द का प्रयोग किया गया है। इन सभी कार्यों में अलग अलग प्रकार से भगवान् के गुण धर्मों को याद रखने के लिये शब्दों का एक साथ समास नहीं किया गया है। अब यहाँ बात को बताये जाने योग्य प्रकार को कहा जा रहा है। अर्जुन के द्वारा मन की बात को वाणी के माध्यम से बताया गया है, अभिनय के द्वारा नहीं। शोक में अभिनय की सम्भावना होने पर भी उसे नहीं किया गया है ॥४॥

आभास—राज्ञा द्वयं पृष्टम् । यादवानाँ कुशलमर्जुनशोके हेतुश्च । तत्र सन्निहितत्वादुक्तन्यायेन भक्तेस्तिरोहितत्वाच्च शोकहेतुमेवाऽऽह **वञ्चित इत्यादि भस्मन् हुतं कुहकराद्धमिवोप्तमूष्यामित्यन्तेन**—

आभासार्थ—राजा ने दो प्रकार के प्रश्न पूछे हैं, यादवों के कुशल समाचार तथा अर्जुन के शोक का कारण। उस प्रसंग में अत्यधिक समीपता वाले भाव अर्थात् शोक के विषय में ही उत्तर प्रारंभ किया जा रहा है। भक्ति को तिरोहित करते हुए शोक का कारण ही बताया जा रहा है—

अर्जुन उवाच—श्लोक—**वञ्चितोऽहं महाराज हरिणा बन्धुरूपिणा ।**
येन मेऽपहृतं तेजो देवविस्मापनं महत् ॥५॥

श्लोकार्थ—हे महाराज युधिष्ठिर जी, बन्धुरूप हरि के द्वारा मुझे छला गया है, जिससे देवों को भी आश्चर्य चकित कर देने वाला मेरा महान् तेज छिन गया ।।५।।

सुबोधिनी—भगवता वञ्चितस्य ममेयं गतिरित्यर्थः । वञ्चनप्रकारमाह—**येनेति** । ननु भगवान् परमकृपालुः कथं वञ्चयति ? तत्राऽऽह—**हरिणेति** । सर्वदुःखहर्ता । यदीदानीमर्जुनस्य तेजो नाऽपहरेत्तदा यादवानामिव कालवशादस्याऽप्यौद्धत्ये सर्वनाशः स्यात् । अस्य मुक्तिर्न स्यात् । अतः सर्वरक्षार्थं तेजोऽपहृतमित्यर्थः । ननु तेजोऽपहरणनिमित्तसान्निध्यं किमर्थं कृतमित्याशङ्क्याऽऽह—**बन्धुरूपिणेति** । तत्रापि भगवता वञ्चनं कृतम् । बन्धुरूपमस्याऽस्तीति बन्धुरूपी मातुलपुत्र इव । ततो लौकिकव्यवहारेण निकटे गते तेजोऽपहृतमित्यर्थः । ननु स्थितेऽपि तेजसि देवानां रक्षकत्वात्किमनेनाऽनिष्टं भवेदित्यत आह—**देवविस्मापनमिति** । देवान् विस्मापयतीति । ननु वामनस्य विद्यमानत्वान्न शङ्क्येत्यत आह—**महदिति** ।।५।।

व्याख्यार्थ—भगवान् द्वारा छल लिये जाने से मेरी यह गति हो गई है । छल लिये जाने का प्रकार बताया जा रहा है । निश्चय ही भगवान् परम कृपालु हैं, फिर यह छलावा क्यों ? इस प्रसंग में कहा जा रहा है कि उनका नाम 'हरि' है । वे सब दुःखों का हरण करने वाले हैं । यदि इस समय अर्जुन का तेज हरण नहीं किया जाता, तो यादवों के समान ही काल के वशीभूत होकर उद्धतपने को प्राप्त हुये सब प्रकार से नाश हो जाते । इन अर्जुन की मुक्ति नहीं हो पाती । इसलिये सब की रक्षा करने के लिये तेज का अपहरण कर लिया गया । अति समीपता का सम्बन्ध बन्धुरूपता से बताया गया है । बन्धु होने पर भी इस प्रकार का छल क्यों किया ? इस आशंका के प्रसंग में बन्धुरूप शब्द का प्रयोग हुआ है । बन्धुरूपता होने पर भी भगवान् के द्वारा छला गया । मामा का पुत्र होने से भगवान् की बन्धुरूपता सिद्ध हुई । तब लौकिक व्यवहार से निकट जाने पर तेज का अपहरण किया गया । यदि तेज की स्थिति रहती भी तो देवताओं के रक्षक होने से अनिष्ट होने की संभावना ही नहीं । अर्जुन का तेज देवताओं को भी अचम्भित कर देने वाला था । देवताओं के रक्षक वामन भगवान् के विद्यमान होने पर तो ऐसी आशंका निराधार है, यहां कहते हैं कि अर्जुन का तेज वामन से भी नहीं दबाया जा सकता था ।।५।।

आभास—ननु तेजसि गतेऽपि मन्त्रादीनां विद्यमानत्वात्का तव चिन्तेत्यत आह-

आभासार्थ—यह ठीक है, कि अर्जुन तेज रहित हो गया था, परन्तु उनके पास शस्त्रों को चलाने के मन्त्र आदि तो थे ही, यहां यदि युधिष्ठिर के मन में यह शंका उठे, कि तेज चला गया था तो भी चिन्ता करने की क्या बात थी। उसी का निराकरण करते हुए आगे कहा जा रहा है—

श्लोक—**यस्य क्षणवियोगेन लोको ह्यप्रियदर्शनः।**
उक्थेन रहितो ह्येष मृतकः प्रोच्यते यथा ॥६॥

श्लोकार्थ—जिस तेज के क्षणमात्र के वियोग से भी यह लोक अप्रिय दिखाई देने लगता है। जिस प्रकार अन्य तेज हीन लोग लोक में मरे हुए के समान समझे जाते हैं, वैसी ही दशा मेरी हो गई है ॥६॥

सुबोधिनी—**यस्येति**। यस्य तेजसः क्षणवियोगेन सर्वोऽपि लोकोऽप्रियदर्शनो जातः। अप्रियं दर्शनं यस्य। तेजसि गते जगद्द्रष्टुमपि न रोचते। किं मन्त्रादिनां। क्षुदभावेऽन्नमिव। कामाऽभावे कामिनीव। किञ्च। तेजसा हीन एष मल्लक्षणः पुरुष उक्थेन प्राणेन रहितः। प्राणकार्यं हि बलम्। तद्गतमेव। तस्मिन् गते वृक्षादाविव प्राणोऽकिञ्चित्कार इत्यर्थः। किञ्च। लोकप्रतीत्याऽप्यहं तथैव जातः। तदाह—**मृतकः प्रोच्यते यथेति**। यथा मृतको लोकैः प्रोच्यते नाऽयमत्र स्थापनीयो ज्वालनीयो दूरीकर्त्तव्य इति। तथा मल्लक्षणोऽपि जनो लोकैरुक्त इत्यर्थ। एवं तेजोऽपहरणेन मृतप्राय एवाऽहं जात इत्युक्तम् ॥६॥

व्याख्यार्थ—जिस तेज के क्षणिक वियोग से यह सारा लोक देखने में अच्छा नहीं लगता। जिसका देखना मात्र भी अप्रिय है। तेज के चले जाने पर जगत् को देखना भी अच्छा नहीं लगता, मन्त्र आदि को तो बात ही क्या? भूख के अभाव में जिस प्रकार अन्न अच्छा नहीं लगता, काम के अभाव में जैसे कामिनी अच्छी नहीं लगती, और अधिक क्या कहें? तेज से रहित मेरे जैसे लक्षणों वाला पुरुष प्राण रहित कहा जाता है। प्राण का कार्य शरीर में बल उत्पन्न करना है। प्राण के चले जाने पर शरीर किसी काम का नहीं रहता। फिर तो वह वृक्ष के समान ठूंठ मात्र रह जाता है। इससे अधिक क्या कहें? लोक प्रतीति के आधार पर भी मैं वैसा ही हो गया हूं। इसीलिये यहाँ 'मृतक' शब्द का प्रयोग हुआ है। जिस प्रकार मरे हुए के विषय में लोक यह कहता है, कि यह देह अब घर में रखने योग्य नहीं है, जला देने योग्य है अथवा दूर कर देने योग्य है, आज ठीक वही स्थिति मेरी भी हो गई है। तेज छिन जाने से मैं मरे हुए के समान हो गया हूं ॥६॥

आभास—नन्वस्य वञ्चकत्वं ज्ञातं चेत्कथं सख्यं कथं वा शास्त्रतो भजनीयतेत्याशङ्क्य वञ्चनमद्यैव कृतं न पूर्वमित्याह—

आभसार्थ—इस छल के ज्ञात हो जाने पर कैसी सख्यता ? अथवा शास्त्रों के आधार पर कैसी भजनीयता ? ऐसी आशंका करते हुए कहा जा रहा है कि यह छल अभी ही किया है, इससे पूर्व नहीं। 'यत्संश्रयादि" आदि से "तेनाऽहमद्य मुषितः पुरुषेण भूम्ना", इस प्रसंग में आये हुए अन्तिम श्लोक तक भगवान् द्वारा किये जाने वाले उपकारादि तथा वञ्चन का वर्णन आया है—

कारिकाएं—**यत्संश्रयादित्यादि तेनाऽहमद्य मुषितः पुरुषेण भूम्नेत्यन्तेन ।**
गुणस्वभावभेदेन कृष्णेनोपकृता वयम् ।
गुणैस्तु नवधा योगात्स्वभावेन त्रिधा पुनः ।।
एवं द्वादशधा कृष्णः कृतार्थीकृत्य साम्प्रतम् ।
अवञ्चयदिति ह्येकं तेनाऽन्यस्य च संक्षयः ।।
एवं चतुर्दश श्लोकैः पाण्डवेषु हरेर्गुणाः ।
तावद्भिरेव स्वज्ञातैश्चतुर्दशगतिं ययुः ।।

कारिकार्थ—गुण तथा स्वभाव के भेद से कृष्ण ने हमारा उपकार किया है। नौ प्रकार के गुणों तथा स्वभाव के पुनः तीन प्रकार के भेद के योग से यह संख्या बारह हो जाती है। इस प्रकार बारह प्रकारों से श्री कृष्ण ने इस समय हमें कृतार्थ किया है। अन्य सब को छोड़कर एक गुण के द्वारा हमें श्री कृष्ण ने छला है। इस प्रकार चौदह श्लोकों के द्वारा पाण्डवों में हरि के गुण चौदह प्रकार को गतियों को प्राप्त हुए हैं।

आभास—तत्र प्रथमं सत्त्वगुणभेदान् वक्तुं रजोमिश्रसत्त्वेन भगवता य उपकारः कृतो, रजोमिश्रणाद्दूरस्थेनोपकारफलं च स्त्रीप्राप्तिरिति, तदाह—

आभासार्थ—गुण एवं स्वभाव के भेदों द्वारा श्री कृष्ण ने हमारा उपकार किया है। उनमें सत्त्वादिक तीनों गुण एक दूसरे में मिलकर नौ भेदों को प्राप्त हुए हैं। जैसे—सत-रज, सत-सत, सत-तम, तम-रज, रज-तम, रज-रज, तम-तम आदि भेदों के

मिश्रण से नौ प्रकार हुए। सात्त्विक, राजस, तामस ये तीन प्रकार के भेद अर्जुन के स्वभाव में हैं। ये तीन प्रकार के भेद नौ प्रकारों में मिलकर बारह प्रकार के हुए। इस प्रकार बारह गुणों से श्री कृष्ण ने इस जीवन में हमें कृतार्थ करके एक गुण से हमें छला है। एक श्लोक में तेज क्षय का प्रसंग दिया है। इस प्रकार चौदह श्लोकों में अर्जुन ने सब वास्तविकता बताई है। चौदह श्लोकों में निरूपण करने का अभिप्राय यह है, कि अपना समझकर चौदह भेदों वाले हरि के गुण पाण्डवों में चौदह प्रकार से प्राप्त हुए। रजोगुण मिश्रित सत्त्वगुण वाले भगवान् ने जो उपकार किया है, उसमें रजोगुण मिला होने से, दूर रहकर श्री कृष्ण ने उपकार किया है। उसका फल स्त्री की प्राप्ति है। इसी तथ्य को लेकर आगे के श्लोक में कहा जा रहा है—

श्लोक—**यत्संश्रयाद्द्रुपदगेहमुपागतानां**
राज्ञां स्वयंवरमुखे स्मरदुर्मदानाम्।
तेजो हृतं खलु मयाऽभिहतश्च मत्स्यः
सज्जीकृतेन धनुषाऽधिगता च कृष्णा ॥७॥

श्लोकार्थ—भगवान् श्री कृष्ण के आश्रय से मैंने द्रुपदराज के घर पर द्रोपदी के स्वयंवर हेतु आये हुए कामदेव के समान दुर्मद राजाओं का तेज, सज्जित धनुष से मत्स्य बेधन कर, द्रोपदी को प्राप्त करते हुए, हरण कर लिया था ॥७॥

सुबोधिनी—यत्संश्रयादिति। सम्यागाश्रयात्—वयं कृष्णस्येति। न ह्यतीन्द्रियाश्रयव्यतिरेकेणाऽतीन्द्रियार्थज्ञानं भवति। तत्र ह्येकचक्रनगरात्पलायिता ब्रह्मचारिरूपेण स्थिताः। तत्र द्रौपदीस्वयंवरप्रस्तावेऽदृश्यराधावेधे प्रतिज्ञायामस्मत्प्राप्त्यर्थमेव भगवता कृतायां सर्वे समाहूता अस्मत्तेजसः प्राकट्यार्थं भगवतैव। ततस्तत्कृपया त्रय प्राप्तम्। तेषां तेजो लक्ष्यज्ञानं द्रौपदी च। तस्याः कृष्णेति नामतः स्वसाम्यं मन्यमानः सखिष्वस्मासु तां योजितवान्। अतीन्द्रियं च तेषां च तेजः स्वकीयमिति तदपि च। अतस्तेनैव तेजो दत्तं प्रथमम्। अन्ते तेनैवाऽपहृतम्। इति तेजः सान्निध्ये सर्वम्। अपहरणेन सर्वनाशश्च। स्वयंवरस्य मुखे आरम्भे। तदा हि सर्वे मिलन्ति। ननु परब्रह्मरूपस्य भगवतः समाश्रयणे कथं प्राणिनामनिष्टकरणम्। तत्राऽऽह-**स्मरदुर्मदानामिति** स्मरेण दुष्टो मदो येषाम्। अतस्तेषां तेजोहरणे दोषरूपमदहरणादुपकार एव तेषां कृतः। **खल्विति** राज्ञः सम्मतिः। **अभिहतश्चेति**। ज्ञातोऽभिहतश्च। धनुषोऽपि सज्जीकरणं ज्ञातम्। तत उक्तम्-**सज्जीकृतेनेति**। चकारादिन्द्रप्रस्थस्थानम् ॥७॥

व्याख्यार्थ—हमने श्री कृष्ण का हर प्रकार से आश्रय किया है, इसलिये हम श्री

कृष्ण के ही कहलाते हैं। जिन भगवान् तक इन्द्रियों की पहुंच नहीं है, उन के आश्रय के बिना अतीन्द्रिय अर्थ का ज्ञान नहीं हो सकता। वहां हम एक चक्र नगर को त्याग कर ब्रह्मचारी के रूप में रहते थे। हमारी प्राप्ति के लिये ही भगवान् ने प्रतिज्ञा की थी, इसलिये द्रोपदी के स्वयंवर प्रस्ताव में नहीं दिखाई देते हुये, मत्स्य का वेध करवाने के लिये सब राजाओं को बुलाया था। यह सारा सम्मेलन श्री कृष्ण ने हमारे तेज को जगत् में प्रकाशित करने हेतु ही किया था। भगवान् की कृपा से सब राजाओं का तेज, अदृश्य मत्स्य का ज्ञान, द्रोपदी सी स्त्री, ये तीनों बातें हमें प्राप्त हुई। द्रोपदी का नाम कृष्णा होने से श्रीकृष्ण ने अपने नाम की समानता मानकर उनके सखा रूप हमारे साथ उस कृष्णा का योग बिठाया। अतीन्द्रिय मत्स्य का ज्ञान, उन राजाओं का तथा अपना तेज श्री कृष्ण ने हमें प्राप्त कराया। इस प्रकार उनने जो तेज पहले हमें प्रदान किया था उसे ही अन्त में छिना लिया है। तेज हरण के साथ मेरा सब कुछ हर लिया गया है। तेज के हरण हो जाने से सर्वनाश हो गया है। भगवान् परब्रह्म रूप हैं, उनके आश्रय से प्राणियों का अनिष्ट किस प्रकार हो सकता है ? जिनका आश्रय लेने से उन्होंने दूसरों का तेज हर लिया ऐसा क्यों ? ऐसी शंका उत्पन्न होने पर कहा जा रहा है कि उन राजाओं में कामदेव के समान दुष्टमद था। अतः उनका दोष रूप मद हरने से उन राजाओं का उपकार ही किया। इस प्रसंग में युधिष्ठिर की भी संमति रखने के लिये मूल में 'खलु' अव्यय का प्रयोग किया है। मत्स्य, जो न दिखाई देने वाला था, उसे जान लिया गया और उसका वेध किया गया। ये दोनों बातें उन्हीं के आश्रय से सिद्ध हुई। धनुष को कैसे चढाया जाना चाहिये, यह भी उन्हीं के आश्रय से जाना गया। इसीलिये धनुष सज्जावाली बात मूल में आई है। इन्द्रप्रस्थ का स्थान भी उन्हीं के आश्रय से मिला है, अतः मूल में "च" अव्यय का प्रयोग हुआ है ।।७।।

आभास—सत्त्वमिश्रसत्त्वेनोपकारमाह--

आभासार्थ—अब सत्त्वगुणमिश्रित सत्त्व के द्वारा किये गये उपकार का वर्णन कहा जा रहा है--

श्लोक—**यत्सन्निधावहमु खाण्डवमग्नयेऽदा-**
मिन्द्रञ्च सामरगणं तरसा विजित्य।

लब्धा सभा मयकृताद्भुतशिल्पमाया
दिग्भ्योऽहरन्नृपतयो बलिमध्वरे ते ॥८॥

श्लोकार्थ—जिन भगवान् श्री कृष्ण ने समीप रहकर युद्ध भूमि में देवताओं सहित इन्द्र को जीतकर खाण्डव वन अग्नि के लिये दिया। उन्हीं श्री कृष्ण के कृपा प्रसाद से मय दानव की बनाई हुई अद्भुत शिल्पकारी से युक्त सभा हमने प्राप्त की समस्त दिशाओं के राजागण आप के राजसूयादि यज्ञ में भेंटे अर्पण करने आए, यह उन श्री कृष्ण का अनुग्रह था ॥८॥

सुबोधिनी—**यत्सन्निधाविति**। सत्त्वमिश्रणाद्भगवत्सान्निध्यम्। **उ इति** वितर्क। कुत्राऽहं कुत्र तत्कर्मेति। खाण्डवं वनं सर्वौषधिसहितम्। अग्नये याचकाय। इन्द्रस्य वनमिति त विजित्य। **सभा** राजसूयसभा। यत्र दुर्योधनमोहः खाण्डववने स्थितस्य मयस्य प्राणरक्षणात्स्वप्राणपरीवर्त्तरूपं सर्वमायामयमद्भुतशिल्परचनारूपं च कार्यं दत्तवान्। विश्वकर्मा शिल्पमेव जानाति। मयस्तु मायामपि। अत्राऽपि त्रयं प्राप्तम। दानसामर्थ्यं गाण्डीवादि इन्द्रादीनां तेजः सभा च। ततस्तवाऽप्युपकारो जात इत्याह—**दिग्भ्योऽहरन्निति**। ते अध्वरे राजसूये। बलिं पूजामुपढौकनरूपं द्रव्यम् ॥८॥

व्याख्यार्थ—सत्त्वगुण का मिश्रण होने से भगवान् की समीपता है। देवताओं के गण सहित इन्द्र को जीतकर खाण्डव वन को जलाने का कार्य किया। इस प्रकार का तर्क आने से मूल में 'उ' अव्यय रखा गया है। खाण्डव वन समस्त औषधियों से युक्त था। उसे अग्नि से मांगा था। वह वन इन्द्र का होने से उसे जीतकर अग्नि को दिया गया। उस अग्नि भोग से बचे हुए मय दानव ने राजसूय यज्ञ में एक सभा बनाकर भेंट की। जिस सभा में दुर्योधन को मोह उत्पन्न हो गया था। खाण्डव वन में रहने वाले मय दानव के प्राणों को रक्षा करने से उस दानव ने प्राण बचने के फल स्वरूप, एक मायामयी सभा, जिस में अनूठो शिल्प विद्या का चित्रात्मक प्रयोग किया गया था, भेंट में दी। विश्वकर्मा भी शिल्पविद्या में अतुलनीय है, परन्तु मय दानव तो शिल्पविद्या के साथ साथ माया प्रयोग भी जानता था। इस प्रकार यहां तीन पदार्थों की प्राप्ति हुई। अग्नि को खाण्डव वन देने की सामर्थ्य वाला गाण्डीव धनुष, इन्द्रादि का तेज तथा मय दानव की बनाई हुई सभा। ये सब भगवान् की समीपता का फल है। आप के राजसूय यज्ञ में विभिन्न दिशाओं के राजागण भेंट रूप द्रव्य को लाए। श्री कृष्ण के हम पर ये महान् उपकार रहै ॥८॥

आभास—यत्तेजसेति विगीतश्लोको मध्येऽधिकः। सोऽपि व्याख्यायते—

आभासार्थ—नीचे का श्लोक क्षेपक होने से अधिक है, वह भी व्याख्या करने योग्य है—

श्लोक—**यत्तेजसा नृपशिरोङ्घ्रिमहन्मखार्थ-**
मार्योऽनुजस्तव गजायुतसत्त्ववीर्यः ।
तेनाऽऽहृताः प्रमथनाथमखाय भूपा
यन्मोचितास्तदनयन् बलिमध्वरे ते ।।६।।

श्लोकार्थ—दश हजार हाथियों के समान बलवाले पराक्रमशील आपके लघु भ्राता भीमसेन से वह जरासन्ध, जो महादेव की बलि चढ़ाने के लिए अनेक राजाओं के सिर पर अपना पांव रखे हुए था, मारा गया। यह श्री कृष्ण के तेज का ही प्रताप था। ऐसे वे मुक्त किये गये राजा गण आपके यज्ञ में भेंटें लाये ।।६।।

सुबोधिनी—यस्य भगवतस्तेजसा। **नृपशिरोङ्घ्रिम्**। नृपशिरस्सु अङ्घ्रिर्यस्य जरासन्धस्य। तक मखार्थमहन्। **आर्यो** मम ज्येष्ठभ्राता भीमः। तवाऽनुजः। **गजायुतसत्त्ववीर्य्यः** अयुतनागधैर्यबलः। तेन च जरासन्धेनाऽऽहृता बन्धा गृहीताः **प्रमथनाथमखाय** महाभैरवबलिनिमित्तं ये राजानस्ते च मोचिताः। यस्माते मोचितास्तस्मात्तेऽध्वरे बलिमनयन् आनीतवन्तः। अहमिव भीमोऽपि भगवत्सान्निध्याच्छ्लोकोक्तं फलं प्राप्तवानित्यर्थः ।।६।।

व्याख्यार्थ—राजाओं के मस्तक पर जिसका पैर था ऐसा जरासन्ध महापराक्रमी था। उसे आपके यज्ञ के लिए मेरे बड़े भ्राता (आर्य) और आपके छोटे भ्राता भीमसेन ने श्री कृष्ण के तेज से मार गिराया। स्वयं भीमसेन में भी दश हजार हाथियों जितना बल था परन्तु श्री कृष्ण से प्राप्त तेज द्वारा ही वह जरासन्ध को मार सका। जरासन्ध ने महाभैरव की बलि देने के लिए राजाओं को एकत्रित कर बन्दी बना रखा था। उन राजाओं को बन्धन से मुक्त किया। वे बन्धन से मुक्त हुए राजागण आपके यज्ञ में भेंटें अर्पण करने आये। जिस प्रकार भगवान् के सामीप्य से मुझे फल प्राप्त हुआ, उसी प्रकार भीमसेन को भी प्राप्त हुआ ।।६।।

आभास—तमोमिश्रसत्त्वेनोपकारमाह—

आभासार्थ—अब तमोमिश्रित सत्त्व द्वारा किये गये उपकार का वर्णन किया जा रहा है—

श्लोक—पत्नयास्तवाऽधिमखक्लृप्तमहाभिषेक-
श्लाघिष्ठचारुकबरं कितवैः सभायाम् ।
स्पृष्टं विकीर्य पदयोः पतिताश्रुमुख्या
यस्तत्स्त्रियोऽकृत हतेशविमुक्तकेशाः ।।१०।।

श्लोकार्थ—आँखों से आँसू बहाती श्री कृष्ण के चरणों में पड़ी आपकी द्रौपदी का राजसूय यज्ञ में गुँथा हुआ अभिषेक होने से प्रशंसनीय श्रेष्ठ रमणी का जूड़ा जिन कपटी दुर्योधनादिकों ने सभा में छूकर बिखेरा, उनकी स्त्रियों को श्री कृष्ण ने विधवा बनाकर सदा सदा के लिए खुले केशोंवाली कर दिया ।।१०।।

सुबोधिनी—**पत्नयास्वेति** । रजसा जातस्य तमसा नाश उचितः । तथापि सत्त्वेन तस्याऽपकारः कर्त्तृस्त्रीषु दत्तः । तथा करणे हेतुः—**अधिमखेति** । राजसूयमध्ये महाभिषेकप्रस्तावे यजमानपत्न्योः क्लृप्तो योऽयं महाभिषेकस्तेन श्लाघिष्ठं सर्वसभासु स्तुत्यं चारु मनोहरं च वेदलोकयोरुत्कृष्टं यत् कबरं तत् कितवैर्वञ्चकैर्दुर्द्यूते अपणितमपि पणत्वमारोप्य भीष्मादिस्थितसभायां पापप्राकट्याय यैः स्पृष्टं तत्स्त्रियो हतेशविमुक्तकेशाः कृताः । हत ईशो यो भर्ता तेन मृतभर्त्र्या विमुक्ताः केशा यासाम् । ननु भगवत एवं करणे को हेतुः ? तत्राऽऽह—**विकीर्य पदयोः पतिताश्रुमुख्या इति** । दुष्टस्पर्शेन दोषसम्बन्धात्तन्निराकरणार्थं गाढभक्तिहृदयेन "**हा नाथ द्वारकावासिन्नि**"ति रूपेण स्मरणे तदानीमेवोपस्थितस्य भगवतः अन्येषां महापातकित्वाद् द्रौपदीमात्रप्रत्यक्षस्य पदयोर्दुष्टस्पृष्टं कबरं विकीर्य पतिता या अश्रुमुखी तस्याः । तदानीं भगवान् द्वारकातः समागत्य तस्या अग्रे स्थित. । साऽपि तं दृष्ट्वा तस्य पादयोः पतिता अश्रूण्यवर्तयत् । अत एव '**या त्वरा द्रौपदीत्राण**" इति वाक्यं सङ्गच्छते । एवं गुप्ततयाऽपि सर्वदा सर्वं कार्यं करोतीत्यवगन्तव्यम् ।।१०।।

व्याख्यार्थ—द्रौपदी का प्राप्तिरूप उपकार श्रीकृष्ण ने रजोगुण से किया है । इसलिए रजोगुण से उत्पन्न होने वाले को तमोगुण द्वारा नाश होना योग्य है, तो भी सतोगुणी कार्य से द्रौपदी को अनर्थ प्राप्त हुआ है । क्योंकि सभा में उनके केशों की प्रशंसा होने से दुष्टों ने उनके केशों का स्पर्श किया है । उनको दिया जाने वाला प्रतिफल रूप अपकार स्पर्श करने वाली स्त्रियों को दिया है । इस बात का कारण बताते हैं । कि राजसूय यज्ञ के मध्य में महाभिषेक का प्रस्ताव हुआ । वहाँ यजमान और यजमान की स्त्री के ऊपर बहुत बड़ा अभिषेक हुआ । अभिषेक की उस वेला में सारी सभा में द्रौपदी के केशों की प्रशंसा हुई । क्योंकि केश बहुत मनोहर थे । लोक व वेद में भी प्रशंसा करने योग्य थे । ऐसे उन केशों का स्पर्श दुष्ट दुर्योधनादि ने द्यूत में हरा दिये जाने के बहाने से सभा के मध्य में किया । जिस सभा में भीष्म

आदि बैठे थे, उनके सामने ही उसने इस पाप को प्रकट किया। भगवान् श्री कृष्ण ने इनकी स्त्रियों को विधवा करके मुक्त केशों वाली बना दिया। भगवान् का ऐसा करने में क्या कारण ? इस प्रकार की कोई शंका करे, वहाँ कहते हैं, कि दुष्ट पुरुषों ने केशों का स्पर्श किया उस दोष के सम्बन्ध से छूटने के लिए हे" नाथ, हे द्वारिका वासिन्" इस प्रकार अनन्य भक्ति युक्त हृदय द्वारा प्रार्थना करते हुए द्रोपदी ने भगवान् का स्मरण किया। उसी समय भगवान् पधारे। उस सभा में बैठे हुए सभी पापियों के रहने पर केवल द्रोपदी को ही भगवान् के दर्शन हुए। उस समय दुष्टों द्वारा दूषित किये गये केशों को भगवान् के चरणारविन्दों में फैलाकर द्रोपदी जी ने प्रणाम किया तथा उनके नेत्रों में से झर-झर आँसू बहने लगे। उस समय भगवान् द्वारका में पधारे हो थे, वहां से सहसा पधार कर द्रोपदी के आगे उपस्थित हो गये। उनके दर्शन करते ही द्रोपदी चरणों में गिरकर रोने लगी। इसी कारण से उनका काम करने के लिए श्रीकृष्ण भगवान् ने बदला लिया अतः भक्तों की यह प्रार्थना उचित ही है, कि 'जैसे आपने द्रोपदी की रक्षा की वैसे ही हमारी भी रक्षा कीजिये।" इस प्रकार गुप्तरूप से भी भगवान् सब प्रकार से हित करते आये हैं यह जान लो ॥१०॥

आभास—रजोमिश्रतमसा य उपकारः कृतस्तमाह—

आभासार्थ—रजोगुण व तमोगुण के मिश्रण से जो उपकार किया गया है, उसे बताते हैं--

श्लोक—**यो नो जुगोप वनमेत्य दुरन्तकृच्छ्रा-**
द्दुर्वाससोऽरिविहितादयुताग्रभुग्यः।
शाकान्नमुष्टिमुपयुज्य यतस्त्रिलोकीं
तृप्ताममंस्त सलिले विनिमग्नसङ्घः ॥११॥

श्लोकार्थ—शत्रु दुर्योधन द्वारा भेजे गये दुर्वासा से, जो दश हजार शिष्यों के भोजन कर लेने पर भोजन करते थे। ऐसे उस विकट कष्ट के समय हमारी रक्षा की। जिन भगवान् ने वन में आकर, बचे हुए शाकान्न को स्वीकार किया। जिससे जल में स्नान करते हुए ऋषि समूह ने त्रिलोकी को तृप्त मान लिया ॥११॥

सुबोधिनी—**यो नो जुगोपेति**। एवं ह्याख्यायिका। कदाचिद्दुर्वासाः षण्मासोपवासी पारणादिवसे सर्वदैत्यप्रार्थनया दुर्योधनगृहं गतः। तेन चाऽऽतिथ्येन सन्तोषितोऽयुतशिष्यसहितो वरं वृणीष्वेत्याह। तदा भगवता व्यामोहितो दुर्योधनः सहसा पाण्डूनां नाशः प्रार्थयितुमशक्य इति मन्यमानो व्याजेन प्रार्थयिष्यामीति सञ्चिन्त्य यथाऽस्मन्दृहे समागतं शिष्यैः सह तथैवाऽस्मज्ज्येष्ठभ्रातुर्युधिष्ठिरस्य गृहे गन्तव्यम्। परं द्रौपदीभोजनानन्तरम्। अन्यथा सा खेदं प्राप्स्यतीति वरमयाचत। ततस्तथेत्युक्त्वा तथैव गतो दुर्वासाः। पाण्डवानां (?) चाऽरण्ये भोजनाभावे भगवदुपदेशात्सूर्यप्रार्थनायां सर्वान्नपूर्णां स्थालीं ददत् सूय आह द्रौपदीभोजनावध्यक्षय्यमन्नं भविष्यतीति। ततः प्रभृति सा ऋ यागमनकालमतिक्रम्य भुङ्क्ते। एवं जाते सति प्रहरराज्यनन्तरं द्रौपदीभोजनं योगेन ज्ञा त्वा तथैवाऽऽगतः। तदा पाण्डवा ?) द्रौपदी च सर्वनाशं मेनिरे। तदा ध्यातः कृष्ण समागतो बहिरेव द्रौपदीमदृष्ट्वैव ऋषिं प्रत्युक्तवान् जातः पाकः स्नानं क्रियतामिति। तथेत्यावश्यकं कर्त्तुं दुर्वाससि गतेऽन्तः प्रविष्टो भगवान् द्रौपदीवैक्लव्यं दृष्ट्वा कवलमात्रावशिष्टे भोजने स्थाल्यामपि तावच्छिष्टं शाकान्नं प्राश्य त्रिलोकीमेव तृप्तामकृत। तदाह—**यो नो जुगोपेति**। यो भगवान् वनमेत्य नः अस्मान् जुगोप दुर्वाससो भयहेतुत्वात्पञ्चमी। दुरन्तं कृच्छ्रं यस्मात्। अरिविहितात् दुर्योधनेन प्रेरितात्। यः दुर्वासाः। अयुतं ब्राह्मणाः अग्रे भुञ्जते यस्य शाकेन सहितमन्नमुष्मिं प्रथमत एव वा भगवदर्थं स्थापितम्। नियतकृत्यं हि तत्। तदुपयुज्य स्वीकृत्य जुगोपेति सम्बन्धः। कथमेतावता गोपनम्। तत्राऽऽह। यत- सलिले निमग्न ऋषिसङ्घः। यः पूर्वमावश्यकं कर्त्तुं गतः स सलिले निमग्न उत्थानसमये त्रिलोकीमेव तृप्ताममंस्त। किमुताऽऽत्मानमित्यर्थः ॥११॥

व्याख्यार्थ—इस प्रसंग में एक छोटी सी आख्यायिका है, कि किसी समय छहमास का उपवास करने के बाद, पारणा किये जाने वाले दिन सब दैत्यों की प्रार्थना से दुर्योधन के घर गये। उसने अतिथियों का सम्मान किया। उन्हें सन्तुष्ट किया। तब दुर्वासा ने दश हजार शिष्यों सहित वर माँगने को कहा। उस समय भगवान् द्वारा दुर्योधन के अन्तःकरण में मोह उत्पन्न कर दिये जाने से वह सहसा ही पाण्डवों के नाश की प्रार्थना नहीं कर सका। अब किस बहाने से प्रार्थना की जाये, ऐसा विचार कर उसने कहा, कि जिस प्रकार आप हमारे घर शिष्यों सहित पधारे हो उसी प्रकार हमारे बड़े भ्राता युधिष्ठिरजी के घर पर भी पधारिये। परन्तु द्रोपदी के भोजन करने से पूर्व यदि आप वहाँ पधारोगे तो उन्हें अत्यन्त खेद (श्रम) होगा। अत उनके भोजन कर लेने के बाद आप वहां पधारियेगा ऐसा वर माँगा। इस प्रकार दुर्वासा ने उनकी बात को स्वीकार किया और उसी प्रमाण से वन में पाण्डवों के पास गये। पाण्डवों को वन में भोजन उपलब्ध न होने से, भगवान् के उपदेश से सूर्य से प्रार्थना करने पर सूर्य ने उन्हें सर्व अन्न मय एक पूर्ण थाली दी। साथ ही यह भी कहा कि द्रोपदी के भोजन कर लेने के पहले तक इस पात्र में कभी न घटने

वाला अन्न रहेगा। उस दिन से ही जब ऋषियों के आने का समय निकल जाता था, द्रोपदी भोजन करती थी। इस प्रकार क्रम चलता रहता था। एक प्रहर रात्रि बीतने पर द्रोपदी भोजन करती है, इस बात को योगबल द्वारा जानकर उसी आधार पर दुर्वासा आये। तब तो पाण्डवों तथा द्रोपदी ने "आज तो सर्वनाश का समय आ गया", ऐसा मानकर श्री कृष्ण का ध्यान किया। श्रीकृष्ण ने पधार कर द्रोपदी को वहां नहीं देखा। तब दुर्वासा से श्री कृष्ण ने कहा कि भोजन तैयार है, आप स्नानादिक से निबट आइये। तब दुर्वासा श्री कृष्ण के वचनों को मानकर आवश्यक नित्यकर्म हेतु चले गये। बाद में भगवान् भीतर पधारे, वहाँ द्रोपदी की व्याकुलता देखकर, ग्रास मात्र बचे हुए भोजन को, थाली में बचे हुए उतने से ही शाकान्न को आरोग कर सारी त्रिलोकी को तृप्त कर दिया। इसकी वास्तविकता कहते हैं, कि "भगवान् ने वन में पधार कर हमारी रक्षा की है।" जिस कष्ट का अन्त नहीं आ सकता था, दुर्वासा उसी कष्ट का कारण होने जा रहे थे। क्योंकि शत्रु दुर्योधन द्वारा उन्हें भेजा गया था। दश हजार ब्राह्मणों के भोजन कर लेने पर ही दुर्वासा भोजन करते थे। पात्र में शाक सहित मुष्टिमात्र अन्न था, अथवा पहले से ही हमेशा के समान भगवान् के लिए नैवेद्य निकाल कर फिर द्रोपदी के भोजन करने का नियम था। उस दिन भी भगवान् के लिए रखे हुए भोजन को भगवान् ने ग्रहण कर हमारी रक्षा की। भगवान् के शाकान्न मात्र आरोगने से रक्षा किस प्रकार हुई ? ऐसा जानने की इच्छा होने पर कहते हैं, कि भगवान् के आरोगने से नित्यकर्म करने के लिए जल में मग्न होकर, बाहर आने पर, ऋषियों ने सारी त्रिलोकी को तृप्त मान लिया। जब त्रिलोकी को ही तृप्त अनुभव कर लिया तो स्वयं की तृप्ति होने के अनुभव की बात स्वतः सिद्ध हो गई। वे तृप्त होकर सीधे स्नान स्थल से ही अन्यत्र चले गये ॥११॥

आभास—सत्त्वमिश्रतमसा कृतमाह—

आभासार्थ—अब सत्त्वगुण मिश्रित तमोगुण द्वारा किये गये उपकार के प्रसंग में कहते हैं—

श्लोक—**यत्तेजसाऽथ भगवान् युधि शूलपाणि-**
र्विस्मापितः सगिरिजोऽस्त्रमदान्निजं मे।

अन्येऽपि चाऽहममुनैव कलेवरेण
प्राप्तो महेन्द्रभवने महदासनार्द्धम् ॥१२॥

श्लोकार्थ—जिन भगवान् श्री कृष्ण के तेज से युद्ध में आश्चर्य चकित हुए पार्वती जी सहित भगवान् शूलपाणि शिव ने अपना अस्त्र मुझे दिया। अन्यों ने भी मुझे इसी प्रकार अस्त्र दिये। इसी शरीर से महेन्द्र भवन में विशाल सिंहासन के आधे भाग को प्राप्त किया ॥१२॥

सुबोधिनी—यत्तेजसेति। अथेति भिन्नप्रक्रमे। श्लोकद्वयेन द्रौपदीनिमित्तरक्षणस्योक्तत्वात्स्वपौरुषाभावाच्च तदपहाय केवलं स्वपौरुषसाध्यं चरित्रमिति। **भगवानिति** सन्तोषे वरदानहेतुः। **शूलपाणिरिति** विपरीते मारणहेतुः। एवं दुर्धर्षोऽपि महादेवो यत्तेजसा विस्मापितः। न हि जीवसामर्थ्येन ब्रह्मणो विस्मयो भवेत्। तत्रापि **सगिरिजः** पार्वतीसहितः। पर्वतपुत्री हि पर्वतादप्यधिकेन पदार्थेन विस्मिता भवतीति सूचितम्। अत्राऽपि किरातार्जुनकथाऽनुसन्धेया। परीक्षार्थं समागतो महादेवः सर्वव्रतोद्यापनरूपचिह्नसहितस्याऽर्जुनस्य चिह्नप्रदर्शनार्थं पार्वतीमप्यानीतवान्। तत्र शस्त्रास्त्रमुष्टिबाहुयुद्धेषु समाप्तेषु मल्लयुद्धेन स्वयं भूमौ पतित्वा स्वोपरिपतितार्जुनपृष्ठस्थचिह्ने पार्वत्या दृष्टे दम्पत्योर्हास्यमुखमवलोक्य भीतोऽर्जुनः स्तोत्रं कृतवान्। ततः प्रीतो महादेवः पाशुपतास्त्रं दत्तवान्। **मे** मह्यम्। अन्येऽपीन्द्रादयस्तदानीं समागत्य स्वास्त्राणि दत्तवन्तः। चकाराच्छत्रुजयश्च। किञ्च। तस्याऽस्त्रस्य प्रयोगसिद्धचर्थं महेन्द्रप्रस्थितमातलिप्रार्थनया तेनैव नीतो महेन्द्रभवने वर्षपञ्चकमिन्द्रासनस्याऽर्द्धं **महत्** इन्द्रोपवेशनभागादधिकं शरीरान्तरोपभोग्यममुनैव कलेवरेण तेजोमयेन प्राप्तवानस्मीत्यर्थः। अत्राऽपि त्रयं प्राप्तम्। महादेवसन्तोषः। अस्त्रप्राप्तिः। इन्द्रासनप्राप्तिश्चेति ॥१२॥

व्याख्यार्थ—पहले आये हुए दो श्लोकों में भगवान् को अपनी रक्षा करने वाले कहा गया है। उसमें कारण रूपा द्रोपदी होने से स्वयं के पराक्रम की कोई बात नहीं। इसलिए इस प्रसंग को न लेकर मात्र, अपने पराक्रम विषयक चरित्र प्रस्तुत किये हैं। इसलिए इसे अलग बताने के लिए मूल में 'अथ' शब्द लिखा है। महादेव प्रसन्न होकर वरदान देते हैं, यह बताने के लिए 'भगवान्' शब्द का विशेषण दिया है। यदि अप्रसन्न हो जायें तो नाश करदें; यह बताने के लिए उन्हें 'शूल पाणि' कहा गया है। ऐसी सारी शक्तियों से भरपूर महादेवजी को भी मैंने आश्चर्य चकित कर दिया, यह सब श्री कृष्ण का ही तेज प्रताप था। महादेव जी ब्रह्म रूप हैं, उन्हें जीव की सामर्थ्य से विस्मय क्यों होने लगा? इतना ही नहीं, वे पार्वती के साथ थे; पार्वती पर्वत की पुत्री हैं, उन्हें तो पर्वत से भी बड़ा पदार्थ देखकर ही अश्चर्य होना चाहिये। इस शब्द का यह गौरव है। इस प्रसंग में किरात व अर्जुन वाली युद्ध

घटना अवलोकनीय है। क्योंकि अर्जुन को परीक्षा के लिए महादेव जी यहाँ आये। सब व्रतों के उद्यापन रूप अर्जुन के गुण व प्रतीक चिह्न बताने के लिए पार्वती को भी अपने साथ लाये। वे परस्पर शस्त्र, अस्त्र व मुष्टि से भयावह युद्ध करने लगे। स्वयं पृथ्वी के ऊपर गिर पड़े और अपने ऊपर गिरे हुए अर्जुन के पीठ के चिह्न पार्वती को दिखलाये। इस कार्य कलाप से महादेव तथा पार्वती जी परस्पर मुस्कराये। उन दोनों का हास्य युक्त मुख देखकर अर्जुन भयाक्रान्त हो गया तथा शिव जी की प्रशंसा में स्तोत्र बनाया। उससे प्रसन्न हुए महादेव ने अपना पाशुपत नाम वाला अस्त्र अर्जुन को दिया। उस वेला में अन्य इन्द्रादिक देवताओं ने भी वहाँ आकर अपने अपने अस्त्र अर्जुन को प्रदान किये। मूल में 'च' अव्यय शत्रु से जीतने का वरदान सूचित करता है। अस्त्र प्रयोग की सिद्धि के लिए इन्द्र के द्वारा भेजे गये निज सारथि मातली से प्रार्थना किये जाने पर मैं मातलि के साथ इन्द्र भवन में गया, वहाँ पाँच वर्ष तक इन्द्र के आसन का विशेष भाग बैठने के लिए मिला। इन्द्र के बैठने के भाग से भी अधिक भाग अर्जुन को मिला। वह इन्द्रासन अलौकिक तथा तेजोमय शरीर से ही प्राप्त होता है; वह मुझे इसी शरीर से श्री कृष्ण की कृपा से मिला। इस प्रकार महादेवजी को सन्तोष, अस्त्र की प्राप्ति और इन्द्रासन की प्राप्ति, ये तीनों प्राप्त हुए ।१२।।

आभास—तमोमिश्रतमसा कृत्यमाह—

आभासार्थ—अब तमोगुण मिश्रित तमोगुण से किये गये चरित्र का निरूपण करते हैं—

श्लोक—**तत्रैव मे विहरतो भुजदण्डयुग्मं**
गाण्डीवलक्षणमरातिवधाय देवाः।
सेन्द्राः श्रिता यदनुभावितमाजमीढ
तेनाऽहमद्य मुषितः पुरुषेण भूम्ना ।।१३।।

श्लोकार्थ—जहाँ मैं इन्द्र भवन में विहार करता था, वहाँ शत्रु के वध के लिए देवताओं सहित इन्द्र ने मेरे दोनों हाथों तथा गाण्डीव धनुष का आश्रय लिया। ऐसे वे भूमा पुरुष, जिन्होंने मेरा ऐसा प्रभाव बढ़ाया; हे अजमीढ के वंश में उत्पन्न हुए युधिष्ठिर जी, उन्होंने मुझे अपनी माया से छल लिया ।।१३।।

सुबोधिनी—तत्रैवेति । तत्रैव स्वर्ग एव विहरतो मे भुजदण्डयुग्मम् । स्वयं चतुर्भुजा अपि केचनाऽधिक भुजाः केचन ततोऽप्यधिकभुजाः । आश्रयणे हेतुः **गाण्डीवलक्षणमिति** । गाण्डीवं लक्षणं चिन्हं यस्य । अनेनोभयोश्चिह्नता । युद्धधनुष्टङ्कारसज्जीकरणादौ हस्तद्वयं सर्वदा व्यापृतमिति ज्ञापितम् । न चैतावता कार्यं सिद्धयति । ममेन्द्रपुत्रत्वाद्बलस्य वायुजन्यत्वाद्गाण्डीवस्य चाऽऽग्नेयत्वादिन्द्रादीनां मूलभूतानामेव तत्र सत्त्वाद्धेत्वन्तरं वक्तव्यम् । इत्याकाङ्क्षायामाह-**यदनुभावितमिति। आजमीढेति**। वैलक्ष्याभावाय । स हि त्रिभिः पुरुषैः सह मुक्तः। तमसा मिलिततमसा वञ्चनस्याऽभिप्रेतत्वादुपकारासमाप्तावेव कारणगुणनिरूपणादाह-**तेनाऽहमिति** । मोषे हेतुः **पुरुषेणेति** । ब्रह्माण्डविग्रहत्वात् । रोगनाशे औषधत्यागवत् । तेजोऽपहरणेऽपि भगवतो व्यापकत्वाज्ज्ञानद्वारा मोक्षं दास्यतीति नाऽनाप्तत्वामित्याह-**भूम्नेति**। वस्तुतस्तु '**यत्तेजसा नृपशिरोङ्घ्रि**' श्लोकवत् "**पत्न्यास्तव**" '**यो नो जुगोपे**" त्येतावपि विनीतौ । अर्जुनविषयत्वाभावात् । कुशिलष्टत्वाच्च । अतः सत्त्वरजस्तमोभिरेव श्लोकत्रयप्रतिपाद्यैर्भगवच्चरित्रमुक्त्वा मोषश्चतुर्थे प्रतिपाद्यते। लोकत्रयजयस्यैवाऽभीष्टत्वात् । दैत्यजयः साधनप्राप्त्या निरूपणीयोऽपि भोगस्य प्राधान्यात्स एव निरूपितः । अर्थान्निरूपितोऽप्युपसंहारेऽनुवदनवञ्चनशेषतया निरूपितः । दैत्यानां तत्प्राधान्यात् । "**मायेत्यसुरा**" इति श्रुतेः । यत्पुनरग्रे भगवच्चरित्रकथनं तदवतारकार्यमिति नाऽत्यन्तमर्जुनानुग्रहः सिद्धयति । भूभारहरणस्य स्वापेक्षितत्वात् । "**मयैवते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्निति**" ति भगवद्वाक्याच्च । अतोऽर्जुने भगवत उपकारत्रयमेव गुणरूपम् । दोषाभावरूपं चाऽग्रे वक्ष्यते "**सौत्ये वृत**" इत्यादिभिस्त्रिभि । **कारणं करणञ्चैव प्रतिबन्धश्च कथ्यते स्वकृतत्वज्ञापनाय महात्म्यज्ञापनाय तत् । दोषाभावेन सहितं दैन्येनाऽपि विमिश्रितम् । कृष्णमामाहात्म्यविज्ञानं सर्वथा मुक्तिदायकम्** । इति निश्चयः । अतो माहात्म्यज्ञापनं त्रिभिः । त्रिभिश्च दोषाभावः । द्वयेन दैन्यमिति । अन्तर्बहिःसाधनहरणादिति युक्तमुत्पश्यामः ।।१३।।

व्याख्यार्थ—उस स्वर्ग में मैं विहार करता था । वहाँ देवतागण कोई चार भुजाओं से युक्त तो कोई उनसे भी अधिक भुजाओं वाले थे। इतना होते हुए भी उन्होंने मेरे दोनों भुजबल का आश्रय लिया । उसमें कारण बताते हैं, कि गाण्डीव धनुष के चिह्न मेरी भुजाओं में थे । इस बात से यह जाना जाता है, कि अर्जुन की दोनों भुजाओं में गाण्डीव के चिह्न थे । इससे युद्ध करना, धनुष का शब्द करना, धनुष को तैयार करना आदि सब कार्यों में दोनों हाथों की व्यस्तता सूचित होती है। अर्जुन इन्द्र का पुत्र है, बल वायु से उत्पन्न होता है और गाण्डीव धनुष अग्नि सम्बन्धी है । इन सब के मूलभूत सर्व साधन युक्त इन्द्रादिक स्वर्ग में रहते हुए भी, उनसे शत्रु नाश रूप कार्य न हो सका । तो फिर कारण क्या था ? यह जानने की इच्छा होने पर कहते हैं, कि मेरे भुजदण्ड भगवान् के प्रभाव से युक्त थे । अतः इन्द्रादिक ने उनका आश्रय किया । अजमीढ तीन पुरुषों के साथ मुक्त हुआ था । उसी प्रकार आपकी मुक्ति होगी, मन में किसी प्रकार का भेद न रखिये । यह बताने के लिए 'आजमीढ' शब्द का सम्बोधन दिया है । तमोगुण मिश्रित तमोगुण से छलने

का अभिप्राय होने से उपकार की समाप्ति के अन्तर्गत उसके कारण रूप गुण का निरूपण करते हैं, इसलिए कहते हैं, कि भगवान् ने मुझे छला है। छलने में कारण बताते हैं, कि वे पुरुष रूप हैं। अतः पुरुष का विग्रह ब्रह्माण्ड होने से उनने वे स्वरूप द्वारा अत्यन्त ही परोक्ष रूप से मोक्ष देने हेतु छला है। मोक्ष का यहां यही कारणपना है। शरीर में रोग उत्पन्न हो जाये, उसको मिटाने के लिए औषधि का सेवन कराया जाता है। रोग के नाश के बाद औषधि का त्याग कर दिया जाता है। अतः पृथ्वी के भार रूप राजाओं का नाश करने के लिए मुझ में भगवान् ने तेज स्थापित किया था। राजाओं के नाश होने के बाद वह तेज हर लिया। भगवान् में व्यापकना होने से वे ज्ञान द्वारा मोक्ष प्रदान करते हैं, अतः दीनता सिद्ध करने के लिए तेज हरण कर लिया है। 'भूमा' सर्वत्र व्यापक होने से, सभी पदार्थ स्वयं के होने से किसी अन्य पदार्थ को ग्रहण करने रूपी दोष उनमें नहीं हैं। सत्य रूप से तो "यत्तेजसा" इस नवें श्लोक से लगाकर "पत्न्यास्तव" और "यो नो जुगोप" यह दशवाँ तथा ग्यारहवाँ श्लोक भो विगोत है। शिष्टों द्वारा स्वीकार्य नहीं। क्योंकि इनमें अर्जुन के विषय में कुछ नहीं है। अतः रजोगुण, सतोगुण व तमोगुण से ही तीन श्लोकों में प्रतिपादन किया है। सत्य रूप में भगवान् का चरित्र कहकर चौथे श्लोक में भगवान् को छलने वाला बताया है। क्योंकि मनुष्य, देवता और दैत्य रूप जो तीन लोक हैं, उनको जीतना हो अर्जुन के लिए अभीष्ट था। उसमें दैत्यों को जीतने के लिए अस्त्रों की प्राप्ति को साधन रूप में निरूपित किया है। भोग की प्रधानता होने से इन्द्र के आसन की प्राप्ति को भोग रूप से बताया गया है और शत्रु वध के लिए इन्द्रादिक देवताओं द्वारा आश्रय करना बताया गया है। वहाँ दैत्यों के वध के अभिप्राय से निरूपण किया गया है। तो भी भगवान् ने छल लिया है। ऐसा प्रासगिक रूप से कहने में आया है। उसका कारण यह है, कि छलना माया का कार्य है। दैत्यों में माया की प्रधानता होने से यह कहा गया है। वेदों में दैत्यों को माया को उपासना करने वाला बताया गया है। इसलिए यहाँ छलने वालो बात बताई गई है। इसके बाद आगे जो भगवान् का चरित्र कहा गया है, वह उनका अवतार कार्य है। उससे अर्जुन के ऊपर बहुत अधिक कृपा सिद्ध नहीं होती। क्योंकि पृथ्वी का भार हरण करना भगवान् का इच्छित कार्य है। इसीलिए गीता जी में भगवान् ने अर्जुन के प्रति कहा है, "कि मैंने पहले से ही इन्हें मार रखा है, इसलिए हे अर्जुन, तू तो केवल निमित्त मात्र बन जा।" अतः ऊपर बताये गये तीनों ही गुण

भगवान् द्वारा अर्जुन के प्रति किये गये उपकार रूप हैं। अब तीन प्रकार के दोषों का अभाव अगले तीन श्लोकों में बताया जावेगा। "सौत्येवृत" इत्यादि तीन श्लोकों में निरूपित होगा ।।१३।।

कारिका—**कारणं करणञ्चैव, प्रतिबन्धश्च कथ्यते ।**
स्वकृतत्वज्ञापनाय माहात्म्यज्ञापनाय तत् ।
दोषाभावेन सहितं, दैन्येनाऽपि विमिश्रितम् ।
कृष्णमाहात्म्य विज्ञानं, सर्वथा मुक्तिदायकम् ।

कारिकार्थ—(उन तीन श्लोकों में) अर्जुन द्वारा संहार का कारण, स्वयं का संहार कार्य और अर्जुन के संहार का प्रतिबन्ध, इन तीनों की सत्यता को भगवान् ने स्वयं ही किया है। उसमें भगवान् द्वारा जो किया जाना योग्य है, वे उनकी महानता बताने के लिए है। दोष के अभाव सहित दीनता से मिला हुआ, ऐसा श्री कृष्ण के माहात्म्य का ज्ञान है। वह निश्चय ही पूर्णतः मुक्ति का देने वाला है। इसलिए तीन श्लोकों द्वारा श्री कृष्ण का माहात्म्य बताया जाना है। तीन श्लोक द्वारा दोष के अभाव का निरूपण, बाहरी तथा भीतरी साधन हरने के प्रसंग में दो श्लोकों द्वारा दीनता का निरूपण है ।।१३।।

आभास—तमोमिश्ररजसा चरित्रमाह—

आभासार्थ—अब तमोगुण मिश्रित रजोगुण से होने वाले चरित्र को कहा जा रहा है—

श्लोक—**यद्बान्धवः कुरुबलाब्धिमनन्तपारमेको रथेन ततरेऽहमनार्यसत्त्वम् ।**
प्रत्याहृतं पुरु धनञ्च मया परेषां तेजस्पदं मणिमयञ्च हृतं शिरोभ्यः ।।१४।।

श्लोकार्थ—जिन श्री कृष्ण का अकेला बन्धु रूप मैं कौरव सेना रूपी अनन्त समुद्र को एक रथ मात्र से ही पार कर गया तथा शत्रुओं के शिरों से मणिमय मुकुटों एवं अन्य भी बहुत से धनों को जीतकर लाया ।।१४।।

सुबोधिनी—यद्बान्धव इति। हेतुत्वेन कारणं वा। यस्य भगवतो बान्धवः। भगवद्बन्धुत्वेनैव भजनसान्निध्याद्यभावेऽपि कुरुबलाब्धितरणम्। सेनाया नित्यनूतनत्वाय अब्धित्वम्। **अनन्तपार-**

मिति । देशकालानवच्छिन्नम् । तत्रत्या अवध्या इति कालानवच्छिन्नता । अनुल्लङ्घ्या इति देशानवच्छिन्नता । तत्र एकः असहायः । उत्तरगोग्रहणे उत्तरस्य भीतस्य दर्शनार्थं स्थापितत्वात् । **रथेनेति** पल्वनशङ्का निवारिता । तेन निलीय गमनं परास्तम् । अर्नायाः कर्णादयस्त एव सत्त्वानि जलचरा यस्मिन् । अनेन तैस्तत्र पतितस्य पुनरनावृत्तिः सूचिता । कुतस्तरणमिति भावः । न केवलं तरणं कृतं किन्तु तत्रत्यानि रत्नान्यप्याहृतानीत्यभिप्रायेणाऽऽह-**प्रत्याहृतं पुरु धनञ्चेति** । वस्तुतस्तु तद्द्रव्यमर्जुनस्यैव । राज्यस्वामित्वात् । तैः परं बलाद्गृहीतम् । तत्पुनः प्रत्याहृतमिति प्रतिशब्दार्थः । चकाराद्वस्त्राणि । **तेजस्पदं** तेजसः स्थानम् । तद्व्याजेन तेजोऽप्यपहृतमित्यर्थः । मणिमयममूल्यम् । सर्वपुरुषार्थसाधकं वा अनेन सर्वस्वं सर्वे च पुरुषार्था हृता इति ज्ञापितम् । चकाराच्छिरोरत्नं रत्नानि च सहजानि । **शिरोभ्य इति** । तद्व्याजेन शिरांस्येवाऽपहृतानीत्यर्थः । सम्माहनास्त्रेण मोहयित्वा सर्वं हृतम् । अत्र बन्धुत्वमेव निमित्तम् ।।१४।।

व्याख्यार्थ—कौरवों की सेना को पार करने में हेतुपने से भगवान् को ही कारण रूप बताया गया है और कहा गया है कि मैं भगवान् का बान्धव था, इसलिए उस बन्धुपने से ही कौरव रूपी सेना को तर गया, जब कि न तो मैंने उनका भजन ही किया और न ही निरन्तर उनके साथ रहने की स्थिति में रहा। प्रतिदिन नई सेना आने से उसे समुद्र कहा गया है। उस समुद्र का कोई अन्त नहीं था अर्थात् इस भाग में ही सेना है या इतने समय तक ही सेना रहेगी, ऐसा कुछ भी नहीं था। उस सेना के अन्दर जो योद्धा थे, उनका वध होने तक ही सेना रहेगी यह भी नियम नहीं था। उन विकट योद्धाओं को परास्त कर देना भी कोई हँसी खेल नहीं था अथवा एक निश्चित भाग तक ही सेना रहेगी यह भी स्थिति नहीं थी। ऐसी कौरव रूपी सेना को बिना किसी की सहायता के अकेला तर गया। विराट् नगर की गायों को कौरवों ने हर लिया था तब राजकुमार उत्तर के साथ अर्जुन गये थे, वहां उत्तर भयभीत हो गया। वहाँ भी अर्जुन उसके भय का निवारण करते हुए रथ को स्थापित करके रहे अर्थात् अकेले ही सबसे युद्धरत रहकर उन्हें परास्त किया। तो उस विशाल सेना को एक उड़ान जैसी भरकर उलाँघ गये होंगे ? ऐसी शंका को दूर करने के लिए कहते हैं कि मैं रथ द्वारा उस सेना समुद्र को पार कर गया। रथ में बैठे हुए होने पर उस समुद्र में छिपकर नहीं जाया जा सकता। जिस प्रकार समुद्र में बड़े-बड़े मगरमच्छ होते हैं उसी प्रकार इस कुरु सेना के सागर में कर्ण आदि बड़े वीर थे। ऐसे उस समुद्र में पड़ा मनुष्य वापस लौटकर नहीं आ सकता। फिर उस सागर को तर गये, यह कैसी बात ? अब इसका अभिप्राय बताया जा रहा है। समुद्र को जैसे ऊपर से तैरा जाता है, वह बात यहाँ घटित नहीं होती। इस सेना रूपी समुद्र को अन्दर से प्रवेश करते हुए मैंने तैरा है।

अन्दर प्रविष्ट होकर तैरने का यह परिणाम हुआ कि वे उस रत्नाकार में रत्नों को निकाल कर लाये हैं। जैसे समुद्र में से रत्नों को लाने वाला गहराई में डुबकी लगाकर ही ला सकता है वैसे ही कौरव सेना में प्रविष्ट होकर मैंने अपना बहुत सा धन वापस लौटा लिया। क्योंकि वास्तविक रूप से अर्जुन राज्य के स्वामी थे और वह धन अर्जुन का ही था परन्तु कौरवों ने उसे हड़प रखा था उसे अर्जुन ने पुनः प्राप्त कर लिया। यह बताने के लिए मूल में 'प्रति' अव्यय लिखा है। मूल में चकार होने से वस्त्र आदि भी वापस प्राप्त किये, ऐसा भाव हुआ। इतना ही नहीं वरन् उनके तेज को भी रत्नों के बहाने हर लिया। वह तेज मणिमय था। उनका सारा पुरुषार्थ ही ध्वस्त कर दिया और उनका सर्वस्व ले लिया। मूल में 'चकार' होने से मस्तक पर रहने वाले रत्न तथा अन्य भी अनेक प्रकार के रत्न ले लेना सिद्ध हुआ। उन रत्नों को लेने के बहाने शत्रुओं के मस्तकों को छिन्न कर दिया। सम्मोहनास्त्र द्वारा उन्हें मोह में डालकर उनका सब कुछ ले लिया। इन सब पराक्रमों के पीछे एक ही बात है और वह है भगवान् का अर्जुन के प्रति बन्धुत्व भाव ।।१४।।

आभास—सत्वमिश्ररजसा कृतमाह—

आभासार्थ—अब भगवान् ने जो उपकार सत्त्वगुण व रजोगुण को मिलाकर किया, उस प्रसंग में कहते हैं—

श्लोक—**यो भीष्मकर्णगुरुशल्यचमूष्वदभ्रराजन्य-**
वर्यरथमण्डलमण्डितासु ।
अग्रेचरो मम विभो रथयूथपानामायुर्मनांसि-
च दृशा सह ओज आर्च्छत् ।।१५।।

श्लोकार्थ—हे युधिष्ठिर जो, उत्तम राजकुमारों के रथ समूहों के मध्य शोभित भीष्म, कर्ण, द्रोणाचार्य और शल्य की सेना में मेरे आगे चलने वाले श्रीकृष्ण भगवान् ने रथ और सेना नायकों को उनकी आयुष्य तथा मन और इन्द्रियों की शक्ति के साथ हरण कर लिया ।।१५।।

सुबोधिनी –**यो भीष्मकर्णेति**। पूर्वं परीक्षार्थं गतत्वादसावधानैर्गतम् । इदानीं युद्धार्थं शस्त्रास्त्रादिसम्पन्ना मन्त्रादियुक्तकवचादिमन्तः कालेनाऽपि मारयितुमशक्याः कालकामपरशुरामादिजे-

तारोऽशक्या इति मत्वा स्वयमग्रेचरो भूत्वा तेषामायुर्मनांसि चोत्साहशक्तोश्चकाराद्विवेकधैर्यादिकञ्च दृशा दृग्मिमात्रेणैव आच्छिद् आहृतवान् । स (?) ओज: ओजसा सहेत्यर्थः । अथवा सहः अन्त:करणशक्तिः । ओजः इन्द्रियशक्तिः । तदपि हृतवानित्यर्थः । गुरुर्द्रोणः । चत्वार एव सेनापतयो जातास्तेषां चमूषु । भीष्मगुरुमध्ये कर्णकथनमति सामर्थ्यद्योतनार्थम् । अदभ्रा ये राजन्यवर्याः । कृत्राऽपि मरणार्थं छिद्ररहिता । तेषां रथमण्डलानि । तैर्मण्डितासु। अनेन तासु प्रविष्टो वशीकृतो भवतीति सूचितम्। एवं सेनाचतुष्टयेऽपि भगवतैव सर्वं कृतं न मयेत्युक्तम्। अनेन स्वयं करणमुक्तम् ॥१५॥

व्याख्यार्थ—पाण्डव विराट् नगर में रहते हैं अथवा नहीं इस बात की खोज खबर लेने के लिए कौरव विराट् नगर में गये थे। परन्तु वे वहाँ सावधान नहीं थे। अब कुरुक्षेत्र में तो युद्ध के लिए ही आये हुए होने के कारण अस्त्र-शस्त्र से युक्त होकर आये थे, इतना ही नहीं वे अभिमन्त्रित कवच आदि को पहन कर आये थे। अतः इस समय काल भी कौरवों को जीतने में असमर्थ सा था। इस प्रकार काल, काम और परशुराम को भी जीतने वाले होने से कौरव गण किसी भी प्रकार नहीं हराये जा सकते थे। ऐसा मानकर ही श्री कृष्ण भगवान् मेरे आगे रहने वाले बने और उन्होंने कौरव वीरों की आयु मन तथा उत्साह शक्ति का हरण कर लिया। मूल में चकार होने से कौरवों का विवेक और धैर्य भी भगवान् ने केवल देखने से ही हर लिया। इन सभी को उनकी इन्द्रियों की शक्ति सहित हरा है अथवा अन्तःकरण की शक्ति सहित हरा है। कौरवों के चार ही सेनापति थे। भीष्म, कर्ण, द्रोणाचार्य तथा शल्य ही सेना के सर्वेसर्वा थे। कर्ण में बहुत अधिक सामर्थ्य था, यह बताने के लिए भीष्म व द्रोणाचार्य के बीच में कर्ण को गिनाया गया है। उस सेना में और भी श्रेष्ठ राजकुमार थे जिन्हें मार सकने का कोई अवसर मिलना भी बड़ा कठिन था। ऐसे श्रेष्ठ राजकुमारों के मण्डलों से वह सेना सजी धजी लग रही थी। उनकी सेना में प्रवेश करने पर उनके वशीभूत हो जाना सूचित हुआ। इस प्रकार चार सेनापतियों की सेना का विनाश श्री कृष्ण भगवान् ने ही किया, इससे मैंने कुछ भी नहीं किया। इस कथन से यह सिद्ध होता है कि अपना सब कुछ कार्य भगवान् ने ही किया ॥१५॥

आभास—रजोमिश्ररजसाऽपि कृतमाह । परकृतप्रतिबन्धं वा—

आभासार्थ—रजोगुण से मिले हुए रजोगुण द्वारा किये गये उपकार को भी कहा जा रहा है। अथवा शत्रुओं के द्वारा किये गये अपकार का प्रतिबन्ध भी भग-

वान् ने ही किया है, अब इस बात का निरूपण किया जा रहा है—

श्लोक—यद्दोःषु मां प्रणिहितं गुरुभीष्मकर्ण-
द्रौणित्रिगर्तशलसैन्धवबाह्लिकाद्यैः ।
अस्त्राण्यमोघमहिमानि निरूपितानि
नोपास्पृशन्नृहरिदासमिवाऽऽसुराणि ।।१६।।

श्लोकार्थ—भगवान् के श्री हस्त से रक्षित मुझे; द्रोणाचार्य, भीष्म, कर्ण, अश्वत्थामा, सुशर्मा, शल्य, जयद्रथ और बाह्लीक आदि द्वारा मारने के लिए फेंके गये तथा सफल महिमा वाले अस्त्र उसी प्रकार स्पर्श नहीं कर सके जिस प्रकार असुरों के अस्त्र प्रह्लाद को छू तक न सके थे ।।१६।।

सुबोधिनी—**यद्दोःषु मामिति** । प्रणिहितं स्थापितम् । **द्रौणिरश्वत्थामा त्रिगर्त्तः** सुशर्मा । शलः शल्यः । **सैन्धवो** जयद्रथः । अमोघो महिमा **येषाम्** । **निरूपितानि** मद्वधार्थं प्रक्षिप्तान्यपि **नोपास्पृशन** समीपे रथादिकमपि न स्पृष्टवन्तः । नोपास्पृशन्निति पाठः । **नृहरिदासं** प्रह्लादम् । प्रसिद्धौ दृष्टान्तः । प्रमेयबले प्रमाणबलं दृष्टान्तः । दास्यभक्तेः शास्त्रीयत्वात् । यद्दोःष्विति प्रमेय-बलम् । **आसुराणि** असुरकृतानि शूलादीनि ।।१६।।

व्याख्यार्थ—मुझ पर भगवान् का हाथ था इसलिए कोई अस्त्र मुझे न छू सका। मुझे मारने के लिए द्रोणाचार्य, भीष्म, कर्ण, अश्वत्थामा, सुशर्मा, शल्य जयद्रथ, बाह्लीक आदि ने सफल महिमा वाले अस्त्र फेंके; पर वे अस्त्र मेरे पास आना तो दूर, बल्कि मेरे रथ आदि का भी स्पर्श न कर सके । मूल में 'नोपस्पृशुः' ऐसा भी पाठ मिलता है, उसके स्थान पर 'नोपास्पृशन्' यह पाठ योग्य है । प्रह्लादजी का दृष्टान्त प्रसिद्ध है । शास्त्रों में प्रह्लादजी द्वारा सिद्ध की गई दास्यभक्ति प्रमाण बल के रूप में दृष्टान्त बनी हुई है । यहां इस प्रसंग में भगवान् के श्री हस्त की रक्षा-मयी छाया में अर्जुन का स्थित होना बताकर प्रमेय बल को दर्शाया गया है । इस प्रकार प्रमेय के अन्तर्गत प्रमाण बल के दृष्टान्त को दिया गया है । असुरों के द्वारा किये गये त्रिशूल आदि के प्रहार जैसे प्रह्लादजी को नहीं लगे, वैसे ही द्रोणाचार्य आदि के द्वारा फेंके गये अस्त्र, मेरे रथ को भी न छू सके ।।१६।।

आभास—गुणकृतमुक्त्वा स्वभावकृतेषु नोचकर्मणि नियुक्तस्तदपराधं सोढ़वानित्याह—

आभासार्थ—सत्त्वादिक गुणों द्वारा किये गये उपकारों का निरूपण करने के पश्चात् अब अपने स्वभाव से कहे गये कार्यों में अर्थात् हीन कोटि के कार्यों में भगवान् लगाये जाने पर भी उन्होंने उस अपराध को सहन कर लिया। इस प्रसंग में आगे निरूपण किया जा रहा है—

श्लोक—**सौत्ये वृतः कुमतिनाऽऽत्मद ईश्वरो मे,**
यत्पादपद्ममभवाय भजन्ति भव्याः।
संश्रान्तवाहमरयो रथिनो भुविष्ठं,
न प्राहरन् यदनुभावनिरस्तचित्ताः ॥१७॥

श्लोकार्थ—सत्पुरुष मोक्ष के लिए जिनके चरणों को भजते हैं, ऐसे उन भगवान् को मुझ दुष्ट बुद्धिवाले ने सारथीपने का काम दिया। जिस समय मेरे रथ के घोड़े थक गये थे और मैं पृथ्वी पर खड़ा था, उस समय में भी प्रभु के प्रभाव से जिनके चित्त नष्ट हो गये हैं, ऐसे मेरे शत्रुगण मुझे मारने में समर्थ न हो सके ॥१७॥

सुबोधिनी—सौत्ये वृत इति। सूतकर्मणि वृतः। तत्र हेतुः। **कुमतिना**। फलस्य कुत्सित-साध्यसाधनत्वेन नियोजितत्वात्। सहने हेतुः **आत्मद इति**। स हि तुष्टः स्वात्मानं प्रयच्छति। ततः स कुत्राऽपि नियोगं करोतु। प्राप्तत्वादित्यर्थः। तर्हि को दोषस्तत्राऽऽह **ईश्वर इति**। यद्य-प्यात्मदस्तथापीश्वरःकर्त्तुमकर्त्तुमन्यथा कर्त्तुं समर्थः। अनेन तेजोहरणमल्पमेव जातमिति भावः। **मे** मया। मह्यं वा। न हि सौत्येन किञ्चित्कार्यं सिद्धम्। प्रतिष्ठामात्रं परम्। कुमतित्वं प्रकटयति—**यत्पादपद्ममिति**। **भव्याः** सत्तायां परिनिष्ठिताः। सन्त इति यावत्। **अभवाय** मोक्षाय। **पादेति** भक्तिमार्गेण। **पद्ममिति** सुखसेव्यत्वाय रस्यत्वाय च। **भजन्ति** सेवन्ते। **"यद्दो षु मां प्रणिहितमि"**त्यत्र निरूपितमपि शस्त्राद्यस्पर्शं लोकरीत्या स्पष्टसम्भावनाभावात् पुनर्जयद्रथवधे मध्याह्ने श्रान्तवाहानां विशल्यकरणार्थमुत्तीर्णं मां न प्राहरन्नित्याह। **संश्रान्तवाहमिति** साधना-भावः सूचितः। **अरय इति** मारणावश्यकत्वम्। **रथिनो भुविष्ठमिति** साधनासाधनाभ्यां बहुवच-नैकवचनाभ्यां च कामनायामपि शत्रूणां दुर्लभाऽवस्था सूचिता। यस्य भगवतोऽनुभावेनाऽलौ-किकसामर्थ्येन निरस्तं **चित्तं** मारणीयोऽयमिति ज्ञानं येषाम्। अनेनाऽपकाऽप्यानुषङ्गिकं फलमेता-दृशमिति सूचितम् ॥१७॥

व्याख्यार्थ—मैंने भगवान् को सारथी के काम में रखा, कारण यह, कि मैं दुष्ट बुद्धि वाला था। इसलिए आनन्द रूप भगवान् जो फल रूप हैं, उन्हें मैंने अप ा महत्त्व बताने के लिए सारथीपने का काम सौंपा, यह मेरी दुष्ट बुद्धि ही थी। ऐसा

मेरा अपराध भी भगवान् ने सहन किया। कारण यह, कि भगवान् प्रसन्न होने पर अपनी आत्मा तक को दे देते हैं। जीव को भगवत् प्राप्ति हो जाने पर जीव जिस स्थल पर भी उनसे काम लेना चाहे, तब प्रभु उसमें किसी प्रकार की बाधा नहीं डालते। भगवान् की आत्मा तुम्हें प्राप्त हुई और तुमने इच्छानुसार उनका उपयोग किया, इसमें तुम्हारा दोष ही क्या ? ऐसी शंका होने पर कहते हैं, कि वे प्रभु तो ईश्वर हैं, इसलिए अपनी आत्मा को भी दे सकते हैं; तो भी कर्तुम् (करने वाले), अकर्तुं (नहीं करने वाले) और अन्यथा कर्तुं (अन्य रूप से करने वाले) की सामर्थ्य वाले भगवान् हैं। इसलिए मैंने बड़ा अपराध किया है और उसके बदले में उन प्रभु ने मेरा तेज हर लिया है। उस अपराध की एवज में तेज का हरण रूपी फल तो कहीं भी नहीं लगता। भगवान् को सारथी बनाने में किसी कार्य सिद्धि की भावना नहीं थी, मात्र यही, कि मेरी प्रतिष्ठा बढ़े। भगवान् को इस सारथीपने रूपी हीन कार्य में लगाने की दुष्ट बुद्धि को इस प्रकार सिद्ध किया है, कि सत्पुरुष मोक्ष के लिए जिन प्रभु के चरण कमलों की सेवा करते हैं, उन्हें मैंने इतना श्रम दिया। चरण कमलों की सेवा करने में यह अभिप्राय है, कि भक्तिमार्ग द्वारा चरणों की सेवा करते हैं। चरणों को कमल कहने का यह तात्पर्य है, कि सुख पूर्वक उनका सेवन हो सकता है, साथ ही सेवा करने में आनन्द की प्राप्ति होती है। इसी बात को पहले नवें श्लोक में भी कहा गया है। "भगवान् के श्री हस्त की रक्षामयी छाया के नीचे मेरी स्थिति थी, अतः शत्रुओं के अस्त्रों ने मेरा स्पर्श भी नहीं किया," ऐसा कथन होने पर भी लौकिक दृष्टि से उस रक्षा की कोई स्पष्ट सम्भावना सिद्ध नहीं होती। इसीलिए इसे अधिक स्पष्टता से बताने के लिए कहा जा रहा है कि जयद्रथ के वध के समय जब रथ के घोड़े थक गये थे, दोपहर का समय था, मैं भी थकान उतारने के लिए भूमि पर खड़ा था ऐसी स्थिति में भी शत्रुओं ने मुझे नहीं मारा। थके हुए घोड़े, साधनों का अभाव, सामने युद्ध के लिए कटिबद्ध शत्रु योद्धा हर प्रकार से मुझे मारने में सक्षम थे; क्योंकि वे रथों पर थे, मैं भूमि पर था, उनके पास रथ का साधन था, मैं साधन से रहित था, वे गिनती में अधिक थे और मैं अकेला था। 'शत्रु को अवश्य मार देना चाहिये," ऐसे उनके ज्ञान को भगवान् की अलौकिक सामर्थ्य ने नष्ट कर डाला। हाय, ऐसे उन भगवान् को मुझ दुष्ट बुद्धि ने सारथीपने जैसे हीन कार्य में लगाया तो भी भगवान् ने मेरे अपराध का विचार न करते हुए शत्रुओं से मेरी रक्षा की। इस प्रकार मेरे द्वारा अपकार किये जाने पर तेज का

हरण रूपी प्रासंगिक फल हुआ, यह सूचित किया गया है ।।१७।।

आभास—किञ्च । एतादृशेऽप्यपकारिणी परिहासदशायामपि वचनेनाऽपि नाऽपकारः कृत इत्याह—

आभासार्थ—और अधिक क्या कहूं, ऐसे अपराध करने के बाद भी श्री कृष्ण भगवान् ने मुझ से हँसी के प्रसंग में भी कभी अपकार भरे बचन नहीं बोले । इसी बात का निरूपण अब इस प्रकार बताया जा रहा है—

श्लोक—**नर्माण्युदाररुचिरस्मितशोभनानि हे-**
पार्थ हेऽर्जुन सखे कुरुनन्दनेति ।
सञ्जल्पितानि नरदेव हृदिस्पृशानि-
स्मर्तुर्लुठन्ति हृदयं मम माधवस्य ।।१८।।

श्लोकार्थ—हे नरदेव युधिष्ठिर जी, जब मैं भगवान् द्वारा कहे गये वचनों को याद करता हूं तो मेरा हृदय फट पड़ता है । हृदय को छूने वाले उनके ये वचन, हे पार्थ, हे अर्जुन, हे सखा, हे कुरु नन्दन आदि उन्होंने कितनी उदारता से मन्द मन्द मुस्कराते हुए, शोभित मुख द्वारा मुझसे कहे थे, उन्हें स्मरण करते ही मेरा हृदय भिद जाता है ।।१८।।

सुबोधिनी—नर्माणीति । अपराधाभावेऽपि स्वस्मरणार्थं सर्वावस्थासु तथा तथा वचनान्युक्तवान् । यथा हृदये प्रविष्टानि हृदय **लुठन्ति** लोठयन्ति । लुनन्तीति वा पाठः । **नर्माणि** सुखकराणि परिहासवचनानि । अर्थानुसन्धानाभावेऽपि स्वरूपत एव सुखकराणीत्याह । उदारं यद्रुचिरं स्मितम् । सर्वपुरुषार्थदानायोदारम् । रुचिरं रसोत्पादनाय । रसाभावे पुरुषार्थानामयथात्वात् । स्मितेनाऽल्पव्यामोहन सूचितम् । स्वभावसुन्दराणां स्मितेन शोभातिशयो वशीकरणार्थो भवति । तत्राऽनैकान्तिकं दृष्ट्वा हे पार्थेति सम्बोधयति । स्तब्ध दृष्ट्वाऽर्जुनेति । वृक्षवाचकत्वात्। वञ्चनापकरणादि दृष्ट्वा हे सखे इति । अचातुर्यं दृष्ट्वा कुरुनन्दनेति । क्षेत्रकर्षकत्वात्कुरोः अत एव भगवद्वाक्यानां सञ्जल्पितत्वमुक्तम् । **नरदेवेति** गूढबोधनार्थं सम्बोधनम् । वचनानां समर्थत्वान्मर्मस्पर्शित्वाद्धृदिस्पृशानीत्युक्तम् । मम हृदयं हृदये(?) मम माधवस्याऽस्मत्स्वामिनः सञ्जल्पितानीति सम्बन्धः ।।१८।।

व्याख्यार्थ—अपराध के अभाव हाने पर भी जिन के वचन हृदय में प्रवेश करके हृदय का भेदन कर देते हैं । वे वचन स्वयं का स्मरण करवाने के लिये भग-

वान् ने प्रत्येक अवस्था में कहे हैं। मूल में 'लूठन्ति' शब्द कहा गया है, पर कहीं 'लुनन्ति' पाठ भी मिलता है। सुख उत्पन्न करने वाले एवं हास्य वचनों को 'नर्म' कहा जाता है। उस के अर्थ का अनुसधान न होने पर भी स्वरूप से ही वे वचन सुख उत्पन्न करने वाले हैं। मंदहास्य एवं उदारता से भरे वे वचन मन का हरण करने वाले हैं, इसलिये वे विशेष शोभायुक्त हैं। पुरुषार्थ में यदि रस न हो तो उसे पुरुषार्थ नहीं कहा जाता। इसलिये मन्द हास्य थोड़ा मोह उत्पन्न करने वाला सूचित हुआ है। स्वभाव से जो सुन्दर होते हैं, उन का हास्य विशेष शोभा उत्पन्न करने वाला होता है और प्रत्येक को वशीभूत कर लेता है। भगवान् के मन्द हास्य पर भी जब मैं मोहित नहीं हुआ तब पृथा (कुंती) भगवान् की सम्बन्धिनो होने से, उसी सम्बन्ध के आधार पर मुझे वश में करने लगे और पार्थ सम्बोधन देकर पुकारने लगे। उन के ऐसा कहने पर भी जब मैं चुप रहा तो हे अर्जुन ऐसा सम्बोधन देकर मुझे बुलाते थे। (अर्जुन वृक्ष विशेष का भी नाम है, जो झुका हुआ न होकर आकाश की ओर सीधा बढ़ता है)। जिस प्रकार 'वृक्ष नम्रता रहित स्तब्ध होता है, उसी प्रकार तुम कैसे स्तब्ध हो रहे हो", यह सूचित किया गया है। छल को दूर करने रूपी धर्म मुझ में देखकर, "हे सखा" का सम्बोधन देकर मुझे पुकारते थे। मुझे अचतुर देखकर "कुरुराज" अर्थात् खेत जोतने वाला कहा करते थे। भगवान् के वचनों को 'सञ्जल्पित' कहा गया है, जिसका तात्पर्य यह है कि प्रतिवादी पर विजय पाने वाले शब्द समूह, जिन्हें जल्प कहते हैं। अर्जुन की चातुर्य रहितता को लक्ष्य करके बोल जाने शब्द 'जल्प' कहे गए हैं। मूल में युधिष्ठिर के लिये 'नर देव' विशेषण दिया गया है, जो भगवान् के गूढ अभिप्राय को सिद्ध करने वाला है। भगवान् के वे वचन समर्थ और मर्म का स्पर्श करने वाले होने से मेरे हृदय का स्पर्श करने वाले थे। प्रभु के वे वचन मेरे हृदय का भेदन करने वाले हैं, क्योंकि भगवान् मेरे स्वामी हैं, इसीलिये उनके वचन मेरे हृदय की गहराइयों में पैंठ गये हैं ॥१८॥

आभास—एवमपराधापनोदनार्थं प्रतीकारे कृते तद्धेतुका अन्येऽप्यपराधाः कृताः। तानपि दूरीकृतवानित्याह—

आभासार्थ—इस प्रकार अपराध की निवृत्ति करने के लिए उपाय करते हुए तथा उसी प्रकार और दूसरे भी जो अपराध मुझ से हुए, भगवान् ने उन्हें दूर किया

इसी शृंखला में आगे कहते हैं—

श्लोक—**शय्यासनाटनविकत्थनभोजनादि-**
ष्वैक्याद्वयस्य ऋतवानिति विप्रलब्धः ।
सख्युः सखेव पितृवत्तनयस्य सर्वं
सेहे महान्महितया कुमतेरघं मे ॥१६॥

श्लोकार्थ—शय्या, आसन, भ्रमण, वार्तालाप और भोजन आदि में एक साथ रहते हुए भगवान् मुझ से कहा करते थे, कि हे मित्र तुम्हारी बातें सत्य हैं, इस प्रकार विनोद भरी बातें बोल बोलकर भगवान् ने मुझे छल लिया। जिस प्रकार मित्र की बातें मित्र सहन करता है, पुत्र की बातों को पिता सहन करता है उसी प्रकार अमित महिमा वाले भगवान् ने अपना महानता से दुष्ट बुद्धि वाले मुझ अर्जुन के सारे पाप सहन किये हैं ॥१६॥

सुबोधिनी—शय्येति । शय्यायां शय्याविषये । आसनादिविषयेषु च । तामसादिस्थानानि शय्यासनाटनानि । विकत्थनं सन्निपातकार्यं स्वश्लाघारूपम् । भोजनादीन्यावश्यकलौकिकानि । **ऐक्यात्** एकभावात् । न हि स्वस्मात्कश्चित्कदाचिच्छङ्कते । ऐक्यकरण भगवदुपकारः । दुष्टस्य ततो मदाद्विप्रलम्भः वक्रोक्त्या वञ्चनम् । तत्र वञ्चनशब्दमाह—**हे वयस्येति** । **वयसा तुल्ययोर्मध्ये** कुतस्तवाऽऽधिक्यम् । कथं वा । मित्रमिति वा । **किञ्च** । **ऋतवानिति** । सत्यवानित्यर्थः । असत्यकरणं मत्वा तथा वचनम् । सहनं च न मनसि रोषस्थापनेन । सह्यदोषे सखिदृष्टान्तः । असह्यदोषे तु पितृदृष्टान्तः । तस्याऽप्यसह्यदोषसङ्ग्रहार्थम्—**सर्वमिति** । सहने प्रयोजक रूपमाह-**महानिति** । न हि पिपीलिकादीनामपराधं गजो मन्यते । उपढौकनाद्यभावायाऽऽह—**महितयेति** । स्वमहिम्नैव । हेत्वन्तरमाह—**कुमतेरिति** ॥१६॥

व्याख्यार्थ—शयन सम्बन्धी और आसनादिक सम्बन्धी मेरा अपराध प्रभु ने सहन किया है। शय्या, आसन तथा चलना फिरना ये तामसादिक स्थान हैं और उतावलेपन में स्वयं का बखान करना यह सन्निपात का कार्य है। भोजन आदि तो आवश्यक एवं लौकिक कार्य हैं। इन प्रत्येक कार्य में एक जैसा भाव रखना छलना रूपी हास्य विनोद है। कारण, कि ऐकता रखने से वे स्वयं एक रूप ही हो गये। एकता होने से फिर शंका का कोई स्थान नहीं रह जाता। भगवान् ने अपने साथ मेरी एकता की, यह उनका बहुत बड़ा उपकार है। पर उस उपकार से दुष्ट को मद हो जाना सम्भव है। इसलिए मुझे मद हो जाने से, मैंने भगवान् को कठोर वचन कहकर छला है। मैंने उनसे इस प्रकार कहा, कि हे महाराज आप अवस्था में मेरे

बराबर हो, फिर आपकी अधिकता किस कारण ? और यदि है, तो वह अधिकता किस प्रकार की है ? अथवा यदि आप समान हो तो मित्र कैसे हुए ? आप सत्ययुक्त हो तो असत्य कैसे कर देते हो ? इत्यादि इत्यादि मेरे द्वारा बोले जाने वाले असंगत वचनों को भी प्रभु ने सहन किया। रोष उत्पन्न होने पर भी उसे मन में दबा लेना सहन शीलता कहलाती है, इस प्रमाण से भगवान् ने मेरे वचनों को सहन किया है। दोषों को सहन करने की क्षमता के कारण सखा का दृष्टान्त दिया गया है, अर्थात् जो दोष सहन करने योग्य हैं, उन्हें सहन करना सखापन है और जो दोष सहन नहीं किये जा सकते उन्हें सहन कर लेने के प्रसंग में पिता का दृष्टान्त दिया गया है। जिन दोषों को पिता भी सहन नहीं कर सकते, उन्हें भगवान् ने सहन किया है। उन्हें सहन करने में स्वयं के स्वरूप में स्थिति ही मूल कारण है, यह बताने के लिए कहा गया है कि प्रभु अपने आप में 'महान्' हैं। जिस प्रकार चींटी का अपराध हाथी नहीं गिनता, उसी प्रकार मेरे अपराधों पर भगवान् ने तनिक भी ध्यान नहीं दिया। मैंने किसी भीं प्रकार की स्तुति करके अथवा भेंट अर्पण करके अपराधों की क्षमा नहीं माँगी। परन्तु भगवान् ने अपने बड़प्पन से उन्हें क्षमा कर दिया। उसमें भी एक दूसरा कारण प्रस्तुत कर हैं, कि मैं दुष्ट बुद्धि वाला था यह मानकर भगवान् उन सब व्यवहारों को सहन कर गये ॥१९॥

आभास—एवं सर्व चरित्रमुक्त्वा सर्वोपसंहारार्थं तत्कृतां लीलामनुस्मरति–

आभासार्थ—इस प्रकार भगवान् का प्रत्येक चरित्र कहकर सब का उपसंहार करने के लिए भगवान् की लीला का स्मरण करते हैं—

श्लोक—**सोऽहं नृपेन्द्र रहितः पुरुषोत्तमेन**
सख्या प्रियेण सुहृदा हृदयेन शून्यः।
अध्वन्युरुक्रमपरिग्रहमङ्ग रक्षन्
गोपैरसद्भिरबलेव विनिर्जितोऽस्मि ॥२०॥

श्लोकार्थ—हे नृपेन्द्र, मित्र, प्रिय और सुहृद् पुरुषोत्तम से रहित होने के कारण मैं हृदय शून्य हो गया हूं। हे अङ्ग, मार्ग में आते समय भगवान् की स्त्रियों की रक्षा करने वाले मुझे दुष्ट ग्वालों द्वारा अबला के समान जीत लिया गया ॥२०॥

सुबोधिनी—**सोऽहमिति** । **नृपेन्द्रेति** सम्बोधनमस्य विचारस्त्वयाऽवश्यं कर्त्तव्य इत्येतदर्थम् । पुरुषेणाऽपि रहितः **प्राणो** स्त्रयादिरूपः सर्वकार्यबहिष्कृतो भवति । किमुत पुरुषोत्तमेन । अनेनोत्तमकार्योपसहारो ज्ञापितः । **सख्येति** मध्यमकार्योपसंहारः । **प्रियेणेति** ततः परः । प्रियजनः प्रियस्य निकृष्टमपि करोति । एवं स्वनिष्ठकार्याभावहेतूनुक्त्वा भगवन्निष्ठाभावायाऽऽह-**सुहृदेति** । तद्राहित्यस्य फलमाह—**हृदयेन शून्य इति** । उत्कृष्ठधर्माणां तत्सहभावात्तदमगमे सर्वमपगतमिति शून्यता । हृदयं शून्यं जातमित्यर्थः । तेनाऽन्यदपि कार्यं जातमिति वदन् "**पराजितो वाऽथ भवानि**" ति सभावना सत्या जातेत्याह—**अध्वनीति परिग्रह**: स्त्रीवर्गः । **अङ्गे**ति कोमलसम्बोधनं प्रतीकारकरणाभावाय । **अबला** स्त्री ।।२०।।

व्याख्यार्थ—नृपेन्द्र सम्बोधन देकर यह समझाया गया है कि इन सब घटनाओं के बाद अब आपके द्वारा क्या किया जाना योग्य है, इसका विचार कीजियेगा। पुरुष से रहित स्त्री के समान प्राणी भी भगवान् पुरुषोत्तम रहित हो जाने पर सब कार्या से बहिष्कृत हो जाता है। हम भी पुरुषोत्तम से रहित हो गये हैं, अतः अब हमारा भी क्या प्रयोजन। इस कार्य द्वारा उत्तम कार्य का उपसहार जाना गया है। सखा शब्द से कार्य के मध्य भाग का उपसंहार किया गया है। प्रिय शब्द द्वारा इससे बाद वाले कार्य का उपसंहार बताया गया है। प्रियजन अपने प्रिय का निकृष्ट (निम्न) कार्य भी करते हैं। इस प्रकार अपने में स्थित कार्यों के अभाव का कारण बताकर भगवान में रहने वाले कार्यों के अभाव के विषय में बताते हैं। वे प्रभु मेरे प्रिय मित्र थे। मैं उनसे रहित हो गया हूँ। ऐसा होने से क्या फल हुआ? उसे कहते हैं, कि मैं हृदय शून्य हो गया हूँ,। हृदय को शून्यता ने एक और कार्य उत्पन्न कर दिया जैसा कि पहले युधिष्ठिर ने कहा था कि तुम किसी से हार कर तो नहीं लौटे हो? और वह सम्भावना सत्य हो गई। इसी प्रसंग में अर्जुन कहते हैं, कि मार्ग में भगवान् की स्त्रियों की रक्षा करता हुआ उनको लेकर मैं आ रहा था कि दुष्ट ग्वालों के द्वारा हरा दिया गया। अङ्ग कहकर कोमल सम्बोधन दिया है,जिससे यह बताया गया है कि मैं किसी भी गोप का प्रतिकार नहीं कर सका। जिस प्रकार बल रहित स्त्री हर किसी के द्वारा जीत ली जाती है, उसी प्रमाण से मैं भी जीत लिया गया हूं ।।२०।।

आभास - तेन सर्वनाशमाह—

आभासार्थ—भगवान् के पधार जाने से यह सब कुछ नष्ट हुआ है, इस विषय में आगे कहते हैं—

श्लोक—तद्वै धनुस्त इषवः स रथो हयास्ते सोऽहं रथी नृपतयो यत आनमन्ति ।
सर्वं क्षणेन तदभूदसदीशरिक्तं भस्मन् हुतं कुहकराद्धमिवोप्तमूष्याम् ।।२१।।

श्लोकार्थ—(जिन से मैंने महाभारतादि युद्ध जीते थे) वही मेरे धनुष बाण हैं और वही रथ तथा घोड़े हैं। उस रथ में बैठने वाला मैं भी वही हूं, जिसे सब राजागण चौतरफ से नमस्कार करते हुए झुक जाया करते थे। भगवान् के पधार जाने से सब कुछ क्षण मात्र में मिथ्या हो गया, जैसे भस्म में होम, कपटी की आराधना एवं ऊसर भूमि में बीजों का बोया जाना निष्फल हो जाता है ।।२१।।

सुबोधिनी—तद्वै धनुरिति । गाण्डीवलक्षणमित्युक्तम् । ते इषवः । "**अर्जुनस्य इमे बाणा**" इति । स रथः, अप्रतिहतः । ते हयाः, सर्वत्र गन्तारः । सोऽहं रथी, भीष्मादिहन्ता । यत सामग्रोतः । **आनमन्ति** सर्वतो नमन्ति आमनन्तीति वा पाठः । कीर्त्तयन्तीति वा (?) । तत्राऽङ्गारेभ्योऽन्यपगमे इङ्गालत्वं (?) सम्पद्यते तदा रूपं देवत्वं दाहकत्वं सर्वमेवाऽपगच्छति । तथा पूर्वोक्तेष्वीशः प्रविष्टस्तदा तत्सर्वं कार्यं निष्पन्नम् । तदपगमे सर्वं नष्टमित्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां प्राप्ताप्राप्तविवेकेन सर्वं भगवत्कृतमिति सिद्धं भवति । केवलान्वये विशेषेण तदेकसाध्यतानिश्चयाभावात् । इदानीं तु तदनाधारत्वेनाऽन्यथासिद्धमित्यभिप्रायेणाऽऽह—**असदिति** । ईशरिक्तं सर्वमसदभूदित्यर्थः । कार्याकर्त्तृत्वेनाऽसत्त्वम् । तेषां फलसाधकत्वमेव रूपमिति तदभावो वा । तत एव तत्प्रसिद्धेः । अत्राऽसाधकत्वे दृष्टान्तमाह लोकवेदभेदेन द्वयम् । लोकेऽपि स्ववृत्तिसेवाभ्यां द्वयम् । वेदे तु तत्समुदितमेकत्रैव द्वयम् । अतो दृष्टान्तत्रयमाह । तत्र वैदिको दृष्टान्तः—**भस्मनि हुतमिति** । '**यदि पूर्वस्यामाहुत्यां हुतायां यजमानो म्रियेत दक्षिणतःशीते भस्मन्युत्तरामाहुतिं निनयेद्भस्मोत्करं वा गमयेदि**''ति भस्मनि होम उक्त । स यथास्थित इत्यसति विनियुज्यते । तथा गोपेष्वस्माभिर्विनियुक्त इत्यर्थः । न वा ईश्वराराधनम् । न वा धर्मः । लोके ईश्वराराधनमस्ति । तेन कार्यं सिद्ध्यति । तत्कार्यमीश्वरराद्धमित्युच्यते । स चेदीश्वरः कुहको भवेत्तत्फलमसद्भवेत् । कुल्माषदानवत् । अनेनाऽधिष्ठातृदेवानां विपरीतफलदानेनाऽसत्त्वमुक्तम् । एवं फलवैफल्यं साध्यवैफल्यं चोक्त्वा साधनवैफल्यमाह—**इवोप्तमूष्यामिति** । **ऊषो** ऊषररूपा पृथिवी । गौरादित्वान्ङीष् । सा हि बीजशक्तिदाहिका। तत्र गतं बीजं स्वरूपतोऽपि नश्यति। तथाऽत्राऽपि लौकिकरथित्वमपि गतमित्यर्थ. ।।२१।।

व्याख्यार्थ—यह वही उत्तम लक्षणों वाला प्रशस्त गाण्डीव धनुष है और वे ही बाण हैं। "अर्जुन के इन बाणों ने बड़े-बड़े महारथियों के छक्के छुड़ा दिए थे।" यह वही रथ है, जिसका कोई बाल भी बाँका न कर सका। ये वे ही घोड़े हैं जो सब जगह जाने में समर्थ थे। मैं वही रथी हूं, जिसने भीष्म पितामह को बाणों की शैया पर सुला दिया था तथा अन्य महावीरों को भी मौत के घाट उतार दिया था। इस महान् विजेता की ये सब सामग्रियाँ, जिसके कारण बड़े बड़े अतिरथी चारों ओर

से झुक-झुक कर प्रणाम करते थे, अथवा 'आमनन्ति' पाठ होने पर यशगान किया करते थे; व्यर्थता को प्राप्त हो गई। जिस प्रकार अंगेरों में से अग्नि के निकल जाने पर वह कोयला मात्र रह जाता है और तब उसका रूप, प्रकाशत्व (देवत्व) तथा जलाने की क्षमता जाती रहती है, वही स्थिति मेरी हुई। जब पूर्व में वर्णन किये गये ईश्वर का उपर्युक्त सामग्रियों में प्रवेश रहा तब तक सारे कार्य सफल होते चले गये। उनके पधारते ही सब कुछ नष्ट हो गया। इस प्रकार अन्वय व्यतिरेक से, प्राप्त और अप्राप्त के विवेक से सब भगवान् ने ही किया था, यह सिद्ध हुआ। जब तक धनुष आदि सब में भगवान् विराजते थे तब तक प्रत्येक कार्य सिद्ध हुआ, इस बात का निश्चय उस समय तक नहीं हुआ था और अब उसमें से भगवान् निकल गये तो प्रत्येक का स्वरूप ही दूसरा हो गया है, कारण कि अब धनुषादिक से कुछ भी काम नहीं होता। अब बाण को साधने की शक्ति उसमें नहीं रही। अथवा भगवान् की ही उसमें प्रसिद्धि थी। भगवान् का अभाव होते ही वे धनुषादिक असत् हो गये। इनके मिथ्या हो जाने में लोक और वेद सम्बन्धी दृष्टान्त दिये गये हैं। लोक सम्बन्धी दृष्टान्त में भी स्वयं की वृत्ति और सेवा वृत्ति से दो दृष्टान्त दिये गये हैं। वेद सम्बन्धी तो एक ही दृष्टान्त दिया गया है। इस प्रकार कुल तीन दृष्टान्त दिये गये हैं। "भस्मी में होम करना," यह श्रुति में कहा गया है। "जब पूर्व में आहुति होमी जाती है, तो यजमान मरता है। जब दक्षिण की ओर ठंडी भस्म में आहुति डाली जाय, अथवा भस्म का समूह ले जाया जाय तो वह बुरी मानी जाती है।" इस प्रकार भस्म में होम लिखा गया है। जिस प्रकार भस्म में किया गया होम बुरे प्रसंग में होता है, उसी प्रकार दुष्ट ग्वालों पर धनुष का प्रयोग असफल हुआ वह न तो ईश्वर का आराधन हुआ न धर्म हुआ। लोक में यदि किसी राजा आदि की आराधना की जाय तो उससे कार्य की सिद्धि होती है। यदि वे राजा कपटी हों तो कुल्माष के दान के समान उनका फल भी खोटा होता है। ऐसा कहकर, धनुष आदि में अधिष्ठित देवताओं को असत् फल देने वाला बताया गया है। इस प्रकार फल और साध्य पदार्थ की निष्फलता बताकर अब साधन की निष्फलता बताते हैं कि जिस प्रकार खार वाली जमीन में बोए हुए बीज नहीं उगते, कारण यह, कि ऊपर जमीन बीज की शक्ति का दाह कर देती है, यहां तक कि उस बीज का स्वरूप ही नष्ट हो जाता है। इस प्रकार वह बीज जैसा पहले था, वैसा बोने के बाद नहीं रहता, इसी प्रकार मेरा भी लौकिक रथीपना चला

गया है, यह तात्पर्य निकला ॥२१॥

आभास—एवं द्वितीये उत्तरमुक्त्वा प्रथमस्योत्तरमाह—

आभासार्थ—जिस प्रकार अर्जुन की अस्वस्थता के लिए युधिष्ठिर ने पूछा था और उसका उत्तर अर्जुन ने दिया, उसी प्रकार युधिष्ठिर ने यादवों की कुशलता के विषय में भी पूछा था, उसका उत्तर अब इस प्रकार दिया जा रहा है—

श्लोक—**राजंस्त्वयाऽनुपृष्टानां सुहृदां नः सुहृत्पुरे ।**
विप्रशापविमूढानां निघ्नतां मुष्टिभिर्मिथः ॥२२॥
वारुणीं मदिरां पीत्वा मदोन्मथितचेतसाम् ।
अजानतामिवाऽन्योन्यं चतुःपञ्चाऽवशेषिताः ॥२३॥

श्लोकार्थ—ऐ राजा युधिष्ठिर, द्वारका पुरी में रहने वाले अपने सम्बन्धियों के विषय में आप द्वारा पूछे गये वे सब सम्बन्धी ब्राह्मण के शाप से बहुत ही मूढ़ बने हुए, वारुणी मदिरा का पान किये हुए, मद से मथित चित्त वाले, परस्पर मुष्टि युद्ध (मुक्का मार लड़ाई) करते हुए, जैसे एक दूसरे को जानते ही न हों, इस प्रकार लड़ते लड़ते मृत्यु को प्राप्त होते हुए, चार या पांच बाकी बचे हैं ॥२३-२३॥

सुबोधिनी—राजन्निति । सुहृदां यत्कुशलं पृष्टं सुहृत्पुरे तत्रोत्तरम् । शापो जातः । ततो विप्रशापविमूढानां देशान्तरे गत्वा मुष्टिभिर्विनिघ्नताम् । मिथो युद्धे हेतु—**वारुणीं मदिरां पीत्वेति** । अमृतमथनादुद्भूता मदिरा वारुणी । सा तालाद्यधिष्ठिता तालप्रभूता वारुणीत्युच्यते तेन मदेनोन्मथितचेतसां गतविवेकानां मध्ये चतुःपञ्चाऽवशेषिता इति सम्बन्धः । चतुर्भिर्युक्ताः । पञ्च चतुःपञ्च । नवद्रव्येषु यादवशरीरसङ्घातं प्रविष्टेषु चतुर्विधैः परमाणुभिः सहाऽऽकाशादयः पञ्चावशिष्टाः । ननु स्नेहस्य बाधकत्वात्कथमेवम् । अत आह—**अजानतामिति** । युद्धार्थं ज्ञानमन्यार्थमज्ञानमिति इवार्थः ॥२२॥२३॥

व्याख्यार्थ—सम्बन्धियों के नगर में सम्बन्धियों की कुशल युधिष्ठिर जी ने पूछी है, उसका उत्तर यह है कि उन्हें शाप लगा हुआ था । ब्राह्मण के शाप से वे मूढ़ बने हुए थे । अतः दूसरे स्थान पर जाकर वे परस्पर मुष्टि युद्ध करने लगे । उसका कारण यह था, कि यादवों ने मदिरा का पान कर रखा था । अमृत के लिए जब समुद्र मन्थन किया गया था तब मदिरा भी निकली थी जो ताड़ आदि के वृक्षों में

रहती है। इसलिए ताड़ आदि में से निकलने वाली मदिरा 'वारुणी' कहलाती है। उस मदिरा के पान से सब यादवों का विवेक जाता रहा है। उन में से मात्र चार पाँच बचे हैं। चार के साथ पांच होने से नौ रहे। अर्थात् पृथ्वी, जल, वायु, तेज, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन, इस प्रकार नौ द्रव्यों, से शरीर का मिला जुला आकार बना है। उन यादवों के शरीर के संघात में नौ द्रव्य प्रवेश होकर रहते थे, उस में से पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश, ये परमाणु गत रूप से पांच द्रव्य रहे हैं और पृथ्वी आदि चार द्रव्य जो स्थल रूप थे वे नष्ट होकर परमाणु रूप बन गए हैं। इस प्रकार आकाश आदि पांच द्रव्य रहे हैं। यादवों में परस्पर स्नेह था, अतः वह मारण कार्य से बाधक था, तो परस्पर नष्ट क्यों करने लगे? ऐसी शंका किए जाने पर कहते हैं, कि जैसे एक दूसरे को जानते ही नहीं। परस्पर न जानने का अभिप्राय यह है, कि उन्हें मार देने का ज्ञान तो था, पर किसे मारना चाहिए, किसलिए मारना चाहिए, यह ज्ञान नहीं था। यह बताने के लिए मूल में 'इव' अव्यय दिया गया है ।।२२-२३।।

आभास—अत्र कर्त्तारं सम्भावयति—

आभासार्थ—इस प्रकार यादवों का नाश करवाने में कर्त्ता कौन है? उसकी सम्भावना करते हुए कहते हैं-

श्लोक—प्रायेणैतद्भगवत ईश्वरस्य विचेष्टितम् ।
मिथो निघ्नन्ति भूतानि भावयन्ति च यन्मिथः ।।२४।।

श्लोकार्थ—प्रायः यह भगवान् की विशेष प्रकार की कार्य प्रणाली ही है, कि वे एक दूसरे को उत्पन्न करते हैं तथा प्राणीमात्र को एक दूसरे से नष्ट करवा देते हैं ।।२४।।

सुबोधिनी—**प्रायेणेति**। सर्वकर्तृत्वेन रक्षकत्वेन च भगवत्कर्तृत्वं निश्चीयते। कालेनाऽपि सम्भवतीति प्रायग्रहणम्। तत्रापि भगवतो विद्यमानत्वादुत्कटकोटिः। इहार्थमन्यथात्वेन व्याख्यास्यन्सर्वत्रैव लोककर्तृकं कार्यं भगवत्कार्यमित्याह-**मिथो निघ्नन्तीति**। तुल्यानां मारणरक्षणे प्रयोजककार्ये। स्वत उत्कर्षापकर्षाभावात्। चकारादुत्पादयन्ति। पुत्रगृहे स्वयमुत्पन्नः पिता पुत्रत्वमापद्यते ।।२४।।

व्याख्यार्थ—सब कुछ भगवान् ही करने वाले हैं, वे सबके रक्षक हैं, इसलिए यह कार्य भी भगवान् ने ही किया, यह निश्चय हुआ काल से भी यह कार्य होना सम्भव है, अतः विशेष करके यह भगवान् की चेष्टा है। ऐसा मूल में कहा गया है। विचार करने पर काल में भगवान् का निवास होने से, उन्होंने ही सब कुछ किया यह मानना उत्तम प्रकार है। लोक में जो कार्य मनुष्य द्वारा किया हुआ देखा जाता है, वस्तुतः वह मनुष्य द्वारा किया हुआ नहीं वरन् भगवान् द्वारा ही सब समय में वह लोक सम्बन्धी कार्य भी किए जाते हैं। वे भूत प्राणी मात्र को उत्पन्न करते हैं तथा मारते हैं, यह सारी चेष्टाएं भगवान् की हैं। पारस्परिक समानता होने पर उन्हें मारना अथवा रक्षा करना प्रयोजक कार्य हैं। रक्षा करने का कार्य तो तब हो जब दूसरा उसे प्रेरित करने वाला हो, क्योंकि उनमें स्वतः कोई छोटा अथवा बड़ा नहीं है। मूल में चकार होने से प्रभु उत्पन्न करते हैं और दूसरों को उत्पन्न कराते हैं, यह अभिप्राय है। पिता अपने ही पुत्र के घर में जन्म लेता है और पुत्र पने को प्राप्त होता है, इसलिए वेद आदि में यह लिखा हुआ है, कि 'अपनी स्त्री में स्वयं ही उत्पन्न होता है, ऐसी स्त्री को जाया कहा जाता है,' उसमें अपना ही पुत्र बनकर फिर से उसका भी पुत्र रूप बनता है। इस क्रम से पिता ही पौत्र रूप हो जाता है। बहुत से स्थानों पर तो पितामह और पौत्र के नाम एक जैसे मिल जाते हैं ॥२४॥

आभास—ननु प्रकृते कथं भगवत्कार्यत्वम्। श्रुत्यप्रतिपादितत्वादित्याशङ्क्याऽऽह–

आभासार्थ—यह तो किसी भी स्थान पर नहीं लिखा, कि भगवान् ने यादवों का संहार किया। तो फिर भगवान् ने संहार किया, यह क्यों कहा गया? ऐसी शंका का निवारण करते हुए कहते हैं—

श्लोक—**जलौकसां जले यद्वन्महान्तोऽदन्त्यणीयसः।**
दुर्बलान् बलिनो राजन्महान्तो बलिनो मिथः ॥२५॥
एवं बलिष्ठैर्यदुभिर्महद्भिरितरान् विभुः।
यदून् यदुभिरन्योन्यं भूभारान् सञ्जहार ह ॥२६॥

श्लोकार्थ—जिस प्रकार जल में रहने वाले बड़े मच्छ छोटी मछलियों को खा

जाते हैं, हे युधिष्ठिर जी, उसी प्रकार बलवान् यादवों ने दुर्बल यादवों को मारा है। वे प्रतिशय बलवान् होने के कारण एक दूसरे से मारे जाने पर ही मृत्यु को प्राप्त हुए हैं। इस प्रकार बलवान् यादवों द्वारा निर्बल यादवों को मरवाया गया है। पृथ्वी के भार रूप यादवों द्वारा यादवों का ही उपसंहार किया है ।।२५।।२६।।

सुबोधिनी—**अलौकसामिति**। यथा मत्स्यानामग्निशापविमूढानामन्योन्यघातकत्वं मात्स्यो न्यायो महान्तोऽदन्त्यणीयस इति। तथा प्रकृते दुर्बलान् बलिनः। **राजन्निति** सम्मत्यर्थम्। महान्तस्त्वन्योन्यं परस्पराघातेन मृताः। उपसंहरति—**एवं बलिष्ठैरिति**। बलिष्ठैर्महद्भिरितरानबलिनोऽमहतः। ननु सर्वे भगवता मारणीयाः। ते कयमन्योन्यं मृताः। तत्राऽऽह—**विभुरिति**। सर्वकरणसमर्थः। तैरेव तान् मारितवान्। महान् साधनैः करोति। महत्तरस्त्वाज्ञया। विभुरिच्छया। **अन्योन्यमिति**। यथा विवाह उत्सवादिष्वन्योन्यपरिवेषणं तथा मारणं जातमित्यर्थः ।।२५।।२६।।

व्याख्यार्थ—अग्नि के शाप से मूढ़ हुए मछले जैसे एक दूसरे को मारते हैं, उसी 'मत्स्य न्याय' के अनुसार यादवों के प्रसंग में भी घटित हुआ है। जिस प्रकार बड़े मत्स्य छोटे मत्स्यों को निगल जाते हैं, उसी प्रकार बलहीन यादवों को बलवान् यादवों ने नष्ट किया है। इस विषय में युधिष्ठिर की सम्मति लेने के लिए 'हे राजन्' सम्बोधन दिया है। राजा लोग इस बात को जानते हैं, यह बताया गया है। जो बड़े थे, वे एक दूसरे को मारकर ही मृत्यु को प्राप्त हुए। अब उपसंहार करते हुए कहते हैं, कि जो बलवान् और विशाल थे उनके द्वारा निर्बल और छोटों को मारा गया है। इस प्रकार पृथ्वी के भार रूप यादवों को यादवों के द्वारा ही भगवान् ने उपसंहार कराया है। भगवान् द्वारा ही सब मारे जाने चाहिये थे, वे यादव परस्पर लड़कर क्यों मरे ? इस शंका का निवारण करते हैं, कि भगवान् विभु हैं अतः सब कुछ करने में समर्थ थे, इसलिए यादवों के द्वारा ही यादवों को मारा है। जो बहुत बड़े होते हैं वे केवल आज्ञा से काम करवा लेते हैं, जो बड़े होते हैं, वे साधनों द्वारा कार्य सम्पन्न कर लेते हैं, परन्तु जो 'विभु' हैं, वह तो सब कुछ करने में समर्थ होने के कारण इच्छा मात्र से ही कार्य सम्पादन कर लेते हैं। इस प्रकार भगवान् की इच्छा मात्र से यादवों ने परस्पर मारण कार्य किया। जिस प्रकार विवाह अथवा उत्सव इत्यादि में परस्पर भोजन परोसते हैं उसी प्रकार यहाँ एक ने दूसरे को मारा है ।।२५।।२६।।

आभास—एवं सामान्याकारेण सङ्क्षेपतः कथामुक्त्वा बिस्तरेण कथनीयमि-

त्याकाङ्क्षायां पुनस्त्यक्तधर्मविशिष्टभगवत्स्मरणेन वैक्लव्ये जाते वक्तुं न शक्यत इत्याह––

आभासार्थ—इस तरह सामान्यतया संक्षेप में कथा कह चुकने के बाद अब इस कथा को विस्तार से कहना चाहिये, ऐसी जिज्ञासा होने पर कहा गया है, कि पुनः धर्म युक्त भगवान् का त्याग कर देने से अर्जुन की स्मृति पूर्ववत् हो गई और अन्तःकरण में पहले जैसी ही व्याकुलता छा गई। इसलिए अर्जुन कुछ भी कहने में समर्थ न हो सके, यह कहा जा रहा है—

श्लोक—**देशकालार्थयुक्तानि हृत्तापोपशमानि च ।**
हरन्ति स्मरतश्चित्तं गोविन्दाभिहितानि मे ।।२७।।

श्लोकार्थ—देश और काल के अर्थ से युक्त तथा हृदय के ताप को शान्त करने वाले गोविन्द भगवान् के वचन मेरे द्वारा स्मरण किये जाने पर चित्त का हरण कर लेते हैं ।।२७।।

सुबोधिनी—देशकालेति। देशकालाभ्यां विशेषिता येऽर्थास्तद्युक्तानि नीतिवाक्यानि। हृत्तापोपशमानि। चकाराद्भगवन्माहात्म्यबोधकानि। एवं त्रिविधान्यपि। वाक्यानि पूर्वमेव भगवता बोधितानि। देशकालानुसारेण सर्वं कर्त्तव्यमिति नीतिः। आत्मनिष्ठतया बाह्यधर्मास्त्यक्तव्याः। भगवद्विषयकमोहो भगवन्माहात्म्यज्ञानात्त्याज्यः। तानि वाक्यानि भगवदुक्तानि साम्प्रतं स्मृतानि सन्ति चित्तं हरन्ति। अर्थानुसन्धाने हि शोकापनोदस्वरूपेणैव शोकजनकत्वम्। भगवदीयत्वात्। तस्माच्छब्दप्राबल्याच्छोकेन तूष्णीम्भावः ।।२७।।

व्याख्यार्थ—देश और काल के अनुसार जो जो अर्थ विशेष होते हैं, उन अर्थों के साथ नीति के वाक्य हृदय के ताप को शान्त करने वाले हैं। मूल में चकार दिया गया है, जिससे भगवान् के माहात्म्य को बताने वाले वाक्य, जो पहले से ही उनके द्वारा मेरे प्रति कह गये थे, कि देश और काल के अनुसार प्रत्येक कार्य करना चाहिये, नीति से युक्त हैं। आत्मा में निष्ठा रखते हुए बाहरी धर्मों का त्याग करना चाहिये और भगवान् के माहात्म्य को जानकर सम्बन्धियों का मोह छोड़ना चाहिये। ये तीनों प्रकार के वचन भगवान् ने पहले से ही मुझसे कह दिये थे। जब उन वाक्यों का स्मरण होता है, तो मेरे चित्त का हरण हो जाता है। जैसे भगवान् कोई दूसरा कार्य करते हों और उसमें से दूसरा फल उत्पन्न हो जाता है, वैसे ही शोक दूर करने

के लिए मैं भगवान् के वचनों को याद करता हूं, परन्तु उनके अर्थ का अनुसन्धान करने पर, शोक मिटने के स्थान पर, वह और भी प्रबल हो जाता है। अतः अब मुझे चुप ही होना उचित है ।।२७।।

आभास—एवं धर्मपुरस्सरं स्मृतेन भगवता भक्तिजननाद्भक्त्या च भगवच्चरणारविन्दस्मरणे दृढप्रेमोत्पत्तौ जीवभगवतोः सन्निध्ये सति सत्त्वगुणावेशात्परमानन्दाविर्भावाच्च रजस्तमोदोषेष्वपहृतेषु शान्ता विमला च बुद्धिरासीत् । शान्ता सत्त्वेन । विमलाऽन्ययोरपगमेन । मतित्वात्स्वभावत एव ज्ञानरूपत्वम् । एतत्सर्वं जातमित्याह—

आभासार्थ—इस प्रकार धर्मयुक्त भगवान् का स्मरण करने से भक्ति उत्पन्न हुई, भक्ति पूर्वक चरण कमलों का स्मरण करने से प्रेम की दृढ़ता, और उससे जीव तथा भगवान् की समीपता हो जाने से सत्त्व गुण के आवेश से परमानन्द उत्पन्न हुआ। इससे रजोगुण एवं तमोगुण के दोष दूर हो गये। इस कारण बुद्धि निर्मल तथा शान्त हो गई। सत्त्वगुण से बुद्धि शान्त हुई है तथा रजोगुण व तमोगुण के दोष नष्ट हो जाने से वह निर्मल हो गई। बुद्धि विज्ञान रूपा है, जिसे आगे कहा जायेगा। इसलिए बुद्धि स्वभाव से ही ज्ञान वाली है। यह ज्ञान रूपा बुद्धि किस प्रकार हुई ? इस प्रसंग में सूतजी आगे वर्णन करते हैं—

सूत उवाच—श्लोक—**एवं चिन्तयतो जिष्णोः कृष्णपादसरोरुहम् ।**
सौहार्द्देनाऽतिगाढेन शान्ताऽऽसीद्विमला मतिः ।।२८।।

श्लोकार्थ—इस प्रकार अत्यन्त दृढ़ स्नेह पूर्वक भगवान् के चरण कमलों का चिन्तन करने से अर्जुन की बुद्धि शान्त एवं निर्मल हो गई ।।२८।।

सुबोधिनी—एवमिति ।२८।।

व्याख्यार्थ—इस रीति से धर्मयुक्त भगवान् का स्मरण करने से भक्ति हुई, और उसके द्वारा प्रभु के चरण कमलों का स्मरण करने से दृढ़ प्रेम की उत्पत्ति हुई; जिससे जीव और भगवान् को समीपता बढ़ी, और सत्त्वगुण का आवेश हुआ। जिसके कारण परमानन्द का आविर्भाव हो जाने से रजोगुण व तमोगुण के दोष दूर हो गये। तब बुद्धि शान्त और निर्मल बनी। 'बुद्धिर्विज्ञान रूपिणी,' ऐसा वाक्य होने से स्वभाव से ही उसका ज्ञान रूपिणी हाना सिद्ध हुआ। सुषुप्ति अवस्था में जो शोक

शान्त हुआ लगता है, वस्तुतः वह मूल में नष्ट नहीं होता, पर ऊपर से वह गया हुआ लगता है। अर्जुन का शोक ऊपर से चला गया हो और मूल में बना हुआ हो तो फिर से उत्पन्न हो जाने का सन्देह बना रहे; इसलिए ज्ञान का प्रकाश हुआ है। उसका निरूपण इस प्रकार है। इस प्रसंग में आत्म स्वरूप का ज्ञान और भगवान् के स्वरूप का ज्ञान प्रमाण और पदार्थ के आधीन होने से उपदेश को आवश्यकता वाला नहीं है। परन्तु प्रमाण और वस्तु के आवरण को दूर करना चाहिये। इसमें से रजोगुण व तमोगुण के निकल जाने से सत्त्वगुण प्रकट हुआ है। इस प्रमाण से जो आवरण है वह दूर हो जाने जैसा हो गया है। माया ही जीवात्मा का आवरण है और वह भक्ति युक्त ज्ञान से दूर होता है। भगवान् का आवरण उनकी स्वयं की इच्छा है, वह आवरण उनके माहात्म्य को जानकर, उनमें उत्तम प्रेम तथा सेवा करने से जाता रहता है। तब जिस प्रकार से निर्मल दृष्टि वाले को सूर्य के प्रकाश का साक्षात्कार होता है, उसी प्रकार मन से जीव और परमात्मा का साक्षात्कार होता है ॥२८॥

आभास—नन्वापाततः शोकापगमेऽपि सुषुप्ताविव सर्वथा नाऽपगत इति ज्ञानप्रकाशमाह—

आभासार्थ—इस प्रमाण से अर्जुन को दोनों प्रकार की स्थितियाँ सिद्ध हुई हैं, जिन्हें दो श्लोकों में कहा जा रहा है—

श्लोक—**वासुदेवाङ्घ्र्यनुध्यानपरिबृंहणरंहसा ।**
भक्त्या निर्मथिताशेषकषायधिषणोऽर्जुनः ॥२९॥

श्लोकार्थ—भगवान् के चरण कमलों के आलिंगन तथा ध्यान से एवं भक्ति के प्रबल वेग से अर्जुन की बुद्धि के सारे कषाय (मैल) पूरी तरह जाते रहे हैं ॥२९॥

सुबोधिनी—**वासुदेवेति**। आत्मस्वपरूपज्ञानं भगवत्स्वरूपज्ञानं च नोपदेशसापेक्षम्। प्रमाणवस्तुपरतन्त्रत्वात्। परं प्रमाणवस्तुनोरावरणं दूरीकर्त्तव्यम्। तत्र प्रमाणावरणं दूरीकृतमिव। रजस्तमसोरपगमेन सत्त्वप्राकट्यात्। जीवात्मावरणं माया। भगवदावरणं भगवदिच्छा। तत्र जीवावरणं भक्तिसहितज्ञानेननाऽपगच्छति। भगवन्माहात्म्यज्ञानपूर्वकभगवद्विषयकपरमप्रेम्णा भगवत्सेवायां भगवदावरणमपगच्छति। तदा निर्मलदृशेः सवितृप्रकाशसाक्षात्कार इव भगवत्स्वरूपयोर्मनसा साक्षात्कारो भवति। तत्राऽर्जुनस्य द्वयं जातमित्याह श्लोकद्वयेन। **वासुदेवेति**

शान्ताऽपि बुद्धिः सवासनेति पुनरुद्गमनिराकरणार्थम् । वासुदेवाङ्घ्र्यनुध्यानस्य यत्परिबृंहण-मालिङ्गनं तदेव रंहो वेगो यस्याः । तादृशभक्त्या निर्मथिता उद्धृतसाराः स्वरूपेण नाशिता वा अशेषकषाया यस्याः । तादृशी धिषणा यस्य सोऽर्जुनो जात इत्यर्थः ॥२९॥

व्याख्यार्थ—यद्यपि बुद्धि शान्त हो गई थी, फिर भी वासना के बचे रह जाने से पुनः अशान्त भी हो सकती है । वैसा फिर से न हो जाय इसलिए भगवान् के चरण कमलों का आलिंगन किया है । वैसी वेग वाली भक्ति से अर्जुन ने बुद्धि के सारे दोष स्वरूप से ही नष्ट कर दिये हैं । अर्जुन का अर्थ श्वेत भी होता है, जिसका अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार वस्त्र में से मैल निकल जाने पर वस्त्र स्वच्छ और धवल हो जाता है, वैसे ही अर्जुन श्वेत हो गये हैं अर्थात् बुद्धि की वासना चली गई है । अब जीव का आवरण दूर करने के लिए कहते हैं, कि जब तक अन्तःकरण शुद्ध होता है, तब तक प्रमाण से उत्पन्न किया गया ज्ञान आत्मा के आवरण को दूर करता है ॥२९॥

आभास—अनेन सवासनं बुद्धेरावरणं गतमित्युक्तम् । जीवावरणदूरीकरणार्थ-मुपायमाह—

आभासार्थ—पहले गीता से जो ज्ञान उत्पन्न हुआ था, बाद में वह काल, कर्म व तमोगुण से ढँक गया था, वह बुद्धि का आवरण नष्ट हो गया । जीव के आवरण को दूर करने का उपाय कहा जा रहा है—

श्लोक—**गीतं भगवता ज्ञानं यत्तत्सङ्ग्राममूर्द्धनि ।**
कालकर्मतमोरुद्धं पुनरध्यगमद्विभुः ॥३०॥

श्लोकार्थ—ऐसे समर्थ अर्जुन को संग्राम के समय भगवान् ने जो गीता रूपी ज्ञान कहा था, उसे पुनः जागृत किया है । क्योंकि वह ज्ञान काल, कर्म व तमोगुण से अवरुद्ध हो गया था, उसे पुनः प्रवाहित किया ॥३०॥

सुबोधिनी—**गीतमिति** । शुद्धे ह्यन्तःकरणे प्रमाणेनोत्पादितं ज्ञानमात्मावरणं दूरीकरोति । तत्पूर्वमेव गीतारूपेण प्रमाणेन भगवतोपदिष्टेन ज्ञानं जातमेवाऽस्ति । परं कालकर्मतमोभिस्त्रि-गुणात्मकैः सज्ञाना बुद्धिरावृता । तदिदानीमावरणापगमे स्वयमेव ज्ञानं जातमित्याह—**गीतमिति** । गीतायां भगवतोक्तं ज्ञानं यत्तत्पुनरध्यगमदिति सम्बन्धः । ननु वृत्तिरूपं ज्ञानं त्रिक्षणावस्थायीति सकारणस्य तस्य स्वतस्तिरोहितत्वाद्गतं कथं प्राप्तवान् । अत आह—**विभुरिति** । समर्थत्वाज्ज्ञा-नतिरोभावं दूरीकृतवानित्यर्थः ॥३०॥

व्याख्यार्थ—गीताजी में भगवान् ने जो ज्ञान कहा था, वह ज्ञान पुनः अर्जुन को प्राप्त हुआ है। वृत्ति रूप ज्ञान एक क्षण में ही उत्पन्न हो जाता है, दूसरे क्षण में उस ज्ञान की स्थिति बनती है और तीसरे ही क्षण वह नष्ट हो जाता है। इस तरह ज्ञान केवल तीन क्षण ही रहता है। इस कारण वह ज्ञान स्वयं में ही तिरोहित हो जाता है। वह ज्ञान अर्जुन को फिर से कैसे मिला ? ऐसी शंका करने पर कहते हैं, कि अर्जुन समर्थ थे, अतः ज्ञान के तिरोभाव को दूर किया, इस तरह वह पुनः प्रकट हुआ ॥३०॥

आभास—ततो यथाऽऽत्मावरणं दूरीभूतं तदाह क्रमेण—

आभासार्थ—ज्ञान का अनुसन्धान होने के बाद जिस रीति से आत्मा का आवरण किया उसे क्रमवार कहते हैं—

श्लोक—**विशोको ब्रह्मसम्पत्त्या सञ्छिन्नद्वैतसंशयः ।**
लीनप्रकृतिनैर्गुण्यादलिङ्गत्वादसम्भवः ॥३१॥

श्लोकार्थ—अर्जुन ब्रह्म की सम्पत्ति से शोक रहित हो गया और उसके द्वैतपने का संशय सब प्रकार से नष्ट हो गया। प्रकृति के लीन हो जाने से निर्गुण अवस्था हो गई। लिंग शरीर जाता रहा। अब फिर से संशय उत्पन्न होने को कोई संभावना नहीं रही ॥३१॥

सुबोधिनी—**विशोक इति**। ज्ञाने ब्रह्मसम्पत्तिर्जाता। "**ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति**"ति। शोको हि विषयाप्राप्त्येति ब्रह्मत्वेन सर्वविषयप्राप्तौ सत्यां शोकाभाव इति सर्वविषयप्राप्तिमाह—**सञ्छिन्नद्वैतसंशय इति**। सम्यक् छिन्ना द्वैतप्रपञ्चे देहादौ संशया यस्य। स्वस्यैव सर्वरूपत्वे न कोऽपि सन्देहो भवतीति। अथवा। द्वैते सर्वत्राऽऽत्मनः प्रवेशात्सर्वत्राऽन्याऽऽत्मनः स्वरूपनाशसंशयाः स्थिताः। सखण्डभावात्। तदात्मनो ब्रह्मभावादन्तःप्रवेशेन बहिःसम्बन्धसन्देहा निवारिता इत्यर्थः। ननु बाह्ये विषये स्थिते पुनः सम्बन्धेन संशया भविष्यन्तीत्याशङ्क्याऽऽह-**लीनप्रकृतीति**। लीना या प्रकृतिस्तया कृत्वा जातं यन्नैर्गुण्यं निर्गुणावस्था तया कृत्वा लिङ्गापगमे जाते मूलदोषाणां निवृत्तत्वादसम्भवः। न पुनरुद्गम इत्यर्थः। अत उद्गमाभावादेव न सम्बन्धः। लिङ्गस्य च निवृत्तत्वात्। एवं सर्वदोषापगमपूर्वकब्रह्मभावे जाते सर्वे शोका निवृत्ता इति भावः ॥३१॥

व्याख्यार्थ—ज्ञान ब्रह्म की सम्पत्ति से युक्त हो गया, "जिससे ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म ही हो जाता है," श्रुति के इस कथन के अनुसार अर्जुन ब्रह्म रूप हो

गया । विषय की प्राप्ति हुई, जिससे शोक का अभाव हो गया है । प्रत्येक विषय की प्राप्ति हुई है, उसे कहते हैं, कि यह मैं हूं और यह दूसरा है, ऐसे द्वैतरूप देह आदि के प्रपंच में अर्जुन का प्रत्येक सन्देह दूर हो गया । इसलिए स्वयं ब्रह्म रूप हो जाने से अर्जुन सर्वरूप हो गये हैं, तब उन्हें किसी भी बात का सन्देह नहीं रहा है । अथवा द्वैत रूप प्रपच में प्रत्येक स्थान पर अपना आत्मा प्रवेश हो जाने से पहले तो परिछिन्न भाव से आत्मा के स्वरूप का नाश करने वाला संशय प्रत्येक स्थल पर रहता था अब आत्मा का ब्रह्म भाव हो जाने से प्रत्येक के भीतर प्रवेश हो गया है । ऐसी स्थिति हो जाने से अर्जुन ने बाहर के सम्बन्धों के सन्देहों को दूर कर दिया है । बाहर के नियमों से यदि पुनः सम्बन्ध हो जाय तो पिछले सन्देह फिर से उत्पन्न हो जायँ ? ऐसी शंका करके कहते हैं कि प्रकृति माया में लीन हो गई है । माया दूर होने से निर्गुण अवस्था हो गई है, उस निर्गुण अवस्था से लिंग शरीर चला गया है, जिससे मूल दोष भी नष्ट हो गये, इसलिए अर्जुन को फिर से संशयों के उत्पन्न होने की सम्भावना नहीं रही । उन संशयों को उत्पत्ति न होने से और लिंग शरीर के छूट जाने से बाहरी विषयों के साथ उनका सम्बन्ध नहीं रहा है । प्रत्येक दोष की निवृत्ति हो जाने से अर्जुन को ब्रह्म भाव सिद्ध हो गया और उनके सभी दोष दूर हो गये ।।३१।।

आभास—एवमर्जुनस्य कृतार्थत्वमुक्त्वा राज्ञः कृतार्थत्वं वक्तुं तस्याऽध्यवसाय-माह—

आभासार्थ—इस प्रकार अर्जुन की कृतार्थता का निरूपण करके, अब राजा युधिष्ठिर की कृतार्थता कहने के लिए, उस का निश्चय कहा जाता है—

श्लोक—**निशम्य भगवन्मार्गं संस्थां यदुकुलस्य च ।**
स्वःपथाय मतिं चक्रे निभृतात्मा युधिष्ठिरः ।।३२।।

श्लोकार्थ—भगवान् के मार्ग और यदुकुल के नाश को सुनकर दृढ़ अन्तःकरण वाले युधिष्ठिर ने देव मार्ग में जाने का विचार किया ।।३२।।

सुबोधिनी—**निशम्येति** । भगवन्मार्गं ज्ञात्वा वैकुण्ठे गत इति। यदुकुलस्य च **संस्थां** मृत्युत् । **स्वःपथाय** देवमार्गाय । **निभृतात्मा** दृढान्तःकरणाः । गन्तुं मतिं चक्र इत्यर्थः ।।३२।।

व्याख्यार्थ—युधिष्ठिर ने भगवान् का मार्ग जान लिया है इसलिए भगवान् वैकुण्ठ में पधार गये, यह जान गये। यदुकुल की संस्था को जान लिया, इससे यदु-कुल के नाश हो जाने को जान लिया है। तब दृढ़ अन्तःकरण वाले युधिष्ठिर ने देव मार्ग में जाने का विचार किया ॥३२॥

आभास—क्रमेण मुक्तिं वक्तुं पृथाया मुक्तिमाह—

आभासार्थ—क्रम पूर्वक प्रत्येक की मुक्ति कहने के लिए कुंतीजी की मुक्ति को कहते हैं—

श्लोक—**पृथाऽप्युपश्रुत्य धनञ्जयोदितं नाशं यदूनां भगवद्गतिञ्च ताम् ।
एकान्तभक्त्या भगवत्यधोक्षजे निवेशितात्मोपरराम संसृतेः ॥३३॥**

श्लोकार्थ—अर्जुन द्वारा कहे हुए यादवों के नाश को सुनकर तथा भगवान् के पधार जाने के वृत्तान्त को जानकर, कुंतीजी ने भगवान् अधोक्षज में एकान्त भक्ति द्वारा आत्मा का प्रवेश करा दिया जिससे उनके सांसारिक बन्धन छूट गये ॥३३॥

सुबोधिनी—क्रमेण मुक्तिं वक्तुं पृथाया मुक्तिमाह। कुन्ती तदैव पूर्वोक्तं श्रुत्वा भगवच्चितता परमप्रेम्णाऽऽविर्भूते भगवति सायुज्यं प्राप्ता। शरीरं जहावित्यर्थः ॥३३॥

व्याख्यार्थ—अर्जुन द्वारा कहे गये समस्त घटना चक्र को जानकर कुंतीजी ने अपना चित्त भगवान् में जोड़ दिया। अतिशय श्रेष्ठ प्रेम से प्रकट हुए प्रभु में सायुज्य मुक्ति को प्राप्त कर लिया तथा शरीर का परित्याग कर दिया ॥३३॥

आभास—ननु भगवता किमर्थमेवं कृतम् ? तत्राऽऽह—

आभासार्थ—भगवान् ने ऐसा किसलिये किया ? ऐसी शंका होने पर कहते हैं—

श्लोक—**ययाऽहरद्भुवो भारं तां तनुं विजहावजः ।
कण्टकं कण्टकेनेव द्वयञ्चाऽपीशितुः समम् ॥३४॥**

श्लोकार्थ—जिस प्रकार काँटे से काँटे को निकाल कर काँटे का त्याग कर दिया जाता है, उसी प्रकार अजन्मा भगवान् ने जिस शरीर को धारण करके पृथ्वी का

भार दूर किया था, उस देह को छोड़ दिया। कारण, कि भार रूप शरीर तथा यादव रूप शरीर, ये दोनों कार्य भगवान् की दृष्टि में एक जैसे ही हैं ।।३४।।

सुबोधिनी—**ययाऽहरदिति**। भगवतो यादवोपसंहारे आत्मन्वान्न दोषभाव इति वक्तुम्। यया यादवतन्वा सहायार्थमानीतया भुवो भारमहरत्तां तनुं विजहौ। क्लेशाभावार्थमाह—**अज** इति। न हि तेन जातोऽस्ति। तत्र दृष्टान्तमाह—**कण्टकमिति**। सर्वथाऽऽत्मीयाभावः सूचितः। तथाप्यभिमानिनां जीवानां क्लेशात्कथमेवम्। अत आह—**द्वयं चाऽपीशितुः सममिति**। नियन्तुर्द्वयं समम् ।।३४।।

व्याख्यार्थ—भगवान् ने यादवों का संहार किया, इससे भगवान् का आत्मापना होने से दोष नहीं। इसे स्पष्टतया कहते हैं, कि सहायता के लिए लाये गये यादवों के शरीरों द्वारा भगवान् ने पृथ्वी का भार उतारा था, उस शरीर का त्याग कर दिया। कारण, कि पृथ्वी का भार हरने रूपी कार्य पूरा हुआ। इसके बाद यादव रूपी शरीर को रखने का कोई प्रयोजन नहीं था। ऐसा करने में भगवान् को 'अजः', अजन्मा कहा गया है। यादवों का शरीर उत्पन्न हुआ इससे यह कदापि सिद्ध नहीं हुआ कि भगवान् उत्पन्न हुए हों। इस विषय में दृष्टान्त कहते हैं, कि जिस प्रकार शरीर में लगे हुए काँटे को काँटे से निकाल कर निकालने वाले काँटे को फेंक दिया जाता है, उसी प्रकार यादवों के शरीर द्वारा पृथ्वी का भार उतार कर उस शरीर का त्याग कर दिया। इस तरह उसमें उनका आत्मीयपना नहीं था, यह सूचित हुआ। तो भी यादव शरीर में रहने वाले अभिमानी जीव को इस प्रक्रिया से कष्ट हुआ है, ऐसा भगवान् ने क्यों किया? ऐसी जिज्ञासा होने पर कहते हैं, पृथ्वी का भार रूप शरीर और उस भार को दूर करने रूप शरीर, ये दो शरीर हैं। इन दोनों ही शरीरों को नियन्त्रण में रखने वाले भगवान् के लिए तो यह सब कार्य एक समान हैं। यहाँ काँटे का दृष्टान्त देकर दोनों प्रकार के शरीरों की समानता बताई है। इसलिए पृथ्वी के भार रूप शरीर तथा यादवों के शरीर का सत्यपना सिद्ध है। परन्तु वे शरीर सदैव एक ही स्थान पर रहने वाले नहीं है, अतः उनका अनित्यपना भी बताया गया है ।।३४।।

आभास—भगवति विशेषमाह—

आभासार्थ—अब भगवान् में ऊपर की वास्तविकता को कुछ विशेषता से बताया जा रहा है—

श्लोक—**यथा मत्स्यादिरूपाणि धत्ते जह्याद्यथा नटः ।
भूभारः क्षपितो येन जहौ तच्च कलेवरम् ।।३५।।**

श्लोकार्थ—जिस प्रकार कोई नट स्त्री आदि का रूप धारण करता है और उसे छोड़ देता है, उसी प्रकार भगवान् मत्स्यादि रूप लेते हैं और त्याग देते हैं। इस प्रकार जिस शरीर द्वारा पृथ्वी का भार उतारा, उस शरीर का परित्याग कर दिया ।।३५।।

सुबोधिनी—**यथेति** । यथा नटः स्वरूपमेव नानाविधक्रीडार्थं स्त्र्यादिरूपेण प्रदर्शयति । निवृत्ते च कार्ये तानि रूपाण्युपसंहरति एवमिदपीत्यर्थः ।।३५।।

व्याख्यार्थ—जिस प्रकार विभिन्न प्रकार से मनोरंजन करने के लिए नट (अभिनेता अथवा जादूगर) अपने स्वरूप को ही स्त्री आदि के रूप में प्रदर्शित करता है और कार्य पूर्ण होने पर उसका परित्याग कर देता है, उसी प्रकार पृथ्वी का भार उतारने के लिए भगवान् ने मनुष्य का वेश धारण किया और छोड़ दिया । यहाँ जो वेश धारण किया है, वह वास्तविक नहीं है । इसलिए स्त्री आदि के वेश को छोड़ने वाले नट का दृष्टान्त दिया गया है । इसी प्रसंग को ब्रह्माण्ड पुराण में कहा गया है, कि "श्रीकृष्ण ने देह को नहीं छोड़ा," तो भी देह को छोड़ने वाले जीव के देह के समान, उसके स्वरूप और आत्मा की समानता वाले लोक को अपना ही आत्मा बताया है । यहाँ यही अभिप्राय लिया जाना चाहिये ।।३५।।

आभास—एतत्कथनस्य प्रकृतोपयोगं वक्तुमाह—

आभासार्थ—ऊपर वर्णित सत्यता कहने का अभिप्राय भगवान् के पधारने के प्रसंग में उपयोगी बना है, उसे कहते हैं—

श्लोक—**यदा मुकुन्दो भगवानिमां महीं जहौ स्वतन्वा श्रवणीयसत्कथः ।
तदाऽहरेवाऽप्रतिबुद्धचेतसामभद्रहेतुः कलिरन्ववर्त्तत ।।३६।।**

श्लोकार्थ—जिन भगवान् की श्रेष्ठ कथा सुनने योग्य है, ऐसे भगवान् मुकुन्द ने जब अपने शरीर द्वारा इस पृथ्वी को छोड़ा, उस दिन से ही, जिनका चित्त जागृत नहीं है, उनके अमंगल का कारण रूप कलियुग प्रवृत्त हो गया ।।३६।।

सुबोधिनी - य । मुकुन्द इति । सर्वेषां मोक्षदानार्थमवतीर्णो भगवान् दत्वा मोक्षं यदा निवृत्तस्तदा मोक्षबाधकत्वेन कलिधर्माणां निरूपणात्तेष्वागतेषु स्थितस्य मोक्षो नास्तीति निर्गमनमेव शरणमिति कालव्याप्तिरहितदेशं प्रति तदतिरिक्तहेतोर्भागवतादेरभावाद्भगवतैव सह गन्तव्यमिति मतिं कृतवानित्याह-**यदा मुकुन्द इति ।"कलिः कालमलं सर्वं कालस्वामी तु माधवः। यतो निवर्त्तते तत्र वह्नाविव निकृष्टता । दारौ (?) तु न तथा तेन देशान्तरगतिर्मता । अग्निभावेऽपि काष्ठेन स साध्य इति निश्चयः । मुकुन्दो भगवानिति** वचनान्मुक्त्यर्थमेव भगवदवतार इत्युपसंहारः । यद्यपि भगवतो नित्यसम्बन्धात्क्वापि त्यागो नास्ति । तथापि प्रकटितपरमानन्दरूपस्य परिछिन्नतया प्रदर्शनात्तन्वा जहौ । तनुद्वारा जहावित्यर्थः । भूमित्यागस्य पूर्वमनुक्तत्वान्नटवच्च तनुत्यागस्योक्तत्वात्त्यक्तस्य वस्तुत्वाभावादपूर्वविधौ अनुवादे वा सहार्थतृतीया न सम्भवति। नन्वग्रे उत्पत्स्यमानानां भक्तानां कथमुद्धार इत्याशङ्क्याऽऽह **श्रवणीयसत्कथ इति** । तदा । तस्मिन्नित्यर्थे अव्ययम् अहरिति लुप्तसप्तम्यन्तम् । अव्ययं वा । प्रात काले भगवद्गमनमिति सम्प्रदायविदः। तदैव प्रातःकाले कलिः प्रवृत्तः । ननु भगवत्कृपावलोकितानां भगवन्मार्गानुवर्त्तिनां विद्यमानत्वात्कथं कलिप्रवृत्तिरित्यत आह -**अप्रतिबुद्धचेतसामभद्रहेतुरिति** । न सर्वार्थं तदागमनम् । प्रकर्षेण विकसितकमलानां मुकुलसम्भावनारहितानामस्तमयेऽपि न काचित्क्षतिः। अन्येषामस्तनयेऽन्धकारादिना कीटनिवासः स्यादेव । ज्ञानेन विकासः । भक्त्या मुकुलसम्भावनाभावः ।। ३६ ।।

व्याख्यार्थ—प्रत्येक को मोक्ष प्रदान करने के लिये भगवान् ने अवतार धारण किया है । वे मोक्ष प्रदान करके पधार जाते हैं । मोक्ष में बाधा डालने वाले कलियुग के धर्मो का निरूपण किया गया है । जब तक कलियुग के धर्म आये हुए होते हैं तब तक मोक्ष नहीं होती अतः यहां से बाहर निकलना हो शरण है । जहां कलियुग का प्रभाव न पड़ा हो ऐसे स्थान पर चलना चाहिये । इसके अतिरिक्त अन्य स्थानों में तो भगवत्स्वरूप अथवा ज्ञान का अभाव होने से, वहां रहना अच्छा नहीं अतः युधिष्ठिर ने भगवान् के साथ हो जाने का निश्चय किया है, उसे कहते हैं । "यह सारा जगत् काल रूप है, और कलियुग काल का मल रूप है । काल के स्वामी माधव हैं । जिस स्थान में से भगवान् तिरोहित हो जाते हैं, वह स्थान हीन माना जाता है । इस विषय में दृष्टान्त दिया जा रहा है, कि जिस प्रकार अग्नि बुझते ही, लकड़ी राख हा जाती है, और वह हीन कहलाती है, उसी प्रमाण से जिस स्थान में से भगवान् पधार जाते हैं, वह देश भी हीन हो जाता है । काष्ठ में अग्नि होने पर उसे राख के समान हीन नहीं माना जाता, उसी रीति से जिस देश में से भगवान् तिरोहित न हुए हों, वह देश हीन नहीं गिना जाता । युधिष्ठिर जी को दूसरे स्थान में जाने की इच्छा इसलिये हुई, क्योंकि वे भक्त हैं उनके हृदय में भगवान् विराजते हैं । जिस प्रकार एक विशेष प्रकार की लकड़ी 'अरणी' में अग्नि

रहती है और अन्य अरणी से जब उस का मथन किया जाता है तो उस में आग उत्पन्न हो जाती है, उसी प्रकार युधिष्ठिर में भगवान् विराजते हैं, अतः अन्य स्थान में जाने से भगवान् का प्रकाश होगा, यह सोचकर युधिष्ठिर ने जाने का निश्चय किया।" भगवान् मुकुन्द हैं और वे मुक्ति के लिये ही अवतार लेते हैं, ऐसा होने से भगवान् ने मुक्ति का उपसंहार किया है। यों तो भगवान् का प्रत्येक स्थल में नित्य सम्बन्ध होने से उन्होंने किसी भी स्थल का त्याग नहीं किया है, तो भी प्रकट हुए परमानन्द स्वरूप ढके हुए रूप में बताये गए थे और उसी स्वरूप से उन्होंने पृथ्वी का त्याग किया है, ऐसा कहा गया है, वैसे अपरिच्छिन्न स्थिति में तो वे प्रत्येक स्थल पर विराजमान हैं ही। यह बताने के लिये ही तो मूल में 'तन्वा जहौ' शरीर द्वारा छोड़ना कहा गया है। सशरीर पृथ्वी का त्याग किया है, कितने ही ऐसा भी अर्थ करते हैं जो कि उचित नहीं। पृथ्वी को छोड़ने की वास्तविकता पहले तो कही नहीं गई और पश्चात् नट के समान देह त्याग की बात कही गई है। इसलिये छोड़े हुए शरीर का वस्तुपना न होने से अपूर्व विधि (अत्यन्त अप्राप्ति को अपूर्व कहते हैं) अथवा अनुवाद की स्थिति में सह (साथ) अर्थ के लिए तृतीया विभक्ति की सम्भावना नहीं है। भगवान् ने जब पृथ्वी को छोड़ दिया तो बाद में उत्पन्न होने वाले भक्तों का उद्धार कैसे होगा? ऐसी शंका का उत्तर देते हैं, कि जिनकी सारी कथा सुनने योग्य है। भगवान् के भूतल पर से पधार जाने पर उन भक्तों का उद्धार करने के लिए भगवान् की कथा ही एक मात्र साधन है, यह सूचित किया है। जिस दिन भगवान् भूतल पर से पधारे, वह समय प्रातः काल था, ऐसा सम्प्रदाय को जानने वाले कहते हैं। उसी प्रातःकाल से कलियुग प्रवृत्त हो गया। जिनके ऊपर भगवान् का कृपा कटाक्ष है तथा इसी कोटि के भगवान् के मार्ग में रहने वाले भक्त विद्यमान हैं, तो फिर कलियुग की प्रवृत्ति कैसे हो गई? उस प्रसंग में कहते हैं, कि जिनका चित्त जागता हुआ नहीं है, कलियुग उनका ही अकल्याण करता है, अतः कलियुग का आगमन प्रत्येक के लिए नहीं है। जो भूले पड़े हैं, असावधान हैं, कलि का आना उन्हीं के लिए है। जो सदैव खिले कमल के समान रहते हैं, जिन्हें संकुचित होने का (बन्द होने का) भय नहीं है, उनके लिए सूर्य अस्त हो जाने का कोई भय नहीं है। इसके अतिरिक्त जो कमल है, उनमें तो सूर्यास्त के बाद अन्धकार होने पर कीड़े आदि का निवास हो जाता है, परन्तु ज्ञान द्वारा जिनका चित्त खिला हुआ है और प्रभु की भक्ति होने से जो कभी संकुचित नहीं होते, कलियुग उनका अनिष्ट नहीं

कर सकता ।।३६।।

आभास—तर्हि स्वस्य न कश्चिच्चिन्तेत्याशङ्क्याऽऽह—

आभासार्थ—तो युधिष्ठिर को अपने विषय में किसी प्रकार की चिन्ता नहीं है ऐसी आशंका करके कहा जा रहा है—

श्लोक—**युधिष्ठिरस्तत्परिसर्पणं बुधः पुरे च राष्ट्रे च गृहे तथाऽऽत्मनि ।**
विभाव्य लोभानृतजिह्महिंसनाद्यधर्मचक्रं गमनाय पर्यधात् ।।३७।।

श्लोकार्थ—देश में और पुर में घर तथा आत्मा में कलियुग फैल गया है तथा लोभ, झूठ, कुटिलता एवं हिंसा करने आदि अधर्म के चक्र को देखकर तथा कलियुग के प्रसार को देखकर, बुद्धिमान राजा युधिष्ठिर ने उस स्थान से चले जाने का विचार किया ।।३७।।

सुबोधिनी—**युधिष्ठिर इति** । विकलत्वाद्यभावेन दृढस्थित्याऽविकास मन्यते कालः । स तु युधिष्ठिरादीनपि तथा मन्यते । अतस्तद्देशेष्वपि महदल्पप्रभेदभिन्नेषु राष्ट्रनगरगृहशरीरेषु प्रविष्टः । अल्पविकासाच्च तज्ज्ञातवानित्याह—**बुध इति** । तत्रापि विचारः—किं स्थातुमागतो द्रष्टुं वेति । तत्रापि युधिष्ठिरस्य निश्चयो जात इत्याह—**विभाव्येति** । ससामग्रीकस्य समागतत्वान्नेतो गमनं करोः । तस्य सामग्री प्रथमतो लोभः सर्वदोषाणामाश्रयोऽन्तःकरणधर्मः । अनृतं वाग्दोषः प्रायेण स्वरूपनाशकः । प्रामाण्यकोटेः स्वरूपनिर्वाहकस्य नाशात् । कुटिलता बुद्धिदोषः । हिंसा शरीरस्य । अत्र क्रमे शिष्टं स्वयमूह्यम् । आदिशब्देन रोगादयोऽपि । हिंसाद्यधर्मचक्रं विभाव्य गमनाय पूर्वोक्तामेव मतिं पर्यधादित्यर्थः ।।३७।।

व्याख्यार्थ—व्याकुलता आदि के न होने पर भी दृढ़ स्थिति रहने से भी, काल ज्ञान का विकास नहीं मानता । वह कलिकाल युधिष्ठिर आदि को भी अप्रकाशित ज्ञान वाला ही मानता है । इसलिए उनके देश में भी बड़े और छोटे के भेद से पृथक् होकर कलिकाल ने देश, नगर, घर और शरीर में प्रवेश किया है । परन्तु युधिष्ठिर बुद्धिमान होने से कुछ अधिकता के साथ सच्चाई को जान गए हैं । कलियुग यहां स्थाई रूप से रहने के लिये आ रहा है, ऐसा युधिष्ठिर ने निश्चयात्मक विचार कर लिया है । कलियुग अपनी सामग्री सहित आया है, अतः रहने ही आया है, अब यहां से जाने वाला नहीं । कलियुग की सामग्रियों में सबसे पहले सभी दोषों का घर लोभ है, यह अन्तः करण का धर्म है । झूठ बोलना, यह वाणी का दोष है । सबसे अधिक

तो यह स्वरूप का नाश करने वाला है। क्योंकि अपने शरीर को निभाने वाला तो प्रामाणिकपना ही है, वह असत्य बोलने से जाता रहता है। इस प्रकार स्वरूप का नाश होता है। कुटिलता बुद्धि का दोष है और हिंसा शरीर का दोष है। इसी क्रम में बाकी बचे दोषों को स्वयं में समझ लेना चाहिए। मूल में आदि शब्द कहा गया है, जिससे रोग आदि अन्य दोष भी देखने में आते हैं, यह सूचित हुआ। इस प्रकार अहिंसादिक अधर्म का चक्र जानकर पहले कहे हुए विचार के अनुसार युधिष्ठर ने जाने का निर्णय किया ॥३७॥

आभास—अशक्तस्य परित्यागोऽनुचितः। त्यक्तानां वासनाजनकत्वात्। अतः कलिभयाद्युधिष्ठिरगमनमनुचितमित्याशङ्क्याऽऽह—

आभासार्थ—शक्ति रहित मनुष्य को त्याग वृत्ति उचित नहीं। कारण, कि त्याग किया हुआ पदार्थ वासना को उत्पन्न करता है। इसलिए कलियुग के डर से राजा युधिष्ठिर का बाहर जाना उचित नहीं, ऐसी शंका करके कहते हैं—

श्लोक—**स स्वपौत्रं विनयिनमात्मनोऽनवमं गुणैः।**
तोयनीव्याः पतिं भूमेरभ्यषिञ्चद्गजाह्वये ॥३८॥
मथुरायां तथा वज्रं शूरसेनपतिं ततः।
प्राजापत्यां निरूप्येष्टिमग्नीनपिबदीश्वरः ॥३९॥

श्लोकार्थ—राजा युधिष्ठिर ने अपने ही समान गुण वाले, विनय वाले अपने पौत्र परीक्षित को जल रूप वस्त्र के आवरण वाली पृथ्वी के पति रूप में हस्तिनापुरी में राज्याभिषेक किया, जिस प्रकार मथुरा में शूरसेन देश के पति के रूप में वज्रनाभ का अभिषेक किया था। इसके बाद प्रजापति सम्बन्धी यज्ञ करके समर्थ राजा युधिष्ठिर ने अग्नि का पान किया ॥३८-३९॥

सुबोधिनी—स स्वपौत्रमिति। न हि कलिनिराकरणासमर्थो युधिष्ठिरो गतः। तन्निराकरणार्थं पौत्रस्य स्थापितत्वात्। किन्तु शास्त्रस्य प्रामाण्यादित्यभिप्रेत्याऽऽह—**स्वपौत्रमिति**। '**भ्रातृणामेकजातानामि**'ति न्यायाद्राज्यदानाच्च—**स्वेति**। पौत्रग्रहणं पुत्रनामस्थापनार्थम्। गुणैर्भगवदीयत्वादिभिः। आत्मनोऽनवममन्यूनम्। अनेन दोषाभावस्तत्राऽधिक इत्युक्तं भवति। हीनस्थापने प्रजाशापः प्रसज्येत। **तोयनीव्याः** समुद्रावरणायाः। अन्ये तु राजानः स्त्रियो वस्त्ररहिता अपि स्त्रियैकतेशचरणसंवाहनादिना पतित्वं मन्यन्त इति सूचितं **नीवीपदेन**। पतिमित्य-

नुवादः। भगवतैव तदर्थं कृतत्वात्। पतित्वार्थमिति लक्षणा च स्यात्। अतः स्वयमभिषेकमात्रं कृतवान्। एवमेव वज्रमपि कृतवान्। अनिरुद्धपुत्रो **वज्रः**। शूरसेनदेशस्याऽपि पतित्वज्ञापनाया-ऽऽह—**शूरसेनपतिमिति**। अनेन मर्यादायां यावान् देशस्तावान् दत्त इत्युक्तम्। ततस्तेषां राज्य-स्वीकारानन्तरं प्राजापत्यामिष्टिं निरूप्य प्रव्राजं (?) कृतवानित्याह। वैश्वानरी प्राजापत्या वा विकल्पेन विहिता। **ईश्वर इति**। तथा करणसमर्थः ॥३८॥३६॥

व्याख्यार्थ—राजा युधिष्ठिर कलियुग का निराकरण करने में असमर्थ थे, ऐसी बात नहीं थी, कि इसी कारण वे घर से निकल गए हों। कारण कि कलियुग का निराकरण करने में अपने पौत्र परीक्षित को राज्य में स्थापित किया है। परन्तु शास्त्रों में त्याग करने की बात कही गई है, इसलिए युधिष्ठिर ने घर छोड़ा है। इसी अभिप्राय से अपने पौत्र परीक्षित का अभिषेक करना कहा गया है। मनु भगवान् ने कहा है, कि 'एक से उत्पन्न हुए भाइयों में यदि एक पुत्र वाला हो तो सभी भाई पुत्रवाले कहलाते हैं,' इस न्याय से परीक्षित् को राज्य देकर युधिष्ठिर कलियुग के भय से नहीं गये। यद्यपि परीक्षित् वस्तुतः अर्जुन के पौत्र थे, परन्तु यहां मनु के न्याय से उसे युधिष्ठिर ने अपना पौत्र कहा है। पुत्र नाम का स्थापन करने के लिये पौत्र शब्द को ग्रहण किया गया है। पौत्र परीक्षित भगवदीयत्वादि गुणों से युधिष्ठिर से कम नहीं है। इसीलिए परीक्षित में दोषों का अभाव कहा गया है। राज्यासन पर हीन व्यक्ति का स्थापन करने से प्रजा का शाप लगता है। पृथ्वी के चारों ओर समुद्र के जल का आवरण है, इसलिए समुद्र सहित पृथ्वी का पति स्थापित किया गया है। जिस प्रकार कोई स्त्री एक भाग में चरण दबाने आदि से वस्त्र रहित स्त्रियों का भी पतिपना दूसरे राजा मानते हैं, इस प्रकार मूल में नीवी शब्द दिया गया है। भगवान् ने परीक्षित् को पृथ्वी का राज्य करने के लिए ही किया है अतः मूल में युधिष्ठिर ने पतित्व निभाया है, ऐसा कहा गया है। यह मात्र अनुवाद किया गया है। जो अनुवाद के लिए "पति" शब्द न दिया गया होता, तो पतिपने के लिए अपने पौत्र का अभिषेक किया, यह अर्थ होता। अतः युधिष्ठिर ने मात्र अभिषेक ही किया है। वस्तुतः पृथ्वी के वास्तविक पति तो भगवान् ही हैं। इसी प्रकार वज्रनाभ का भी अभिषेक किया गया है। अनिरुद्ध का पुत्र वज्रनाभ था। उसका अभिषेक शूरसेन देश के पति के रूप में किया गया था। इस मर्यादा के अनुसार जितना देश था, उतना देश उनको दिया गया है। तत् पश्चात् उन दोनों द्वारा राज्य स्वीकार कर लिए जाने पर प्रजापति सम्बन्धी दृष्टि करने की बात शास्त्र में

कही गई है। इसी से युधिष्ठिर ने प्रजापति सम्बन्धी दृष्टि बनाकर स्वयं में अग्नि का आरोपण किया है, कारण, कि ऐसा करने में वे समर्थ थे ।।३८-३९।।

आभास—यथाशास्त्रकरणाद्गृह एव सर्वपरित्यागस्योक्तत्वादंशपरित्यागस्याऽशास्त्रार्थत्वाच्च सर्वपरित्यागनिरूपणार्थमाह—

आभासार्थ—शास्त्र में कहे गये प्रमाण से युधिष्ठिर ने राज्य का त्याग किया है। इसलिए घर में ही सब कुछ त्यागा हुआ होने से वे वासना रहित थे। क्योंकि मन से वासनाओं का त्याग किये बगैर, केवल ऊपर से त्याग करना एक तरफा त्याग कहलाता है। ऐसे त्याग को अशास्त्रीय कहा गया है। अतः युधिष्ठिर ने तो प्रत्येक का त्याग कर दिया है, यह निरूपण करने के लिए कहा जा रहा है—

श्लोक—**विसृज्य तत्र तत्सर्वं दुकूलवलयादिकम् ।**
निर्ममो निरहङ्कारः सञ्छिन्नाशेषबन्धनः ।।४०।।

श्लोकार्थ—युधिष्ठिर ने रेशमी वस्त्र, कंकण आदि सब कुछ वहाँ ही छोड़ दिये। उन्होंने ममता रहित होकर, अहंकार छोड़कर, सम्पूर्ण बन्धनों को काट दिया ।।४०।।

सुबोधिनी—**विसृज्येति**। देहातिरिक्तपरित्यागः सुगमः। तदाह। आदिशब्देन दुकूलवलययोर्विद्यमानत्वेन ग्रहणम्। न तु शेषाभ्यनुज्ञानफलकत्वेन। '**चीरवासा**" इति यदग्रे वक्ष्यते तत् परित्यागतुल्यत्वेन तज्ज्ञापनार्थम्। त्यक्तानामात्मीयत्वं निराकरोति—**निर्मम इति**। परित्यागाभिमानाभावायैतदुक्तम्। अन्तस्त्यागाय वा। उभयोः कर्त्तव्यत्वादन्योन्यं हेतुहेतुमद्भावाच्च। देहस्य सपरिकरस्य त्यागमाह—**निरहङ्कार इति**। देहेऽहन्ता त्यक्ता। ममतायाः स्वरूपतो नाशान्मध्ये तिष्ठति देहादिः। तस्य त्यागप्रकारमाह-**सञ्छिन्नाशेषबन्धन इति**। बाह्यवरणं सम्यक् छिन्नमित्याह—**सञ्छिन्नेति**। पुत्रादीनामुपकारित्वबुद्धिरधुना निवृत्ता। अत एव न प्रतिबन्धकता ।।४०।।

व्याख्यार्थ—देह के अतिरिक्त अन्य वस्तुओं का परित्याग करना सरल है। इस विषय में कहा है, कि युधिष्ठिर के पास रेशमी वस्त्र तथा कंकण आदि सदैव विद्यमान रहते थे। शास्त्र में कहे गये विधि वाक्य के अन्तर्गत कोई वस्तु त्याग करना बाकी रह गई हो, इसलिए नहीं कहा गया है। आगे "चीरवासा" शब्द कहा गया है, वह तो त्याग करने के समान ही होने से, शास्त्र सम्मत कहा है। 'निर्मम'

शब्द छोड़े हुए पदार्थों के प्रति अपनापन न होने की स्थिति को स्पष्ट करता है। छोड़ने में उन्हें किसी प्रकार का अभिमान नहीं हुआ, इसलिए भी इस शब्द का प्रयोग हुआ है। अथवा उन का यह सब त्याग आन्तरिक था। दोनों ही स्थितियाँ करने योग्य होने के कारण एक दूसरे का कारण रूप बन गई, इस भाव से भी 'निर्मम' शब्द प्रयोगित हुआ है। 'निरहङ्कार' शब्द इसलिए कहा गया है अपने परिकर सहित देह के त्याग की बात इससे जानी गई है। शरीर में 'मेरे पने' की भावना युधिष्ठिर में नहीं रही है। ममता के अन्तर्गत ही देह आदि की स्थिति है जो स्वरूपतः नष्ट हो गई है। उनके त्याग का प्रकार कहा जा रहा है, कि "उन्होंने सब प्रकार के बन्धनों को त्याग दिया है। बाहरी आवरणों को पूरी पूरी तरह से काट डाला गया है। पुत्र आदि में उपकारपने की बुद्धि भी निवृत्त हो गई। यह मेरा पुत्र मेरा उपकार करेगा, ऐसी बुद्धि उन में नहीं रही। अतएव प्रतिबन्धता (बाधा देने वाली स्थिति) नाम की कोई स्थिति युधिष्ठिर के पास नहीं रही ॥४०॥

आभास—इदानीमुर्वरितस्य शरीरमात्रस्य ज्ञानकर्मभ्यां लयं वक्तुं प्रथमतो ज्ञानेन लयमाह अध्यासस्याऽज्ञानसाध्यत्वात्तन्निवृत्त्यर्थम्। तत्त्वादिप्रकारेण ज्ञानसाध्यत्वात्तत्प्रकारेणैव निवर्त्यते। भगवत्कृततत्वपक्षे तदाज्ञया परित्यागः। तत्रापि येन क्रमेण भगवता सम्पादितं तत्क्रमकथनं चित्तप्रबोधनार्थमुचितम्। तदाह—

आभासार्थ—अब केवल शरीर ही बाकी रहा है, उसका ज्ञान कर्म से लय कहने के लिये प्रथमतः उसे ही स्पष्ट किया जा रहा है। देह का जन्म अज्ञान से होता है। अज्ञान दूर करने के लिए तत्व का स्वरूप चिन्तन ही ज्ञान को सिद्ध करता है। तत्त्व विचार ही अज्ञान की निवृत्ति है। गीता में भगवान् ने कहा है, "स्मरण, ज्ञान और अज्ञान, ये मुझ से ही होते हैं।" अतः देह आदि में अहंता, ममता का अध्यास भगवान् द्वारा ही किया हुआ है। एकादश स्कन्ध में भगवान् ने उद्धव जी से कहा है, कि "वाणी, मन, प्राण तथा इन्द्रियों को नियमों में रखो, अन्तःकरण को आत्मा द्वारा नियन्त्रण में रखो, ऐसा करने से तुम फिर संसार रूपी मार्ग में नहीं आओगे।" इस आज्ञा के अनुसार त्याग करना चाहिये। गीताजी में ऐसी बहुत सी बातें कही गई हैं, कि "कान इत्यादि इन्द्रियों को संयम रूपी अग्नि में हवन कर देना चाहिए।

जिस क्रम से भगवान् ने युधिष्ठिर के लिये सब का लय करने का सम्पादन किया है, उस क्रम का कथन चित्त में ज्ञान करने के लिये योग्य है, इसीलिये कहा जा रहा है—

श्लोक—**वाचं जुहाव मनसि तत्प्राण इतरे च तम् ।
मृत्यावपानं सोत्सर्गं तत्पञ्चत्वे ह्यजोहवीत् ।।४१।।
त्रित्वे हुत्वा च पञ्चत्वं तच्चैकत्वेऽजुहोन्मुनिः ।
सर्वमात्मन्यजुहवीद्ब्रह्मण्यात्मानमव्यये ।।४२।।**

श्लोकार्थ—युधिष्ठिर ने वाणी को मन में होम दिया, मन को प्राणों में होम दिया, प्राणों को अपान वायु में, अपान को ऊपर की ओर उठाते हुए मृत्यु में और मृत्यु को पंच महाभूत रूप भगवान् के स्वरूप में होम दिया। उन पांचों को त्रिगुणात्मक रूप में होम दिया। उस त्रिगुणात्मक रूप को पुरुष में होम दिया और उस पुरुष को कभी नष्ट न होने वाले अक्षर ब्रह्म में होम दिया ।।४१-४२।।

सुबोधिनी—**वाचमिति**। वाक्सम्बन्धेन हि शरीरसम्बन्धः। पुरञ्जनोपाख्याने तथा निरूपणात्। मनसो हि भार्या वाक्। प्राकृती सा। आत्मनो हि वाचस्तया वाचा सम्बन्धान्न पृथङ्निरूपणम्। अस्यां निवृत्तायां सा स्वनिष्ठा स्वत एव भविष्यति। तस्या निर्बन्धः पश्चादवक्तव्यो **बद्धवा**गित्येन। ईश्वर कर्त्तृके ह्यधीने लयो मुख्यः। तत्र "**दूतीरेव त्वं मनसोऽसि**" ति श्रुतेर्मनोऽधीनत्वं वाचः। वाङ्नाम काचित्सववागधिष्ठात्री देवता। सा ह्यभिमानिनी। य एव तस्या निकृष्टऽव मन्यते तत एव निवर्तते। प्रजापतेरिव। तथाऽस्मादपि निवर्त्तिष्यत इति भावः। तथा मनसोऽपि प्राणाधीनत्वम्। तग्दतागतिभ्यां निरूपणात्। यद्यपि प्राणनिरोधे मनसः करणत्वं तथाप्यग्रे निरोधकत्वात्तदधीनत्वम। तन्निरोधेन निरुद्धत्वाद्वा। तथाच देहबन्धकापगमः। अत एव योगशास्त्रे तन्मूलकत्वकथनं देहस्य। **इतरे चतम**। इतरे अपाने। इतरस्मिन्निति वक्तव्ये इतर इति कथनमसर्वनामत्वज्ञापकम्। तेनाऽग्रे मलत्वेन परित्यागकथनाद्भगवत्त्वमयुक्तमिति प्राणनियामकत्वेऽपि न भगवद्दृष्टिः कर्त्तव्येति सूचितम्। होमकथनं तु पञ्चाग्निविद्ययोत्पादितशरीरस्य ब्रह्मविद्याधिकाकारोपयोगात्प्रकृतस्याऽतथात्वेऽपि भावनया तथात्वसम्पादनार्थम्। पूजायां शरीरनिर्माणवत्। प्रयत्नेनोर्द्ध्वानीतस्य वायुना सहोर्ध्वमागतस्य पुनरपानेनाऽऽकर्षणात्प्राणस्याऽपानाधीनत्वम्। सांसर्गिकस्तु वायुः श्वासेन बहिर्निर्गच्छति। अन्यथा सोऽपि निर्गच्छेत्। अपानस्तु न प्रयत्नाधीनगतिकः। तस्य मृत्युरेव नियामक इति मृत्यौ तस्य लयमाह—**मृत्यावपानमिति** मृत्युनैव हि स ऊर्ध्वं नीयते। केचन पुनर्योगिन प्राणं बलिष्ठं विधायाऽपानेन प्राणापकर्षणे कृते पुनः प्राणोत्कर्षणे सापानमुत्कर्षन्ति। बहिर्गमनाभावाय चाऽन्योन्यबलिष्ठत्वाद्गतिद्वयनिरोधं च कुर्वन्ति। तस्य प्रकारस्य फलार्थत्वान्न तत्प्रकृते निरूप्यते। अतः सहजासुरेऽपाने प्राणमजुहोदपानं तु मृत्याविति। ननु तेन प्रकारेण मृत्युना गृहीतेऽपाने दुर्गतिश्रवणात्किमित्यजुहोत्? तत्राऽऽह **सोत्सर्ग**-

मिति । तत्र हि मृत्युरपानश्चोत्सर्गे गच्छतः । अत्र तूत्सर्गसहितस्याऽपानस्य मृत्यौ होमान्मृत्योस्तेन मार्गेण गमनाभाव । अतो नाऽनिरुद्धत्वम् । मृत्युरप्यत्रैव लीयते । "**मृत्युर्यस्योपसेचनमि**" ति श्रुतेः । ओदनं देहो मृत्युघृतमित्यतो मृत्युरत्रैव निरुद्धः । "**अशनया मृत्युरेवे**" ति श्रुतेः । स सर्वप्राणेषु वर्तते । तस्य प्राणापानौ पोषकावाहारदानमलापकरणाभ्याम् । तौ चेत्तत्र निरुद्धौ देहमात्रपरिनिष्ठो देहाधीनो भवति । पश्चाद्देहं भक्षयितुमारभते । तदा तस्य नियामकानि पञ्च-महाभूतानि तं निबन्धन्ति । अतो योगिनो देहो न वर्द्धते न क्षीयते । एवं पञ्चमहाभूताधीनं मृत्युं प्राप्तप्राप्तविवेकेन भूतप्रविष्टभगवत्कार्यत्वाद्भूतांशं धर्मिणं परित्यज्य प्रविष्टस्यैकस्य भगवतः पञ्चत्वात्पञ्चत्वेऽजुहोत् । पूर्वोक्ता युक्तिर्हिशब्देन द्योत्यते। एवं तत्रापि स्वत एवाऽऽहृत्य भगवतः पञ्चत्वाभावाद्विपदातिक्रमस्यैव शक्यत्वात्स्वस्मिन् काले च गच्छन् स्वेच्छया गरुडनतिक्रम्य लक्ष्म्यां समागतश्चिवं प्राप्तः । कालमतिक्रम्य प्रकृतौ वा । तदेवमस्मदादिमृत्युभक्षकं पञ्चत्वरूपं भूतात्मानं भगवन्तं गुणत्रयरूपे भगवत्यजुहोत् । तदधीनत्वाद्भूतानाम् । तत्रापि गुणत्रयनिविष्टो भगवान् प्रकृतिस्वरूपे हुतः। सा हि परम्परया सर्वकार्यरूपा । तत्र हि सर्वे प्रवाहाः प्रविशन्त्यतः सर्वशब्दवाच्या । तामेकस्वरूपं भगवन्तं पुरुषरूपे आत्मन्यजुहोत् । तं च पुरुषं कालादिनियामकेऽक्षरे ब्रह्मण्यजुहोत् । तदधीनत्वात्तस्य । "**तन्मायाफलरूपेणे**" ति वाक्यात् । **अव्यय इति** वेदब्राह्मणत्वजातिचतुर्मुखनिराकरणार्थम् । अथवा । तस्याऽपि प्रकृतिपुरुषभावेन व्ययसम्भवात्तद्रहिते भगवति तदक्षरमजुहोदित्यर्थः ॥४१॥४२॥

व्याख्यार्थ—वाणी के सम्बन्ध से शरीर का सम्बन्ध है, यह पुरंजन के आख्यान में कहा गया है। मन की स्त्री वाणी है, वह प्रकृति के सम्बन्ध वाली है। आत्मा की वाणी देवता रूप है। इसलिए देवता रूप और प्रकृति रूप दोनों ही वाणियों का स्वरूप यहां भिन्न भिन्न रूपों में नहीं बताया गया। प्रकृति सम्बन्धी वाणी के दूर दूर होने पर देवता रूप वाणी स्वतः ही निवृत हो जाती है। उसका निर्बंध (आग्रह) "युधिष्ठिर ने वाणी का बन्धन किया" आगे कहा जायेगा। गीता में कहे गये प्रमाण से अध्यास भी भगवान् ही करते हैं। इस पक्ष में प्रत्येक से अधिक स्वामी है उस में लय होना ही मुख्य पक्ष है। वाणी मन की कृति है, अतः वाणी मन के अधीन है। वाक् नाम की प्रत्येक वाणी को कोई अधिष्ठात्री देवता है वह अभिमान वाली है, जो उस का हीनपना मानती है। उससे वे प्रजापति के समान निवृत्त हुई है। उसी रीति से यह वाणी युधिष्ठिर से भी निवृत्ति पावेगी, ऐसा अभिप्राय बताया गया है। वह मन से प्राण के अधीन है। इसे छान्दोग्य उपनिषद् के छठे प्रपाठक में पिता उद्दालक ने अपने पुत्र श्वेत केतु को इस प्रकार कहा है, कि "जैसे सूत से बँधा हुआ तीतर पक्षी आकाश में सब दिशाओं में घूमकर, कोई स्थान न मिलने पर वापस अपने बन्धन के स्थल का ही आश्रय करता है, उसी प्रकार से मन सब दिशाओं में घूमकर दूसरे स्थान पर आश्रय न

मिलने के कारण प्राणों का ही आश्रय करता है, कारण कि प्राणों के साथ मन बँधा हुआ है।' इसलिये मन जाने आने के विषय में प्राण के अधीन है, ऐसा कहा गया है। जब कि प्राणों का निरोध करने में मन ही साधन है। तदपि प्राणों का निरोध होने पर मन भी निरुद्ध हो जाता है। इसलिए मन के निरोध में भी मन को प्राणों के अधीन रहना पड़ता है, यह सिद्ध हुआ। कारण कि, प्राणों के निरोध से मन का निरोध हो जाता है, तब देह का प्रतिबन्ध मिटता है। अर्थात् देह का सम्बन्ध निवृत्त हो जाता है। इसी से योग शास्त्र में मन का मूल देह है, ऐसा कहा गया है ऐसे प्राण को युधिष्ठिर ने अपान वायु में समाहित कर दिया है। मूल में अपान कहने वाले इतर शब्द में सर्वनाम के रूप में शब्द का प्रयोग नहीं हुआ, जिस का अभिप्राय यह है, कि मलपने के रूप में आगे उसे छोड़ देने को बात कही जाएगी। इसलिये सब प्रकार से उसमें भगवान् पना रहने की योग्यता नहीं है। इसलिए अपान से प्राण को नियन्त्रण में रखने वाली है तो भी उसमें प्रभु सम्बन्धी दृष्टि करने योग्य नहीं, ऐसा सूचित किया गया है। यदि अपान में भगवद् दृष्टि नहीं की जाती तो होम करने के विषय में विरोध होता है, ऐसी शंका का उत्तर देते हैं, कि पञ्चाग्नि विद्या द्वारा जिस शरीर को उत्पन्न किया गया है, उसका ब्रह्म विद्या के अधिकार में उपयोग है। यद्यपि युधिष्ठिर के शरीर की पञ्चाग्नि विद्या से उत्पन्न करने वाली स्थिति नहीं है, तो भी भावना द्वारा वैसा शरीर सम्पादन करने के लिये पूजा में देवमय शरीर किया जाता है, उसी रीति से शरीर को करने के लिए होम करने वाली बात कही गई है। प्रयत्न पूर्वक वायु के साथ प्राणों को ऊंचा लाकर वहां से अपान प्राणों को वापस नीचे ले जाता है, ऐसा सिद्ध होता है। उस वायु के साथ प्राण को खींचा जाता है। वह वायु सांसर्गिक है। वह वायु श्वास के द्वारा अन्दर जाता है तथा बाहर निकलता है। उस के साथ प्राणों की एकता नहीं है। यदि प्राणादिक के साथ श्वास आदि की एकता हो तो श्वास के बाहर निकलने के साथ ही प्राण भी बाहर निकल जाने चाहिएं। वह नहीं निकलता इससे सिद्ध होता है कि प्राण अपान वायु के अधीन है। जिससे युधिष्ठिर ने प्राणों को अपान में होमा है। अपान की गति प्रयत्न के अधीन है। मृत्यु अपान को नियमित रखती है। इससे उस अपान का होम मृत्यु में किया गया है। उसे कहते हैं, कि युधिष्ठिर ने अपान का होम मृत्यु में किया है। प्राण खेंचने के लिये मृत्यु अपान को ऊपर की ओर उठाता है। अपान का निवास गुदा में है और प्राण हृदय में रहते हैं। जिससे कितने

ही योगी योग द्वारा प्राण को बलवान् करके अपान द्वारा प्राणों को खेंचते हैं, तब प्राणों का बल बढ़ जाने से प्राणों को खेंचते समय अपान के साथ प्राण को ऊंचा चढाते हैं। तब दोनों बलवान् हो जाने से परस्पर खेंचते खेंचते बाहर न निकल जाएं इसलिये दोनों की गति को योगी रोक लेते हैं। इस प्रकार फल की इच्छा वाले को करना पड़ता है। परन्तु युधिष्ठिर को फल की इच्छा नहीं है, इसलिये वैसा निरूपण नहीं किया। इसलिये सहज ही आसुर भाव में रहने वाले अपान में युधिष्ठिर ने प्राणों का होम कर दिया और अपान को मृत्यु में होम दिया। ऊपर लिखे प्रकार से मृत्यु ने अपान को ग्रहण किया। शास्त्रों में लिखा है कि अपान में मृत्यु के जाने से दुर्गति होती है फिर युधिष्ठिर ने ऐसा क्यों किया ? इस जिज्ञासा का उत्तर देते हैं, कि उत्सर्ग के साथ अपान का मृत्यु में होम किया, इसलिए अपान के मार्ग से उनकी मृत्यु नहीं हुई। अतः बुरी गति होने का प्रश्न ही नहीं। कारण, कि मृत्यु को भी वश में रखने वाले स्थान में उस का लय किया गया है। वेद में कहा गया है, कि ब्राह्मण और क्षत्रिय ये दोनों भोजन के लिये परिपक्व किये गये भात के समान हैं और मृत्यु उनका सहायक है, ऐसे ईश्वर को कौन जान सकता है ?' देह ही भात माना गया है और मृत्यु घी के समान है, ये दोनों ही भगवान् में विलीन होते हैं. यह सिद्ध हुआ। मृत्यु का मिलन भी ब्रह्म में ही होता है। 'अशनया, मृत्यु ही है,' ऐसा वेद में कहा गया है। वह प्रत्येक प्राणी में है। उसका पोषण करने वाले प्राण और अपान हैं। वे प्राण आहार देकर उसका पोषण करते हैं और अपान मल को दूर करके पोषण करता है। उस प्राण और अपान का जो देह में विरोध होता है, वह बाद में पोषण न मिलने से देह में रहता हुआ उसके अधीन हो जाता है, तब वह मृत्यु देह का भक्षण करना प्रारम्भ कर देता है, तब देह को वश में रखने वाले पंचमहाभूत उसका बन्धन करते हैं। जिससे प्राण तथा अपान को अपने नियन्त्रण में रखने वाले योगी का देह न तो घटता और न ही नष्ट होता कारण, कि मृत्यु उस के देह का भक्षण नहीं कर सकता। इस प्रकार पंच महाभूतों के अधीन मृत्यु भगवान् का कार्य रूप है। कारण, कि ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों ही परिपक्व भात के स्थानीय हैं, ऐसा श्रुति में कहा गया है। मृत्यु घी का स्थानीय है और भगवान् मृत्यु के नियामक हैं,अतःपंचभूत उसे वश में रखने वाले नहीं हैं। पंच महाभूतों में भूतात्मक अंश को छोड़कर, उस में प्रवेश पाये हुए भगवान् ही पाँच रूपों में हैं ऐसा निश्चय करके पंच महाभूत रूप भगवान् में मृत्यु का होम

किया है। इस युक्ति को 'हि' अव्यय से सूचित किया है। इस रीति से पाँच पने में भी स्वयं में भगवान् का पांच पना न होने से और उसमें भी गरुड़जी और काल दोनों का अतिक्रम होने से, स्वयं काल और लक्ष्मी मिलाकर तीन स्वरूप हुए। तब काल रूप गरुड़जी को उलाँघ कर ब्रह्मानन्द रूप पृथ्वी में गये, इस प्रकार तीनपने को प्राप्त हुए अथवा काल का उल्लंघन करके प्रकृति में गये। उस मृत्यु को भक्षण करने वाले महाभूत रूप भगवान् को, जो कि त्रिगुणात्मक रूप वाले हैं, होम दिया। कारण, कि पंच महाभूत तीन गुणों के अधीन हैं। उन प्रकृति के स्वरूप में तीन गुण से रहने वाले भगवान् को होमा गया है। इस प्रकार वह प्रकृति परंपरा से सर्व कार्य रूप वाली हुई है। उस प्रकृति में प्रत्येक कार्य का प्रवाह प्रवेश करता है। इसलिये 'सर्व' शब्द से जितना कहा गया है, उसमें एक रूप भगवान् को पुरुष रूप आत्मा में होमा गया हैं। उस पुरुष को काल आदि के नियामक अक्षर ब्रह्म में होमा गया है। कारण, कि अक्षर ब्रह्म पुरुष का नियामक है। मूल में ब्रह्म शब्द लिखा हुआ है, जिससे वेद, ब्राह्मण अथवा ब्रह्मा आदि का बोध होता है। वैसा बोध न होने देने के लिये मूल में 'अव्यय' शब्द लिखा हुआ है, अथवा अक्षर ब्रह्म को भी प्रकृति और पुरुषपना होने से नाश की संभावना है। इसलिये नाश रहित भगवान् में अक्षर ब्रह्म का लय किया गया है। इस प्रकार एकत्व का आत्मा में (अक्षर ब्रह्म में) लय किया है और अक्षर ब्रह्म का भी भगवान् में लय कर दिया गया है ।।४१-४२।।

आभास—एवं भगवन्मार्गे नवाऽऽहुतयो नवाऽग्नयः। तत्र स्वकीयं क्रमेण हुत्वा सर्वं भगवति समर्प्य त्यक्तमलांशं देहमरण्ये त्युक्तुं बहिः स्थितिमाह—

आभासार्थ—इस प्रकार दोनों पक्षों में नौ आहुतियां जिसमें हों ऐसे नौ प्रकार के अग्नि भगवान् के मार्ग में हैं। उन मे क्रम पूर्वक युधिष्ठिर ने होम किया है, प्रत्येक वस्तु भगवान् में अर्पण की है। उनमें से मल के अंश का त्याग किया गया है। अब देह को जंगल में छोड़ने के लिये उनको बाहरी स्थिति को कहा जा रहा है—

श्लोक—**चीरवासा निराहारो बद्धवाङ् मुक्तमूर्द्धजः।**
दर्शयन्नात्मनो रूपं जडोन्मत्तपिशाचवत् ।।४३।।

अनवेक्षमाणो निरगादशृण्वन् बधिरो यथा ।
उदीचीं प्रविवेशाऽऽशां गतपूर्वां महात्मभिः ।
हृदि ब्रह्म परं ध्यायन्नाऽऽवर्त्तेत यतो गतः ॥४४॥

श्लोकार्थ—महाराज श्री युधिष्टिर जी घर त्याग कर पधार रहे हैं। फटे पुराने वस्त्र धारण किये हुए, निराहार, चुप-चाप, बिखरे केश, शरीर जड़वत्, उन्मत और पिशाच जैसी आकृति बने हुए, सब ओर से हटी हुई दृष्टि वाले, कुछ भी न सुनते हुए बहरे के समान, प्रतिपल ब्रह्म के ध्यान में लवलीन; युधिष्ठिर जी उस दिशा की ओर बढते जा रहे हैं, जिस उत्तर दिशा में पहले से ही महात्मा पधारते रहे हैं और जहां जाने के बाद वे कभी लौटकर नहीं आते ॥४३॥४४॥

सुबोधिनी—चीरवासा इति । अतः परं यद्यस्य देह उत्पद्येत पार्षदवदुत्पत्स्यते । पञ्चाग्नौ ब्रह्मविद्योपयोगिदेहवत् । एवमसमर्थस्य तूष्णीं परित्यागः सर्वनाशकः । हट्टे पतितानि वस्त्राणि चीरवासांसि । एतादृशेऽपि रक्षा विधेयेति त्रिदण्डमाह । **निराहार इति** प्राणदण्डः । **बद्धवागिति** वाग्दण्डः । **मुक्तमूर्द्धज इति** देहदण्डः । चित्तदण्डो वा । भ्रान्तत्वज्ञापनात् । अनेन बीजस्याऽनादरेऽनङ्कुरोऽपादकत्वं सूचितम् । एतादृशस्य सर्वसाधनसाध्यसहितस्य प्रकारेणैतद्‌परित्यागे पुनः सर्वदोषसङ्क्रम इति कूलङ्कषप्रवाहपतितनौकोत्तरणवद्देहोत्तरणं कर्त्तव्यमिति तत्प्रकारमाह—**दर्शयन्निति** । आत्मनो देहस्य । **जडो**ऽन्तःकरणविवेकशून्यः । जडभरतवत् । **उन्मत्त** इन्द्रियविकलः । मदिरामत्तवत् । **पिशाचो** भूतग्रस्तो देहविकलः । एवं देहेन्द्रियान्तःकरणानि कथा न परैराक्रम्यन्ते तथा विधेयानि । अन्यथाऽन्यत्र प्र वष्टानि बीजभावमापद्येरन् । **अनवेक्षमाणः** । इतस्ततोऽविलोकयन्स्वस्मिन्नेव दत्तचित्तः । स्वभावत एवाऽन्यवचनमशृण्वन् । सर्वथाऽऽत्मनि दत्तचित्तत्वज्ञापनाय-**बधिरो यथेति** । दग्धपटवत्तस्य गमनसंस्कारः । इयमेवाऽवस्था ब्रह्मविदां बहिरिन्द्रियाणां विषयाग्रहणे भवति । शुकवत्तदुक्तम् । गन्तव्यदेशमाह-**उदीचीमिति** । यद्यपि सर्वदेशेषु नाऽस्य नाशस्तथापि मर्यादया तत्रैव गतः । **महात्मभिरिति** । एतदपेक्षयाऽपि ते महान्त इति तेषामनुगमनं युक्तमिति भावः । शून्यवद्गमनं वारयति—**हृदि ब्रह्म परं ध्यायन्निति** । यद्यपि ब्रह्माऽभिव्यक्तिदशायां ध्यानं नाऽपेक्षते । स्वत एव स्फुरति । तथाप्यनभिव्यक्तदशायां ध्यानं कर्त्तव्यम् । न तूष्णीम्भावो युक्त इति । कियद्दूरे गतमित्याकाङ्क्षायामाह । गतः प्राणो यतो नाऽऽयर्तेति । कण्ठपर्यन्त हिमे जले । वा तावद्दूरे गत इत्यर्थः ॥४३॥४४॥

व्याख्यार्थ—अब जो देह युधिष्ठिर जी का उत्पन्न होगा, वह भगवान् के पार्षद के समान, भगवान् की सेवा के लिये ब्रह्ममय अथवा चिन्मय (चेतना मात्र) देह होगा। वह देह पंचाग्नि में ब्रह्मविद्या के लिये उपयोगी देह के समान होगा। यदि मनुष्य ऐसा करने में असमर्थ हो, तो उसका परित्याग करने पर, परित्यागी का सर्व-

नाश होगा। मार्ग में पड़े रहने वाले वस्त्रों को चीर-वस्त्र कहा जाता है। ऐसे वस्त्रों को युधिष्ठिर जी धारण किये हुए हैं। ऐसी स्थिति वाले देह की भी रक्षा करना चाहिए, यह बताया गया है। उन्होंने अपनी देह को तीन प्रकार से दण्ड दिया है। 'आहार को छोड़ दिया', यह प्राणों को दण्ड देना हुआ, 'मौन हो गये', यह वाणी को सजा दे दी, 'बाल बिखेर लिये,' यह शरीर को दण्डित किया, अथवा अपना भ्रान्त पना बताने के लिये चित्त को दण्ड दिया। दण्ड देने का यह अभिप्राय है, कि जो संसार के बोज रूप प्राणों का आदर करे तो वे प्राण अपने अंकुर उत्पन्न कर दें, जिससे पुनः संसार हो जाय, यह सूचित किया गया है। संसार के बीज का आश्रय न किये हुए, प्रत्येक प्रकार के साधन-साध्य से युक्त देह का त्याग न करने पर, उस देह में फिर से वे सब दोष घर कर जाते हैं। इसलिए प्रवाह में से किनारे की ओर खेंची जाती हुई नौका में से उतरने के समान देह में से उतरना चाहिये। नौका के त्याग के समान देह का त्याग करना चाहिये। देह त्याग के प्रकार इस प्रकार हैं–कि अपने शरीर को लोगों के बीच में जड़ की तरह दिखा रहे हैं, उन्मत्त और पिशाच के समान नजर आते हैं। अन्तःकरण के विवेक से शून्य जड़ भरत जी की समानता वाले, जड़ कहलाते हैं। मदिरा में मस्त हुए के समान विकल इन्द्रियों वाला उन्मत्त कहलाता है। भूत आदि से प्रभावित विकल देह वाला पिशाच माना जाता है। देह इन्द्रियां और अन्तःकरण फिर आक्रमण न कर बैठें ऐसी युक्ति करना चाहिये। यदि ऐसा नहीं किया जाता तो देह आदिक बीज के स्वतन्त्र हो जाने से पुनः संसार के बीज भाव को प्राप्त हो जाना पड़े। युधिष्ठिर जी न इधर देख रहे हैं। और न उधर, अतः चित्त को स्वयं में केन्द्रित कर लिया है व आत्म-लीन हो चुके हैं। यह इन बातों से मालूम हो रहा है, कि वे कुछ भी न सुनने वाले बहरे मनुष्य के समान दिखाई दे रहे हैं। तात्पर्य यह है, कि युधिष्ठिर जी को देह आदि का भय नहीं रहा है। एक जले वस्त्र के बचे रहने के समान ही हो गया है, युधिष्ठिर जी का देह भी उस देह के सस्कार रूप गुण से (यन्त्र-चालित से) वें घर से निकल गये। शुकदेवजी के समान बाहर की इन्द्रियों के विषयों को ग्रहण न करे, तो युधिष्ठिर जी के समान ब्रह्म ज्ञानियों की भी स्थिति हो जाती है, यह कहा गया है। युधिष्ठिर जी घर से निकल कर कहां गए हैं? इसे कहा जा रहा है, कि पहले महात्मा पुरुष उत्तर दिशा में गए थे उसी ओर वे गए। इस कारण नहीं, कि अन्य दिशाओं में जाने पर

युधिष्ठिर जी का नाश हो जायेगा,वरन् इसलिए कि उत्तर दिशा में जाने की मर्यादा चली आ रही होने के कारण वे वहाँ जा रहे हैं। युधिष्ठिरजी के बहुत पहले से ही जो अनेकानेक महात्मा हो चुके हैं और वे सब उत्तर दिशा में ही गए हैं, अतः युधिष्ठिरजी द्वारा उन सब का अनुकरण किया जाना योग्य है। वे हृदय में खालीपन लिये हुए नहीं जा रहे अपितु पर ब्रह्म के ध्यान में निमग्न हैं। ब्रह्म के प्रकट हो जाने पर ध्यान की स्थिति नहीं रहती, क्योंकि स्वयं में ब्रह्म स्फुरित हो जाते हैं। ब्रह्म के प्रकट न होने तक ध्यान करते रहना चाहिये, भाव के लिये ध्यान हीन अवस्था ठीक नहीं है। इसलिए युधिष्ठिर जी ब्रह्म में ध्यानस्थ हैं। किसी की यह जानने की इच्छा हो, कि युधिष्ठिर जी कहाँ तक गए होंगे? तो कहते हैं कि जहाँ जाने के बाद फिर वापस लौटकर कोई भी नहीं आता। वे इतनी दूर तक चले गए कि बर्फीला जल उनके गले तक आ गया ॥४३-४४॥

आभास—अन्येषां निर्गमनमाह-

आभासार्थ—अब युधिष्ठिर जी के दूसरे भाईयों का भी जाना बताया जा रहा है—

श्लोक—**सर्वे तमनु निर्जग्मुर्भ्रातरः कृतनिश्चयाः।**
कलिनाऽधर्ममित्रेण दृष्ट्वा स्पृष्टाः प्रजा भुवि ॥४५॥
ते साधु कृतसर्वार्था ज्ञात्वाऽऽत्यन्तिकमात्मनः।
मनसा धारयामासुर्वैकुण्ठचरणाम्बुजम् ॥४६॥

श्लोकार्थ—पृथ्वी के ऊपर अधर्म के मित्र कलियुग द्वारा स्पर्श की हुई प्रजा को देखकर, सब भाईयों ने निश्चय कर लिया और युधिष्ठिरजी के पीछे चल दिए ॥४५॥ सब प्रकार से जिन्होंने प्रत्येक पुरुषार्थ को लिया है, ऐसे वे सब भाई आत्मा के सच्चे स्वरूप को जानकर, मन से वैकुण्ठनाथ के चरण कमलों का ध्यान करने लगे ।४६।

सुबोधिनी—सर्वे इति। अनेनैव प्रकारेण सर्वेषां गमनमाह-**तमन्विति**। लौकिकशास्त्रीय-सम्मतिमाह—**भ्रातरः कृतनिश्चया इति**। भ्रातृणां यदन्यतमः करोति तत् सर्वे कुर्वन्तीति लोकः। शास्त्रे तु निश्चितं कुर्वन्तीति। **'मुख्ये शास्त्रार्थसम्भव'** इति न्यायेन सर्वेषु यदि शास्त्रार्थसम्भवः स्यात् सर्वे मुख्याः स्युः। अतो लोकवद्वेदेऽपि ते गौणा एव। तत्कथं तद्वदतिदेश इत्याशङ्क्य तथा

शास्त्रार्थनिर्द्धाराभावेऽपि स्थूलप्रकारेण तेषां निर्द्धारोऽस्तीति तदाह--**कलिनेति**। भगवद्भक्तेषु बिषयाणां बाधकत्वाभावेऽपि दुःसङ्गसहितानां तेषां तथात्वात्कलौ च दोषसम्भवात्कलिनाऽधर्म-मित्रेण सर्वाः प्रजा भुवि स्पृष्टा दृष्ट्वा गन्तुं कृतधियो जाता इति। वैराग्यसाधनमाह– **ते साधु कृतसर्वार्था इति**। धर्मार्थकाममोक्षाश्चत्वारः पुरुषार्थाः साधु यथा भवन्ति तथा कृताः। चतुर्णां पुरुषार्थानां स्वसाधनसाध्यतेव भगवत्सेवासाध्यताऽप्यस्ति। तत्रापि भगवत्सेवया साधिता निःप्रत्यूहमुत्तमा भवन्ति। अतस्तैः सर्वैः पुरुषार्थाः साधिताः। अथवा। साधुषु कृताः सर्वे पुरुषार्था यैः। साधुसङ्गादेव सर्वे पुरुषार्थाः सिद्धाः। अतस्तद्विरोधित्वेनाऽसत्सङ्गो हेय इति पूर्वेण सम्बन्धः। अथवा। भक्तिः पञ्चमः पुरुषार्थः। चत्वारस्तैरनुभूताः। भक्तिश्च पञ्चमः। तत्र तारतम्ये विचार्य-माणेऽत्यन्तं सुखं सुखहेतुश्च भक्तिरेव। अत आत्यन्तिकं ज्ञात्वा श्रीकृष्णचरणारविन्दमेव मनसा धारयामासुः। न त्वन्यं कुसृष्टिप्रकारम् ॥४५॥४६॥

व्याख्यार्थ—जिस प्रकार युधिष्ठिर जी निकले हैं, उसी प्रकार प्रत्येक भाई निकले हैं। उसे कहते हैं– उसमें लोक के सवाद वाली और शास्त्र के सम्बन्ध वाली संमति कहते है, कि प्रत्येक भाई ने निश्चय किया। भाईयों में जिसे एक करता है, उसे दूसरा भी करता है, ऐसी लौकिक रीति है। अतः जो कुछ करना, निश्चय पूर्वक करना, यह शास्त्र की रीति है। उसमें, "जो मुख्य होता है उसे शास्त्रीय रीति से करना सम्भव है।" इस न्याय से हरेक भाईयों में शास्त्र की रीति प्रमाण से करना संभव हो जाय तो सब मुख्य हो जाय। लोक में जिस प्रकार युधिष्ठिर दी मुख्य हैं और दूसरे भाई गौण हैं, वैसे ही वेद में भी दूसरे भाई गौण हैं, ऐसा होने पर प्रत्येक भाई ने बड़े भाई युधिष्ठिर जी के समान क्यों किया? ऐसी शंका का उत्तर देते हैं कि शास्त्रों में वे गौण हैं, ऐसा निश्चय है। तो भी मोटे तौर से उनका जो निश्चय है, उसे कहते हैं। अधर्म के मित्र कलियुग ने प्रत्येक प्रजा का स्पर्श कर लिया है, यह देखकर प्रत्येक भाई ने जाने का निश्चय किया है। भगवान् के भक्तों को विषय बाधा नहीं देते, कारण, कि भगवान् के भक्त विषयों में आसक्त नहीं होते फिर भी दुःसंग के कारण विषय बाधा उपस्थित कर देते हैं। इस कलियुग में दुःसंग के दोष लगने का भय है। अधर्म का मित्र कलियुग पृथ्वी की प्रजा को प्रभावित कर चुका है, इसे देखकर सभी भाइयों ने वहां से निकल जाने का विचार निश्चित कर लिया। यह सब भाइयों की वैराग्य अवस्था बताई गई है ॥४५॥ अब उस वैराग्य का साधन कहते हैं–कि धर्म अर्थ काम और मोक्ष जिस रीति से सम्पन्न होते हैं, उस प्रमाण से सब भाईयों ने उसे कर लिया है। उन्हें कहा जा है– "ये चारों पुरुषार्थ अपने साधन से सिद्ध होते हैं। कर्म द्वारा

तप द्वारा, ज्ञान द्वारा और वैराग्य इनकी सिद्धि है। इन सब पुरुषार्थों को मेरा भक्त भक्ति योग से बिना परिश्रम किये ही प्राप्त कर लेता है।" इस कथन को एकादश स्कन्ध में भगवान् ने उद्धवजी से कहा है। इस प्रमाण से प्रभु की सेवा भी सिद्ध होती है। भगवान् की सेवा से सिद्ध किये हुए पुरुषार्थों में विघ्न नहीं आता, अतः इनकी प्राप्ति उत्तमता पूर्वक होती है। इसलिए प्रत्येक भाई ने इन पुरुषार्थों को सिद्ध कर लिया है अथवा साधु पुरुषों के संग से उन्हें सब पुरुषार्थ सिद्ध हो गये हैं। अब संसार में रहने पर उन्हें असत्संग हो जाय और ऐसा संग साधु पुरुषों का विरोधी है, इसलिए उन्होंने ऐसे स्थान का त्याग कर दिया है। अथवा भक्ति पाँचवाँ पुरुषार्थ है। युधिष्ठिरजी के भाईयों ने चार पुरुषार्थों का तो अनुभव कर लिया है और अब पाँचवाँ पुरुषार्थ भक्ति का अनुभव कर रहे हैं। तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर भक्ति ही अत्यन्त सुख का कारण और सुख रूपा है। इस बात का उन्हें अनुभव हो गया है। अतः सच्चे सुख के कारण रूप श्री कृष्ण के चरण कमल ही हैं, ऐसा जान कर मन से उन चरणों को धारण किया है, अन्य किसी भी प्रकार की वासना को मन में नहीं रखा है ॥४५॥४६॥

आभास—ततः किं वृत्तमित्याह—

आभासार्थ—इसके बाद क्या घटना घटित हुई ? उसे कहते हैं—

श्लोक—**तद्ध्यानोद्रिक्तया भक्त्या विशुद्धधिषणाः परे ।**
तस्मिन्नारायणपदे एकान्तमतयो गतिम् ॥४७॥
अवापुर्दुरवापां ते असद्भिर्विषयात्मभिः ।
विधूतकल्मषाः स्थानं विरजेनाऽऽत्मनैव हि ॥४८॥

श्लोकार्थ—उन भगवान् के चरण कमलों के ध्यान से बढ़ी हुई भक्ति द्वारा जिनकी बुद्धि शुद्ध हो गई है, ऐसे उन सब भाईयों ने, ब्रह्माण्ड रूप नारायण के पद को प्राप्त करते हुए, पुरुषोत्तम में जिनकी एकान्तिक बुद्धि हो गई है, सारे पाप जिन के धुल चुके हैं, विषय में आत्मा वाले पुरुषों को जो गति कभी भी प्राप्त नहीं हो सकती, ऐसी उत्तमोत्तम गति को निर्मल आत्मा से प्राप्त कर लिया ॥४७॥४८॥

सुबोधिनी—**तद्ध्यानोद्रिक्तयेति**। तद्ध्यानेनोद्रिक्ता उच्छलिता या भक्तिः। सर्वाङ्ग

पूर्णा बहिरपि निर्गता । तेनाऽन्तःस्थान् दोषान् दूरे बहिः करोति । अतो विशुद्धधिषणाः । ततः परे पुरुषोत्तमेऽनन्यशब्दवाच्ये तस्मिन् प्रसिद्धे नारायणपदे नारायणो ब्रह्माण्डरूपः पदं यस्य । अनेन शास्त्रार्थरूपे एकान्तमतयो भूत्वा । दोषादेव व्यभिचारबुद्धेर्युत्पत्तेः । गतिं गमनसामर्थ्यं गमनमेव वा अवापुः । पूर्वस्य शास्त्रतः साधनान्युक्तानि । न फलम् । एतेषां तु फलमप्युक्तम् । अथवा । ज्ञानमार्गेण राज्ञो गतिरन्येषां भक्तिमार्गेणेति । अथवा । लोकेभ्यस्तिरोभावपर्यन्तम-साधारण्येन गमनमुक्त्वा पश्चात्सर्वेषां साधारण्येन गमनं साधनं फलं च । अतः सर्व एव शास्त्र-मार्गं परित्यज्य केवलविषयात्मभिर्दुरवापां गतिमापुरिति सर्वेषामेव भगवत्प्राप्तिः फलम् । असद्भिरित्याचारराहित्यम् । सिद्धेऽपि ज्ञानेऽभिमानशेषस्य विद्यमानत्वात्तत्कृतो दोषः स्यादेव । विषयात्मभिरित्यन्तःकरणदोषः प्रत्येकं गमने हेतुः पाषण्डिविषयव्यावृत्त्यर्थम् । ततो गतिं प्रतिपद्य समीपे गच्छन्तः । क्रमेण तत्वांशातिक्रमे यदा सर्वांशातिक्रमस्तदा विधूतकल्मषत्वम् । आत्मापेक्षयाऽन्यस्य सर्वस्यैव कल्मषत्वात् स्थानस्य स्वस्य चैकरूपत्वम् । तदाह—विरजेनेति हि युक्तोऽयमर्थः । न ह्यशुद्धाः शुद्धं गन्तुमर्हन्ति । शुद्धानां वा अशुद्धं स्थानं भवति । तस्माद्यथा-योग्यं स्थानं प्राप्तवन्त इत्यर्थः ।। ४७ ।। ।। ४८ ।।

व्याख्यार्थ—श्री कृष्ण के ध्यान से भक्ति उछलने लगी है और वह प्रत्येक अंग में पूर्ण होती हुई बाहर छलकने लगी है । जिस भक्ति ने अन्दर रहने वाले दोषों को बाहर निकाल दिया है । अतः बुद्धि शुद्ध हो गई है । जिससे जो ब्रह्माण्ड रूप नारा-यण का पद है, ऐसे प्रसिद्ध पुरुषोत्तम में पाण्डव दृढ़ मति वाले हो गये । सांसारिक दोषों से ही व्यभिचार (विपरीत) बुद्धि होती है । संसार से बाहर निकलने की सामर्थ्य उनमें उत्पन्न हो गई अथवा वे उस मार्ग पर चल पड़े हैं । युधिष्ठिर जी के प्रति पहले शास्त्रों के साधन कहे गये हैं, किन्तु फल नहीं कहे गये । इन भाइयों के लिए तो फल भी कहे गये हैं । अथवा राजा युधिष्ठिर जी की गति ज्ञान मार्ग से हुई है तथा अन्य भाईयों की गति भक्ति मार्ग से हुई है । अथवा, लोक दृष्टि से उनके तिरोभाव पर्यन्त गमन को असाधारणपने से कहकर बाद में सभी का गमन, साधन और फल को साधारणपने से बताया गया है । विषयों में फँसे लोगों को जो गति प्राप्त नहीं होती, शास्त्रीय मार्ग से ही जो गति प्राप्त होती है, ऐसी उस भगवत् प्राप्ति रूप फल वाली गति को उन भाईयों ने प्राप्त किया । असत् पुरुषों को वह फल प्राप्त नहीं होता । कारण, कि असद् पुरुषों में शुद्ध आचरण नहीं होता । असद् पुरुषों को ज्ञान की सिद्धि हो भी जाय तो भी अभिमान रहने से और आचरण हीनता से उत्पन्न होने वाले दोष प्राप्त हो जाते हैं । उनमें विषयों के प्रति इच्छा होने से अन्तःकरण सम्बन्धी दोष भी रहता है । इसलिए आचार रहित होने से उत्पन्न दोष तथा अन्तःकरण सम्बन्धी दोषों से युक्त असद् पुरुषों को वह गति प्राप्त

नहीं होती । ये ही वे दोष हैं, जो व्यक्ति को संसार में से नहीं निकलने देते । ऐसे पाखण्डी विषयों को दूर करने के लिए, उस स्थान से निकल कर, भगवान् के समीप में जाते जाते क्रमशः प्रत्येक तत्त्व के अंश को पाण्डवों ने उलाँघ लिया, जिससे उनके प्रत्येक पाप धुल गये । आत्मा के अलावा जो कुछ भी है, वह सब पाप रूप है । पाण्डवों में से वे सारे पाप निकल गये । इसके बाद, जिस परम स्थान की उन्हें प्राप्ति हुई है, उससे उनके आत्मा की एक रूपता स्थापित हो गई । कहा जा रहा है, कि पाण्डवों ने उस स्थान को निर्मल आत्मा द्वारा प्राप्त किया है । अर्थ के औचित्य में 'हि' अव्यय का प्रयोग किया गया है । कारण, कि जो अशुद्ध होता है वह शुद्ध में जाने योग्य नहीं होता । जो शुद्ध होता है उसका स्थान अशुद्ध नहीं होता। इसलिए पाण्डव यथा योग्य स्थान को प्राप्त हुए हैं, यह अभिप्राय हुआ ।।४७।।४८।।

आभास—अधिकारिणां तु भक्तानामपि **"यावदधिकारं त्वाधिकारिकमि"ति** न्यायेन न भगवत्प्राप्तिः । किन्तु स्वस्थानप्राप्तिरेवेति विदुरे तदाह—

आभासार्थ—अधिकार पूर्वक रहने वाले भक्त को भी, "जहाँ तक उसका अधिकार होता है, उस अधिकार वाले स्थान में ही उसे रहना चाहिये ।" ऐसा व्यास सूत्र में कहा हैं । इस न्याय से उन अधिकारियों को भगवान् की प्राप्ति नहीं होती परन्तु अपने स्थान की ही प्राप्ति हो पाती है । अतएव विदुरजी को अपने स्थान की प्राप्ति हुई है । उसे कहा जा रहा है—

श्लोक—**विदुरोऽपि परित्यज्य प्रभासे देहमात्मवान् ।**
कृष्णादेशेन तच्चित्त, पितृभिः स्वक्षयं ययौ ।।४९।।

श्लोकार्थ—विदुरजी भी प्रभास में देह को छोड़कर, इन्द्रियों के साथ प्रभु की आज्ञा से उनमें चित्त स्थापित करके, पितृगण के साथ अपने स्थान वैवस्वत (यम) पुर में गये ।।४९।।

सुबोधिनी—विदुरोऽपीति । प्रभासो ह्यधिकारस्थानमार्गः । **आत्मवान्** । इन्द्रियादिसहितः पूर्वदेहसहितो वा । मोक्षार्थमाग्रहाकरणे हेतुः—**कृष्णादेशेनेति** । तच्चित्त एव भगवदाज्ञया अधिकारं करोमीति । **पितृभिरिति** । समानयनार्थमागतैः । **स्वक्षयं** वैवस्वतपुरम् । क्षयपदप्रयोगस्तु तत्र गतानां तथात्वात् ।। ४९ ।।

व्याख्यार्थ—विदुरजी यमराज के अवतार थे। उनके अधिकार के स्थान का मार्ग प्रभास है। इसलिए उन्होंने प्रभास में देह छोड़ा है। विदुरजी इन्द्रियों के साथ गये हैं। अथवा, विदुरजी के रहने तक जो देह था उस देह को छोड़कर पहले जो धर्मराज के रूप में थे, उस देह के साथ में गये हैं। उनके भक्त होने पर भी मोक्ष का आग्रह न रखने में कारण कहते हैं, कि विदुरजी को श्रीकृष्ण की आज्ञा थी। जिससे प्रभु में चित्त रखकर भगवान् की आज्ञा से मेरा अधिकार करता हूं, ऐसा अनुसन्धान रखते हुए विदुरजी गये हैं। उन्हें सामने लिवाने के लिए पितरों के समूह आये। उनके साथ वे वैवस्वत पुरी में गये। यहाँ मूल में स्वयं के स्थान को कहने वाला 'क्षय' शब्द प्रयोगित हुआ है। जिसका अभिप्राय यह है, कि जो वैवस्वत पुर में गये हुए हों, उनके पापादिक कर्मों का क्षय हो जाता है ।।४९।।

आभास—द्रौपद्या भिन्नां गतिमाह—

आभासार्थ—द्रौपदी जी की भिन्न प्रकार की गति हुई, अब उसे कहते हैं—

श्लोक—**द्रौपदी च तदाज्ञाय पतीनामनपेक्षताम् ।**
वासुदेवे भगवति ह्येकान्तमतिरापतत् ।।५०।।

श्लोकार्थ—अपने में स्वामियों की इच्छा न देखकर द्रौपदी जी ने भी वासुदेव भगवान् में एकान्तिक मति करते हुए, उन्हें प्राप्त कर लिया ।।५०।।

सुबोधिनी—द्रौपदीति। सा पूर्वमेव भगवदीया भगवच्चरणप्रवेशार्थमुद्यताऽपि भगवता पतिभ्यो दत्तत्वात्तद्धितार्थं स्थिता। तेषां चाऽनपेक्षतां ज्ञात्वा स्वहृदय एव प्रकटे भगवत्येकान्तगतित्वादस्या देहेन्द्रियादिसङ्घातादुत्क्रम्य भगवत्यापतदित्यर्थः।। ५० ।।

व्याख्यार्थ—वे द्रौपदी जी तो पहले से ही भगवदीय थीं, प्रभु के चरण कमलों में प्रवेश करने को तत्पर ही थीं। परन्तु भगवान् ने उन्हें अपने पतियों को सौंपा था, अस्तु उनका हित करने के लिए रहती थीं। उन पतियों को अब द्रौपदी जी की इच्छा नहीं थी। इसे जानकर उन्होंने अपने हृदय में ही प्रकट हुए भगवान् में एकान्तिक गति को प्राप्त किया। वे इन्द्रियों के समूह में से निकलकर भगवान् के चरण कमलों को प्राप्त हुईं ।।५०।।

आभास—एवमध्यायत्रयस्य प्रासङ्गिकत्वं ज्ञापयितुं चरित्रश्रवणफलमाह—

आभासार्थ—इस प्रकार तीनों (१३, १४, १५) अध्यायों की प्रासंगिकता बताने के लिए इन सबके चरित्र को सुनने का फल कहा जा रहा है—

श्लोक—**यः श्रद्धयैतद्भगवत्प्रियाणां पाण्डोः सुतानामभिसम्प्रयाणम्।**
शृणोत्यलं स्वस्त्ययनं पवित्रं लब्ध्वा हरौ भक्तिमुपैति सिद्धिम् ।।५१।।

श्लोकार्थ—जो पुरुष श्रद्धा द्वारा भगवान् के प्रिय पाण्डुराजा के पुत्रों का अत्यन्त कल्याण रूप और पवित्र प्रयाण पूरी तरह से सुनता है, वह भगवान् में भक्ति को प्राप्त करता हुआ, सिद्ध हो जाता है ।।५१।।

सुबोधिनी—**यः श्रद्धयेति** । भगवतः सर्वांशसहितस्य सर्वश्रवणे सर्वं फलमित्यंशे खण्डशः फलमनूद्यते । क्वचित् पूर्वसहितम् । अतो नाऽन्यानर्थक्यम् । वैष्णवत्वात्तेषु श्रद्धा । तेषां स्वातन्त्र्यादिगुणवत्त्वं स्वतोऽपीति द्योतयितुं **पाण्डोरि**त्युक्तम् । ऐहिकफलं **स्वस्त्ययनं पवित्रमिति** इष्टप्राप्त्यनिष्टनिवृत्तिरूपम् । आमुष्मिकं तु भक्तिः साधनं भगवत्प्राप्तिः फलम् । **सिद्धिमि**त्यलभ्यलाभप्राप्त्यर्थमुक्तम् ।। ५१ ।।

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मज श्रीवल्लभदीक्षित विरचितायां प्रथमस्कन्धे पञ्चदशोऽध्यायः ।।१५।।

व्याख्यार्थ—भगवान् को सारे अंशों सहित सुनने से सारा फल मिलता है और अंश को सुनने से थोड़ा फल मिलता है । कहीं पर थोड़ा अंश सुनने से भी सारा फल मिल जाता है । इस प्रकार थोड़ा सुनने का फल बताने में, दूसरे श्रवण का फल व्यर्थ नहीं जाता । पाण्डव वैष्णव थे, अतः उनमें श्रद्धा रखना चाहिये । वे स्वयं में भी स्वतन्त्र गुणों वाले थे, यह बताने के लिए पाण्डु का पुत्र कहा गया है । ऐसे उन पाण्डवों के चरित्रों को सुनने में इच्छित फलों की प्राप्ति होती है और अनिष्ट की निवृत्ति होकर इस लोक सम्बन्धी फल भी मिलता है । यह बताने के लिए उनके चरित्र को अत्यन्त कल्याण रूप और पवित्र कहा गया है । उसका पारलौकिक फल भक्ति की प्राप्ति है । भक्ति साधन है और भगवान् की प्राप्ति उसका फल है । यह एक अलभ्य लाभ है । इसे बताने के लिए ही, "सिद्धि को प्राप्त होता है," ऐसा कहा गया है ।।५१।।

इति श्रीमद्भागवत महापुराण, प्रथमस्कन्ध के १५वें अध्याय की
श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण कृत श्री सुबोधिनी (संस्कृत टीका)
के 'उत्तमाधिकार प्रकरण' का नवम् अध्याय
हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण

—●—

इस अध्याय में वर्णित कथा का सार

राग धनाश्री —

हरि बिनु को पुरवे मो स्वारथ ?
मीड़त हाथ, सीस धुनि ढोरत, रुदन करत नृप पारथ ।।
थाके हस्त, चरन-गति थाकी, अरु थाक्यौ पुरुषारथ ।
पाँच बान मोहिं संकर दीन्हे, तेऊ गए अकारथ ।।
जाकै संग सेत-बंध कीन्हौ, अरु जीत्यौ महभारथ ।
गोपी हरी सूर के प्रभु बिनु, रहत-प्रान किहिं स्वारथ ।।

राग धनाश्री

ऐसे प्रभु अनाथ के स्वामी
दीनदयाल, प्रेम परिपूरन, सब घट-अंतरजामी ।
करत बिबस्त्र द्रुपद-तनया कौं सरन सब्द कहि आयौ ।
पूजि अनंत कोटि बसननी, हरि अरि कौ गर्ब गँवायौ ।
सुत-हित बिप्र, कीर-हित गनिका, नाम लेत प्रभु पायौ ।
छिनक भजन, संगति-प्रताप तैं, गज अरु ग्राह छुड़ायौ ।
नर-तन सिंह-बदन, बपु कीन्हौ, जन लगि भेष बनायौ ।
निज जन दुःखी जानि भय तैं अति रिपु हति सुख उपजायौ ।
तुम्हरी कृपा गुपाल गुसाईं किहिं, किहिं स्रम न गँवायौ ।
सूरजदास अंध, अपराधी, सो काहैं बिसरायौ ।

—❀—

।। श्रीकृष्णाय नमः ।।

।। श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ।।

।। श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ।।

● श्रीमद् भागवत संहिता ●

श्री मद्वल्लभाचार्य चरण द्वारा विरचित

श्री सुबोधिनी (संस्कृत टीका)

हिन्दी अनुवाद सहित

प्रथम स्कन्ध

अध्याय—१६

उत्तमाधिकार प्रकरण अध्याय–१०

महाराजा परीक्षित का दिग्विजय करते समय पृथ्वी और धर्म का संवाद सुनना

कारिकायें—मुक्तिर्निरूपिता पूर्वमधिकारनिरूपणे।
पारलौकिकबन्धस्य निवृत्त्यै पितृहेतुतः ।।१।।
ऐहिकस्याऽपि बन्धस्य निवृत्तिरधुनोच्यते ।
अधिकारस्य सम्प्राप्त्या लोकतो बन्धसम्भवः ।।२।।
कलिदोषाच्च तेनाऽत्र क्रमेणैव निवार्यते ।
प्रथमं षोडशाध्याये स्वाधिकारेण यद्भवेत् ।।३।।
भूधर्मरक्षा सर्वाऽपि सामान्येन विशेषतः ।
निरूप्यतेऽन्यथा स्वस्य दोषः स्याद् द्विविधोऽपि हि ।।४।।

अतः पुत्रान् समुत्पाद्य धर्मरक्षा निरूप्येत ।
आधिदैविकरक्षार्थं कलिनिग्रह ईर्यते ।।५।।
स्वभावतः स्थापितोऽपि मूलदोषान्न वर्द्धते ।
मूलनिर्हरणं तस्मात्कर्त्तव्यमिति निश्चयः ।।६।।
आधिदैविकरूपाणां साक्षात्कारो यदा नहि ।
भगवच्चरितस्याऽपि दैविकत्वात्स नैव हि ।।७।।
अतोऽधिकारसिद्धयर्थं दैविकानां निरूपणम् ।
अनुग्रहो निग्रहश्च वरदानं तथैव च ।।८।।

कारिकार्थ—श्री भागवत के श्रोता का निरूपण करने में पिता और पितामह आदि के कारण से उन्हें (परीक्षित् को) परलोक सम्बन्धी बन्धन हो, उसकी निवृत्ति के लिए पहले ही उनकी मुक्ति का वर्णन पहले अध्याय में कर दिया है ।।१।। अब इस लोक की बन्धनात्मक स्थिति से छुटकारा पाने का निरूपण करते हैं । राज्य का अधिकार होने से परीक्षित् को लोक सम्बन्धी बन्धन होने की सम्भावना है ।।२।। कलियुग का समय आ जाने से काल द्वारा उत्पन्न दोषों से बन्धन प्राप्त होने की सम्भावना है । उन दोनों बन्धनों की निवृत्ति दो अध्यायों द्वारा की जा रही है । पहले सोलहवें अध्याय में अपने राज्य का अधिकार मिलने से पृथ्वी की रक्षा करने और धर्म की रक्षा करने आदि का निरूपण सामान्य रूप से किया जा रहा है और अश्वमेध आदि का निरूपण विशेष रूप से किया जा रहा है । यदि इन तथ्यों को प्रकाश में न लाया जाय तो परीक्षित् को वैदिक और लौकिक दोनों प्रकार के दोष प्राप्त हो जायें ।।३।।४।। इसलिये पुत्रों को उत्पन्न करके उन्होंने धर्म की रक्षा की, इसका निरूपण करते हैं । धर्म की आधिदैविक रक्षा (मूल तत्त्वों व सिद्धान्तों की रक्षा) के लिये परीक्षित् ने कलियुग का निग्रह किया ।।५।। स्वभाव से धर्म की रक्षा की है तो भी धर्म का मूल तो काल है । काल के दोष होने तक धर्म की वृद्धि नहीं हो सकती । अतः दोष की जड़ को ही जला देना चाहिये, यह निश्चय किया है ।।६।। पृथ्वी, धर्म और काल के आधिदैविक रूप का प्रत्यक्ष ज्ञान जब तक परीक्षित् को नहीं हो जाता तब तक भगवान् के आधिदैविक चरित्र का ज्ञान उन्हें कैसे प्रत्यक्ष हो सकता है ।।६।। अतः आधिदैविक भगवत् चरित्र आँखों के सामने आ जाने के अधिकार की सफलता के लिये परीक्षित् को पृथ्वी व धर्म पर अनुग्रह तथा कलियुग पर नियन्त्रण के वरदान देनें का निरूपण किया जा रहा है ।।८।।

आभास—एवं परीक्षितः पाण्डवकृतप्रतिबन्धनिवृत्त्यर्थं तेषां मुक्तिमुक्त्वा "**आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमि**" ति न्यायेन "**श्रुत्वाऽप्येनं वेद न चैव कश्चिदि**" ति निर्धाराच्च तथा श्रवणं मा भूदिति पूर्वं तस्याऽऽधिदैविकसाक्षात्कारादिकं निरूपयितुं जातके सूचितं स्वरूपं तस्याऽनुवदति—

आभासार्थ—इस रीति से परीक्षित् को इस लोक का राज्य करने और परलोक की प्राप्ति होने में पाण्डवों की ओर से कोई बाधा नहीं हुई, यह बताने के लिये ही पन्द्रहवें अध्याय में पाण्डवों की मुक्ति बताई गई है। गीताजी में कहा गया है, कि "इस आत्मा को कोई आश्चर्य के समान देखता है, दूसरे आश्चर्य के समान कहते हैं और तीसरे आश्चर्य के समान सुनते हैं; परन्तु सुनने मात्र से इसे कोई नहीं जान सकता।" अतः परीक्षित् को पहले पृथ्वी, धर्म और कलियुग के आधिदैविक रूप का साक्षात्कार हुआ है। परीक्षित् के जन्म-समय में ही ब्राह्मणों ने उनके गुणों का बखान कर दिया था; अब उसी का अनुवाद सूतजी इस प्रकार कर रहे हैं—

सूत उवाच—श्लोक—**ततः परीक्षिद्द्विजवर्यशिक्षया महीं महाभागवतः शशास ह।**
यथा हि सूत्यामभिजातकोविदाः समादिशन् विप्रमचद्गुणस्तथा ॥१॥

श्लोकार्थ—परीक्षित् को राज्य देकर युधिष्ठिरजी चले गये। परीक्षित्जी के जन्म समय में ज्योतिषी ब्राह्मणों ने जिन गुणों का वर्णन किया था, उसी शिक्षण के अनुसार ब्राह्मणों के महान् गुणों में निष्ठा रखने वाले तथा भगवान् के भक्त परीक्षित् ने पृथ्वी का पालन किया ॥१॥

सुबोधिनी ततः परीक्षिदिति। "**यस्त्विच्छया कृतो धर्म**" इति वाक्याद्राज्यरक्षाऽपि स्वेच्छया न कृतेत्याह—**द्विजवर्यशिक्षयेति।** भगवद्भक्ता ब्राह्मणा द्विजवर्याः। तेषामेव **धर्मसूक्ष्म**-परिज्ञानम्। "**नारायणपरा विप्रा धर्मं गुह्यं परं विदुरि**" ति वाक्यात्। बोधितस्य हृदये समागमनार्थमाह **महाभागवत इति।** भगवद्भक्तेष्वपि महान्। अनेन त्रयं सूचितम्। सवत्र भगवद्भजनप्रवृत्तिर्भूमेर्भगवद्भार्याया अपि हेतुवशादन्यपालकत्वे तन्निराकरणेन **भगवद्धर्मप्रवृत्तिपरत्वं** धर्मस्य च भगवदीयत्वेन परिपालनमिति। हेत्याश्चर्ये। भगवद्भक्तानां कार्यविशस्याऽयु[illegible]त्। भगवद्वाक्यत्वेऽपि **स्वरूपाविष्टत्वात्।** तथात्वे वा परमभागवतत्वं न भवेदित्युभयमत्रे य **श्चर्यम्।** आश्चर्यं समर्थयितुं कालकृतमेतन्न भगवत्प्रेरणयेति ज्ञापयितुमाह—**यथा हीति। सूत्यां** जन्मकाले। **अभिजातं** जातकम्। तत्र **कोविदा** निपुणाः। विप्रेषु महान् गुणो यस्य। ब्रह्मण्यतेति यावत्। अतः कालकृतशुभफलसिद्धिः ॥१॥

व्याख्यार्थ—सप्तम स्कन्ध में कहा गया है, कि "जो धर्म इच्छा द्वारा किया जाता है वह अधर्म की शाखा रूप आभास धर्म कहलाता है।" राजा परीक्षित् ने राज्य की रक्षा भी अपनी इच्छा से नहीं की, यह बताने के लिये कहते हैं–कि भगवान् के भक्त ब्राह्मण उत्तम कहलाते हैं, "नारायण में परायण ब्राह्मण धर्म के उत्तम तत्त्व को जानते हैं," धर्म के सूक्ष्म तत्त्व को जानने वाले उत्तम ब्राह्मणों के आदेशानुसार परीक्षित् ने राज्य की रक्षा की। ब्राह्मणों का उपदेश हृदय में उतरता चला जाता है, इसीलिये कहा जा रहा है कि परीक्षित् महाभागवत थे, वे भगवान् के भक्तों में श्रेष्ठ थे। यह बात तीन प्रकार से सूचित हो रही है। वे प्रत्येक स्थल में भगवान् के भजन में प्रवृत्त हैं, भगवान् की स्त्री रूप पृथ्वी का कोई दूसरा किसी कारण पालन करने वाला बन बैठे, तो उसका निराकरण करके वे भगवान् के धर्म की प्रवृत्ति में परायण हुये हैं, धर्म के भगवदीय होने से परीक्षित् ने चारों ओर से उसकी रक्षा की है। आश्चर्य के भाव को प्रकट करने वाला 'ह' अव्यय मूल में लिखा हुआ है, जिससे भगवान् के भक्तों को कार्य में आवेश लाना उचित नहीं है। भागवत का यह वाक्य है, कि राजा को पृथ्वी की रक्षा करना चाहिये। परीक्षित् आदि भक्त तो भगवान् के स्वरूप में ही आवेश युक्त रहते हैं, ऐसी स्थिति में राज्य कार्य में, आवेश वाले हो जायें तो भगवान् के उत्तम भक्त नहीं कहला सकते। परन्तु परीक्षित् में तो ये दोनों स्थितियां एक साथ हैं। वे राज्य कार्य और भगवत् भक्ति दोनों में ही आवेश युक्त हैं, यही तो आश्चर्य है। उस आश्चर्य को सिद्ध करने के लिये कहते हैं—कि जन्म के समय ज्योतिष शास्त्र में निपुण ब्राह्मणों ने जिस रीति से कहा था और ब्राह्मणों में निष्ठा रखना जिसका महान् गुण है, ऐसे ब्रह्मण्य परीक्षित् को काल द्वारा किये हुये सारे फलों की सिद्धि हो गई ॥१॥

आभास—इदानीं तस्य कृतस्य भूरक्षणस्योत्तरत्राऽनुवृत्तिसिद्धये पुत्रानुत्पादितवानित्याह—

आभासार्थ—अब परीक्षित् ने पृथ्वी की रक्षा की है और अपनी परम्परा के व्यवहार को निरन्तर बनाये रखने के लिये पुत्रों को उत्पन्न किया है, इसे कहा जा रहा है—

श्लोक—स उत्तरस्य तनयामुपयेम इरावतीम्।
जनमेजयादींश्चतुरस्तस्यामुत्पादयत्सुतान् ॥२॥

श्लोकार्थ—उन परीक्षित् ने राजा उत्तर की कन्या इरावती से विवाह किया। उसमें उन्होंने जनमेजय आदि चार पुत्रों को उत्पन्न किया ॥२॥

सुबोधिनी—स उत्तरस्येति। मातुलकन्यापरिणयनं लोके विहितम्। स्मृतौ निषिद्धम्। लौकिकधर्माणां दृष्टान्तीकरणप्रस्तावे **"मातुलस्येव योषा भाग"** इत्यत्र निरूपणात्। **"मातुलस्य सुतामूढ्वा मातृगोत्रां तथैव च। समानप्रवरां चैव त्यक्त्वा चान्द्रायणं चरेदि"** ति स्मृतेः। अतः केवलधर्मार्थं तादृशो विवाहो न कर्त्तव्यः। लौकिकबलशौर्य्याद्यपेक्षायां तु कर्त्तव्य एव। अत उत्तरस्य मातुलस्य स्वसमानबलसिद्धये इरावतीमुपयेमे। नाम्ना च वैष्णवत्वं सूचितम्। सर्वपृथिवीरसवत्त्वात्तस्यामुत्पन्नस्य बलं तदुपभोगात्स्वस्य च, अलौकिकं सौख्यं च सूचितम्। श्रुतौ रोदसीत्वकथनाद्भगवत्परिपाल्यत्वं च। तस्याश्चत्वारः पुत्रा जाताः। सुतानिति स्वतः। चतुर्दिक्षु रक्षा चतुर्विधपुरुषार्थसिद्धिश्च तावतैव भविष्यतीति नाऽधिकोत्पादनम् ॥२॥

व्याख्यार्थ—लोक में राजाओं को मामा की पुत्री के साथ विवाह कर लेने की प्रथा रही है। पर स्मृति शास्त्रों ने इसका निषेध किया है। लौकिक धर्म में इसकी संगति बिठाने के लिये यह कह दिया गया कि मामा की पुत्री तो अपने ही भाग की स्त्री है। वहीं दूसरी ओर स्मृति कहती है, कि 'मामा की पुत्री अथवा माता के गौत्र वाली कन्या को विवाह लिया हो, तो उस स्त्री का त्याग कर देना चाहिये और विवाह करने वाले को चान्द्रायण व्रत करना चाहिये;" केवल धर्म के लिये ही वैसा विवाह किया जाना चाहिये जिससे अपने समान बल सिद्ध हो सके। अतएव परीक्षित् ने अपने मामा की कन्या इरावती से विवाह किया। श्री भागवत् दशम् स्कन्ध के ३९ वें अध्याय में भगवान् ने अक्रूरजी को जल में दर्शन कराये हैं। वहां श्री, पुष्टि, वाणी, कान्ति, कीर्ति, तुष्टि, इला, ऊर्जा, विद्या, अविद्या, शक्ति और माया यह भगवान् की मुख्य बारह शक्तियां बताई गई है। उसमें इला को भी शक्ति माना गया है। संस्कृत में 'र' और 'ल' इन दोनों अक्षरों की समानता मानी गई है, इसलिये 'इरावती', इला' शक्ति वाली है, यह कहकर उसकी वैष्णवता को सूचित किया गया है। पृथ्वी का नाम भी इला है, अतः इरावती पृथ्वी सम्बन्धी सब रसों से युक्त है। उसमें उत्पन्न होने वाले को बल की प्राप्ति होती है। उसका उपभोग करने वाले को बल और अलौकिक सुख मिलता है इस प्रकार इरावती से परीक्षित् को बल और अलौकिक सुख की प्राप्ति हुई है। श्रुति में भी इरावती को द्यावा व पृथ्वी रूपा कहा गया है, जिससे भगवान् द्वारा उसका पालन किया जाना बताया गया है। इस इरावती रानी में परीक्षित् के चार पुत्र हुये। वे पुत्र किसी अन्य विधि से उत्पन्न क्षत्रज कहलाने वाले नहीं हुये, प्रत्युत् स्वयं परीक्षित् से ही उत्पन्न हुये है। मूल में आये

हुये 'सुत' शब्द से यह प्रमाणित होता है । चारों दिशाओं की रक्षा का कार्य तथा चारों पुरुषार्थों की सिद्धि के लिये चार पुत्रों की ही उत्पत्ति की, अधिक की नहीं ।।२।।

आभास—आधिदैविकप्रकारेणाऽश्वमेधकरणं पूर्ववदाह—

आभासार्थ—ज्योतिष में कहे हुये काल के गुण से परीक्षित् ने आधिदैविक प्रकार से अश्वमेध यज्ञ किया, उसे कहते हैं—

श्लोक—आजहाराऽश्वमेधांस्त्रीन् गङ्गायां भूरिदक्षिणान् ।
शारद्वतं गुरुं कृत्वा देवा यत्राऽक्षिगोचराः ।। ३ ।।

श्लोकार्थ—राजा परीक्षित् ने कृपाचार्य को गुरु बनाकर गङ्गा में (गंगा के मध्य में उभरा हुआ भूमि स्थल अथवा गंगा का किनारा) बहुत दक्षिणावाला अश्वमेध यज्ञ किया, जहां देवता आंखों के सामने दिखाई दिये ।।३।।

सुबोधिनी—आजहारेति । त्रिविधोऽपि दोषस्तावतैव निवृत्त इति नाऽधिककरणम् **गङ्गायामिति** । गङ्ग गर्भभूमौ । **भूरिदक्षिणानिति** सभार्या यज्ञाः पुष्टा इति ज्ञापनार्थम् । धौम्यस्य पाण्डवैकनिष्ठत्वात्कुलाचार्यः कृप एवाऽनेन गुरुत्वेन स्वीकृत इत्याह—**शारद्वतमिति** । शरस्तम्बे जातः कृपः। एवं भूरिदक्षिणाब्राह्मणसम्पत्तौ याग आधिदैविको जात इत्याह—**देवा यत्राऽक्षिगोचरा इति** । हविर्भागभुजो देवा भगवदंशभूता आधिदैविकाः । त एव वैदिकमन्त्रे प्रतिपाद्याः । मन्त्रप्राधान्यपक्षेणाऽऽध्यात्मिकाः । त एव ज्ञानरहितैः क्रियमाणाः कर्मशेषभूता आधिभौतिका भूतसंस्कारकाः । उत्तमास्तु भगवदंशभूता भगवानिव प्रत्यक्षाः ।।३।।

व्याख्यार्थ—तीन प्रकार यज्ञ करने से तीन प्रकार के दोष दूर हुये हैं, इसलिये विशेष (अधिक) यज्ञ नहीं किये । वे यज्ञ गंगाजी की गर्भ भूमि में किये हैं । वे यज्ञ बहुत दक्षिणा वाले थे । यज्ञ की स्त्री का नाम दक्षिणा है, ऐसा चतुर्थ स्कन्ध में कहा गया है । उस प्रमाण से स्त्री के साथ यज्ञ सम्पन्न किया है । यह बताने के लिये " दक्षिणा वाला यज्ञ किया", कहा गया है । धौम्यऋषि केवल पाण्डवों में ही निष्ठावाले होने से परीक्षित् के कुल गुरु कृपाचार्य हैं । इसलिये परीक्षित् ने कृपाचार्य को गुरु रूप में माना है । इसे बताने के लिये कहते हैं, कि 'शर' अर्थात् बाण के समूह में से उत्पन्न हुये कृपाचार्य को गुरु बनाया । इस प्रकार बहुत दक्षिणा से

ब्राह्मण के धन बढ़ा। राजा का वह यज्ञ आधिदैविक हुआ। कहते हैं, कि उस यज्ञ में देवता प्रत्यक्ष हुये। हविष्य का भाग लेने वाले देवता भगवान् के अंश रूप आधिदैविक हैं और वेद मन्त्रों में उन्हीं का प्रतिपादन होता है। जैमिनीय सूत्र में देवताओं को मन्त्रमय लिखा है। इस प्रकार मन्त्र को मुख्य मानने से उस पक्ष के देवता आध्यात्मिक हैं। यदि उस यज्ञ को ज्ञान रहित पुरुष से कराया जावे तो वह कर्म का शेष भूत आधिभौतिक यज्ञ कहा जाता है। वह केवल पंच महाभूतों को संस्कारित करने वाला ही यज्ञ है। भगवान् जिस प्रकार प्रत्यक्ष हो जाते हैं वैसे ही भगवान् के अंशभूत उत्तम देवता प्रत्यक्ष हो जाते हैं ॥३॥

आभास—एवं सामान्यधर्मं विशेषधर्मं चोक्त्वाऽऽधिदैविकत्वख्यापनार्थं धर्मप्रतिपक्षिनिग्रहमाह—

आभासार्थ—इस रीति से सामान्य धर्म और विशेष धर्म कहकर उनका आधिदैविकपना प्रसिद्ध करने के लिये धर्म के शत्रुओं का निग्रह किया जाना कहा जा रहा है—

श्लोक—**निजग्राहौजसा वीरः कलिं दिग्विजये क्वचित्।**
नृपलिङ्गधरं शूद्रं घ्नन्तं गोमिथुनं पदा ॥४॥

श्लोकार्थ—किसी स्थल पर गाय के जोड़े को पाँव से मारता हुआ, राजा के चिन्हों को धारण किये हुये शूद्र रूप कलियुग को वीर राजा परीक्षित् ने दिग्विजय में उत्साह शक्ति द्वारा पकड़ लिया ॥४॥

सुबोधिनी—**निजग्राहेति**। अन्यथा पाण्डवानामिवाऽस्याऽपि निर्गमनमुचितं स्यात्। पाण्डवैः कलिभीतैर्गतम्। अयं तु तमपि निजग्राहेति पूर्वोत्कर्षः। **क्वचिदिति**। कुरुक्षेत्रे। कलेरवस्थारूपमाह—**नृपलिङ्गधरमिति**। कले रूपत्रयम्। पापं शूद्र उभयविशिष्टो राजा च। तत्रोभयविशिष्टो राजा आधिदैविकं रूपम्। तदाह—**नृपलिङ्गधरमिति**। पशुषु पुत्रेणाऽपि सहिता गौर्मिथुनत्वेन व्यपदिश्यते। "**मातरमभिगच्छन्ती**" ति श्रुतेः। अत एव कलस्पर्शयोग्यं रूपं प्रदर्शितम्। शकटमारुह्य गां बलीवर्दं च योजयित्वा लम्बमानपदेन घ्नन्तम्। अथवा। विजित्य गोमिथुनं स्वविषये नयन्तं राजानम्। पापाधिष्ठातृत्वाद्धर्मभूवाक्यानामश्रवणम्। अस्य तु श्रवणं दर्शनं चेति निग्रहसामर्थ्यम्। इदानीन्तनवद्भाषाऽपरिज्ञानेऽपि दर्शननियमनादिकं सम्भवति ॥४॥

व्याख्यार्थ—यदि परीक्षित् धर्म की रक्षा न करें तो पाण्डवों को तरह उन्हें भी निकल जाना पड़े। काल के पुत्र से डरकर, कलियुग का निग्रह करने के लिये पौत्र

को राज्य सौंपकर पाण्डव निकल गये थे; परन्तु इस परीक्षित् ने तो कलियुग का भी निग्रह कर लिया। इससे पाण्डवों की तुलना में परीक्षित् को विशेष बताया है। परीक्षित् ने कुरुक्षेत्र में कलियुग को वश में किया है। उस कलियुग की अवस्था का रूप कहते हैं, कि उसने राजा का रूप कर रखा था। कलियुग के तीन रूप हैं, पाप, शूद्र और पापियों का प्रतिनिधित्व करने वाला शूद्र राजा। उसमें पाप और शूद्र रूप में राजा होने वाला रूप आधिदैविक है। इसलिये कहा गया है, कि वह कलियुग राजा के चिन्हों को धारण करने वाला शूद्र था। स्त्री और पुरुष के साथ को जोड़ा कहते हैं। परन्तु बैल तो माता से भी गमन करता है, वेद में ऐसा कहा गया है। जिससे, पशुओं में पुत्र के साथ गाय हो उसे भी जोड़ा ही कहा जाता है। इसलिये उनका रूप कलियुग के द्वारा स्पर्श करने योग्य है। कलियुग गाड़े में बैठकर, एक ओर गाय तथा दूसरी ओर बैल को जोतकर, एक पांव लम्बा करके उन्हें मार रहा है, अथवा गाय के जोड़े को जोतकर वह राजा होने से अपने देश में ले जा रहा था। कलियुग पाप का अधिष्ठाता होने से धर्म व पृथ्वी के वाक्यों को अनसुनी कर गया। राजा परीक्षित् ने उनके वाक्यों को सुना है तथा उनकी ओर देखा भी है। इससे राजा में कलियुग को नियन्त्रण में लेने का सामर्थ्य सिद्ध होता है। इस समय हमारे राजाओं को भले ही पशुओं की भाषा का ज्ञान न हो, तो भी उन्हें देखकर तो उसे नियम में रख सकते हैं। उसी रीति से परीक्षित् भी कर सके हैं, इतना ही नहीं उन्हें तो वाक्य सुनने व समझने का ज्ञान भी है ॥४॥

आभास—अस्मिन्वाक्ये शौनकस्य सन्देहो जातः। कलिरन्यः शूद्रस्त्वन्य इति। तस्मिन्वाऽऽविष्टः कलिरित्यन्यायिनं वा मारयति। अविद्यमानेऽपि चकारे पदार्थद्वयकथने एकक्रियायां समुच्चयप्रतीतिः। अतः पृच्छति—

आभासार्थ—पौराणिक सूतजी के वाक्यों में शौनकजी को सन्देह हुआ है, कि कलियुग अलग है, और शूद्र अलग है अथवा शूद्र में कलियुग का आवेश है, अथवा अन्याय करने वाले को मारता है। मूल में कलियुग तथा शूद्र को भिन्न रूप से बताने का कोई भी प्रकार नहीं कहा गया है। परन्तु निग्रह करने की क्रिया में शूद्र और कलियुग दोनों की प्रतीति शौनकजी को एक साथ हुई है। इसलिये शौनकजी प्रश्न करते हैं—

शौनक उवाच—श्लोक—कस्य हेतोर्निजग्राह कलिं दिग्विजये नृपः।
नृदेवचिन्हधृक् शूद्रः कोऽसौ गां यः पदाऽहनत् ॥५॥

श्लोकार्थ—राजा परीक्षित् ने दिग्विजय में कलियुग का निग्रह किसलिये किया ? और पैर से गाय को मारने वाला तथा राजा का चिन्ह धारण करने वाला शूद्र कौन था ? ॥५॥

सुबोधिनी—कस्य हेतोरिति। दिग्विजये हि राज्ञां जयः कर्त्तव्यः। न तु कालस्य। स्वाधारत्वात्। व्यर्थश्च कलिनिग्रहः। कालस्य साधारणनिमित्तत्वात्। तथैव कालनिर्णयात्कलिनिमित्तं च राज्यस्य प्राप्तत्वात्। अतो हेत्वभावादशक्यत्वाच्च विग्रहनिग्रहे कालनिग्रहाभावत्प्रश्नः। तत्रापि नृपः कालावच्छिन्नराजा। तद्विशेषणत्वेन शूद्रमजानन्नाह—**नृदेवचिन्हधृगिति** ॥५॥

व्याख्यार्थ—दिग्विजय में राजाओं को जीतना चाहिये, पर काल का विजय तो नहीं करना चाहिये, कारण, कि वह अपना, आधार रूप है। इसलिये कलियुग का विजय करना निरर्थक है। कलि तो साधारण काल है और इसी रीति से काल का निर्णय है। कलियुग के लिये ही स्वयं को राज्य मिला है। इसलिये कलियुग के निग्रह करने में कोई कारण नहीं दिखाई देता। वैसे तो कलि का निग्रह हो नहीं सकता, कारण कि शरीर का निग्रह करने से काल का निग्रह नहीं हो सकता, इसीलिये प्रश्न किया गया है। काल में रहने वाले मनुष्यों का पालन करने वाले राजा परीक्षित् हैं, तो फिर उन्होंने काल का निग्रह किसलिये किया ? यह एक प्रश्न है। वह शूद्र, कलियुग था। उसे न जान सकने पर पूछा गया है, कि राजा के चिन्ह धारण किये हुये वह शूद्र कौन था ? शूद्र ने राजा का वेश किस प्रकार लिया, उसे वह वेश कहाँ से प्राप्त हुआ ? उस शूद्र ने गाय को पर से क्यों मारा ? ये दूसरा प्रश्न हैं ॥ ५ ॥

आभास—शूद्रस्य कथं स वेषः कुतो वा प्राप्तः। तथाभूतस्य वा कथं पदा गोताडनम्। अतः सन्देहनिवारणार्थं तत्कथयेत्याह—

आभासार्थ—इसलिये सन्देह दूर करने के लिये, उनका उत्तर दीजिये, ऐसा कहा गया है—

श्लोक—तत्कथ्यतां महाभाग यदि कृष्णकथाश्रयम् ।
अथवाऽस्य पदाम्भोजमकरन्दलिहां सताम् ।
किमन्यैरसदालापैरायुषो यदपव्ययः ॥६॥
क्षुद्रायुषां नृणामङ्ग मर्त्यानामृतमिच्छताम् ।
इहोपहूतो भगवान् मृत्युः शामित्रकर्मणि ॥७॥

श्लोकार्थ—हे महान् भाग्यशाली पौराणिक सूतजी, जो कृष्ण की कथा का आश्रय वाला हो अथवा इनके चरण कमल के मकरन्द का आस्वाद लेने वाले सत्पुरुष की कथा का आश्रय करने वाला हो, तो उसे कहो । इसके अतिरिक्त अन्य बातों से क्या लेना देना, जिससे आयु का एक बहुत बड़ा भाग व्यर्थ ही चला जाता है ॥६॥ हे अङ्ग, थोड़ी आयु वाले मनुष्य जो इस मरने वाले शरीर से अमृत की इच्छा करने वाला है । उसके लिये इस यज्ञ पशु के हिंसा रूप कर्म में भगवान् ऐसे मृत्यु को बुला लेता है ॥७॥

सुबोधिनो तत्कथ्यतामिति । अन्यनिषेधार्थं सम्बोधयति—**महाभागेति** । महत्तव भाग्यं यद्भगवत्कथायां नियुक्तस्तदभिज्ञश्च । अतः स्वार्थाविरोधित्वे कथनीयमन्यथा नेत्याह—**यदि कृष्णकथाश्रयमिति** । कृष्णकथाया आश्रयः । तत्कथायां भगवत्कथा वर्तत इति यदि, तदा कथ्यताम् । भगवत्कथाधारत्वाभावेऽपि वस्तुतो भगवदीया ये तत्सम्बन्धिन्यन्याऽपि या कथा तदाश्रयत्वेऽपि कथ्यतामित्याह **अथवेति** । भक्तिरसास्वादवतामित्यनेन भक्तिरसस्पर्शाभावकथाराहित्यं **तेषां** सूचितम् । सतामित्यनेन व्यामोहनार्थमप्यन्या कथा निवारिता । पुरुषसुखं ब्रह्मसुखमर्थसुखं **च** ददातीति मकरन्दः । "**गमश्चे**" ति संज्ञायां खश् । स भगवच्चरणारविन्दैकनिष्ठः प्रेमसेवायामाविर्भावस्वरूपो भवतैकभोग्यो विशेषतो निर्वचनाशक्यः । यदर्थं सर्वोऽपि भक्तिमार्गः शास्त्रं च । तदास्वादनयुक्तानां कथया शास्त्रार्थपरिज्ञानं भवति । अतः प्रमाणकथा प्रमेयकथा वा तदाश्रिता चेत्तदा कथनीया । अन्यथा स्याऽपि सन्देहापादकत्वादसत्त्वम् । अनन्नालापः । असतां वा आलापः । उभयस्योभयं प्रतियोगि । तादृशैः किं प्रयोजनम् । नन्विष्टालापाः पुष्टिकरा इति कालगमनमेव प्रयोजनम् । तत्राऽऽह—**आयुषो यदपव्यय इति** । कोटिसुवर्णैरपि यदायुः क्षणमात्रमलभ्यं तादृशस्याऽऽयुषोऽपव्ययः अन्यायव्यय । अत आयुःक्षयकरत्वात्तन्न वक्तव्यम् । सत्रारम्भस्त्वायुर्वृद्ध्यर्थमेवेत्याह—**क्षुद्रायुषामिति** । अल्पायुषां प्राणिनां मरणावश्यकत्ववतां मरणक्लेशनिवृत्त्यर्थममृतमिच्छतामर्थे मृत्युरिहोपहूत इति सम्बन्धः । **पूर्वेण वा** । क्षुद्रायुषां किमन्यैरसदालापैरिति । सहस्रसंवत्सरसत्रेऽमृतमाविभवतीति निश्चयः । विद्यमानानां च मृत्युर्बाधकः । आधिदैविकश्च सः । अतो यज्ञभागभोगार्थमिहाऽऽहूतः । अवस्थाभेदेन पशूनां तद्भागत्वात । '**मृत्यवे वा एष नीयते यत्पशुरि**'ति श्रुतेः । "**रौद्रं गवी**" ति न्यायेनाऽवस्थाभेदेनाऽपि हविर्भक्त्वम् । **शामित्रं** पशुहिंसनम् । तत्र कर्मणि देवताया अपेक्षा सूचिता । अधर्मकोटित्वाभावाय-**भगवानिति** ॥६॥७॥

व्याख्यार्थ—अन्य कथाओं का निषेध करने के लिये महान् भाग्यशाली का सम्बोधन दिया गया है, कि भगवान् की कथा में आप को नियुक्त किया गया है, अतः आप भगवान् की कथाओं को जानने वाले हो, इसलिये बड़े भाग्यशाली हो। अतएव हमारे स्वार्थ से विरोध रखने वाला चरित्र न हो, तो कहिये। शौनक जी इसे कहते हैं कि श्री कृष्ण भगवान् की कथा का आश्रय, और इसके अन्तर्गत जो भगवान् की कथा आती हो वही कहना चाहिये। यदि भगवान् की कथा का आधार न भी हो तो जो वास्तविक रीति से भगवदीय हों, उनसे सम्बन्ध रखने वाली कथा ही कहिये। यह बताने के लिये कहा गया है, कि भगवान् की कथा न हो तो भगवान् के भक्त की चरित्र कथा ही कहिये। जिन्हें भक्ति रस का स्वाद आ गया है, उन्हीं की कथा कहिये, जिसे इसका स्पर्श भी नहीं है, उसे नहीं, यह सूचित किया है। सत्पुरुषों की कथा कहो, ऐसा कहने से मोह करने वाली अन्य कथाओं का निषेध किया है। "मकरंद का स्वाद लेने वाले की कथा कहो", जिसका अभिप्राय यह है, कि जो पुरुष सुख, ब्रह्म सुख और अर्थ सुख है, उसे मकरंद कहते हैं। वह तो केवल एक भगवान् के चरण कमलों में ही रहता है। प्रेम से भगवान् की सेवा करे, उसमें उसका स्वरूप अविर्भूत होता है। केवल भक्त द्वारा ही वह भोगने योग्य है। किसी विशेष प्रकार से उसका लक्षण नहीं कहा जा सकता। जिस मकरंद के स्वाद के लिये सारे भक्ति मार्ग तथा शास्त्र हैं, उस प्रकार के स्वाद को लेने वाले भक्तों की कथा द्वारा शास्त्रों के अर्थ का ज्ञान होता है, इसलिये प्रमाण की कथा और प्रमेय की कथा जो उनके भक्तों के आश्रय वाली हो तो कहिये, अन्यथा नहीं। क्यों कि सन्देह उत्पन्न करने वाली कथा व्यर्थ की बातें होती हैं। असद् पुरुषों की बातें भगवद् कथा की विरोधी होती हैं, इसलिये उन कथाओं का क्या प्रयोजन ? इच्छित आलाप शरीर की पुष्टि करता हैं, उसी आलाप से समय व्यतीत हो, यह प्रयोजन है। ऐसा कोई कहे तो उसका उत्तर देते हैं, कि असद् वार्तालाप से आयु का अन्याय पूर्वक नाश होता है। सोने की करोड़ों मोहरें देने पर भी क्षणमात्र की आयु नहीं मिलती। इसलिये अन्याय पूर्वक जीवन व्यर्थ चला जाय, यह उचित नहीं। भगवत् कथा के अतिरिक्त अन्य लौकिक बातों में व्यर्थ समय का नाश, आयु का क्षय करता है। कारण कि यह यज्ञ का प्रारम्भ है, इसलिये आयु की वृद्धि के लिये कहा जा रहा है। प्राणो, अल्प आयु वाले होते हैं उनकी मृत्यु अवश्य ही होती है। प्राणियों का मृत्यु रूप क्लेश दूर होवे इसलिये वे अमृत की इच्छा करते हैं। उनके लिये मृत्यु को यहीं बुला लिया गया है

ऐसा श्लोक के साथ सम्बन्ध है। जिन प्राणियों की आयु थोड़ी है, उनका व्यर्थ की बातों के करने का क्या लाभ ? उसका कोई फल नहीं, ऐसा पहले के श्लोक के साथ सम्बन्ध है। हजार वर्ष के यज्ञ में अमृत प्रकट होता है, ऐसा "विश्वसृज प्रथमाः" इस श्रुति के प्रसंग में हिरण्यमय पक्षीरूप ब्रह्म का प्रादुर्भाव सुना गया है। इससे निश्चय होता है कि हजार वर्ष तक यज्ञ में रहने वाले प्राणियों को जो मृत्यु बाधा देता है, उसका रूप आधिदैविक है। इसलिये यज्ञ का भाग भोगने के लिये यहीं बुला लिया गया है। प्रत्येक हविष्टा के देवता अलग अलग हैं, उसमें यज्ञ का भाग कैसे होगा ? इस जिज्ञासा का उत्तर देते हैं, कि यज्ञ में पशु ले जाया जाता है, उस पशु की अवस्था मृत्यु का भाग रूप है। ऐसा 'मृत्यवे वा एष नीयते यत्पशु' (यह ले जाया जाने वाला पशु मृत्यु के लिये है) श्रुति में कहा गया है। इसी प्रकार प्रत्येक यज्ञ में घी होता है, वह रुद्र कहलाता है, वह रुद्र मृत्यु रूप है, ऐसा वेदों में कहा गया है। घृत गाय में रहने वाला होने से गाय के समस्त पदार्थ अर्थात पंचगव्य का (दूध, दही, घी, मूत्र, गोबर) यज्ञ में उपयोग होता है। इसलिये रुद्ररूप मृत्यु की अवस्था से भी यज्ञ में उसका भाग आता है। पशु की हिंसा करने रूप "शामित्र कर्म" में देवताओं की आवश्यक रूप से अपेक्षा रहती है। वह देवता रूप मृत्यु है, इसलिये अधर्म की श्रेणी में नहीं है। इसे बताने के लिये मूल में 'भगवान्' शब्द का विशेषण दिया गया है ॥७॥

आभास—किमतो यद्येवम् ? तदाह

आभासार्थ—यदि ऐसा है भी (जहाँ तक यहाँ मृत्यु है, वहाँ तक कोई नहीं मरेगा) तो क्या हुआ ? ऐसा जानने की इच्छा होने पर कहते हैं—

श्लोक—**न कश्चिन्म्रियते तावद्यावदास्त इहाऽन्तकः ।**
एतदर्थं हि भगवानाहूतः परमर्षिभिः ।
अहो नृलोके पीयेत हरिलीलामृतं वचः ॥ ८ ॥

श्लोकार्थ—जहाँ तक यहाँ मृत्यु का निवास है, तब तक कोई न मरे, इसलिये उत्तम कोटि के ऋषियों ने भगवान् रूप मृत्यु का आह्वान किया है। जिसे आश्चर्य से कहा गया है, कि 'अहो' जिसमें हरि भगवान् का लीलामृत भरा हुआ है, ऐसे वचन मनुष्यलोक में पिलाये जाते हैं ॥८॥

सुबोधिनी—न कश्चिदिति । ततोऽपि किम् ? **एतदर्थमिति** । लोके कोऽपि न म्रियताम् । अस्मत्सत्रेणाऽऽविर्भूतेनाऽमृतेन पीतेनाऽमरा एव भवन्तु सर्वे । मध्येऽपि न म्रियन्ताम् । इत्यर्थं निश्चित्य तन्निर्वाहार्थं परमर्षिभिराह्वानसमर्थैर्भगवानिहाऽऽहूतः । स चाऽदृश्यः कथारूपेण समागतः । अत एव **अहो** इत्याश्चर्यम् । यतो लोके हरिलीलामृतं वचः पीयेत । अयमर्थः । अस्माभिः सत्रं समारब्धं स्वापकीर्त्तिनिवारणार्थम् । सत्रे हि समारब्धे सर्वे म्रियन्ते । **"यः सत्रायागुरत"** इति श्रुतेः। किमेते सत्रिणे इति च। ततस्तद्दोषपरिहारार्थमृषिभिरेवं विचारितम् । अत्र भगवानाह्वातव्यः । यागश्च तत्र समर्पणीयः । मृत्युश्च शामित्रकर्मणि । ततश्चाऽस्मदपकीर्त्तिर्गमिष्यतीति । तत्र भगवता तथैव सम्पादितम् । स्वयमागतः । कथारूपेण च समागतस्त्व द्वारा । इदं त्वाश्चर्यम । अतोऽदृष्टद्वारैव प्राणिनाममृतं भविष्यति । अन्यथा वरादिद्वारेणाऽदृष्टद्वारा तत्सिध्येत् । अत आश्चर्यस्य सिद्धत्वाद्भगवच्चरित्रमेव वक्तव्यं त्वया नाऽन्यदिति ।। ८ ।।

व्याख्यार्थ—इसलिये भगवान् को बुलाया गया है, कि लोक में कोई मरे नहीं । हमारे यज्ञ से प्रकट हुये अमृत के पान से सब अमर हो जावें । बीच में कोई न मरे । ऐसे विचार से इस यज्ञ में अमृत प्रकट किया जाता है । ऐसा निश्चय करके, किसी का मरण न होने देने के लिये भगवान् का आह्वान करने में समर्थ ऋषियों ने भगवान् को बुलाया है । प्रभु अदृश्य होने से यहाँ कथा रूप से पधारे हैं । इसी से आश्चर्य होता है, कि लोक में हरि भगवान् के लीला रूप अमृत वाले वचनों का पान कराते हैं । यहां यह अभिप्राय है, कि हमने यज्ञ का प्रारम्भ किया है, उसमें अपने लिये सब देवताओं को बुलाने में अपकीर्ति होती है अथवा "सब प्रकार के प्राण से यज्ञ किया गया है," ऐसा श्रुति में कहा गया है, उस प्रमाण से अपकीर्ति होने पर उसे दूर करना चाहिये । जब यज्ञ का प्रारम्भ किया जाने लगा तो वहाँ सब मरने लगे, यह अपकीर्ति होने में कारण बना । "जिस यज्ञ के लिये देवताओ को बुलाया गया है, उन्हें यज्ञ करने वाला कैसे माना गया है" ? और जो प्रजा के प्राण से यज्ञ करने वाले हैं, उन्हें यज्ञ करने वाला क्यों नहीं माना गया" ? ऐसा वेद में कहा है । जिससे यज्ञ करने वाले को अपकीर्ति होतीं है, उस दोष की निवृत्ति करने के लिये ऋषियों ने ऐसा निश्चय किया है, कि यहाँ यज्ञ में ही भगवान् का आह्वान किया जाना चाहिये, और यज्ञ भगवान् को अर्पण करना चाहिये । अतः पशु की हिंसा रूप कर्म में मृत्यु को बुलाना अपकीर्ति के दूर करने के लिये ही है । उसी प्रमाण से भगवान् ने उसे सिद्ध भी किया है । भगवान् स्वयं ही पधारे हैं और आप द्वारा की जाने वाली कथा में कथारूप से पधारे हैं, यही आश्चर्य है । इसलिये देखते हुय ही प्राणियों के लिये अमृत सिद्ध होगा । कारण, यदि अमृत सिद्ध न करना हो तो

अवतार आदि के द्वारा किसी को न दिखाई दें, उसी रीति से उसे सिद्ध कर दे। परन्तु यहाँ तो प्रभु प्रत्यक्ष पधारे हैं इसलिये आश्चर्य हुआ हैं। अतः आप तो भगवान् का ही चरित्र कहिये, अन्य किसी का नहीं ॥८॥

आभास—ननु ते स्वत एव स्वमृत्युं निवारयिष्यन्ति। किं भवत्प्रयासेनेत्यत आह

आभासार्थ—अब यहाँ शंका उठती है, कि वे प्राणी स्वयं ही अपनी मृत्यु का निवारण कर लेंगे। उस कार्य में तुम्हारे प्रयत्न से क्या फल होगा ? इसका समाधान करते हुये कहा जा रहा है

श्लोक—**मन्दस्य मन्दप्रज्ञस्य वयो मन्दायुषश्च वै।**
निद्रया ह्रियते नक्तं दिवा च व्यर्थकर्मभिः ॥ ६ ॥

श्लोकार्थ—मन्द बुद्धि वाले तथा मन्द आयु वाले मन्द पुरुष की आयु रात्रि में नींद से तथा दिन में व्यर्थ कार्यों से नष्ट हो जाती है ॥६॥

सुबोधिनी—मन्दस्येति। मन्दस्य अलसस्य। अनेन कर्माभावः सूचितः। मन्दा प्रज्ञा यस्येति ज्ञानाभावः। मन्दमायुर्यस्येति भक्त्यभावः। तस्य नक्तं वयः रात्रिसम्बन्ध्यायुर्निद्रया ह्रियते। दिवा चाऽऽयुर्व्यर्थकर्मभिरिति। अतः सर्वस्याऽप्यायुषोऽन्यत्र विनियोगान्न तेषां सामर्थ्यम् ॥ ६ ॥

व्याख्यार्थ—आलस्य के कारण जो कुछ भी कार्य नहीं कर सकते, उनकी आयु व्यर्थ चली जाती है, यह बताया गया हैं। बुद्धि मन्द होने से वे ज्ञान रहित हैं। ऐसे पुरुष की रात्रि सम्बन्धी आयु निद्रा के द्वारा हरली जाती है और दिन सम्बन्धी आयु निरर्थक काम करने में नष्ट हो जाती है। इस प्रकार सारी आयु को अन्य स्थान में लगा देने से उनमें मौत को टालने की सामर्थ्य नहीं रहती ॥६॥

आभास—भगवत्कथाश्रयत्वं कलिनिग्रहस्य मत्वा तस्य प्रस्तावनामाह—

आभासार्थ—शौनक ऋषि के ऐसा कह चुकने के उपरान्त, राजा परीक्षित् ने कलियुग का निग्रह किया, यह वास्तविकता भगवान् के आश्रय से सफल हुई है, ऐसा मानकर सूत जी उसकी प्रस्तावना करते है—

सूत उवाच-श्लोक-**यदा परीक्षित्कुरुजाङ्गलेऽवसत्कलिं प्रविष्टं निजचक्रवर्तिते।**
निशम्य वार्त्तामनतिप्रियां ततः शरासनं संयुगशौण्डिराददे ॥१०॥

स्वलङ्कृतं श्यामतुरङ्गयोजितं रथं मृगेन्द्रध्वजमास्थितः पुमान् ।
वृतो रथाश्वद्विपपत्तियुक्तया स्वसेनया दिग्विजयाय निर्गतः ॥११॥
भद्राश्वं केतुमालं च भारतं चोत्तरान् कुरून् ।
किम्पुरुषादीनि सर्वाणि विजित्य जगृहे बलिम् ॥१२॥

श्लोकार्थ—जिस कुरु जाङ्गल देश में राजा परीक्षित् निवास करते थे, और जहाँ उनका आदेश चलता था वहाँ भी कलियुग प्रवृत्त हो गया । इस अप्रिय बात को सुनकर युद्ध में शूरवीर परीक्षित् ने धनुष उठा लिया ॥१०॥ जिस रथ में काले घोड़े जोते गये हैं, ऊपर सिंह अंकित ध्वजा फहरा रही हैं; ऐसे उस सजे हुए रथ में परीक्षित् विराजे । वे शूरवीर थे, अतः उन्हें किसी के सहयोग की अपेक्षा नहीं थी; फिर भी रथ, घोड़े, हाथी तथा पैदल सेना से घिरे हुये परीक्षित् दिग् विजय करने के लिये बाहर निकल पड़े ॥११॥ उन्होंने भद्राश्व, केतुमाल, भारत और कुरुदेश के उत्तरी भाग तथा किम्पुरुषादिक खण्ड को जीतकर कर ग्रहण किया ॥१२॥

सुबोधिनी—**यदा परीक्षिदिति** । कुरुजाङ्गले देशे हस्तिनापुरेऽवसत्तदा निजचक्रवर्त्तिते कलिं प्रविष्टं श्रुत्वा शरासनमाददे इति सम्बन्धः । वसन्निति पाठे भवतीत्यर्थाद्योजनीयम् । अभूदिति वा । पाण्डवैरेव राज्यस्य साधितत्वान्निष्कण्टके राज्ये स्वयमुपविष्टो नाममात्रेण राजेति हृदये दुःखमासीत् । तत् कलिप्रवेशे श्रुते विशेषतः शिक्षण समागतमिति प्रोत्साहो जातः । तथापि राज्येऽधमः प्रविष्ट इत्यनतिप्रिया वार्त्ता । राजाज्ञाऽकरणे कलिस्तत्प्रयोजकः । तदकरणे त एव मारणीयाः । दैत्यपक्षपाताभावे हृदयपूर्वकाज्ञोल्लङ्घनासामर्थ्यात् । तस्माद्दैत्यवधे न दोष इति **संयुगशौण्डः** युद्धशूर शरासनमाददे दूरादेव तान् मारयिष्यामीति । देवाश्वानां दैत्याभिमुखता न सम्भविष्यतीति श्यामतुरङ्गयोजितं रथमारुरुहे । राजत्वज्ञापनाय—**स्वलङ्कृतमिति** । रत्नादिघटितम् । **मृगेन्द्रध्वजमिति** स्वस्याऽसाधारणं चिह्नम् । कलिश्च गजरूप इति । गर्दभरूपो वा । सिंहरूपेण भगवता दैत्येन्द्रवधाद्वा । **पुमानित्य**सहायशूरत्वम् । पुरादिति पाठे नगराद्युद्धार्थमेव निर्गतो न तु विचार तवानिति दिग्विजये कृतेऽन्यदान्तरालिकं स्वयमेव भविष्यतीति **दिग्विजयाये** युक्तम् । अस्य जम्बूद्वीपाधिपत्यम् । तस्य **नव** खण्डाः । तत्र प्रथमं परितः परिभ्रमण कृतवान् । तत्र पश्चिमभागे भद्राश्वं नाम वर्षम् । केतुमाल पूर्वभागे । भारत दक्षिणतः । उत्तराः कुरव उत्तरभागे । अन्ये मध्यस्थाः किम्पुरुषादयः । नवखण्डजय कृत्वा स्वाज्ञां प्रचारितवान् । तत्र प्रमाणं बलिं गृहीतवानिति ॥१०॥११॥१२ ।

व्याख्यार्थ—हस्तिनापुर, कुरुजाङ्गल देश के अन्तर्गत आता है, जिसमें राजा परीक्षित् निवास करते थे । उनसे शासित देश में कलियुग ने प्रवेश किया, यह सुनते ही राजा ने धनुष बाण पकड़ लिये । यह श्लोक से अर्थगत सम्बन्ध हुआ । पाण्डवों

से सिद्ध शत्रु रहित राज्य में परीक्षित् सिंहासन पर बैठे थे। अभी वे नाम मात्र के राजा थे। उनका पराक्रम अभी प्रकट नहीं हुआ था। इसी बात को लेकर परीक्षित् दुःखी थे। पर ज्यों ही कलियुग का प्रवेश हुआ और राजा ने इसे सुना तो उन्हें युद्ध का शिक्षण प्राप्त हुआ तथा वे उत्साह से भर उठे। उन्हें यह बात बहुत ही बुरी खली कि राज्य में अधर्म पसर रहा था यद्यपि ऐसी कोई स्थिति नहीं थी, कि राजा की आज्ञा के अनुसार प्रजा कोई कार्य करे और कलियुग उसमें रोड़ा अटका सके, परन्तु कलियुग राजा की आज्ञा प्रमाण न चले तो उसे मारना ही चाहिये। प्रजा को दैत्य का पक्षपात न हो तो अन्तः करण पूर्वक राजा की आज्ञा का उल्लंघन करने का सामर्थ्य उन्हें नहीं हो सकता, इसलिये जिस दैत्य के पक्षपात से प्रजा में वैसा सामर्थ्य होने की सम्भावना हो, उसे मार देने में दोष नहीं, यह विचार कर युद्ध में शूरवीर परीक्षित् ने धनुष ग्रहण किया। राजा परीक्षित् ने यह निर्धारित कर लिया, कि "धनुष में बाण रखकर दूर से ही इसे मार दूंगा"। श्वेत रंग सात्त्विकता का प्रतीक है तथा देवताओं से सम्बन्धित है। देवताओं के घोड़े दैत्यों के सामने टिके रहें, यह सम्भव नहीं है। इसलिये परीक्षित् ने रथ में काले घोड़े जोते हैं, और इस प्रकार वे उस रथ में बैठें हैं। उनके राजापने को प्रदर्शित करने के लिये रथ में रत्न जड़े हुये है। रथ के ऊपर वाली ध्वजा में सिंह का चित्र बना हुआ है, जो उन के असाधारण वीरत्त्व का चिह्न है। कलियुग हाथी का अथवा गधे का रूप है, इसलिये ध्वजा में शेर का निशान अंकित किया हुआ है। अथवा जिस प्रकार नृसिंह रूप से भगवान् ने हिरण्यकाशिपु को मारा था उसी प्रकार कलियुग रूप दैत्य को मारने के लिये ध्वजा में सिंह का चित्र चिह्न रखा गया है। वे परीक्षित् पुरुष हैं, अतः किसी की सहायता न चाहने वाला शूर वीरत्व उनमें स्वतः सिद्ध है। यदि मूल में 'पुमान्' के स्थान पर 'पुरात्' पाठ हो तो 'राजा पुर से बाहर निकले' ऐसा अर्थ करना चाहिये। वे केवल युद्ध के लक्ष्य से निकले हैं, इसके अतिरिक्त उनका और कोई दूसरा विचार नहीं है। "मैं दिग् विजय करूँगा अतः कलियुग को जीतने आदि का कार्य तो स्वतः सिद्ध हो जायेगा" ऐसा निश्चय करके महाराज परीक्षित् दिग् विजय करने के लिये प्रस्थान कर गये। परीक्षित् जी ही जम्बू द्वीप के स्वामी हैं। उस जम्बू द्वीप के नौ खण्ड हैं। सबसे पहले वे सब ओर घूमे। जम्बू द्वीप के पश्चिमी भाग में भद्राश्व नाम का खण्ड है, पूर्वी भाग में केतुमाल, दक्षिण भाग में भारत और उत्तर भाग में उत्तर कुरु नाम का खण्ड है, इस प्रकार चारों ओर परिभ्रमण करके

उन्होंने इन सब खण्डों को जीत लिया। तत् पश्चात् मध्य भाग में किंपुरुष आदि खण्ड हैं, वे भी जीत लिये। इस प्रकार इन समस्त नौ खण्डों को अधीनस्थ करके परीक्षित् जी ने अपनी आज्ञा प्रतिष्ठापित कर दी। इसका प्रमाण यह है, कि इन सभी जीते गये देशों से उन्होंने कर ग्रहण किया है ॥१०.११.१२॥

आभास—कलिस्त्वान्तरालिक इति ज्ञापनार्थं प्रथमं तत्र भगवद्भक्तिः स्थितेति निरूपयति—

आभासार्थ—कलि काल तो बाद में आया है, इससे पूर्व तो वहां भगवान् की भक्ति ही स्थित थी, यह बताने के लिये अब इस प्रकार निरूपण किया जा रहा है—

श्लोक—**तत्र तत्रोपशृण्वानः स्वपूर्वेषां महात्मनाम् ।**
प्रगीयमानञ्च यशः कृष्णमाहात्म्यसूचकम् ॥१३॥
आत्मानञ्च परित्रातमश्वत्थाम्नोऽस्त्रतेजसः ।
स्नेहञ्च वृष्णिपार्थानां तेषां भक्तिञ्च केशवे ॥१४॥
तेभ्यः परमसन्तुष्टः प्रीत्युज्जृम्भितलोचनः ।
महाधनानि वासांसि ददौ हारान् महामनाः ॥१५॥

श्लोकार्थ—महाराज परीक्षित् जहाँ-जहाँ पधार रहे हैं, वहाँ-वहाँ श्री कृष्ण के महात्म्य को सूचित करने वाला, महात्माओं तथा अपने पूर्वजों का गाया जाता हुआ यश, अश्वत्थामा के अस्त्र से स्वयं की रक्षा, यादवों तथा पाण्डवों की श्री कृष्ण में भक्ति की वास्तविकता को सुन रहे हैं। प्रीति से प्रफुल्लित नेत्रों वाले, बड़े मन वाले राजा परीक्षित ने अत्यधिक सन्तोष को प्राप्त करके, उन यश गान करने वालों को महान् धन, उत्तम वस्त्र तथा हार प्रदान किये ॥१३-१४-१५॥

सुबोधिनी—तत्र तत्रेति। यत्रैव गच्छति तत्रैवाऽर्जुनरथस्य गतिं शृणोति। तत्रत्याः कृष्णं द्वृवन्तो माहात्म्यं च गायन्ति। पाण्डवभगवत्सम्बन्धं च जानन्ति। तत्सर्वं गायन्ति। अत एनं परीक्षितं च ते जानन्ति ब्रह्मास्त्रतो भगवता परिपालितम्। स्नेहं भक्तिं च यावज्जानन्ति तत्सर्वं गायन्ति। अतः प्रगीयमानं शृण्वानः संहृष्टस्तेभ्यो ददाविति सम्बन्धः। अनेन प्राप्तस्य धनस्य तत्रैव विनियोग उक्तः। मात्सर्याभावश्च। यथापूर्वं धर्मस्थापनं चोक्तम्। **प्रीत्युज्जृम्भितलोचन इति** तेषामपराधसहनमपि सूचितम्। **महामना इति** स्वकृतार्थता च ॥१३॥१४॥१५॥

व्याख्यार्थ—महाराज परीक्षित् जहाँ-जहाँ जाते हैं, वहाँ-वहां ही उन्हें (आज भी) अर्जुन के रथ की गति सुनाई देती है । उन उन स्थानों के लोगों ने कृष्ण के दर्शन किये हैं, इसलिये उनके माहात्म्य का गान करते हैं । वे लोग पाण्डवों के साथ श्री कृष्ण का सम्बन्ध जानते थे, वे ये भी जानते थे कि भगवान् ने ब्रह्मास्त्र के तेज से परीक्षित् की रक्षा की थी, पाण्डवों के साथ श्री कृष्ण का स्नेह और श्री कृष्ण में पाण्डवों की भक्ति उन्हें ज्ञात थी, अतः उन सभी सम्बन्धों व प्रसंगों का यश गान समस्त लोग करने लगे । इसे सुनकर परीक्षित् बहुत ही हर्षित हुये और यश गान करने वालों को वस्त्रादिक देने लगे, यह अर्थगत सम्बन्ध हुआ । दिग् विजय के प्रसंग में मिले हुये धन का उपयोग उन सभी स्थानो के लोगों में कर दिया, यह सूचित किया गया है । उनमें मात्सर्य (ईष्या) की भावना नहीं थी (इसलिये जहाँ धन जीता उन्हीं के बीच में लुटा दिया) । (पृथ्वी पर) जैसा धर्म पहले से चला आ रहा था, उसी सनातन धर्म की स्थापना फिर से कर दी । (हृदय में उत्पन्न) प्रेम से परीक्षित् के नेत्र बहुत ही खिले हुये हैं, इस कथन से लोगों के अपराधों को सहन करने की सूचना भी दी गई है । राजा उदार मन के है, यह कहकर उनकी कृतार्थता को समझाया गया है । इस प्रमाण से सम्राट परीक्षित् लोक में व्यवहार करते थे । ।।१३-१४-१५।।

श्लोक—**सारथ्यपारपदसेवनसख्यदौत्य-**
वीरासनानुगमनस्तवनप्रणामम् ।
स्निग्धेषु पाण्डुषु सगत्प्रणति च विष्णो-
र्भक्ति करोति नृपतिश्चरणारविन्दे ।।१६।।

श्लोकार्थ—भगवान् द्वारा पाण्डवों का सारथीपना, पार्षदपना (सभासद्) सेवकपना, मित्रता, दूतपना आदि कार्य तथा वीरासनसे बैठना, पीछे चलना, प्रशंसा करना, प्रणाम करने आदि को सुनकर एवं उसी प्रकार स्नेहयुक्त होकर पाण्डवों के प्रति जगत् द्वारा किये जाते हुए नमस्कारों को सुनकर राजा परीक्षित् भगवान् विष्णु के चरण कमलों में भक्ति युक्त हो गये ।।१६।।

सुबोधिनी—एवं वर्त्तमाने तस्मिन् किञ्चिदाश्चर्यं वृत्तं तद्वक्ष्यति । मध्ये सारथ्येति श्लोकः प्रायेण विगीतः । तं केचन श्रुत्वेति पदमध्याहृत्य करोतीति कृतवानित्यर्थे व्याख्याय योजयन्ति । जगत्कर्तृकां प्रणतिं च श्रुत्वेति । जगत्प्रणतस्येति वा पाठः ।।१६।।

व्याख्यार्थ—परीक्षित् के इस प्रकार व्यवहार करते हुये समीप में जिस परिस्थिति का उदय हुआ उसे कहा जायेगा। परन्तु बीच में ही "सारथ्य" यह श्लोक क्षेपक रूप में आ गया है (बाद में किसी ने बनाकर मिला दिया है)। उन्हें उस प्रकार का सुनकर परीक्षित् ने भगवान् को भक्ति को, इस प्रकार "करोति" के स्थान पर 'कृतवान्' मानकर कितने ही इस श्लोक की व्याख्या करते हैं। उन भगवान् में जगत् द्वारा किये गये प्रणामों को सुनकर अथवा जगत् जिनके सामने झुकता है, ऐसे भगवान् के चरण कमलों में भक्ति करते हैं। इसी अर्थ को देता हुआ "जगत् प्रणतस्य" पाठ भी है ॥१६॥

आभास—एवं कलिकार्यं दूरीकृत्य जगति धर्मं स्थापयित्वा विष्णुभक्तिं च, कलिनिग्रहार्थमाधिदैविकधर्मे उपकारमाह—

आभासार्थ—इस प्रकार कलियुग के कर्म को दूर करके, जगत् में धर्म तथा प्रभु भक्ति की स्थापना करके कलियुग का बन्धन करने के लिये आधिदैविक धर्म के अन्तर्गत राजा ने जो उपकार किया, उसे कहा जा रहा है—

श्लोक—**तस्यैवं वर्त्तमानस्य पूर्वेषां वृत्तमन्वहम्।**
नाऽतिदूरे किलाऽऽश्चर्यं यदासीत्तन्निबोध मे ॥१७॥

श्लोकार्थ—जो परीक्षित् सदैव अपने पूर्वजों के आचरणों का सेवन करते थे, उनके समीप ही जो आश्चर्य घटित हुआ, उसे आप मुझसे सुनिये ॥१७॥

सुबोधिनी—तस्यैवमिति। एवं वर्त्तमानस्य तस्य सतो निकट एव किञ्चिज्जातं तन्निबोधेति सम्बन्ध। वर्त्तमानस्य नाऽतिदूरे वा। क्रियापेक्षया देशनैकट्यम्। कालनैकट्यं तूक्तमेव ॥१७॥

व्याख्यार्थ—इस प्रकार परीक्षित् के कार्य करते हुये समीप में जो कुछ हुआ उसे आप सुनिये। इस प्रकार सूत जी शौनकादिक ऋषियों से कहते हैं, यह सम्बन्ध हुआ। जहाँ राजा स्वयं कार्यस्थ हैं, उनसे बताई जाने वाली घटना दूर नहीं है। क्रिया की अपेक्षा उस स्थान की निकटता को बताया गया है कलिकाल की समीपता को तो पहले ही बता दिया गया है ॥१७॥

आभास—धर्मः पृथिवी च राजानं बोधयितुमेव तादृशरूपेण समागतौ स्वस्वव्यवस्थामन्योन्यमुखतो निरूपयतः । कलिश्चाऽऽध्यात्मिके रूपे निराकृते स्थानं प्रार्थयितुं तद्रूपेण प्रकटः । राजान्वेषणार्थमेव प्रवृत्तौ मध्ये मिलितौ । तदाह—

आभासार्थ—धर्म तथा पृथ्वी राजा को बोध कराने के लिये ही उन रूपों से वहाँ आये हैं । वे एक दूसरे के मुख से अपनी-अपनी व्यवस्था का निरुपण करते हैं । परीक्षित् ने स्वतन्त्र धर्म और भक्ति की स्थापना की है, इसलिये कलियुग में आध्यात्मिक रूप का निराकरण हुआ । उनसे स्थान की प्रार्थना करने के लिये वे उस रूप से प्रकट हुये हैं । राजा पृथ्वी को तथा धर्म परीक्षित् को शोधने के लिये प्रवृत्त हुये हैं । वे परस्पर मार्ग में मिले हैं, उसे कहते हैं—

श्लोक—धर्मः पदैकेन चरन् विच्छायामुपलभ्य गाम् ।
पृच्छति स्माऽश्रुवदनां विवत्सामिव मातरम् ॥१८॥

श्लोकार्थ—छायारहित, एक पैर से चलता हुआ धर्म, जिसके नेत्रों से आंसुओं की धारायें मुख तक बह चली हैं, तथा उसी स्थिति को प्राप्त बछड़े से रहित रोती हुई माता के समान गाय से वह पूछने लगा ।१८॥

सुबोधिनी—धर्म इति । एकेन पदा चलन् सत्यात्मकेन । अंशतो व्याख्यानं न श्रौतम् । देवतारूपत्वाच्च न लौकिकानुपपत्तिः । पादानां नामतः स्वरूपतश्च भेदो युगभेदेन कल्पभेदेन च व्यवस्थापनीयः । **विच्छायां** विवर्णाम् । चरणः पुरुषार्थः सच्छायस्तिष्ठति । तदभावे विच्छाय एव । **गां** पृथिवीं गोरूपाम् । केचन कृष्णाद्यभावाच्छायाभावमाहुः । कालेन म्लानां वा । **अश्रुवदनाम्** । अश्रूणि वदने यस्याः । अनेनाऽन्तस्तापा । भूमौ बाष्पजलमेव जलं न वृष्टिजलम् । वत्सरहिता गौरिव केवलं पितृणामुपयोगिनी । तथा पृथिव्यपि मरणार्थमेवोपयुज्यते न जीवनार्थमिति मातृपदं व्याख्यातम् ॥१८॥

व्याख्यार्थ—धर्म सत्य रूपी एक पैर से हीं चलता है । एक अंश (भाग) से ही चलता है, ऐसी व्याख्या करना वैदिक नहीं है अर्थात् वेद में कहा है, कि लोक में बछड़ा एक पैर से नहीं चल सकता, परन्तु धर्म तो देवता रूप होने से एक पैर से गतिशील हो सकता है, उसमें कुछ अनुचित नहीं कहा गया । युग, और कल्प के भेद से धर्म के चरण भिन्न-भिन्न हैं और उनके स्वरूप भी पृथक-पृथक हैं । यह व्यवस्था करनी चाहिये । किसी काल में तप, शौच, दया और सत्य ये धर्म के चार पैर थे । इस प्रकार कल्प के भेद से नाम और स्वरूप का भेद है । गाय वर्ण रहित हो गई है

(उदासी छाई हुई है) । ऐसी गाय से धर्म पूछने लगा । मूल में "छाया रहित गाय" लिखा हुआ है अर्थात् जहां ताप न हो उसे छाया कहते हैं । इस अभिप्राय से यहां यह अर्थ हुआ कि जैसे पुरुष के नीचे पैर रहता है वह छाया के साथ रहता है, यदि ऐसा न हो तो वह छाया रहित कहा जाता है । इस रीति से गाय छाया रहित थी । उस गाय का रूप धारण करने वाली पृथ्वी थी । "खेती आदि का अभाव होने से छाया नहीं थी" ऐसा अर्थ कई विद्वान् करते है, अथवा काल के कारण वह म्लान (उदास) हो गई थी, ऐसा भी कहते है । उस गाय के मुहँ पर आँसू आ रहे थे अर्थात् उसके अन्दर का ताप ही अश्रु जल के रूप में पृथ्वी पर था, वर्षा न होने से कहीं पर भी जल नहीं था । गाय का हविष (पंच गव्य) ही देवताओं के उपयोग में आता है, जिससे वत्स रहित वह गाय केवल पितरों के लिये ही उपयोग में आने वाली थी अर्थात् मृत्यु के ही उपयोग की रह गई थी अब उससे जीवन धारण नहीं किया जा सकता था, यह सूचित करने के लिये मूल में 'माता' शब्द का प्रयोग किया गया है ॥१८॥

आभास—आमयं ज्ञात्वाऽपि व्यवहारानुसारेण पृच्छति—

आभासार्थ—धर्म पृथ्वी की रोगात्मक पीड़ा जान गया है तदपि व्यवहार दृष्टि से पूछ रहा है—

श्लोक—कच्चिद्भद्रेऽनामयमात्मनस्ते विच्छायाऽसि म्लायतेषन्मुखेन ।
आलक्षये भवतीमन्तराधिं दूरे बन्धुं शोचसि कञ्चनाऽम्ब ॥१९॥
पादैर्न्यूनं शोचसि मैकपादमुताऽऽमाननं वृषलैर्भोक्ष्यमाणम् ।
अहो सुरादीन् हृतयज्ञभागान् प्रजा उतस्विमघवत्यवर्षति ॥२०॥
अरक्ष्यमाणाः स्त्रिय उर्वि बालान् शोचस्यथो पुरुषादैरिवाऽऽर्त्तान् ।
वाचं देवीं ब्रह्मकुले कुकर्मण्यब्रह्मण्ये राजकुले कुलाग्र्यान् ॥२१॥
किं क्षत्रबन्धून् कलिनोपसृष्टान् राष्ट्राणि वा तैरवरोपितानि ।
इतस्ततो वाऽशनपानवासस्नानव्यवायोन्मुखजीवलोकम् ॥२२॥

श्लोकार्थ—हे भद्रे, तुम्हारा आत्मा रोग रहित तो है न ? कुम्हलाये हुये मुख से तुम छाया रहित दिखाई देती हो, जिससे मुझे यह अनुमान होता है कि तुम्हारे अन्दर

कोई गहरी मानसिक पीड़ा है अथवा कोई बन्धु दूर चला गया है, जिसका तुम्हें शोक हो रहा है या फिर तुम्हें शूद्र राजा भोग रहे हैं, जिसकी तुम्हें वेदना हो रही हैं, या जिन देवताओं का यज्ञ भाग हर लिया गया है, उसका तुम्हें शोक हो रहा हो ? अथवा वर्षा न बरसने के कारण प्रजा के विषय में चिन्तित हो ? हे पृथ्वी, कहीं तुम राक्षकों से पीड़ित रक्षा रहित बालकों और स्त्रियों का तो शोक नहीं कर रही हो ? अथवा दुष्ट कर्म करने वाले ब्राह्मण के कुल में वेद वाणी के निवास को देखकर तुम खिन्न हो गई हो ? किं वा ब्राह्मणों को अहित करने वाले राजा के कुल में ब्राह्मणों की दयनीय स्थिति देखकर उदास हो गई हो ? या फिर कलि काल के व्याप्त होने से क्षत्रियों में अकर्मण्यता की स्थिति से पीली पड़ गई हो ? या ऐसे हीन क्षत्रियों से निर्मित देशों का कष्ट मना रही हो ? अथवा ऐसे जीव लोक पर आँसू बहा रही हो जहाँ केवल खाना-पीना-रहना-स्नान करना-स्त्री का सग आदि करना ही जीवन की परिभाषा बन गई है ? ॥१६-२०-२१-२२॥

सुबोधिनी—कच्चिदिति । **भद्रे इति** सम्बोधनं परीक्षिदस्ति पालक इति ज्ञापनार्थम् । यद्यपि वैकुण्ठे भगवद्भार्या त्वं सुखेन तिष्ठसि तथापि तवाऽऽत्मनः पृथिवीरूपस्याऽनामयं कच्चित् । रोगस्तु तव नास्ति । आधिः सम्भाव्यते । तदाह । ईषन्म्लायता मुखेन यतो विच्छायाऽसि । अतो भवतीमन्तराधिं लक्षये । अन्तरा आधिर्यस्याः सा ताम् । तत्राऽऽधिहेतूनुत्प्रेक्षते । दशेन्द्रियाणि । अन्तः करणचतुष्टयम् । ततश्चतुर्दश शोकहेतूनुत्प्रेक्षते—**दूरे बन्धुमित्यादिना** । हे अम्ब । दूरे स्थितं बन्धुं भर्त्तारं वराहम् । हे अम्ब । मां वा पुत्रं शोचसि । शोके हेतुः—**पान्दैर्न्यूनमिति** । आत्मानं शरीरं वा पृथिवीरूपम् । रसोऽत्र शोकेहेतुः । **वृषलैः शूद्रैः** । हृतयज्ञभागा देवा बाहवः । मघवत्यवर्षत्यन्नरहिताः प्रजाः पादाः । अरक्ष्यमाणाः स्त्रियो बालाश्च । हे उर्वि । सन्तोषाभावेन मवोवैकव्यम् । मलमोक्षो वा । **पुरुषादैः** राक्षसैरिव **चार्त्तान्** पीडितान् बालान् । **वाचं देवीं** वेदरूपाम् । चक्षुरेषा । कुकर्मणि ब्राह्मणकुले । ब्राह्मणाहिते राजकुले । **कुलाग्र्यान्** ब्राह्मणान् श्रोत्ररूपान् । **क्षत्रबन्धून्** क्षत्रियाधमान् । **कलिनोपसृष्टानिति** सर्वदोषसहितान् घ्राणरूपान् । तैरवरोपितानि उद्वासितानि राष्ट्राणि । देशा वाग्रूपाः । **इतस्ततो** विधिनिषेधपरिपालनव्यतिरेकेण । भोजनपानस्थितिस्नानसम्भोगोन्मुखं जीवलोकं बुद्धिरूपम् ॥ १६ ॥ २० ॥ २१ ॥ २२ ॥

व्याख्यार्थ—यहाँ पर 'हे भद्रे' सम्बोधन दिया गया है, जिसका यह तात्पर्य है, कि राजा परीक्षित् तुम्हारा पालन करने वाले हैं, इसलिये तुम कल्याण रूपिणी हो। वैसे तो तुम वैकुण्ठ में भगवान् की स्त्री के समान सुख से रहती हो, फिर भी पृथ्वी रूपा होने से तुम्हारी आत्मा को कोई रोग तो नहीं लग गया है ? तुम में रोग तो नहीं दिखाई दे रहा, पर अन्दर पीड़ा होने की सम्भावना लगती है। कुछ कुम्हलाये

हुये मुख के कारण तुम छाया रहित दिखाई देती हो, इसी से अनुमान होता है, कि तुम अन्दर ही अन्दर किसी चिन्ता में घुली जा रही हो। दश इन्द्रियाँ और चार अन्तः करण मिलाकर चौदह होते हैं, ये चौदह शोक के कारण रूप होते हैं। इन सब शोकों की उपेक्षा की जा रही है। हे भूमि, क्या इसलिये शोक कर रही हो, कि तुम्हारे स्वामी वराह दूर पधार गये हैं ? अथवा मूल में 'अम्ब' सम्बोधन दिया गया है, जो माता का अर्थ देने वाला होने से 'धर्म' के पुत्रत्व को सूचित करता है अर्थात् मैं जो तुम्हारा पुत्र रूप हूं, क्या तुम मेरा शोक कर रही हो ? कारण, कि मेरे तीन पैर नष्ट हो गये हैं। किं वा तुम्हारे पृथ्वी रूप हुये शरीर को शूद्र भोग रहे हैं, इसलिये तुम अपनी आत्मा का शोक मना रही हो ? तुम्हें इसलिये भी कष्ट हो सकता है, कि तुम्हारे बाहु रूप हुये देवताओं का यज्ञ-भाग हरण कर लिया गया हो ? यों भी हो सकता है, कि वर्षा न होने के कारण तुम्हारी चरण रूपा प्रजा अन्न रहित हो गई और इस कारण तुम पीड़ा से म्लान हो गई हो ? अथवा हे पृथ्वी, बालकों और स्त्रियों की रक्षा न होने के कारण तुम्हारा मन अवसाद से भर उठा हो ? क्यों कि सन्तोष के अभाव में हृदय व्याकुल हो हो जाता है। अथवा मल छोड़ने का स्वरूप बताया गया है। हे पृथ्वी, कहीं ऐसा तो नहीं कि राक्षस लोग बालकों को पीड़ा पहुंचाते हों और तुम खिन्न हो उठी हो ? तुम्हारी वेदना का कारण यह भी हो सकता है, कि वेद नेत्र रूप हैं और वह वेद वाणी कुकर्म करने वाले ब्राह्मणों में रहने लगी है। ब्राह्मण कर्ण इन्द्रिय रूप हैं और वे ब्राह्मणों का बुरा चाहने वाले राज कुलों के अधीनस्थ हो गये हैं, हो न हो तुम्हारी मनः स्थिति इसलिये अशान्त हो गई है। अथवा चारों ओर कलियुग का बोलबाला हो जाने से क्षत्रिय गण अनेक प्रकार के दोषों से भरे हुये अधम स्थिति को प्राप्त हो गये हैं, जो कि नासिका इन्द्रीरूप हैं, क्या तुम उनका कष्ट मना रही हो ? या फिर उस प्रकार के अधम क्षत्रियों से बसाये गये देशों का तुम्हें क्लेश हो रहा है, जो कि वाणी रूप हैं। तुम्हारी आधि का सम्भवतः यही कारण हो ? कि यह जीव लोक जो बुद्धि रूप वाला है, वह बहिर्मुख बना हुआ केवल खाने, पीने, रहने, स्नान करने और स्त्री का सुख भोगने में ही जीवन का महापुरुषार्थ मान बैठा हो ? ॥१९-२०-२१-२२॥

आभास—एतेषां पूर्वपक्षताऽपि सम्भवतीत्याह—

आभासार्थ—ऊपर बताये गये सभी कारण वस्तु स्थिति के पूर्व पक्ष के रूप में

भी आ सकते है। ऐसी सम्भावना के अभिप्राय से कहा जा रहा हैं—

श्लोक—यद्वाऽम्ब ते भूरिभरावतारकृतावतारस्य हरेर्धरित्रि ।
अन्तर्हितस्य स्मरती विसृष्टा कर्माणि निर्वाणविलम्बितानि ॥२३॥
इदं ममाऽऽचक्ष्व तवाऽऽधिमूलं वसुन्धरे येन विकर्षिताऽसि ।
कालेन वा ते बलिनां बलीयसा सुरार्चितं किं हृतमद्य सौभगम्॥२४॥

श्लोकार्थ—अथवा हे माता रूप पृथ्वी, तुम पर बहुत अधिक बढे हुये भार को उतारने के लिये जिन हरि भगवान् ने अवतार धारण किया था उनके पधार जाने से उनके चरित्र भी मोक्ष प्रदान करने में विलम्ब करने वाले हो गये, उन प्रभु का स्मरण करती हो अथवा हरि भगवान् द्वारा छोड़ दिये जाने पर शोक कर रही हो ? तुम्हारी इस चिन्ता का कारण कहो। हे वसुन्धरे तुम दुर्बल हो गई हो, अथवा बलवानों में बलवान् काल द्वारा देवता भी जिनका पूजन करते हैं, ऐसा तुम्हारा सौभाग्य क्या आज हरण कर लिया गया है ? ॥२३-२४॥

सुबोधिनी—यद्वेति । तव भूरिभारावतारणार्थं कृतावतारस्य भगवतो वासुदेवस्य सर्वदुःखहर्तुः हे धरित्रि ! साम्प्रतमन्तर्हितस्य,—तेनैव विसृष्टा—कर्माण्युदारचरित्राण्यनधिकारिषु वर्तमानानि निर्वाणार्थं विलम्बितानि निर्वाणमदत्वा तूष्णीं स्थितानि चित्तरूपाणि —स्मरन्ती— तानि शोचसि। इयं वक्ष्यमाणं भवत्येव तवाऽऽधिमूलम् । तत्र सम्मतिमेवाऽऽचक्ष्व । **हे वसुन्धरे** । सर्वरत्नादिसहिते शृङ्गारप्रिये । येन रहितेन त्वं विकर्षिताऽसि । तत्स्वयमेवाऽऽह। यत्कलिना कालेन बलिना सुरार्चितं तव सौभाग्यं भगवस्थितिरूपं तदद्य हृतमिति । कालेन चिह्नादीनामपि हरणात् ॥२३॥ २४॥

व्याख्यार्थ—तुम्हारा अतिशय भार उतारने के लिये प्रत्येक के दुःख का हरण करने वाले भगवान् ने वासुदेव रूप से अवतार लिया है हे पृथ्वी, वे प्रभु इस समय अन्तर्हित हो गये हैं, उन्होंने अभी ही तुम्हारा त्याग किया है। उन प्रभु के चरित्र उदार हैं। परन्तु योग्यता रहित मनुष्यों में रहने के कारण वे चरित्र मोक्ष प्रदान करने में देर लगाते हैं। अतः मोक्ष के विषय में वे चुप्पी साध लेते हैं। वे चरित्र चित्र रूप हैं, इसलिये क्या उनका स्मरण करके शोक कर रही हो ? समस्त रत्नों का शृंगार तुम्हें प्रिय है, इसलिये उन भगवान् से रहित होकर तुम दुबली हो गई हो। धर्म स्वयं ही इस बात को कह रहा है, कि जिस बलवान् कलियुग ने तुम्हारा

सौभाग्य हरण कर लिया है, ऐसा भगवान् का तुम पर विराजना रूप सौभाग्य, जिसका देवतागण पूजन करते थे, उन्हीं का तुम विरह शोक कर रहो हो क्या ? काल के द्वारा प्रभु के चरण चिह्नों को भी मिटा दिया गया है ॥२३-२४॥

आभास—तत्र धर्मोक्तं सर्वमेव हेतुमङ्गीकृत्य सर्वेषां मूलं भगवद्गमनमिति यत्रैव तद्राहित्यं तमेव शोचामीत्याह—

आभासार्थ—उस प्रसंग में धर्म के द्वारा कहे हुये प्रत्येक हेतु को धरणी ने स्वीकार किया और सभी कारणों का मूल कारण भगवान् का स्वधाम में पधार जाना ही है, इसलिये जो भगवान् से रहित हैं, उन प्रत्येक का मैं शोक करती हूं, इस प्रकार धारणी कह रही है—

धरण्युवाच—श्लोक—भवान् हि वेद तत्सर्वं यन्मां धर्माऽनुपृच्छसि ।
चतुर्भिर्वर्त्तसे येन पादैर्लोकसुखावहैः ॥२५॥

श्लोकार्थ—हे धर्म, जो आप मुझसे पूछ रहे हैं, उसे आप पूरी तरह से जानते हैं, क्योंकि भगवान् द्वारा प्रत्येक लोक को सुख देने के लिये आप चार पैरों से रहते हो ॥२५॥

सुबोधिनी—भवान् हि वेदेति । युक्तिरुक्तैव । धर्मस्य ज्ञानमपि प्रमाणम् । उत्प्रेक्षितमपि प्रमितमेव । स्वात्मनि प्रमितत्वात् । अतस्तदाह—**चतुर्भिर्वर्त्तसे येनेति** । द्वापरान्ते स्वभावत एव पादत्रयं गच्छति । तदाऽपि त्वं येन भगवता कृत्वा चतुर्भिः पादैर्वर्त्तसे । ते पादाः सर्वसुखहेतवः । तदभावे सर्वे शोच्याः । भवानिव ॥ २५ ॥

व्याख्यार्थ—युक्ति तो कहनी ही है, धर्म का ज्ञान भी प्रमाण रूप से है। वह स्वयं आत्मा में प्रमाण रूप होने से उत्प्रेक्षा (एक ही वस्तु में विभिन्न सम्भावनाएँ) करने पर प्रमाण रूप हो जाता है। भगवान् की विद्यमानता में आप भी तो चार पैरों से चलते थे। वे चारों पैर प्रत्येक लोक को सुख देने में कारण रूप हैं। उन पैरों के न होने पर जैसे आप भी शोक करने योग्य हो उसी प्रकार प्रत्येक शोक करने योग्य हैं॥२५॥

आभास—शोके हर्षे च गुणा एव हेतवः । ते च भगवन्निष्ठास्तत्सम्बन्धादेवाऽन्यत्र भवन्ति । तेन गणपात्रेण रहितं सर्वमेव शोचामीति वक्तुं गुणान् गणयति भगवदीयान् **सत्यमित्यादिना**—

आभासार्थ—भगवान् में रहने वाले गुण ही शोक और हर्ष करने में कारण रूप हैं । अतः पहले जब मुझमें गुण थे तब मुझे हर्ष था, जब गुण जाते रहे तो शोक हो गया । वे गुण सदैव भगवान् में ही रहते हैं और उनके सम्बन्ध से ही अन्य स्थलों में रहते हैं । उन गुणों के पात्र रूप भगवान् का वियोग होने से मुझे ये सब शोक हुये हैं । इसे स्पष्ट करने के लिये पृथ्वी भगवान् में स्थित गुणों की गणना करती है—

श्लोक—**सत्यं शौचं दया क्षान्तिस्त्यागः सन्तोष आर्जवम् ।**
शमो दमस्तपस्साम्यं तितिक्षोपरतिः श्रुतम् ।। २६ ।।
ज्ञानं विरक्तिरैश्वर्यं शौर्य्यं तेजो बलं स्मृतिः ।
स्वातन्त्र्यं कौशलं कान्तिर्धैर्यं मार्दवमेव च ।। २७ ।।
प्रागल्भ्यं प्रश्रयः शीलं सह ओजो बलं भगः ।
गाम्भीर्यं स्थैर्यमास्तिक्यं कीर्त्तिर्मानोऽनहङ्कृतिः ।। २८ ।।
इमे चाऽन्ये च भगवन्नित्या यत्र महागुणाः ।
प्रार्थ्या महत्त्वमिच्छद्भिर्न वियन्ति स्म कर्हिचित् ।। २९ ।।

श्लोकार्थ—सत्य, पवित्रता, दया, क्षमा, दान, सन्तोष, सरलता, शांति, इन्द्रियों का निग्रह, तप, समता, सहन शक्ति, उपरति (विराम), शास्त्रों का अभ्यास, ज्ञान वैराग्य, ईश्वरपना, शूरवीरता, तेज, बल, स्मृति, स्वतन्त्रता, कुशलता, कान्ति, धैर्य, मृदुता, चतुराई, विनय, सुस्वभाव, मन की शक्ति, इन्द्रियों की शक्ति, शरीर की शक्ति भोगने की योग्यता, गंभीरपना, स्थिरता, आस्तिकपना, कीर्ति, मान रहित और अहंकार रहित होना, आदि अन्य गुण जो महान् बनने की इच्छा वाले पुरुषों द्वारा प्रार्थना करने योग्य हैं, वे भगवान् में सदैव विद्यमान रहते हैं उनसे कभी भी भिन्न नहीं होते ।।२६-२७-२८-२९।।

सुबोधिनी—**सत्यं** यथार्थभाषणम् । **शौचं** शुद्धत्वम् । **दया** परदुःखासहनम् । **क्षान्तिः** क्रोधप्राप्तौ चित्तसंयमनम् **त्यागो**ऽर्थिषु मुक्तहस्तता । **सन्तोषो**ऽलम्बुद्धिः । **आर्जवमवक्रता** । **शमो** मनोनैश्चल्यम् । **दमो** बाह्येन्द्रियनैश्चल्यम् । **तपः** स्वधर्मः । **साम्यम**रिमित्राद्यभावः । **तितिक्षा**ऽपराधसहनम् । **उपरतिर्लाभ**प्राप्तावौदासीन्यम् । **श्रुतं** शास्त्रविचारः । **ज्ञानमात्म**विषयम् । **विरक्ति**-र्वितृष्णता । **ऐश्वर्यं** नियन्तृत्वम् । **शौर्यं** सङ्ग्रामोत्साहः । **तेजः** प्रभावः । **बलं** दक्षत्वम् । **स्मृतिः** कर्त्तव्यार्थानुसन्धानम् । **स्वातन्त्र्यमपराधीनता** । **कौशलं** क्रियानिपुणता । **कान्तिः** सौन्दर्यं । **धैर्यम**व्याकुलता । **मार्दवं** चित्ताकाठिन्यम् । **प्रागल्भ्यं** प्रतिभातिशयः । **प्रश्रयो** विनयः । **शील** सुस्वभावः । **सहओजोबलानि** मनइन्द्रियशरीराणां पाटवानि । **भगो** भोग । स्पदत्वम् । **गाम्भीर्यमक्षोभ्यत्वम्** । **स्थैर्यमचञ्चलता** । **आस्तिक्यं** श्रद्धा । **कीर्तिर्यशः** । **मानः** पूज्यत्वम् । **अनहङ्कृतिर्गर्वाभावः** । **अन्ये च ब्रह्मण्यत्वभक्तवत्सलत्वादयः** । **नित्याः** सहजाः । **इमे चाऽन्ये चेति** चकारद्वयं संसर्गिदोषनिवृत्त्यर्थम् । **महागुणा इति** । परमकाष्ठापन्नाः यथा ज्ञानं निरतिशयं बलं निरतिशयमिति । एकस्मिन्नपि गुणे जाते जगति महत्त्वं लभते जीवः । तेन विना सर्वथा न महत्त्वम् । भक्तिस्तु भगवद्रूपेति न तया व्यभिचारः । अत एव सर्वैरेते गुणाः प्रार्थ्याः ते भगवति व्ययमपि न प्राप्नुवन्ति—ईषदपि न क्षीयन्ते ॥२६॥२७॥२८॥२९॥

व्याख्यार्थ—यथार्थ भाषण को सत्य कहते हैं । शुद्धता से रहना शौच कहलाता है । दूसरे का दुःख सहन न होना ही दया है । क्रोध आने पर मन को वश में रखना ही शान्ति कहलाती है । माँगने वालों को खुले हाथ देना त्याग कहलाता है । जो वस्तु मिल जाय उसमें पूर्णपने की बुद्धि को ही संतोष कहा जाता हैं । वक्रता (टेढ़ापन-कुटिलता) न रखने को आर्जव कहते हैं । मन को चलायमान न करना शम कहा जाता है । बाहर की इन्द्रियों को चंचल न होने देना दम कहलाता हैं । अपने धर्म के अनुसार चलना ही तप है । शत्रु और मित्र में समान दृष्टि ही साम्य है । किसी के द्वारा अपने प्रति किये गये अपराध को सहन करना तितिक्षा कही जाती है । किसी भी प्रकार के लाभ में उदासीनता रखना उपरति कहलाती है । शास्त्र के विचार करने को श्रुत कहते हैं । आत्मा के स्वरूप को जानना ज्ञान कहलाता है । तृष्णा न रखने को ही विरक्ति कहते हैं । दूसरों को अपनी आज्ञा के अन्तर्गत रखना ऐश्वर्य कहा जाता है । संग्राम करने का उत्साह ही शौर्य है । प्रभाव को तेज कहते हैं । चतुराई को बल कहते हैं । जो कार्य करना है उसके अनुसंधान को स्मृति के नाम से पुकारा जाता है । किसी के अधीन न होना ही स्वातन्त्र्य है । क्रिया में निपुणता को कौशल कहते हैं । सुन्दरता ही कान्ति है । व्याकुलपना न रहने को धैर्य कहा जाता है । चित्र में कठारता न रहने को मार्दव कहते हैं । अतिशय प्रतिभा का ही दूसरा नाम प्रागल्भ्य है । विनय रखना प्रश्रय कहा जाता है । अच्छे स्वभाव को

शील, मन की शक्ति रहने को सह, इन्द्रियों में शक्ति रहने को ओजस् और शरीर की शक्ति को बल के नाम से कहा जाता है। भोग का स्थान ही भग कहलाता है। किसी से भी क्षोभ को प्राप्त न हुआ जाय इसे ही गाम्भीर्य कहते हैं। चंचलता न होने को स्थैर्य कहते हैं। श्रद्धा रहने की स्थिति को आस्तिक्य कहते हैं। यश को ही कीर्ति, पूज्य भाव को मान तथा गर्व न होने को अनहंकृति के नाम से पुकारा जाता है। ये सभी गुण तथा अन्य भी जैसे ब्रह्मण्यत्व एवं भक्तवत्सलता आदि भगवान् में नित्य और सहजपने से विराजते हैं। उन गुणों में प्रभु के संसर्ग से किसी भी प्रकार का दोष नहीं आता यह बताने के लिये मूल में चकार दिया गया है। जिन प्रभु में वे सारे गुण परमकाष्ठा को प्राप्त हैं (पूर्णता को प्राप्त)। अपेक्षाकृत अन्य गुणों के ज्ञान तो सबसे अधिक हैं और बल भी सबसे अधिक उन्हीं में स्थित है। इस प्रकार प्रत्येक गुण के विषय में समझ लेना चाहिये। इन गिनाये गये गुणों में से एक भी गुण यदि जीव में आ जाता है तो वह जगत् में महानता को प्राप्त हो जाता है। गुण के अभाव में किसी भी प्रकार से महत्त्वशील नहीं बन सकता। भक्ति द्वारा महानता मिलती है। वह भक्ति तो भगवत् रूप ही है, इसलिये उससे महत्त्व मिलने में किसी प्रकार की बाधा नहीं है। परन्तु इसके अतिरिक्त ऊपर बताये गये गुणों में से एक भी गुण आ जाता है तो वह महान् हो जाता है। अतः ये गुण प्रत्येक के द्वारा प्रार्थना करने योग्य हैं। भगवान् में से ये गुण कभी नष्ट नहीं होते और न इनमें कभी कुछ कमी ही आती है ।।२६-२७-२८-२९।।

आभास—एवं गुणनिरूपणस्य प्रयोजनमाह—

आभासार्थ—इस प्रकार से अब गुणों के निरूपण का प्रयोजन कहा जा रहा है—

श्लोक—**तेनाऽहं गुणपात्रेण श्रीनिवासेन साम्प्रतम् ।**
शोचामि रहितं लोकं पाप्मना कलिनेक्षितम् ।।३०।।

श्लोकार्थ—इस समय यह लोक गुण के पात्र रूप और लक्ष्मी के निवास रूप भगवान् से रहित हो गया है और पापी कलियुग ने इस पर दृष्टि डाल दी है, मुझे इसी बात की चिन्ता हो रही है ।।३०।।

सुबोधिनी—**येनाऽहमिति** । सर्वे गुणा एकत: । लक्ष्मीश्चैकत: । अतस्तां भिन्नतया निरूपयति—**श्रीनिवासेति** । भगवन्निर्गमने सर्वे भगवद्गुणा लक्ष्मीस्तद्गुणाश्च निवृत्ता: । अत: शोचामीत्याह—**शोचामि रहितमिति** । किञ्च । तत्प्रतियोगिनो दोषा: सर्वे समागता इत्याह—**पाप्मना कलिनेक्षितमिति** । सर्वेषां पापानां हेतुभूतेन कलिना ईक्षितं दृष्टमात्मीयोऽयमिति ।।३०।।

व्याख्यार्थ—एक ओर सारे गुण हैं और एक ओर लक्ष्मी जी हैं । अत: लक्ष्मी जी का अलग से निरूपण करते हैं, कि भगवान् के पधारते ही उन्हीं के साथ उनके सारे गुण भी प्रस्थान कर गये । चूंकि भगवान् श्री निवास हैं, अत: उन्हीं के साथ लक्ष्मी जी भी अपने गुणों सहित पधार गये । मेरे शोक का यही कारण है । और अधिक क्या कहूँ, गुण गये सो तो गये परन्तु उन गुणों से प्रतियोगिता रखने वाले सारे दोष चले आये । समस्त पापों के हेतु भूत कलिकाल ने इस जगत् पर दृष्टि डाल दी और इसे अपने रंग में रंग दिया ।।३०।।

आभास—के तदीक्षिता इत्याकाङ्क्षायां त्वदुक्ता: सर्व एवेति तान् गणयति—

आभासार्थ—उस कलिकाल ने किन गुणों पर दृष्टि डाली है, ऐसी (धर्म की) जिज्ञासा होने पर कहते हैं, कि जो तुमने पूर्व में बताये उन सभी गुणों पर उसने दृष्टि डाली है, उन सभी की सामूहिक रूप से (पृथ्वी) गणना करती है—

श्लोक—**आत्मानञ्चाऽनुशोचामि भवन्तञ्चाऽमरोत्तम ।**
देवानृषीन् पितृन् साधून् सर्वान्वर्णांस्तथाऽऽश्रमान् ।।३१।।

श्लोकार्थ—मैं स्वयं का शोक कर रही हूँ और हे देवताओं में उत्तम धर्म, मुझे तुम्हारा शोक हैं । देवताओं, पितरों, ऋषियों साधुओं वर्णों तथा आश्रमों का शोक कर रही हूं ।।३१।।

सुबोधिनी—**आत्मानमिति** । हे अमरोत्तम देवश्रेष्ठ धर्म । द्वितीयान्तपाठो वा देवपितृऋषय: । ऋणापाकरणकर्त्रभावात् । कालादिधर्महेतूनामभावात्सदाचारा न सन्तीति साधुशोक: । वर्णाश्रमा: । स्वधर्माभावात् ।।३१।।

व्याख्यार्थ—हे देवताओं में श्रेष्ठ धर्म, मैं तुम्हारा देव शोक करती हूँ । यहाँ द्वितीयान्त 'अमरोत्तमम्' पाठ भी मिलता है । द्विज पर देवऋण, ऋषिऋण तथा पितृऋण ये तीन प्रकार के कर्ज होते हैं । इस कलिकाल में उन ऋणों को चुकाने की किसी को लेशमात्र भी चिन्ता नहीं है । इसलिये मैं देवताओं, ऋषियों और पितरों के लिये

चिन्तित हूँ। देश, काल, द्रव्य, कर्ता, मन्त्र और कर्म ये छह धर्म के आधारभूत कारण हैं, ये सब अशुद्ध हो जाने से धर्म का पालन यथार्थ रीति से नहीं हो पाता, इसका मुझे कष्ट है। सदाचार के नष्ट हो जाने से साधुओं के प्रति शोक युक्त हूँ। न वर्णों का धर्म रहा, न आश्रमों की व्यवस्था रह सकी, ये सभी बातें मेरी चिन्ता का विषय बन गई ।।३१।।

आभास—अलमेतैर्निरूपितैः। मुख्यतया त्वात्मानमेवाऽनुशोचामीत्याह **ब्रह्मादय इति** द्वाभ्याम्—

आभासार्थ—शोक के इन सभी कारणों का पर्याप्त रूप से निरूपण हो चुका, परन्तु मुख्य रूप से तो मैं स्वयं के विषय में ही चिन्तित हूँ। इसका निरूपण दो श्लोकों से किया जा रहा है—

श्लोक—**ब्रह्मादयो बहुतिथं यदपाङ्गमोक्ष-**
कामास्तपः समचरन् भगवत्प्रपन्नाः।
सा श्रीः स्ववासमरविन्दवनं विहाय,
यत्पादसौभगमलं भजतेऽनुरक्ता ।।३२।।

श्लोकार्थ—ब्रह्मादिक देवताओं ने भगवान् की शरण में जाकर बहुत समय तक इसलिये तप किया, कि लक्ष्मी जी के कृपाकटाक्ष हमारे ऊपर हो जावें; ऐसे वे लक्ष्मी जी अपने निवास रूप कमल को छोड़कर भगवान् के चरण कमलों में अनुरक्त हुई, प्रभु के चरण रूप सौभाग्य को ही, अतिशय रूप से भजती रहती हैं ।।३२।।

सुबोधिनी—अत्र केचिदिमे गुणाः प्राकृतगुणकार्यरूपा गुणसम्बन्धादेव भगवति वर्त्तन्ते न सहजा इत्याहुः। ते प्रष्टव्याः कस्यैते गुणा इति। सत्त्वादीनामात्मनो वा। आद्ये स्वातन्त्र्यादीनां तदीयत्वे गुणत्वमेव भज्येत। ब्रह्मत्वं वा भवेत्। संयोगजत्वेऽपि प्राप्ताप्राप्तविवेकेन गुणसम्बन्धकृतश्चेद्गुणानामेव। उत्पत्तिपक्षस्तु वैनाशिकप्रक्रियाया अनङ्गीकारान्न घटते। "**नित्या**" इति वाक्यविरोधश्च। सगुणो भगवानिति तु पक्षो निराकृतो निराकरिष्यते च। किञ्च। यामनुपपत्तिं परिहर्त्तुं भगवति सत्त्वादीन् कल्पयन्ति तत्र सत्त्वादेः का शक्तिर्यया भगवदनुपपत्तिमपि दूरीकुर्युः। अथ यावानर्थोऽस्माभिर्ब्रह्मण्युच्यते तावान्गुणेषु मायायां वा मन्यमानाः (?) चेत् "**मायेत्यसुरा**" इति पक्षं न व्यभिचरेयुरित्यलं विस्तरेण। **बहुतिथं** बहुकालम्। भगवत्त्यागस्य परमानिष्टत्वं शास्त्रार्थः। तत् किं स्वभावत एव हेतुतो वेति विचार्यते। तत्र भगवदीयानां भगवत्त्यागः सर्वथाऽनर्थाय। तदपेक्षयाऽन्येषां हीनत्वात्। सङ्घातप्रवेशेन सापेक्षत्वाच्च। हीनापेक्षायां स्वरूपनाशापत्तिः। अतो भगवदीयानां मध्ये मुख्या लक्ष्मीः स्वतः समर्थाऽपि तत्सामर्थ्यं

तस्या अकिञ्चित्करमिति तन्निर्वाहार्थं च कार्ये कारणे चोदासीना भगवन्तमेव भजते । अन्ये च पुनस्तत्सेवकाः । अहं च सपत्नी । अतो भगवत्यागे महाननर्थ इति वक्तुं लक्ष्म्याः कृत्यमाह । तस्या अपि कार्यवृत्तान्तं उच्यते । यदपाङ्गमोक्षकामाः । यस्या लक्ष्म्या अपाङ्गः कटाक्षस्तस्य मोक्षस्तत्कामा ब्रह्मादयः । अत्र कटाक्षपदेन भगवन्निष्ठानुरागसहितभगवद्विषयककामभावसहित-स्वसमर्पणभावोद्गिरणसहिताऽर्द्ध दृष्टिरुच्यते । ततस्तस्यां दृष्टौ भगवान् भगवद्विषयकः कामो भगवत्स्नेहो लक्ष्मीः सृष्टिरिति पञ्च पदार्थाः सन्ति । ते हि दुर्लभा एकत्र समुदिताः । अतो दृष्टिविषयतासिध्यर्थं भगवत्प्रपन्नाः भगवति शरणं गताः । भगवन्तं हृदये स्थापयित्वेत्यर्थः । तादृशाः सन्तस्तपः कुर्वन्ति । एतादृशाः कटाक्षा लक्ष्म्याः प्रतिक्षणं सहस्रं भवन्ति। एवं माहात्म्य-युक्ताऽपि सा लक्ष्मीश्चरणारविन्दं भजते । भगवदत्यागे तस्यैव हेतुत्वात् । तस्या अपि दुर्लभ-श्चरणः । सेवार्थमेव चरणप्राप्तिस्तु सुतरां दुर्लभा । एवं तस्याःकार्यमुक्त्वा कारणपरित्यागमाह—स्ववासमरविन्दवनं विहायेति । शतांशेनाऽप्यन्यासक्तौ चरणसेवा दुर्लभेति स्वस्य जन्मस्थानमप्य-रविन्दवनं विहाय । वनपदेन चाऽसेव्यत्वं सूचितम् । चरणसौभाग्य भजते । भक्तिनिष्ठा भवती-त्यर्थः । एतावता मम चरणत्वान्मत्सेवां साऽपि करोतीत्यहं भगवदीयानामुत्तमेति भावः । चरण-सौभाग्ये साभिलाषा लक्ष्मीस्तत्प्राप्तये तत्त्वाय वा । अनुरागेणाऽत्यभीष्टत्वं द्योतयति ॥३२॥

व्याख्यार्थ—सत्त्वादिक गुण भगवान् में सहज रूप से रहते हैं, ऐसा पूर्व में कहा गया है, पर मायावादी कहते हैं, कि वे गुण तो माया के हैं, वे गुण सम्बन्ध के कारण भगवान् में आते हैं उन्हें सहज नहीं कहा जा सकता । उन मायावादियों को पूछना चाहिये कि वे गुण सत्त्वादि गुणों के हैं अथवा आत्मा के हैं ? यदि वे गुण सत्त्वादि गुणों के हैं, तो स्वातन्त्र्यादि गुणों में गुणपना ही न रहे । क्योंकि तमोगुण प्रलय करता है, और स्वतंत्रता तमोगुण का कार्य है । इसी प्रकार कुशलता आदि रजोगुण का कार्य है, जबकि तमोगुण व रजोगुण तो त्याग करने योग्य हैं । जो त्याज्य हैं, वे गुण कैसे कहा सकते हैं ? यदि यह मानते हो, कि ईश्वर का शरीर सात्त्विक है, तो सात्त्विक शरीर में रजोगुण व तमोगुण के कार्यों का प्रवेश हो नहीं सकता, जिससे स्वतन्त्रता व कुशलता का गुणपना टिक नहीं सकता, अथवा उन गुणों को बाहरी ही कहा जा जाना चाहिये । इस प्रकार सत्त्वादिक गुणों का असत्-पना होने से स्वतन्त्रता आदि भी असत्य सिद्ध हो जाते हैं । इन गुणों का ईश्वर में न होना उनका निर्गुणत्व सिद्ध करता है, पर तुम जिसे सगुण ईश्वर मानते हो, वह घटित नहीं हो सकता । अथवा सत् और असत् से भिन्न भगवान् में गुणों का आरो-पण किया गया है, यदि ऐसा मानते हो तो गीताजी में "वह ब्रह्म न सत् है न असत्" कहा गया है । तब तो गुण भी सत् अथवा असत् नहीं कहा सकते । ऐसी अवस्था में उन गुणों को भी ब्रह्मपना प्राप्त हो गया । वस्तुतः ये गुण भगवान् में

आरोपित किये हुये नहीं हैं, प्रत्युत् आगन्तुक हैं। अतः निर्गुण स्थिति ब्रह्म नहीं कहने जा सकती, ईश्वर भले ही उसे कहो, यदि आप ऐसा कहे, तो जिस प्रकार श्वेत वस्त्र में लाल रंग आता है,पर वह वस्त्र का रंग नहीं है,इसी प्रकार वे गुण भगवान् के नहीं हैं,यह सिद्ध होता है। कारण, कि गुणों का ही सम्बन्ध उन्हें प्राप्त हो तो वे गुण ईश्वर के कहलाएँ और वे सम्बन्ध जब प्राप्त हों तब वे गुण ईश्वर के नहीं कहलाएँ, ऐसी स्थिति में तो सगुण ईश्वर सिद्ध ही नहीं हो पाये। अग्नि के सम्बन्ध से ही घी में द्रवत्त्व रहता है, ऐसे ही वे गुण ईश्वर में उत्पन्न होते हैं। यदि ऐसा मानते हो, तो गुणों का नाश भी मानना पड़ेगा। वह पक्ष तो विनाश की प्रक्रिया को स्वीकार नहीं करता, अतः घटित भी नहीं हो सकता। अन्यथा ऊपर के श्लोक में गुणों की नित्यता का विरोध होता है। उस श्लोक में तो गुणों को नित्य कहा गया है, जिसका अभिप्राय है, कि जब तक अवतार रहता, तब तक गुण भी रहते हैं, यदि ऐसा मानते हो तो उसी श्लोक के चोथे पद में "वे गुण कभी कम नहीं होते" ऐसा कहना ही व्यर्थ हो जाय और ऐसी स्थिति में विरोध नहीं मिट पाया। ईश्वर में गुणों का सम्बन्ध सदैव है, यदि ऐसा कहते हो तो सगुण भगवान् मानने का पक्ष दूसरे अध्याय में "स एवेदं ससर्जाग्रे" और दशवें अध्याय में "स वै किलायं पुरुषः पुरातनः" इन श्लोकों में निराकरण कर दिया है। वैसे ही आगे भी उसका निराकरण किया जायेगा। उन भगवान् में जो नहीं घटने वाली स्थिति है, उसे दूर करने के लिये उन्होंने सत्त्वादिक गुणों की कल्पना की है। उसमें भी यह विचार करना चाहिये, कि सत्त्वादिक गुणों की शक्ति क्या है? कि जिस शक्ति के द्वारा भगवान् में न घटने वाले गुणों को दूर किया जा सके। संभवतः इसीलिये उन्हें सगुण ईश्वर मानते हो? तो ईश्वर में घटित न होने वाली ऐसी कोई युक्ति है क्या? जिससे आपको सत्त्वादिक गुणों की कल्पना करनी पड़ती है? निर्गुण ब्रह्म में जगत् रचना आदि धर्म हो नहीं सकते और श्रुतियों में वे धर्म कहे गये हैं, जिसकी सम्भावना सत्त्वादिक गुणों के अतिरिक्त हो नहीं सकती, इसलिये सत्त्वादिक गुणों की कल्पना करनी पड़ी है, यदि ऐसा कहते हो तो वहां तक तो ठीक है। उन सत्त्वादिक गुणों का सामर्थ्य कितना है? अब यह विचार करना है। भगवान् में जो बातें नहीं हो सकती, उन्हें दूर करने के लिये सत्त्वादिक गुण समर्थ हैं अथवा नहीं? यदि यह कहते हो, कि समर्थ हैं, तो पहले वाला मत घटित नहीं होता, कारण यह कि सत्त्वादिक गुण जड़ हैं। वे गुण अपने आप ब्रह्म से जुड़ जाते हैं, अथवा किसी कारण से संलग्न होते हैं? यदि स्वयं ही वे गुण ब्रह्म से लगते हैं,

तो सत्त्वादिक गुण परस्पर इकट्ठे हो जाते हैं ऐसी स्थिति में उन तीनों गुणों में से किस गुण का सम्बन्ध पहले हो ? इसका नियम न होने से एक ही समय में तीनों गुणों का कार्य प्रारम्भ हो जायेगा और तब उत्पत्ति, स्थिति और लय की व्यवस्था मिट जायेगी । रजोगुण चलायमान होने से सृष्टि करता है, पश्चात् सतोगुण पालन करता है और अन्त में तमोगुण प्रलय करता है । इस प्रकार गुणों का स्वभाव ही उनमें प्रत्येक का नियमन करेगा, यदि ऐसा कहो तो प्रलय में तमोगुण बलवान् है, तो प्रलय कार्य करने में वह चुप्पी कैसे साधे रहेगा ? जब पूर्व में कोई वस्तु थी ही नहीं, तो प्रलय भी कौन करे ? ऐसा कहो, तो जो उत्पन्न होता है, उसका दूसरे ही क्षण प्रलय हो जाना चाहिये । सत्त्वगुण तमोगुण को रोकता है, इसीलिये प्रलय नहीं होता, यदि ऐसा कहते हो, तो सत्त्वगुण बलवान् हुआ, तब तो हमेशा ही प्रत्येक वस्तु बनी ही रहनी चाहिये, प्रलय होना ही नहीं चाहिये सत्त्वादिगुणों का ऐसा स्वभाव है, कि एक दूसरे को दबाते हुये अपना कार्य करते हैं । इस प्रमाण से सत्त्वगुण का उपमर्दन करते हुये तमोगुण प्रलय कर सकता है । ऐसा कथन करने पर विनाश की प्रक्रिया स्वीकार नहीं होती । इसलिये जिस समय में प्रलय हुआ है, उस के दूसरे ही क्षण में रजोगुण से उत्पत्ति हो जाना चाहिये, क्योंकि स्वभाव जाता नहीं, और रजोगुण का स्वभाव उत्पत्ति करने का है । वह तमोगुण का उपमर्दन करता नहीं । इसके अतिरिक्त कोई दूसरा कारण बनता नहीं, कि किसी समय विशेष तक प्रलय करे । ऐसा नियम संग हो जाने से स्वभाववाद की कोई संगति ही नहीं रह जाती । कारण, कि गुणों के स्वभाव से ही उत्पत्ति, स्थिति और लय होते हैं । ऐसा मानने पर तो ईश्वर की कोई आवश्यकता ही नहीं रह जाती । जब ईश्वर का कोई प्रयोजन ही नहीं रह जाता, तो 'यतो वा इमानि' (जिनसे ये प्राणी उत्पन्न होते है) आदि श्रुतियों में ईश्वर ही उत्पत्ति, स्थिति और लय का कारण है, इस कथन का विरोध हो जाता है । यदि किसी कारण से ईश्वर में सत्त्वादि गुण आते है, यों कहो, तो इस का तात्पर्य यह हुआ कि जब तक गुणों का सम्बन्ध नहीं हुआ था तब तक ईश्वर भी नहीं था । कारण, कि आप लोग तो गुण के सम्बन्ध वाले को ही ईश्वर कहते हो । जब गुणो का सम्बन्ध ब्रह्म से हुआ तब तो ईश्वर भी एक कार्य हुआ । यह मत तो सांख्य शास्त्र का हुआ । तब किस कारण से ये गुण ब्रह्म में आये ? इस पर भी विचार कर लेना चाहिये । यदि काल को पदार्थ मानते हो, तो ब्रह्म और काल ये दो पदार्थ भिन्न-भिन्न हुये, इसमें अद्वैतपना नहीं रहा । अब

इसमें इच्छा को ही कारण मानोगे तो भी अद्वैत की हानि होगी। इच्छा को भी पहले रजोगुण, बाद में सत्त्वगुण और अन्त में तमोगुण, इस प्रकार तीनों गुणों को ब्रह्म से सम्बन्धित मानने में क्रम का ध्यान न भी रखो, तो भी कारण तो आवश्यक रूप से बताना ही पड़ेगा। यदि पुनः गुणों के स्वभाव वाली बात करोगे, तो वही स्वभाववाद फिर आ जायेगा। ऐसी स्थिति में ऊपर बताये गये प्रमाण से उनके वे दोष यथा स्थिति (जैसे के तैसे) बने रहेंगे। वे सत्वादिक गुण कोई वस्तु नहीं हैं, इसे तो आप भी स्वी कारते हो। अब यदि यह माना जावे कि सत्वादिक से कुछ भी कार्य नहीं हो सकता तो शून्यवाद, आ जायेगा, अतः गुणों के सामर्थ्य का विचार करना चाहिये। भगवान् में उनके सम्बन्ध की कल्पना करना संगति रहित है। इस पर वादी शंका करते हैं, कि भेदवाद मानने के समान ही सत्वादिक गुणों का चैतन्यपना है, उसको स्वीकार लेने पर उनका भी सम्बन्ध नित्य है। इसे स्वीकार लेने पर ऊपर बताये गये स्वतन्त्रता आदि गुणों के धर्म भगवान् में नित्य हैं। इसे हमें मान लेना चाहिये। ऐसा कहने पर सिद्धान्तवादी कहते हैं कि जितना अर्थ हमने ब्रह्म में निरूपण किया है, उतना अर्थ गुणों में अथवा माया में मानने वाले 'माये त्यासुरा' (असुर माया को ब्रह्म मानते हैं) कहते हैं और ये कथन आसुर पक्ष से पृथक् नहीं हैं, अत अब अधिक विस्तार करने की कोई आवश्यकता नहीं हैं। इस प्रकार श्लोक के अन्तर्गत आये शास्त्रार्थ का प्रसंगानुसार निरूपण किया है। ब्रह्मादिक देवताओं ने बहुत समय तक तपस्या की। भगवान् ने पृथ्वी का त्याग कर दिया है, यह बहुत बुरा हुआ, यह इसका अभिप्राय है। वह त्याग भी भगवान् ने अपने स्वभाव से ही किया है अथवा किसी अन्य कारण से किया है ? यदि भगवान् ने अपने लिये ही त्याग किया है, तो वह त्याग भगवान् के अधीन है अतः वह कारण कोई विशेष कारण नहीं है। यदि प्रभु ने अपने दोषों को देखते हुये त्याग किया है तो अवश्य ही कारण की अधिकता है। अतः प्रभु के द्वारा किये गये त्याग का विचार करना चाहिये। जो भगवदीय होते हैं, भगवान् उन्हें स्वीकार करते है, परन्तु भगवान् जिसका त्याग कर देते हैं तो वह सभी के अनर्थ के लिये ही है। कारण, कि भगवान् की अपेक्षा प्रत्येक हीन है। जब एक छोड़ देता है, तो दूसरा उसकी इच्छा करता है और जब दूसरा उसे ग्रहण कर लेता है, तो सब अनर्थ हो जाता है। भगवान् से भिन्न होने के बाद जब तक मैं और मेरा के संघात में प्रवेश नहीं होता, तब तक भगवान् त्याग नहीं करते। जब संघात वाले अपनी इच्छा करते हैं, तो वह

इच्छा अनर्थ का मूल हो जाती हैं। जिससे भगवदीय में जो दीनता की अपेक्षा होती है, उसके स्वरूप का ही नाश हो जाय। यही अनर्थ है। कारण, कि हीन मनुष्य को अपनी इच्छा बताने से वह भगवान् का न रहकर हीन का ही हो जाता है, अतः अपने भगवदीय स्वरूप का नाश हो जाता है। इसलिये भगवदीयों को दूसरों की अपेक्षा नहीं रखनी चाहिये। इसे बताने के लिये आगे कहते हैं, कि लक्ष्मीजी सभी भगवदीयों में मुख्य हैं। वे दूसरों की हीनता दूर करने में समर्थ हैं, फिर उनका वह सामर्थ्य स्वतः कुछ भी कर सकने में समर्थ नहीं है इसलिये वह सामर्थ्य और भगवदीयपना निभ सके तदर्थ कार्य और कारण में उदासीन हुई वे भगवान् को ही भजती हैं, इसी प्रकार भक्तजन भी सब ओर से उदासीन हुये भगवान् को ही भजते हैं। अन्य भी ब्रह्मा आदि भगवान् के सेवक हैं। पृथ्वी कहती है, कि मैं भी भगवान् की पत्नी हूँ, लक्ष्मी की सपत्नी (सौत) हूँ, और वैसी ही वैभवशाली हूँ, अतः भगवान् द्वारा मेरा त्याग कर दिया जाना बहुत बड़ा अनर्थ है। इसे स्पष्ट करने के लिये लक्ष्मीजी का कार्य कहा जा रहा है। ब्रह्मादिक देवता लक्ष्मीजी के कटाक्ष पात की कामना रखते हैं। भगवान् में रखने वाले स्नेह के साथ उनमें भगवान् के विषय वाला काम भाव है। उस कामभाव के साथ समर्पण भाव को बताने वाली उठी हुई आधी दृष्टि को अपने ऊपर पात करवाने की भावना ब्रह्मादिक की है। उन भावों से युक्त वह आधी दृष्टि ही कटाक्ष कही गई है। उस कटाक्ष में भगवान्, भगवान् के विषय वाला काम भगवान् का स्नेह, लक्ष्मीजी और लक्ष्मीजी की दृष्टि ये पांच पदार्थ रहते हैं। वे सभी एक स्थान पर आना दुर्लभ है। वे तो लक्ष्मीजी की दृष्टि से ही सिद्ध होते हैं, अतः लक्ष्मीजी की दृष्टि हम पर हो, इसलिये ब्रह्मादिक भगवान् की शरण में गये हैं। वे भगवान् को हृदय में स्थापित करके, लक्ष्मीजी के कटाक्ष की इच्छा वाले ब्रह्मादिक देवता तप करते हैं। लक्ष्मीजी के वे कटाक्ष क्षण-क्षण में हजारों हो जाते हैं। ऐसे माहात्म्य वाले लक्ष्मीजी भी जिनके चरण कमलों की सेवा करते हैं, वे भगवान् कभी भी उनका त्याग नहीं करते। इसमें कारण बताते हैं कि भगवान् के चरण कमल बड़े दुर्लभ हैं और सेवा के लिये उनकी प्राप्ति होना तो और भी कठिन है। इस प्रकार लक्ष्मीजी का कार्य कहकर अब उनके द्वारा कारण का भी त्याग किया जाना बताया जा रहा है। लक्ष्मीजी अपने निवास रूप कमल वन को छोड़कर भी प्रभु के चरणों की सेवा करते हैं। किसी दूसरे स्थान में यदि सौवें भाग के बराबर भी आसक्ति हो जाय तो भगवान् के चरणों की सेवा मिलना

दुर्लभ है। इसलिये अपने जन्म स्थान रूपी कमल के वन को त्याग कर भगवान् के चरणों की सेवा करते हैं। कमल को वन कहकर सेवा न करने योग्य बताया गया है। वे लक्ष्मीजी प्रभु के चरण सौभाग्य को ही भजते हैं, अतएव भक्ति में निष्ठा वाले हुये हैं ऐसा कहकर पृथ्वी ने यह सूचित किया है, कि मैं भगवान् की चरण रूपा हूँ, अत: लक्ष्मीजी भी मेरा सेवन करते हैं। इस कारण मैं भगवदीयों में उत्तम हूं। वे लक्ष्मीजी भी चरणों की प्राप्ति रूप सौभाग्य वाले हैं। भगवान् के चरणों में लक्ष्मी का इतना अनुराग उनके प्रति अभीष्ट भाव को प्रकाशित करता है ।।३२।।

आभास—तन्मयि सर्वत्र स्थितमित्याह—

आभासार्थ—वे भगवान् के चरण मुझमें सभी स्थलों पर स्थित (अंकित) थे, इस विषय पर कहा जा रहा है—

श्लोक—**यस्याऽहमब्जकुलिशाङ्कुशकेतुकेतैः,**
श्रीमत्पदैर्भगवतः समलङ्कृताङ्गी ।
त्रीनत्यरोचमुपलभ्य ततो विभूतिं,
लोकान् समां व्यसृजदुत्स्मयतीं तदन्ते ।।३३।।

श्लोकार्थ—उन भगवान् के चरणों में कमल, वज्र, अङ्कुश तथा लक्ष्मीजी के चिह्न अंकित हैं, ऐसे उन चरणों से मैं अलंकृत रही हूं। उन चरणों को धारण करने से मैं विभूति को प्राप्त हुई, त्रिलोकी के ऊपर शोभित थी। मेरे अभिमान को दूर करने के लिये ही भगवान् ने मेरा त्याग कर दिया ।।३३।।

सुबोधिनी—यस्येति ।चरणमाहात्म्यमुक्त्वाऽपि पुनर्भगवद्ग्रहणं भगवताऽपि समलङ्करणार्थम्। स्वरूपतश्चरणोत्कर्षमाह-**अब्जकुलिशाङ्कुशकेतुकेतैरिति** ।भगवच्चरणे कमलाकृतिरेखा एकदेशस्य कमलत्वसंपादिकाः सन्ति ।तेन मकरन्दरूपामृतं तत्र फलं नियतमस्तीति सूचितम् ।तत्राऽधिकारिणो दुर्लभाः सर्वथा दोषरहिताः। तत्सङ्घाते विद्यमानानामसम्भावितम्। तदर्थं भगवच्चारणार-विन्द एव वज्राकारा रेखा वर्तते पापपर्वतानां छेदिका। अतस्तत्सेवायां प्रथमतः सर्वपापक्षयः। किञ्च। मनोनैश्चल्ये सर्वमेतत्सम्भवति। योगादिना च तत्साधने बहिर्मुखता स्यात्। अतो भगवच्चरणारविन्द एव सेवकानां मनोवशीकरणार्थमङ्कुशाकारा रेखा वर्तते। अतो भगवच्च-रणारविन्दमाहात्म्यादेव तत्सेवकानां ततो मनो न गच्छति। नाऽपि मार्गविरोधेन। नन्वेतत्सर्वं भजनान्तरं भवति। भजने प्रवृत्तिरेव दुर्लभा। कालकर्मस्वभावेभ्यो। भयसम्भवात् सर्वदा जीवानां भीतत्वान्न क्वापि स्वास्थ्यमित्याशङ्क्य भगवच्चरणारविन्द एवाऽभयपताकालक्षणा रेखा वर्तते-

ऽत्राऽऽगमनमात्रेणैव न कुतश्चिद्भयमिति सूचिका। एतान्येव केतानि चिह्नानि येषाम् । लक्ष्मीश्चाऽपि तत्र । तत्सङ्गे कटाक्षा ब्रह्मादयश्च तदाह—**श्रीमत्पदैरिति** । अत्राऽऽगतस्याऽन्यथाभावव्यावृत्त्यर्थमाह—**भगवत इति** । सम्यगलङ्कृतान्यङ्गानि यस्याः । वैष्णवानां चक्रादिचिह्नैरेव सम्यक्त्वम् । भगवच्चरणारविन्दस्पर्शे सात्त्विकभावेन तदंशे स्वेदाद्रेखासहितचरणाभिव्यक्तिः स्फुटा । एवमलङ्करणसहिता लोकत्रयस्य चाऽन्येषां च त्रित्वयुक्तानामनलङ्कृतत्वादत्यरोचमतत्क्रम्य कान्तियुक्ता जाता । किञ्च। भगवतोऽपि विभूतिमुपलभ्य । भगवानपि मयि शेत उपविशति भुङ्क्ते क्रीडत्यैश्वर्यं च करोति । एवं पूर्वसर्वसौभाग्ययुक्तां तां मामिदानीं व्यसृजत् । त्यागे हेतुः-**उत्स्मयतीमिति** । भूमिष्ठानां यादवादीनां भूम्युत्पन्नान्नभोजनेन गर्वदर्शनात्कारणगर्वानुमानम् । अन्नेनैव सर्वभावानामुद्भवात् । अतस्तदन्ते उत्स्मयनाशार्थं मां व्यसृजदित्यर्थ ।।३३।।

व्याख्यार्थ—उन प्रभु के चरण कमलों से मैं शृंगारित थी । चरणों का माहात्म्य बताने के उपरान्त भी भगवत् शब्द का प्रयोग इसलिये ग्रहण किया है, कि ऐसे उन चरणों से युक्त भगवान् द्वारा मैं शोभित थी । अब स्वरूप द्वारा चरणों के उत्कर्ष को कहा जा रहा है कि वे चरण, कमल, वज्र, अंकुश, ध्वजा के चिह्नों से युक्त थे । भगवान् के चरणों में कमल के आकार वाली रेखा उस चरण के एक भाग में कमलपने को सम्पादित करती है । जिससे (भक्तों के लिये) मकरंद रूपी अमृत का फल नियत होना सूचित होता है और उस मकरंद को प्राप्त करने वाले पूरी तरह से दोष रहित अधिकारियों का होना कठिन है । शरीर के संघात में प्रविष्ट (मैं और मेरे की भावना से युक्त) लोगों के लिये वह मकरंद फल मिलना असंभव है । भक्तों पर कृपा करने के लिये भगवान् के चरण कमल में वज्र के आकार वाली रेखा है, जो पाप के पर्वतों का छेदन कर देती है । अतः उन चरणों की सेवा से सबसे पहले समस्त पापों का नाश होता है । अधिक क्या कहूं, मन की चंचलता का विनाश इन चरणों के सेवन से ही सम्भव है । योग इत्यादि के साधनों से उन्हें प्राप्त करने के प्रयत्न में बहिर्मुखता ही हाथ लगती है । इसीलिये सेवकों के मनों को वश में करने के लिये भगवान् के चरणारविन्द में अंकुश के आकार वाली रेखा है । भगवान् के चरण कमलों के प्रताप से ही उनके सेवकों का मन भटकता नहीं और न ही सेवा मार्ग में किसी भी प्रकार की बाधा आती है । परन्तु यह सब भगवान् के भजन करने के बाद ही होता है । भजन में प्रवृत्ति हो जाना ही बड़ा कठिन है । यह सब सम्भावना काल, कर्म और स्वभाव के भय से है । जीव हमेशा ही इनसे डरा हुआ रहने के कारण कहीं भी स्वास्थ्य लाभ नहीं कर सकता इसी आशका से भगवान् के चरण कमल में ही अभय पताका के लक्षण वाली रेखा है,

कि निर्भय होकर इस चरण ध्वजा के नीचे चले आओ, यहां तुम्हें किसी का भी भय नहीं रहेगा, वह यह सूचित करती है। ऐसे उपर्युक्त चिह्नों से विभूषित भगवान् के चरण कमल जिनमें लक्ष्मीजी भी निवास करते हैं, अतएव उन चरणों के संग वाली लक्ष्मीजी के कटाक्ष की कामना ब्रह्मादिक करते हैं। इसीलिए तो "लक्ष्मीजी से युक्त चरण", कहे गये हैं। इस चरणारविन्द की शरण में आये हुए जीव को अन्यथा भाव नहीं होता, इसीलिए कहा गया है, कि उन प्रभु के चरणारविन्द द्वारा मेरा शृंगार हुआ था अर्थात् मेरे प्रत्येक अंग पर भगवान् के चरण कमल समस्त चिह्नों सहित अंकित हो गये थे। वैष्णव शंख चक्र आदि के चिह्नों को धारण करके ही योग्य होते हैं, वैसे ही भगवान् के सात्त्विक भाव युक्त चरणों के स्पर्श से उनकी रेखाओं के चित्र मुझ पृथ्वी मंडल पर मंडित हुए थे। मैं ऐसी शोभित हुई थी कि तीनों लोक अथवा तीन की संख्या वाले पदार्थ मेरी तुलना में कहीं नहीं ठहरते थे, शोभा की अतिशयता में उन तीनों लोकों की शोभा को उलांघ कर अति उत्तम कान्ति से देदीप्यमान् हुई थी। उस पर भी विशेषता यह थी, कि मैं भगवान् की विभूति से युक्त थी। मैं अपने सब प्रकार के सौभाग्य की कहाँ तक प्रशंसा करूँ, कि भगवान् मुझ पर पोढते थे, विराजते थे, भोजन पाते थे, क्रीड़ा करते थे और ऐश्वर्य मय बनाते थे; ओह, मुझे इन सभी बातों का अभिमान हो गया और हमें हमारे भगवान् छोड़ कर पधार गये। पृथ्वी पर रहने वाले यादवों में पृथ्वी से उत्पन्न अन्न का भोजन करने से अभिमान की उत्पत्ति देखने में आई। जिससे यादवों को कारण रूपा पृथ्वी को भी अभिमान होने का अनुमान हुआ; कारण, कि प्रत्येक प्रकार के भाव अन्न से ही उत्पन्न होते हैं, अतः प्रभु ने मेरे अभिमान को नष्ट करने के लिए मुझे त्याग दिया ॥३३॥

आभास—एवं मूलभूतामुपपत्तिं श्लोकद्वयेनोक्त्वा लौकिकीमुपपत्तिं श्लोकद्वयेनाऽऽह—

आभासार्थ—इस प्रकार मूलभूता उपपत्ति को कहकर अर्थात् भगवान् द्वारा पृथ्वी को त्याग किये जाने के कारण को दो श्लोकों में बताकर अब दो श्लोकोंद्वारा लौकिक युक्ति को कहा जा रहा है—

श्लोक—**यो वै ममाऽतिभरमासुरवंशराज्ञा-**
मक्षौहिणीशतमपानुददात्मतन्त्रः।

त्वां दुःस्थमूनपदमात्मनि पौरुषेण
सम्पादयन् यदुषु रम्यमबिभ्रदङ्गम् ।।३४।।

श्लोकार्थ—हे धर्म, भगवान् ने यादवों में मनोहर स्वरूप को धारण कर, तुम्हें पैर रहित होने व दुःखपूर्वक खड़े रह सकने वाले को अपने पराक्रम द्वारा पूर्ण पैरों वाला बनाया तथा असुर वंश में उत्पन्न होने वाले मेरे ऊपर अत्यधिक बोझ रूप राजाओं सहित सैंकड़ों अक्षौहिणी सेनाओं का नाश किया ।।३४।।

सुबोधिनी—यो वै ममेति। ममाऽतिभाररूपमक्षौहिणीशतमपानुदत् । भूम्युत्पन्नानां तद्भारत्वे हेतुः—**आसुरेति**। वंशपदेन तेषां गोत्राण्यत्र सन्तीति ज्ञापितम् । स्वस्य साधनापेक्षाभावायाऽऽह—**आत्मतन्त्र इति**। अनेन यादवरूपभारहरणमपि सूचितम् । वत्सोपकारमप्याह—**त्वां दुःस्थमिति**। रोगादिव्याप्तिवदधर्मव्याप्त्या दुःस्थता । ऊनपदत्वं कालात् । **आत्मनि पौरुषेणेति**। स्वयमन्तः प्रविश्य स्वपौरुषेण गतानंशान् सम्यक्सम्पादितवानित्युक्तम् । त्वां सम्पादयन्निति सम्बन्धः। त्वं हि प्रथमतः पूर्ण इति त्वदर्थं मदर्थमेव यदुष्वङ्गमबिभ्रत् । आवयोरेव रमणयोग्यम्। भगवदीया धर्मात्मानश्च रमन्ते ।।३४।।

व्याख्यार्थ—मुझ पर अतिभार रूप सैंकड़ों अक्षौहिणी सेनाओं को श्रीकृष्ण ने नष्ट किया । भूमि पर उत्पन्न होने से वे भार रूप थे, क्योंकि वे असुर वंश के थे । यहाँ वंश पद से यह बताया गया है कि उन असुरों के गौत्र हैं । उन भगवान् को किसी भी साधन की अपेक्षा नहीं है, अतः उन्हें आत्मतन्त्र कहा गया है । भगवान् स्वतन्त्र हैं, इससे यादवरूपी भार का हरण भी किया, यह सूचित किया है । अब धर्म रूप वत्स (बछड़ा) के उपकार को बताया जा रहा है । रोग आदि की व्याप्ति के समान अधर्म द्वारा प्रवेश कर लिये जाने से जो धर्म दुःखपूर्ण स्थिति को प्राप्त हो गया था, और काल के प्रभाव से जिसके पैर न्यून हो गये थे अर्थात् घट गये थे, ऐसे उस धर्म में स्वयं आत्म पौरुष से अन्तःकरण में प्रवेश होकर कलिकाल के प्रविष्ट अंशों को पूरी तरह निकाल बाहर किया । अर्थात् हे धर्म, तुम्हें भगवान् ने पुनः पूर्ण पद वाला बनाया, उपर्युक्त भाव से यह सम्बन्ध हुआ । इसलिये हे धर्म पहले तुम्हें पूर्ण बनाया अतः तुम्हारे लिये और मेरे लिये भगवान् ने यादव कुल में अपना श्री विग्रह धारण किया । ऐसा भगवान् का वह परम मनोहर स्वरूप हम दोनों के लिये रमण करने योग्य हुआ । क्योंकि जो भगवदीय और धर्मात्मा होते हैं, वे भगवान् के स्वरूप में रमण करते हैं ।।३४।।

ग्राभास—फलितमाह—

ग्राभासार्थ—भगवत् तत्त्व में रमण करने के फलस्वरूप उसका क्या परिणाम हुग्रा ? उस फलित को बताया जा रहा है—

श्लोक—**का वा सहेत विरहं पुरुषोत्तमस्य**
प्रेमावलोकरुचिरास्मतवल्गुजल्पैः ।
स्थैर्य्यं समानमहरन्मधुमानिनीनां
रोमोत्सवो मम यदङ्घ्रिविटङ्किताया: ।।३५।।

श्लोकार्थ—जिन भगवान् पुरुषोत्तम ने प्रेमयुक्त ग्रवलोकन सुन्दर व मन्द हँसी तथा मन को हरण करने वाले मीठे बोल बोलकर मथुरा निवासिनी मानिनी स्त्रियों की स्थिरता का हरण कर लिया ग्रौर जिनके चरण के चिन्हों से मेरा रोम-रोम उत्सव मनाया करता था ग्रर्थात् मैं रोमांचित हो जाती थी । ऐसे उन पुरुषोत्तम के विरह को भला कौन स्त्री सहन कर सकती है?।।३५।।

सुबोधिनी—**का वेति** । वेत्यनादरे । या भगवद्विरहं सहेत सा न काऽपीत्यर्थ । पुरुषमात्र-विरहोऽपि सोढुमशक्यः । किं **पुनः** पुरुषोत्तमविरह इति । उपकारपक्षो दूरे तिष्ठतु । कामेनाऽपि **न** विरहसहनमित्याह—**प्रेमेति** । त्रिभि: ससाधनैः सर्वा एव वशीकृता: सात्त्विका: (?) तामसा (?) राजसा:(?) च । तत्र सात्त्विका: प्रेमावलोकेन वशीकृता: । तामसास्तु **रुचिरस्मितेन** मनोहारिमोह-नेन राजसास्तु **वल्गुजल्पैः** मनोहरवाक्यैः। सात्त्विकेभ्यो भक्तिज्ञाने दत्वा वशीकृतवान् । तामसेभ्यो मोहाभावं वैराग्यं च दत्वा । राजसेभ्यो मुक्तिप्रमाणे दत्वा । ग्रत एव **मधुमानिनीनां** समानं **स्थैर्य्यमहरत्** । मथुरास्थानां मानिनीनाम । येन मानेन स्थिरीभूता: कामे मार्गे **वा** । वेदेन ज्ञानेन वा । ग्रात्मस्थितिम् । मध्विति भिन्नं वा पदम् । मानिनीनां रसं स्थैर्य्यादि च । किञ्च । ममाऽपि यदङ्घ्रिचिह्नितायाः सर्वदा रोमोत्सवः ।।३५।।

व्याख्यार्थ—वा ग्रव्यय का प्रयोग ग्रनादर ग्रर्थ में (भी) होता है । जो भगवान् के विरह को सहन कर जाय ऐसी कोई भी स्त्री नहीं है । जबकि स्त्रियाँ पुरुष के विरह को ही नहीं सह सकतीं तो फिर जो पुरुषों में उत्तम हैं उन पुरुषोत्तम के विरह को वे कैसे सहन कर सकती हैं । भगवान् ने स्त्रियों का उपकार किया है, इसलिये वे विरह सहन नहीं कर सकतीं, इस उपकार पक्ष को दूर ही रहने दें तो भी वे काम भाव से भी भगवान् का विरह सहन नहीं कर सकीं । क्यो सहन नहीं कर सकीं ? इस पर कहते हैं, कि प्रेम ग्रादि तीन साधनों से सात्त्विक, तामस ग्रौर राजस

स्त्रियों को भगवान् ने वशीभूत कर लिया था। प्रेम भरी चितवन से देखकर सात्त्विक स्त्रियों को वश में किया। मन को चुरा लेने वाली मुस्कान से तामस स्त्रियों को मोह लिया अर्थात् वश में किया और रस में सगबगे मीठे-मीठे वाक्य बोलकर राजस स्त्रियों को वश में ले लिया। सात्त्विकाओं को भक्ति का ज्ञान देकर वश में किया। तामसाओं में से मोह को निकालकर वैराग्य प्रदान किया और राजस स्त्रियों को युक्ति व प्रमाण देकर वशीभूत किया। इस प्रकार मथुरा में रहने वाली मधुमानिनियों का मान के साथ-साथ स्थैर्य भी हर लिया। जिस मान के द्वारा वे काम में अथवा मार्ग में स्थिरता को प्राप्त हो गई थी अथवा वेद के द्वारा या ज्ञान के द्वारा जिनके आत्मा की स्थिति में ठहराव उत्पन्न हो गया था उसे प्रवाहमय बना दिया। यदि 'मधु' शब्द को भिन्न करके अर्थ किया जाय तो रस अर्थ होता है। मानवतियों के रस और स्थैर्य का भगवान् ने हरण कर लिया। अजी, इससे अधिक और क्या कहा जा सकता है? कि उनके चरणकमलों के मुझ पर भी जो चिह्न अंकित होते थे उससे मेरे रोम-रोम सदैव पुलकायमान रहा करते थे ॥३५॥

आभास—एवं भगवद्विरहेण क्लिष्टयोः संवादे जायमाने अदूरे श्रुत्वा देवताधर्मसान्निध्यं बुद्ध्वा विश्वामित्रप्राच्यां कुरुक्षेत्रस्थसरस्वत्यामृषित्वादावश्यंक कर्त्तुं गत इत्याह—

आभासार्थ—इस प्रकार भगवान् के विरह में क्लेश पाते हुये पृथ्वी और धर्म के संवाद होते रहने पर, उसे पास में ही सुनकर, देवता व धर्म के सान्निध्य को जानते हुये विश्वामित्र की पूर्व दिशा में कुरुक्षेत्र के अन्तर्गत स्थित सरस्वती नदी में ऋषि होने से आवश्यक कार्य करने के लिये महाराज परीक्षित् पधारे—

श्लोक—**तयोरेवं कथयतोः पृथिवीधर्मयोस्तदा ।**
परीक्षिन्नाम राजर्षिः प्राप्तः प्राचीं सरस्वतीम् ॥३६॥

श्लोकार्थ—पृथ्वी और धर्म इन दोनों का संवाद जिस समय चल ही रहा था, कि उसी समय राजर्षि परीक्षित् पूर्व दिशा में स्थित सरस्वती नदी की ओर आये ।३६।

सुबोधिनी – तयोरिति। तदा संवादसमनन्तरमेव प्रसिद्धया तयोरतिरोभावो युक्त इति सूचितम् ॥३६॥

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मज श्रीवल्लभदीक्षित-
विरचितायां प्रथमस्कन्धे षोडशोऽध्यायः ॥१६॥

व्याख्यार्थ—जब पृथ्वी व धर्म का वार्तालाप हो रहा था उसी समय में राजा परीक्षित् वहाँ आये। उन्हें देखकर भी पृथ्वी और धर्म का तिरोभाव नहीं हुआ। राजा परीक्षित् के सामने उन दोनों की उपस्थिति पूरी तरह बनी रही। यह बात युक्तियुक्त तथा औचित्यपूर्ण है ।।३६।।

इति श्रीमद्भागवत महापुराण, प्रथमस्कन्ध के १६वें अध्याय की श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण कृत श्री सुबोधिनी (संस्कृत टीका) के 'उत्तमाधिकार प्रकरण' का दशम् अध्याय हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण

इस अध्याय की कथा का सारांश

हरि, हरि-भक्तनि कौ सिर नाऊँ। हरि, हरि-भक्तनि के गुण गाऊँ।
हरि, हरि-भक्त एक नहीं दोइ। पै यह जानत बिरला कोई।
भक्त परिच्छित हरि कौ प्यारौ। गर्भ मंझार हुतो जब बारौ।
ब्रह्म-अस्त्र तै ताहि बचायौ। जुग जुग बिरद यहै चलि आयौ।
बहुरि राज ताकौ जब भयौ। मिस दिग्विजय चहूं दिसि गयौ।
परजा सकल धर्म रत देखी। ताकै मन भयौ हर्ष विसेखी।
कुरुच्छेत्र मैं पुनि जब आयौ। गाइ वृषभ तहँ दुःखित पायौ।
तासु वृषभ के पग त्रय नाहिं। रोवति गाइ देखि कर ताहिं।
वृषभ धर्म पृथ्वी सो गाइ। वृषभ कह्यो तासौं या भाइ।
मेरें हेत दुःखी तू होत। कै अधर्म तो ऊपर होत।
गो कह्यो हरि वैकुंठ सिधारे। सम दम उनहीं संग पधारे।
दया धर्म सन्तोषहु गयौ। ज्ञान छमादिक सब लय भयौ।
जज्ञ सराध न कोऊ करै। कोऊ धर्म न मन मैं धरै।
अरु तुमकौ बिनु पाइनि देखी। मोहि होत है दुःख बिसेखी।

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

● श्रीमद् भागवत संहिता ●

श्री मद्वल्लभाचार्य चरण द्वारा विरचित

श्री सुबोधिनी (संस्कृत टीका)

हिन्दी अनुवाद सहित

प्रथम स्कन्ध

अध्याय—१७

उत्तमाधिकार प्रकरण अध्याय-११

महाराजा परीक्षित् द्वारा कलियुग का दमन ।

कारिकायें—ततः सप्तदशे धर्मपृथिवीसान्त्वनं विदः ।
भीतस्य स्थानदानञ्च कलेः शिक्षा च रूप्यते ॥१॥

प्रथमं मारणे भीतिस्तयोः स्वास्थ्यस्य च क्षयः ।
अतः सान्त्वनमग्रे च स्थानदानं विचारतः ॥२॥

विवेकस्थापनायैव धर्मवाक्यं ततोऽस्य हि ।
सर्वसामर्थ्यसम्बोधो वैराग्यं वक्तुमद्भुतम् ॥३॥

मूर्तीभूतास्त्रयो राज्ञे स्वखेदख्यापनाय तौ ।
वेषान्तरेऽपि तत्पीडाख्यापनाय स मारकः ॥४॥

सन्धानं वस्तुभूतस्य कृतं तेनाऽस्य च स्वयम् ।
कृतं भूमेस्तु हेतुनां शोकस्य विनिवारणात् ।।५।।

कारिकार्थ—अब इसके पश्चात् इस सत्रहवें अध्याय में उनके स्वरूप को जानने वाले राजा परीक्षित् के द्वारा पृथ्वी और धर्म को सान्त्वना देने का निरूपण किया जा रहा है और साथ ही भये पाय हुए कलियुग को स्थान देने व शिक्षा दिये जाने का विवरण भी प्रस्तुत किया जा रहा है।।१।। पहले ही यदि परीक्षित् कलियुग को मारते तो पृथ्वी और धर्म भयभीत हो जाते, जिससे उनके स्वास्थ्य का भी क्षय हो जाता, अतः पृथ्वी और धर्म को सान्त्वना दी गई है और इसके बाद कलियुग को स्थान देने का विचार किया है ।।२।। सुख और दुःख साथ हुए हैं, इस सन्देह में भिन्न-भिन्न अभिप्राय के वाक्य हैं । उनके रहते मोह को दूर करने वाले विवेक का स्थापन करने के लिए ही धर्म ने वचन कहे हैं । जिससे परीक्षित् को आधिदैविक व्यवहार जानने का सामर्थ्य प्राप्त हुआ, जिसे आगे उन्नीसवें अध्याय में उनके अद्भुत वैराग्य को बताया जावेगा । इस प्रकार परीक्षित् को प्रत्येक प्रकार के सामर्थ्य का सम्बन्ध कराया है ।।३।। परीक्षित् में इतना अलौकिक सामर्थ्य है कि उसे बताने के लिए पृथ्वी, धर्म और कलियुग प्रत्यक्ष मूर्तिमान् होकर स्थित हैं । उसमें अपना भेद प्रसिद्ध करने के लिए पृथ्वी तथा धर्म आये हैं और इन दोनों को मारने वाला कलियुग है जो राजा का वेश धारण किये हुए उन्हें पीड़ा दे रहा है । इस प्रकार परीक्षित् को जानकारी कराने के लिए कलियुग राजा के वेश में आया है ।।४।। परीक्षित् में अलौकिक सामर्थ्य है, इसे जान लेने के बाद, धर्म अपने पैरों को साध लेता है और आगे का वृत्तान्त कहने लगता है । उसमें धर्म के सत्य रूपी पैर को ग्रहण करके, कलियुग असत्य से उसे काट रहा था, उस सत्य को फिर से स्थापित किया । जिससे परीक्षित् ने धर्म को स्वयं ही आश्वस्त किया है । परीक्षित् ने पृथ्वी को आश्वासन देने हेतु परम्परागत रूप से शोक के कारणों को दूर किया है तथा धर्म के अन्य पैरों को साधने की शक्ति भी परंपरित रूप से देते हुए पृथ्वीं को सन्तोष बँधा दिया ।।५।।

आभास—एवं पूर्वाध्यायान्ते पूर्ववाहिन्यां सरस्वत्यां स्वातुं गत इत्युक्तम् । ततस्तत्र गतोऽधर्मं दृष्टवानित्याह—

आभासार्थ—इस प्रकार पहले वाले अध्याय में यह बताया गया था, कि राजा

परीक्षित् पूर्व वाहिनी सरस्वती नदी में स्नान करने के लिए गये थे। वहाँ जाने के बाद उन्होंने अधर्म को देखा; अब इसे कहा जा रहा है—

सूत उवाच–श्लोक—**तत्र गोमिथुनं राजा हन्यमानमनाथवत् ।**
दण्डहस्तञ्च वृषलं ददृशे नृपलाञ्छनम् ।।१।।

श्लोकार्थ—वहाँ अनाथ के समान मारा जाता हुआ गाय का जोड़ा राजा ने देखा और राजा का चिह्न धारण किये हुए शूद्र को देखा जो हाथ में दण्ड लिए हुए था ।।१।।

सुबोधिनी—तत्रेति । गोमिथुनं मिथुनवद्भासमानम् । वृषभं गां च । **अनाथवत्** । द्वितीयार्थे वतिः । नाथा भावयुक्तं वा । भगवतोऽप्रकटत्वात् । **वृषल** शूद्रम । महतां व्यक्तिदर्शनेनैव जातिपरिज्ञानात् । चिह्नानि तु राज्ञः । नृपस्य लाञ्छनमिव लाञ्छनं यस्य । एवं पाषाण्डधर्मं च दृष्टवानित्यर्थः ।।१।।

व्याख्यार्थ—राजा परीक्षित् ने वहाँ एक गाय का जोड़ा देखा। जोड़े के समान लगने के कारण यहाँ कहा गया है। क्योंकि उनमें एक गाय थी और दूसरा बैल। इनकी स्थिति अनाथ के समान थी मानो इनका कोई स्वामी ही न हो। भगवान् श्री कृष्ण ही इनके नाथ थे, उनके पधार जाने से ये अनाथ के समान हो गये। महान् व्यक्तियों को किसी व्यक्ति के देखने मात्र से उसकी जाति का ज्ञान हो जाता है। अतः राजा को यह जानने देर नहीं लगी, कि राजा के वेश को धारण करने वाला यह व्यक्ति मूलतः शूद्र है। तात्पर्य यह है कि राजा ने पाखण्ड धर्म को ग्रहण किये हुए कलिकाल को देखा ।।१।।

आभास—मिथुनस्य दीनत्वज्ञापनाय बर्णयति **वृषमिति** द्वाभ्याम् । अन्यथा पक्षपातोऽपि दोषः स्यात् ।

आभासार्थ—वह गाय का जोड़ा दीन स्थिति में था, यह बताने के लिए उनका वर्णन किया जा रहा है। यदि उनकी स्थिति दीनता को न हो तो उनका पक्षपात करना राजा के लिए दोष रूप हो जाय—

श्लोक—**वृषं मृणालधवलं मेहन्तमिव बिभ्यतम् ।**
वेपमानं पदैकेन वेपन्तं शूद्रताडितम् ।।२।।

गाञ्च धर्मदुघां दीनां भृशं शूद्रपदाहताम् ।
विवत्सां साऽश्रुवदनां कृशां यवसमिच्छतीम् ॥३॥

श्लोकार्थ—राजा ने देखा, कि एक बैल श्वेत कमल के समान धवल, भय के मारे मूत्र करता हुआ, एक पैर से काँपता हुआ, शूद्र से पीटा जाता हुआ पीड़ित हो रहा है ॥२॥ राजा ने यह भी देखा, कि एक गाय, जो धर्म को दोहने वाली, शूद्र के पैरों से अत्यधिक मार खाती हुई, दीन दशा को प्राप्त, वत्स (बछड़ा) से रहित, आँसुओं से भीगे हुए मुख वाली, दुबली हुई, यव (जौ) को खाने की इच्छा करती हुई स्थित है ॥३॥

सुबोधिनी—प्रथमं वृषं वर्णयति—**मृणालधवलमिति** । अब्जादिवत्कान्तियुक्तं श्वेतम् । अनेन स्वभावतः शुद्ध इत्युक्तम् । अन्यानि पञ्चाऽङ्गानि विकलानीत्याह । तत्र प्रत्यहं बाह्यक्षयः । **मेहनं** मूत्रणम् । कर्मक्षय उक्तः । **बिभ्यतमिवेति** भयेन ज्ञानाभाव उक्तः । इवेत्यनुकरणात् । अथवा । मूत्रस्थानातिरिक्तस्थानेभ्यो मूत्रमिव निःसरति । तेन रोगः सूचितः । एकेन पदाः वेपमानम् । कम्पनं द्विप्रकारम् । पादाभावेन जाड्येन च । तत्रैकेन पदा हेतुना वेपमानम् । चतुः-पदस्य पादत्रयगमने एकपादस्थितौ कम्पौ भवत्येव । ज्ञानसहिततपप्रभृतीनामभावात्केवलसत्ये धर्मस्थितिश्चञ्चला भवति । जाड्येन वेपन्तम् । पदार्थापरिज्ञानेन धर्मकृतिर्न निःकम्पा । **शूद्रताडितमिति** । कालवशेन शूद्रकर्तकधर्मस्य पाषण्डित्वेन धर्मव्यथाजननात्ताडनम् । दण्डेन ताडनं वृषस्य । पदा ताडन पृथिव्याः । कलिर्भूमिवधाय तिष्ठति । पाषण्डमार्गैश्च धर्मं व्यथयति । ददृश इत्येव सम्बन्धः । गां च वर्णयति । चकाराद्भयकम्पादयोऽस्या अपि । स्वभावत उत्तमेत्याह **धर्मदुघामिति** । धर्मग्निहोत्रादिकं दोग्धीति । धर्मदुर्घा (?) मिति पाठे प्रवर्ग्यदुग्धं दोग्धीति । अस्याः षडङ्गविकलत्वमाह । देशा-दिभिः सम्पन्ना भूः पुष्टा भवति । तद्भावे विकला । देशाना-मुत्तमानां दुष्टस्थित्या नाशाद्दीना । कालेनाऽपि पीडिता । पाषण्डैरुपभुज्यमानत्वात् । कलेः प्रथमपादत्वात्पदेत्येकवचनम् । एवं देशकालदोषौ निरूपितौ । **विवत्सामिति** कर्त्रभावः । वत्साः स्वस्वधर्मे मुख्याः पृथुदोहे निरूपिताः । तेषां साम्प्रतमभावः । अत एव **साश्रुवदनाम्** । अश्रुभिः सहितं वदनं यस्याः । अनेन मन्त्राभाव उक्तः । हर्षरूपास्ते । अपशब्दा अश्रूणि । कृशां द्रव्या-भावात् । यत्र यज्ञस्तत्र न यज्ञियानि द्रव्याणि । **यवसमिच्छतीं** यज्ञादिषु भागमिच्छन्तीम् अनेन कर्माभावः । एवमस्याः षडङ्गविकलत्वं सूचितम । अत्राऽपि पूर्ववत् क्रियासम्बन्धः ॥२॥३॥

व्याख्यार्थ—पहले वृषभ का वर्णन किया जा रहा है । वृषभ की कान्ति श्वेत कमल के समान हैं । इससे वह स्वभाव से शुद्ध है, यह बताया गया है । उसके अन्य पाँच अङ्ग व्याकुल हैं, जिससे वह प्रतिदिन बाहरी रूप से नष्ट होता जा रहा है । वह मूत्र करता जा रहा हैं अर्थात् कर्म की स्थिति का क्षय होता जा रहा है । वह डरा हुआ है अर्थात् उसमें से ज्ञान का अभाव हो गया है । 'इव' शब्द अनुकरण के

अर्थ में आया है। अथवा मूत्र स्थान के अतिरिक्त स्थानों से मूत्र के समान कर्म की अधोगति निकल रही है। इससे धर्म की रोग वाली स्थिति सूचित होती है। एक पैर से काँप रहा हैं। यहाँ काँपना दो प्रकार का है। एक ही पाँव होने से काँप रहा है अथवा धर्म में से अन्य तत्वों के निकल जाने से जो अभाव या जड़ता की दशा उपस्थित हो गई है, इसलिए काँप रहा है। जिसके चार पैर रहे हों और तीन पैर चले गये हों अब एक ही पैर पर खड़ा रहने का प्रयास कर रहा हो, तो वह स्वाभाविक ही काँपेगा। धर्म में से ज्ञान सहित तप आदि का अभाव हो जाने से और केवल सत्य के ही बच रहने से उसकी स्थिति में चंचलता आना स्वतः सिद्ध है। इस प्रकार की प्राप्त जड़ता से धर्म काँप रहा है। पदार्थ के वास्तविक ज्ञान के न होने से धर्म के कार्य कम्पन रहित न रह सके। वह बैल रूपी धर्म शूद्र से ताड़ित किया जा रहा है। कलिकाल के वशीभूत शूद्रों द्वारा किये जाने वाले आडम्बर पूर्ण पाखण्ड से भरे हुए धर्म के द्वारा सच्चे धर्म को पीड़ा हो रही है, इसे ताड़ना शब्द से कहा गया है। इस बैल रूपी धर्म को दण्ड से पीटा जा रहा है तथा गाय रूपिणी पृथ्वी को पाँव से मारा जा रहा है। कलिकाल भूमि के वध के लिए स्थित है। विभिन्न ढोंग भरे मार्ग वास्तविक धर्म को पीड़ित कर रहें हैं। राजा ने ऐसी स्थितियों को देखा, यह इस सारी बात का सम्बन्ध हुआ। अब गाय का वर्णन किया जा रहा है। मूल में 'च' आने से पृथ्वी डर भी रही है और काँप भी रही है। वह स्वभाव से अति उत्तमा है, ऐसा कहा गया है। वह धर्म रूपी दूध को प्रदान करने वाली है। अग्नि होत्रादि धार्मिक क्रियाओं के लिए उपयोगी पदार्थ उत्पन्न करती है। धर्म दुहा पाठ होने पर, वह मोक्ष रूपी दूध को दुहाती है, यह अर्थ होगा। इस पृथ्वी के छहों अङ्ग व्याकुल हैं, इसे कहा जा रहा है। देश आदि से भरी पूरी पृथ्वी पुष्ट होती है। जब देश का अभाव हो जाता है, तो वह व्याकुल हो जाती है। देश में उत्तम लोग निवास नहीं करते, प्रत्युत् दुष्ट जनों का ही सब ओर बोल बाला हो गया है, जो विनाश की स्थिति उत्पन्न करते हैं, अतः पृथ्वी दीन हो गई है। कलिकाल के द्वारा उसे पीड़ा दी जा रही है अर्थात् पाखण्डी लोग उसका उपभोग कर रहे हैं। कलि का प्रथम चरण होने से 'पदा' यह शब्द एक वचन में प्रयुक्त हुआ है। इस प्रकार देश और काल का निरूपण किया गया है। विवत्सा शब्द कर्त्ता के अभाव में कहा गया है। वत्स अपने अपने धर्मों का प्रतिनिधित्व करते हैं, जैसा कि राजा पृथु द्वारा पृथ्वी दोहन के प्रसंग में निरूपित किया गया है। वैसे वत्सों का अभाव हो गया जो विभिन्न पदार्थों के

उत्पत्ति विषयक अनुसन्धानों और प्रयत्नों में जुटे हुये थे । अतएव उसका मुख आँसुओं से भीगा हुआ है । इससे मन्त्रों का न रहना बताया गया है । मन्त्र पृथ्वी के हर्ष को बताते हैं और बुरे शब्दों के उच्चारण उसके आँसू हैं । श्रेष्ठ पदार्थों की कमी आ जाने से पृथ्वी को दुबली कहा गया है । जहाँ यज्ञ होते हैं, वहां यज्ञ के अनुकूल प्रयोग में आने वाली वस्तुयें नहीं हैं, यही उसका कृश हो जाना है । वह यवों की इच्छा करती है अर्थात् यज्ञ आदि में भाग पाने की कामना रखती है । इस प्रकार पृथ्वी पर से सभी कर्म लुप्त हो गये हैं, यही उसके छह अंगों की व्याकुलता का सूचक है । यहां भी पहले के समान वृषभ की स्थिति के अवलोकन कार्य की तरह गाय रूपी पृथ्वी के कार्यावलोकन या स्थिति को देखने का सम्बन्ध है ।।२।।३।।

आभास—एवं दृष्ट्वा मारकस्याऽपूर्वत्त्वात्तं पृच्छति मारयितुम् । अन्यथाऽविचारितकर्त्तृत्वं स्यात् । अत एव ससामग्रीकः पृच्छतीत्याह—

आभासार्थ—इस प्रकार धर्म और पृथ्वी की स्थिति को देखकर तथा पहले कभी न देखे गये उस मारने वाले कलिकाल को देखकर उसे मारने के लिये परीक्षित् पूछते हैं । यदि पूछें नहीं तो बिना सोचे-विचारे काम करने वाले कहलायें । अतः युद्ध के पूरे साजो-सामान के साथ प्रश्न किये जाने को कहा जा रहा है—

श्लोक—**पप्रच्छ रथमारूढः कार्त्तस्वरपरिच्छदम् ।**
मेघगम्भीरया वाचा समारोपितकार्मुकः ।। ४ ।।

श्लोकार्थ—स्वर्ण मन्डित रथ पर आरूढ, सज्जित धनुष वाले राजा परीक्षित् ने मेघ गम्भीर वाणी से पूछा ।। ४ ।।

सुबोधिनी पप्रच्छेति । कार्त्तस्वरेति राजत्वख्यापकम् । कार्त्तस्वरं सुवर्णम् । तस्य परिच्छदा यस्य । अनेन महत्त्वज्ञानात्सहसाऽनतिक्रमः सूचितः । **मेघगम्भोरयेति** तप्तानां कृपावर्षणात् । **गम्भीरेति** शब्दश्रवणेनैव शत्रूणां मज्जनम् । एवं वाक्यो दुष्टनिग्रहशिष्टपरिपालने सूचिते । **समारोपितकार्मुक इति** । अयुक्तवचनमात्रेणैव परिज्ञातो मारणीय इति ।४ ।।

व्याख्यार्थ—कार्तस्वर (सोना) राजापने को बताने वाला है । सोने के आवरण से बने हुये रथ पर राजा परीक्षित् बैठे हुये थे । इससे उनको अपने महत्त्व का

ज्ञान है, अतः एकदम किसी कार्य को न कर डालने वाली बात सूचित होती है। मेघ गम्भीरता से तपे हुओं पर कृपा की वर्षा करने का अभिप्राय है। गम्भीर शब्द के सुनने मात्र से ही शत्रुओं का डूब जाना अर्थ निकलता है। इन वाक्यों से दुष्टों का निग्रह तथा सज्जनों का परिपालन सूचित होता है। चढ़े हुये बाण वाले धनुष से अनुचित वचन बोलते ही तत्काल मार देने की स्थिति स्पष्ट होती है ।।४।।

आभास—प्रश्नमाह **कस्त्वमिति** द्वाभ्याम्। अज्ञाननिश्चयभेदात्। अधिक्षेपार्थो वा द्वितीयः।

आभासार्थ—"तुम कौन हो?" राजा द्वारा कलियुग से ऐसा प्रश्न किया जाना दो श्लोकों में वर्णित है। पूर्व में उसे न जानने की स्थिति और जान लेने पर निश्चय की स्थिति के भेद से यह प्रश्न दो भागों में विभक्त है। अथवा दूसरा श्लोक उसके अपमान किये जाने को बताता है—

श्लोक—**कस्त्वं मच्छरणे लोके बलाद्धंस्यबलान् बली।**
नरदेवोऽसि वेषेण नटवत् कर्मणाऽद्विजः ।। ५ ।।
कस्त्वं कृष्णे गते दूरं सह गाण्डीवधन्वना।
शोच्योऽस्यशोच्यान् रहसि प्रहरन् वधमर्हसि ।। ६ ।।

श्लोकार्थ—मेरी शरण को प्राप्त इस लोक में निर्बलों को अत्याचार पूर्वक मारने वाला तू बलवान् कौन है? वेष से तो तू राजा लगता है, परन्तु तेरा यह वेश नटों के समान है, क्योंकि तेरा कार्य शूद्रों जैसा है ।।५।। गान्डीव धनुषधारी अर्जुन के साथ श्री कृष्ण के दूर पधार जाने पर शोक करने योग्य तू कौन है? जो निरपराधियों को एकान्त में मार रहा है। अतः तू वध करने योग्य है ।।६।।

सुबोधिनी—अहमेव शरणं रक्षको यस्य तादृशे लोके। **बलात्**। विधिव्यतिरेकेण। **अबलान्**। अशस्त्रभूतान् दीनान्। **बलीत्यनेन** आपदभावः सूचितः। चिह्नैरेव परिज्ञायतामित्याशंक्याऽऽह। वेषेण केवलं नरदेवोऽसि। न राजा त्वम्। सामग्र्यभावात्प्रसिध्द्यभावाच्च। **नटवदिति** राज्ञामुपहासार्थं तादृशं रूपं कृत्वा धर्मभूरक्षायां कर्त्तव्यायां विपरीतकरणम्। तथाऽपि न भवसीत्याह। कर्मणा **अद्विजः** शूद्रः। न हि द्विजा गां पदा ताडयन्ति। **अद्विजः** इत्येनन द्वितीयजन्मनि जाते कर्त्तव्याकर्त्तव्यविवेको भवेत्। तदभावात्पदाऽपि ताडयतीत्यर्थः। तथापि ताडनपरं निर्भर्त्सयति। **कस्त्वमित्यधिक्षेपे**। अहमेतादृश एवेति चेत्? कथं कृष्णे अर्जुने च विद्यमाने न

प्रकट: । अतो धर्मकर्त्तरि कारयितरि च प्रचलिते त्वं क: । कुत्सित एव । तद्गमनानन्तरमयमहमित्यागत श्चोरो भवति । ताभ्यां राज्येऽयिरूपणात् । बलाच्चेद्राजा भवितुमिच्छसि तदा शोच्योऽसि सापराधोऽसि । किञ्च । अशोच्यान् । अनपराधान् । एकान्ते प्रहरन् सुतरां सापराधोऽसि । अतो वधमर्हसि । नान्यं दण्डमिति भाव: ।।५।।६।।

व्याख्यार्थ— मैं ही जिस लोक का रक्षक हूँ, उसमें बल पूर्वक नियम के विरूद्ध चलने वाले तुम कौन हो ? जो किसी के शत्रु नहीं हो सकते, ऐसे दिनों को तुम हठपूर्वक मार रहे हो । बलवान् होने से तुम पर कोई विपत्ति नहीं आ सकती, यह सूचित हुआ । मैं कौन हूं ? मैरे चिह्नों को देखकर ही जाना जा सकता है; ऐसी शंका होने पर कहते हैं, कि तुम वेश से ही राजा लगते हो, वस्तुत: तुम राजा नहीं हो । क्योंकि न तो तुम्हारे पास राजा होने जैसे साजो-सामान हैं और न लोक में तुम्हारी प्रसिद्धि हैं । तुम तो नट के समान हो । राजाओं का उपहास करने के लिये तुमने वैसा रूप बना लिया है । क्योंकि राजा होते तो भूमि की रक्षा करते, धर्म की रक्षा करते; तुम तो इन कर्त्तव्यों से उल्टा कार्य कर रहे हो । तुम तुम्हारे आचरण से भी राजा जैसे नहीं लगते । तुम्हारे काम तो शूद्रों जैसे हैं । क्योंकि जो द्विज (जिन का जन्म संस्कार के बाद यज्ञोपवीत संस्कार रूपी ज्ञानात्मक जन्म हो अर्थात् 'द्वि' दो, 'ज' जन्म, जिसका दो बार जन्म हो) होते हैं, वे गाय को पैर से नहीं मारते । दूसरा जन्म होने पर तो कर्त्तव्य व अकर्त्तव्य का विवेक हो जाता है, तुममें इसका अभाव है, इसीलिये तो गाय को पैर से मार रहे हो । उस मारने वाले कलियुग का अपमान करते हुये राजा परीक्षित् कहते हैं, कि "तू कौन है ?" इस 'तू' का प्रयोग अपमान किये जाने के अर्थ में होता है । क्या मुझे नहीं जानते ? मैं ऐसा हूं, कलि यदि ऐसा कहे, तो परीक्षित् पूछते हैं, कि जब कृष्ण और अर्जुन इस भूमि पर विद्यमान थे, तब क्यों नहीं सामने आया ? जब धर्म के करने वाले और करवाने वाले चले गये तब तुम अब कौन आ गये हो ? निश्चय है, कि तुम बुरे व्यक्ति हो । उनके जाने के बाद अब मैं चला आया हूं, यदि कलि ऐसा कहे, तो परीक्षित् कहते हैं, कि पीछे से आये हो तो तुम चौर हो । क्योंकि उनके राज्य में उसने तुम्हारा स्थान निर्धारित नहीं किया था । यदि तुम जबरन राजा बनना चाहते हो तो शोक करने के योग्य हो, और अपराधी हो । इससे बड़ा अपराध और क्या हो सकता है ? कि निरपराधियों को तुम एकान्त में मार रहे हो, अत: तुम अपराधी हो । तुम बध कर देने योग्य हो, इसके अतिरिक्त तुम्हारे लिये और कोई दण्ड नहीं है ।।५।।६।।

आभास—एवं मारयितुं विचारयन्नुत्तराकथनात्सन्दिग्धस्तयोः सापराधत्वमाशङ्क्य सान्त्वनार्थं पृच्छति—

आभासार्थ—उस कलिकाल को इस प्रकार मारने के लिये विचार करते हुये, गाय और पृथ्वी उन दोनों के द्वारा कुछ भी न कहे जाने पर, उनके अपराधी होने की आशंका को लेकर उन्हें सान्त्वना देने के लिये महाराज परीक्षित् पूछते हैं—

श्लोक—**त्वं वा मृणालधवलः पादैर्न्यूनः पदा चरन् ।
वृषरूपेण किं कश्चिद्देवो नः परिखेदयन् ।। ७ ।।**

श्लोकार्थ—आपका मृणाल (कमल) समान धवल (श्वेत-सफ़ेद) वर्ण है, क्या वृषभ (बैल) रूपधारी कोई देवता हैं ? तीन पैरों से रहित, एक ही पैर से चलते हुये, आप हमें खेद पहुँचा रहे हैं ।।७।।

सुबोधिनी—**त्वं वा मृणालधवल इति** । प्राकृतवृषभस्य कान्तियुक्तशुभ्रता दुर्लभा । एकपदा च गमनम् । अत इदं प्राकृतपशोरसम्भावितमिति कश्चित् देव एव किं भवान् ? न हि पशुरूपा देवा एतादृशा भवन्ति । तर्हि वृषरूपेण नः अस्मान् खेदयन् किं देवः ? पूर्वमपि श्रूयते शिबिप्रभृतिष्वग्न्यादयो रूपान्तरेण गता इति । कथमयं राजाऽस्मान् ज्ञास्यतीति ।। ७ ।।

व्याख्यार्थ—आप कमल की तरह श्वेत वर्ण वाले हो, ऐसी कान्ति युक्त शुभ्रता प्राकृत (प्रकृति के तत्त्वों से बने हुये) वृषभ का होना कठिन है, साथ ही वह एक पैर से नहीं चल सकता । अतः प्राकृत पशु की असम्भावना से परीक्षित् पूछते हैं, कि क्या आप कोई देवता ही हैं ? पशु रूप देवता ऐसे नहीं होते । तो क्या वृषभ रूप से हमें खेद पहुँचाते हुये कोई देवता हो ? शिबि आदिकों के सम्मुख अग्नि आदि देवताओं का दूसरे रूपों में जाना पहले भीं सुना गया है । अब वृषभ रूप धर्म ने सोचा कि क्या यह राजा हमें जान जायेगा ? ।।७।।

आभास—पदा भूस्पर्शान्नाऽयं देव इति निश्चित्याऽऽह—

आभासार्थ—पैर से भूमि का स्पर्श होता हुआ देखकर; यह देवता नहीं हैं, ऐसे निश्चय के साथ राजा कहता है—

श्लोक—**न जातु कौरवेन्द्राणां दोर्दण्डपरिरम्भिते ।
भूतलेऽनुपतन्त्यस्मिन् विना ते प्राणिनां शुचः ।।८।।**

मा सौरभेयाऽनुशुचो व्येतु ते वृषलाद्भयम् ।
मा रोदीरम्ब भद्रं ते खलानां मयि शास्तरि ॥९॥

श्लोकार्थ—कुरुवंश के राजाओं द्वारा दण्ड विधान से आरक्षित अथवा भुजाओं से आलिंगित इस भूतल पर आपके अतिरिक्त और किसी के भी आँसू नहीं गिर रहे हैं ॥८॥ हे सुरभि के पुत्र, आप शोक न करें । शूद्र से उत्पन्न भय अब जाता रहा है । हे माताजी, आप भी अब रोइये नहीं, दुष्टों पर शासन करने वाले मेरे रहते आपका कल्याण है ॥९॥

सुबोधिनी—न जात्विति । त्वद्व्यतिरेकेणाऽस्मद्राज्ये श्रुतो दृष्टो वा न कस्यचिच्छोकाश्रूणि भूमौ पतन्ति । तत्राप्यस्मिन् **कौरवेन्द्राणां** कुरुवंशराज्ञां **दोर्दण्डपरिरम्भिते** आलिङ्गिते भूतले । न हि महाराजोपभुज्यमाना भूः क्लिष्टा भवति । तव तु स्वरूपं न ज्ञायत इति भावः । खेदो वाऽनेन विवृतः । ननु राज्ञामेवं कथनमनुचितमित्याशङ्क्याऽऽह । **हे सौरभेय** सुरभ्याः पुत्र । अनेनाऽस्य मध्यमभावो निरूपितो नाऽयं देवो न प्राकृत इति । किन्तु कामधेनुपुत्रो वृषभोत्तम इति । अतस्त्वं मा शुचः । ते वृषलाद्भयमपगच्छतु । वृषलं मारयिष्यामीति भावः । एवं वृषभसान्त्वनमुक्त्वा सुरभिसान्त्वनमाह—**मा रोदीरिति** । हे अम्ब ! सर्वदा त्वद्दुग्धपानान्मातृत्वम् । स्नेहेन वा । ते भद्रम् । मदागमनं तव कल्याणमित्यर्थः । अत एव मा रोदीः । तर्हि तावत्कालं कथं न ज्ञातम् ? तत्राऽऽह—**मयीति** । शास्तरि सति । यदाऽहमस्य शासनं करिष्यामि तदा तव भद्रम् । निमित्ताभावात्पूर्वं न जातमिति भावः ॥८॥९॥

व्याख्यार्थ—हे वृषभ, आपके अतिरिक्त हमारे राज्य में किसी के भी शोक के आँसू इस भूमि पर गिरते हुये न तो हमने देखे और न ही सुने । तिस पर भी हम कौरव वंश के राजाओं की दण्ड रूप भुजाओं से यह धरती आलिंगित है अर्थात् हमारा शासन चक्र समस्त पृथ्वी पर प्रतिष्ठित है । महान् राजाओं से भोगी गई पृथ्वी कभी भी क्लेशित नहीं होती । आपके स्वरूप को हम नहीं जान पाये, यह भाव हुआ । अथवा वृषभ खेद का ही प्रतिबिम्ब है । कहीं ऐसा तो नहीं कि राजा का यह कथन अनुचित हो, इस आशंका से कहा जा रहा है—हे सुरभि के पुत्र; इससे वृषभ का मध्यम भाव निरूपित हुआ है, कि न वह देवता है और न ही प्राकृत है । किन्तु कामधेनु का पुत्र होने से आप वृषभों में उत्तम हो, अतः किसी प्रकार का शोक न करो, शूद्र से उत्पन्न हुआ भय समाप्त हो गया है । शूद्र को मैं मार दूंगा, यह भाव हुआ । इस प्रकार वृषभ को सान्त्वना देकर अब सुरभि को धीरज बंधाते हुये कहते हैं, कि मत रोइये । हे माताजी, सदैव आपके दुग्ध पान करने से आपमें मातापना

सिद्ध है। अथवा स्नेह के सम्बन्ध से आप माता हैं। आपका कल्याण है। मेरे आ जाने से आपका कल्याण हो गया समझो, यह अर्थ हुआ। अतः आप रोइये मत। (पृथ्वी यह कहती है, कि) तो फिर आपने मेरी पीड़ा को इतने समय तक कैसे नहीं जाना? उस प्रसंग में कहा गया है, कि अब मेरा शासन काल है। अब मैं इस कलि काल पर अपनी आज्ञा प्रभावित करूंगा, अथवा इसे दण्डित करूंगा और अब आप का कल्याण होगा। कारण उपस्थित न होने से आपकी पीड़ा पहले नहीं जान सका, यह भाव हुआ ॥८॥९॥

आभास—नन्वस्मन्निमित्तं त्वयाकिमर्थं मारणीयः? तत्राऽऽह—

आभासार्थ—हमें निमित्त बनाकर आप (इस शूद्र को) भला क्यों मारने लगे? उस प्रसंग में कहते हैं—

श्लोक—**यस्य राष्ट्रे प्रजाः सर्वास्त्रस्यन्ते साध्व्यसाधुभिः।**
तस्य मत्तस्य नश्यन्ति कीर्त्तिरायुर्भगो गतिः ॥ १० ॥

श्लोकार्थ—हे साध्वि, जिस राजा के राष्ट्र में सारी प्रजा असाधु लोगों से पीड़ित रहती हो, उस असावधान राजा की कीर्ति, आयु, ऐश्वर्य तथा गति नष्ट हो जाती हैं ॥१०॥

सुबोधिनी यस्येति। स्वार्थमेवाऽयं मारणीयोऽस्मदपकारित्वादिति तस्याऽपकारमाह। हे साध्वि। यस्य राष्ट्रेऽसाधुभिः प्रजास्त्रस्यन्ते तस्य चत्वारि नश्यन्ति। नाशाननुसन्धाने हेतुमाह—**मत्तस्येति**। चत्वारि गणयति—**कीर्त्तिरिति**। **भगो** भाग्यम्। **गतिः** परलोको ज्ञानं वा ॥१०॥

व्याख्यार्थ—मैं इसे अपने कर्त्तव्य की दृष्टि से मार रहा हूं, क्योंकि इसने हमारा अपकार (बुरा विचारा है) किया है। उसके अपकार को कहा जा रहा है, कि हे साध्वि, जिस राष्ट्र में दुष्ट पुरुषों से प्रजा आतंकित रहती है, वहाँ के राजा की चारों वस्तुयें नष्ट हो जाती हैं। नाश के विषय में खोजपूर्ण कारण बताया गया है, कि राजा अपने दायित्व बोध से असावधान रहता है, ऐसी उसकी मत्त स्थिति के कारण गिनाई गई चारों स्थितियां—आयु, यश, ऐश्वर्य अथवा भाग्य तथा गति, अर्थात् परलोक सम्बन्धी ज्ञान नष्ट हो जाते हैं ॥१०॥

आभास—किञ्च । न केवलमेतदरक्षणे दोष इत्येतद्रक्षणम् । तथा सति काम्यता स्यात् । किन्त्वेतद्रक्षणं विहितमपीति नित्यता । तस्मान्नियतविधिबोधितत्वादेव करिष्यामीत्याह—

आभासार्थ—और अधिक क्या कहूं ? इसकी रक्षा न की जायेगी तो दोष लगेगा, इसलिये रक्षा करना चाहिये, ऐसा विचार तो एक कामना हो गई । किन्तु प्रजादि की रक्षा करना चाहिये; इस निश्चित किये गये सिद्धान्त के अनुसार राष्ट्र और प्रजा की रक्षा एक नित्य की जाने वाली वास्तविकता है । इसलिये नियत किये गये नियमों के आधार पर ही मैं यह रक्षा का कार्य करूंगा, ऐसा परीक्षित् उस धर्म व पृथ्वी से कह रहे हैं—

श्लोक—एष राज्ञः परो धर्मो ह्यार्त्तानामार्त्तिनिग्रहः ।
अत एनं वधिष्यामि भूतद्रुहमसत्तमम् ।। ११ ।।

श्लोकार्थ—संकट में पड़े हुये लोगों का दुःख दूर करना ही राजा का सबसे बड़ा धर्म है और यह कलि-काल बड़ा ही दुष्ट है तथा प्राणियों से द्रोह की भावना रखता है, अतः मैं इसे मारूंगा ।।११।।

सुबोधिनी—एष राज्ञ इति । एष इत्यङ्गुल्या निर्दिशति । एतादृशानां रक्षणं राज्ञः परो धर्मः । प्रजारक्षापेक्षयाऽयमेव परो धर्मो यदार्त्तानामार्तिनिग्रहः । आर्तेभ्यो दानाद्यपेक्षयाऽप्यार्तिनिग्रहः परो धर्मः । ततः किम् ?अत आह—**अत एनमिति** । स्वधर्मपरिपालनार्थमेवैनं वधिष्यामि । ननु साक्षाद्वधे अधर्मः । रक्षायां परम्परया धर्मः तत्कथं हनिष्यसीत्यत आह—**भूतद्रुहमिति** । सर्वेभ्यो भूतेभ्यो द्रुह्यतीत्येतद्वधे भूतानां जीवनं भवति । एतदवधे बहूनां मरणम् । अतो लाघवादेकस्यैव मरणं वरम् । ननु साक्षान्निषेधविधिविषयोऽयम् । अन्ये तु न स्वकर्तृकहिंसाविषयाः । अतो बहुत्वमप्रयोजकमित्याशङ्कयाऽऽह—**असत्तममिति** । न ह्यस्य वधेऽधर्मोऽस्ति । दुष्टनिग्रहादेर्विहितत्वात् । अत एतद्वधे त्रयं सिद्ध्यति । दुष्टनिग्रहविधिपरिपालनं भूतद्रोहनिषेधविधिपरिपालनमार्त्तानामार्त्तिनिग्रहविधिपरिपालनं चेति ।। ११ ।।

व्याख्यार्थ—'एष' शब्द अंगुली में इंगित किये जाने के अर्थ में प्रयुक्त होता है । इस प्रकार के दुःखी प्राणियों की रक्षा करना राजा का सबसे बड़ा धर्म है । प्रजा की रक्षा करने की तुलना में यह महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्य है, कि आर्त्तों की आर्त्ति का निग्रह किया जाय अर्थात् पीड़ितों की पीड़ायें दूर की जायें । दुःखी व्यक्तियों को दान आदि

देने की अपेक्षा भी उनके संकटों का निवारण करना अधिक दायित्व पूर्ण कार्य है। तो इन सब बातों से क्या ? इसके उत्तर में कहते हैं, कि मैं इसे अपना धर्मपालन करने के लिये ही मारूंगा। तो फिर कहीं प्रत्यक्ष वध करने से अधर्म तो नहीं हो जायेगा ? रक्षा कार्य के अन्तर्गत ऐसा वध परम्परा से धर्म ही माना जाता रहा है। तो यह कैसे मारा जायेगा ? इस पर कहते हैं, कि समस्त प्राणियों से द्रोह रखने वाले का वध प्राणियों के लिये जीवन होता है। यदि इसे नहीं मारा जायेगा तो यह बहुतों को मार डालेगा। इसलिये बुद्धिमानी का लाघव (कुशलता) यही है, कि एक को मार देना ही श्रेष्ठ है। यह तो प्रत्यक्ष रूप से क्या करना चाहिये और किसे नहीं करना चाहिये आदि विधि निषेध का विषय है। दूसरों में तो अपने द्वारा अपने स्वयं के प्रयोजन से वध किये जाने को ही हिंसा का विषय बताया गया है। परन्तु बहुत से लोगों की हिंसा करने वाले एक को मार डालना हिंसा नहीं कहलाता। इसी आशंका से कहते हैं, कि कलि असत्तम (दुष्ट) है। अतः इसका वध करने में अधर्म नहीं है। दुष्टों को नियन्त्रण करने में वेद की आज्ञाओं का ही पालन होता है। इसलिये इसके वध से तीनों बातें सिद्ध होती हैं। दुष्टों को वश में रखने से वेदाज्ञा का पालन, प्राणियों के प्रति द्रोह का निषेध रूप संरक्षण तथा दुःखियों के दुःख को दूर करने से वेद विधि का पोषण; इन तीनों प्रकारों से वेद विहित कर्म सम्पन्न होता हैं ॥११॥

आभास—सुरभिसान्त्वनविधिप्रस्तावेन तद्वधमुक्त्वा सौरभेयार्थमपि तद्वधो भवत्विति तं पुनः पृच्छति—

आभासार्थ—सुरभि को सान्त्वना देने के विधि प्रस्ताव द्वारा कलि-काल के वध को कहकर अब पुनः सुरभि के पुत्र बैल से भी उस कलि का वध होने के लिये पूछते हैं—

श्लोक—**कोऽवृश्चत्तव पादांस्त्रीन् सौरभेय चतुष्पद।**
मा भूवंस्त्वादृशा राष्ट्रे राज्ञां कृष्णानुवर्त्तिनाम् ॥ १२ ॥

श्लोकार्थ—हे चार पैर वाले सुरभि के पुत्र आपके तीन पैर किसने नष्ट कर दिये। श्री कृष्ण का अनुसरण करने वाले राजाओं के राज्य में आपके समान कोई न होवें ॥१२॥

सुबोधिनी - **कोऽवृश्चदिति** तव त्रीन् पादान् कोऽवृश्चदच्छिनत् । यथापराधं दण्ड: कर्त्तव्य: । सुरभ्यास्ताडनमात्रमनेन् कृतम् । तन्निवारणपूर्वकताडनेनाऽपि प्रतीकारो भवति । पादत्रयच्छेदे त्वस्याऽपि पादद्वयं हस्तश्च च्छेत्तव्य: । तत: कथयेत्यर्थ: । **चतुष्पदेति** सम्बोधनादवश्यं पूर्व पादचतुष्टयं स्थितमिति ज्ञापितम् । ननु तस्याऽपि पादच्छेदेन मम क: पुरुषार्थ: स्यात् ? तत्राऽऽह—**मा भूवन्निति** । यथा भवान्जातस्यथाऽन्येऽप्यस्मिन् जीवति मा भूवन्नित्येतन्निग्रह कर्त्तव्य: । ननु त्रिविधा (?) राज्ये भवन्ति । कोऽयमाग्रह: सर्वथाऽयं मारणीय इति ? तत्राऽऽह—**राज्ञां कृष्णानुवर्त्तिनामिति** । अन्येषां राज्ये भवन्तु नाम । भगवत्सेवकानां राज्ये न युक्ता: । यतोऽयमत्रत्यै: सर्वैरेव भगवान् सेव्य: । इन्द्रियविकलास्तु सेवितुं नाऽर्हन्ति । अतस्तादृशा न युक्ता: ।।१२।।

व्याख्यार्थ—आपके तीन पैरों को किसने काटा है ? जैसा अपराध हो वैसा ही दण्ड किया जाना चाहिये । सुरभि का तो कलि-काल द्वारा पैर से ताड़न मात्र किया गया है । उस अपराध का प्रतीकार तो कलि को पीटकर भी किया जा सकता है, पर इसने आपके तीन पैरों को काटा है: अत: इसके दो पैर तथा एक हाथ को काट देना चाहिये । तब इसका अर्थ स्पष्ट करते हैं—कि राजा के सम्बोधन से यह जानकारी मिल जाती है, कि इस स्थिति से पूर्व वृषभ के चार पैर स्थित थे । उसके पैर काट देने से भी मेरा कौनसा पुरुषार्थ सिद्ध हो जायेगा ? इस विषय में कहा जा रहा है—कि फिर से कलियुग ऐसी अनुचित चेष्टा न कर सके । जैसे कलियुग ने आपकी स्थिति बना दी है, वैसे ही इस लोक में जो दूसरे लोग जी रहे हैं, उनकी भी ऐसी ही दशा न कर दी जावे, इसलिये इस पर काबू करना ही चाहिये । किसी भी राज्य में तीन प्रकार की प्रजा निवास करती है, सुखी-दु:खी और साधारण । तो फिर ऐसा आग्रह क्यों ? कि इसे सर्वथा ही मार दिया जावे । तब कहा जा रहा है—कि श्री कृष्ण का अनुसरण करने वाले राजाओं के राज्य में ऐसे दुष्ट व्यक्ति नहीं रहने चाहिएँ । श्री कृष्ण का अनुवर्त्तन करने वालों के अतिरिक्त दूसरे राज्यों में भले ही दूसरी राज्य व्यवस्थायें हो सकती हैं; परन्तु भगवान् की सेवा करने वालों के राज्य में ऐसे अत्याचारों के दण्ड न दिये जाने ठीक नहीं हैं । क्योंकि मेरे राज्य में रहने वाले सभी व्यक्तियों के द्वारा भगवान् सेवा किये जाने योग्य हैं । यदि कलि-काल अपनी विचारधारा प्रसारित करता है, तो उससे प्रभावित होकर मेरे राज्य की प्रजा, इन्द्रियाँ व्याकुल हो जाने से भगवान् की सेवा के योग्य नहीं रह जाती, अतएव कलि जैसे लोगों का रहना उचित नहीं है ।।१२।।

आभास—अत: सर्वथा त्वया वक्तव्यमित्याह—

आभासार्थ—इसलिये आप पूरी तरह से यह स्पष्ट कीजिये कि आपके पैरों को छिन्न करने वाला कौन है ? ऐसा कहा जा रहा है—

श्लोक—आख्याहि वृष भद्रं वः साधूनामकृतागसाम् ।
आत्मवैरूप्यकर्त्तारं पार्थानां कीर्त्तिदूषणम् ।। १३ ।।

श्लोकार्थ—हे निरपराधी साधु रूप वृषभ आपका कल्याण होवे । अब आप यह बता दीजिये, कि आपके रूप को किसने विकृत कर दिया है और कौन है वह, जिसने पाण्डवों की कीर्त्ति को दूषित बना दिया है ।।१३।।

सुबोधिनी—आख्याहीति । वृषःवास्तव नाऽनौचित्यम् । ननु मामस्मदीयान् वा कथिते मारयिष्यतीति शङ्का न विधेयेत्याह—**भद्रं व इति** । युष्माकं भद्रमेव । नन्वस्मिन् जीवति कथं भद्रम् ? तत्राऽऽह—**साधूनामिति** । एतस्य शिक्षार्थं दण्डकरणपक्षेऽपि धर्ममार्गवर्त्तिनामपराधरहितानां देहवैरूप्यकरणमनुचितम् । तथापि मारणे को हेतुः । तत्राऽऽह—**पार्थानामिति** । पाण्डवानामेवाऽयमधिकारी सर्वान् दण्डयतीति लोकापवादजननात्पूर्वसिद्धां निष्कङ्ककीर्ति दूषयति । अतो भवतामप्येतदाख्याने कीर्त्तिस्थापनधर्मो भवति ।। १३ ।।

व्याख्यार्थ—आप वास्तविकता बता दीजिये, बैल के रूप में होने से आपका कथन अनुचित नहीं कहलायेगा । यदि आपको यह विचार आ रहा हो, कि किसी के लिये कह दिये जाने पर वह मुझे अथवा मेरे परिवार वालों को बाद में मार देगा तो आपको ऐसी शंका नहीं करना चाहिये क्योंकि आपका कल्याण ही है । इस शूद्र कलि के जीते जी मेरा कल्याण कैसा ? तो इस प्रसंग में कहा जा रहा है—इसे शिक्षा देने के लिये दण्डित किये जाने के पक्ष में भी धर्म मार्ग पर चलने वाले और अपराध से रहित लोगों के शरीर को कुरूप बनाना अनुचित है । तो भी इसे मारने में क्या कारण है ?तब राजा कहते हैं–कि पाण्डवों का ही यह अधिकारी सबको दण्ड देता है । लोक में निन्दा होने से पूर्व सिद्ध कलंक रहित कीर्त्ति को यह कलि दूषित कर रहा है, अतः आपके द्वारा कही गई सत्यता भी पाण्डवों के यश को स्थापित रखने में धर्म मानी जायेगी ।।१३।।

आभास—मत्प्रतिज्ञा च सिद्धा भवतीत्याह—

आभासार्थ—और मेरी प्रतिज्ञा सिद्ध होती है, ऐसा कह रहें हैं—

श्लोक—जनेऽनागस्यघं युञ्जन् सर्वतोऽस्य च मद्भयम् ।
अनागस्स्विह भूतेषु य आगस्कृन्निरङ्कुशः ।
आहर्त्ताऽस्मि भुजं साक्षादमर्त्यस्यापि साङ्गदम् ।। १४ ।।

श्लोकार्थ—अपराध रहित मनुष्य पर जो अपराध करता है, उसे सब ओर से मेरा भय है । वैसे ही निरपराधी प्राणियों पर जो निरंकुश हुआ अपशध करता है तो वह भले ही साक्षात् इन्द्र ही क्यों न हो ? मैं उसका भुजबंध युक्त हाथ काट डालने को तत्पर हूँ ।।१४।।

सुबोधिनी—**जन इति** । अनागसि जनेऽपराधं युञ्जन् सर्वतो मत्तो भयं प्राप्नोति । देहधनैहिकामुष्मिकप्रकारैर्मत्कृतं भयं प्राप्नोति। अस्य च सम्बन्धी पुत्रादिर्भय प्राप्नोति प्राप्नोतीत्यध्याहाराकरणे योऽनागसि जने अघं युञ्जन् भवति तस्य मत्तः सवतो भय भवतीति भवतिद्वयमध्याहर्त्तव्यम् । वस्तुनस्त्वर्द्धमात्रं पूर्ववदग्रिमश्लोकेनोक्तार्थत्वात् । आख्याते किं करिष्यतीत्याकाङ्क्षायामाह—**अनागस्स्वति** । ननु सोऽप्यधिकारी कथं त्वया मारणीयः ? तत्राऽऽह—**निरङ्कुश इति** । नियामकरहितः । अत एवौत्पथगामी । कथं शक्य इत्यपेक्षायामाह-**आहर्त्ताऽस्मीति** । अमर्त्यस्येन्द्र स्यापि बाहुमुत्पाटयामीत्यर्थः। **साक्षादिति** । स्वयमेव गत्वा न त्वाभिचारद्वारा। **साङ्गदमिति** । अङ्गदाद्याभरणैः सहितं सर्वैः पूजितमपि ।।१४ ।।

व्याख्यार्थ—निरपराधी व्यक्ति पर जो अपराध लगाता है, वह सब ओर से मेरे भय को प्राप्त करता है । वह देह, धन, इस लोक और परलोक सम्बन्धी मेरे द्वारा किये गये भय को प्राप्त होता है । यहाँ तक कि उसके सम्बन्धी पुत्रादि भी डरे हुए रहते हैं । 'प्राप्नोति' ऐसा अध्याहार करने पर (पाठ करने पर), जिनने अपराध किया ही नहीं है, उस पर अपराध करने का आरोप लगाने वाले मत्त को मेरा सब ओर से भय उपस्थित रहता है, इस प्रकार दोनों ही पाठ सटीक हैं । वस्तुतः तो आधा श्लोक पहले के समान अग्रिम श्लोक में बताये जाने वाले तात्पर्य से जुड़ा हुआ है । यदि मैं (वृषभ) अपने पैर काटने वाले के विषय में बता भी दूँगा तो आप उसका क्या करेंगे ? इस आशंका से कहा जा रहा है—कि वह कलि भी एक अधिकारी है, फिर आपसे मारा जाने योग्य कैसे है ? इसके उत्तर में कहते हैं—कि वह निरंकुश है । उस पर कोई नियम लगाने वाला नहीं है, अत एव वह उल्टे रास्ते पर चलने वाला है । सो तो ठीक है, पर उस पर कैसे नियंत्रण करेंगे ? इस अपेक्षा से कहते हैं—कि उसकी भुजा काट दूंगा । कभी न मरने वाले अर्थात् अमर्त्य इन्द्र की भुजा को भी उखाड़ दूंगा । यह कार्य मैं किसी चमत्कार

अथवा मारण मन्त्र का प्रयोग करके यहां ही बैठा-बैठा नहीं करूंगा, बल्कि स्वयं स्वर्ग में इन्द्र के सम्मुख जाकर उसकी सबके द्वारा पूजी जाने वाली बाजूबन्ध आदि आभूषणों से अलंकृत भुजा को काट दूं यदि वह भी निरंकुश होकर अपराध करने लगे तो, फिर अन्य की तो बात ही क्या ? ।।१४।।

आभास—ननु भवानत्र न नियुक्तः । अतो नियोगानुसारेण पालनं कर्त्तव्यम् । वयं तु यतः कुतश्चित्त्वद्राष्ट्रे समागताः । न त्वदीया इत्याशङ्कयाऽऽह—

आभासार्थ—हे राजन्, आप हमारी समस्या के लिये नियुक्त नहीं हो । आपको अपने नियोग के अनुसार ही प्रजा के पालन में तत्पर रहना चाहिये । हम तो आपके राज्य में यों ही इधर-उधर से घूमते चले आये हैं, आपके प्रजा सम्बन्धी जन नहीं हैं, इस आशंका का राजा समाधान करते हुये कहते हैं—

श्लोक—**राज्ञो हि परमो धर्मः स्वधर्मस्याऽनुपालनम् ।**
शासतोऽन्यान् यथाशास्त्रमनापद्युत्पथानिह ।। १५ ।।

श्लोकार्थ—अपने धर्म का पालन करना राजा का परम धर्म है । शास्त्रों में कहे गये नियमों के अनुसार अन्यों पर भी शासन करना तथा संकट न आने पर भी विपरीत मार्ग पर जाने वालों को नियन्त्रित करना राजा का मुख्य कर्त्तव्य है ।।१५।।

सुबोधिनी—**राज्ञो होति** । राज्ञो हि धर्मद्वयम् । सहजो धर्मः । अधिकृतश्च । सहजधर्मस्त्वार्तातिनिग्रहः । स मुख्यः । अन्यस्तु गौणः । तत्र स्वराष्ट्रादिनियमो नास्ति । भार्यामपि मारय न्निवारणीयः । परमशक्तया तूष्णीम्भावः । राज्ञस्त्वशक्त्यभावात्स मुख्यो धर्मः स्वधर्मानुपालनमेव । **अन्यान्** स्वधर्मरहितान्नापद्युत्पथाञ्च्छासतः । न तु विरक्तस्य त्यक्तशासनस्य । अतो मनाऽऽर्त्तिहरणं स्वधर्मः । अतो वक्तव्यमिति ।। १५ ।।

व्याख्यार्थ—राजा के दो प्रकार के धर्म होते हैं । प्रथम व मुख्य कोटि के धर्मों में वे धर्म आते हैं जो राजापने के साथ ही साथ जन्म लेते हैं, जिन्हें सहज धर्म कहा जाता है । दूसरी कोटि के धर्म वे हैं जो राज्य पद के मिलने पर राजा को प्राप्त होते हैं जैसे अपने देश की सीमा रक्षण, प्रजा के विभागों की संरचना कर वसूली नियम, अपराध संहिता का नियमानुसार पालन करवाना आदि । पीड़ितों को रक्षा

करना ही राजा का सहज व मुख्य धर्म है । अन्य धर्मों का उतना महत्व नहीं है यों कहिये कि वे गौरण हैं । सहज धर्म व्यापक है, वह राष्ट्र की सीमाओं से बंधा हुआ नहीं हैं । जो कोई भार्या को (पत्नी को) पीट रहा हो, उस का भी निवारण करना चाहिये, परन्तु शक्ति के न होने पर चुप्पी साधना पड़ता है । राजा में शक्ति का अभाव नहीं होता, उसे अपने मुख्य धर्म स्वधर्म या सहज धर्म का ही पालन करना चाहिये । जो चाहे अन्य हैं, राज्य से सम्बन्धी नहीं हैं तो भी बिना किसी विपत्ति के आये ही खोटे मार्ग में प्रवृत्त होते हैं तो उनको वश में करना ही चाहिये । जो शासन छोड़कर विरक्त हो गया हो, उसकी बात मैं नहीं करता, परन्तु दूसरों की आर्त्ति हरण करना मेरा तो स्वधर्म है, अतः आपको उस आततायी का नाम बता ही देना चाहिये ।।१५।।

आभास—कलिनिग्रहो बहिर्मुखेन कर्त्तुमशक्यः । अभगवदीयेन वा । यद्यप्ययमनुभयरूपस्तथाप्यभिमानात्तथा भाति । अतोऽन्तर्मुखः कर्त्तव्य इत्यभिप्रायेणोत्तरं वक्तुं प्रथमं प्रोत्साहयति भगवदीयत्वज्ञानाय—

आभासार्थ—जो बहिर्मुख हो गया है, वह कलि का निग्रह नहीं कर सकता अथवा जो भगवदीय नहीं है, वह भी कलि को नहीं जीत सकता । यद्यपि राजा परीक्षित् के दोनों ही रूप नहीं हैं, वे भगवदीय तथा अबहिर्मुख हैं तथापि अभिमान के कारण बहिर्मुख व अभगवदीय जैसे जान पड़ते हैं । अतः उन्हें अन्तर्मुखी बनाने के लिये पहले इसी अभिप्राय ने भरा हुआ उत्तर देने के लिये तथा भगवदीय का ज्ञान स्मरण करने के लिये प्रोत्साहित करते हैं—

धर्म उवाच—श्लोक—एतद्वः दाण्डवेयानां युक्तमार्त्ताभयं वचः ।
येषां गुणगणैः कृष्णो दौत्यादौ भगवान् कृतः ।।१६।।

श्लोकार्थ—पाण्डव वंश में उत्पन्न होने वालों को दुःखितों के प्रति ऐसे अभय वचन बोलना उचित है । जिनके गुण समूहों से कृपा करते हुये भगवान् कृष्ण ने दूत आदि बनने का कार्य भी अंगीकार किया ।।१६।।

सुबोधिनी—एतद्व इति । एतत् परदुःखदूरीकरणं परमकृपलूनां भवतामुचितमेव । आर्त्तानामभयं यस्मात्तादृशं वचः । यद्यपीदं वचनमभिमानसूचकं भवति तथापि परदुःखनिवारणार्थमुक्तम् ।

न तु स्वोत्कर्षख्यापनार्थम् । कृतिस्त्वयुक्तैवेति भावः । न ह्यन्यपीडया कृतः पदार्थो धर्मो भवति । आर्त्तिनिवारणरूपं भगवदीयं धर्मं पुरस्कृत्य भगवान् वशो जातः ।एतादृशा गुणा भवत्सु सहस्रशः सन्ति यैः कृत्वा परमानन्दः साक्षात्पुरुषार्थः सर्वप्रमाणार्थः । अनेन भ्रान्तत्वमप्याक्षिप्तम् । अतोऽत्यन्तं बहिर्मुखधर्मनिष्ठा त्यक्तव्येति भावः ॥१६॥

व्याख्यार्थ—आपके द्वारा दूसरों के दुःखों को दूर करने की भावना प्रकट करना परम कृपालुता का सूचक है तथा आपको ऐसा कहना उचित ही है । आर्त्तों को अभय दान देने वाले वैसे आपके वचन यद्यपि अभिमान के सूचक हैं तो भी दूसरों का दुःख निवारण करने के लिये कहे गये है । किसी अपनी बढाई की भावना से कहे गये वचन नहीं है । फिर भी उन वचनों की कृति को अनुचित ही मानी जायेगी । अन्य को पीड़ा देने वाले पदार्थ धर्म नहीं माने जा सकते । आर्ति के निवारण रूप भगवदीय धर्म को आगे लाकर ही भगवान् आपके पूर्वजों के वशीभूत हो गये थे । ऐसे गुण तो आप में हजारों है, जिन्हें करके साक्षात् पुरुषार्थ रूप और सब प्रमाणों के अर्थ रूप परमानन्द की प्राप्ति आपको हुई । इन वचनों को कहकर धर्म ने परीक्षित् को स्वयं के भ्रान्त होने की स्थिति का आक्षेप किया है । इससे संकेत दिया जा रहा है, कि अत्यन्त बहिर्मुखता की ओरबढ़ी हुई ऐसी अपनी स्वधर्म निष्ठा वाली भावना का त्याग कीजिये ॥१६॥

आभास—इति भगवत्परत्वमुपदिश्य धर्मसूक्ष्मत्वमुपदिशति—

आभासार्थ—इस प्रकार भगवत् परक बनने का उपदेश देकर अब धर्म के सूक्ष्म तत्त्व का उपदेश दे रहे हैं—

श्लोक—**न वयं क्लेशबीजानी यतः स्युः पुरुषर्षभ ।**
पुरुषं तं विजानीमो वाक्यभेदविमोहिताः ॥१७॥
केचिद्विकल्पवसना आहुरात्मानमात्मना ।
दैवमन्ये परे कर्म स्वभावमपरे प्रभुम् ॥१८॥

श्लोकार्थ—हे पुरुषों में श्रेष्ठ, वाक्यों के अनेक भेदों से विमोहित हुये उस पुरुष को हम नहीं जानते, जहाँ से क्लेश के बीज हुये हों ॥१७॥ यहां कुछ लोगों का यह मत है कि विकल्प (ऐसा नहीं तो वैसा नहीं, ऐसा है तो वैसा है आदि तर्क वितर्कात्मक बिचारों को विकल्प कहा जाता है, जिनमें द्वन्द्व भाव की सम्भावना होती है)

रूपी वस्त्र से ढंका हुआ स्वयं के सुख-दु:ख का कारण आत्मा है। कुछ भाग्य को कारण मानते हैं और कुछ कर्म को; कई स्वभाव को ही इन सब स्थितियों का आधार मानते हैं तो कई ऐसे हैं जो इन सबके मूल में प्रभु को कारण मानते हैं ।। १८ ।।

सुबोधिनी—न वयमिति । अयमर्थः ।एते त्रयोऽपि पादा आहत्यैकैनैव न नाशिताः । किन्तु सत्यादिभिः स्वस्वनिवृत्त्या । ते हि धर्मपादोपजीवकाः स्वयं निवर्त्तमाना धर्मस्यैकैकं पादमादाय निवर्तन्ते । द्वापरे च परो धर्मो द्विपदो जातः । प्रमाणानां द्वैराश्यात् । अतो निर्णायकप्रमाणाभावाद्वस्तुतः केनाऽप्यकृतत्वात्कालेन भगवता वा कृतत्वात्ताद्दक्स्वभावधर्मकरणादुत्तरं न घटते । न हि काले वा भगवति वाऽयं किञ्चित्कर्तुं शक्तः । तस्मात्प्रमाणबोधने स्वाधिकारानुसारेण पदार्थान् बुध्वा तथा करिष्यति । न त्वकथनं स्पष्टकथनं वा युक्तमिति । हे पुरुषर्षभ । "**पुरुषत्वे च मां धीरा**" इति न्यायेन पुरुषमात्रस्यैव भगवद्दृष्टिर्युक्ता । त्वं तु पुरुषर्षभः । किञ्च । क्लेश**बीजनी** पापानो भगवदपराधा वा । तानी कुतो भवन्तीति विचारः कर्त्तव्यः । पुरुष एव तत्र समवायिकारणमन्तःकरणं वा भूतसंस्कारपक्षे शरीरं वा । निमित्तान्यन्यानि । नियामको विचारणीयः । केन नियमिता सामग्री क्लेशबीजं जनयति । तत्राऽनिश्चये हेतुः । स हि पुरुषो भवति । अन्यस्य नियामकत्वाभावात् । ते च पुरुषाः पञ्च व्यष्टिसमष्टिपुरुषकालपुरुषोत्तमाः । तत्राऽनिश्चयः । विचारकस्याऽन्तःकरणस्य वाक्यभेदैर्मोहितत्वात् । **वयमिति** सर्वेषामेवाऽत्र विचारेऽशक्यता । एकमेव वाक्यं स्वस्वबुद्ध्यनुसारेण अनेकधा योजयन्ति । ते वाक्यभेदाः । सर्वत्र च युक्तेः सहायता । वाक्यभेदैर्निर्णीतान् पदार्थानाह । तत्र केचिन्मायावादिप्रभृतयो व्यष्टिमेव हेतुं मन्यन्ते । तदर्थं सर्वमेव विकल्पं मायेत्याच्छादयन्ति । ते विकल्पवसनाः । विकल्पे वसनं येषामिति । विविधकल्पनारूपज्ञानं वा वसनं येषामिति । ते आत्मानमेव नियामकं मन्यन्ते । "**आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरि**"ति वाक्यात् । आत्मनोऽपि हेतुत्वेन नाऽऽत्मातिरिक्तं कारणं मन्यंते। किन्तु आत्मनैव । अन्ये पुनः समष्टिकारणवादिन पौराणिका ज्योतिश्शास्त्रसहकृताः पुरुषशरीरं ब्रह्माण्ड मत्वा तत्र चेष्टारूपञ्च कालचक्रं स्वीकृत्य तदवयवैर्बुधादिभिरन्तःस्थितसर्वपरिज्ञानाद्ग्रहसहितं समष्टिमेव कारणं मन्यन्ते । ततोऽपि पुरुषकारणवादिनः प्रकृत्यधिष्ठातारं पुरुषं मन्यंते। सहायभूतञ्च कर्म नियामकत्वेन स्वीकुर्वन्ति । अन्यथा प्रकृतिपुरुषयोर्नित्यत्वात्कालस्य च नित्यत्वादपेक्षान्तराभावे सृष्टिः स्यान्न स्याद्वा । अतो नियामकत्स्य कर्मणोऽपेक्षा ।"**प्रबुद्धकर्मा दैवेन**"ति वाक्याच्च । यद्यपि कालस्वभावौ वर्त्तेते । तथापि न तयोर्नियामकत्वं सम्भवति । अन्यत्वात्साधारणत्वाच्च । तस्मात्कर्मसहितः पुरुषः क्लेशबीजहेतुः । अन्ये पुनः कालमेव हेतुत्वेन मन्यन्ते । द्वारत्वेन स्वभावम् । स हि प्रकृत्यादीन् प्रेरयति । स्वभावात्ते परिणमन्ते । स्वभावादेव प्रेरयति । **सुखं दुःखमि**"ति कालरूपस्य भगवतो वाक्याच्च । यद्यपि पुरुषोत्तम एव सः । तथापि सर्वरूपत्वात्तस्मिन्प्रकरणे कालरूपं ख्यापितवानिति तद्वाक्यानां तच्छेषत्वम् । "**स कालो यद्वशे लोको वायोरिव घनावलिरि**"ति वाक्याच्च । अन्ये तु पुरुषोत्तमं मन्यन्ते । स हि सर्वत्र प्रविष्टः सर्वं करोति । कालादिष्वपि स एव प्रविष्टः । यद्यपि कालस्य सर्वप्रभुत्वं तथापि न तस्य स्वतस्तत् । किन्तु भगवत्प्रेरणया । अन्यथा तस्य सर्वात्मत्वाभावाद्वैषम्यनैर्घृण्ये प्रसज्ज्येयाताम् । कालात्मनोश्च विवेचनमग्रे वक्ष्यामः । नियामकत्वमेव तस्य न सर्वत्वमिति च १७।।१८।।

व्याख्यार्थ—धर्म, राजा परीक्षित् के प्रति कहते है, कि मेरे इन तीनों पैरों को एक व्यक्ति के द्वारा काटकर नष्ट नहीं किया गया है, किन्तु सत्ययुग आदि युग अपनी-अपनी निवृत्ति के साथ एक-एक पैर अपने साथ लेते गये। वे युग, धर्म के पैरों का आश्रय लेकर रहने वाले होने से जब अपना-अपना समय पूरा करके जाने लगे तो धर्म के एक-एक पैर को लेकर जाते रहे। द्वापर में वह धर्म में दो पैर वाला ही रह गया। वेद तथा स्मृति इन दो प्रमाणों वाला धर्म रह गया। इसलिये निर्णायक प्रमाण के अभाव में वस्तुतः किसी ने भी कुछ भी नहीं किया। जो कुछ भी किया है, वह या तो काल ने किया है या भगवान् ने। यह सब स्वभाव से ही होता गया है, अतः आपके प्रश्न का मांगा गया उत्तर घटित नहीं हो सकता। काल में अथवा भगवान् में यह कुछ भी नहीं कर सकता। उनने प्रमाण का बोध होने पर अपने अधिकार के अनुसार पदार्थों को जानकर यह वैसा ही करेगा। इस प्रसंग में कोई भी बात स्पष्ट रूप से नहीं कही जा सकती। हे पुरुषों में श्रेष्ठ, "धैर्य शाली लोग मुझे पुरुष रूप में देखते हैं" इस न्याय के अनुसार यहाँ पुरुष के अन्तर्गत ही भगवत् दृष्टि की गई है। तिस पर भी आप तो पुरुषों में श्रेष्ठ हो। इससे अधिक क्या कहें? कि क्लेश के बीज पाप ही है अथवा उन्हें भगवान् के प्रति किये गये अपराध कह लीजिये। तो फिर वे कहाँ से उत्पन्न होते हैं, इसका विचार करना चाहिये। पुरुष ही इन सब में समवायि कारण है। कुछ अन्तःकरण को इसका समवायि कारण मानते हैं। भूत संस्कार के पक्ष वाले शरीर को ही क्लेश के बीज को उत्पन्न करने में मिला हुआ सहयोगी कारण मानते हैं। अन्यों के विचारों में निमित्त ही समवायि कारण हैं। इन सब समवायियों का नियामक कौन है, इस पर विचार करना है। किसके द्वारा नियमित की गई सामग्री क्लेश के बीजों को उत्पन्न करती है। इसका कारण ढूंढने में अनिश्चय की स्थिति है। वह एक मात्र पुरुष ही है। क्योंकि और कोई दूसरा तत्त्व नियमन नहीं कर सकता। वे पुरुष पांच भागों में विभक्त हैं; व्यष्टि, समष्टि, पुरुष, काल तथा पुरुषोत्तम। इन पाँचों में से परम समवायि कौन है, यह अनिश्चय की स्थिति है। विचार करने वाले के अन्तः करण के अनुसार वाक्य भेदों के द्वारा हम सभी के मोहित होने से इस प्रसंग में विचार करने की असमर्थता रहती है। एक ही वाक्य को विचारक गण अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार अनेक प्रकार से जोड़ते हैं, अर्थात् तात्पर्य निकालते हैं। वे वाक्य भेद सभी जगह अपने-अपने तर्कों की सहायता लेते हैं। अब वाक्य भेदों से निर्णय किये

गये पदार्थों को बताया जा रहा है। उस प्रसंग में कुछ माया वादी आदिकों का यह मत है व्यष्टि ही सबका कारण है। इसलिये सब प्रकार के विकल्प माया से ढंके हुये है। ये विकल्प नस्त्र के रूप में परिकल्पित किये गये है। विकल्प के अन्तर्गत ही जिनके वस्त्र है। विभिन्न कल्पना रूप अज्ञान या वस्त्र जिनमें आच्छादित है, वे आत्मा को ही नियामक मानते है। वे इस वाक्य को आधार मानते है, कि "आत्मा ही आत्मा का बन्धु है।" वे आत्मा को ही कारण मानकर चलते है और इसके अतिरिक्त किसी को भी कारण नहीं मानते। वे कहते हैं, कि आत्मा में ही सबकी स्थिति है। अब दूसरी ओर समष्टि को ही सबका मूल आधार मानने वाले पोराणिक हैं, जो ज्योतिष शास्त्र के आधार पर इस ब्रह्माण्ड को पुरुष का शरीर मानकन उसमें काल चक्र को चेष्टा रूप से स्वीकार करते हुये उनके अंगों के रूप में बुध आदि ग्रहों के अन्तः स्थित समस्त ज्ञान से युक्त समष्टि को कारण मानते हैं। इसके बाद भी पुरुष को कारण मानने वाले प्रकृति का अधिष्ठाता पुरुष को ही मानते हैं। वे सहायक रूप में कर्म को नियामक स्वीकार करते हैं। अन्यथा प्रकृति व पुरुष की नित्यता से तथा काल की नित्यता से, एक सी अपेक्षा के रहते अन्तर न होने के कारण सृष्टि होवे या नहीं भी होवे। इसलिये नियामक के रूप में कर्म की अपेक्षा की गई है। "भाग्य से ही प्रबुद्ध कर्म वाला होता है" वे इस वाक्य को आधार मानते हैं। यद्यपि काल के स्वभाव में ही वे रह रहे हैं, तदपि उनका नियामकत्व सम्भव नहीं होता। अन्य तो साधारण स्थिति के अन्तर्गत आते हैं। सिद्ध यह हुआ, कि कर्म सहित पुरुष ही क्लेश के बीज का हेतु है। दूसरे विचारक काल को ही कारण मानते हैं; क्योंकि काल ही स्वभाव का द्वार है। वह काल ही प्रकृति आदि को प्रेरित करता है। स्वभाव से ही वे परिणाम को प्राप्त होते हैं और स्वभाव से ही प्रेरित करते हैं। "सुख रूप और दुःख रूप मैं ही हूँ", ऐसे काल भगवान् के वाक्य हैं। यद्यपि ऐसा कथन करने वाले पुरुषोत्तम ही हैं तो भी इस प्रकरण के अन्तर्गत उन्होंने अपने को काल रूप से बताया है और शेष वाक्य काल द्वारा कहे गये हैं। "काल वह शक्ति है, जिसके वश में हुआ यह लोक वायु से चलाये गये बादलों के समान रहता है", इन वाक्यों से काल की सत्ता सिद्ध होती है। अन्य दार्शनिक पुरुषोत्तम को ही सबका मूल कारण मानते हैं। वे पुरुषोत्तम ही सब में प्रविष्ट हुये सब कार्यों को करते हैं। काल आदिकों में भी वे ही प्रविष्ट हैं। यद्यपि काल का प्रभुत्त्व सर्वत्र है, तदपि वह प्रभुत्त्व उसका अपना नहीं है।

वह काल भगवान् की प्रेरणा से ही सब करता है। काल में सर्वपने का अभाव होने से उसके कार्यों में विषमता, निर्दयता आदि देखे जाते हैं। काल और आत्मा के विवेचन को आगे बतायेंगे। काल में नियामकत्व तो है, परन्तु सर्वत्व नहीं है ॥१७॥१८॥

आभास—तर्हि सर्वत्र प्रविष्टो भगवान् सर्वं कुर्वन् कथं न लक्ष्यते ? तत्राऽऽह—

आभासार्थ—भगवान् जब सभी में प्रविष्ट हैं और वे ही सब कुछ कर रहे हैं, तो फिर दिखाई क्यों नहीं देते ? उसके उत्तर में कहा जा रहा है—

श्लोक—**अप्रतर्क्यादनिर्वाच्यादिति केष्वपि निश्चयः।**
अत्राऽनुरूपं राजर्षे विमृश स्वमनीषया ॥१९॥

श्लोकार्थ— वे प्रभु तर्क से समझे नहीं जा सकते और कोई उनकी व्याख्या नहीं कर सकता, कितनों का यही निश्चय है। इसलिए हे राजर्षि, अब इस प्रसंग में जो आपके अधिकार के अनुरूप हो, उसे करने में अपनी बुद्धि से विचार कर लीजिये ॥१९॥

सुबोधिनी—**अप्रतर्क्यादिति**। यद्यपि शास्त्रप्रामाण्यादापाततस्तर्क्यते सर्ववस्तुषु वस्तुस्वरूप इति। तत्त्वविदस्तु पश्यन्ति। तथापि शृङ्गग्राहिकया स्पष्टतया न प्रतर्क्यः। तर्हि ज्ञात्रैतत्कथं नोच्यते इदमित्थमिति। तत्राऽऽह—**अनिर्वाच्यादिति**। शर्करादिमाधुर्यवत्केवलानुभववैकवेद्यं न स्पष्टतया वक्तुं शक्यम्। विशेषशब्दाभावात्सङ्केताभावाच्चाऽव्यवहार्यत्वात्। तस्माद्यद्यपि विशेषाकारेण वक्तुमशक्यमुत्प्रेक्षितुं च तथापि शास्त्रानुभवाभ्यां तन्निश्चयः। तादृशा विरला इत्याह—**केष्वपीति**। अत्र पञ्चपक्षेषु यथाधिकार व्यवस्थात्वा (?) सर्वाऽपि यथाऽधिकारस्तदनुरूपेण व्यवस्थापयेत्याह- **अत्राऽनुरूपमिति**। **राजर्षे इति** सम्बोधनाद्राजत्वाद्विचारकत्वमृषित्वान्मन्त्रद्रष्टृत्वम्। तेन वेदहृदयविचारेण निर्णयं कुर्विति ज्ञापितम्। अत्र सम्मतिर्न प्रष्टव्या। एकरूपत्वाभावेन स्वाधिकारानुसारेण कथनप्रसङ्गात्। अतः स्वमनीषयैव विचारय ॥१९॥

व्याख्यार्थ—यद्यपि उन भगवान् के विषय में शास्त्रों के प्रमाणों से सामान्यतः यह तर्क दिया जाता है कि वे समस्त वस्तुओं में वस्तु स्वरूप से विद्यमान हैं और तत्त्व को जानने वाले उन्हें देखते हैं, तदपि स्पष्ट रूप से सींग को पकड़ने के समान ईश्वर को पकड़कर बताने वाला कोई तर्क नहीं है। तो जिन लोगों ने भगवान् को जान लिया है, वे यह क्यों नहीं बताते कि वह इस प्रकार का है। उस प्रसंग में कहते हैं कि उसकी विवेचना नहीं की जा सकती। जैसे शक्कर का मीठापन

केवल अनुभव से ही जाना जा सकता है, पर उसे स्पष्ट रूप से कोई भी नहीं कह सकता। न तो किसी शब्द विशेष से, न ही संकेत से तथा व्यवहार में न लाये जा सकने के कारण उन पुरुषोत्तम की व्याख्या नहीं की जा सकती। यद्यपि किसी विशेष आकार से अथवा उत्प्रेक्षाओं से उनके विषय में नहीं बताया जा सकता तथापि शास्त्रों के अनुभव से उनका निश्चय किया गया है। ऐसे व्यक्ति कोई-कोई ही हैं, जो पुरुषोत्तम को मूल कारण मानकर उन्हें अनुभव में लाते हैं। यहाँ क्लेश के बीजों की उत्पत्ति विषयक बात को लेकर पाँच पक्षों में जैसा जिसका अधिकार तथा जैसी जिसकी व्यवस्था को लेकर विवेचन दिया गया है, आपका भी जैसा अधिकार है, उसके अनुरूप व्यवस्था कीजिये। यहाँ 'अनुरूप' शब्द का विशेष प्रयोजन है। आप राजर्षि हैं, अतएव इस सम्बोधन के अनुरूप राजापने से आप व्यवस्था विषयक बात सोच सकते हैं तथा ऋषि होने से मन्त्र को देख सकते हैं। इसे जानकर आप हृदय में ही अपने किये जाने योग्य कार्य का विचारपूर्वक निर्णय लीजिये। यहाँ हमसे सम्मति पूछने की कोई बात ही शेष नहीं रह जाती। किसी भी मत के अन्तर्गत एकरूपता के अभाव में अपने अधिकार के अनुसार ही कहे गये प्रसंगों के अनुरूप निर्णय लीजिये। अतः आपको अब क्या करना है? इसका विचार अपनी बुद्धि से कीजिये ।।१९।।

आभास—एवं धर्मवाक्यं श्रुत्वा वाच्यवचनवक्तृनिर्धारान् कृतवानित्याह—

आभासार्थ—राजा ने इस प्रकार धर्म के वाक्यों को सुनकर उसका अभिप्राय, वचन तथा वक्ता का निर्धारण करके इस प्रकार कहा—

श्लोक—**एवं धर्मे प्रवदति स सम्राड् द्विजसत्तम।**
समाहितेन मनसा विखेदः पर्यचष्ट तम् ।।२०।।

श्लोकार्थ—हे द्विज सत्तम शौनक, धर्म के ऐसा कहने पर वह सम्राट् परीक्षित् खेद रहित हुआ सावधान मन से धर्म के प्रति इस प्रकार कहने लगा ।।२०।।

सुबोधिनी—एवमिति। न हि धर्मव्यतिरेकेणाऽन्य एव वक्तुं शक्तः। स च **सम्राट्** विचारकः। **हे द्विजसत्तमेति** सम्बोधनं सूक्ष्मेक्षिकायां संवादार्थम्। तस्यैवं विचार उत्पन्नः। व्यवहारानुसारेण पृष्टे यदयमन्यथोत्तरयति तत्र को हेतुः? अस्मत्परीक्षार्थं परोक्षेण कथनं स्वस्य वाऽव्यवहार्यत्वं प्रतारकत्वमज्ञत्वं वेति। एवं चतुःपक्षविचाराय चित्त प्रवृत्तम्। तत्र कुशाग्र-

बुद्धित्वाद्वाच्यवाक्यज्ञानाभावेऽप्यभिप्रायस्य वक्तुश्च निर्द्धारं शीघ्रमेव कृतवान् । बुद्धिश्च न क्लिष्टा । अस्तु यथाकथञ्चि पञ्च पक्षास्तन्निर्द्धारो वा । तथापि घातकोऽयमनेनैवाऽयं ताडितः । तथापि यन्न कथयति व्याजेन चाऽन्यत्कथयत्यतो धर्म एवाऽयम् । पूर्वव्यवस्थायाः श्रुतत्वाद्युगनिरूपणप्रस्तावे । अतः स्वप्रयोजनमवसरं च विचार्य निर्धारितत्वात्तमर्थं पर्यचष्टेति ।।२०।।

व्याख्यार्थ— राजा ने यह निश्चय कर लिया, कि धर्म के अतिरिक्त अन्य कोई भी ऐसा कहने में समर्थ नहीं हो सकता । परीक्षित् सम्राट हैं तथा विचारक हैं । यहां शौनक ऋषि को द्विज सत्तम का सम्बोधन इसलिये दिया कि वे सूक्ष्म बुद्धि से संवाद के अर्थ को समझने में सक्षम हैं । राजा में ये विचार उत्पन्न हुये हैं, कि व्यवहार के अनुसार पूछे जाने पर भी ये महानुभाव दूसरी ही प्रकार का उत्तर दे रहे हैं, इसमें क्या कारण हो सकता है ? कहीं परोक्ष कथन द्वारा हमारी परीक्षा के लिये अथवा व्यवहार में न आने के लिये या फिर छलने के लिये या जानकारी न होने को दृष्टि से इन्होंने हमें विपरीत उत्तर दिया है अथवा कोई और बात है ? इस प्रकार चारों पक्षों पर विचार करने में राजा का चित्त लग गया । उसमें कुशाग्र बुद्धि होने से वाच्य, वाक्य, ज्ञान का अभाव होने पर भी कहने वाले के अभिप्राय का निर्णय राजा ने शीघ्र ही कर लिया । उन्हें समझने में बुद्धि को क्लेश नहीं हुआ । जैसे तैसे उन पाँच पक्षों पर परीक्षित् ने निर्णय ले लिया । कुछ भी हो इस कलिकाल ने ही इन धर्म वृषभ के पैर काटे हैं तथा पृथ्वी को पैरों से पीटा है । यद्यपि ये स्वयं इस बात को न कहकर किसी बहाने से दूसरी ही बातें बता रहे हैं; ये और कोई नहीं, धर्म ही हैं । युगों के वर्णनों में इन्होंने पूर्व युग की व्यवस्थाओं का निरूपण किया है, जिसे मैंने सुना है । अतः अपने प्रयोजन व अवसर का विचार करते हुये निर्धारित किये हुये अर्थ को राजा धर्म के प्रति कह रहे हैं ।।२०।।

आभास—तमेवाऽऽह—

आभासार्थ—परीक्षित् निर्धारित किये हुये विचार को ही कह रहे हैं—

राजोवाच—श्लोक—**धर्मं ब्रवीषि धर्मज्ञ धर्मोऽसि वृषरूपधृक् ।**
यदधर्मकृतः स्थानं सूचकस्याऽपि तद्भवेत् ।।२१।।

श्लोकार्थ—हे धर्म को जानने वाले, आप धर्म की बात कहते हो, अतः बैल का रूप धारण करने वाले आप धर्म हो । कारण, कि अधर्म करने वाले को जो नर्क

आदि स्थान मिलते हैं, वे ही स्थान उस अधर्म की सूचना देने वाले को भी मिलते हैं ।।२१।।

सुबोधिनी—धर्मं ब्रवीषीति । त्वं तु धर्म । धर्मज्ञत्वात् । न ह्यन्योऽन्यस्य स्वरूपं जानाति । हेतोः स्वरूपासिद्धिमाशङ्क्य—अथ धर्मज्ञो धर्मवक्तृत्वादिति । किञ्च । **वृषरूपधृक्** । अलौकिकेषु धर्मस्यैव वृषरूपत्वम् । धर्मकथकत्वं समर्थयते—**यदधर्मकृतः स्थानमिति** । यस्त्वधर्मकृत् तस्य यत् स्थानं नरकादि सूचकस्याऽपि तत् भवेत् । अर्थादधर्मस्य । तस्मान्नरकभयाद्धर्मसूक्ष्मदृष्ट्या धर्मं वदतीति धर्मः ।।२१।।

व्याख्यार्थ—आप तो धर्म हैं, क्योंकि आप धर्म को जानने वाले हैं । क्योंकि जो दूसरा होता है, वह दूसरे के स्वरूप को नहीं जानता है । कारण रूप से स्वरूप की प्रसिद्धि की आशंका से कहते हैं- कि ये धर्म की बातों को जानने के कारण धर्म की बातों को कहते हैं । इससे अधिक और क्या कहें, कि इन्होंने वृषभ का रूप धारण कर रखा है । अलौकिक में भी धर्म का रूप बैल ही बताया गया है । धर्म के कथन करने वाले का समर्थन किया जा रहा है, कि जो अधर्म करने वाले के स्थान हैं उन्हें बताया गया है । अधर्म करने वाले के लिये जिन नरकादि स्थानों को बताया गया है, वे ही स्थान अधर्म की सूचना देने वाले के लिये भी होते हैं अर्थात् अधर्म रूप होते हैं । अतः नर्क के भय से धर्म की सूक्ष्म दृष्टि से धर्म को कहने वाले होने के कारण ये धर्म हैं ।।२१।।

आभास—नन्वयुक्तोऽयं विचारः । वाक्यानां स्वार्थपरित्यागात् । इदानीन्तनमीमांसकवत् । तस्माद्वाक्यार्थं पुरस्कृत्य विचारणीयमित्याकांक्षायामाह—

आभासार्थ—आज के समय में व्याख्याकार जिस प्रकार वाक्यों के अर्थ का त्याग कर देते हैं, उसी प्रकार यहाँ वाक्यों के स्वयं के अर्थ का त्याग हुआ है, अतः यह विचार योग्य नहीं । इसलिये वाक्यों के अर्थ अपनी वास्तविकता को न छोड़ें, इस तथ्य को दृष्टि में रखकर विचार करना चाहिये । इस आकाङ्क्षा से कहा जा रहा है—

श्लोक—अथवा देवमायाया नूनं गतिरगोचरा ।

चेतसो वचसश्चाऽपि भूतानामिति निश्चयः ।।२२।।

श्लोकार्थ—अथवा भूत प्राणी मात्र को देवमाया की गति मन और वचन से अगोचर है, यह निश्चय है ॥२२॥

सुबोधिनी—अथवेति । यदुक्तमनेन न जानीम इति तत्तथैव । "**मायां मदीयामुद्गृह्य वदतां किं नु दुर्घटमि**"ति वाक्याद्युक्तीनामप्रयोजकत्वेन निर्धारस्याऽशक्यत्वात् । ननु मायां तत्प्रवृत्तिं वा प्रथमतो विचारयतु । ततोऽन्यज्ज्ञास्यतीत्याशङ्क्याऽऽह । **देवमायाया** भगवत्सहिताया भगवत्प्रेरिताया भगवच्छक्तित्वेन तुल्याया वा **गतिः** प्रवृत्तिर्न स्वानुभवगम्या न वेदवाक्यगम्या साधारणानाम् । तदाह—**भूतानामिति** ॥२२॥

व्याख्यार्थ—यहाँ धर्म ने, जो यह कहा है कि हम नहीं जानते, वास्तव में वह बात वैसी ही है । "मेरी माया को ग्रहण करके बोलने वाले के लिये कुछ भी दुर्घटित नहीं हो सकता", इस युक्ति में कुछ भी कारणरूपता न होने से उसका निर्धार नहीं हो सकता । माया अथवा माया की प्रवृत्तियों का पहले से ही विचार करना जाहिये, इसके बाद दूसरे का ज्ञान होगा । ऐसी शंका करके कहते हैं—कि वह माया भगवान् सहित है और भगवान् ने ही उसे प्रेरणा की है, इसलिये वह माया भगवान् की शक्ति होने से भगवान् के बराबर है । इसलिये उसकी गति अपने को जानने में नहीं आ सकती । साधारण मनुष्यों को तो वेद वाक्यों से भी जानने में नहीं आ सकती, यह बताने के लिये मूल में कहा गया है, कि उस माया की गति भूत प्राणियों से नहीं जानी जा सकती ॥२२॥

आभास—एवं धर्मोऽयं पृथिवीयं कलिरयमिति त्रितयं निश्चित्य तदनुरूपं कार्यं करिष्यन् धर्माग्रेऽनुवदति—

आभासार्थ—इस प्रकार यह धर्म है, यह पृथ्वी है, यह कलियुग है, ऐसा तीनों का निश्चय करके, उनके योग्य जो करना है, उसे धर्म के आगे कहते हैं—

श्लोक—**तपः शौचं दया सत्यमिति पादाः कृते कृताः ।**
अधर्मांशैस्त्रयो भग्नाः स्मयसङ्गमदैस्तव ॥२३॥

श्लोकार्थ—तप, शौच, दया और सत्य ये आपके चार पैर हैं । उनमें स्मय, संग और मद इन अधर्म के अंशों द्वारा आपके तप, शौच और दया, ये तीन पैर टूट गये हैं ॥२३॥

सुबोधिनी—तपः शौचमिति । तत्तद्युगानुसारेण धर्मस्य नानारूपत्वात्तदानीन्तनपादान् गणयति । द्वादशस्कन्धेऽन्यथा निरूपणस्य प्रयोजनं तत्रैव वक्ष्यते । **तपः** कृच्छ्रादि । **शौचं** सर्वथा शुद्धता । तद्धेतुराचारः । **दया** परदुःखप्रहाणेच्छा । **सत्यभाषणं** च । एभिश्चतुर्भिर्धर्मो ज्ञायते । प्रत्येकं कृतादिषु प्रधानाः । तस्य धर्मस्य प्रतिपक्ष्यधर्मः । तस्याऽपि चत्वारः पादाः । स च गर्दभरूपः । स चैकशफः । धर्मो द्विशफः । प्रमाणप्रवृत्ती धर्मे । अधर्मे तु न प्रमाणम् । निवृत्त्यर्थं परं ज्ञापनमनुवादेन । अन्यथा वाक्यभेदः स्यात् । भूमिः सर्वैकस्य स्थितियोग्या । उभयोर्भूमिसमानपृथुत्वात् । कालस्तूभयसमानः प्रवृत्तिनिवृत्तिभेदेनोभयस्थापकः । युगप्रवृत्तौ धर्मं निवृत्तावधर्ममिति । ततः कालवशात्त्रीन् धर्मपादान् दूरीकृत्य अधर्मः स्वस्य पादांस्त्रीन् स्थापयामासेत्याह—**अधर्मांशैरिति** । अधर्मस्य पादाश्चत्वारो गर्वसङ्गमदानृतरूपाः । एतेषां दशाविशेषे धर्मप्रवेशादंशपदप्रयोगः ॥२३॥

व्याख्यार्थ—उन उन युगों के अनुसार धर्म के नाना रूप होने से उस समय रहने वाले पैरों को गिना जा रहा है । बारहवें स्कन्ध में अन्यथा निरूपण के प्रयोजन को वहाँ ही कहा जायेगा । कृच्छ्रादि को तप कहा गया है । पूरी तरह से शुद्ध हो जाने का नाम शौच है । उसके लिये ही आचार का विधान है । दूसरे के दुःख को हटाने की इच्छा का नाम ही दया है । यथार्थ कहना सत्य भाषण है । इन चारों से धर्म माना जाता है । प्रत्येक धर्म सत्ययुग आदि में प्रधान माने गये हैं । उस धर्म का प्रतिपक्षी अधर्म है । उस अधर्म के भी चार पाँव हैं । वह गधे के रूप वाला है । उस अधर्मरूपी गधे के एक खुर है । धर्म के पाँव में दो खुर हैं । धर्म में प्रमाण व प्रवृत्ति ये दो खुर हैं । अधर्म में तो प्रमाण वाला खुर नहीं है । निवृत्ति को बताने के लिये अनुवाद का आधार है । यदि ऐसा न हो तो वाक्य भेद हो जावे । भूमि तो सभी के लिये समान रूप से स्थिति योग्य होती है । प्रवृत्ति और निवृत्ति अथवा धर्म और अधर्म ये दोनों ही समान रूप से पृथ्वी पर फैले हुये हैं । काल तो प्रवृति और निवृत्ति दोनों के भेद को समान रूप से स्थापित करता है । युग की प्रवृत्ति में धर्म है तथा निवृत्ति में अधर्म है । काल के वशीभूत होकर धर्म के तीन पाँवों को दूर करके अधर्म अपने तीन पाँवों को स्थापित कर देता है । अधर्म के चार पैर हैं—गर्व, सङ्ग, मद और अनृत (झूठ) । इस दशाविशेष में धर्म प्रवेश से अंश पद का प्रयोग किया गया है ॥२३॥

आभास—कलेर्दोषं वक्तुमाह—

आभासार्थ—अब कलि के दोषों को बताया जा रहा है—

श्लोक—इदानीं धर्म पादस्ते सत्यं निर्वर्त्तयेद्यतः ।
तं जिघृक्षत्यधर्मोऽयमनृतेनैधितः कलिः ।।२४।।

श्लोकार्थ—हे धर्म, इस समय आपके सत्य रूपी पैर रहा है । जिससे आपकी आत्मा का निर्वाह हो रहा है । उस पैर को असत्य द्वारा नष्ट करके यह अधर्म रूप कलियुग, ग्रहण करने की इच्छा करता है ।।२४।।

सुबोधिनी- इदानीमिति । हे धर्म ! इदानीं ते सत्यमेवैक: पादो यतो निर्वर्त्तयेत् स्वात्मानं नितरां वर्त्तयेत् प्रचारयेत् । त्वां वा । सम्बन्धित्वेनोपस्थितत्वात् । विभक्तिव्यत्यासे नाऽध्याहारदोष: । तं पादमधर्मो जिघृक्षति । सत्यहेतुमन्त:करणं वा । नन्वधर्मो जिघृक्षति । कले: कोऽपराध: ? तत्राऽऽह—अधर्मोऽयं कलिरिति । अपरिच्छिन्न: काल: । तस्य कृतादिपदप्रयोगोऽवच्छेदेन वक्तव्य: । तत्रस्वस्य स्वावच्छेदकत्वाभावादन्यस्याऽभावाद्धर्मावच्छेदकत्वेन कृतादिपदप्रयोग: तत्र केवलधर्मावच्छेदकं कृतम् । केवलाधर्मावच्छेदक: कलि: । भागश उभयावच्छेदकं त्रेता । समश उभयावच्छेदकं द्वापरम् । इति । कालस्य द्वितीयराशिपरिच्छेदार्थमागमने धर्मांशमप्यतिक्रम्याऽऽगमनादधर्मांशप्रवेश: । "ये वै चत्वार: स्तोमा: कृतं तत् । अथ ये पञ्च कलि: स" इति श्रुतौ स्तोमचतुष्टयात्मकस्य ज्योतिष्टोमादे: कृतत्वनिरूपणाद्धर्मावच्छेदकत्वं तस्य । अथ तदतिरिक्तो य: काल: पञ्चात्मक: स कलि: । एतदभावचतुष्टयरूपत्वमतिरिक्तञ्च । अत: पञ्चत्वं "समानस्याऽह्न: पञ्च पुण्यानि नक्षत्राणी" त्यत्र प्रसङ्गान्निर्द्धारितम् । अतो यथाऽऽकाशस्य परिच्छेदको घटादि: । तस्य घटाकाशस्य प्रदर्शने घट एव प्रदर्श्यते मध्यभागेन तथाऽयं कलिरित्यर्थ: । पूर्वं कृतेन सह समता हीनता च स्थिता । अधुनोत्कृष्टता । पादत्रयप्रवेशात् । तत्रापि सुतरामनृतेनैधित: पुष्ट स्वशत्रुं धर्मपाद जिघृक्षति । शत्रुशेषस्याऽरक्षणीयत्वात् । अत एव वेदे उभयोरेव नाम । त्रेता कृतशेष: द्वापरं कलिशेष: ।।२४।।

व्याख्यार्थ—इस समय तो आपके एक सत्य रूपी पैर ही है, जिससे अपने स्वरूप को आप हमेशा चलाते हो । अथवा सत्य के सम्बन्ध से आप समीप में आते हो । इसलिये आपको वह सत्य निभा रहा है । मूल में धर्म को कहने वाला सम्बोधन है । उसके बजाय धर्म की विभक्ति को बदलकर द्वितीया का प्रयोग किया जावे तो सत्य धर्म को निभाता है, यह अर्थ बनता है । और जो "हे धर्म" ऐसा सम्बोधन कहो तो स्वयं के आत्मा को सत्य निभाता है, इस प्रकार अध्याहार करके ऊपर का अर्थ करना चाहिये । उस सत्य रूप पैर को अधर्म लेने की इच्छा करता है, अथवा सत्य के कारण रूप अन्त: करण को लेने की इच्छा करता है । अधर्म धर्म के पैर को लेने की इच्छा करे, इसमें कलियुग का क्या दोष ? ऐसी शंका होने पर कहते हैं, कि अधर्म यह कलियुग ही है । काल अनन्त है, उसमें सत्ययुग, त्रेता, द्वापर हैं, और यह

कलियुग भी है, ऐसा कहा गया है। उस काल का विभाग करने वाला कोई भी है, इसलिये सत्य युगादि कहलाते हैं। उसमें काल किसी भी प्रकार से स्वयं से अलग नहीं कर सकता। अतः धर्म और अधर्म ही काल का विभाग करने वाले हैं, जिससे सत्य युग आदि काल का व्यवहार होता है। उसमें जितने समय को धर्म विभाजित करता है, उसे सत्ययुग कहते हैं। और जिसे अधर्म अलग करता है, उसे कलियुग कहते हैं। बड़े भाग में धर्म, और थोड़े भाग में अधर्म, इस प्रकार जब दोनों विभाजन करते हैं, उसे त्रेतायुग कहते हैं। जहां समान भाव से धर्म व अधर्म का बँटवारा होता है, उसे द्वापर युग कहते हैं। इस रीति से काल का विभाग करने वाले धर्म तथा अधर्म हैं। उसमें अधर्म के समूह को दूर करने के लिये जब काल का आगमन हो तब अधर्म के अंश का उल्लंघन करके वह आता है, जिससे अधर्म के अंश का प्रवेश होता है। जिस प्रकार संवत्सर रूपी काल घूमता है और वह प्रत्येक को अपने अन्दर रखे हुये होता है, उसी प्रकार युग के विभाग के समय में भी अधर्म के अंश का प्रवेश होता है। कारण कि "जो चार स्तोम हैं, वह सत्ययुग के हैं और जो पांच हैं, वे कलियुग के हैं, ऐसा कहा गया है। उनमें चार स्तोमादिक ज्योतिष्टोम आदि यज्ञ हैं, उसका सत्ययुग के तरीके से निरूपण किया गया है। इसलिये सत्ययुग का धर्म में अवच्छेदकपना है और इसके अतिरिक्त जो पंचात्मक काल है, वह कलियुग है। अर्थात् सत्ययुग में जो ज्योतिष्टोमादिक चार यज्ञ हैं, उसमें अभाव रूप चार और एक इनसे अलग है, इस प्रकार पांच हुये। उसे वेद में "समान दिनों के पांच पुण्य रूप नक्षत्र हैं" ऐसा कहा गया है। वहां प्रसंगानुसार उसका निर्धार किया गया है। इसलिये "देवस्य सवितुः प्रातः" इस वाक्य में प्रातः काल, संगव काल, मध्याह्न काल, अपराह्न काल, और सायंकाल इस प्रकार पांच काल हैं और उनके सविता, मित्र, वृहस्पति, भग और वरुण ये क्रमवार देवता हैं, जिससे वे पुण्य रूप हैं ऐसा श्रुति में कहा गया है। वहाँ अग्निष्टोमादिक होने से चार का वीर्यपना बताकर चार काल बुरे बताये हैं। उसमें चार काल के अवयवों को ऊपर लिखे अग्निष्टोमादिक चार का अभाव के रूप में निर्धार किया गया है। जिस प्रकार आकाश को अलग करने वाले घट आदि हैं और उन घटों में रहने वाले आकाश को बताने के लिये घड़ा ही बताया जाता है। उन घड़ों के अन्दर और बाहर आकाश रहता है और मध्य भाग में घड़ा बताया जाता है, उसी प्रकार दोनों तरफ काल रहता हुआ मध्य भाग में अधर्म को बताता है, वह अधर्म कलिरूप है। ऊपर बताई गई श्रुति में

सत्ययुग व कलियुग का ही नाम होने से दो युग हैं, यह सिद्ध होता है । उसमें द्वापर युग में सत्ययुग के बराबर ही कलियुग था, जिससे दो पैर धर्म के तथा दो अधर्म के थे । त्रेतायुग में सत्ययुग से कलियुग हीन था, जिससे तीन पैर धर्म के और एक पैर अधर्म का था । इस समय तो तीन पैर अधर्म के फैले हुये है । जिससे कलियुग की उन्नति हुई है । उसमें भी हमेशा असत्य से पोषण पाया हुआ कलियुग अपने शत्रुरूप धर्म का पैर लेने की इच्छा करता है, कारण कि शत्रु का कोई भी अंश रहने देना ठीक नहीं। इसीलिये वेद में सत्ययुग और कलियुग ये दो नाम हैं । उसमें सत्ययुग का शेष त्रेतायुग है और कलियुग का शेष भाग द्वापर युग है ।।२४।।

आभास—एवं धर्मस्य स्वरूपमुक्त्वा भूमिस्वरूपज्ञानमाविष्करोति—

आभासार्थ—इस प्रकार धर्म का स्वरूप कहकर स्वयं को जो पृथ्वी के स्वरूप का ज्ञान हुआ है, उसे प्रकट करते हैं—

श्लोक—**इयञ्च भूर्भगवता न्यासितोरुभरा सती ।**
श्रीमद्भिस्तत्पदन्यासैः सर्वतः कृतकौतुका ।।२५।।

श्लोकार्थ—भगवान् से जिसका अत्यधिक भार उतार दिया है, ऐसी हुई यह पृथ्वी है । शोभायुक्त भगवान् के चरण कमलों के संचरणों द्वारा जहाँ सभी ओर कौतुक किया गया है ।।२५।।

सुबोधिनी—**इयञ्चेति** । चकारादतिरिक्तः कलिः । तस्य विशेषतोऽनिरूपणं चकारेण ज्ञापितम् । अस्या गुणत्रयं दोषत्रयञ्च । इयं हि षडंशा । पूर्वं भगवता **न्यासित** उत्तारित उरुः अधिको भारो यस्याः । भगवत्कृतोपकारत्वं गुणः । ततः **सती** भगवदेकनिष्ठा । भगवतैव स्वांशैरलङ्कृता च । तदाह—**श्रीमद्भिरिति** । न्यासः स्थापनम् । सर्वतः कृतं कौतुकं यस्याम् । अनेन शृङ्गाररसत्वञ्च सूचितम् ।।२५।।

व्याख्यार्थ—धर्म और पृथ्वी के अतिरिक्त कलियुग भी उसी स्थल पर है, इसे मूल में 'च' के द्वारा प्रकट किया गया है । इस पृथ्वी के तीन गुण एवं तीन दोष हैं, इस प्रकार यह पृथ्वी छह अंशों वाली हैं । भगवान् ने पृथ्वी का अतिशय भार उतारा है । इसलिये भगवान् का किया हुआ उपकार पृथ्वी पर है । ये पृथ्वी के गुण हैं, जिससे वह भगवान् में एक निष्टा वाली है और उसी से पृथ्वी सती है । भगवान् ने

ही उसे अपने अंशों द्वारा सजाया है, शृंगार किया है। उसे कहा जा रहा है—कि शोभायुक्त भगवान् के पधारने से पृथ्वी के सब स्थलों में आश्चर्य उत्पन्न किया है। इससे शृंगार रस के भाव को सूचित किया गया है ॥२५॥

आभास—दोषानाह

आभासार्थ—अब पृथ्वी के दोषों को बताया जा रहा है—

श्लोक—**शोचत्यश्रुकला साध्वी दुर्भगेवोज्झिताऽधुना ।**
अब्रह्मण्या नृपव्याजाः शूद्रा भोक्ष्यन्ति मामिति ॥२६॥

श्लोकार्थ—अब उसे भगवान् ने छोड़ दिया है, जिससे उसके नेत्रों में आँसू आ गये हैं। जिससे वह दुर्भागिनी होकर शोक कर रही है, कि राजा के वेश के बहाने से शूद्र मुझे भोगेंगे जो ब्राह्मणों के भक्त नहीं हैं ॥२६॥

सुबोधिनी—**शोचतीति**। भगवत्परित्यागेन शोको दुर्भगात्वमब्रह्मण्यभोगेन पूर्वावस्थात्यागश्च। अश्रूणि कलयतीत्यश्रुकला। स्वकृतदोषाभावाथमाह—**साध्वीति**। भाग्याभाव एव त्यागे हेतुः। तदाह—**दुर्भगेति**। अधुनेति त्यागनैकठ्यं सूचितम्। ननु राज्ञां भगवद्रूपत्वात्तद्भोगे को दोष इति तत्राऽऽह—**अब्रह्मण्या इति**। भगवद्धर्मवैपरीत्यमब्रह्मण्यपदेन सूचितम्। नृपत्वञ्च भाक्तम्। योगाभावात् **शूद्रा इति** भगवद्विरोधित्वम्। "**असुर्यं शूद्र**" इति श्रुतेः। तै भोक्ष्यन्तीति शोको रोदनश्च। अनेन स्वस्य रसाविर्भावाभावान्न तेषां भोगः सेत्स्यतीति भावः सूचितः ॥ २६ ॥

व्याख्यार्थ—भगवान् द्वारा परित्याग कर दिये जाने से पृथ्वी का दुर्भागीपना, अब्रह्मण्यों द्वारा भोगाजाना, (ब्राह्मण और ब्रह्म को न मानने वाले शूद्र असुर) और पूर्व अवस्था के त्याग का शोक बताया गया है। इन सभी कारणों से वह आँसू बहा रही है। उस पृथ्वी ने स्वयं कोई दोष नहीं किया है, अतः उसे साध्वी कहा है। भगवान् द्वारा त्याग दिये जाने से ही उसके भाग्य का अभाव हो गया है। अतः उसे भाग्य हीन अथवा दुर्भगा बताया गया है। 'अधुना' शब्द से "अभी-अभी हो त्यागा है" ऐसे त्याग की निकटता को सूचित किया है। राजा भी तो भगवान् के रूप ही होते हैं, यदि वे पृथ्वी का भोग कर रहे हैं तो इसमें दोष वाली क्या बात है ? तो इस विषय में कहा जा रहा है—कि वे राजा अब्रह्मण्य हैं। भगवत् धर्म से विपरीत

चलने को अब्रह्मण्य शब्द के द्वारा सूचित किया गया है । नरों का पालन करना ही सच्चा नृपपना है । जब उस नृपपने की स्थिति के योग का अभाव है, तो वह राजा की परिभाषा में आया ही नहीं । इस प्रकार से ऊपरी तौर पर राजा का वेश बनाये हुये भगवान् के विरोधियों को शूद्र कहा गया है । श्रुतियों में कहा है, कि "असुर ही शूद्र हैं" । वे शूद्र पृथ्वी को भोगेंगे, यही पृथ्वी के शोक व रोने का कारण है । इससे पृथ्वी में रस का आविर्भाव न होने से उसे भोगे जाने वाला भाव घटित नहीं हो रहा है, यह सूचित किया गया है ।।२६।।

आभास—उपसंहरति—

आभासार्थ—अब इस प्रसंग के एक भाग का उपसंहार करते हुये कहते हैं—

श्लोक—**इति धर्मं महीञ्चैव सान्त्वयित्वा महारथः ।**
निशातमाददे खड्गं कलयेऽधर्महेतवे ।।२७।।

श्लोकार्थ—महारथी परीक्षित् ने इस प्रकार धर्म और पृथ्वी को सान्त्वना देकर अधर्म के कारण रूप कलिकाल पर अपना सजा हुआ खड्ग उठा लिया ।।२७।।

सुबोधिनी—इतीति । चकार उक्तसमुच्चयार्थः । एवकारः कलिनिषेधार्थः । **महारथ इति** निग्रहसामर्थ्यम् । कलेर्देवतात्वात्तीक्ष्णखड्गेन शिरश्छेदनमयुक्तमित्याशङ्क्याऽऽह-**अधर्महेतव इति** । अधर्मकारणाय । निवृत्त्यर्थे चतुर्थी । मशकेभ्यो धूम इति वत् ।।२७।।

व्याख्यार्थ—कथन किये गये भावों को इकट्ठा अर्थ वाला बनाने के लिये 'च' कार का प्रयोग किया हैं । 'एव' शब्द का प्रयोग कलि के निषेध अर्थ में प्रयुक्त हुआ । महारथी शब्द परीक्षित् द्वारा कलिकाल को नियन्त्रित करने की सामर्थ्य को बताता है । कलि देवता स्वरूप होने से उसके मस्तक को तीक्ष्ण तलवार से काटना उचित नहीं समझा गया है, इस आशंका से कहते हैं—कि वह अधर्म की विचार धारा को उत्पन्न करने में कारण रूप हैं । उसकी निवृत्ति के अर्थ में चतुर्थी का प्रयोग किया गया है । जिस प्रकार मच्छरों को हटाने के लिये धुएँ का प्रयोग किया जाता है, वैसे ही यहां कलिकाल के प्रसार को मिटाने के लिये तलवार का प्रयोग हुआ है ।।२७।।

आभास—अदृश्यतया गमने न प्रयोजनं न वा निस्तारः । धर्मवाक्यानां श्रवणात्तदर्थपर्यालोचनया राजन्यभिमानादिः स्वकुटुम्बमस्तीति ज्ञात्वा स्वनाशभयं परित्यज्य तच्छरणं गत इत्याह—

आभासार्थ—धर्म व राजा के वार्तालाप को सुनने के बाद कलिकाल न तो छिपकर भाग ही सकता और न ही इससे उसका कोई प्रयोजन सिद्ध हो सकता था अर्थात् उस प्रक्रिया से उसका निस्तार (बचाव) नहीं हो सकता था । धर्म के वाक्यों को सुनकर उसके अर्थ का विचार करने से तथा राजा के गौरव मय पाण्डव कुटुम्ब तथा उसके अभिमान युक्त वचनों को सुनकर "कि मैं इन्द्र की भुजा भी उखाड़ डालू" अपने नाश के भय को छोड़कर राजा परीक्षित् की शरण में गया; अब इस प्रसंग को कहा जा रहा है—

श्लोक— **तं जिघांसुमभिप्रेत्य विहाय नृपलाञ्छनम् ।**
तत्पादमूलं शिरसा समगाद्भयविह्वलः ॥२८॥

श्लोकार्थ—महाराज परीक्षित् द्वारा मोर जाने वाली इच्छा को समझकर, घबराये हुये कलि-काल ने अपने राजा होने के आडम्बर को त्याग दिया । भय से विह्वल हुये उसने राजा परीक्षित् के चरणों में शिर झुका दिया ॥२८॥

सुबोधिनी—**तं जिघांसुमिति** । राजचिह्नं छत्रादि । लोके आज्ञापनं त्यक्त्वेत्यर्थः **पादमूलमिति** स्वस्य राजशेषत्वं ज्ञापितम् । शरणागतस्तव सेवक इति । **भयविह्वल इति** । धर्मश्चेत्प्रेरयेत्तदा मारयिष्यतीति भयम् । कापट्यं वा ज्ञास्यति । चरणपातव्याजेन राजानमपि स्पृशति । येन तस्याऽप्यग्रे दुर्बुद्धिरुत्पत्स्यते । धर्मसान्निध्यादिममथ ज्ञास्यतीति भयम् ॥२८॥

व्याख्यार्थ—छत्र आदि धारण करना और लोक में आज्ञा मनवाना ये राजा के लक्षण हैं । कलियुग ने उन चिह्नों को छोड़ दिया । वह सम्राट परीक्षित् के चरणों में गिर गया । इस स्थिति से वह एक मात्र अब तक शरण में आने से बच रहा था ऐसा स्वयं का राजवशेषत्व ज्ञापित किया गया है । अर्थात् आपकी शरण में आकर आपका सेवक हो गया हूँ, यह बताया गया है । वह भय के मारे घबराया हुआ है, कि क्या पता ? यदि धर्म यों कह दे कि इसे मार दो, तो राजा मुझे मार देगा । अथवा कलि की कपट क्रीड़ा जान जायेगा, कि चरणों में गिरने के बहाने से वह राजा का भी स्पर्श कर लेना चाहता है, जिससे आगे जाकर

परीक्षित् जी की भी दुर्बुद्धि हो जायेगी (ऋषि के गले में सांप डालने वाला प्रसंग)। धर्म के सम्पर्क में आ जाने से राजा कहीं इस रहस्यमय अर्थ को तो नहीं समझ जायेगा ? इस भय से वह विह्वल हो रहा है ॥२८॥

आभास—चरणपातानन्तरं यज्जातं तदाह—

आभासार्थ—चरणों में गिरने के बाद वाली स्थिति को बताया जा रहा है—

श्लोक—**पतितं पादयोर्वीरः कृपया दीनवत्सलः ।**
शरण्यो नाऽवधीच्छ्लोक्य आह चेदं हसन्निव ॥२९॥

श्लोकार्थ—दीनों के वत्सल तथा श्लोक्य (यश वाले), शरण में आये हुओं की रक्षा करने वाले वीर परीक्षित्, कलियुग को चरणों में पड़ा हुआ देखकर, हँसते हुये से कहने लगे ॥२९॥

सुबोधिनी—**पतितमिति** । **पादयोरिति** गतिनाशः सूचितः । सोऽपि धर्मबुद्धेरुपकाराय भविष्यति । इहैव भगवत्सायुज्यात् । **वीर इति** स्वधर्मानुसन्धानं न प्रकृतविचारः । धर्मसान्निध्याद्दयादिप्रवेशोऽधर्मसान्निध्यात्तत्र जातः । तदाह—**कृपयेति** । इयं दया लौकिकीत्याह—**दीनवत्सल इति** । वत्संलातीति पशुः । दीनविषये न विचार कृत इत्यर्थः । पूर्वजकीर्त्तिरक्षार्थं नाऽस्य बुद्धिर्जाता स्वधर्म एव जातेति **शरण्य** इत्युक्तम् । लोकापवादभयादपि । तदाह—**श्लोक्य इति** । **इदं** वक्ष्यमाणमाह च । अनिष्टं निवर्त्तितमिष्टञ्च प्रयच्छतीत्यर्थः । **हसन्निवेति** मुखप्रसादो गर्वलेशसम्बन्धो वा ॥२९॥

व्याख्यार्थ—कलियुग, चरणों में लोट रहा है, इसलिये परीक्षित् की गति नष्ट हो गई है, यह सूचित किया है । उस गति का नाश भी धर्म बुद्धि के उपकारार्थ होगा, कारण कि इस लोक में ही उनके लिये भगवान् से सायुज्य हो जाना लिखा हुआ है । 'वीर' यहाँ एक गूढ़ अभिप्राय से प्रयुक्त हुआ है; कि वह अपने धर्म का अनुसन्धान करने वाले हैं, साधारण प्रकृति सम्बन्धी सांसारिक विचार उनके नहीं हैं । धर्म की समीपता से राजा के हृदय में दया आदि कोमल भावों का प्रवेश होना वहां अधर्म के पास आ जाने के कारण को लेकर हुआ । इस प्रसंग में उनकी कृपालुता को बताया जा रहा है । यह दया लौकिक सम्बन्धी है और इसी प्रसंग में उन्हें दीन वत्सल कहा गया है । बछड़े को ग्रहण करने वाला पशु होता है । यहां कलियुग

भी पशु जैसा दीन बन गया है, जब दीन ही बन गया है, तो फिर क्या विचार करना ? यह अर्थ हुआ । अपने पूर्वजों की कीर्त्ति को स्थिर बनाने का विचार न रहकर, उसकी रक्षा को ध्यान में न लाते हुये, अपने धर्म के पालन को ही प्रमुखता दी । इसी के लिये शरण्य का प्रयोग हुआ । लोक में निन्दा न फैल जाये, कि ये लो, बेचारा पैरों में पड़ गया था, फिर भी मार डाला, इस भय से भी उनको अभय देना अनिवार्य हो गया था । क्योंकि उन्हें श्लोक्य (अतिशय यश वाला) कहा गया है । जिसका इतना विस्तृत यश हो वह एक ही घटना अपयश वाली क्यों होने दे ? 'इदं' शब्द आगे बोले जाने वाले कथन को उद्घाटित करता है । कलियुग की विपत्तियों का अन्त और उसके इच्छा किये गये पदार्थों या सुविधाओं के दिये जाने का अर्थ है । राजा के हँसते हुये जैसे होने का तात्पर्य मुख पर कृपा का भाव लाने अथवा गर्व निवृत्ति के बाद उत्पन्न होने वाले प्रसाद भाव से है ।।२६।।

आभास—कलेः कम्पं दृष्ट्वा कालान्तरे मारयिष्यतीति शङ्काऽस्य वर्त्तत इत्यनुमाय तन्निवृत्यर्थमाह—

आभासार्थ—भविष्य में राजा मार न डाले इस आशंका का अनुमान लगाते हुये, कलि को थर-थर काँपता हुआ देखकर, उसके डर को मिटाने के अभिप्राय से परीक्षित् जी इस प्रकार कहने लगे—

श्लोक—न ते गुडाकेशयशोधराणां
बद्धाञ्जलेर्वै भयमस्ति किञ्चित् ।
न वर्त्तितव्यं भवता कथञ्चन
क्षेत्रे मदीये त्वमधर्मबन्धुः ।।३०।।

श्लोकार्थ—तुम हाथ जोड़कर खड़े रहने वालों को हम अर्जुन के यश धारियों का डर थोड़ा सा भी नहीं करना चाहिये । पर तुम इतना याद रखो कि किसी भी प्रकार से हमारे क्षेत्र में नजर न आओ, क्योंकि तुम अधर्म के बन्धु हो ।।३०।।

सुबोधिनी—न ते गुडाकेशेति । गुडाका निद्रा तस्या ईशोऽर्जुनः । अनेन मायामोहाभावान्न त्वत्कृतमस्माकं भयमिति सूचितम् । **यशोधराणामिति** । यशोलज्जयाऽप्यधर्मं न करिष्याम इति भावः । सत्यप्रतिज्ञार्थं वा । अहं तु पौत्र एव । अन्येऽपि ये केचनाऽर्जुनस्य यशोधारकास्तेषाम-

प्यग्रे बद्धाञ्जलेस्तव किमपि भयं नास्ति । इन्द्रादिरपि भयजननासमर्थ इत्यर्थः । परमस्मदीया आज्ञा परिपालनीयेत्याह—**न वर्त्तितव्यमिति** । **कथञ्चन** । केनाऽप्यंशेन । स्वस्य जम्बूद्वीपराज्यमल्पमिव निरूपयति—**क्षेत्रमिति** (?) उत्पत्तिस्थानं वा । अतो यदेव बीजं पतिष्यति तदेवोत्पत्स्यत इति त्वया न स्थातव्यम् । तत्र हेतुः—**अधर्मबन्धुरिति** । तधर्मं निवार्ये दण्डचे वाऽपकारं करिष्यतीति सूचितम् । अत एवेदानीं पाषण्डिनां निराकरणे निराकर्त्तु भयम् । ३०॥

व्याख्यार्थ—गुडाकेश अर्थात् गुडाका ईश । गुडाका निद्रा को कहते हैं जिसने उस निद्रा को जीत लिया है, वह उसका ईश है, अर्जुन ने गुडाका को जीत लिया, अतः वे गुडाकेश हैं । इससे माया व मोह के अभाव होने से तुम्हारे द्वारा की जाने वाली बुराइयों का हमको तनिक भी डर नहीं है, यह सूचित किया गया है । पूर्वजों का यश धारण करने की लज्जा से भी हम अधर्म नहीं करेंगे, यह भाव हुआ । अथवा सत्य प्रतिज्ञा वाले होने से भी हम इस ओर प्रवृत्त नहीं होंगे । मैं तो खैर उनका पौत्र ही हूं, परन्तु दूसरे भी जो कोई अर्जुन के यश को धारण करने वाले हैं, उनके आगे भी अगर तुम हाथ बाँधे खड़े हो जाओगे, तो तुम्हें किसी प्रकार का भय नहीं है । इन्द्र भी तुमको भय उत्पन्न कर सकने में असमर्थ रहेगा, यह अर्थ हुआ । परन्तु तुम्हें हमारी आज्ञा का ताबेदार होकर, हम कहें जो करना होगा; ऐसा कहा गया है । तुम किसी भी तरह से हमारे राज्य क्षेत्र में अपने क्रिया कलाप नहीं करोगे । तुम्हारे किसी भी अंश से हमारे क्षेत्र प्रभावित नहीं होने चाहिये । अपने जंबूद्वीप राज्य को भी थोड़ा समझकर सम्पूर्ण क्षेत्र की सीमा से भी बाहर हो जाने का निरूपण किया है । अथवा क्षेत्र का तात्पर्य उत्पत्ति स्थान से होता है । जब-जब तुम्हारा बीज गिरेगा तब-तब ही तुम्हारी उत्पत्ति होगी अतः तुम हमारे क्षेत्र में नहीं रहोगे । इसका यह कारण है, कि तुम अधर्म के बन्धु हो । क्योंकि अधर्म का निवारण करने पर अथवा उसको दण्ड दिये जाने पर तुम बुराइयाँ पैदा करोगे, यह सूचित किया गया है । इससे इस समय पाखण्डियों का निराकरण करने में निराकरण करने वाले को भय होने की स्थिति में बताया गया है ॥३०॥

आभास—ननु राज्ञ एतदेव कार्यं यत् प्रजाशिक्षणं दण्डश्च । अतो लाभहेतुं मां कुतो निवारयसीत्यत आह—

आभासार्थ—प्रजा को शिक्षण देना तथा दण्ड देना, यही तो राजा का कार्य है और मैं उसमें लाभ का कारण रूप हूं, फिर आप मेरा निवारण किस लिये करते

हो ? कलियुग यदि ऐसी बात करे, तो उसके उत्तर में कहते हैं, कि—

श्लोक—**त्वां वर्त्तमानं नरदेवदेहेष्वनुप्रवृत्तोऽयमधर्मपूगः ।**
लोभोऽनृतं चौर्य्यमनार्य्यमंहो ज्येष्टा च माया कलहश्च दम्भः ।।३१।।

श्लोकार्थ— राजाओं के शरीरों में तेरे द्वारा रहे जाने से अधर्म का समूह उसमें प्रविष्ट हो जाता है । इस अधर्म समूह के अहं लोभ, झूठ, चोरी, दुष्टता, पाप और यह सबसे बड़ी द्ररिद्रता माया (वचन चातुरी) तथा कलह, दम्भ आदि तेरे पीछे चले आते हैं ।।३१।।

सुबोधिनी—**त्वां वर्त्तमानमिति** । यदि राजानस्त्वया त्यक्ताः स्युस्तदा तेषां लाभो भवेत् । तेषामप्यधर्मित्वे स्वरूपनाशात्किं लाभेन । स्वस्याऽपि तथात्वेनाऽनुमोदनादलाभश्च । अतएव नरदेवदेहेषु वर्त्तमानं त्वामनु अधर्मसमूहोऽपि प्रविष्टः । स च प्रत्यक्षोऽस्मास्वपि वर्त्तत इतीदमा निर्दिशति । तमधर्मपूगमेव गणयति । नव तस्य प्राणाः । **लोभः** परद्रव्याभिलाषः । ततस्तत्सिद्धयर्थ**मनृतं** मिथ्यैव त्वयैवं कृतमिति वाच्यतापादनादि । प्रतियोगिनो बलवत्त्वे **चौर्य्यं** गुप्ततया वित्तहरणम् । दौर्बल्ये तु **अनार्थं** प्रत्यक्षत एव स्त्रीरत्नादिहरणम् । आर्यविरूद्धशीलत्वात्तस्याऽनार्यत्वम् । तस्याऽशक्तौ **अंहः** अपराधकरणमग्निदाहादि । ततो **ज्येष्टा** दारिद्रयसम्पादनम् चकारात्स्वस्याऽपि दारिद्रयम् । ततो वञ्चनचातुरी **माया** । ततः कलह. । पुनर्विश्वासार्थं दम्भश्च । चकारात्कलहानन्तरं मारणं वा ।।३१।।

व्याख्यार्थ—यदि राजा लोगों में रहने की स्थिति को तुमने छोड़ दिया हो तो उनका लाभ हो । उन राजाओं के अधर्मी बन जाने से स्वरूप नाश के कारण उनसे क्या लाभ ? स्वयं भी वैसे होने से पाप का अनुमोदन करेंगे तो लाभ वाली कोई स्थिति ही नहीं रहो । इसलिये राजाओं के शरीरों में रहने से तुम्हारे पीछे-पीछे अधर्म का समूह भी प्रविष्ट हो जाता है । वह प्रत्यक्ष रूप से हमारे शरीर में भी स्थित है, यह निर्देशित किया गया है । अब अधर्म के समूह की गणना की जा रही है । उस अधर्म के नो प्राण हैं । दूसरे के धन की इच्छा करने रूपी लोभ, उसकी सिद्धि हेतु झूठ, कि तुमने ही ऐसा किया है आदि शब्दों का प्रयोग करता है । प्रतियोगी के बलवान् होने पर छिपे रूप से धन का हरण करना, यह चोरी है । दुर्बलों पर बल प्रयोग द्वारा प्रत्यक्ष में स्त्री आदि का हरण करना अनार्यता अर्थात् दुष्टता है । यह आचरण आर्यों के विरुद्ध होने से अनार्यता कहा गया है । उसमें अशक्त होने पर अपराध करने रूपी; अंहः किया जाता है जैसे किसी को आग से जला देना

आदि । इसके बाद है दरिद्रता, जिसे ज्येष्टा के नाम से कहा गया है । 'च' शब्द से स्वयं का दरिद्र होना बताया गया है । वचनों की चतुराई से किसी को ठगना, यह माया है । इसके बाद कलह, और फिर से विश्वास जमाने के लिये दम्भ होता है । अथवा चकार से कलह के बाद मारने वाली स्थिति का क्रम उत्पन्न होता है ।।३१।।

आभास—उपसंहरति—

आभासार्थ—ऐसा कहते हुये अब चल रहे प्रसंग का उपसंहार करते हैं—

श्लोक—**न वर्त्तितव्यं तदधर्मबन्धो धर्मेण सत्येन च वर्त्तितव्ये ।**
ब्रह्मावर्ते यत्र यजन्ति यज्ञैर्यज्ञेश्वरं यज्ञवितानविज्ञाः ।।३२।।

श्लोकार्थ—हे अधर्म के बन्धु, धर्म और सत्य के रहने के योग्य स्थान में, तुझे नहीं रहना चाहिये, कारण कि तुम अधर्म के बन्धु हो । इसलिये यज्ञ के विस्तार को विशेष जानने वाले यज्ञों द्वारा यज्ञेश्वर का पूजन करते हैं अतः इस ब्रह्मावर्त देश में तुम नहीं रहोगे ।।३२।।

सुबोधिनी—न वर्त्तितव्यमिति । हे अधर्मबन्धो तस्माद्धेतोर्न वर्त्तितव्यम् । अधिकरणस्य तद्विरोधित्वं प्रकटयति—**धर्मेणेति** । धर्मेण कायिकेन । सत्येन वाचिकेन । चकारान्मानसिकेन । कायवाङ्मनोभिर्ये धर्मकर्त्तारस्तेषामेव स्थानयोग्ये । तत्रापि देशविशेषं निर्दिशति—**ब्रह्मावर्त्त इति** । तद्धि धर्मक्षेत्रम् । तत्र यदि निर्दुष्टो धर्म उत्पन्नस्तदाऽन्यत्राऽधर्ममपि नाशयेत् । अतो धर्मक्षेत्रे त्वया न स्थातव्यम् । न च कदाचिदपि तत्र धर्मशून्यता । देवानामपि देवयजनत्वेन निरन्तर यज्ञसंभवात् । तदाह—**यत्र यजन्ति यज्ञैरिति** । तत्रापि मुख्यधर्मप्रकारेण यजन्तीत्याह—**यज्ञेश्वरमिति** । **'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवा'** इति श्रुतिरनुसन्धेया । नन्वहमप्येकदेशे स्थास्यामीति चेत् । तत्राऽऽह—**यज्ञवितानविज्ञा इति** । यज्ञवितानो यज्ञविस्तार उक्थ्यादयः । तत्र विशेषज्ञः । अनने त्वयि प्रविष्टे ते तदानीमेव ज्ञास्यन्ति ततो न करिष्यन्तीति सूचितम् ।।३२।।

व्याख्यार्थ—हे अधर्म के सगे भाई कलि ऊपर बताये तुम्हारे समूह के कारण तुम्हें यहाँ नहीं रहना चाहिये । आधार बनने के उसके विरोधीपने को बताते हैं । धर्म, जो शरीर द्वारा हो; वाणी के द्वारा सत्य और च से मानसिक रूप से धर्म हो । जो शरीर, मन और वाणी से धर्म के करने वाले हैं, उनमें ही स्थान होने की योग्यता है । फिर भी देश विशेष का निर्देश कर रहे हैं । कि ब्रह्मावर्त्त जो धर्म का क्षेत्र है, वहाँ यदि निर्दोष धर्म उत्पन्न होगा तो अन्यत्र उत्पन्न होने वाले अधर्म को भी

नष्ट कर देगा। इसलिये धर्म के क्षेत्र में तुम्हें नहीं रहना है। क्योंकि इस क्षेत्र में कभी भी धर्म की शून्यता नहीं रहती है। देवताओं द्वारा भी निरन्तर देव पूजन के द्वारा यहाँ यज्ञ होते रहते हैं। इसीलिये कहा है–कि जहाँ यज्ञों द्वारा भगवान् का पूजन किया जाता है। इसमें भी मुख्य धर्म के प्रकार के रूप में ईश्वर के पूजन शब्द पर जोर दिया गया है। श्रुति के अनुसन्धान से भी यह बात स्पष्ट है, जिसमें वर्णन है, कि "देवताओं ने यज्ञों द्वारा यज्ञेश्वर भगवान् का पूजन किया।" यदि कलि यह कहे, कि चलो मैं तो किसी एक छोटे से स्थान में ही रह लूंगा, तो उसके उत्तर में कहते हैं कि यहाँ स्थान-स्थान पर यज्ञ को विस्तार देने वाले बड़े-बड़े विज्ञ विशेषज्ञ निवास करते हैं। तेरे किसी भी स्थान में प्रवेश होते ही वे तुम्हारी गति-विधि जान जायेंगे तो यज्ञ आदि करना छोड़ देंगे, यह सूचित किया है। अतः तुम तो यह ब्रह्मावर्त क्षेत्र सम्पूर्णतया छोड़ दो ॥३२॥

आभास—ननु किं यज्ञैः। ऐहिकेष्टसिद्धिस्त्वयैव कर्त्तव्या। परलोकस्तु विचारणीयः। तत्राऽऽह—

आभासार्थ—यज्ञ करने का क्या फल होगा? इस लोक के फलों को तो आपको भी भोगना चाहिये। परलोक तो केवल सोचने की वस्तु है। उस प्रसंग में कहते हैं—

श्लोक—**यस्मिन् हरिर्भगवानिज्यमान**
इज्यात्ममूर्त्तिर्भजतां शं तनोति।
कामानमोघान् स्थिरजङ्गमाना-
मन्तर्बहिर्वायुरिवैष आत्मा ॥३३॥

श्लोकार्थ—जो देव यज्ञों में और यज्ञों में पूजे जाते हैं, और जो समस्त देवताओं के आत्मारूप हैं और मूर्त्ति रूप हैं, जैसे वायु प्रत्येक के अन्दर और बाहर है वैसे ही भगवान् सबके अन्दर और बाहर हैं। ऐसे भगवान् यज्ञ करने वालों के सुख को बढ़ाते हैं और उनके काल को सफल बनाते हैं ॥३३॥

सुबोधिनी—यस्मिन्निति। यस्मिन् देवयजने हरिरिज्यमान उद्देश्यो यज्ञपुरूषो विष्णुरेव साक्षाद्भगवान्। ननु देवा एवेन्द्रवाय्वादयस्तत्रेज्यन्ते। तत्राऽऽह—**इज्यात्ममूर्त्तिरिति**। इज्याना-

मात्मा मूर्त्तिश्चाऽयम् । ततः किमत आह—**भजतां शं तनोतीति** । भक्तिमार्गानुसार्याधिदैविकयज्ञा एते । तत्र नाऽदृष्टद्वारा फलं किन्तु प्रीता देवता फलं प्रयच्छतीति । स्वस्योद्देश्यत्वाभावाच्च । भगवतश्च तथात्वात् । अतः प्रीतिरेव द्वारम् । आध्यात्मिकेषु चाऽदृष्टद्वारा फलम् । भौतिकेषु भूतसंस्कारद्वारा । सर्वत्र वा भगवान् फलदाता । "**फलमत उपपत्तेरि**" ति । तदाह—**भजतां शं तनोतीति** । धर्मपक्षे विस्ताराभावः । अमोघाश्च न कामाः । स्थिरजङ्गमानां च न फलसम्बन्धः । अतो यथावेदं यज्ञकरणमत्रैव फलं च । किञ्च । यज्ञैः सन्तुष्टो भगवान् ज्ञानमपि प्रयच्छति । अन्तर्बहिश्च प्रकटो भवतीत्याह—**अन्तर्बहिरिति** । एकस्योभयत्वं सदृष्टान्तमाह—**वायुरिवेति** । प्राणवायुशब्दभेदेऽपि तथा पदार्थस्यैकत्वं तथा भगवानन्तर्बहिः पदार्थत्वेन व्यवह्रियमाणोऽप्येक एवेत्यर्थः । ननु दृष्टान्तेनैव भगवांस्तथाऽस्तु । सर्वत्वात् । अत आह—**एष आत्मेति** । न प्राणमात्रत्वमस्य । किन्त्वयमात्मा । **एष इति** भक्तया स्फुरन्तं भगवन्तं निर्दिशति ॥३३॥

व्याख्यार्थ—जिस देव पूजन में या यजन में भगवान् के पूजन के उद्देश्य से यज्ञ पुरुष साक्षात् भगवान विष्णु का यजन होता है । वहाँ तो इन्द्र, वायु आदि देवताओं का पूजन होता है, भगवान् का कहाँ ? तो उसका उत्तर देते हैं—कि यज्ञ ही उनका प्रत्यक्ष दृश्यमान रूप है अथवा मूर्त्ति है । तो इससे क्या अन्तर पड़ा ? तो कहते हैं, कि ये यज्ञ भक्तों के कल्याण को करते हैं । भक्ति मार्ग के अनुसार ये आधिदैविक यज्ञ हैं । यहाँ भाग्य या अदृष्ट के द्वारा फल नहीं, किन्तु प्रसन्न हुये देवता फल प्रदान करते हैं । स्वयं की कोई कामना या उद्देश्य का अभाव होने से केवल भगवत् प्राप्ति ही एक मात्र भावना होने से, भगवान् स्वयं ही भक्त के प्रति कृपालु बनकर स्वरूप दान देते हैं । अतः भगवान् से प्रेम करना ही इसका मुख्य द्वार है । आध्यात्मिक यज्ञों का फल अदृष्ट द्वारा होता है । भौतिक यज्ञों का फल पंच महाभूतों की शुद्धि करने मात्र तक सीमित है । सब जगह भगवान् ही फल देने वाले हैं । कहा गया है कि, "फल की उत्पत्ति एक मात्र भगवान् से ही है" । कहा गया है, कि वे भजन करने वालों को कल्याण का विस्तार प्रदान करते हैं । धर्म पक्ष में कामना के विस्तार का अभाव है । यहाँ भगवत् इच्छा ही अमोघ फलों को देने वाली है, कामनाएँ करना इस पक्ष में सफल नहीं होता । स्थिर और जंगमों में तो फल का सम्बन्ध न होने से कामना किये जाने पर यज्ञ करने का फल प्राप्त होता है । इससे अधिक क्या कहें ? कि यज्ञ ने सन्तुष्ट हुये भगवान् ज्ञान भी प्रदान कर देते हैं । वे अन्दर और बाहर दोनों ओर से प्रकट हो जाते हैं । एक का ही दो रूपों में प्रकट होने पर वायु का दृष्टान्त दिया गया है । प्राण वायु और महावायु शब्दों के भेद से भी जिस प्रकार पदार्थ की एकता का बोध होता है उसी प्रकार भगवान् पदार्थ में व्यवहार करते समय भी

बाहर और भीतर से एक ही होते हैं। इस दृष्टान्त से भगवान् वायु के समान सब जगह व्यापक हैं। वे सर्व रूप हैं, सब कुछ बन सकने की सामर्थ्य वाले हैं। इसीलिये कहा गया है—वे भगवान् यह आत्मा रूप से हैं। भगवान् प्राण रूप नहीं है, प्रत्युत् आत्मा ही हैं। एष शब्द से भक्ति के द्वारा स्फुरित होते हुये भगवान् का निर्देशन किया गया है ॥३३॥

आभास—एवं प्राप्तजीवाभयो विशेषं प्रार्थयितुं पुनर्नम्रभावनां कृत्वा वञ्चयितुमारभत इत्याह—

आभासार्थ—इस प्रकार से जिस कलियुग को जीवन दान मिला है या अभयपन मिला है, वह फिर से विशेष प्रार्थना के द्वारा राजा को छलने के लिये विनम्रता प्रदर्शित करता है, श्री सूतजी शौनक से इस प्रसंग में आगे कहते हैं—

सूत उवाच— श्लोक—**परीक्षितैवमादिष्टः स कलिर्जातवेपथुः ।**
तमुद्यतासिमाहेदं दण्डपाणिमिवोद्यतम् ॥३४॥

श्लोकार्थ—परीक्षित् जी ने जिस कलियुग को इस प्रकार की आज्ञा की है, ऐसा वह कलियुग काँपता हुआ उन परीक्षित् जी से कहने लगा, जो हाथ में दण्ड रूपी तलवार को लिये खड़े हैं ॥३४॥

सुबोधिनी—**परीक्षितैवमिति । आदिष्ट** आज्ञप्तः । **जातवेपथुः** । प्रतिज्ञां सत्यां करिष्यतीति इदानीं गन्तव्यं पततीति च । विलम्बस्तूष्णीम्भावो वाऽशक्य इत्याह—**उद्यतासिमिति** । कृतपूर्वापराधस्याऽवश्यदण्डकर्त्तृत्वं ज्ञापयति—**दण्डपाणिमिवेति** । सकृदपराधः सोढः । अतः परं मारयिष्यती त्याह—**उद्यतमिति** । ३४॥

व्याख्यार्थ—कलिकाल को देश निकाले की आज्ञा दी गई है। वह काँप रहा है, कि कहीं ये मेरे द्वारा बाहर न जाने पर मार ही डालें, क्योंकि इनकी प्रतिज्ञा सत्य है। आज्ञा पालन में विलम्ब करना अथवा चुप रहना उचित नहीं है, क्योंकि ये तलवार ताने हुये खड़े हैं। पहले जो अपराध किया है, उसका दण्ड ये अवश्य देंगे। ये दण्ड ग्रहण किये हुये हैं, इस भाव को बताया है। एक बार का अपराध तो सहन करने योग्य है, पर आज्ञा का पालन न करने रूपी दूसरा अपराध करने पर तो मार ही डालेंगे, क्योंकि ये बिल्कुल तैयार खड़े हैं ॥३४॥

आभास—विज्ञापनामाह—

आभासार्थ—कलियुग प्रार्थना करने लगता है—

कलिरुवाच—श्लोक—**यत्र क्वचाऽथ वत्स्यामि सार्वभौम तवाऽऽज्ञया ।
लक्षये तत्र तत्राऽपि त्वामात्तेषुशरासनम् ।।३५।।
तन्मे धर्मभृतां श्रेष्ठ स्थानं निर्देष्टुमर्हसि ।
यत्रैव नियतो वत्स्य आतिष्ठंस्तेऽनुशासनम् ।।३६।।**

श्लोकार्थ—आपकी आज्ञा से मैं जहाँ कहीं भी रहने जाता हूँ, वहीं आप धनुष बाण हाथ में लिये खड़े दिखाई देते हो । क्योंकि आप चक्रवर्ती होने से आपकी आज्ञा का पालन सर्वत्र होता है । अतः धर्म के धारण करने वालों में श्रेष्ठ हे राजा परीक्षित् आप मुझे स्थान बताने के योग्य हो, जहाँ आपकी आज्ञा का अनुसरण करता हुआ मैं सदैव स्थायी रूप से निवास करूँ ।।३५।।३६।।

सुबोधिनी—यत्रेति । हे सार्वभौम । सर्वा भूमिस्तवैव । अहमपि त्वदीयः । अतो मदधिष्ठितभूमेरेव त्वमीश्वर इति ज्ञापितम् । पूर्वमस्माकं स्वातन्त्र्यं स्थितमधुना तवैवाऽऽज्ञा कर्त्तव्येत्याह । **अथेति** भिन्नप्रक्रमे । त्वदाज्ञया यत्र क्व च वत्स्यामि । मम स्थितौ नास्ति सन्देहः । पर त्वया रोषो न विधातव्यः । जीवता च क्वचित्स्थातव्यम् । जीवनं च त्वयैव दत्तम् । अतः स्वकृतया त्वदाज्ञाव्यतिरेकेऽपि जीवनरक्षणाद्दत्तवाऽऽज्ञा । मत्कार्यदर्शनाच्च क्रोधं करिष्यसीत्याह—**लक्षय इति** । यत्रैव स्थास्यामि तत्रैव त्वामात्तशरासनं द्रक्ष्यामि । अतो यत्र स्थित्वा त्वामात्तशरासनं न द्रक्ष्यामि तत्स्थानं देहीत्याह—**तन्म इति** । चातुर्येण प्रार्थितम् । त्वां द्रक्ष्यामि शरासनरहितम् । अतो मद्दर्शनमात्रेणैव शरासनं त्यक्तव्यमिति भावः । **धर्मभृतां श्रेष्ठेति** याचितदान दत्तपरिपालनं च सूचितम् । यद्यप्यहं तत्र स्थास्यामि पर त्वया निर्देष्टव्यम् । त्वदाज्ञया चेत् स्थितिर्नियमेन स्थितिः स्यात् । त्वदाज्ञा च परिपालिता स्यात् । अत्राऽपि वञ्चनम् । "**शास्त्रफलं प्रयोक्तरी**" ति न्यायेन तत्पापं तवैव भविष्यतीति भावः । **नियत इति** वचनाद्धमार्थेष्वपि द्यूतादिषु मम वास इति ज्ञापितम् ।।३५।।३६।।

व्याख्यार्थ— हे सार्व भौम, यह सारी भूमि आपकी है । मैं भी आपका हूँ । अतः मुझसे अधिष्ठित भूमि के भी आप ही ईश्वर हो, यह ज्ञापित किया है । पहले तो मेरी स्वतन्त्र सत्ता थी, अब तो मैं आपकी आज्ञा के वश में हूँ । 'अथ' शब्द भिन्न प्रकरण को प्रारम्भ करने के समय प्रयुक्त होता है । आप जहाँ कहीं रहने की आज्ञा देंगे, वहीं रहूँगा । मेरे स्थित रहने में कोई सन्देह नहीं है । पर आपको फिर क्रोध

नहीं करना चाहिये । जीवित रहने पर कहीं तो मुझे रहना ही रहना है । जीवन भी आपका ही दिया हुआ है । इसलिये स्पष्ट रूप से आपकी आज्ञा न होने पर भी जीवन रक्षा के कारण, रहने की आज्ञा भी आपको ही देनी है । मेरे कार्यों को देखकर आप क्रोध करेंगे । जहाँ कहीं भी रहूंगा, वहीं आपको धनुष-बाण ताने देखूँगा । इसलिये वह स्थान बताइये, जहाँ मैं आपको धनुष-बाण युक्त न देखूँ । कलि-काल के द्वारा यह प्रार्थना चतुरता पूर्वक की गई है, कि तुम्हें धनुष-बाण रहित देखूँ । मेरे दर्शन मात्र से आपको धनुष-बाण छोड़ देना चाहिये, यह भाव हुआ । धर्म का पालन करने वालों में आप श्रेष्ठ हैं अर्थात् याचित दान को देना और दिये हुये का परिपालन करना इससे सूचित हुआ है । यद्यपि मैं वहाँ रहूंगा परन्तु आपको इसका स्पष्ट निर्देश कर देना चाहिये । आपकी आज्ञा से वह स्थिति नियम के अन्तर्गत आ जायेगी । आपकी आज्ञा का पालन होगा । यहां भी कलि ने राजा को भुलावे में डाल दिया है—उन्हें ठग लिया है । "शास्त्र यह कहते हैं कि कोई भी शुभ-अशुभ फल आज्ञा देने वाले को लगता है" इस न्याय के अनुसार वह सब पाप आपको ही लगेगा, यह भाव सूचित किया है । नियत किये गये स्थान के आधार पर भी धर्म और अर्थ में तथा जुआं खेलने आदि में मेरा निवास होगा, यह सूचित कर दिया है ॥३५॥ ॥३६॥

आभास—तत्तथैव कृतवानित्याह—

आभासार्थ—कलियुग की प्रार्थना से महाराज परीक्षित् ने वैसा ही किया, ऐसा श्री सूतजी महाराज कहते हैं—

सूत उवाच—श्लोक—तत्तथाऽभ्यर्थितस्तस्मै स्थानानि कलये ददौ ।
द्यूतं पानं स्त्रियः सूना यत्राऽधर्मश्चतुर्विधः ॥३७॥

श्लोकार्थ—इस प्रमाण से जब कलियुग ने प्रार्थना की, तब राजा परीक्षित् ने जुआं, मद्यपान, स्त्रियां और हिंसा, जहां ये चार प्रकार के अधर्म हो, वे स्थान उसे रहने के लिये दिये ॥३७॥

सुबोधिनी – तत्तथेति । अस्याऽवश्यं स्थानं देयम् । अयं चाऽधर्मबन्धुः । द्यूतादिश्चाऽधर्मः । अतः स्थानान्तरे दत्ते तदप्यधर्मस्थानं भविष्यतीति विचार्य द्यूतादिकमेव स्थानं दत्तवानिति—

द्यूतमिति । द्यूतमक्षक्रीड़ा । अनाधानविषयं पानं मदिरायाः । स्त्रियः साधारण्य । बहुवचनात् । सूना हिंसा । एतेषु तत्राऽधर्मो भवति तदस्य स्थानम् । न तु स्वभावतः शास्त्रतो वा यत्रैतानि भवन्ति तानि कलिस्थानानि भवन्ति । किञ्च । चतुर्विधोऽधर्मः । 'ब्रह्महत्या सुरापानं स्तेयं गुर्वङ्गनागमः" । स्तेये द्यूतं प्रविष्टम् । अतो महापातकस्थानभूतम् । एतच्चतुष्टयं कलेः स्थानमित्यर्थः । कलिना स एव गृहीतो य एतानि करोति । यत्रेति पदादधर्मस्योद्देश्यत्वमेव ।।३७।।

व्याख्यार्थ—राजा परीक्षित् सोचते है, कि इसे स्थान तो अवश्य ही दिये जाने चाहिएँ । और यह अधर्म का बन्धु है । जुआं खेलना आदि ये पहले से ही अधर्म माने ही जाते हैं, अतः इसे वे ही स्थान क्यों न दे दें, ऐसा मानकर कि दूसरे स्थान दिये जाने पर वे भी अधर्म के स्थान बन जायेंगे अतः द्यूत आदि स्थान ही कलियुग के लिये दिये गये । द्यूत अर्थात् पासों का खेल, स्वतन्त्र विषय रूप मदिरा का पान बहु वचन होने से साधारण स्त्रियाँ और हिंसा, जहां इनमें अधर्म होता है, वे ही स्थान कलि को निवास हेतु दिये । केवल स्वभाव से ही नहीं अपितु शास्त्रों के अनुसार जहां ये होते हैं वही कलि के स्थान होते हैं । इससे अधिक क्या कहें ? कि अधर्म मूलतः चार प्रकार का है, ब्रह्महत्या, मदिरापान, चोरी करना और गुरु की स्त्री से गमन करना । चोरी करना जुआं खेलने के अन्तर्गत ही सम्मिलित है । अतः महापाप का स्थान हुआ है । ये चारों कलिकाल के निवास स्थान हैं । जो इन पापों को करता है, वह कलिकाल के द्वारा ग्रहण कर लिया जाता है । यहां 'यत्र' शब्द अधर्म के उद्देश्य को लेकर कहा गया है ।।३७।।

आभास—ननु मम पञ्च स्थानानि श्रुतिबोधितान्यत एकमधिकं देयमित्याकाक्षङ्ायामाह—

आभासार्थ—कलि कहता है, कि पांच स्थान तो मेरे श्रुतियों ने ही पहले से निर्धारित कर रखे हैं, अस्तु एक स्थान तो आपको मेरे लिये अधिक ही देना चाहिये, इस आकांक्षा में कहा जा रहा है—

श्लोक—**पुनश्च याचमानाय जातरूपमदाद्विभुः ।**
ततोऽनृतं मदः कामो रजो वैरञ्च पञ्चमम् ।।३८।।
अमूनि पञ्च स्थानानि ह्यधर्मप्रभवः कलिः ।
औत्तरेयेण दत्तानि न्यवसत्तन्निदेशकृत् ।।३९।।

श्लोकार्थ—और पुनः याचना करते हुये कलियुग को राजा परीक्षित् ने सोना भी निवास के लिये दिया। अतिरिक्त इसके पांच स्थान और भी रहने को दिये। वे पांच स्थान झूठ, मद, काम, क्रोध और वैर हैं। उत्तरा के पुत्र परीक्षित् के द्वारा दिये गये इन पांच स्थानों में अधर्म को उत्पन्न करने वाला कलि राजा के निर्देशानुसार रहने लगा ॥३८॥३९॥

सुबोधिनी—पुनश्चेति। एकवारं स्थानचतुष्टयं दत्तम्। पुनर्याचमानाय जातरूपं सुवर्णमदात्। स्तेये सामान्यत्वेन सुवर्णमागतम्। अधुना सुवर्णस्तयत्वेन स्वरूपेण स्वर्णं कलिस्थानम्। नन्वयं महाननर्थः। कथं सुवर्णं तस्मै दत्तवानिति। तत्राऽऽह - **विभुरिति**। चकारात्स्वतन्त्रतयाऽर्पितानि स्थानानि याचितानि। एषां स्थानानां पुनः प्राप्तानां न स्वरूपेण स्थानत्वं किन्तु कार्यंत इति तानि कार्याणि क्रमेण गणयति—**तत इति**। यस्मादधर्म इत्यनुवर्त्ततऽतोऽनृतरूप द्यूतं मदरूप पानं कामरूपाः स्त्रियो रजः क्रोधस्तद्भूता सूना सुवर्णं वैररूपम्। चकारादुभयविधं गृहीतम्। तत् पश्चमम्। सुवर्णेऽपि वैरं हिंसायां च वैरमिति। एतानि पञ्च स्थानानि **अधर्मप्रभवः** अधर्मोत्पादकः। **औत्तरेयेण**। उत्तराया पुत्रेण। अविवेकः सूचितः। तेषु न्यवसदित्यर्थः। **तन्निदेशकृत्**। परीक्षिदाज्ञाकर्त्ता ॥३८॥३९॥

व्याख्यार्थं—और फिर से देने का क्रम चला। एक बार मांगने पर चार स्थान दे दिये और पुनः याचना करने पर स्वर्ण भी निवास हेतु दे दिया। यों तो सामान्य रूप से चोरी में ही सोना भी आ गया। परन्तु अब विशेष रूप से सोने की चोरी को ही; स्वरूप वाले सोने को ही, कलि का स्थान निर्देशित किया है। निश्चय ही स्वर्ण महान् अनर्थो का जन्मदाता है। स्वर्ण उसे किस रूप में रहने के लिये दिया गया है। उस स्थान पर कहा जा रहा है–कि राजा विभु होने से स्थानादि देने में समर्थ हैं। 'च' शब्द से दो स्थितियां सामने आई; स्वतन्त्रता पूर्वक दिये गये स्थान तथा मांगे जाने पर दिये गये स्थान। पुनः प्राप्त किये गये स्थानों में स्वरूप गत स्थानत्व न होकर कार्य रूप से स्थानापन्नत्व है। उन कार्यों को क्रमवार बताया जा रहा है, कि जिससे अधर्म अनुवर्तन करता है, वह सबसे पहला मिथ्या से भरा हुआ जुआं है। शराब पीकर मत्त होना, यह मद का रूप है। स्त्रियों के साथ रमण की प्रक्रिया अथवा विचार बनाना यह काम का रूप है। रज क्रोध रूप वाला है, इसी में हिंसा का रूप सम्मिलित है। सोना वैर रूप है और हिंसा भी वैर रूप है। अतः दो प्रकार का वैर बताने के लिये मूल में च कार दिया गया है। ये पांच स्थान अधर्म को पैदा करने वाले हैं। यहां "उत्तरा का पुत्र" ऐसा सम्बोधन देने का विशेष

अभिप्राय है, इससे उनके विवेक को कम मानने की सूचना मिलती है, कि स्थान देकर परीक्षित् जी ने कोई बुद्धिमानी का काम नहीं किया। परीक्षित् जी के निर्देशानुसार वह कलिकाल उन-उन स्थानों में निवास करने लगा। यहां परीक्षित् आज्ञा कर्त्ता हैं (जैसा कि पहले कहा गया है कि दोष आज्ञा करने वाले को ही लगता है) ॥३८॥३९॥

आभास—एवं कलेः स्थानानि निर्दिश्य प्रसङ्गाद्धर्मवर्त्तिन उपदिशति—

आभासार्थ—इस प्रकार कलियुग को दिये गये स्थानों को बताकर उसी प्रसंग से धर्म की आज्ञानुसार चलने वालों को उपदेश किया जा रहा है—

श्लोक—**अथैतानि न सेवेत बुभूषुः पुरुषः क्वचित्।**
विशेषतो धर्मशीलो राजा लोकगुरुः पतिः ॥४०॥

श्लोकार्थ—अपनी उन्नति चाहने वाला पुरुष कभी भी इन पांच स्थानों का सेवन न करे। विशेष करके जो धर्म शील राजा है, जो लोक को शिक्षा देने के कारण लोकगुरु तथा लोक का पालन करने के कारण पति कहलाता है, वह तो कदापि इन स्थानों का प्रयोग न करे ॥४०॥

सुबोधिनी—**अथेति**। अनृतादिरूपाण्येतानि न सेवेत। **बुभूषुः** उद्भविष्णुः। **क्वचित्**। प्रमादादपि। "**पाक्षिकोऽपि दोषः परिहरणीय**" इति पदार्थाग्रहेण सेवमाने कदाचित्कलिस्थानमपि सेवेत। ततो महाननर्थो भवेत्। तस्मादेतानि पञ्चाऽपि दूरत एव परिहरणीयानि कलिस्थानशङ्कया। यत्र पुनर्व्यतिरेकेण निश्चयस्तत्र न विधिर्न प्रतिषेधः। सम्भावितमेतद्राज्ञ इति विशेषाऽऽकारेण निषेधति—**विशेषत इति**। धर्मशीलो राजा। तस्याऽधर्मप्रतिपक्षत्वात्। लोकगुरुरन्येभ्य उपदेशकर्त्ता। शिष्याणां तदाचारशिक्षणात्। **पतिरिति**। परिपालकः। राजधर्माः प्रजा इति ॥४०॥

व्याख्यार्थ—अथ यह नया प्रसंग प्रारम्भ करने की स्थिति में प्रयुक्त होता है। जो उत्कृष्ट बनना चाहते हैं, अपनी उन्नति के अभिलाषी हैं, उन्हें इन झूठ आदि अधर्म के रूपों का सेवन नहीं करना चाहिये। क्वचित् अर्थात् कभी भी नहीं, प्रमाद (आलस्यवश) से भी नहीं, क्योंकि एक ही पक्ष के दोषों का परिहरण (समाप्त कर देना) कर देना चाहिये। इस प्रकार पदार्थों के आग्रह से उनका सेवन करते-करते

कभी कलि-काल के स्थान भी सेवन करने में आ ही सकते हैं। और तब महान् अनर्थ हो जाता है। इसलिये ये पांचों स्थान कलिकाल के स्थान हैं, इस शंका से (भय के अर्थ में) उन्हें दूर से ही छोड़ देना चाहिये। जहां इससे एकदम विपरीत होने का निश्चय हो तो वहां क्या विधान और क्या निषेध ? और राजा के लिये ये सब विपरीत स्थितियां सम्भावित होने के कारण विशेष रूप से मना की गई हैं। और विशेष करके राजा परीक्षित् तो धर्म शील राजा हैं, वे तो अधर्म के विरोधी हैं। वे लोक के गुरु हैं अर्थात् उपदेश कर्त्ता हैं अपने शिष्यों को श्रेष्ठ आचरणों की शिक्षा देने वाले हैं। रक्षा करने वाले हैं। प्रजा का पालन करने वाले हैं। राजा के धर्म प्रजा में आते हैं, इसलिये राजा को सावधानी पूर्वक इनसे बहुत-बहुत दूर ही रहना श्रेयस्कर है ॥४०॥

आभास—एवं कलिं प्रस्थाप्य राजा यत्कृतवांस्तत्प्रकृतमाह—

आभासार्थ—इस प्रकार कालिकाल को स्थान निर्दिष्ट करके उसे उनमें स्थापित करने के बाद राजा ने जो किया, उसे प्रसंग के ही अन्तर्गत अब आगे बताते हैं—

श्लोक—**वृषस्य नष्टांस्त्रीन् पादान् तपः शौचं दयामिति ।**
प्रतिसन्दध आश्वास्य महीञ्च समवर्द्धयत् ॥४१॥

श्लोकार्थ—वृषभ के नष्ट हुये तप, शौच और दया रूपी तीन पैरों को पुनः जोड़ते हुये उसे आश्वासन दिया तथा पृथ्वी को समृद्ध (धन धान्य आदि से भरपूर) बसाया ॥४१॥

सुबोधिनी—**वृषस्येति** । कालेन धर्मस्य ये त्रयः पादाः पूर्वोक्ता गतास्ताननूद्य पुनः प्रतिसन्दधे । सम्यक्सन्धानं कृतवान । चतुर्विधमपि धर्मं प्रवर्त्तितवानित्यर्थः । पृथिव्याः सान्त्वनमाह—**आश्वास्येति । समवर्द्धयत्** । सर्वत्र भक्तिमार्गप्रचारेण कृष्यादिना च । पाषण्डदूरीकरणेन च । चकाराद्धर्ममप्यवर्द्धयत् ॥४१॥

व्याख्यार्थ—अब बैल के विषय में कहते हैं। काल की व्यवस्था से पहले बताये गये धर्म के तीन पैर चले गये थे उन्हें पुनः यथा स्थिति व्यवस्थित कर दिया, पूरी पूरी तरह से जहां का तहां जोड़ दिया। राजा ने धर्म को चारों प्रकार से अर्थात् सम्पूर्णतया प्रजा में प्रभावित कर दिया, प्रसारित-प्रचारित कर दिया। पृथ्वी को

सान्त्वना देने के विषय में कहते हैं, कि उसे आश्वासन दिया । उसे बढ़ाया । सभी स्थानों पर भक्ति मार्ग का प्रचार किया और खेती-बाड़ी सम्बन्धी विकासों के द्वारा धरती को शस्य श्यामला बनाया । पृथ्वी पर से पाखण्ड को दूर कर दिया । 'च' शब्द से, पृथ्वी में धर्म को भी खूब बढ़ाया ।।४१।।

आभास—तस्य शान्तस्याऽपि कीर्त्यनुभावयोर्विद्यमानत्वात् "**वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वे**" ति न्यायेन श्रद्धातिशयजननार्थं दूरकथाव्यावृत्तये विद्यमानत्वेन निरूपयति—

आभासार्थ—उन परीक्षित् के विषय में प्रत्यक्ष रूप से अज्ञात होने पर भी (आकृतिगत जानकारी न होने पर भी) कीर्त्ति और प्रभाव द्वारा विद्यमान होने से मानो वह सब प्रसंग वर्तमान के समीप में हो अथवा वर्त्तमान के समान ही घटित हो रहे हों, इस न्याय से उन शौनकादि ऋषियों में अतिशय श्रद्धा उत्पन्न करने के लिये, दूर की कथा को भी विद्यमान के रूप में निरूपण करते हैं—

श्लोक—**स एष एतर्ह्यध्यास्ते ह्यासनं पार्थिवोचितम् ।**
पितामहेनोपन्यस्तं राज्ञाऽरण्यं विविक्षता ।।४२।।

श्लोकार्थ—पितामह सम्राट् युधिष्ठिर द्वारा जंगल में जाने की इच्छा करते हुये जिन परीक्षित् को राजा योग्य आसन पर बिठाया, वे ये परीक्षित् आज भी सिंहासनारूढ हैं ।।४२।।

सुबोधिनी—स एष इति । भगवत्सायुज्यं प्राप्तस्य सर्वत्र भगवत इव स्फुरणादेष इति निर्देशः । **अत एवैतर्हीदानीमपि** पार्थिवोचितमासनमध्यास्ते । जनमेजयस्तत्स्थाने तदध्यासने नोपविशति । **स एव** भगवद्रूपो भूत्वा तत्राऽऽस्ते । **हीति** सर्वेषां प्रतीतिः । अत एव पार्थिवोचितं राज्ञामुचितमिदानीमप्यध्यास्त इत्यर्थः । अन्यथा पार्थिवोचितमिति व्यर्थं स्यात् । सिंहासनान्तरमपि नाऽऽध्यास्ते । किन्तु पितामहेन राज्ञा युधिष्ठिरेण परित्यागं कृत्वा वनं विविक्षतोपन्यस्तम् ।।४२।।

व्याख्यार्थ—वे राजा परीक्षित् ये रहे । भगवान् से सायुज्य प्राप्त हो जाने पर उनके समान हो स्फुरण होने से, अकस्मात् सामने आविर्भूत होने से, यह निर्देश हुआ है । इसीलिये इस समय भी वे पृथ्वीपति के योग्य उचित आसन पर आसीन हैं (बैठे हुये हैं) । जनमेजय उनके उस स्थान पर, उस आसन पर नहीं बैठा है, वरन्

वे ही भगवत् रूप होकर वहाँ विराजमान् हैं। जब किसी कथन का सभी को समीपता से अनुभव हो रहा हो, वहां 'हि' अव्यय का प्रयोग होता है। इसलिये राजा के योग्य आसन पर वे आज भी विद्यमान हैं, यह अर्थ हुआ। अन्यथा "पार्थिव के उचित" ऐसा कथन ही अर्थ हीन हो जावे। किसी अन्य सिंहासन पर भी वे नहीं बैठे है, वे उसी सिंहासन पर आसीन हैं, जहां उन्हें पितामह युधिष्ठिर वन में जाने से पूर्व राज्याभिषेक देकर गये थे ॥४२॥

आभास—ननु किमेतदुपचारादुच्यते ? नेत्याह—

आभासार्थ—अब उनके आज भी विद्यमान होने की बात किस आगे होने वाले अच्छे प्रसंग के लिये कही जा रही है। उस उपचार (किसी के भले के लिये किये गये उपाय) को अभी तक कहा नहीं गया है-उसे अब कहते हैं—

श्लोक—**आस्तेऽधुना स राजर्षिः कौरवेन्द्रश्रियोल्लसत्।**
गजाह्वये महाराजश्चक्रवर्त्ती बृहच्छ्रवाः ॥४३॥

श्लोकार्थ—चक्रवर्त्ती और यशस्वी, राजर्षि महाराज परीक्षित् कौरव वंश के राजाओं की राज्य लक्ष्मी द्वारा सुशोभित होते हुये आज भी हस्तिनापुर में विराजते हैं ॥४३॥

सुबोधिनी—**आस्तेऽधुनेति**। अधुनाऽपि तथैवाऽऽस्ते। ननु देहान्तरं प्राप्य ? नेत्याह। **स राजर्षिः**। स एव राजर्षिरेव। साध्श्यभ्रमं वारयति—**कौरवेन्द्रश्रियोल्लसदिति**। कौरवेन्द्राणां श्रिया राजलक्ष्म्योल्लसद्यथा भवति तथा। आसन वा। तत्रापि गजाह्वये। **महाराज इति**। राजश्रिया जुष्ट एव। चक्रं च वर्त्तयत्याज्ञापयति च। तथैव बृहतो कीर्त्तिर्यस्य। बन्दिभिः स्तूयमानः ॥४३॥

व्याख्यार्थ—वे आज भी विराजते हैं। इस समय भी वे उसी प्रकार विद्यमान हैं। कोई दूसरा शरीर लेकर चले आये हों ? ऐसी बात नहीं है। ये वे ही राजर्षि है। समानता से भ्रम उत्पन्न हो जाने वाली स्थिति का निवारण करते हुये कहते हैं-कि वे कौरव कुल के राजाओं की लक्ष्मी से दैदीप्यमान् है। कौरवेन्द्रों की राज्य लक्ष्मी से सुशोभित होते हुये जैसे पहले से चले आ रहे है, वैसे ही हैं। अथवा उस आसन पर उसी प्रकार स्थित हैं। और वह सिंहासन भी अन्यत्र नहीं है, हस्तिनापुर

में ही है। उन्हें महाराज कहा गया है। वे राज्य लक्ष्मी से पुष्ट है। चक्र के समान निरन्तर घूमते हुये अपनी आज्ञा को सर्वत्र मनवाते है, अतः चक्रवर्त्ती है। उसी प्रकार का उनका बढ़ा-चढ़ा यश है। आज भी बन्दीगण उनके प्रशंसा-गीत गाते है, स्तुतियां करते हैं ॥४३॥

आभास—एवं भगवत्कृपया भागवतेन चाऽजरामरो ब्रह्मभूत एव भगवानिव रमत इत्युक्त्वा तद्दिदृक्षानिवृत्तये तस्याऽलौकिकमेव रूपमुक्तं न तु लौकिकमित्यभिप्रायेणोपसंहरति—

आभासार्थ—इस प्रकार से भगवान् और भागवत की कृपा से, अजर और अमर होकर ब्रह्म बन जाने के समान ही भगवान् के समान रमणशील हो गये, व्यापकत्व गुण से पदार्थों को भोगने वाले बन गये। इतना कहकर शौनक ऋषि आदिकों द्वारा देखने की इच्छा के न रहने पर उन परीक्षित् के अलौकिक रूप का ही वर्णन किया है, न कि लौकिक रूप का; इस अभिप्राय से अब उपसंहार किया जा रहा है—

श्लोक—इत्थम्भूतानुभावोऽयमभिमन्युसुतो नृपः।
यस्य पालयतः क्षोणीं यूयं सत्राय दीक्षिताः ॥४४॥

श्लोकार्थ—ऐसे यह प्रभावशील अभिमन्यु के पुत्र महाराज परीक्षित् हुये, जिन के द्वारा पृथ्वी के पालन किये जाते हुये आप सब इस यज्ञ के लिये दीक्षित् हुये ॥४४॥

सुबोधिनी—**इत्थम्भूतानुभावोऽयमिति**। मृतोऽपि जीवंस्तिष्ठति। इत्थम्भूतानुभावः। कलिनिग्रहादिर्वा। **अभिमन्युसुत इति** महाशूरत्वमुक्तम्। तद्राज्य एव भवद्भिः सत्रमारब्धमित्याह—**यस्य पालयत इति**। अन्यथा भवन्तोऽपि भागवतश्रवणार्थं गच्छेयुः। संवत्सरदीक्षाया. कृतत्वात् '**न कश्चिन्म्रियते तावदि**" ति वाक्येन न विरोधः। अग्नीषोमीयप्रभृत्येव हिंसाया विधानात्। क्षोणीं पालयतः सतः। सत्राय सहस्रसंवत्सरायैव। अन्यथाऽल्पराजनि महत्कर्मारम्भो न घटते। अनेन कलौ महायागनिषेधोऽपि समर्थितो भवति ॥४४॥

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मज श्रीवल्लभदीक्षित-विरचितायां प्रथमस्कन्धे सप्तदशोऽध्यायः ॥१७॥

व्याख्यार्थ—ऐसे महान् प्रभाव वाले थे ये । मर जाने के बाद भी जीवित स्थित हैं । ऐसा विलक्षण अद्भुत् प्रभाव अथवा जिन्होंने कलिकाल को भी मुट्ठी में कर लिया । आखिर क्यों न हों ? वे अभिमन्यु के पुत्र जो ठहरे । अभिमन्यु का पुत्र सम्बोधन देकर उन्हें महान् शूरवीर कहा गया है । उनके राज्य काल में ही आप सबने यह यज्ञ प्रारम्भ किया है । जिनके पालन करते समय ही भागवत जी हुये । अन्यथा आपको भी भागवत सुनने के लिये जाना चाहिये । एक सहस्र वर्ष तक दीक्षित् होने के कारण 'कोई भी नहीं मरेगा" इस वाक्य से कोई भी विरोध नहीं आयेगा । अग्निषोमीय आदि यज्ञों में ही हिंसा का विधान होने से; इन यज्ञों में विधान नहीं है । उनके द्वारा पृथ्वी पालन किये जाने की स्थिति में ही हजार वर्ष तक चलने वाले यज्ञ के लिये आप दीक्षित् हुये हैं । अन्यथा छोटे राजा के राज्य में इस महान् कार्य का प्रारंभ घटित नहीं होता । इससे इस कलिकाल में बड़े यज्ञों के न करने का भी समर्थन हुआ है ॥४४॥

इति श्रीमद्भागवत महापुराण, प्रथमस्कन्ध के १७वें अध्याय की श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण कृत श्री सुबोधिनी (संस्कृत टीका) के 'उत्तमाधिकार प्रकरण' का ग्यारहवां अध्याय हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण

— —

अध्याय सारांश

तब विचार कर राजा देख्यो । शुद्र नृपति कलिजुग कर लेख्यो ।
वृषभ धर्म अरु पृथ्वी गाइ । इनको यहै भयो दुःखदाइ ।
ताहि कह्यो तू बड़ो अधर्मि । तो समान नहीं और कुकर्मी ।
छमा दया तप पग तें काटयो । छांड देम मम यह कह डांट्यो ।
तिन कह्यो मो में एक भलाई । तुम सों कहों चित लाई ।
धर्म विचारत मन में होई । मनसा पाप लगे नहिं कोई ।
राज तुम्हारी है सब ठोर । तुम बिन नृपति न द्विनिया और ।
जौन ठोर मोहि आज्ञा होइ । ताहि ठौर रहो मैं जोइ ।
कहि हरि विमुख अरु वेश्या जहां । सुरापान वधिकनि गृह तहां ।
जुआ खेल तजहां जुआरी । ये पांचौ है ठोर तुम्हारी ।
पांचों होइ नृपति ये जहां मौको ठौर वता वहु तहाँ ।
तब नृपति ताको कनक बतायौ । कनक मुकुट लखि सो लपटायो ।

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

● श्रीमद् भागवत संहिता ●

श्री मद्वल्लभाचार्य चरण द्वारा विरचित

श्री सुबोधिनी (संस्कृत टीका)

हिन्दी अनुवाद सहित

प्रथम स्कन्ध

अध्याय—१८

उत्तमाधिकार प्रकरण अध्याय-१२

महाराजा परीक्षित् को श्रृंगी ऋषि का शाप

कारिका—अथाऽध्यायद्वयेनाऽस्य वृत्तमुत्तरमीर्यते ।
शापात्प्रायस्ततो राज्ये शापो वैराग्यबोधकः ॥१॥

सङ्क्षेपकथनं पूर्वं श्रोतृप्रीत्यनुसारतः ।
विस्तारोक्त्यै तयोः श्रद्धा श्लाघा चाऽन्योन्यमीर्यते ॥२॥

तादृशं फलवन्नाऽन्यदिति स्थापयितुं द्विजात् ।
शापस्तु हरिणा प्रोक्तस्तक्षकान्गेरलौकिकात् ॥३॥

ज्ञानिनो देहनाशाय नाऽन्यथाऽमृतवर्षणात् ।
यादवेभ्यस्तथोत्कर्षः शापमुग्धेभ्य ईर्यते ॥४॥

कारिकार्थ—अब, इन महाराज परीक्षित् जी के जीवन की अन्तिम घटना को दो अध्यायों से बताया जा रहा है। शाप, वैराग्य को जन्म देने वाला बना; जिस शाप से राज्य में आसक्ति को छोड़कर उन्होंने एकान्त का सेवन किया ॥१॥ सुनने वाले की प्रीति के अनुसार सूतजी ने शौनकजी के प्रति परीक्षित् सम्बन्धी कथन को छोटे रूप में कहा। शौनकजी के प्रेम को और अधिक बढ़ाने के लिये, सूतजी तथा शौनक दोनों में ही श्रद्धा उत्पन्न हुई है। वे दोनों परस्पर परीक्षित् के चरित्र की प्रशंसा करने लगे ॥२॥ ब्राह्मण का शाप, जिस प्रकार परीक्षित् के वैराग्य के उत्कर्ष को बताता है, उसी प्रकार उनके अधर्म को भी बताता है। ऐसी स्थिति में शाप वाली कथा से परीक्षित् की महत्ता किस प्रकार बढ़ी? इस शंका के समाधान में कहते हैं—परीक्षित् के समान महान् फल प्राप्त करने वाला अन्य कोई नहीं हुआ। इस फल को सिद्ध करने के लिये भगवान् ने ही ब्राह्मण से शाप दिलवाया है, कारण कि ब्राह्मण भगवान् का मुख्य रूप होने से, उनके द्वारा कहे हुये वचन, भगवान् ने ही कहे, ऐसा समझना चाहिये। तक्षक से उत्पन्न अलौकिक अग्नि से परीक्षित् को नष्ट करवाने के लिये भगवान् ने ही शाप दिलवाया है ॥३॥ ज्ञानी बने हुये परीक्षित् के शरीर को नष्ट नहीं करवाया जाता तो भागवत रूपी अमृत की वर्षा कैसे होती? यादवों की तुलना में परीक्षित् जी का उत्कर्ष होना सिद्ध हुआ है। क्योंकि यादवगण तो शाप पाकर मूढ़ बन गये और परस्पर लड़ मरे; और श्री परीक्षित् जी शाप पाकर श्री मद्भागवत रूपी अमृत पान करते हुये भगवान् में सायुज्यता को प्राप्त हुये। अतः इससे परीक्षित् का उत्कर्ष अतिशय बढ़ गया ॥४॥

आभास—एवं तस्य राज्यस्थितिक्त्वोत्तरस्थितिं सङ्क्षेपेणाऽऽह—

आभासार्थ—इस प्रकार महाराज परीक्षित् जी की राज्य सम्बन्धी व्यवस्थाओं पर प्रकाश डालने के उपरान्त; अब संक्षेप में उनके जीवन की अन्तिम अवस्था के विषय में निरूपण किया जा रहा है—

सूत उवाच—श्लोक—**यो वै द्रोण्यस्त्रविप्लुष्टो न मातुरुदरे मृतः।**
अनुग्रहाद्भगवतः कृष्णस्याऽद्भुतकर्मणः ॥१॥

श्लोकार्थ—भगवान् श्री कृष्ण के अद्भुत् कर्म तथा कृपा से, जो परीक्षित् द्रोणा-

चार्य के पुत्र अश्वत्थामा के चलाये हुये ब्रह्मास्त्र से भी माता के पेट में मृत्यु को प्राप्त नहीं हुये ।।१।।

सुबोधिनी—यो वै द्रौण्यस्त्रेति । येन भगवता पूर्वं संरक्षितस्तेनैवेदानीमुपसंहृत इति बोधयति—**अद्भुतकर्मण इति** । विप्लुष्टो न मृतः । अमृतं पीत्वा मृत इति । **भगवतः कृष्णस्येति** प्रकटाप्रकटब्रह्मनामनी । मातुरुदरे न मृतो गङ्गायां तु मृत इति ।।१।।

व्याख्यार्थ—जो अश्वत्थामा के अस्त्र से न मर सके, ऐसे परीक्षित् । जिनकी भगवान् के द्वारा पहले रक्षा की गई और उन्हीं के द्वारा बाद में उपसंहार कर दिया गया । इसे कहते हैं— कि वे अद्भुत् करने वाले हैं । माता के उदर में जो नहीं मरे वे भागवत रूपी अमृत को पीकर मर गये । भगवान् और कृष्ण, ये प्रकट और अप्रकट के भेद से ब्रह्म के दो नाम हैं । परीक्षित् माता के उदर में नहीं मरे, परन्तु गंगा में तो मर ही गये ।।१।।

आभास—इदानीं मरणे विशेषमाह—

आभासार्थ—अब परीक्षित् की मृत्यु होने में विशेष स्थिति होने को बात कही जा रही है—

श्लोक—**ब्रह्मकोपोत्थिताद्यस्तु तक्षकात्प्राणविप्लवात् ।**
न सम्मुमोहोरुभयाद्भगवत्यर्पिताशयः ।।२।।

श्लोकार्थ—ब्राह्मण के क्रोध से उत्पन्न, तक्षक द्वारा होने वाले प्राणों के नाश शाप को सुनकर भी ब्रह्म में अर्पित अन्तः करण वाले परीक्षित् को मोह उत्पन्न वाले नहीं हुआ ।।२।।

सुबोधिनी—**ब्रह्मकोपोत्थितादिति** । तक्षकोऽप्यदग्ध्वा स्थातुमशक्तः । ब्रह्मास्त्रमत्राऽऽगत्य सफलं जातमिति ब्रह्मशब्दप्रयोगः । प्राणानां विप्लवो यस्मादिति । निरुद्धानामग्नौ प्रवेशान्महानुपद्रवः । सर्वत्र प्राणा नाऽङ्गं स्पृशन्ति । अत्र स्पर्शाद्वा विप्लवः । अतः एवोरुभयात् । सम्मोहाभावे हेतुः **भगवत्यर्पिताशय इति** । आशयस्य तक्षकाग्रहणार्थं भगवति समर्पणम् ।।२।।

व्याख्यार्थ—ब्राह्मण के क्रोध से उत्पन्न हुआ तक्षक परीक्षित् को बिना जलाये नहीं रह सकता था । जो ब्रह्मास्त्र माता के उदर में सफल नहीं हो सका था वही

अब तक्षक के रूप में आकर सफल हुआ । इसी कारण यहाँ 'ब्रह्म कोप' में ब्रह्मास्त्र के भाव को लेकर 'ब्र'ह्म शब्द का प्रयोग हुआ है । जिस तक्षक से प्राणों में उथल पुथल हो जाय । जो निरुद्ध है, चारों ओर से घिरे हुये होने के कारण इधर-उधर हिल नहीं सकते, उनका अग्नि में प्रवेश होने से महान् उपद्रव होता है । सभी स्थानों पर प्राण अग्नि का स्पर्श नहीं करते । परन्तु तक्षक की अग्नि के स्पर्श से तो प्राणों में भी खलबली मच गई । उस तक्षक से अतिशय भय उत्पन्न हुआ । फिर भी परीक्षित् को सम्मोह उत्पन्न नहीं हुआ । कारण कि उन्होंने अपने अन्तःकरण को भगवान् में अर्पित कर दिया । कहीं ऐसा न हो, कि अन्तः करण भी तक्षक को अग्नि में झुलस जाय, अतः पहले से ही उसे भगवान् को सौंप दिया ।।२।।

आभास—तस्य देहत्यागप्रकारमाह हैं—

आभासार्थ—अब राजा ने जिस प्रकार शरीर को छोड़ा, उसे कहते—

श्लोक—**उत्सृज्य सर्वतः सङ्गं विज्ञाताजितसंस्थितिः ।**
वैयासकेर्जहौ शिष्यो गङ्गायां स्वं कलेवरम् ।।३।।

श्लोकार्थ—जिन परीक्षित् ने भगवान् की संस्थिति को सब प्रकार से जान लिया, संसार के समस्त प्रपंचों से नाता तोड़ लिया और व्यासजी के पुत्र शुकदेव जी के शिष्यत्व को ग्रहण करके गंगा में अपने देह को त्याग दिया ।।३।।

सुबोधिनी—उत्सृज्येति । प्रथमतः परित्यागस्ततो गुरुकृपा तस्य सत्सम्प्रदायाद्भगवत्स्वरूप-विज्ञानं ततो गङ्गायां देहत्याग इति विशेषेण ज्ञाता अजितस्य संस्थितिर्येन । सम्यक् स्थितिर्व्य-वस्था ।।३।।

व्याख्यार्थ—सब कुछ त्याग दिया । परीक्षित् ने सर्व प्रथम वैभवादि का परित्याग किया, इसके पश्चात् गुरु श्री शुकदेव जी महाराज की कृपा हुई, उनके उस सम्प्रदाय से भगवान् के स्वरूप का ज्ञान हुआ जिससे उन्होंने अपना अन्तः करण प्रभु को समर्पण किया । इस प्रकार परीक्षित् जी ने उन अजित भगवान् की स्थिति को सम्यक् प्रकार से विशेषता पूर्वक जान लिया । भगवान् की व्यवस्था को पूरी-पूरी तरह से परीक्षित समझ गये ।।३।।

आभास—कथं महाभये न सम्भ्रम इत्याकाङ्क्षायामाह—

आभासार्थ—राजा परीक्षित् को उस बहुत बड़े भय की स्थिति में भी सम्भ्रम क्यों न हुआ ? इस आकांक्षा से कहा जा रहा है—

श्लोक—**नोत्तमश्लोकवार्त्तानां जुषतां तत्कथामृतम् ।**
स्यात्सम्भ्रमोऽन्तकालेऽपि भजतां तत्पदाम्बुजम् ।।४।।

श्लोकार्थ—जिन्हें उत्तम श्लोक भगवान् के विषय में बात-चीत करना ही प्रिय लगता है, उनकी कथा रूपी अमृत को पीकर ही जो सदैव छके रहते हैं, निरन्तर भगवान् के चरण कमलों का ही जिन्हें स्मरण बना रहता है; ऐसे पुरुषों को अन्त-काल के समय में भी किसी प्रकार का भय नहीं लगता ।।४।।

सुबोधिनी - नोत्तमश्लोकेति । उत्तमश्लोकस्यैव वार्त्ता येषाम् । लौकिक्यपि वार्त्ता येषां भगवत्सम्बन्धिनी । सर्वदा तत्कथामृतं जुषताम् । उपनिबद्धां मद्भिः कथ्यमानाम् (?) किञ्च । भगवत्पदाम्बुज सेवमानानाम् । भ्रमस्तु सन्निपातकायम् । दोषा गुणाश्चैकीभूता यदैकत्वं सम्प-द्यन्ते (?) **"सन्निपातस्त्वहमिति ममेत्युद्धव या मतिः"** । व्यवहारश्च सन्निपातः । तेन यावज्जीवं सन्निपातव्यवहारः । अन्तेऽपि तत्कार्यं प्राप्नुवन्ति । देहेन्द्रियान्तः करणैर्भगवदीयकार्यकरणे पूर्व-सन्निपातो निवर्त्तते । तत्र **लौकिकी वार्त्ता** तामसी । **आवश्यकी** राजसी । **भजनं** सात्त्विकम् । विपरीतं वा । आद्य मानसम् । **"यद्धि मनसा ध्यायती"** ति श्रुतेः । अतो निरन्तर कायेन्द्रियान्तः करणैः सबीजे दोषे निराकृते त्रयाणां स्वभावपरावृत्तौ स्पर्शमणिस्पर्शेन लोहादेरिव सर्वस्याऽसं-श्लिष्टभगवत् वरूपाभिनिवेशान्न भ्रमजनकत्वमित्यर्थः । यद्यप्यन्तकाले देहेन्द्रियान्तः करणानां वैक्लव्यं सम्भवति तथापि तेषां **कालस्य** नाऽन्तकत्वमन्तकसम्बन्धित्वं वा । अमृतपानेन नित्य-त्वादिति भावः ।।४।।

व्याख्यार्थ—जिनमें सदैव उत्तम श्लोक **भगवान्** की ही वार्त्ता होती है । जिन की लौकिक वार्त्ताएँ भी भगवत् सम्बन्धिनी होती हैं, जो सदा उन भगवान् की कथा रूपी अमृत को पान करते हुये उसी रस में डूबे रहते हैं, सज्जन पुरुषों द्वारा कही गई भगवत् कथाओं में ही जिनका मन लीन रहता है, अधिक क्या कहे, जो भगवान् के चरण कमलों का ही सेवन करते रहते हैं; उन्हें मृत्यु के समय किसी भी प्रकार की हड़बड़ाहट नहीं होती । भ्रम होना सन्निपात का कार्य है । दोष और गुण मिलकर जब एकता को प्राप्त होते हैं, तभी सन्निपात हो जाता है । श्री कृष्ण उद्धव जी के प्रति कहते हैं, कि "मैं इसे मारता हूं, इस प्रकार की बुद्धि हो जाना ही, सन्निपात

कहलाता है। वह सन्निपात दो प्रकार का है, एक तो "मैं इसे मारता हूं, ऐसा अभिमान रूप है और दूसरा मन, शब्द, स्पर्श आदि विषय।" इन्द्रिय और प्राणों का स्वाभाविक विषय सम्बन्ध जीवित अवस्था तक रहता है, उसी प्रकार सन्निपात का व्यवहार भी जीवित अवस्था तक ही जीव के साथ रहता है, और अन्त में गुणों की वृत्तियां ही उस सन्निपात के कार्य को प्राप्त हो जाती हैं। वही मन, शब्दादिक विषय, इन्द्रियाँ और प्राण, भगवान् के सम्बन्ध वाला कार्य करें, तो पहले से उत्पन्न हुआ सन्निपात मिट जाता है। उसमें लौकिक वार्त्ता तामसी है, आवश्यकवार्त्ता राजसी है और भजन सम्बन्धी चर्चा सात्त्विक है। सात्त्विक स्वभाव से भगवत् सम्बन्धी लौकिक वार्त्ता की जाये तो वह भी सात्त्विक हो जाती है। व्यवहार के लिये आवश्यकतानुसार की जाने वाली बात राजसी है और भजन सम्बन्धी चर्चा सात्त्विक है। इस प्रकार सात्त्विक स्वभाव से भगवान् के सम्बन्ध से लौकिक वार्त्ता की जाय तो वह लौकिक वार्त्ता भी सात्त्विक हो जाती है। किसी के आग्रह से दृढ़ता आने पर जो भजन होता है, वह तामस है। "मन से जो ध्यान किया जाता है, वैसी ही क्रिया होती है," ऐसा श्रुतियों में कहा गया है। जिससे वार्त्ता करना मन का धर्म है। इसलिये निरन्तर शरीर, इन्द्रियाँ और अन्तः करण द्वारा भगवत् चिन्तन करने से दोष बीज सहित नष्ट हो जाते हैं और तीनों ही प्रकार के स्वभाव परिवर्त्तित हो जाते हैं, जैसे पारसमणि के स्पर्श से लोहा भी सोना बन जाता है। जिसमें कोई अन्य तत्त्व न मिल सके इस रीति से भगवान् के स्वरूप का चारों तरफ से प्रवेश होने पर भ्रम उत्पन्न नहीं हो सकता। यद्यपि अन्तिम समय में देह, इन्द्रियाँ और अन्तः करण व्याकुल हो जाते हैं, जिससे उसके स्वभाव में फिर से भ्रम उत्पन्न होने की सम्भावना रहती है, तो भी जिनके देह, इन्द्रियाँ आदि भगवान् के ही हो गये हैं, उन्हें काल नहीं मार सकता। क्योंकि वे भक्त भगवान् की कथा रूपी अमृत को पीकर नित्य स्थित रूप वाले बन जाते हैं ॥४॥

आभास—ननु कथं कालनियामकत्वं नेषाम् ? तत्राऽऽह—

आभासार्थ—उन भक्तों के सम्बन्ध में काल को नियन्त्रित करने वाली बात कैसे सम्भव है ? उस प्रसंग में कहते हैं—

श्लोक—**तावत्कलिर्न प्रभवेत्प्रविष्टोऽपीह सर्वतः ।**
यावदीशो महानुर्व्यामाभिमन्यव एकराट् ।।५।।

श्लोकार्थ—जब तक अभिमन्यु के पुत्र महाराज परीक्षित् इस विशाल पृथ्वी का एक छत्र शासन करते हैं; तब तक सभी स्थानों में प्रविष्ट हुआ कलिकाल अपना प्रभाव स्थापित नहीं कर सकता ।।५।।

सुबोधिनी—**तावत्कलिरिति** । तस्य राज्येऽपि कालसम्बन्धो नास्ति । तत्र कथं तदायुषि सम्बन्धः । आधिदैविकत्वादस्य कलेः । ननु गुणानां गुण्यपेक्षया हीनत्वाद्भगवत्कृतं कालं कथमयं निराकृतवानित्यत आह—**प्रविष्टोऽपीति** । मणिना यथाऽग्निस्तम्भस्तथा राजनि विद्यमाने कलेः प्रतिष्टम्भः । **भगवदीयत्वाविशेऽपि** कार्यापेक्षया गुणानामुत्कृष्टत्वात्प्रतिष्टम्भ एव राज्ञा कृतः । न तु स्वदेशाद्दूरीकरणम् । तदाह—**इह सर्वतः प्रविष्टोऽपीति** । अनेन कालस्य देशपरिच्छेदो निवारितः । ननु प्रतिष्टम्भोऽपि भगवत्कृते कथं शक्यः ? तत्राऽऽह—**ईश इति** । भगवत्प्रवेशादैश्वर्यदानाद्वा ईशत्वम् स हि कर्त्तुमकर्त्तुमन्यथा कर्त्तुं समर्थः । किञ्च । भगवता कालोऽप्यधिकृतो राजा च । तयोः पुना राजा महान् कृतः अतः प्रतिबन्धो युक्त एव । किञ्च । अयं भागिनेयपुत्रो व्यवहारे मान्यः । स तु वाहनरूपः । अतोऽप्यस्य महत्त्वम् । किञ्च । कलिः खण्डशः प्रवर्तते देशविषये । अन्येष्वष्टवर्षेषु त्रेतायुगसमः कालो वर्त्तत इति वचनात्। अय चैकराट् । अतः खण्डमण्डलाधिपतिर्महाखण्डमण्डलेश्वरात्प्रतिबद्धो भवत्येव ।।५।।

व्याख्यार्थ तब तक कलि प्रभावित न हो सका । राजा परीक्षित् के राज्य में भी काल का सम्बन्ध नहीं है । वहाँ उनकी आयु में काल का सम्बन्ध कैसे हो सकता है ? तो कहते हैं, कि परीक्षित् ने आधिदैविक काल का निवारण किया है । गुण युक्त भगवान् की तुलना में परीक्षित् में गुणों की हीनता है, तो फिर भगवान् द्वारा बनाये गये काल को इन परीक्षित् ने किस प्रकार हटाया ? इस पर कहते हैं—कि वह समस्त स्थानों में प्रविष्ट होता हुआ भी रुका हुआ है । जिस प्रकार एक विशेष प्रकार की मणि, जिसका नाम प्रतिबन्ध मणि भी होता है, उसके प्रयोग से काष्ठ में लगी हुई अग्नि जहाँ की तहाँ रुक जाती है, आगे नहीं बढ़ती; उसी प्रकार राजा परीक्षित् के राज्य में रहता हुआ कलिकाल भी अपने कार्यों को न करता हुआ, रुका पड़ा है । राजा में विशेष रूप से भगवदीयपना होने से, कार्यों की तुलना में गुणों की अधिकता होने से, कलिकाल को अटका रखने की क्षमता है । कलि-काल को उन्होंने अपने देश से दूर नहीं किया है । इसीलिये कहा है—वह कलि यहाँ सब स्थानों पर प्रविष्ट होता हुआ भी अप्रभावित है । इन परीक्षित् ने काल के कहीं होने और

कहीं न होने के भेद को, जिसे देश-परिच्छेद नाम वाले शब्द से कहा जाता है, निवारण कर दिया। परन्तु काल को रोक दिया जाना भी कैसे संभव हुआ? वह तो भगवान् का बनाया हुआ है। उस पर कहा है–कि वे परीक्षित् ईश (राजा पने से) हैं। परीक्षित् में भगवान् का प्रवेश होने से अथवा भगवान् द्वारा ऐश्वर्य प्रदान किये जाने से उनमें ईशत्व (ईश्वर के गुण) है। वे भी किसी कार्य को करने, न करने तथा विपरीत कर देने में समर्थ हैं। इससे अधिक और क्या कहें? कि भगवान् ने काल और राजा दोनों को ही अधिकार प्रदान किये हैं। उन दोनों की बीच में भी राजा को ही महान् बनाया है। अतः उनमें काल को अटकाये रखने की सामर्थ्य है। इससे अधिक और क्या बात हो सकती है? कि परीक्षित् श्री कृष्ण भगवान् के व्यवहार में भानजे के पुत्र माने गये हैं; और काल तो भगवान् का वाहन रूप है। इस दृष्टि से भी काल की तुलना में परीक्षित् का विशेष महत्त्व है। इससे अधिक क्या? कि अलग-अलग देश के खण्डों में कलि-काल फैला हुआ है। जम्बू द्वीप के आठ वर्गों में त्रेतायुग के समान काल व्यवहार करता है और यह कलि यहां मात्र भारत वर्ष में प्रवर्तित हुआ है। ये राजा परीक्षित् तो आठों भाग वाले जम्बू द्वीप के एक छत्र सम्राट् हैं। और इस कलि-काल के पास भारत वर्ष का ही छोटा भू खण्ड है। इसलिये छोटे भाग का शासक सम्पूर्ण भू मण्डल के महान् शासक के अधीन रहेगा ही। अतः परीक्षित् को कलिकाल के प्रभाव-विस्तार को प्रतिबद्ध (अटकाये रखने की) रखने की सामर्थ्य वाला सिद्ध किया गया है ॥५॥

आभास—ननु काल एव कलिर्न प्रवृत इति कुतो नाऽङ्गीक्रियते। "**तस्यर्त्ते यः क्षणो नीत**" इति वाक्यानुरोधात्। सूर्यगत्या गणनायां कालपरिच्छेदे कृतादिव्यवहारः। अतः प्रासङ्गिकोत्कर्षन्यायेन तदायुषा भगवता च काल एवोत्कृष्टः कस्मान्नोच्यत इत्याशङ्कयाऽऽह—

आभासार्थ—काल में ही कलियुग प्रवृत्त हुआ, इसे किसलिये स्वीकार नहीं करते? कारण–कि द्वितीय स्कन्ध में शौनक जी ने कहा है, कि "उत्तम यश वाले भगवान् की वार्त्ता करते हुये काल के जिन क्षणों को व्यतीत किया जाता है, उसके अतिरिक्त शेष बची हुई आयु को उदित होता हुआ तथा अस्त होता हुआ सूर्य ले जाता है;" अतः जिस काल में भगवान् की वार्त्ता होती हो उसे सूर्य नहीं हर सकता। इसलिये सूर्य की गति से गणना करने में काल का परिच्छेद (विभाग)

होता है, तब सतयुग, त्रेतायुग आदि युगों का व्यवहार होता है। इससे "प्रसंग में आने वाले बढ़े-चढ़े पन को कहना चाहिये" इस न्याय से भगवान् की वार्त्ता करते हुये राजा की आयु से और भगवान् से काल ही उत्तम है, ऐसा क्यों नहीं कहा गया ? ऐसी शंका करते हुये कहते हैं—

श्लोक— यस्मिन्नहनि यर्ह्येव भगवानुत्ससर्ज गाम् ।
तदैवेहाऽनुवृत्तोऽसावधर्मप्रभवः कलिः ॥६॥

श्लोकार्थ— जिस दिन से भगवान् ने इस पृथ्वी को छोड़ा, तभी से अधर्म रूप कलि आ गया ॥६॥

सुबोधिनी—यस्मिन्नहनीति । सत्यमेताभ्यामुत्कर्षः कर्त्तुं शक्यते । परं न सम्पन्नः । तत्र द्वापरान्ते भगवानवतीर्णः । कलिश्च न प्रविष्टः । तथाच भगवता सूर्यगतिरुत्कृष्टैव । अथ प्रचलिते भगवत्युत्कर्षकाभावात्परीक्षितश्चाऽनधिकारात्कलिः प्रविष्टः । अतः परं प्रविष्टस्य च्छेदने मर्यादैव भज्येत । देशाच्च निराकरणे पश्चादागत्य पुनस्तावन्तं कालमनुभवेत् । ततश्च कल्क्यवतारकालो बाध्येत । अतो भगवता सहाऽस्य समानबलत्वाभावान्नोत्कर्ष इत्यभिप्रायेणाऽऽह । यस्मिन् दिवसे यस्मिन् क्षणे भगवान् त्यक्तवांस्तदैवाऽयं कलिरनुवृत्तः । तदपेक्षया स्थित एव भगवति प्रचलिते स्वयमुपविष्टः । तस्मिन्नुपविष्ट एव सर्वे अधर्माः प्रवृत्ताः ॥६॥

व्याख्यार्थ—जिस दिन से भगवान् पधारे उसी दिन कलि आ धमका । सचमुच ही राजा की आयु से तथा भगवान् से काल का उत्कर्ष किया जा सकता है, पर ऐसा हुआ नहीं । द्वापर के अन्त में भगवान् ने अवतार लिया और तब कलि प्रविष्ट नहीं हुआ । उस समय भगवान् ने सूर्य की गति को उत्तम बनाया । जब भगवान् पधारे तो काल की उत्तमता जाती रही । इधर परीक्षित् को अभी राज्याधिकार मिला नहीं था, बस इसी सन्धिकाल (बीच का समय) में कलि ने अपना अखाड़ा जमा लिया । युधिष्ठिर के काल में प्रवेश हुये कलि को यदि परीक्षित् निकाल बाहर करते, तो मर्यादा भंग होती । यदि काल को देश निकाला दिया जाता तो वह परीक्षित् के पधारने के बाद पुनः आता ही और अपनी निश्चित अवधि तक शासन करने के लिए उतना ही समय अधिक लेता, जितने समय उसे देश से बाहर रहना पड़ा था । ऐसी स्थिति में शास्त्रों से निर्धारित कल्कि भगवान् के प्रकट होने के स्थिति-काल में बाधा खड़ी हो जाती । अतः भगवान् के समान बल न होने से परीक्षित् के समय में काल का वह गौरव घट गया था । अतएव जिस दिन भगवान् इस धरा को त्याग कर

पधारे, उसी समय कलि ने अपना प्रभाव स्थापित कर लिया । उस कलि को भगवान् के पधार जाने की ही प्रतीक्षा थी । इधर वे पधारे नहीं, कि वह आ धमका । उस कलि के आते ही सारे अधर्म अपने, अपने कामों में जुट गये ॥६॥

आभास—ननु तथापि दुष्टत्वान्मारणमेवोचितं निराकरणं वा । भगवांश्च प्रार्थनीयः । सर्वेषां चोपकारः सिद्ध्यतीत्याशङ्क्याऽऽह—

आभासार्थ—जबकि कलि-काल दुष्ट था, तो उसे मार देना ही उचित था या फिर उसका किसी अन्य प्रकार से निराकरण कर देना चाहिये था । परन्तु भगवान् ने ही कलि-काल को युग के अधिकारी के रूप में नियुक्त किया था अतः इस विषय में भगवान् से ही प्रार्थना की जानी योग्य थी । क्योंकि भगवान् की प्रार्थना से सभी का उपकार सिद्ध होता है, इसी आशंका से कहा जा रहा है—

श्लोक—**नाऽनुद्वेष्टि कलिं सम्राट् सारङ्ग इव सारभुक् ।**
कुशलान्याशु सिध्यन्ति नेतराणि कृतानि यत् ॥७॥

श्लोकार्थ—सम्राट् परीक्षित् भँवरे के समान सार वस्तु को ग्रहण करने वाले थे, अतः उन्होंने कलि-काल से द्वेष नहीं किया । इस कलि-काल में सार बात यह है, कि पुण्य कार्यों के फल शीघ्र ही मिलते हैं, और पाप कर्मों के केवल वे ही फल मिलते हैं, जो स्वयं ने किये हो ॥७॥

सुबोधिनी—नाऽनुद्वेष्टीति । यद्यपि राजा सर्वं कर्तुं समर्थस्तथापि कलिं नाऽनुद्वेष्टि । यद्यपि धर्मो द्वेष्टि । स्वयं तु तमनु न द्वेष्टि । तत्र हेतुः—**सम्राडिति** । खण्डमण्डलाधिपतानामन्योन्यद्वेषेऽपि तदनुरोधेन सम्राण्न द्वेष्टि । नन्वधर्मप्रभवत्वाद्युक्तो द्वेषः ? तत्राऽऽह—**सारभुगिति** । व्रीहिषु तुषाः सन्तीति ते न निराक्रियन्ते । अपि तु तुषविमोकेन ते भुज्यन्ते । तथाऽयमपि राजा सारमेव भुङ्क्ते । सारत्वं च तदेव यदाऽसारत्वेन ?) वेष्टिता भवति अत. केनाऽप्यंशेनन द्वेष्टि । ननु विषमधुसम्पृक्तान्नत्यागवद्गुणदोषयोस्तुल्यत्वाद्दोषस्य चाऽधिकत्वात्कुतो न त्यागः? तत्राऽऽह-**सारङ्ग इवेति** । सार गायतीति सारङ्गो भ्रमरः । स हि मधुना मत्तो गायति । तत्र केतक्यादिषु बहिः कण्टकवेष्टितेषु मकरन्दप्राचुर्यात्तत्र रमते । तदेकजीवनत्वात । तथा च राजाऽपि ,**कलौ खलु भविष्यन्ति नारायणपरायण**" इति भगवद्गुणानां भक्तानां चाऽत्र सुलभत्वात्स्वस्य तदेकजीवनत्वाच्च भक्तिसिध्यर्थं न द्वेष्टत्यर्थः । अधर्मांशनिराकरणं तु प्रतिबन्धेनाऽपि सेत्स्यतीति भ वः । किञ्च । कृतस्याऽस्य च तुल्यता । तस्मादपि न द्वेष्टीत्याह—**कुशलानीति** । '**कृते तात्क्षणिक (?) पाप (?) स्त्रेतायां द्वादशेऽहनि । द्वापरे मासमात्रेण कलौ संवत्सरेण तत्**" । तद्वैपरीत्येन च

धर्मसिद्धिः । तदाह । कुशलानि पुण्यानि । इतराणि पापानि । कृतानीति प्रायेण कलौ संसर्गजानि न भवन्तीति ज्ञापितम् । यद्यस्मात्कृतान्येवेतराणि भवन्ति । अतो लोकोपकारार्थमपि न द्वेषः ।।७।।

व्याख्यार्थ—राजा ने कलि-काल से द्वेष नहीं किया । यद्यपि राजा परीक्षित् सब कुछ करने में समर्थ थे, परन्तु उन्होंने कलि-युग से द्वेष नहीं किया । यद्यपि धर्म ने कलिकाल से द्वेष किया, परन्तु परीक्षित् ने धर्म का अनुसरण करते हुये कलि से द्वेष नहीं किया । उसमें उनका सम्राट् होना ही कारण है । राज्य में अन्य छोटे खण्डों के राजाओं के द्वेष करने पर भी उन सबके अनुरोध पर सम्राट् किसी से भी द्वेष नहीं करता । यद्यपि कलि अधर्म को उत्पन्न करने वाला है परन्तु उस उत्पत्ति कर्त्ता से द्वेष न होकर उससे उत्पन्न हुये अधर्म से राजा को द्वेष है । उस प्रसंग में कहा गया है, कि राजा परीक्षित् सार वस्तु के भोगने वाले हैं । चाँवलों पर छिलकें हैं, इसलिये चाँवलों को ही छोड़ दो, यह मानकर राजा, कलि अधर्म करने वाला है, अतः कलि को ही छोड़ दो, ऐसा नहीं करता । जिस प्रकार तुषों को हटाकर चाँवल खा लिये जाते हैं, उसी प्रकार यह राजा केवल सार पदार्थ को ग्रहण करने वाला है । सार वस्तु का महत्त्व तभी है, जब वह असार वस्तु से ढंकी रहे अथवा लिपटी रहे । अतः राजा कलि-काल का किन्हीं भी अंशों में द्वेष नहीं करता । तो फिर जहर और मीठे से युक्त अन्न के त्याग के समान गुण और दोषों की समानता होने पर अथवा दोषों की अधिकता होने पर उस वस्तु के समान कलि-काल का त्याग राजा ने क्यों नहीं किया ? उस प्रसंग में कहते हैं, कि भँवरे के समान त्याग नहीं किया । सार अर्थात् तत्त्व को गाने वाला होने से उसे सारंग (भंवरा) कहा जाता है । वह मधु में मस्त होकर गाता है । यद्यपि केवड़ा बाहर से काँटों से घिरा रहता है, पर इसकी परवाह न करता हुआ भ्रमर, उस केतकी में मकरन्द की अधिकता होने से उसमें रम जाता है । मकरन्द, भ्रमर का एक मात्र जीवन होने से वह उसे छोड़ नहीं सकता । ठीक इसी प्रकार राजा ने भी, "कलि-काल में जीव नारायण के परायण होंगे," इसमें भगवान् के गुण और भक्त सुलभ होंगे तथा भक्ति सिद्ध होगी, और वह भक्ति ही एक मात्र जीवन है, ऐसा मानकर द्वेष नहीं किया । कलि में स्थित अधर्म के अश का निराकरण तो प्रतिबन्ध से भी हो जाता है । अधिक कहने से क्या ? युग परिवर्त्तन आदि की दृष्टि से तो सतयुग और कलि-युग दोनों ही समान हैं । इस समानता की दृष्टि से भी राजा परीक्षित् ने कलि से द्वेष नहीं किया । कहते हैं, कि

इसमें मनुष्य की कुशलताएं शीघ्रता से सम्पादित होती है । "सत्ययुग में पाप का फल तत्क्षण मिलता है । त्रेता में पाप का फल बारहवें दिन, द्वापर में एक महींने बाद और कलि में एक वर्ष बाद पाप का फल होता है ।" इसके एकदम ठीक उल्टा धर्म के विषय में मानिये । अर्थात् कलि में धर्म की सिद्धि तत्क्षण होती है । इस विषय में कहा भी गया है, कि कुशलतायें अर्थात् पुण्य और इतर अर्थात् पाप ये दोनों ही कलिकाल में स्वयं करने वाले को ही लगते हैं । कलिकाल में संसर्ग से उत्पन्न होने वाले पाप नहीं लगते, यह बताया गया है । अपने स्वयं के किये हुये पापों का फल ही मिलता है । अतः लोक उपकार की दृष्टि से भी महाराज परीक्षित् ने कलि काल से द्वेष नहीं किया ।।७।।

आभास—किञ्च । नाऽयं कलिर्देशे प्रवर्त्तते । किन्तु पुरुषेषु । तत्रापि बालेषु । तत्रापि प्रमत्तेषु । अतः शिक्षकत्वेन तस्य स्थितत्वादुपेक्षैव तत्र न द्वेष इत्याह—

आभासार्थ—और इसके अतिरिक्त भी यह कलिकाल देश में क्रियाशील नहीं हुआ अपितु पुरुषों के कार्यों द्वारा व्यवहार में आया । उसमें भी जो बालक हैं (बुद्धि की अल्पता बालकपन ही कहलाता है, केवल अवस्था विशेष ही नहीं) उन बालकों में भी जो विचार हीन हैं अथवा बेखबर हुये प्रमत्त की तरह जी रहे हैं, कलि-काल उनमें ही प्रवेश पाता है । महाराज परीक्षित् शिक्षक की दृष्टि से उसकी स्थिति की उपेक्षा ही करते हैं, परन्तु उससे द्वेष नहीं रखते । इस प्रसंग में अब आगे कहा जा रहा है—

श्लोक—**किं तु बालेषु शूरेण कलिना धीरभीरुणा ।**
अप्रमत्तः प्रमत्तेषु यो वृको नृषु वर्त्तते ।।८।।

श्लोकार्थ—जो अप्रमत्त हैं, धैर्य शाली हैं, उनसे कलि डरता हैं । यह भेड़िया तो प्रमत्त हुये बालक रूप मनुष्यों में ही अपनी वीरता तिखाता हैं ।।८।।

सुबोधिनी—**किं त्विति** । तुशब्देन पूर्वपक्षो देशस्थितिरूपो दिवारितः । बालेषु धर्मार्थं प्रवृत्तेषु शीघ्रमेव फलसिद्धौ प्रपञ्चविलयः स्यात् धर्मेणाऽन्तःकरणशुद्धौ ज्ञानोदयेन सर्वत्यागप्रसङ्गात् । अत एव तद्धर्मप्रतिबन्धार्थं शूरेण । ये तु मोक्षाधिकारिणो धीरास्तेभ्यस्तु बिभेति । किञ्च वैराग्यहेतुश्चाऽयम् । यतः प्रमत्तेषु अप्रमत्तः । आयुःक्षयमरत्वात् । अत एव कलावल्पायुषो भवन्ति । ननु कथमेवमस्य स्वभावः ? तत्राऽऽह— **यो वृक इति** । अयं तु वृकरूपः । स रात्रौ

शयानानरक्षितान् बालानेव गृहणाति। न व्याघ्रवत्सर्वभक्षकः। अत एव न तद्वधाथ महतां प्रवृत्तिः। एकवचनेनाऽसहायता सूचिता। तत्रापि विशेषः। नृषु वर्त्तते न नरोत्तमेष्वन्येषु वा ऋषिषु। अत उपेक्षणीय इत्यर्थः ॥८॥

व्याख्यार्थ—किन्तु यह किन पर अपना प्रभाव चलाता है? 'तु' अव्यय के द्वारा कलि-काल का स्थान में स्थित होने रूपी पूर्व पक्ष का निराकरण किया है। धर्म में लगे हुये बालकों के अन्दर शीघ्रता से फल सिद्धि होती है तथा प्रपंच नष्ट हो जाते हैं। धर्म से, अन्तः करण की शुद्धि होती है तथा ज्ञान के उदय होने से सब कुछ त्यागने वाली स्थिति उत्पन्न हो जाती है इसलिये कलियुग ऐसे धर्म को बाधा पहुँचाने के काम में शूर कहा गया है। जो मोक्ष के अधिकारी हैं, धैर्यशाली हैं, उनसे तो यह कलि डरता है। इसके अतिरिक्त यह वैराग्य उत्पन्न करने में कारण रूप है। क्योंकि जो सांसारिक भावानाओं में रमे हुये हैं, ईश्वर सम्बन्धी ज्ञान का जिनको होश-हवाश नहीं है, ऐसे प्रमत्तों में ही यह सावधानी पूर्वक अपना अधर्म प्रचार का कार्य करता है। यह कलि आयु को नष्ट करने वाला है। यही कारण है, कि कलि-युग में मनुष्य कम उम्र के होते है। इस कलि-काल का स्वभाव कैसा है? उस स्थिति में कहते हैं, कि जैसे भेड़िया हो। यह कलि-काल भेड़िये के रूप वाला है। वह रात्रि में सोये हुये अरक्षित बालकों को उठाकर ले जाता हे। यह शेर के समान सामने आकर सबको खाने वाला नहीं है। अतः महान् पुरुषों की प्रवृत्ति इसे मारने की नहीं होती। एक वचन से यहाँ कलि-काल को असहाय स्थिति की सूचना मिलती है। उसमें भी एक और विशेष बात है, कि वह सामान्य मनुष्यों पर ही असर करता है; परन्तु जो नरों में उत्तम हैं अथवा ऋषि श्रेणी के लोग हैं, वहाँ इस कलि की दाल नहीं गलती। इसलिये राजा परीक्षित् द्वारा इस पर ध्यान ही नहीं दिया गया, इसकी उपेक्षा कर दी गई ॥८॥

आभास—एवं प्रसङ्गात्कलिस्वरूपं निरूप्य तत्कथामुपसंहरति—

आभासार्थ—इस प्रकार इस प्रसंग द्वारा कलि के स्वरूप को बताया जाकर उस कथा का उपसंहार किया जा रहा है—

श्लोक—**उपवर्णितमेतद्वः पुण्यं पारीक्षितं मया।**
वासुदेवकथोपेतमाख्यानं यदपृच्छत ॥९॥

श्लोकार्थ—जिन भगवान् वासुदेव की कथा से युक्त पुण्यशील राजा परीक्षित् के विषय में आपने पूछा था, वह पवित्र आख्यान मैंने आपको कह सुनाया है ।।९।।

सुबोधिनी—**उपवर्णितमिति**। एवं खण्डशो निरूपितस्य प्रकृतोपयोगित्वाभावात्पुण्यमित्याह । यथा गङ्गास्नानादिकं धर्मस्तथैतदुपाख्यानमपि परीक्षितः सम्बन्धि । कथने हेतुः— **वासुदेवकथोपेतमिति** । किञ्च । **यदाख्यानमपृच्छत** । "**तत्कथ्यतामि**" ति वाक्येन पृष्टत्वादुत्तरं दत्तम् । अन्यथा केवलैव भगवत्कथा कथिता स्यात् । "**सोऽहं वः श्रावयिष्यामी**" ति प्रतिज्ञानात् । कथासङ्क्षेपश्च ।।९।।

व्याख्यार्थ— मैंने आख्यान का वर्णन कर दिया । लोक में उपयोगी होने के कारण विभाग रूप में निरुपित किये गये इस परीक्षित् का फल पुण्य प्राप्ति कहा गया है । जिस प्रकार गंगा स्नान आदि से धर्म होता है, उसी प्रकार परीक्षित् का यह आख्यान भी पुण्य देने वाला है । इसके कथन में कारण यह है, कि यह परीक्षित् का आख्यान भगवान् वासुदेव की कथा से ओत-प्रोत है । सार बात यह है, कि आपके द्वारा परीक्षित् सम्बन्धी आख्यान पूछे जाने पर, मैंने कहने का जो अनुमोदन किया था; उसे मैंने पूछे गये प्रश्न का उत्तर देकर पूरा किया । अन्यथा तो मैंने केवल भगवत् कथा ही कही होती । "उस परीक्षित् सम्बन्धिनी कथा को मैं सुनाऊँगा" ऐसी स्वीकृति देने से इसे संक्षेप में कहा गया है ।।९।।

आभास—ननु यद्ययुक्तः प्रश्नः साक्षाद्भगवत्कथाया अनिरूपकत्वात् । तदा वयं तदैव कथं न निवारिताः । किं प्रासङ्गिकेनेति । तत्राऽऽह—

आभासार्थ—साक्षात् भगवत् कथा से युक्त न होने के कारण यदि हमारा प्रश्न अनुचित था तो आप उसका निरूपण नहीं करते और तभी हमें निषेध कर देते । प्रसंग के अन्तर्गत आ जाने से ही उस आख्यान का कथन करना इतना आवश्यक नहीं था । ऐसी शंका होने पर उसका उत्तर देते हैं—

श्लोक—**या याः कथा भगवतः कथनीयोरुकर्मणः ।**
गुणकर्माश्रयाः पुम्भिः संसेव्यास्ता बुभूषुभिः ।।१०।।

श्लोकार्थ—जिन अतिशय श्रेष्ठ कर्म करने वाले भगवान् की जो-जो कथायें कहने योग्य हैं तथा जो कथायें भगवान् के गुण और कर्मो का आश्रय लिये हुये हैं;

श्रेष्ठता की ओर बढ़ने की इच्छा वाले पुरुषों को उन कथाओं का अवश्यमेव सेवन करना चाहिये ॥१०॥

सुबोधिनी—या याः कथा इति । नाऽस्यन्तं कथाऽनुपयोगिनी । भगवत्कथाया आधारत्वात् । उत्तमाश्रयत्वमेवाऽधिकारित्वम् । अतो याः काश्चन कथा भगवतो **गुणकर्माश्रयाः** गुणान् कर्माणि चाऽऽश्रित्य प्रवृत्तास्ताः श्रोतव्याः । तत्र हेतुः—**कथनीयोरुकर्मण इति** । कथनीयानि उरु अधिकानि कर्माणि यस्य । भगवत्कथाया आधिक्यं निरूपककथायाः सद्भावे भवति । तदैव भक्तिजनकत्वम् । अन्यथा सहस्रनामपाठवद्धर्मोपयोगित्वं स्यात् । कथनीयानि उरु यथा भवन्ति तथा कर्माणि यस्य । केवलनिर्देशेन भगवत्कर्माणि न कथनीयानि । किन्तु साधारणानि सप्रतिष्ठानि कथनीयानीत्यर्थः । **पुम्भिरिति** । स्वतन्त्रैः । तत्रापि बुभूषुभिर्भवितुमिच्छुभिरुद्बुविष्णुभिः । घृतसहितस्याऽन्नस्यैव पोषकत्वात् ॥१०॥

व्याख्यार्थ—भगवान् के गुण व कर्मो से युक्त जो कथायें कहने योग्य हैं, उन्हें प्रासंगिता में भी कहना चाहिये । प्रसंग के अन्तर्गत आये हुये कथानक सर्वथा अनुपयोगी नहीं हुआ करते । क्योंकि उनका आधार भगवान् की कथा ही होती है । उत्तम का आश्रय लेने से उत्तमता के अधिकार की प्राप्ति के कारण वे कथायें भी कहने योग्य बन जाती हैं । अतः जो कोई भी कथा भगवान् के गुण तथा कर्मों का आश्रय लेने वाली हों उन्हें अवश्य ही सुना जाना चाहिये । उसमें कारण है—कि अतिशय बढ़े-चढ़े कर्म करने वालों की कथा कथनीय होती है । निरूपण की जाने वाली कथा में भगवत् कथा के श्रेष्ठ भाव की स्थापना अधिक होने से वे भक्ति को उत्पन्न करने वाली होती हैं । अन्यथा तो वे भी सहस्रनाम पाठ आदि के समान ही केवल धर्म अर्जन के उपयोग की ही हो जायें । कहने योग्य इसलिये हैं, कि उनके सुनने से उन महान् कर्म कर्त्ताओं के कर्मो को करने की प्रेरणा मिलती है । केवल निर्देश मात्र से ही भगवान् के कर्म कहने की कोई व्यावहारिक उपयोगिता नहीं है । किन्तु जन-सामान्य में वे आचरण भली प्रकार प्रतिष्ठित हो जायें इस भाव से उन्हें कहा जाना चाहिये । पुरुषों के द्वारा उसे ग्रहण किया जाना चाहिये । पुरुष क्यों कहा ? क्योंकि वह स्वतन्त्र है । अतः यदि उसे भगवत् तत्त्व पाने की अभिलाषा है तो अवश्य ही उसे इन पोषक कथाओं का श्रवण करना चाहिये । जिस प्रकार शुद्ध घृत से बने हुये अन्न भोजन करने वाले को पुष्ट बना देते हैं, उसी प्रकार भक्ति के भावों को पुष्ट बना देने वाली कथायें श्रवणीय हैं ॥१०॥

आभास—एवं निवृत्तं सूतं प्रतिबुध्य सर्वे ऋषयोऽभिप्रेतार्थज्ञानार्थं तं प्रोत्साहयन्ति—

आभासार्थ—इस प्रकार सूतजी महाराज को कथा कहने से रुका हुआ जानकर सारे ऋषि इच्छित अर्थ के ज्ञान को जानने के लिये श्री सूतजी को अत्यधिक उत्साह दिलाते हुये कहते हैं—

ऋषय ऊचुः—श्लोक—**सूत जीव समाः सौम्य शाश्वतीर्विशदं यशः ।**
यस्त्वं शंससि कृष्णस्य मर्त्यानाममृतं हि नः ।।११।।

श्लोकार्थ—हे सौम्य सूतजी, आप सदा-सदा जियें । आपका यश निरन्तर विस्तार को प्राप्त होवे । जो कि आप हम मनुष्यों को भगवान् श्री कृष्ण के अमृत को पिला रहे हो ।।११।।

सुबोधिनी— सूत जीवेति । ब्राह्मणानां सन्तोषदाने आशिष एव द्रव्यम् । तदाह । हे सूत ! शाश्वतीः **समास्त्वं** जीव । ननु भवतां क्वोपयोगः । तत्राऽऽहुः । हे सौम्य ! हे बुध । उत्पत्तिशिष्टं तस्य ज्ञानं चातुर्यं च । अतो बहुकालं त्वज्जीवनेऽस्माकं महत्कार्यमिति भावः । **समाः** सवत्सरान् । **शाश्वतीः** नित्याः । ते हि ब्रह्मणो भवन्त्येन्देषां वा नित्यानां पदार्थानाम् । अनेनाऽपरिमितं कालं जीवेत्युक्तं भवति । एवमाशीर्वादे हेतुमाहुः । यस्मात्कारणाद्विशदं कृष्णस्य यशः शंससि । प्रउगादिशंसनवन्नेदं कर्ममात्रोपयोगि । किन्त्वस्माकममृतं तत् मरणनिमर्त्तकं सुखकरं परमानन्दरूपं च । तदर्थं हेतूनाह **विशदं यशः कृष्णस्येति** । विशदं निर्मलम् । विषं द्यतीति वा । संसारप्रवेशं दूरीकरोतीति । अनेन मरणं निवर्त्तितम् । यशश्च सर्वेषां सुखजनकम् । कृष्णश्च परमानन्दः । सदानन्दवाचकत्वात् । "**कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृतिवाचकः । सदानन्दश्च भगवान्कृष्ण इत्यभिधीयते**" । अनेन परनमान्दत्वम् ।।११।।

व्याख्यार्थ—हे सूतजी आप नित्य जीवें । ब्राह्मणों को सन्तोष दान देने पर उसके प्रतिफल रूप में उनके पास देने के लिये आशीर्वाद रूपी द्रव्य ही है । इसलिये कहा गया है—कि हे सूतजी, आप शाश्वत वर्षों तक जीवन धारण कीजिये । इतने दीर्घतम जीवन को धारण करने के पीछे आपका क्या उपयोग है ? इसके समाधान में कहते हैं, कि हे सौम्य, हे भगवत् स्वरूप के सेवनकर्त्ता अर्थात् हे बुध (परम लक्ष्य को प्राप्त करने में नियोजित बुद्धि वाले) आप अपने ज्ञान और चातुर्य से उत्पत्ति को शिष्ट कर देते हैं अर्थात् भागवत् श्रवण से उत्पत्ति मिट जाती है आवागमन शेष नहीं रह जाता । अतः आपके बहुत काल तक जीवित रहने से हमारा महान् कार्य सिद्ध होगा । समाः अर्थात् सम्वत्सरों (वर्षों तक) पर्यन्त, शाश्वत याने नित्य जैसे कि ब्रह्म अथवा ऐसे ही ब्रह्माण्डादि पदार्थों के समान सीमा रहित समय तक आप जीवन धारण कीजिये । इस प्रकार आशीर्वाद देने में कारण बताया गया है । आप

भगवान् श्री कृष्ण के विशद यश का गान करते हैं, इस कारण आपके जीवन का महान् प्रयोजन है। वेदों की ऋचाओं के अन्तर्गत आये प्रउग आदि स्तुतियों की तरह जो केवल कर्म मार्ग का ही निर्देशन करती हैं, ये आपके अमृतमय गान वैसे कर्म निर्देशक नहीं हैं, प्रत्युत् परमानन्द श्री कृष्ण रस से ओत-प्रोत हैं। हमारे लिये आप से किया गया भगवत् शंसन् अमृत है। आप द्वारा उच्चरित भगवत् गुणगान मृत्यु नाशक, सुख सरसाने वाला और परम आनन्द के रूप वाला है। उसके अर्थ में कारण बताया जा रहा है— कि श्री कृष्ण का यश विशद है। वह यश अतिशय निर्मल है। वह यश संसार विष को उखाड़ फेंकता है। संसार में प्रवेश होने की प्रक्रिया को दूर कर देता है। उन श्री कृष्ण का विशद यश मृत्यु को पास भी नहीं फटकने देता। परमानन्द श्री कृष्ण का यश सुख उत्पन्न करने वाला है। और श्री कृष्ण ही परमानन्द हैं। सदानन्द की वाचकता श्री कृष्ण शब्द में ही निहित हैं। "कृष्" का प्रयोग भू अर्थात् सत्ता के अर्थ में प्रयोगित होता है और ण' निवृति अर्थात् आनन्द के अर्थ में। आनन्द की एकरस प्रवहमान शाश्वत स्थिति ही भगवान् कृष्ण का नाम धारण करती है। इन्हीं श्री कृष्ण के गुणगान से परम आनन्द के प्राप्त होने की वेला प्रस्तुत होती है ।।११।।

आभास—परीक्षित्कथाप्रश्नमात्रेण यदाऽयमुदासीनस्तदा कर्मप्रवृत्तिमस्मदीयां दृष्टवा न वक्ष्यत्येवेत्याशङ्क्याऽऽहुः—

आभासार्थ—परीक्षित् की कथा के प्रश्न मात्र से उदासीन हुये सूतजी, हम लोगों की कर्म मार्ग में हुई प्रवृत्ति को देखकर भगवान् के कथामृत को आगे पिलावें या न पिलावें, इस आशंका से निवेदन करते हैं—

श्लोक—**कर्मण्यस्मिन्ननाश्वासे धूमधूम्रात्मनां भवान्।**
आपाययति गोविन्दपादपद्मासवं मधु ।।१२।।

श्लोकार्थ—इस कर्म में विश्वास रहित वाले, धूएँ से मलिन हुये हमें; आप श्री गोविन्द के चरण कमलों के मधुर रस को पिलाते हो ।।१२।।

सुबोधिनी-कर्मण्यस्मिन्निति। अस्मिन् यज्ञाख्ये कर्मणि फलनिश्चयाभावात्तदाश्वासो नास्ति। "**को हि तद्वेद यद्यमुष्मिंल्लोकेऽस्ति वा न वे**" ति—"**दिक्ष्वतीकाशान् करोती**" ति श्रुतेः। यथा तत्राऽसन्देहे सन्देहवचनमेवमत्राऽपीत्यर्थः। अत एव—**धूमधूम्रात्मनाम्**। धूमेन धूम्र आत्मा देहो

येषाम् । यज्ञकृतो दोषः स्फुटः । गुणस्तु सन्दिग्धः । एतादृशे महति कष्टे गोविन्दपादपद्मासवं मधु आपाययति । सहस्रसमयागेन कोऽपि रसो नाऽनुभूतः । त्वया चाऽनुभूयते । अतो यागापेक्षया भवानेवाऽऽदरणीयः । आ समन्तात् पानं हृदयप्रवेशपर्यन्तम् । **गोविन्देति** श्रोतॄणां रक्षकत्वम् । **पादपद्मे ति** भक्तिमार्गप्रचारः । अनेनाऽग्रेऽपि पानं सूचितम् । **आसवेति** देहविस्मारकम् । अनेन ज्ञानफलमत्राऽऽधुषङ्गिकमिति ज्ञानादुत्कर्षः सूचितः । **मध्विति** मिष्टम् । स्वरूपतोऽपि पयेयोग्यतोक्ता ॥१२॥

व्याख्यार्थ—कर्म में विश्वास की स्थिति का प्रभाव बताया जा रहा है । इस यज्ञ नाम वाले कर्म में फल के निश्चित रूप से मिलने का विश्वास ऋषियों को नहीं है । "कौन जाने कि उस लोक में फल मिलेगा अथवा नहीं," ऐसा श्रुतियों में कथन आया है । जिस प्रकार वहां सन्देह न होने की स्थिति में भी सन्देह युक्त वचनों का प्रयोग हुआ है, वैसा ही इस प्रसंग में भी हुआ है । इसीलिये "धूएँ से धूमायित हुये" शब्दों का प्रयोग हुआ है । धूएँ से मलिन शरीरों वाले हमें आपने कथा श्रवण द्वारा निर्मल बनाया है । इसमें यज्ञ किये जाने का दोष स्पष्ट रूप से बताया गया है । गुणों को यज्ञ में सन्देह की दृष्टि से देखा गया है । ऐसे महान् यज्ञ के कष्ट में आपने हमें गोविन्द के चरण कमल के मीठे रस को पिलाया है । इस हजार वर्ष वाले यज्ञ में जिस रस का अनुभव हमें आज तक नहीं हुआ, वह आपने हमें करा दिया है । अतः इस यज्ञ की तुलना में आप ही आदरणीय हैं । भगवत् रस का पान चारों ओर से करा रहे हैं, जिससे वह हृदय में पूरी तरह प्रवेश हो जाये । यहाँ गोविन्द शब्द का प्रयोग सुनने वालों की रक्षा के अर्थ में किया गया है । "चरण कमल," कहकर भक्ति मार्ग के प्रचार को व्यापकता दी है । आगे भी इस रस का पान किया जाता रहेगा, इस बात की सूचना भी ऊपर लिखित वाक्यों में दे दी गई है । मकरन्द के लिये प्रयुक्त किये गये "आसव" शब्द का यहाँ विशेष प्रयोजन है, वह यह, कि जिस प्रकार आसव के पीने से कुछ होश-हवाश नहीं रहता, वैसे भगवत् रस के पान करने से व्यक्ति अपने देह की सुद-बुद खो बैठता है—उसका देह अध्यास नष्ट हो जाता है । यहाँ ज्ञान के फल को प्रासंगिक रूप में बताया गया है और भक्ति को ज्ञान से बढ़ा-चढ़ाकर सूचित किया है ।'मधु' शब्द मीठे के अर्थ में प्रयोगित हुआ है । जैसे मधुर पदार्थ को पीने की इच्छा निरन्तर बनी रहती है, उसके स्वरूप से ही पान करने की योग्यता उसमें स्थित है, उसी प्रकार भगवान् गोविन्द के चरण कमलों का मधुर आसव रस निरन्तर पीते ही रहे, कभी तृप्ति ही नहीं, यह इच्छा उन ऋषियों को बनी हुई है ॥१२॥

आभास—एवं कथायामत्यादरमुक्त्वा तस्मिन्नत्यादरमाह (?)—

आभासार्थ—इस प्रकार ऋषियों ने कथा में अत्यधिक आदर बताकर, उन सूत जी का भी अतिशय आदर करते हुये कहा है—

श्लोक—**तुलयाम लवेनाऽपि न स्वर्गं नाऽपुनर्भवम् ।
भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताऽऽशिषः ।।१३।।**

श्लोकार्थ—भगवान् के भक्तों के एक क्षण के संग के भी बराबर न तो स्वर्ग है और न ही मोक्ष। फिर अन्य मृत्यु लोक के नष्ट होने वाले मनुष्यों द्वारा चाहे गये राज्यादिक पदार्थ तो सत्संग की तुलना में ठहर ही कैसे सकते हैं ? ।।१३।।

सुबोधिनी—**तुलयामेति**। भगवता सह सङ्गो यस्य तादृशस्य यः सङ्गस्तस्यैकदेशेनाऽपि स्वर्गं न तुलयामः। यथा त्वत्सङ्गेन कथामृतपाने सुखं जातं तथा स्वर्गे भविष्यतीति न कल्पयामः। तदाऽसमानसाम्यापादनेनाऽनादरः स्यात्। स्वर्गो हि **"यन्न दुःखेन सम्भिन्नमि"**ति वाक्याद् दुःखासंश्लिष्टः सुखविशेषः। स च जीवोपभोग्यो जीवात्मानन्दान्न्यूनः (?) तस्यैव जीवावरणनिवृत्तिरूपोऽपुनर्भवः। यतो न पुनर्भवतीति। स च मानुषानन्दापेक्षयोत्तमोऽपि ब्रह्मानन्दापेक्षया हीनः। स एव वा। उभयथाऽप्यानन्दमयस्य भगवतस्तुल्यो न भवति। सङ्ख्यया परिमितत्वेन निरूपणात्। अपरिमितो हि भगवदानन्दो विलक्षणश्च। अन्यथा जीवस्य ब्रह्मभावो नोच्येत ब्रह्मभूतस्य वा भगवत्प्रवेशः। न हि द्रोणमात्रेऽपि पिण्याके भक्षिते मुष्टिमात्रशर्करारसानुभवो भवति। ब्रह्मानन्देऽपि ब्रह्मणः पूर्णज्ञानवतोऽपि सनकादेर्भगवदानन्दाकाङ्क्षणात्। अतो भगवता सह स्वर्गापवर्गयोर्न तुल्यता। साधनपक्षेऽपि न तुल्यता। मुक्तो हि भगवत्प्राप्तावधिकारी। **"ब्रह्मभूतः प्रशान्तात्मे"**ति वाक्याद्मुक्तोऽपि भक्तिं जनयति। भक्ताविदं स्वरूपोपकार्यङ्गम्। अधिकारिनिरूपणद्वारा मोक्षः। **'मुक्तानामपि सिद्धानामि"**ति वाक्यान्न सर्वे मुक्ता भगवदानन्द प्राप्नुवन्ति। भगवत्सङ्गिनस्तु सङ्गस्य लेशोऽप्येकदेशोऽपि भगवदानन्द प्रकटयति। अतः स्वतन्त्रनियतपाक्षिकयोर्न तुल्यता। भ्रान्तस्तुलयतु नाम। वयं तु न तुलयामः। मर्त्यानामाशिषः पुत्राद्याशीः (?)। **आशिष इति** द्वितीयाबहुवचनम्। तासां निषेधो लौकिकाभिप्रायेण। लौकिकानां तत्राऽऽदरविशेषात्। लौकिकवैदिकमार्गापेक्षया पुष्टिमार्ग उत्कृष्ट इत्युक्तं भवति ।।१३।।

व्याख्यार्थ—जिसका संग भगवान् के साथ हो गया है, ऐसे भगवत् भक्तों के संग करने की तुलना में स्वर्ग एक अंश के रूप में भी नहीं ठहरता। जैसा आपका संग करने से कथा के अमृत पान का सुख मिलता है, वैसा स्वर्ग में मिलता होगा, इसकी हम कल्पना भी नहीं करते। असमान वस्तु की समता करने पर अनादर होता है। स्वर्ग वह है, "जहाँ दुःख से सुख की स्थिति का भेद नहीं होता है"। इस वाक्य से

स्वर्ग में एक ऐसा विशेष प्रकार का सुख है, जिसमें दुःख कतई नहीं मिला हुआ हो। वह सुख जीव के द्वारा भोगा जाता है, परन्तु वह सुख आत्मा के आनन्द से कम है। उस जीव का आवरण जब हट जाता है, तो उसे अपुनर्भव कहते हैं, क्योंकि वह दुबारा जन्म नहीं लेता है। वह मनुष्य द्वारा प्राप्त किये जाने वाले आनन्द की अपेक्षा उत्तम होते हुये भी ब्रह्म के आनन्द की तुलना में बराबरी नहीं करता। ये दोनों ही प्रकार के आनन्द मिलकर आनन्दमय भगवान् की समता नहीं कर सकते। क्योंकि अन्य आनन्द सीमित हैं, उन्हें संख्या में बाँधा जा सकता है। भगवान् का आनन्द अनूठा ही है तथा उसका कोई आर-पार नहीं। यदि ऐसा न हुआ होता तब तो जीव का ब्रह्मभाव होना, ब्रह्मभूत होना अथवा भगवान् में प्रवेश होना आदि वाक्य नहीं कहे गये होते। दोना भरकर खल खाने से मुट्ठीभर शक्कर खाने का रसाभव नहीं होता। ब्रह्मानन्द में भी ब्रह्म का पूर्ण ज्ञान रखने वाले सनकादिक ऋषि भी भगवान् के आनन्द को प्राप्त करने की इच्छा रखते हैं। अतः भगवान् के साथ स्वर्ग और मोक्ष की समानता नहीं है। यहाँ तक कि साधन पक्ष में भी उसको समानता नहीं है। मुक्त होने के बाद निश्चित रूप से वह भगवान् को प्राप्त कर सकने में अधिकार की योग्यता प्राप्त करता है। "ब्रह्मभूत होने पर आत्मा शान्त हो जाती है," इस वाक्य से भगवान् के भक्त भी भक्ति को उत्पन्न करते हैं। वह भक्त, भक्ति के स्वरूप का उपकार करने वाला एक अंग है और भक्ति के अधिकार का निरूपण करने में मोक्ष भी एक अंग है। कहा भी गया है, कि "मुक्त हुये सिद्धों में भी भगवान् में परायण होने वाले भक्त दुर्लभ हैं।" इससे यह सिद्ध हुआ, कि मुक्त होने वाले प्रत्येक व्यक्ति भगवान् के आनन्द को प्राप्त नहीं कर लेते। भगवान् के भक्त का एक क्षण मात्र संग भी भगवान् के आनन्द को उत्पन्न करता है, अतः भगवत् भक्तों का संग आनन्द प्रदान करने में स्वतन्त्र है, मोक्ष तो केवल उसका एक पहलू है। अतः दोनों की बराबरी ही क्या ? भले ही भ्रम में फँसे हुये व्यक्ति मोक्ष अथवा स्वर्ग प्राप्ति आदि को भगवत् प्राप्ति की तुलना में रखें; परन्तु हम शौनक ऋषि तो इसकी समानता नहीं करते। मनुष्य तो आशीर्वाद रूप में पुत्र आदि की ही कामना रखते हैं। "आशिष" शब्द द्वितीया बहु वचन में हैं। लौकिक अभिप्राय से उनका निषेध किया गया है। क्योंकि लौकिक लोगों का पदार्थ प्राप्ति में ही विशेष आदर रहता है। लौकिक और वैदिक मार्ग की अपेक्षा पुष्टिमार्ग (भगवान् की कृपा का मार्ग) सबसे बढ़ा-चढ़ा इसीलिये बताया गया है ॥१३॥

आभास—एवं वक्तुः प्रोत्साहनमुक्त्वा स्वकीयं रागातिशयं द्योतयन्ति—

आभासार्थ—इस प्रकार वक्ता के उत्साह को बढ़ाने वाले वचन कहकर, भगवान् के प्रति अपने बढ़े हुये अनुराग को प्रकाशित करते हैं—

श्लोक—**को नाम तृप्येद्रसवित् कथायां महत्तमैकान्तपरायणस्य ।**
नाऽन्तं गुणानामगुणस्य जग्मुर्योगेश्वरा ये भवपाद्ममुख्याः ॥१४॥

श्लोकार्थ—महान् से भी महान् और एकान्त परायण तथा रस के जानने वालों में भला ऐसा कौन होगा ? जो भगवान् की कथा में तृप्त हो जाय । योगेश्वरों में मुख्य भगवान् शिव तथा ब्रह्माजी जिन निर्गुण ब्रह्म के अनन्त गुणों को नहीं जान सके ॥१४॥

सुबोधिनी—को नाम तृप्येदिति । न ह्येतादृशे अमृते कश्चित्तृप्यति । अतृप्तिप्रकारस्तु पूर्वं निरूपितः । तस्य रसत्वेऽपीच्छासाधकत्वनिरूपणात् । तेनौषधवन्न तृप्तिहेतुत्वम् । न केवलं तद्रूपत्वम् । किन्तु रसत्वमपि । अतः स्वस्मिन्नेव रुचिं जनयति । यद्यपि साधारण्येन श्रोतृमात्रे रसं जनयति । तथापि परमसंसाररोगव्याप्तस्याऽन्तःप्रवेशाभावेन सकृदपि रसाज्ञानातस्य रुचिर्मा भवतु । यस्तु रसवित् स कथं तृप्येते (?)त्यर्थः । तत्रापि कथायाम् कथारसस्त्वतृप्तिहेतुर्लोकेऽपि सिद्धः । कर्मज्ञाननिष्ठास्तृप्यन्तीति चेत् ? तत्राऽऽह—**महत्तमैकान्तपरायणस्येति** । **महत्तमा** भक्तिसहितज्ञानिनः । तेषामेकान्तेन नियमेन पर यदुत्तममुत्कृष्टं यत्प्राप्तिस्थानम् । फलरूपमिति । यावत् तस्य भगवतः । यद्यपि केवलकर्मज्ञानिनो रसवित्पदेनैव निवर्त्तितास्तथापि लोकप्रतीत्या साधनत्वेन तेषामपि रसवित्त्वम् । यदा ततोऽप्युत्कृष्टा न निवर्त्तन्ते फलत्वात्तदा ते तत्सनुवर्त्तिन । कथं निवर्त्तरन् अत्र निवृत्तिः । केवलं रसाज्ञानादेव । नाऽन्यत इति सिद्धम् । तत्र सम्मतिमाह (?) –**नाऽन्तमिति** । अगुणस्य गुणानामन्तं परिच्छेदं न जग्मुः। यथा रुचिर्नित्या कथाकृतैव कथायां तथा गुणा अपि न परिच्छिन्नाः । अतो नाऽलम्बुद्धिहेतवः अपेक्षितात्परिच्छिन्नादेव निवर्त्तन्ते। अतः प्रमाणप्रमेययोर्नित्यत्वादपेक्षान्तराभावात्प्रतिबन्धकाभावाच्च नाऽलम्बुद्धिः । सम्भवतीत्युक्तम् । अगुणस्य गुणानामिति विरोधाभासेनाऽसङ्ख्यता सूचिता । यो हि गुणवान् स परिमितगुणो भवति । यथा देवदत्तादिः । अगुणस्य तु गुणाः पर्वताग्रनदीजलवदपरिमिता एव भवन्ति । न च तेऽलोका । रसानुभवात् । प्रेक्षावतां च प्रवृत्तेः । न च सगुणवान् । अद्वैतङ्गापत्तेः । अतो भगवानेव स्वरूपेणैवाऽविक्रियमाण एव तादृशगुणरूपो भवतीति कारणस्य नित्यत्वात्प्रतिक्षणं जायमाना गुणा अनन्ता एव भवन्ति । गणकानां गणनाऽपर्यवसानाच्चाऽनन्तत्वम् । तदाह—**योगेश्वरा इति** । अलौकिका भगवद्गुणा न लौकिकप्रमाणगम्या इति तत्रापि न साधारणयोगगम्याः किन्तु भगवद्योगगम्या इति **योगेश्वरा** इत्युक्तम् । **भवो** महादेव । **पाद्मो** ब्रह्मा नाभिकमले जातः । तौ मुख्यौ येषाम् । भक्तियोगयोर्महादेवस्य प्राधान्यात्प्रथमतो ग्रहणम् । प्रमाणमुख्यतया भवग्रहणम् । प्रमेयमुख्यतया पाद्मग्रहणम् । भवतीति व्युत्पत्त्याऽभिव्यक्तब्रह्मरूपं वेदरूपमेव भवस्य रूपमिति ।

"वेदः शिवः शिवो वेद" इति वाक्यात् । भगवन्नाभिकमलोत्पन्नत्वात्तज्जत्वेन तत्त्वम् ॥१४॥

व्याख्यार्थ—उन भगवान् की कथा से कौन तृप्त हो सकता है ? इस प्रकार के अमृत से कोई तृप्त नहीं हो सकता । अतृप्ति का प्रकार तो पहले ही निरूपित कर दिया गया है । उसके रस में भी साधक की इच्छा के अनुकूल निरूपण किया गया है । उससे औषधि के समान तृप्ति का होना नहीं कहा गया है । क्योंकि वह केवल रस के रूप वाला ही नहीं है, किन्तु रस भी हैं । अतः वह रस स्वयं में रुचि को उत्पन्न करता है । यद्यपि साधारणतया कथा के सुनने मात्र से ही रस की उत्पत्ति होती है तो भी संसार के रोग में अत्यधिक रमे हुये लोगों के अन्तःकरण में प्रवेश के अभाव से एक बार भी रस के ज्ञान में उनकी रुचि नहीं भी होवे; परन्तु जो रस के जानने वाले हैं, वे कैसे तृप्त हो सकते हैं ? यह अर्थ हुआ । उसमें भी भगवान् की कथा में वे कैसे तृप्त हो सकते हैं । कथा के रस से तृप्त होना लोक में भी प्रसिद्ध है । कर्म में तथा ज्ञान में निष्ठा वाले भले ही तृप्त हो जाते हों ? परन्तु जो महत्तम हैं, एकान्त परायण हैं, वे तो तृप्त नहीं होते । यहाँ महत्तम उन्हें कहा गया है जो भक्ति से युक्त ज्ञान वाले हैं । उनमें एकान्त से, नियम से परे जो उत्कृष्ट हैं और ऐसे जिन ब्रह्म की प्राप्ति का उत्तम स्थान है, उसे एकान्त कहा गया है; ऐसे उस एकान्त को प्राप्त करने में जो लगे हुये हैं, उन्हें रस कथा से तृप्ति कहाँ ? जब तक उन भगवान् को फल रूप में प्राप्त न कर लें तब तक तृप्त होने की कोई स्थिति ही नहीं । यद्यपि केवल कर्म में निष्ठा वाले और ज्ञानी उस रसमय स्थिति को प्राप्त नहीं कर सकते तो भी लोगों के विश्वास के आधार पर और साधन के द्वारा उनको भी रस का जानकार मान लिया गया है । ऐसी स्थिति में उन उत्कृष्ट लोगों की फल से तृप्ति नहीं होती तो जो निरन्तर भगवान् का ही अनुसरण करने वाले भगवत् भक्त हैं, वे कैसे तृप्तिाका अनुभव कर सकते हैं ? यहाँ निवृत्ति का तात्पर्य केवल रस के ज्ञान हो जाने से है । किसी अन्य प्रकार से यह सिद्ध नहीं होता । उस प्रसंग में यह सम्मति दी गई है, कि उस ब्रह्म का कोई अन्त नहीं है । निर्गुण के गुणों का अन्त नहीं जाना जा सकता । जिस प्रकार रस ज्ञाता लोगों की रुचि कथा में नित्य बनी रहती है और क्षण-क्षण में नये रसानन्द का अनुभव होता है वैसे ही ब्रह्म के गुण भी परिच्छिन्न (एक देश काल में सीमित अवस्था वाले) नहीं हैं, वे भी निरन्तर नये-नये रूपों के अनुभव में आते हैं । अतः कोई भी बुद्धि के द्वारा उन गुणों की गणना नहीं कर सकता । चाहे गये पदार्थ की एक निश्चित मात्रा वाली स्थिति होने

से अर्थात् परिछिन्न अवस्था होने से, उसे प्राप्त कर लिये जाने पर तृप्त हुआ जा सकता है परन्तु निस्सीम को परिछिन्न रूप में प्राप्त नहीं किया जा सकने के कारण उससे कभी तृप्ति की अवस्था नहीं आती। अतः प्रमाण और प्रमेय की नित्य स्थिति होने से, अपेक्षा का और प्रतिबन्धकता का अभाव होने से तृप्ति हो जाने की बुद्धि की सम्भावना नहीं है, यह कहा गया है। निर्गुण में गुणों की अनन्तता होना विरोधाभास है, इससे उनके गुणों की असंख्यता सूचित नहीं होती। क्योंकि जो गुण वाला होगा वह सीमित गुणों वाला ही होगा, जैसे देवदत्त आदि व्यक्ति के नाम लिये जाने से उसमें कितने गुण किस-किस प्रकार के हैं, यह बोध हो जाता है; परन्तु उस निर्गुण के गुण तो पर्वत के मुहाने से बहने वाली नदी के जल के समान सीमा रहित हैं। इसलिये उन्हें अन्त वाला कहना ठीक नहीं होगा। ज्ञान वाले लोगों की प्रवृत्ति भी उस रस के अनुभव से जुड़ी हुई है। यदि निर्गुणत्व में गुण होने का अभाव हो तो भगवान् के अद्वैतपने न होना घटित हो जाय अतः भगवान् गुण वाले हैं, ऐसा एक पक्षीय रूप से परिछिन्न दृष्टि से देवदत्त वाले उदाहरण की तरह नहीं कहा जा सकता। भगवान् के ये गुण ऊपर से बाद में लगाये गये नहीं हैं, प्रत्युत् भगवान् अपने स्वरूप से विकार प्राप्त हुये बगैर ही गुण रूप बने हैं अतः कारण की नित्यता होने से क्षण-क्षण में उत्पन्न होने वाले गुण बिना अन्त वाले हैं। जिनकी कभी भी समाप्ति ही न हो, इतने गुण हैं भगवान् में। जिनकी गिनती करने बैठो तो वह गिनती पूरी ही न हो। अतः वे अनन्त गुण सम्पन्न हैं। इसी प्रसंग में कहते हैं, कि जो योगेश्वर हैं, वे भी प्रभु के गुणों का अन्त नहीं पा सकते, तो साधारण योगियों की तो बात ही क्या ? परन्तु भगवान् से जुड़ जाने पर ही वे उन गुणों को जान सकते हैं। इसलिये योगेश्वरों में मुख्य महादेव जी तथा ब्रह्मा जी माने गये हैं। भक्ति और योग में महादेव जी का प्राधान्य होने से उनको श्लोक में रखा गया है। यहाँ प्रमाण की मुख्यता से महादेवजी का ग्रहण किया गया है तथा प्रमेय की मुख्यता से ब्रह्माजी का ग्रहण किया गया है। 'भवतीति भवः," जो भगवान् से उत्पन्न हुआ है वह भव है, शिव है। इस व्युत्पत्ति से वे स्पष्टतया ब्रह्म का रूप हैं। "पाद्मौ" पद्म से उत्पन्न होने वाले ब्रह्मा है, नाभि के कमल से आविर्भूत हुये हैं, अतः पाद्मो कहा गया है। ये दोनों ही योगेश्वरों में मुख्य हैं, भगवान् से इनका सीधा सम्बन्ध है, और इसी कारण शिव वेद रूप कहे गये हैं। "वेद शिव हैं और शिव ही वेद हैं," यह वाक्य प्रमाण है। ब्रह्माजी भगवान् के नाभिकमल से उत्पन्न होने के कारण उन्हीं से

उत्पन्न होने वाले सत्त्व हैं ॥१४॥

आभास—प्रमाणप्रमेयप्रमातॄणामानन्त्येन योग्यत्वाद्गुणान् कथयेत्याहुः—

आभासार्थ—शौनक ऋषि निवेदन करते हैं, कि अब प्रमाण रूप भगवान् की कथा है, प्रमेय रूप भगवान् के गुण हैं और रस के जानकार उनके प्रमाता हैं, ऐसे अनन्त भाव से योग्य होने से भगवान् के गणों को कहियेगा—

श्लोक—**तन्नो भवान्वै भगवत्प्रधानो महत्तमैकान्तपरायणस्य ।**
हरेरुदाराचरितं विशुद्धं शुश्रूषतां नो वितनोतु विद्वन् ॥१५॥

श्लोकार्थ—आप भगवदीयों में प्रधान हैं, अतः हे विद्वान् सूतजी, आप हमें महान् भक्तों के आश्रय रूप भगवान् हरि के विशुद्ध एवं उदार चरित्रों को सुनाइये ॥१५॥

सुबोधिनी—**तन्नो भवानिति** । तव चैतदेव कृत्यम् । यतो भवान् वै निश्चयेन भगवदीयानां मध्ये प्रधानो मुख्यः । प्रधानशब्दः प्रकृतिवाचक एव नित्यनपुंसकः । भगवान् प्रधानं यस्येति वा । किञ्च । महत्तमानां भगवद्भक्तानामेकान्ततः परायणं परमप्राप्यं फलम् । अतस्तवाऽपि महत्त्व-सिद्धये भगवद्गुणकथनमावश्यकमित्युक्तम् । कथनक्लेशोऽपि नास्तीत्याह—**हरेरिति** । भगवद्व्य-तिरेकेणाऽपि गुणैरेव सर्वे पुरुषार्था दीयन्त इति **उदाराचरितमि**त्युक्तम् । **विशुद्धमिति** । शुद्ध्यर्थमेव सर्वे प्रयासाः सर्वे च संस्काराः । चरित्रं च विशेषाकारेण शुद्धिर्यस्मादिति । स्वस्य श्रोतृत्वमाह—**शुश्रूषतामिति** । विशेषेण तनोतु विस्तारयतु । प्रार्थनायां लोट् । वक्तृत्वयोग्यतामाह—**विद्वन्निति** ॥१५॥

व्याख्यार्थ—उन भगवान् का चरित्र आप हमें सुनाइये । आपका यही कार्य है । क्योंकि आप निश्चय ही भगवदीयों के बीच में मुख्य हैं । प्रधान शब्द प्रकृति का वाचक होने से नित्य नपुंसकलिंग में प्रयुक्त होता है । अथवा आपके लिये भगवान् ही मुख्यता रखते हैं । इससे अधिक क्या कहें, कि महान् भगवत् भक्तों के लिये भगवान् ही प्राप्त करने योग्य सबसे बड़े फल हैं । अतः आप की महत्त्व सिद्धि के लिये भगवत् गुणों का कथन करना आपके लिये परम आवश्यक है । भगवान् के गुण कथन करने में आपको भी किसी प्रकार का क्लेश नहीं होगा, इसलिये कहा गया है, कि वे भगवान् हरि हैं । भगवान् के अतिरिक्त भी उनके गुण ही सारे पुरुषार्थों को प्रदान करने वाले हैं, अतः उन्हें उदार चरित्र वाला कहा गया है । उन्हें परम शुद्ध बताया गया है । शुद्धि के लिये ही तो सारे प्रयास और संस्कार किये जाते हैं । जिन

भगवान् के चरित्र सुनने से विशेष रूप से शुद्धि होती है। सब ऋषि अपने श्रोता होने की बात निवेदित करते हैं, कि हम सब आप द्वारा कहे जाने वाले भगवत् चरित्रों को सुनने की अभिलाषा वाले हैं। अतः आप हमारे लिये विशेष करके भगवान् के विशुद्ध चरित्रों का विस्तार कीजिये। प्रार्थना करने के भाव में लोट् लकार का प्रयोग होता है। कथन करने की योग्यता होने के कारण सूतजी को "विद्वान" सम्बोधन दिया गया है ॥१५॥

आभास—एवं सामान्यतः कथनार्थं प्रार्थयित्वा श्रोतव्यं विशेषाकारेण पृच्छति—

आभासार्थ—इस प्रकार सामान्यतया कहने के लिये प्रार्थना करके, अब सुनने योग्य विशेष प्रश्न को पूछते हैं—

श्लोक—स वै महाभागवतः परीक्षिद्येनाऽपवर्गाख्यमदभ्रबुद्धिः ।
ज्ञानेन वैयासकिशब्दितेन भेजे खगेन्द्रध्वजपादमूलम् ॥१६॥

श्लोकार्थ—आप उन्हीं महाभागवत परीक्षित् की कथा कहिये, जिनकी बुद्धि विशाल थी तथा जिनने शुकदेवजी के द्वारा उच्चरित ज्ञान द्वारा गरुड़ जी के चिह्न से युक्त ध्वजा वाले भगवान् के चरण कमलों के मूल को प्राप्त कर लिया था ॥१६॥

सुबोधिनी—स वै महाभागवत इति। साधनफलयोर्यत्र न व्यभिचारस्तच्छ्रोतव्यम् । तत्र श्रोतुरधिकारिविशेषणम्—**महाभागवत इति ।** भगवद्भक्तो भागवतः । यस्तु भगवता भागवतत्वेन गृहीतः स फलमुखो महाभागवतः । अत्यन्तं भगवत्कृपावलोकितः श्रोता मुख्य इत्युक्तं भवति । तस्य तथात्वे हेतुमाह—**परीक्षिदि**ति । "**पूर्वंदृष्टमनुध्यायन्नि**" ति निरुक्तात्त परीक्षित्त्वम् । येनोपदेशेन खगेन्द्रध्वजपादमूलं भेजे तत्कथयेत्यग्रेण सम्बन्धः । शास्त्रान्तरे ब्रह्मेति मोक्ष इति यत्स्वरूपं व्यपदिश्यते तदेवाऽस्मच्छास्त्रे चरणपीठं वैकुण्ठाख्यम् । "**तद्विष्णोः परमं पदमि**" ति श्रुतेः । परमभागवतस्याऽपि भगवच्चरणारविन्दगमने यत् साधनं तदवश्यं श्रोतव्यम् । महतामपि येन विना कार्यं न सिद्ध्यति तत्साधनं मुख्यमित्यध्यवसीयते । ननु तज्ज्ञानं भविष्यति । तच्च प्रसिद्धमेवेति किं कथनेनेत्याशङ्क्याऽऽह—**अदभ्रबुद्धिरिति** । अनल्पा बुद्धिर्यस्य । पूर्वमेव तस्य बुद्धिः स्थिता । अतो न बुद्धिरूपं ज्ञानं साधनम् । किन्तु **वैयासकिशब्दितेन ज्ञानेन** नित्यसिद्धमेव । वैयासकिना शुकेन केवलं शब्दितमुच्चारितं भागवताख्यं ज्ञानं चैतन्यरूपम् । **खगेन्द्रो** गरुडः । स ध्वजे यस्येति कालश्चिह्नतां प्राप्तः । "**कालात्मकः सोऽथ सुपर्ण आसीदि**" ति वाक्यात् । "**तद्विष्णोः परमं पदमि**" ति श्रुत्यनुरोधेनैतदुक्तम् । मूलपदं पुनरागमनाभावाय । '**यत्पादमूले कृतकेतनः पुमानि**" ति वाक्यात् । भुवनाङ्घ्रिपातप्रवेशार्थं वा ॥१६॥

व्याख्यार्थ—आप उन्हीं महाभागवत परीक्षित् जी की कथा कहिये। जहाँ साधन एवं फल में किसी प्रकार का भेद नहीं वही सुनने योग्य है। उस स्थान पर सुनने वाले अधिकारी का विशेषण महाभागवत दिया है। भगवान् का भक्त ही भागवत कहा जाता है। जिसे भगवान् के द्वारा भागवत रूप में ग्रहण कर लिया गया वह फल प्राप्ति की ओर बढ़ने वाला महाभागवत होता है। वह भगवान् द्वारा बहुत ही कृपापूर्वक देखा जाता है। इस प्रकार का सुनने वाला मुख्य कहा जाता है। उनके वैसा होने में कारण बताते हैं—कि वे परीक्षित् हैं। "पहले देखे गये भगवान् का ध्यान करने से," उन्हें परीक्षित् नाम से पुकारा गया। जिन परीक्षित् ने शुकदेव जी के उपदेश से गरुड़ जी की ध्वजा वाले भगवान् के चरण मूल को प्राप्त कर लिया, ऐसी उस कथा को कहिये, जिसका आगे जाकर मूल कथा से सम्बन्ध जुड़ जाता है। दूसरे शास्त्रों में ब्रह्म नाम से तथा मोक्ष नाम से जिस स्वरूप का दिग्दर्शन कराया गया है, वही हमारे शास्त्रों में चरण पीठ रूप वैकुण्ठ को बताया गया है। "वही उन विष्णु का परम पद है," ऐसा श्रुतियों में कहा गया है। परम भक्तों को भी भगवान् के चरण कमलों को प्राप्त करने के लिये शास्त्र रूप साधन को सुनना चाहिये। महान् पुरुषों को भी, जिस साधन के बिना कार्य सिद्ध नहीं होता उस साधन को मुख्य रूप से करना चाहिये। निश्चय ही वह साधन तो ज्ञान ही होगा, और वह प्रसिद्ध है ही, फिर उस ज्ञान के कथन करने की आवश्यकता ही क्या है? इस आशंका से कहा जा रहा है, कि वे परीक्षित् अदभ्र बुद्धि वाले थे अर्थात् उनमें बुद्धि बहुत अधिक थी। यह बुद्धि तो उनमें शास्त्र श्रवण से पहले ही स्थित थी, परन्तु बुद्धि से उत्पन्न होने वाला ज्ञान भगवान् के चरण कमलों को प्राप्त कराने में साधन रूप नहीं होता। यह तो व्यास जी के पुत्र शुकदेव मुनि द्वारा उच्चरित ज्ञान से ही सम्भव है, क्योंकि वह ज्ञान नित्य सिद्ध ज्ञान है। भागवत का वह ज्ञान चैतन्य रूप होने से स्वतः प्रकट है; व्यास पुत्र शुकदेव जो ने तो केवल शब्द मात्र से उस ज्ञान का उच्चारण किया है। समस्त खगों (पक्षियों) के इन्द्र (मुख्य अर्थ में) गरुड़जी हैं। वे भगवान् की ध्वजा में चिह्न रूप से विराजमान् काल के स्वरूप हैं। शास्त्रों के वाक्यों के अनुसार "वे सुपर्ण गरुड़जी कालात्मक हैं।" श्रुतियों ने इन्हें "उन विष्णु का परम पद," होना बताया है। चरणों में भी मूल को प्राप्त होने का यहाँ यह विशेष अर्थ है, कि उस मूल को प्राप्त हो जाने के बाद भक्त फिर लौटकर इस लोक में नहीं आता। "जिन भगवान् के चरण मूल में पुरुष ने अपना निवास बना लिया

है," इस वाक्य से उस पुरुष के पुनरागमन का अभाव घोषित होता है। अथवा भुवन रूप वृक्ष में से चरणों के मूल में प्रवेश होना बताया है ॥१६॥

आभास—तत्कथयेत्याहुः—

आभासार्थ—उस चरण मूल में प्रवेश होने के ज्ञान को आप हमारे प्रति बताइये—

श्लोक—तन्नः परं पुण्यमसंवृतार्थमाख्यानमत्यद्भुतयोगनिष्ठम् ।
आख्याह्यनन्ताचरितोपपन्नं पारीक्षितं भागवताभिरामम् ॥१७॥

श्लोकार्थ— अतिशय पुण्य रूप, प्रकट अर्थ वाला, अद्भुत योग निष्ठा वाला, भगवान् के भक्तों को आनन्द देने वाला और अनन्त भगवान् के चरित्र से जुड़ा हुआ, राजा परीक्षित् का चरित्र हमें सुनाइये ॥१७॥

सुबोधिनी—तन्न इति । इदमाख्यानं सर्वैः श्रोतव्यं धर्मार्थकाममोक्षभक्तिनिष्ठैः । तत्र पुण्यत्वाद्धर्मनिष्ठैः श्रोतव्यम् । न संवृतोऽर्थो यस्मात् यस्मिन् वा । अस्मिञ्छ्रुते अर्थोऽपि सिद्ध्यति । अद्भुतत्वात्कामः । अत्यद्भुता योगनिष्ठा यत्र । अनेन मोक्षार्थिभिः श्रोतव्यमित्युक्तम् । **आख्यानम्** । तद्वृत्तान्तप्रतिपादकशब्दसन्दर्भः । किञ्च । **अनन्ताचरितोपपन्न** । अनन्तस्य यान्यनन्तान्याचरितानि तैरुपपन्नम् । तस्याऽऽख्यानस्यैतानि विधेयविशेषणानि । उद्देश्यविशेषणत्वेऽपूर्वत्वेन कथाक्षेपोऽयुक्तः स्यात् । एवं त्वया कथितं पारीक्षितमिति प्रसिद्धं भविष्यति । भागवतानां चाऽभिरामम । अथवा । पारीक्षितमाख्यानमित्युद्देश्यांशः । अन्यद्विधेयम् । भागवता अभितो रमन्तेऽस्मिन्निति वा ॥१७॥

व्याख्यार्थ—उन परीक्षित् के चरित्र को सुनाइये । धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष और भक्ति की निष्ठा वाले सभी जनों को यह आख्यान सुनना चाहिये । धर्म में निष्ठा वालों को पुण्य अर्जन करने के लिये इसे सुनना चाहिये । यह आख्यान ढके हुये अर्थ वाला नहीं है । इसके सुनने से अर्थ की भी सिद्धि होती है । इस आख्यान के अद्भुत होने से काम की सिद्धि होती है, क्योंकि इसमें अति अद्भुत योगनिष्ठा को बताया गया हें । जिन्हें मोक्ष की इच्छा है, उन्हें भी यह सुनना चाहिये । आख्यान का तात्पर्य है, उस वृत्तान्त का प्रतिपादन करने वाले शब्दों का सन्दर्भ इससे अधिक क्या कहे ? कि भगवान् अनन्त चरित्रों से युक्त हैं । जिन अनन्त भगवान् ने अनन्त चरित्रों का आच- रण किया है, उनसे युक्त आख्यान श्रोतव्य है उस आख्यान के ही ये सब

विशेषण है। ये विशेषण अपूर्व होने से उद्देश्य पूर्ति की दृष्टि से कथा के अन्तर्गत किसी भी प्रकार के आक्षेप से युक्त नहीं है। जैसा कि आपने पूर्व में कहा है, कि ये राजा परीक्षित् सम्बन्धी आख्यान प्रसिद्धि को प्राप्त होगा, क्योंकि भगवान् के भक्तों को यह आख्यान बहुत ही आनन्द देने वाला है अथवा परीक्षित् से सम्बन्ध रखने वाले आख्यान का यह उद्देश्य पूर्ण अंश है। अन्य जो उसके कर्त्तव्य आदि का वर्णन है वह विधेय अंश है, पूरक भाग है। इस आख्यान में भगवान् के भक्त चारों ओर से रमण करते हैं ॥१७॥

आभास—एवं प्रोत्साहितः श्रोतॄन्प्रोत्साहयति—

आभासार्थ—ऋषियों द्वारा सूत जी को इस प्रकार उत्साह दिलाये जाने पर श्री सूतजी उन ऋषियों का उत्साह बढ़ाते हुये कहते हैं—

सूत उवाच—श्लोक—अहो वयं जन्मभृतोऽद्य हा स्म,
वृद्धानुवृत्त्याऽपि विलोमजाताः।
दौष्कुल्यमाधिं विधुनोति शीघ्रं महत्तमानामभिधानियोगः ॥१८॥

श्लोकार्थ—अहो, हम तो विलोम व्यवस्था से उत्पन्न हुये हैं, तो भी वृद्धों की सेवा से आज प्रसिद्ध जन्म वाले हो गये। महान् पुरुषों की भगवान् के नाम लेने सम्बन्धी जो आज्ञा होती है, वह हीन कुल में उत्पन्न होने की मन सम्बन्धी पीड़ा को नष्ट कर देती है ॥१८॥

सुबोधिनी—अहो इति। अत्र स्वश्लाघा परास्तुत्यर्था। धन्योऽहमितिवत्। **अहो** इत्याश्चर्य। **वयमिति** श्लाघायाम्। **जन्मभृत** सफलजन्मानः। **अद्य**त्यलभ्यलाभः हेत्यतद्धृवम्। **स्मेति** प्रसिद्धं। अकस्मादस्माकं सफलजन्मत्वं वृत्तम्। नह्यसज्जन्मनः सत्फलं भवति। अतः सज्जन्मनाऽपि जातमित्याश्चर्यम्। न ह्यसत उत्पन्नः सज्जन्मा भवति। न ह्येकं बहवः प्रार्थयन्ते सन्तः। अतो बहूनामुपकारकरणाद्बहुभिर्निरूपितं बहुत्वं वा बहुसमानत्वं वा एकस्य जातमिति श्लाघा। प्रसङ्गाज्जाते जन्मनि दैववशात्फलसम्बन्धः प्रायेण। "**क्वचित्तरति कश्चने**" ति वाक्यात्। अस्माभिस्तु फलार्थमेव जन्म धृतम्। सूतत्वाभावे इदं नोपपद्यतेति। ब्रह्मकल्पे इयं व्यवस्था अद्यैव जाता न पूर्वं कदाचन। अयमर्थो युक्त्या च बाध्यते। अतः स्मेत्तु विस्मयजनकः निन्दितस्योत्तमत्वेन सर्वजनीनत्वमत्याश्चर्यकरम्। यतो भगवत इव भवत्कृपया मयि षड्गुणा जाताः। विलोमजाता अपि। "**ब्राह्मण्यां क्षत्रियात्सूतः**। वृद्धानुवृत्त्या एवं जाताः। अतो वृद्धानामनुवर्त्तनं सर्वपुरुषार्थदायि। किञ्च। दोषोऽपि निवृत्तः। वयं दुष्कुले जाताः कथं भगवत्कृपया

सत्कुले भविष्याम इति या मनःपीडा साऽपि निवृत्ता । महत्तमानामाज्ञा अभिधा । नियोगः भगवद्गुणाभिधानार्थं नियोगः । स शीघ्रमेवाऽऽधि विधुनोति । अतो भवतामनुवृत्तिनियोगौ मम सर्वपुरुषार्थसाधकौ जातौ ॥१८॥

व्याख्यार्थ—आश्चर्य वाची अहो शब्द का प्रयोग हुआ है । यहाँ सूतजी द्वारा स्वयं की प्रशंसा करना स्वयं के लिये न होकर भगवान् तथा ऋषियों की स्तुति के लिये है । मैं धन्य हूँ, ऐसा श्री सूतजी कहते हैं । 'अहो' आश्चर्य को बताता है । 'वयम्' यह शब्द प्रशंसा के अर्थ में आया है । हम सफल जन्म वाले हैं । 'अद्य' शब्द कभी किसी को न मिलने वाले लाभ की प्राप्ति स्वयं को हो जाने के भाव से प्रयुक्त हुआ है । 'ह' अव्यय का प्रयोग अद्भुत् अर्थ के लिये है । प्रसिद्धि के अर्थ में 'स्म' अव्यय लगा है । अकस्मात् हो हमारा जन्म सफल हो गया है । सूतजी कहते हैं कि हमारे जैसे जन्म वाले को श्रेष्ठ फल नहीं मिला करता है, तदपि मिल गया है, ऐसे सद् जन्म को प्राप्त करने का आश्चर्य है । असत् स्थिति में उत्पन्न सत् जन्म वाले नहीं होते । बहुतों के द्वारा एक की प्रार्थना नहीं होती । इसलिये बहुतों का उपकार करने से अथवा बहु के द्वारातों वर्णन किये जाने से अपने आप में बहुतपना अथवा अधिक सम्मान वाली स्थिति एक को ही प्राप्त हो गई, इस प्रकार प्रशंसा का भाव बताया गया है । प्रसंग वश जन्म होने पर प्रायः भाग्य वश ही फल से सम्बन्ध होता है । "नदी के तेज बहाव में कोई-कोई हो तैर सकता है," इस वाक्य के अनुसार दैव वश ही कोई विपरीत जन्म वाला अनुकूल फल को प्राप्त कर सकता है । हमने भी उस फल के लिये हो जन्म धारण किया है । सूत पने के अभाव में यह व्यवस्था युक्ति संगत नहीं है । ब्रह्म कल्प में की गई यह व्यवस्था बहुत काल बाद आज ही प्रतिष्ठित हुई है, इससे पहले कभी नहीं हुई । यह अर्थ युक्ति (तर्क) के द्वारा बाधा पहुँचाया गया लगता है । इसलिये स्मरण करने वाले सूतजी को आश्चर्य उत्पन्न करने वाला है । निन्दा किये जाने योग्य का उत्तम स्थिति प्राप्त करके सभी लोगों से आदरणीय बन जाना बहुत ही अचम्भे को पैदा करने वाला है । क्योंकि भगवान् के समान भगवान् की कृपा से मुझमें छह गुण उत्पन्न हुये हैं । यद्यपि मेरा जन्म समान व्यवस्था के अनुसार उल्टापन लिये हुये है, क्योंकि मैं "क्षत्रिय से ब्राह्मणी में उत्पन्न हुआ पुत्र हूँ, अतः मुझे सूत के नाम से पुकारे जाने की व्यवस्था रही है" । वृद्ध जनों की सेवा से मुझे यह सम्मान प्राप्त हुआ है । इसलिये वृद्धों की सेवा समस्त पुरुषार्थों को देने वाली है । इससे अधिक क्या कहें ? कि ऐसी सेवा से दोष भी मिट जाते

हैं । हम तो दूषित कुल में उत्पन्न हुये हैं, भगवान् की कृपा से हमें श्रेष्ठ कुल में कब जन्म मिलेगा, इस प्रकार की मानसिक पीड़ा भी निवृत्त हो गई । महान् पुरुषों द्वारा दी गई, आज्ञा अभिधा कहलाती है । भगवान् के गुणगान करने के लिये महत् पुरुषों की आज्ञा से शीघ्र ही मन की पीड़ा दूर होती है, अतः आपकी सेवा और आज्ञा इन दोनों ने मेरे समस्त पुरुषार्थ को सफल बना दिया ।।१८।।

आभास—अतः परमुत्तरे किं भविष्यतीति न जाने । प्रश्नादेवैतत्सिद्धिरित्याह—

आभासार्थ—इसलिये इसके उत्तर देने के बाद वाला फल क्या होगा ? इसे मैं नहीं जानता । प्रश्न करने से ही यह सिद्धि मिल गई, यह कहा जा रहा है—

श्लोक—**कुतः पुनर्गृणतो नाम तस्य महत्तमैकान्तपरायणस्य ।**
योऽनन्तशक्तिर्भगवाननन्तो महद्गुणत्वाद्यमनन्तमाहुः ।।१९।।

श्लोकार्थ—महान् पुरुषों के उत्तम आश्रय रूप प्रभु का नाम उच्चारण करने से समस्त पुरुषार्थों की सिद्धि होने में सन्देह ही क्या ? वे भगवान् अनन्त तथा अनन्त शक्ति वाले हैं । उन भगवान् में कभी समाप्त न होने वाले महान् गुणों के कारण अनन्त होने की बात कही गई है । ।।१९।।

सुबोधिनी— **कुतः पुनरिति** । तस्य नाम गृणतो दौष्कुल्याधिः कुत्र तिष्ठतीति सम्बन्धः । इदं तु न स्वाभिप्रायेण । अन्यथा स्वश्लाघायां गर्वः स्यात् । अतः केवलं नामोच्चारणरस्तुः फलमुच्यते कुलरहितानामुद्धाराय कुलीनानां गर्वाभावाय च । एकवचननिर्देशाच्च न स्वाभिप्रायम् । नाम्नो माहात्म्यमाह-**महत्तमैकान्तपरायणस्येति** । महत्तमानामपि तन्नामोच्चारणे स्वस्याऽभीष्टस्थानत्वान्नमोच्चारयितुरपेक्षा भवति । प्रायेणाऽयमस्मदभीष्टं जानातीति। ततस्तेऽप्यनुवृत्ता भविष्यन्तीति भावः । एवं सर्वोपास्यत्वेन नामोच्चारणमाहात्म्यमुक्त्वा भगवन्माहात्म्यमाह कैमुतिकन्यायप्रदर्शनार्थम् । ततो महान्तो नाम भगवानित्युत्तरोत्तरमुत्कृष्टाः । अतस्तन्निठायां तथैव फलमिति ज्ञापनार्थम् । अन्यथा नामोच्चारण एव शास्त्रं समाप्तं स्यात् । ततश्च भागवतानारम्भः प्रसज्येत । अतो भगवन्माहात्म्यं वदति—**योऽनन्तशक्तिरिति** । यस्य नामैतादृशं सोऽनन्तशक्तिरिति वक्तव्ये नामपुरस्सरं भगवन्माहात्म्यमुक्तं भविष्यतीति विपरीततया कथयन्नुत्तरवाक्यगतमेव यच्छब्दं प्रयुङ्क्ते । महतो भावो माहात्म्यम् । महत्त्वं च देशकालापरिच्छेदेन वस्त्वपरिच्छेदेन च । तद्भगवतस्त्रयं जातं तादृशम् । शक्तयः स्वरूपं गुणाश्च । स्वरूपतः कार्यतः फलतश्च । अतो नवधाऽनन्तत्वं भगवति पर्यवस्यति । तदाह—**योऽनन्तशक्तिरिति** । सर्वतोऽनन्ताः शक्तयो यस्य । अनन्ता शक्तिर्यस्येति वा । अनन्तेषु शक्तिर्यस्येति वा । एवमुत्तरत्राऽपि । भगवां-

आऽनन्तः । अनेन स्वरूपस्याऽनन्तत्वमुच्यते । न विद्यतेऽन्तो यस्य यस्माद्यस्मिन्निति वा । तन्नि-ष्ठानामप्यन्ताभावः सूचितः । किञ्च । गुणानां द्विरूपमनन्तत्वम् । महत्त्वेन गुणत्वेन च । गुणाः स्वरूपतोऽनन्ता महत्त्वं चाऽनन्तम् । एकस्मिन्नपि गुणे महत्त्वस्य परिच्छेदो नास्ति । च (?) काराद्भगवत इव गुणानामप्यवान्तरभेदाः । एवमेकेन प्रकारेणाऽपरिच्छेदरूपेण माहात्म्यमुक्तम् । एवं माहात्म्यान्यनन्तानीत्यपि सूचितम् ॥१६ ।

व्याख्यार्थ—उन प्रभु का नाम लेने मात्र से उद्धार होने में क्या सन्देह ? उन भगवान् का नाम लेने से दूषित कुल में उत्पन्न होने की पोड़ा कहाँ ठहर सकती है ? यह सम्बन्ध हुआ । यहाँ सूतजी ने इसे अपने अभिप्राय से नहीं कहा है । यदि इस भाव से कहा गया होता तो अपनी प्रशंसा करने से गर्व की भावना हो जाती । अतः केवल नाम उच्चारण करने वाले के फल को कहा गया है, जिससे जो कुल रहित हैं उनका उद्धार हो जाय और जो कुलीन हैं उन में घमण्ड पैदा न हो । एक वचन का निर्देश करने से यह नहीं समझ लेना चाहिये कि सूतजी ने उपर्युक्त कथन स्वयं के लिये प्रयोग में लिया है । अब भगवान् के नाम का माहात्म्य बताया जा रहा है । महान् पुरुषों द्वारा एकान्त परायण भगवान् का नाम लेना इच्छित विचार को पूरा करता है । महत् पुरुषों को भी उन भगवान् के नाम का उच्चारण करने से अपने इच्छित लक्ष्य की प्राप्ति होती है और बाद में अन्य लोग भी भगवान् का नाम उच्चारण करते रहें, यह अपेक्षा रहती है । प्रायः नाम उच्चारण करने वाले हमारे अभीष्ट को जानते हैं, इसलिये भी वे अनुकरण करते हुये हमारी तरह ही भगवान् का नाम लेते रहेंगे, यह भाव हुआ । इस प्रकार सब के द्वारा उपासना करने से नाम के उच्चारण के महत्त्व को कहकर अब कैमुतिक न्याय (एक के बाद बढ़कर दूसरे के उत्तरोत्तर महत्त्व प्रदर्शन को कैमुतिक न्याय कहते हैं) को बताने के लिए भगवान् के माहात्म्य को कहा जा रहा है । एक से बढ़कर दूसरे की श्रेष्ठता बताने की दृष्टि से नाम उच्चारण से भगवान् की महानता को बताया गया है । अतएव उन भगवान् में निष्ठा रखने से उसी फल की प्राप्ति को बताया गया है । यदि ऐसा न हो तो नाम के उच्चारण में ही शास्त्र की समाप्ति हो जावे और भागवत ग्रन्थ का प्रारम्भ ही न होवे । अतः भगवान् के माहात्म्य को कहा जा रहा है—कि वे अनन्त शक्ति वाले हैं । जिन प्रभु का नाम इतने माहात्म्य वाला है, तो उन नामों को धारण करने वाले भगवान् अनन्त शक्ति सम्पन्न कहे ही जाने चाहिएँ । पर ऐसा कहे जाने में नाम के साथ भगवान् का माहात्म्य कहा जायेगा, ऐसी शंका से पहले भगवान् के

माहात्म्य को कहकर, उत्तरार्द्ध में कहे गये 'यद्' शब्द को लेकर अर्थ करते हैं। महानता का भाव जिस में सन्निहित हो, उसे माहात्म्य कहते हैं। महत्त्व का तात्पर्य ही यह है, कि जो देश, काल और वस्तु से ढँका हुआ न हो। वे भगवान् अनन्त होने से उनका माहात्म्य भी उन्हीं के समान तीन भागों में हो गया। उस माहात्म्य के तीन भाग शक्ति स्वरूप और गुण नाम से हैं। शक्ति, स्वरूप और गुण, इन प्रत्येक को स्वरूप, कार्य और फल के रूप में पुनः तीन तीन प्रकार से कहे जाने पर नौ संख्या हो जाती है। माहात्म्य के ये नौ भाग अनन्तपने को प्राप्त होते हुये भगवान् में समाहित रहते हैं या यों कहिये कि पर्यवसान को प्राप्त हो जाते हैं। उस के लिये कहा गया है—कि जो अनन्त शक्ति वाले हैं। जिस की शक्तियां सब ओर से बिना अन्त वाली हैं। अथवा जिसको अनन्त शक्तियां हैं या उन अनन्त भगवान् में वैसी ही अनन्त शक्तियां हैं। इस प्रकार भगवान् का स्वरूप भी अनन्त है और उनके गुण भी अनन्त हैं। इस रीति से उनके स्वरूप के अन्त न आने को कहा गया है। जिन भगवान् का अन्त नहीं है, अथवा जिन भगवान् में अन्त नाम की कोई स्थिति नहीं है। भगवान् में जो निष्ठा रखता है अर्थात् जो भक्त है, वह भी अन्त से रहित है, यह सूचित हुआ। इससे अधिक और क्या कहें? कि भगवान् के गुणों के दोनों रूप कभी भी समाप्त होने वाले नहीं हैं। वे महत्त्व और गुणत्त्व दोनों से अनन्त हैं। उनके गुण, स्वरूप और महत्त्व व्यापक हैं। उनके एक भी गुण में महत्त्व का छिपापन नहीं है अर्थात् प्रत्येक गुण महत्त्व को प्रकट रूप से बतलाता है। यहाँ 'च' कार का प्रयोग यह बताता है, कि भगवान् के समान ही गुण भी अवान्तर भेद से युक्त हैं अर्थात भगवान् के एक एक गुण में अनेक अनेक गुण व्याप्त हैं। ऐसे एक प्रकार से बिना किसी भाग विशेष में विभक्त किये अर्थात् व्यापक रूप से भगवान् के माहात्म्य को बताया है। इस प्रकार भगवान् के अन्य माहात्म्य भी इसी रीति से अनन्त हैं, यह सूचित किया गया है ॥१९॥

आभास—माहात्म्यान्तरं विशेषाकारेण वक्तव्यमित्याकाङ्क्षायामाह—

आभासार्थ—अब भगवान् का दूसरा माहात्म्य विशेष प्रकार से कहा जाना चाहिये; इस इच्छा से आगे वर्णन करते हैं—

श्लोक—एतावताऽलं ननु सूचितेन गुणैरसाम्यानतिशायनस्य ।
हित्वेतरान्प्रार्थयतो विभूतिर्यस्याऽङ्घ्रिरेणुं जुषतेऽनभीप्सोः ॥२०॥

श्लोकार्थ—गुणों से जिनके बराबर अथवा बढ़चढ़ कर कोई नहीं है, ऐसे उन भगवान् के लिये बस यही कहना पर्याप्त है, कि लक्ष्मीजी अपनी प्रार्थना करने वालों का त्याग करके उन भगवान् के चरण कमलों की सेवा करती है, जो भगवान् उन लक्ष्मी जी की इच्छा नहीं करते ॥२०॥

सुबोधिनी—एतावताऽलमिति । स्वभावतो माहात्म्यानि वक्तुमशक्यान्येव । सूचनं परं कर्त्तव्यम् । अन्यथा महाराजाधिराजस्य स्वरूपं स्पष्टतया कथितमपराधाय भवति । सूचनमपि बहु न कर्त्तव्यम् । तदाह । एतावता सूचितेनाऽलम् । एतावदपि सूचनं न कर्त्तव्यमित्यर्थः । **नन्विति** सम्बोधनं सम्मत्यर्थमन्तःकरणस्यैव । माहात्म्यरसाभिनिविष्टश्च वदति । माहात्म्यं हि तरतमभावेन निरूपणीयम् । तत्सजातीयतादृशपुरुषसम्भावनायां भवति । तद्भगवति न सम्भवतीत्याह—**गुणैरसाम्यानतिशायनस्येति** । गुणैर्हेतुभिः कृत्वा न साम्यमतिशयश्च यस्य । एवं स्वरूपशक्तिभिश्च । तथापि किञ्चित्सूच्यत इत्याह—हित्वेतरानिति । "**तया विना क्व देवत्वमि**"त्यादिवाक्यन्यायेन लक्ष्मीमूलकं सर्वम् । विचारिका च सा । एवं स्वरूपतो बुद्धितश्च महती यदि सर्वान् विहाय भगवन्तं भजते तदा सर्वोत्तमत्वं न विविच्य वक्तव्यम् । सा हि सर्वोत्तमा यदि स्वतः स्थातुं शक्नुयात् किमर्थं भजेत ? भोगार्थं वा यदि, तदा प्रार्थयतोऽन्यानपि विहायाऽनभीप्सुं कथं भजेत ? तत्राप्यनभीप्सोरङ्घ्रिरेणुं कथं भजेत ? अतोऽङ्घ्रिरेणोरपि सा हीना । तदपेक्षया चाऽन्ये । तस्मान्माहात्म्यनिरूपणं न कर्त्तव्यम् । न हि सर्षपान्मेरुर्महानिति कश्चिद्वदति ॥२०॥

व्याख्यार्थ—बस इतना ही कहना पर्याप्त है, कि हम स्वभाव से भगवान् के माहात्म्य का वर्णन करने में असमर्थ ही हैं। परन्तु उन के माहात्म्य के विषय में सूचित करना परम कर्त्तव्य है। अन्यथा महाराजा धिराज के स्वरूप का स्पष्टतया वर्णन करना अपराध है। उन के विषय में सूचित भी अधिक नहीं किया जा सकता इसीलये कहा गया है—कि भगवान् के विषय में इतना सूचित कर देना ही पर्याप्त है। यों तो यह सूचना भी नहीं देनी चाहिये, यह अर्थ हुआ। 'ननु' अव्यय का प्रयोग अन्तः करण की सम्मति का सम्यक् बोध कराने के लिये किया गया है। माहात्म्य के रस में सराबोर होकर कहते हैं। माहात्म्य का वर्णन करने में उत्तमता और अभाव का निरूपण होना चाहिये। यह निरूपण सजातीय अथवा समान स्थिति वाले पुरुष के होने पर सम्भव होती है। वह स्थिति भगवान् में सम्भव न होने पर कहते हैं, कि "इन भगवान् के गुणों की समानता करने वाला अथवा उन से गुणों में

बढ़-चढ़ कोई नहीं है। इस प्रकार यह समानता न तो भगवान् के स्वरूप से साथ हो सकती है और न ही उन को शक्तियों के साथ। यह सब कुछ होते हुये भी कुछ सूचित करने के अभिप्राय से कहते हैं—कि लक्ष्मी अपने आराधकों को भो छोड़ देतो है, जिनके विषय में कहा गया है, कि "उन लक्ष्मोजो के बिना देवत्व कहाँ?" इत्यादि वाक्यों के अनुसार सभी लक्ष्मजो को मूल मानते हैं। वे लक्ष्मोजो विचार करने वाली हैं। इस प्रकार वे स्वरूप से तथा बुद्धि से बहुत महिमा वाला हैं; यदि बे अपने चाहने वालों को छोड़कर भगवान् की ही सेवा में लगी रहती हैं, तो उन के सबसे उत्तम होने की विवेचना कहने योग्य नहीं है। यदि सब सें उत्तम स्थिति वाली होने में स्वयं लक्ष्मोजी ही समर्थ होतीं तो भगवान् को क्यों भजतो? यदि यह मान लिया जाय कि वे भोग के लिये हैं, तो फिर वे प्रार्थना करने वालों को छोड़कर, भगवान् द्वारा न चाहे जाने पर भी उन को सेवा क्यों करतो हैं? और उस में भी उन अभिलाषा रहित की चरण रज को ही क्यों भजतो हैं? क्योंकि बह चरणों की रज लक्ष्मीजी के पास नहीं है, वे उससे रहित हैं। और दूसरे लोग लक्ष्मी जी से रहित हैं। इसलिये भगवान् के माहात्म्य का निरूपण नहीं करना चाहिये। कोई यह नहीं कह कहता, कि सरसों से मेरु पर्वत बड़ा है, क्योंकि उस का बड़ा होना सब जानते हैं, अतः यह कहने की आवश्यकता नहीं समझते। ॥२०॥

आभास—अस्तु वा प्रकृतिरूपत्वादस्याः स्त्रीत्वाद्वा बुद्ध्यभावः। तथाच महतो विचारपूर्वकं भजनं सूचनार्थं वक्तव्यमिति चेत् तत्राऽऽह—

आभासार्थ—हो सकता है, कि लक्ष्मोजी प्रकृति रूपा होने से अथवा स्त्री होने से कम बुद्धि वाली हों, तो भी महान् लोगों के विचार पूर्वक किये जाने वाले भजन को कहा जाना चाहिये यदि ऐसे भाव शौनक ऋषि के अन्तः करण में जागृत हो गये हों तो उसका निराकरण करने के लिये अब आगे कहते हैं—

श्लोक—**अथाऽपि यत्पादनखावसृष्टं जगद्विरिञ्चोपहृतार्हणाम्भः।**
सेशं पुनात्यन्यतमो मुकुन्दात्को नाम लोके भगवत्पदार्थः ॥२१॥

श्लोकार्थ—इससे भी अधिक भगवान् के चरणों का प्रभाव देखिये, कि जिन भगवान् के चरण के नख से निकले हुये जल को ब्रह्मा जी ने पूजन के लिए प्रयोग

में लिया तथा जो जल शिव जी सहित समस्त जगत् को पवित्र करने वाला है, ऐसे भगवत् पदार्थ के तुल्य जगत् में और कौन है ? ।।२१।।

सुबोधिनी—अथाऽपीति । यद्यपि विभूतिस्वाल्लक्ष्म्या न स्त्रीत्वादिकृतदोषः सम्भवति । युक्तिश्चोक्ता । अथाऽपि "तुष्यतु दुर्जन" इति न्यायेन प्रकारान्तरेण माहात्म्यसूचनं निरूप्यते । त्रयो हि महान्तः । ब्रह्मा विष्णू रुद्रश्च । तत्र ब्रह्मा चरणक्षालनकर्त्ता । शिवश्चरणोदकधारकः । अतः परं को महान् भवेत् । तद ह । अत्पादनखावसृष्टमर्हणाम्भो विरिञ्चेन ब्रह्मणोपहृतं समर्पितम् । अर्हणाम्भ. पूजासाधनोदकम् । गङ्गेति यावत् सेशं महादेवसहितं जगत् पुनाति । नखावसृष्टमिति भिन्नं वा । तेन ब्रह्माण्डभेदेन यदा चरणजलमागतमलकनन्दादिरूपं तदपि सङ्गृहीतं भवति । अथवा । भगवदपेक्षया जलस्याऽतिहीनत्वं ज्ञापयति नखावसृष्टमिति । नखोदकं ह्यतिहीनम् । ईशस्य पावित्र्यमग्र वक्ष्यते । शेषं पुनातीति पाठे भगवद्व्यतिरिक्तं सर्वमेवाऽऽब्रह्म तृणस्तम्बपर्यन्तं पुनाति । नखोदककर्तृकपावनापेक्षा यदाऽन्येषां तदा भगवत्पदार्थः को वा भवेत् । ननु कोऽपि माऽस्तु । अक्षरात्परस्यैव भगवत्त्वात् । तत्राऽऽह—लोक इति । वेदे तु स भगवान् भवत्येव । लोकसिद्धोऽपि वक्तव्यः । लोकस्तु ब्रह्माण्डमात्रदर्शी । अतो ब्रह्माण्डे यो नायकः स भगवानित्युक्तं भवति । भगवच्छब्दो निरतिशयब्रह्मवाचकः ।।२१।।

व्याख्यार्थ—और भी देखिये । यद्यपि विभूति रूपी लक्ष्मीजी द्वारा स्त्री सम्बन्धी दोषों का किया जाना सम्भव नहीं है और इस पर यह युक्ति भी दी गई है, कि "दुर्जन सन्तुष्ट रहै," इस न्याय के द्वारा दूसरे ही प्रकार से माहात्म्य को बताये जाने का निरूपण किया गया है । ये तीन देवता प्रमुख रूप से माने गये हैं, ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र; वहाँ ब्रह्मा चरणों को धोने वाले हैं । शिव, चरण के जल को धारण करने वाले हैं । अतः अब इन से बढ़कर कौन महान् होना चाहिये ? इस विषय में कहते हैं, कि भगवान् के चरण नख से निकले हुये पूजा योग्य जल को ब्रह्मा जी ने ग्रहण करते हुये पूजा कार्य में समर्पित किया । वह जल गंगा जल कहा गया । वह गंगा महादेव सहित जगत् को पवित्र करती है । नख से निकली हुई गंगा अथवा इससे भिन्न अर्थात् चरण कमल से निकली हुई गंगा जो वामन जी द्वारा ब्रह्माण्ड का भेदन करते समय प्रकट हुई । ब्रह्माण्ड भेदन के समय चरण से आये हुये उस जल को अलकनन्दा आदि के रूप में जाना गया और उसे भी यहाँ इस प्रसंग में संगृहित किया गया है अथवा भगवान् की तुलना में जल की अति हीनता को "नख से निकला हुआ बताकर," प्रस्तुत किया गया हैं नख से निकला जल बहुत हीन बताया गया है । ईश्वर की पवित्रता को आगे बताया जा रहा है । "शेषं पुनाति," पाठ होने पर, भगवान् के अतिरिक्त वह नख-जल ब्रह्म से लगाकर तृण

पर्यंत सारे जगत् तो को पवित्र बनाता है सभी उस नख-जल गंगा से पवित्र होने की इच्छा करते हैं, तो फिर भगवान् की तुलना में अन्य कौन सा पदार्थ बढ़-चढ़ कर है, निश्चय ही कोई भी नहीं। अक्षर से भी परे "भगवान्" हैं। उस प्रसंग में कहते हैं—कि लोक में उन से बड़ा कौन है? वेद में तो "भगवान्" महान् हैं ही परन्तु लोक में भी उनका महान् सिद्ध होना कहा जाना चाहिये क्योंकि लोक तो समस्त ब्रह्माण्ड को देखने वाला है; इसलिये जो ब्रह्माण्ड का नायक है, उसे भगवान् के नाम से कहा गया है। भगवान् शब्द, उस ब्रह्म का वाचक शब्द है, जिससे बढ़ा-चढ़ा कोई भी नहीं हो ॥२१॥

आभास—एवं युक्त्या प्रमाणेन च भगवत्त्वं स्थापयित्वाऽनुभावेनाऽपि भगवत्त्वमाह—

आभासार्थ—इस प्रकार तर्क और प्रमाण के द्वारा भगवान् पने को स्थापित करके, अब अनुभव के द्वारा भी भगवान् पने को कहा जा रहा है—

श्लोक—**यत्राऽनुरक्ताः सहसैव धीरा व्यपोह्य देहादिषु सङ्गमूढम्।**
व्रजन्ति तत्पारमहंस्यमन्त्यं यस्मिन्नहिंसोपरमः स्वधर्मः ॥२२॥

श्लोकार्थ—जहाँ धीर पुरुष भगवान् में अनुरक्त होकर सहसा ही शरीर आदि में आसक्ति को छोड़ देते हैं तथा अन्त में उस परमहंस पदवी को प्राप्त कर लेते हैं, जिसमें अहिंसा और शान्ति स्वधर्म बन जाती है ॥२२॥

सुबोधिनी—यत्राऽनुरक्ता इति। यथा नखोदकमन्यदीयं सर्वार्थनाशकं तदेव भगवदीयं सर्वपुरुषार्थसाधकं तथाऽन्यत्राऽनुराग आत्मनाशको भगवति स्वल्पोऽपि रागः सर्वपुरुषार्थसाधकः। तदाह। **यत्र** भगवति अनुरक्ता ये केचन। न ब्राह्मणत्वादिनियमो न वा साधनान्तरापेक्षा। तदाह—**सहसेति**। एकमत्र बाधकं यत् कामना बलादागतविषयभोगो वा। तत्परिहारार्थमाह—**धीरा इति**। आपाततः सुखकरत्वं तेषाम्। अतो विवेकेन धैर्यं कर्त्तव्यम्। अथवा। धीरा अपि भवन्ति। अनुराग एवाऽसहायः साधनमपेक्षितं साध्यं फलं च साधयतीत्यर्थः। रागो ह्यन्तःकरणधर्मः। स स्ववर्गं पुष्णाति। न तु स्ववर्गं नाशयति। भगवत्सम्बन्धं तु प्राप्य भगवता संस्कृतः स्ववर्गं सर्वमेव नाशयति। यतो यदेव बाधकं संसारहेतुभूतं तदेव स्ववर्गं सर्वं नाशयित्वा भगवत्पदं प्रापयतीत्युपलक्षणत्वाद्रागस्य न द्वेषादिभिर्व्यभिचारः। देहादिषु रूढः सङ्गोऽहन्ताममतालक्षणः। तादृशमूढं सङ्गं व्यपोह्य। ऊढपदेन वेदेनाऽपि बोधितत्वं सूचितम्। यथा विवाहिता स्त्री न परित्याज्या तद्वद्देहादिषु सङ्गो न त्याज्य इति "**आत्मानं सततं रक्षेत्**" "**शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनमि**"ति। "**पुरुषस्याऽखिलार्थद**" श्रौ (?) वविधैर्वाक्यैर्जनितामपि बुद्धिं त्यजन्तीत्यर्थः। '**स जहाति मतिं**

लोके वेदे च परिनिष्ठितामि" ति वाक्यात् । ज्ञाने तु तावानेव पुरुषार्थः । अत्र तु सोऽवान्तरव्यापार इत्याह- **व्रजन्तीति** । यत्राऽनुरक्तास्तद्व्रजन्तीत्यर्थ **"मद्भक्ता यान्ति मामपी"** ति वाक्यात् । नन्वस्य गौणफलत्वं भविष्यतीत्याशङ्क्याऽऽह—**पारमहंस्यमिति** । परमहंसैः प्राप्यम् । ननु क्रममुक्तौ ते वैश्वानरादिलोकमपि प्राप्नुवन्ति । तद्वदिदमप्यवान्तरस्थानं स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—**अन्त्यमिति** । **"आनन्दमानन्दमयोऽवसानमि"** ति वाक्यप्रतिपादितम् । अतः परमन्यत्प्राप्तव्यं नाऽस्तीत्यर्थः । नन्वस्य धर्महेतुत्वाभावादवेदप्रतिषाद्यत्वेनाऽप्रामाणिकत्वं स्यात् । अतः पूर्वं निरूपितं न सन्मार्ग इत्याशङ्क्याऽऽह—**यस्मिन्नहिंसोपरमः स्वधर्म इति** । पूर्वकाण्डे धर्मः प्रतिपाद्यः । उत्तरकाण्डे ज्ञानसाध्योपरतिरविद्यायाः । एतद्वयमनुरागस्य स्वाभाविको धर्मः । यथा जलस्य रसः । अतो भक्तिधर्मप्रतिपादकत्वात्सर्ववेदानां न भक्तौ वेदविरोधः शङ्कनीयः । अहिंसापदेन च मुख्यो धर्मो निरूपितः । आलभतिर्न हिंसार्थ इत्यवोचाम । अतः सहजत्वाद्भक्तं प्रति विधिशक्तिरेव कुण्ठिता न तु विरोध इति भावः । एतावता भगवन्माहात्म्यमनन्तं न कस्याऽपि वक्तुं योग्यमित्युक्तम् ।। २२ ।।

व्याख्यार्थ—जहाँ भगवान् में अनुराग हुआ, कि सब पुरुषार्थ सिद्ध हुये । किसी दूसरे के नख का जल जिस प्रकार सब तरह के अर्थों का नाश करने वाला होता है, वहीं दूसरी ओर भगवान् के नख का जल सब प्रकार के पुरुषार्थों को सफल बनाने वाला होता है । दूसरे पदार्थों में आसक्ति रखना, जैसे आत्मा का नाश करने वाला होता है, वहीं दूसरी ओर भगवान् में थोड़ा सा भी अनुराग हो जाने पर समस्त प्रकार के पुरुषार्थ सिद्ध हो जाते हैं । उसे कहा जा रहा है—कि जो कोई भी भगवान् में अनुरक्त हो जाते हैं, उन्हें आनन्द की प्राप्ति हो जाती है । इस अनुराग करने में ब्राह्मण आदि होने की अथवा साधन आदि की कोई अपेक्षा नहीं है । उसे कहते हैं—कि ये सब सफलतायें उसे सहसा ही मिल जाती हैं । इस भगवत् अनुराग के मार्ग में सबसे बड़ी एकमात्र बाधा कामना के बल से प्राप्त किये गये विषयों के भोग ही हैं । उन विषयों को दूर हटाने के लिये "धीर" शब्द कहा गया है । यह धीरता शीघ्र ही उन अनुराग करने वालों में सुख को उत्पन्न कर देती है । इसलिये विवेक से धैर्य करना चाहिये । अथवा अनुराग करने से धैर्यशाली भी हो जाते हैं । भगवान् में किये जाने वाले अनुराग से साधनों की सहायता लिये बिना भी साध्य और फल की प्राप्ति हो जाती है । राग करना, अन्तःकरण का धर्म है । वह अनुराग अपने वर्ग का (भगवत् प्राप्ति रूप प्रक्रिया) पोषण करता है न कि अपने वर्ग का नाश । भगवान् के सम्बन्ध को प्राप्त होकर भगवान् द्वारा किये गये संस्कार से वह सब प्रकार के विपरीत वर्ग का नाश कर देता हैं । संसार में लगाने का कारण रूप वर्ग जो कि भगवान् की ओर बढ़ने में बाधा उपस्थित करता है ऐसे उस वर्ग को नष्ट करके वह

अनुराग भगवत् पद को प्राप्त करा देता है । इस प्रकार के लक्षण वाले अनुराग से द्वेष आदि युक्त भक्ति द्वारा भी किसी को भगवान् की प्राप्ति होती है, उसमें किसी भी प्रकार का व्यभिचार दोष उत्पन्न नहीं होता अर्थात् भक्ति युक्त द्वेष में भी भगवान् की प्राप्ति के प्रसंग में कोई विरोध या विसंगति पैदा नहीं होती । देह आदि में अहंता, ममता के लक्षणों से दृढ़ता को प्राप्त हुआ संग भगवान् में अनुराग होने पर नष्ट हो जाता है । ऐसे उस मजबूत संग को भी धीर पुरुष सहसा ही छोड़ देता है । "ऊढ़', शब्द का अर्थ वेद में भी बताया गया सूचित किया है । जिस प्रकार विवाह करके लाई हुई स्त्री को नहीं छोड़ना चाहिये, उसी प्रकार देह का संग भी नहीं छोड़ना चाहिये । "अपनी आत्मा की रक्षा निरन्तर करना चाहिये," तथा "निश्चय ही यह शरीर धर्म का साधन होने से प्राथमिकता रखता है ।" पुरुष को समस्त प्रकार के अर्थ प्रदान करने में शरीर के होने की उपयोगिता स्पष्ट है । इस प्रकार वेद वाक्यों से उत्पन्न हुई बुद्धि को भी अनुरागी जन त्याग देते हैं । भगवान् के भक्त "लोक में तथा वेद में उत्पन्न हुई बुद्धि को भगवत् कृपा से छोड़ देते हैं," इस वाक्य से देह आदि में संग का त्याग भक्तजन कर देते हैं । ज्ञान के अन्तर्गत तो देह की आसक्ति छोड़ देना ही पुरुषार्थ कहा गया है । यहाँ भक्ति मार्ग में तो उस ज्ञान की प्राप्ति अथवा देहासक्ति का त्याग एक प्रासंगिक या गौण स्थिति की सामान्य प्रक्रिया मात्र है । जो भगवान् में अनुरक्त हैं, वे ही उनके समीप पहुंचते हैं । भगवान् के इस वाक्य के आधार पर, कि "मेरे भक्त मुझे ही प्राप्त होते हैं ।" हो सकता है, इसका गौण फल ही प्राप्त होता हो, इस आशंका से कहते हैं, कि वे परम हंसों को प्राप्त होने वाले फल को प्राप्त होते हैं । तो फिर वे क्रमशः मुक्त होते हुये वैश्वानरादि लोकों को प्राप्त होते होंगे और उन्हीं के समान यह भी अवान्तर (अमुख्य-गौण) स्थान ही होगा ? इस आशंका का उत्तर देते हुये कहते हैं, कि—यही अन्तिम स्थान है । यह इस वाक्य से प्रतिपादित किया गया है, कि "इस आनन्दमयी स्थिति का अन्त आनन्द में समाहित हो जाना ही है" अतः इस स्थिति को प्राप्त कर लिये जाने के बाद फिर अन्य कोई भी स्थान प्राप्त करने योग्य नहीं रह जाता । कहीं ऐसा तो नहीं, कि इसमें धर्म के हेतु का अभाव होने से और वेद में इसका प्रतिपादन न होने से, यह अप्रमाणिक हो जावे, इसलिये पहले निरूपित नहीं किये गये सन्मार्ग की आशंका से कहते हैं, कि— जिसमें अहिंसा ही सबसे बड़ा स्वधर्म कहा गया है । वेद के पूर्व काण्ड में धर्म का प्रतिपादन हुआ है और उत्तर काण्ड में ज्ञान से प्राप्त होने

वाली अविद्या रहित शान्ति का । ये दोनों ही अनुराग के स्वाभाविक धर्म हैं । जिस प्रकार जल में रस की स्थिति सदैव है । इसलिये सभी वेदों में भक्ति धर्म का प्रतिपादन होने से भक्ति में वेदों के विरोध की शंका नहीं करना चाहिये । अहिंसा शब्द के द्वारा मुख्य धर्म का निरूपण किया गया है । 'आलभन' शब्द का प्रयोग वेद में हिंसा के लिये नहीं किया गया है । इसलिये अहिंसा और शान्ति की प्राप्ति ये दोनों धर्म भक्त में सहज रूप से आ जाने के कारण यहाँ वेदों की नियम स्थापना शक्ति ही कुण्ठित हुई है, न कि भक्ति की विरोधी भावना प्रकट हुई है । अतः भगवान् का माहात्म्य अनन्त है, वह किसी के भी द्वारा नहीं कहा जा सकता ।। २२ ।।

आभास—तर्हि भवान् कथं वक्ष्यतीत्याशङ्क्याऽऽह—

आभासार्थ—ऋषि शौनक के मन में यदि यह शंका उठे, कि जब भगवान् का अनन्त माहात्म्य किसी से भी नहीं कहा जा सकता तो फिर आप उसे कैसे कह पा रहे हो ? इस आशंका से कहते हैं—

श्लोक—**अहं हि पृष्टोऽर्य्यमणो भवद्भिराचक्ष आत्मावगमोऽत्र यावान् ।**
नभः पतन्त्यात्मसमं पतत्रिणस्तथा समं विष्णुगतिं विपश्चितः ।।२३।।

श्लोकार्थ—हे सूर्य रूप शौनकादि ऋषियों, आपने मुझ से जो पूछा है, उसे मैं जितना जान पाया हूँ, उतना बताता हूँ। आकाश बहुत विशाल है, उसमें पक्षी अपनी क्षमता के अनुसार उड़ते हैं वैसे ही व्यापक गति वाले व अनन्त गुण वाले भगवान् में जितना मेरा ज्ञान है, उस प्रमाण से मैं प्रतिपादन करता हूँ ।।२३।।

सुबोधिनी—**अहं हीति । हे अर्य्यमणः !** सूर्यसङ्काशाः । अनेन भवद्भिरेवोद्योतिताः स्मारिता भगवद्गुणास्वमाहात्म्येन वा बोधितास्ते भवद्भ्यो वक्तव्याः । अतो न ममाऽपूर्ववक्तृत्वं किन्त्वनुवादकत्वमिति न ब्राह्मणोपदेशकृतोऽपि दोषः अत एवाऽऽह-**हीति** । अहं पृष्टो भगवद्गुणवर्णने आज्ञप्तो भवद्भिरेवाऽऽचक्षे । **भवद्भिरित्युभयत्र** सम्बध्यते । परं स्वबुध्द्यनुसारेण । तदाह-**आत्मावगमोऽत्रयावानिति** । यद्यपि **"अर्थं बुद्ध्वा वाक्यरचना नाम"** इति न्यायेन वाक्यावगमः समायात्येव तथापि वेदपाठकवत् कथनं व्यावर्तितम् । तथा सत्यर्थावबोधो न स्यादिति । ननु किमेतावता स्यात् । भगवद्गुणानां सर्वेषामनिरूपणात् । तत्राऽऽह—**नभः पतन्तीति । पतत्रिणो** गरुडादयो **नभ** आकाशमात्मसममेवोत्पतन्ति । न त्वाकाशविशालतानुरोधेन । तथापि खेचरत्वं सिद्ध्यति । तथा ममाऽपि भगवद्गुणवक्तृत्वं सेत्स्यतीति । भावः । ननु विषयो दृष्टान्तः । क्रिया तु परिच्छिन्नैव भवति । ज्ञानं त्वपरिच्छिन्नविषयकमपि भवतीत्याशङ्क्याऽऽह-**तथा सममिति** ।

विपश्चितो ज्ञानिनोऽपि विष्णोर्व्यापकस्य गतिं चरित्रं स्वयोग्यतानुसारेणैव जानन्ति । अन्यथा किञ्चिज्ज्ञत्वं न स्यात् । भगवत्तुल्यता च स्यात् । गतिमित्येकवचनं सर्वोऽपि गुण आकाशतुल्य इत्येकोऽपि गुणो न कैश्चित्सम्यगवगम्यत इत्युक्तम् । अतो न केवलं ममैवाऽयं दोष: किन्तु विषय एव तादृश इति ।।२३ ।।

व्याख्यार्थ—जैसा आपने मुझसे पूछा है, हे सूर्य के समान ऋषियों, आपके द्वारा ही प्रकाशित किये गये और याद दिलाये गये भगवान् के गुण हैं अथवा आपने अपने माहात्म्य के द्वारा ही यह ज्ञान कराया है, उन्हें ही मेरे द्वारा आपको बताया जाना चाहिये । मैं कोई नई बात बताने नहीं जा रहा, केवल अनुवाद कर रहा हूं । यद्यपि मैं ब्राह्मण नहीं हूं, तो भी मेरे द्वारा उपदेश दिये जाने में दोष नहीं है । इसलिये कहते हैं, कि आपने ही मुझे भगवान् के गुण वर्णन की आज्ञा दी है, इस प्रकार आप ही मेरे माध्यम से कथन कर रहे हो। "भवद्भि" यह शब्द दोनों ओर से सम्बद्ध है । परन्तु मैं अपनी बुद्धि के अनुसार ही कहूंगा । उसे कहते हैं–कि जितना मैं अपनी बुद्धि के अनुसार भगवत् गुण जान पाया हूँ, उसे कहूंगा । यद्यपि "अर्थ को जानकर ही वाक्य रचना की जानी चाहिये," इस न्याय से वाक्य का ज्ञान होता है, परन्तु अभी के लोग जैसे वेद का उच्चारण बिना अर्थ समझे ही करते हैं, वैसा तो मैं नहीं करूंगा, पर मुझे जितने अर्थ का ज्ञान है, उस प्रमाण से ही मैं कहूंगा । पर इससे होगा क्या ? भगवान् के सभी गुण तो निरूपण नहीं किये जा सकते न ? ऐसी शंका का समाधान करते हुये कहते हैं—कि आकाश में गरुड़ आदि पक्षी अपनी क्षमता के अनुसार ही उड़ते हैं, न कि वे विशाल आकाश को माप सकते हैं, तो भी उन्हें "आकाश में उड़ने वाला" नाम तो सिद्ध है ही, ठीक वैसे ही मैं भी अपनी सामर्थ्यानुसार ही भगवान् के गुणों को कहूंगा, यह भाव हुआ । यह दृष्टान्त तो विषम है, क्योंकि क्रिया तो एक सीमित स्थान में ही होती है, और ज्ञान का विषय विस्तार तो सीमा रहित होता है, ऐसी शंका की सम्भावना पर समाधान देते हैं—कि ज्ञानी जन भी विष्णु अर्थात् व्यापक की गति को व चरित्र को अपनी योग्यता के अनुसार ही जान पाते है, यदि ऐसा न हो तो उन्हें कुछ जानना बाकी ही न रहे, वे भगवान् के तुल्य हो जायँ । 'गति' शब्द यहाँ एक वचन है अर्थात् भगवान् के सारे ही गुण आकाश के समान है, अत: उनके किसी एक गुण को भी पूरी-पूरी तरह से कोई भी नहीं जान सकता । इसलिये उनके गुणों की जानकारी रखने के विषय में मैं अकेला ही दोषी नहीं हूं, प्रत्युत् यह भगवद् गुण विषयक बात ही वैसी है, जिसे जाना ही

नहीं जा सकता ॥ २३ ॥

आभास—एवं न्यूनवक्तृत्वदोषं परिहृत्य पृष्टे उत्तरमाह—

आभासार्थ—इस प्रकार अपने कम कहने के दोष को एक ओर रखते हुये, पूछे गये प्रश्न का उत्तर देना प्रारम्भ करते हैं—

श्लोक—एकदा धनुरुद्यम्य विचरन् मृगयां वने ।
मृगाननुगतः श्रान्तस्तृषितः क्षुधितो भृशम् ।
जलाशयमचक्षाणः प्रविवेश तमाश्रमम् ॥ २४ ॥

श्लोकार्थ—एक बार महाराज परीक्षित् धनुष उठाकर शिकार खेलने के लिये जंगल में गये । वे पशुओं का पीछा करते हुये थक गये तथा भूख और प्यास से अत्यधिक व्याकुल हो गये । उन्हें कहीं भी जलाशय नहीं दीखा और वे उस आश्रम में प्रविष्ट हुये ॥ २४ ॥

सुबोधिनी—एकदेति । राज्ञः प्रमादाच्छापो जात इति वक्तुं स्वभावप्रवृत्तेरनर्थहेतुत्वं बोधयति । **धनुरुद्यम्येति** वधाभिनिवेश सूचितः । वने मृगयां पारधिवच्चरन् धावतो मृगाननुगतः । मृगसङ्गात्तच्छोकोऽस्याऽपि सञ्जातः । **'आरण्याः पशवः कनीयांसः शुचा श्रुता'** इति श्रुतेः । **अत एव श्रान्तः** । देहवैक्लव्यं जातम् । तृषितः क्षुधितोऽपि जातः । दोषत्रयमुत्पन्नमित्यर्थः । अन्यथा महावीरस्य निरन्तरयुद्धकरणेऽप्यक्षीणबलस्य कथं श्रमादि स्यात् । तस्माद्दुष्टानुगवनं न विधेयम् । **भृशमिति** । सोढुमशक्यम् । दोषोत्पन्नस्य श्रमादेर्दोषजनकत्वमेव न गुणजनकत्वमिति वक्तुं तादृशस्य दोषान्तरमपि जातमित्याह—**जलाशयमिति** । **अचक्षाणः** अपश्यन् । जलाशयानामपि देवत्वात्तं प्रति तेऽपि तिरोहिता इति भावः। **प्रकर्षेण प्रवेशः** अपृष्ट्वा अननुज्ञातः । अतः स्थानपर्यन्तं गमनम् । **तमिति** प्रसिद्धम् । पराभूतद्रौणिमन्त्रस्थानम् ॥ २४ ॥

व्याख्यार्थ—एक बार की बात है, राजा को प्रमाद वश शाप लगा । इसे बताने के लिये स्वभाव की प्रवृत्तियों को कारण रूप से कहा गया है । धनुष को उठाने की क्रिया से बध कार्य को सूचित किया है । जंगल में शिकारी की तरह शिकार करने हेतु राजा परीक्षित् पशुओं के पीछे दौड़ रहे हैं । पशुओं का संग करने से उनमें शौक का जन्म हुआ है । श्रुति में कहा है, कि "जंगल में पशु छोटे हैं और शौक युक्त है । इसलिये पशुओं का अनुगमन करने से राजा थक गये हैं । देह व्याकुल हो गया है । वे भूख व प्यास से भी युक्त हो गये हैं । इस तरह उनमें तीन दोष उत्पन्न हो गये

हैं। यदि ऐसा न होता, तो युद्ध भूमि में निरन्तर युद्ध करने वाले परीक्षित् को कभी थकावट नहीं हुई, तो शिकार के ही प्रसंग में उन्हें थका हुआ क्यों कहा जाता ? इसलिये दुष्ट का अनुगमन नहीं करना चाहिये। 'भृशम्' अव्यय का प्रयोग राजा की भूख, प्यास व थकान को न सह सकने की स्थिति प्रदर्शित करने के लिये किया गया है। श्रम आदि दोषों के उत्पन्न होने से ही दूसरे दोष भी उत्पन्न हो गये हैं तथा गुणों का उत्पन्न होना समाप्त हो गया है, अतः परीक्षित् को जलाशय नहीं दिखाई दिया। जलाशय देवता रूप होने से वे दोष युक्त राजा के सामने से तिरोहित हो गये। बिना आज्ञा के प्रवेश करने को 'प्र' उपसर्ग से बताया जाकर 'प्रवेश' के स्थान पर 'प्रविवेश' क्रिया का प्रयोग किया। इसलिये वे ऋषि के मुख्य स्थान तक चले गये। 'तम्' का प्रयोग, स्थान के प्रसिद्ध होने को बताता है। वह स्थान हारे हुये द्रोणाचार्य के पुत्र अश्वत्थामा का मन्त्रणा स्थल रहा था ।। २४ ।।

आभास—स्वतो दोषव्याप्तस्य सद्दर्शनेऽपि न सब्दुद्धिरुत्पन्ना । यथा सन्निपात-व्याप्तो हविषाऽपि म्रियते तथा जातमित्याह **ददर्शेति** त्रिभिः सार्द्धैः । तत्र द्वयेन मुनेः स्वरूपं वर्णयति तस्य दोषाधिक्याय—

आभासार्थ—जिसमें स्वतः दोष व्याप्त हो जाते हैं, उन्हें साधु पुरुष के दर्शन होने पर भी सद्बुद्धि प्राप्त नहीं होती। जैसे सन्निपात रोग के व्याप्त हो जाने पर घी से भी व्यक्ति मर जाता है, वैसा ही राजा के साथ हुआ; इसे 'ददर्श' से लगाकर साढ़े तीन श्लोकों द्वारा कहा गया है। उनमें दो श्लोकों द्वारा राजा के दोषों की अधिकता बताने के लिये मुनि के स्वरूप का वर्णन करते हैं—

श्लोक—**ददर्श मुनिमासीनं शान्तं मीलितलोचनम् ।**
प्रतिरुद्धेन्द्रियप्राणमनोबुद्धिमुपारतम् ।। २५ ।।
स्थानत्रयात्परं प्राप्तं ब्रह्मभूतमविक्रियम् ।
निप्रकीर्णजटाच्छन्नं रौरवेणाऽजिनेन च ।। २६ ।।

श्लोकार्थ—राजा ने देखा, कि मुनि नेत्र बन्द किये शान्त बैठे हुये हैं। इन्द्रिय, प्राण, मन व बुद्धि को बाहर से हटाकर अन्दर की ओर रोक लिया है। तीन स्थानों से ऊपर उठकर किसी प्रकार की क्रिया न करते हुये ब्रह्म रूप हो गये हैं। वे बिखरी

हुई जटाओं से ढंके हुये हैं तथा काले मृग चर्म का आवरण धारण किये हुये हैं ।। २५ ।। २६ ।।

सुबोधिनी—मुनिमिति श्रवणमनने ब्रह्मविषयके सिद्धे तस्येति ज्ञापितम् । **आसीनमिति** निदिध्यासनपरत्वम् । योगे चाऽऽसनं तृतीयमङ्गम् । अतः पूर्वद्वयमप्यर्थादुक्तं भवति । **शान्तमिति** प्राणायामेन मनोनियमनमुक्तम् । **मीलितलोचनमिति** प्रत्याहारः । ध्यानधारणे वक्तुं प्रत्याहारमेव विशदयति—**प्रतिरुद्धे** ति । अथवा । **मीलितलोचनमिति** विषयाणामप्रतिबन्धकत्वं सूचितम् । प्रतिलोमतया रुद्धा अन्तर्नीता इन्द्रियप्राणमनोबुद्धयो येन । एवं बाह्यविषयान्तर्विषयनिवृत्त्यनन्तरं स्वस्वरूपे विद्यमाने भगवति आ समन्तात्प्रतः अनुरक्तः । तेन स्वरूपेण भगवत्सेवक इत्युक्तम् । अनेन ध्यानधारणे अपि सूचिते । समाधिमाह—**स्थानत्रयादिति** । जीवस्य चत्वारि स्थानानि जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिसमाधिरूपाणि । तत्र भगवतः कार्यद्वयं गुणाः स्वरूपं च क्रमेणाऽभिव्यक्ता (?) भासन्ते । अतोऽस्य स्थानत्रयात्परं समाधिं प्राप्तस्य स्वरूपं भासत इत्यर्थः । न केवलं भानमात्रं किन्तु फलमपि जातमित्याह—**ब्रह्मभूतमिति** । "**ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवती**"ति श्रुतेः । असम्प्रज्ञातसमाधित्वज्ञापनायाऽऽह **अविक्रियमिति** । सर्वविकाररहितम् । अनेन देहायुर्वृद्धिक्षयादिकमपि निवर्तितम् । मनोव्यापारोऽपि निराकृतः । केवलं स्वरूपेणैव भगवन्तं सेवत इत्युक्तं भवति । बहिश्चोपघातकनिराकरणप्रकारं पूर्वमेव कृतवानित्याह-**विप्रकीर्णे**ति । विप्रकीर्णाभिर्जटाभिराच्छन्नम् । रुरुर्बहुशृङ्गमृगः । रौरवेण चर्मणा कृष्णाजिनने चोपर्याच्छन्नम् । एतावता बहिरन्तर्व्यवस्थया स सर्वथा न प्रार्थनीय इति सूचितम् ।।२५।।२६।।

व्याख्यार्थ—'मुनि' शब्द से श्रवण व मनन की सिद्धि बताई गई है । 'आसन' कहकर मनन में तल्लीनता बताई है । योग में आसन तीसरा अंग है । अतः पहले के दोनों अर्थ भी इसके द्वारा कहे गये हैं । 'शान्त' शब्द से, प्राणायाम के द्वारा मन पर नियन्त्रण बताया है । 'मीलित लोचन' अर्थात् नेत्र बन्द होने की स्थिति से इन्द्रियों का बाह्य विषयों से हटाना सिद्ध हुआ है । ध्यान और धारणा को बताने के लिये 'प्रत्याहार' ही विस्तार प्रदान करता है जो कि 'प्रतिरुद्ध' शब्द से सिद्ध है । अथवा 'मीलित लोचन' से विषयों द्वारा बाधा न पहुंचाया जाना सूचित किया है । प्रतिलोभ रूप से रोक लिया गया है अर्थात् बाहर से हटाकर इन्द्रिय प्राण, मन, बुद्धि को भीतर की ओर अन्तर्मुखो बना लिया है । इस प्रकार बाह्य व आन्तरिक विषयों से निवृत्त होकर अपने स्वरूप में विद्यमान भगवान् में सम्पूर्णतया अनुरक्त हो गये हैं । उस स्वरुप सेवन से वे भगवान् के सेवक बताये गये हैं और इसी से उनकी ध्यान व धारणा भी सूचित हुई है । अब मुनि की समाधि के विषय में कहते हैं—कि वे तीनों स्थान पार कर गये हैं । जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति और समाधि, ये जीव के चार स्थान हैं । उसमें भगवान् के गुण और स्वरूप, ये दो कार्य एक के बाद एक बताये गये

लगते हैं । इसलिये इन मुनि के द्वारा तीन स्थानों को पारकर समाधि प्राप्त स्थिति में स्वरूप के प्राप्त होने को बताया है, यह अर्थ हुआ । उन्हें केवल इसका भान ही नहीं हुआ है, वरन् फल भी प्राप्त हो गया है, वे ब्रह्म हो गये हैं । "ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म ही हो जाता है," ऐसा श्रुतियों में कहा गया है । इस समाधि को किसी के द्वारा न जाने जा सकने वाली स्थिति के कारण 'असम्प्रज्ञात' शब्द से कहा गया है । वे समस्त विकारों से रहित याने 'अविक्रिय' हो गये हैं । इस स्थिति में आ जाने से उनमें शरीर की आयु का बढ़ना, घटना आदि विकार भी जाते रहे हैं । मन के कार्य भी नष्ट हो गये हैं । वे मुनि केवल आत्म स्वरुप से भगवान् का सेवन कर रहे हैं । बाहरी प्रभावों का निराकरण पहले ही बताया जा चुका है । बिखरी हुई जटाओं से वे चौतरफा ढंके हुये हैं । बहुत से सींगों वाले रुरु मृग के काले चर्म से उनका देह ऊपर की ओर से ढंका हुआ है । इस प्रकार अन्दर व बाहर की व्यवस्था से ढंके हुये मुनि से राजा द्वारा प्रार्थना नहीं की जानी चाहिये थी, यह सूचित किया गया है ।। २५ ।। २६ ।।

आभास—तादृशमपि याचितवानित्याह—

आभासार्थ—ऐसे मुनि से भी राजा ने याचना की, इसे कहते हैं—

श्लोक—**विशुष्यत्तालुरुदकं तथाभूतमयाचत ।**
अलब्धतृणभूम्यादिरसम्प्राप्तार्घ्यसूनृतः ।
अवज्ञातमिवाऽऽत्मानं मन्यमानश्चुकोप ह ।। २७ ।।

श्लोकार्थ—जल के बिना जिस राजा का कण्ठ सूख रहा था, ऐसे उस राजा ने उन समाधि स्थित मुनि से जल की याचना की । परन्तु उसे बैठने को आसन, भूमि स्थान, अर्घ्य तथा मधुर सत्य वाणी से सत्कार प्राप्त नहीं हुआ । जिससे राजा स्वयं को अपमानित मानता हुआ सा क्रोधित हो गया ।। २७ ।।

सुबोधिनी—विशुष्यत्तालुरिति । विशेषेण शुष्यत्तालु यस्य । शोकेनैव तालुशोषणम् । **तथाभूतमिति** । पूर्वोक्तधर्मयुक्तम् । याचनमपि दोष एव । तेन दोषेण दोषान्तरमप्युत्पन्नमित्याह—**अलब्धेति** । "**तृणानि भूमिरुदकं वाक् चतुर्थी च सूनृता । एतान्यपि सतां गेहे नोच्छिद्यन्ते कदाचने**" ति सद्धर्मः । तच्च तस्मिन्नदृष्ट्वा स्वस्य शिक्षकत्वं च स्मृत्वा शिक्षार्थमिव कोप कृतवान् । न लब्धा (?) तृणं, भूमिः । आदिशब्देनादकम् । तृणभूमो आदिर्थस्येति । जलस्याऽपेक्षिततत्वादेव-

मुक्तम् । राजनिमित्तं विशेषधर्मोऽर्घ्यादिः । न सम्प्राप्ता अर्घ्यादिसूनृतान्ता येन । राजसु ब्राह्मणैः पाद्यस्याऽकर्त्तव्यत्वादर्घ्यग्रहणम् । तदप्राप्तौ दोषेण हेत्वन्तरं कल्पयति—**अवज्ञातमिति** । निषेधाभावाच्चेवप्रयोगः । यदि स्वयमेव जलादिकं गृह्णीयात्तदाऽपि न दोषः स्यात् । आपद्धर्मत्वात् । परमभिमानेन तदपि न कृतवान् । तदाह—**आत्मानं मन्यमान इति** । दोषेण दृष्टेः प्रतिरुद्धत्वात्तत्स्वरूपमविचार्यैव केवलं चुकोप । हेत्याश्चर्ये ॥२७॥

व्याख्यार्थ—जिस राजा का तालु विशेष रूप से सूख गया था । शोक से ही तालु सूख जाता है । ऐसे धर्म (लक्षणों) का विश्लेषण पहले कर दिया गया है । याचना करना भी दोष ही है । पहले के दोषों से फिर एक नया दोष उत्पन्न हो गया । कहते हैं—कि उसे कुछ भी प्राप्त नहीं हुआ । "तृण, भूमि, जल और निष्कपट वाणी सज्जनों के घर से कभी दूर नहीं होती," यही श्रेष्ठ धर्म है । वहाँ इन सब बातों को न देखकर स्वयं का शिक्षक होना विचार कर, मुनि को शिक्षा देने के लिये राजा क्रोधित हो गया । क्योंकि उसे ये सब सत्कार प्राप्त नहीं हुये । न उसे तृण (आसन, चटाई) मिला, न ही बैठने को भूमि पर स्थान । 'आदि' शब्द से, उसे जल भी नहीं मिला । तृण, भूमि आदि उसे नहीं मिले । जल की इच्छा से ही ये सब स्थितियाँ गिनाई गई । राजा के आगमन पर विशेष रूप से अर्घ्य आदि देना धर्म है । न ही राजा को अर्घ्य मिला और न ही वाणी से सत्कार । ब्राह्मणों द्वारा राजा के पांव धोने का विधान नहीं है, अतः अर्घ्य द्वारा सत्कार किया जाना व्यवस्था के अन्तर्गत ग्रहण किया गया है, वह अर्घ्य भी प्राप्त न होने पर राजा में पुनः दूसरा दोष कल्पित हो गया, वह अपने को अपमानित मान बैठा । यहाँ निषेध के अभाव में 'इव' शब्द का प्रयोग हुआ है । यदि राजा स्वयं ही जल आदि ग्रहण कर लेता तो भी दोष नहीं होता । ऐसी स्थिति में यह आपत्ति धर्म कहलाता । परन्तु घमण्ड के कारण उसने वैसा नहीं किया । उसे कहते हैं—कि उसने स्वयं को अपमानित अनुभव किया । दोष से दृष्टि रुंध जाने से मुनि के स्वरूप का विचार न करते हुये केवल क्रोध किया । यह अविचार शीलता राजा के लिये आश्चर्य की बात है, अतः आश्चर्य को बताने वाले 'ह' अव्यय का प्रयोग हुआ है ।। २७ ।।

आभास—क्रोधः शिक्षार्थमपि भवति । मन्युस्तु द्विष्ट एव । तदा तस्याऽन्यद्दोषद्वयमुत्पन्नमित्याह—

आभासार्थ—क्रोध शिक्षा के लिये भी होता है, परन्तु 'मन्यु' शब्द का प्रयोग

'द्वेष' करने के अर्थ में ही होता है। तब राजा में दूसरे दो प्रकार के दोष और भी उत्पन्न हो गये, जिन्हें कहा जा रहा है—

श्लोक—**अभूतपूर्वः सहसा क्षुत्तृड्भ्यामर्दितात्मनः।**
ब्राह्मणं प्रत्यभूद्ब्रह्मन् मत्सरो मन्युरेव च ।।२८।।

श्लोकार्थ—हे ब्रह्मन्, भूख और प्यास से व्याकुल आत्मा वाले राजा को पहले कभी भी जो ईर्ष्या और क्रोध उत्पन्न नहीं हुआ था, वह सहसा ही ब्राह्मण पर हो गया ।। २८ ।।

सुबोधिनी—**अभूतपूर्व इति**। कदाऽप्येतादृशो दोषो नोत्पन्नो यस्तु ब्राह्मणे मत्सरः। **सहसेति** विचारोत्पत्तिर्निवारिता। देहधर्मा एव प्रबला जाता इत्याह—**क्षुत्तृड्भ्यामिति**। आत्मा अन्तःकरणं यस्य। एवं ब्राह्मणातिक्रमं श्रुत्वा शौनकस्य क्षोभो मा भवत्विति **ब्रह्मन्निति** सम्बोधनम्। ब्राह्मण एव मत्सरो मन्युश्च जातः। परोत्कर्षासहनं **मत्सरः**। एवं दश दोषा उत्पन्नाश्चकारेण समुच्चिताः।।२८।।

व्याख्यार्थ—राजा में इससे पहले कभी भी ऐसे दोष उत्पन्न नहीं हुये थे, कि उसने ब्राह्मण से मत्सर (ईर्ष्या) किया हो। यहाँ 'सहसा' शब्द से राजा में विचार उत्पन्न न होने की स्थिति बतायी गयी है। यहाँ राजा के देह धर्म प्रबल हो गये हैं, जिन्हें भूख व प्यास के माध्यम से बताया गया है। उस भूख व प्यास से उत्पन्न होने वाली व्याकुलता का प्रभाव राजा परीक्षित् के अन्तःकरण को भी प्रभावित कर गया। इस प्रकार ब्राह्मण के प्रति किये गये मत्सर और क्रोध रूपी अतिक्रम को सुनकर कहीं शौनक ऋषि में क्षोभ (विचलन) उत्पन्न न हो जाय, अतः सूतजी ने उन्हें 'ब्रह्मन्' सम्बोधन दिया है। राजा को ब्राह्मण से ही मत्सर और क्रोध उत्पन्न हो गया है। दूसरे की उन्नति न सहना ही मत्सर कहलाता है। इस प्रकार राजा में दश दोष उत्पन्न हो गये, जिन्हें 'च' कार से समूह रूप में बताया गया है ।। २८ ।।

आभास—उपसंहाराय दोषाणां फलमाह—

आभासार्थ—अब उपसंहार करने के लिये दोषों से उत्पन्न फल को कहा जा रहा है—

श्लोक—**स तु ब्रह्मऋषेरंसे गतासुमुरगं रुषा।**
विनिर्गच्छन्धनुःकोट्या निधाय पुरमागतः ।।२९।।

श्लोकार्थ—उस राजा ने तो क्रोध में भरकर, मरे हुये एक साँप को धनुष के कौने से उठाकर, उन ब्रह्म ऋषि के कन्धे पर रख दिया। इसके बाद राजा आश्रम से बाहर निकलकर अपने नगर में आ गया ।। २६ ।।

सुबोधिनी—**स तु ब्रह्मऋषेरिति**। तुशब्देन पूर्वग्लानिर्निवारिता। कार्यस्य जातत्वात्। **कलेः स्थानप्रदानाद्धि ब्राह्मणातिक्रमे मतिः।** ब्रह्मभूतस्य ऋषेरिति प्रमेयप्रमाणोभयबलवत्त्वं सूचितम्। तन्नित्यम्। **अंस इति**। नीयमानः सर्पः शिरसः साक्षाद्ब्रह्मत्वादंस एव पतितः। तस्य वा हस्तोऽग्रे न चलितः। सर्पं हत्वा मरणानन्तरं गतासुं तमुत्थाय विनिर्गच्छन् धनुःकोट्योत्थाप्य अंसे निधाय स्वपुरमागतः। मृगयां गतो धनुषः स्वस्य च कार्यं कृत्वा समागतः। तत्रैव निकटे तिष्ठेच्चेत्सान्त्वयेदपि बालकम् ।।२६।।

व्याख्यार्थ—उस राजा ने तो ब्रह्मर्षि के कन्धे पर मरा साँप डाल दिया! यहाँ 'तु' शब्द पहले वाली ग्लानि के निवारण के लिये आया है। इससे उसको ग्लानि के निवारण का कार्य पूरा हुआ! "कलिकाल को स्थान देने के कारण ही ब्राह्मण का अपमान करने का विचार राजा में उत्पन्न हुआ।" उन ब्रह्म रूप हुये ऋषि में प्रमेय और प्रमाण दोनों प्रकार के बल होने को सूचित किया है। यह स्थिति उनमें नित्य है। राजा के द्वारा शिर पर डाला जाने वाला सर्प कंधे पर आ पड़ा क्योंकि वह शिर साक्षात् ब्रह्म रूप था अतः राजा का उठा हुआ हाथ शिर को ओर आगे बढ़ ही नहीं सका। उस आश्रम से निकलते समय राजा ने एक सर्प मारा और उस के मरने पर धनुष की नोक से उठाकर ऋषि के कंधे पर डाल दिया तथा अपने नगर में आ गया। शिकार के लिये गया हुआ धनुष, शिकार के कार्य तथा इस कार्य को करके लौट आया। यदि राजा वहां निकट ही स्थित रहता, तो क्रोधित हुये ऋषि बालक को मना सकता था ।। २६ ।।

आभास—ननु तथा करणे राज्ञः कोऽभिप्रायः ? तत्राऽऽह—

आभासार्थ—राजा द्वारा इस प्रकार का कार्य किये जाने में क्या अभिप्राय रहा होगा ? ऐसी जिज्ञासा होने पर कहते हैं—

श्लोक—**एष किं निभृताशेषकरणो मीलितेक्षणः।**
मृषासमाधिराहोस्वित्किं नु स्यात्क्षत्रबन्धुभिः ।।३०।।

श्लोकार्थ—क्या सचमुच ही इन ऋषि ने सारी इन्द्रियों को वशीभूत रखते हुये

नेत्र बन्द कर रखे हैं ? या फिर झूठ मूठ ही समाधि लगाये हुये हैं, अथवा यह सोच लिया हो कि इन क्षत्रिय भाइयों से क्या होना जाना है ? ।। ३० ।।

सुबोधिनी—एष किमिति । निभृतान्यशेषाणि करणानि यस्य । तादृशो भूत्वा किं मीलितेक्षणः । आहोस्विदस्मद्वञ्चनार्थं मृषासमाधिज्ञापको मीलितेक्षण इति । ननु तथा ज्ञापने किं प्रयोजनम् ? तत्राऽऽह—**किं नु स्यादिति** । नु इति वितर्के । निश्चये वा । क्षत्रबन्धुभिः किं स्यादागतैर्गतैर्वा । क्षत्रबन्धुत्वज्ञानं योगात् । यद्यपि मृषासमाधित्वेऽपि न किञ्चिदनेन कर्त्तुं शक्यते तथापि चित्तसमाधानार्थमेवं विचार उत्पन्न इत्यर्थः । ३० ।।

व्याख्यार्थ—इन्होंने कहीं ऐसा तो नहीं कर रखा ? कि सारी इन्द्रियों को जीतकर नेत्र बन्द किये हुये हों । यह भी हो सकता है कि हमें धोखे में रखने के लिये मिथ्या समाधि का ढोंग रचे हुये हों और इसीलिये आंखें मूंदे हुये हों ? अन्यथा यह सब बताने का क्या प्रयोजन ? वहां कहते हैं—कि 'नु' अव्यय का प्रयोग या तो वितर्क के अर्थ में आता है अथवा निश्चय के अर्थ में । क्षत्रिय बन्धुओं के आने और जाने से क्या होता है ? क्षत्रिय बन्धु के ज्ञान को योग से जान लिया होगा ? यद्यपि झूठी समाधि भी लगा रखी हो, तो यह क्षत्रिय हमारा क्या बिगाड़ सकता है ? इस भावना से मेरी अवमानना की हो । इस प्रकार अपने मन को समझाने के लिये राजा में ऐसे विचार उत्पन्न हो रहे हैं, यह अर्थ हुआ ।। ३० ।।

आभास—एवमविचारितकृतेरनर्थपर्यवसायित्वमाह—

आभासार्थ—इस प्रकार राजा परीक्षित् द्वारा बिना सोचे समझे अनर्थ रूप कार्य करने के परिणाम को कहा जा रहा है—

श्लोक—**तस्य पुत्रोऽतितेजस्वी विचरन् बालकोऽर्भकैः ।**
राज्ञाऽघं प्रापितं तातं श्रुत्वा तत्रेदमब्रवीत् ।। ३१ ।।

श्लोकार्थ—उन ऋषि का अति तेजस्वी पुत्र बालकों के साथ घूम रहा था । जब उसने पिता के प्रति किये गये राजा के पाप को सुना तो वहां इस प्रकार बोला ।। ३१ ।।

सुबोधिनी—तस्येति । पुन्नाम्नो नरकात्त्रायत इति पुत्रः । स चेदस्मान्न त्रायते पुत्रत्वादपगतः स्यात् । अतितेजस्वी च । अनेन सामर्थ्यं द्योतितम् । अविवेकहेतुमप्याह । अर्भकैः सह बालक

एवाऽऽश्रमप्रान्ते विचरन् । राज्ञा अपराधं पापं वा प्रापितं श्रुत्वा । मृतसर्पस्पर्शेऽपि पाप भवति । पापान्मरणमिति मरणं वा । आश्रमस्थवधेन वा । अपराधपक्षे राजकर्त्तु कोऽपराधो मुनिपर्यवसायो जात इति । तातेति स्नेहनाम । तत्रेति । यत्रैव श्रुतस्तत्रैवेदमब्रवीत् ।। ३१ ।।

व्याख्यार्थ— उन ऋषि के एक पुत्र था । जो पुन्नाम के नरक से रक्षा करता है, वह पुत्र कहलाता है । जो इस नरक से रक्षा नहीं करता उसका पुत्रपना चला जाता है । वह शमीक ऋषि का पुत्र शृंगी बहुत तेज वाला था । इससे उसकी सामर्थ्य बताई गई है । उसका अविवेकपना बताया गया है, कि वह बालकों के साथ आश्रम में घूम रहा है । उसने राजा के पाप अथवा अपराध को सुन लिया है । मरे हुये साँप के छूने से भी पाप लगता है । पाप से मृत्यु होती है अथवा पाप, मरण रूप है । अथवा आश्रम के साँप को मारा जाना तो और भी अधिक पाप है । आश्रम में राजा के द्वारा किया गया यह अपराध राजा के पक्ष में कुफल देने वाला न होकर मुनि को ही कुफल देने वाला हो गया है । 'तात' स्नेह को प्रदर्शित करने वाला नाम है । जहां उसने राजा के अपराध को सुना उसी स्थल पर वह ऋषि पुत्र इस प्रकार कहने लगा ।। ३१ ।।

आभास—अग्रे दण्डनिरूपणार्थं दण्डयोग्यतामाह त्रिभिः । अधर्मस्वामिद्रोहौ दण्डनिमित्तं राजनिष्ठम् । दण्डनसामर्थ्यञ्च स्वनिष्ठम् । तत्र प्रथमं दोषमाह—

आभासार्थ—आगे के तीन श्लोकों द्वारा दण्ड का निरूपण करने के लिये दण्ड की योग्यता को बताया जा रहा है । स्वामी का द्रोह करना अधर्म है और राजा का होना दण्ड के लिये है । दण्ड देने की सामर्थ्य उस ऋषि बालक में है । वह राजा के पहले दोष को बताता हुआ कहता है—

श्लोक—**अहो अधर्मः पालानां पीव्नां बलिभुजामिव ।**
स्वामिन्यघं यद्दासानां द्वारपाले शुनामिव ।। ३२ ।।

श्लोकार्थ—अहो, इन पालन करने वालों का अधर्म तो देखिये, जो बलि का भक्षण करने वाले कुत्तों के समान मोटे होकर द्वार पर रक्षा के लिये नियुक्त किये गये ये दास अपने स्वामी का अपराध करने में भी नहीं चूकते ।। ३२ ।।

सुबोधिनी—अहो इत्याश्चर्ये । पालानामधर्मः । धर्मपालका अधर्म निराकुर्वन्ति । न तु कुर्व-

न्तीत्याश्चर्यम् । आश्चर्याभिनिविष्टो ध्यायन्नेदमाश्चयमिति ज्ञातवान् । अतोऽधर्महेतुं वदन् स्थान-विशेषं प्राप्य तस्य हेतुत्वं ज्ञापयन् दृष्टान्तमाह—**पीन्वामिति** । स्थूलत्वमेवाऽधर्मकरणे हेतुः । नीचा राज्येन पुष्टा अधर्मं कृतवन्त इत्यर्थः । यथा श्लानो बलिना पुष्टा बलिदातारमेव भक्षयन्ति गृहं वा प्रविशन्ति । ब्राह्मणानां राज्यद्वयम् । स्वाराज्यं बहीराज्यं च । बहीराज्यं स्वाभोग्यं न भव-तीति स्वाराज्यसाधकत्वेन विनियुक्तम् । अत एव क्षत्रियाः स्थापिताः । ब्रह्मणा निर्मिता भूः कश्यपेन च दत्ता । तथा परशुरामेण रघुनाथेन च । तथापि यद्ब्राह्मणैर्बहोराज्यं न कृतं तदन्त-स्तत्करणार्थम् । तदेवाऽऽह—**स्वामिन्यघमिति** । दासानां यत्स्वामिन्यघमपराधकरणं पापं तच्छु-नामिव जातिदोषेणाऽविवेकेन च जातम् । **द्वारपाले** द्वारपालने ये विनियुक्ताः श्वानः । द्वारपा-लनार्थं वा । ते यथा अज्ञानात्स्वामिनमेव भक्षयन्ति गृहं मा प्रविशत्विति तथा समाध्यर्थमेव राजा विनियुक्तः समाधिं मा करोत्वस्मत्पूजां करोत्विति । एतावता शुनस्तुल्यता राज्ञो निरूपिता ॥ ३२ ॥

व्याख्यार्थ—'अहो' आश्चर्य बताने वाला शब्द है। पालन करने वालों का अधर्म देखिये । धर्म का पालन करने वाले अधर्म को हटाते हैं, न कि करते हैं, यह आश्चर्य है। आश्चर्य में डूबा हुआ वह बालक ध्यान करता हुआ कहता है, कि यह कोई आश्चर्य करने जैसी बात नहीं है । अतः अधर्म के कारण को कहता हुआ स्थान विशेष को प्राप्त करके उसके हेतु को प्रकाशित करता हुआ दृष्टान्त देता है–कि ये मोटे हो गये हैं । यह मोटापन ही अधर्म करने में कारण रूप है । नीच राजा बल प्राप्त करके अधर्म करते हैं । जिस प्रकार कुत्ता स्वामी के टुकड़ों पर पलकर पुष्ट होने के बाद उस भोजन देने वाले स्वामी को ही काटने दौड़ता है अथवा घर में घुस जाता है, वैसे ही ये राजा हैं । ब्राह्मणों के दो राज्य हैं, एक भीतर का आत्म सम्बन्धी राज्य और दूसरा बाहर वाला भौतिक राज्य । ब्राह्मणों द्वारा अन्दर के राज्य की साधना की जाती है, वे भगवान् द्वारा इसी के लिये विशेष रूप से नियुक्त किये गये हैं, बाहर का भौतिक राज्य उन स्वयं के भोगने के लिये नहीं होता । इसलिये बाहरी राज्य के लिये उन्होंने क्षत्रियों को स्थापित किया है । ब्रह्मा द्वारा बनाई गई इस भूमि को कश्यप जी ने तथा परशुराम जी एवं रामचन्द्र जी ने ब्राह्मणों के लिये सोंपा है । भूमि का राज्य मिलने पर भी ब्राह्मणों ने इस ब्राह्य जगत् के राज्य को नहीं किया प्रत्युत् अन्तःकरण के राज्य को ही किया । उसे इस प्रकार कहते हैं—कि ये ब्राह्य जगत् के शासन के लिये ब्राह्मणों द्वारा नियुक्त किये गये शासन स्वामी के प्रति पाप भावना से भर गये हैं । ये दास होकर भी स्वामी के प्रति अपराध करने में जाति दोष तथा मूर्खता से कुत्ते के समान हो गये हैं । दरवाजे की

चौकीदारी के लिये जैसे कुत्ते को रखा जाता है, इसी प्रकार इन राजाओं के द्वार-पाल के समान नियुक्त किया गया है। जिस प्रकार वे कुत्ते अज्ञान से स्वामी को ही खा जाते हैं। घर में किसी के प्रवेश न होने देने के लिये उन्हें अधिकार दिया जाता है, पर वे स्वयं ही घर में घुस जाते हैं इसी प्रकार ब्राह्मण अपने समाधि रूप राज्य की रक्षा करने के लिये इन्हें बाहर के द्वार पर नियुक्त करते हैं, परन्तु ये कहते हैं, कि समाधि मत करो, समाधि त्याग कर हमारी पूजा करो। इस प्रकार राजा की समानता कुत्ते से की गई है ॥ ३२ ॥

आभास—विषमदृष्टान्तशंकायामाह—

आभासार्थ—दृष्टान्त विषयक विषमता की शंका का समाधान करते हुये कहते हैं—

श्लोक—**ब्राह्मणैः क्षत्रबन्धुर्हि द्वारपालो निरूपितः।**
स कथं तद्गृहे द्वाःस्थः सभाण्डं भोक्तुमर्हति ॥ ३३ ॥

श्लोकार्थ—ब्राह्मणों द्वारा क्षत्रियों को द्वारपाल के रूप में नियुक्त किया गया है। वे क्षत्रिय ब्राह्मणों के द्वार पर रहने वाले होने से उनके साथ भोजन पात्र में किस प्रकार भोजन करने योग्य हैं? ॥ ३३ ॥

सुबोधिनी—ब्राह्मणैरिति। अनेन स्वामिद्रोहः समर्थ्यते। हीति चतुर्धा निरूपणं बोधितम्। शरीरादिबाह्यपदार्थो द्वारम्। वस्तुतोऽत्र निरूपका भृगवः। अतो यैर्निरूपितं तेषामेव गृहे द्वाःस्थः सर्वदा द्वारपालकः सभाण्डं भोजनपाकपात्रस्थमन्नं भोक्तुमर्हति(?)ब्राह्मणमाज्ञापयितुं नाऽर्हति। तेषामेव कृपया राज्यकरणात् ब्रह्मणो हि गृहं ब्रह्माण्डम्। तत्र सर्वपुरुषार्थोपभोगस्थानानि ब्राह्मणाः। तदुपघातकनिराकरणात् द्वारपालको राजा। राज्यं बलिस्थानम्। ब्राह्मणमपि (?) कृषीबलवत् (?) बलिमध्यपातनात्सभाण्डभोजनम्। समाधिस्थापराधान्द्गृहप्रवेशेन सभाण्डभोजनम् ॥ ३३ ॥

व्याख्यार्थ—ब्राह्मणों के द्वारा क्षत्रियों को द्वारपाल नियुक्त किया गया है। इससे स्वामिद्रोह का समर्थन होता है। 'हि' शब्द चार प्रकार से राजाओं द्वारा मर्यादा उल्लंघन का निरूपण करता है। शरीर आदि बाह्य पदार्थ ही दरवाजे हैं। वस्तुतः राजाओं के इस उत्तर दायित्वों को भृगु ऋषि ने निरूपित किया है। अतः

जिन्होंने निरूपित किया है, उन्हीं के दरवाजे पर द्वारपाल के रूप में रहने वाले ये राजा क्या उनके भोजन-पात्र अथवा रसोई-पात्र में खाने की योग्यता रखते हैं? अर्थात् ये ब्राह्मणों को आज्ञा देने योग्य नहीं है। क्योंकि ये ब्राह्मणों की ही कृपा से राज्य करते हैं। वस्तुतः ब्रह्मा का घर ही ब्रह्माण्ड कहलाता है। उस ब्रह्माण्ड में समस्त पुरुषार्थों के उपभोग स्थान ब्राह्मण हैं। उन पर आने वाली बाधाओं का निराकरण ये द्वारपाल राजा ही करते हैं। राज्य ही राजाओं के लिये प्रदान की गई बलि है। जैसे राजा किसानों से कर ग्रहण करता है, वैसे ही जब वह ब्राह्मणों से भी कर ग्रहण करने लगे तो वह ब्राह्मण के भोजन पात्र में ही भोजन करना हुआ। समाधि में स्थित ब्राह्मण का अपराध करना, घर में घुसकर भोजन पात्र में भोजन करने के समान ही है ॥ ३३ ॥

आभास—एवमपराधं समर्थयित्वा स्वस्य दण्डनसामर्थ्यं वदन् प्रकारान्तरं व्यावर्त्तयति—

आभासार्थ—इस प्रकार अपराध का समर्थन करके, स्वयं की दण्ड देने की सामर्थ्य बताते हुये, दूसरे प्रकार से वस्तु स्थिति की व्याख्या करते हैं—

श्लोक—**कृष्णे गते भगवति शास्तर्युत्पथगामिनाम् ।**
तद्भिन्नसेतूनद्याऽहं शास्मि पश्यत मे बलम् ॥ ३४ ॥

श्लोकार्थ— विपरीत मार्ग पर चलने वाले राजाओं पर शासन करने वाले भगवान् कृष्ण के पधार जाने के बाद, ये शासक लोग मर्यादा विरुद्ध मार्ग पर चलने लगे हैं, अब मैं इनको नियन्त्रण में लूंगा, अब मेरी शक्ति भी देख लो ॥ ३४ ॥

सुबोधिनी— **कृष्णे गते भगवतीति** । सदानन्दरूपे स्वानुभवार्थमेव ब्राह्मणान्नियुज्य स्वस्थानं गते । भगवत्त्वात्स्वानन्दानुभवस्य सम्पादनार्थं पूर्वं ब्राह्मणप्रतिपक्षकशास्तरि । पालकानां तथात्वे ब्राह्मणैरेव दण्डः कर्त्तव्यः । कोटिद्वयस्यैव स्थापितत्वात् । अतो द्वयमस्माभिरेव कर्त्तव्यमित्याह- **भिन्नसेतूनिति** । भिन्नाः सेतवो मर्यादा यैः । अनेन स्वार्थपरित्याग उक्तः । ननु कदापि सेतुभेदनं न श्रुतम्? तत्राऽऽह—**अद्येति** । अद्यैव जातमद्यैव दण्डनं कर्त्तव्यमित्यर्थ । स्वासामर्थ्यं तथाविधमस्तीति बालकान् बोधयति—**पश्यतेति** । आविर्भूतं ब्रह्मतेजः स्वस्मिन् स्वयं पश्यन् स्वमित्रत्वात्तानपि प्रदर्शयति ॥ ३४ ॥

व्याख्यार्थ—भगवान् कृष्ण के पधार जाने के बाद ब्राह्मण ही दण्डाधिकारी हुये। सदानन्द रूप भगवान् अपने अनुभव के लिये ही ब्राह्मणों को नियुक्त करके

अपने धाम में पधार गए। भगवान् ने अपने आनन्द के अनुभव के सम्पादन के लिए ही पहले ब्राह्मणों के विरोधियों पर शासन किया अथवा उनका दमन किया। अब यदि पालन करने वाले क्षत्रिय वैसे ही विरोधी बन जावें या दुष्ट हो जावें तो यह ब्राह्मणों का कर्त्तव्य हे, कि उन्हें दण्ड दिया जावे। भगवान् ने शासक और शासित, ये दो भेद स्थापित किये हैं। इसलिए इन दोनों प्रकार की स्थितियों पर हमें ही नियन्त्रण करना चाहिये, क्योंकि मर्यादा तोड़ी गई है। इस क्षत्रिय ने शासक होने की व्यवस्था को भंग कर दिया है। यहाँ ऋषि पुत्र शृंगी द्वारा शाप देने में अपना कोई व्यक्तिगत स्वार्थ नहीं है, प्रत्युत् धर्म की मर्यादा के स्थापित किये जाने वाला भाव है। इससे पूर्व कभी मर्यादा का उल्लंघन नही सुना गया था, इसलिए कहा गया है— कि आज ही ऐसा हुआ है। क्योंकि आज ही राजा द्वारा अनुचित कार्य किया गया है अतः आज ही दण्ड दिया जाना चाहिये। उस शमीक ऋषि के पुत्र शृंगी में वैसे दण्ड देने की क्षमता है, इसे वह आश्रम के अन्य बालकों को बताता है, कि देखो, मेरी शक्ति देखो। स्वयं में जो ब्रह्म तेज प्रकट हुआ है, उसे स्वयं देखते हुए अपने दूसरे मित्र बालकों को भी उसे बताया जा रहा है ॥३४॥

आभास—एवमध्यवसायं कृत्वा यत्कृतवास्तदाह—

आभासार्थ—ऐसा निश्चय करने के बाद, अब जो उसने किया, उसे कहा जा रहा है—

श्लोक—**इत्युक्त्वा रोषताम्राक्षो वयस्यानृषिबालकः ।**
कौशिक्याप उपस्पृश्य वाग्वज्रं विससर्ज ह ॥३५॥

श्लोकार्थ—अपनी अवस्था के समान बालकों के सामने उस ऋषि बालक ने क्रोध में लाल नेत्र किये हुए, कौशिकी नदी के जल का आचमन करके वाणी रूपी वज्र छोड़ दिया ॥३५॥

सुबोधिनी—इत्युक्त्वेति। राजभावनया पालकत्वाध्यासाद्रोषः। तेन ताम्रे अक्षिणी यस्य। अनेन पुनर्विचारान्तरं न कृतवानिति ज्ञापितम्। कौशिकी नदी। तस्या आपः अप उपस्पृश्य आचम्य स्वस्य ब्रह्मभावमाविर्भाव्य वाग्रूपं वज्रं विससर्ज **"षट् फट् जही"** त्यादिमन्त्रानुक्त्वा। दधीच्यस्थिनिर्मितः स वज्रः। अयं तु ब्राह्मणानां मूलभूतो वाग्वज्रः ॥३५॥

व्याख्यार्थ—राजा की इस भावना के भ्रम पर, कि वही शासक है; ऋषि पुत्र की आँखें लाल हो गई। उसे क्रोध आ गया। इससे वह दुबारा इस विषय पर विवेक पूर्वक विचार नहीं कर सका, यह बताया गया है। उसने कौशिकी नदी के जल का आचमन करते हुए ब्रह्म भाव का आविर्भाव किया और "षट् फट् जही" इत्यादि मन्त्रों का उच्चारण करते हुए वाणी रूपी वज्र छोड़ दिया। इन्द्र का वज्र तो दधीचि की हड्डियों से बना हुआ था, परन्तु यह तो ब्राह्मणों का मूलभूत वाणी रूपी वज्र था (जिसका प्रहार अचूक होता है) ।।३५।।

आभास—तस्य वाग्वज्रस्याऽर्थमाह—

आभासार्थ—उस वाग्वज्र के अर्थ को बताया जा रहा है—

श्लोक—**इति लङ्घितमर्यादं तक्षकः सप्तमेऽहनि ।**
धक्ष्यति स्म कुलाङ्गारं चोदितो मे पितृद्रुहम् ।।३६।।

श्लोकार्थ—उस मर्यादा का उल्लंघन करने वाले कुल के अङ्गार रूप पिता के द्रोही राजा को आज से सातवें दिन मेरे द्वारा भेजा गया 'तक्षक' साँप भस्म कर देगा ।।३६।।

सुबोधिनी—**इतीति**। एवम्प्रकारेण त्यक्तमर्यादं तक्षकः सप्तमेऽहनि **धक्ष्यति** भस्मसात्करिष्यति। **स्मेति** प्रसिद्धे। सर्वप्रसिद्ध्या तं भक्षयिष्यतीत्यर्थः। अनेन तस्य प्रतीकारो न भविष्यतीति सूचितम्। '**सप्त वै शीर्षण्याः प्राणा**" इति श्रुतेः शिरसो रक्षितत्वात्प्राणघातकत्वेऽपि तावत्कालं जीवनमुक्तम्। यदि शिरसि स्थापयेत्तदैव म्रियेत। ननु पाण्डवकुलोत्पन्नं कथं धक्ष्यति तक्षकः? तत्राऽऽह—**कुलाङ्गारमिति** यदेदानीं न दग्ध एतादृशापराधान्तरकरणे कुलमेव नाशयिष्यति। यादववत्। अतः पाण्डवानामुपकारार्थमेव तं धक्ष्यतीत्यर्थः। ननु प्रार्थितो न धक्ष्यतीत्याशङ्क्याऽऽह—**चोदितो म इति**। मत्प्रेरितो नाऽन्यथा करिष्यतीत्यर्थः। अन्यथा तमपि धक्ष्यामीति भावः। एकमाज्ञापने हेतु—**पितृद्रुहमिति**। अस्मत्पित्रे द्रुह्यतीति ।।३६।।

व्याख्यार्थ—इस प्रकार से मर्यादा को छोड़ने वाले राजा परीक्षित् को आज से सातवें दिन तक्षक सर्प भस्म कर देगा। 'स्म' प्रसिद्धि के अर्थ में आया है। सब को प्रसिद्ध करते हुए उस राजा का भक्षण करेगा अर्थात् इस घटना को सब जानेंगे। इससे उसे कोई भी नहीं बचा पायेगा, यह सूचित किया है। "शिर में सात प्राण होते हैं" ऐसा श्रुतियों में लिखा हुआ है। शिर की रक्षा किये जाने से प्राण नष्ट

होने पर भी वह राजा तब तक के लिए जीवन मुक्त रहेगा। यदि राजा ऋषि के शिर पर साँप रख देता तो उसी समय मर जाता। पाण्डव वंश में उत्पन्न हुए परीक्षित् को तक्षक कैसे भस्म कर सकता है? वहाँ कहते हैं, कि वह कुल का अङ्गार है। यदि इस समय राजा तक्षक के द्वारा नहीं जलाया जाता तो वह इस प्रकार का अपराध करने के कारण यादवों के समान अपने कुल का ही नाश कर देगा। इसलिए पाण्डवों का उपकार करने के लिए तक्षक से उसका नाश आवश्यक है, यह अर्थ हुआ। यदि राजा ने तक्षक की प्रार्थना की तो वह उसे छोड़ भी सकता है? इस आशंका से कहते हैं—कि तक्षक को मैं आज्ञा देकर भेज रहा हूँ। मुझसे प्रेरित हुआ वह तक्षक उसे क्षमा नहीं करेगा, यह अभिप्राय हुआ। यदि तक्षक ऐसा क्षमा कार्य कर देगा तो मैं तक्षक को ही भस्म कर दूँगा। इस प्रकार आज्ञा दिये जाने में कारण बताते हैं—कि उसने मेरे पिताजी से द्रोह किया है। मेरे पिता से द्रोह करने करने का यह दण्ड उसे मिलेगा ॥३६॥

आभास—एवं शप्त्वा तस्मिन् तेजसि शान्ते मानुषभावेन गृहमागत्य रोदनं कृतवानित्याह—

आभासार्थ—इस प्रकार वह ऋषि बालक शृंगी, महाराज परीक्षित् को शाप भेजकर, तेज के शान्त हो जाने पर मनुष्य भाव को प्राप्त होकर, घर पर आकर रोने लगा। अब इसे कहा जा रहा है—

श्लोक—**ततोऽभ्येत्याऽऽश्रमं बालो गलेसर्पकलेवरम्।**
पितरं वीक्ष्य दुःखार्त्तो मुक्तकण्ठो रुरोद ह ॥३७॥

श्लोकार्थ—इसके बाद वह ऋषि बालक आश्रम में आया तथा पिता के गले में साँप का मृत शरीर पड़ा हुआ देखकर दुःखित हुआ खुले कण्ठ से अर्थात् जोर-जोर से रोने लगा ॥३७॥

सुबोधिनी—**तत इति। गलेसर्पकलेवरमित्यलुक्समासः।** बालत्वान्मृतो जीवति वेति न ज्ञातवान्। तादृशं पितरं वीक्ष्य दुःखेनाऽऽर्त्तः। **मुक्तकण्ठः।** प्लावितेन स्वरेण। पिता तु सर्पकण्ठः स्वयं मुक्तकण्ठः। **हेति** निश्चये ॥३७॥

व्याख्यार्थ—इसके बाद पिता के गले में सर्प देखकर वह ऋषि पुत्र रोने लगा।

'गलेसर्पकलेवरम्' में अलूक समास है। बालक होने से वह यह नहीं जान सका कि पिता के गले में पड़ा हुआ साँप जीवित है अथवा मरा हुआ है। पिता को ऐसी स्थिति में देखकर वह दुःख से व्याकुल हो गया तथा मुक्तकण्ठ से अर्थात् बहुत ऊँचे स्वर में रोने लगा। पिता के कण्ठ में तो सर्प है और स्वयं मुक्त कण्ठ है। 'ह' अव्यय का प्रयोग निश्चयात्मक अर्थ में किया जाता है अर्थात् वह निश्चय ही रोने लगा ॥३७॥

आभास—ततः किं वृत्तम् ? तदाह—

आभासार्थ—इसके बाद क्या घटना घटित हुई ? उसे कहा जा रहा है—

श्लोक—**स वा आङ्गिरसो ब्रह्मन् श्रुत्वा पुत्रविलापनम् ।**
उन्मील्य शनकैर्नेत्रे दृष्ट्वा चांऽसे मृतोरगम् ॥३८॥
विसृज्य पुत्रं पप्रच्छ वत्स कस्माद्धि रोदिषि ।
केन वाऽपकृतं सर्वमित्युक्तः स न्यवेदयत् ॥३९॥

श्लोकार्थ—उन अङ्गिरस गौत्र में उत्पन्न शमीक ऋषि ने पुत्र के विलाप को सुनकर, हे ब्रह्मन् धीरे-धीरे नेत्रों को खोला और अपने कंधे पर मरे हुए सर्प को देखा ॥३८॥ उस सर्प को कन्धे पर से हटा कर, पुत्र से पूछा, कि हे पुत्र, तुम किस किस कारण से रो रहे हो ? अथवा किसने तुम्हारा बुरा कर दिया है ? पिता के द्वारा इस प्रकार पूछे जाने पर उस पुत्र शृंगी ने संक्षेप में सारी बात निवेदन कर दीया ॥३९॥

सुबोधिनी—**स वा इति** । **आङ्गिरसः** अङ्गिरसो गोत्रे उत्पन्नः । सहिष्णुत्वं कुलीनत्वं च सूचितम् । **ब्रह्मन्निति** शङ्कान्तरं वारितम् । न हि ब्रह्मभूता अन्यथा कुर्वन्ति । अतिस्वराघातेन समाधिर्नश्यति । स्वप्नवत् । तदा शनकैर्नेत्रे **उन्मील्य** उद्घाट्य अंसे **च** सर्पं दृष्ट्वा स्वभावात्तं प्रथमतो विसृज्य । पुत्रत्वान्नाऽन्यथा वचनं सम्भवति । प्रश्नमेवाऽऽह—**वत्सेति कृतमित्यन्तेन** । वाक्यद्वयम्—कस्माद्रोदिषि, केन वा तेऽपकृतमिति । विशेषकथने प्रयोजनाभावात्सङ्क्षेपेणाऽऽह—**सर्वमिति** ॥३८॥३९॥

व्याख्यार्थ—वे ऋषि कुलीन थे। वे शमीक ऋषि, अङ्गिरस गोत्र में उत्पन्न हुए थे। इससे उनका कुलीन तथा सहनशील होना सूचित हुआ है। सूत जी ने शौनक

को ब्रह्मन् का सम्बोधन देकर अन्य दूसरी शंकाओं से इन्हें मुक्त कर दिया। ब्रह्म से उत्पन्न हुए जन किसी भी स्थिति में कोई दूसरी प्रकार की बात अर्थात् मर्यादा विरुद्ध बात करते ही नहीं। बहुत ऊँचे स्वर से समाधि नष्ट हो जाती है, जैसे कोई स्वप्न टूट जाता हो, वैसी ही प्रक्रिया से उन्होंने अपने नेत्र धीरे-धीरे खोले तथा मृत सर्प को कन्धे पर पड़ा देखकर पहले स्वाभाविक रूप से उसे एक ओर हटा दिया। पुत्र होने से किसी अन्यथा प्रकार के वचनों के कथन करने की पिता द्वारा कोई सम्भावना नहीं है। अतः प्रश्न ही कर रहे हैं—कि हे पुत्र किसने तुम्हारा अपकार कर दिया है ? यहाँ पिता के द्वारा दो ही प्रश्न पूछे गये हैं अथवा दो ही वाक्य बोले गये हैं। पुत्र तुम क्यों रो रहे हो तथा किसने तुम्हारा बुरा कर दिया है। विशेष रूप से बात को खुलासा करके कहने में किसी विशेष प्रयोजन को न देखते हुए संक्षेप में ही ऋषि बालक ने सब घटना निवेदन कर दी ॥३८॥३९॥

आभास—तदा शमीकः शृङ्गिवचनं श्रुत्वा विचार्य न साधु कृतवानित्याह—

आभासार्थ—तब शमीक ऋषि ने शृंगी के वचनों को सुनकर उनका विचार किया और सोच लिया कि पुत्र ने यह कार्य उचित नहीं किया। इसी पर आगे कहते हैं—

श्लोक— **निशम्य शप्तमतदर्हं नरेन्द्रं**
स ब्राह्मणो नाऽऽत्मजमभ्यनन्दत्।
अहो बताऽहो महदज्ञ ते कृत-
मल्पीयसि द्रोह उरुर्दमो धृतः ॥४०॥

श्लोकार्थ— राजा के लिए शाप दिया जाना सुनकर उन मुनि ने पुत्र की प्रशंसा नहीं की। उन्होंने कहा, अरे पुत्र, तेने बहुत बड़े अज्ञान व पाप का कार्य कर दिया, जो राजा के इतने से अपराध पर बहुत बड़ा दण्ड दे दिया ॥४०॥

सुबोधिनी—**निशम्येति**। अयुक्तत्वे हेतुः-**नरेन्द्रमिति**। नन्वपराधिषु दण्ड एव कृतः। कुतो नाऽभ्यनन्दत्? तत्राऽऽह—**स ब्राह्मण इति**। '**ब्राह्मणाः क्षमयाऽर्हणतां गताः**'। क्षमाभावे ब्राह्मण्यमेव गच्छतीति भावः। ननु यथा राजा उपेक्षणीयस्तथाऽयमपि कुतो नोपेक्षितः? तत्राऽऽह— **आत्मजमिति**। अयमनुपेक्षणीयः। आत्मजत्वात्। "**अप्रतिषिद्धमनुमतं भवति**"ति न्यायेन तूष्णीम्भावेऽङ्गीकारे वा ""**न ब्रह्मदण्डदग्धस्ये**"ति न्यायेन राज्ञः परलोकोऽपि गच्छेत्। अतः

पितुरनुमत्या न कृतमिति शब्दार्थमात्रे सत्यता । न पर्यवसानतस्तथा फलमपि । पुत्रस्याऽपि मन्युं त्याजयति युक्तिभिः । अन्यथा तस्य दुर्मरणमेव स्यात् । अतो यथाऽस्याऽनुतापो भवति तथा वचनान्याह—**अहो इति** । राज्ञः शापः पुरुषार्थपञ्चकेनाऽपि विरुद्ध्यते । अतः स्वस्य पुरुषार्थ-पञ्चकहानिर्भविष्यतीति भयप्रदर्शनेनाऽनुतापजननम् । प्रथमतोऽधर्मः कृत इत्याह । **अहो** इत्या-श्चर्ये । **बतेति** खेदे । **ते कृतं महदंहः** । त्वया कृतं महत्पापरूपम् । परमज्ञानात् । अन्यथा प्रायश्चि-त्तमपि न स्यात् । तदेवाऽऽह । अल्पीयसि द्रोहेऽपराधे महान् दण्डः कृतः । पर्यवसाने विचार्यमाणे-ऽस्मास्वल्पोऽपराधः । आश्रमस्थ एकः सर्पो हतः । सर्पस्पर्शनञ्च स्नानहेतु कारितः । भयं च जनितं तव । तस्य तु प्राणा एव हृताः। न हि सर्पेण राज्ञस्तुल्यता भवति । न हि स्पर्शेन विषप्रा-प्तेस्तुल्यता । न ह्यापाततो भयेन निकटोपस्थितप्राणहारिमहाभयस्य । तस्माद्यथापराधदण्डाभा-वादधर्मः ।।४०।।

व्याख्यार्थ— मुनि ने ज्यों ही सुना कि पुत्र ने राजा को शाप दे डाला, तो उस कार्य को अयोग्य बताया । वह राजा था, राजा को ऐसा शाप दिया जाना ठीक नहीं हुआ । इसमें क्या ठीक नहीं हुआ ? अपराधी को दण्ड ही तो दिया, फिर पुत्र को क्यों नहीं सराहा ? वहाँ इस शंका का उत्तर देते हैं—कि वे ब्राह्मण हैं । "ब्राह्मण क्षमा के गुण से ही पूजनीय हुए हैं ।" क्षमा के अभाव में ब्राह्मणत्व रहता ही नहीं । तो जिस प्रकार राजा उपेक्षणीय था वैसे ही पुत्र की भी उपेक्षा कर देनी चाहिये थी, फिर क्यों नहीं की गई ? वहाँ कहते हैं, कि वह पुत्र था । वह अपने से उत्पन्न होने के कारण उपेक्षणीय नहीं था । "पुत्र निषेध न किये हुए को अनुमोदित करता है, अस्तु अनुकूल होता है" । इसलिए शान्त भाव से उसे स्वीकार कर लिया । "ब्रह्म दण्ड से जले हुए को नर्क के प्राणी भी दया भाव से नहीं देखते", इस न्याय से राजा का परलोक भी जाता रहा । इसलिए पिता को आज्ञा से कार्य न किया जाने के कारण केवल शब्दों के अर्थों की ही सत्यता रहेगी । राजा को परलोक सम्बन्धी कष्ट नहीं सहना पड़ेगा । अब मुनि पुत्र के क्रोध को युक्ति से शान्त कर रहे हैं । अन्यथा उसका भी मरण दोष पूर्ण ढंग से हो । अतः जिससे पुत्र में पश्चात्ताप हो वैसे वचन कहते हैं, कि अहो पुत्र तेने यह क्या कर डाला ? अरे, राजा को शाप देना तो पाँचों पुरुषार्थों के विरुद्ध है । अतः अब तेरे पाँच पुरुषार्थ जाते रहे । ऐसे भय से उसमें पश्चात्ताप पैदा किया है । यह तो पहले ही कहा जा चुका कि तेने महापाप किया है । 'अहो' शब्द अचम्भे को बताने वाला है । 'बत' शब्द खेद को बताता है । तेने बहुत बड़ा पाप कर दिया है । परन्तु यह कार्य तुमने ना समझी में किया है । समझदारी में किया होता तो प्रायश्चित भी नहीं होता । उसे कहते हैं, कि तेने थोड़े

से अपराध का बहुत बड़ा दण्ड दे डाला। परिणाम स्वरूप तुम विचार करके देखो, कि उसने हमारा अपराध ही कितना सा किया है। हमारे आश्रम के एक साँप को ही तो उसने मारा और मुझसे उसका स्पर्श करा दिया, सो तो स्नान करने से स्पर्श दोष समाप्त हो जायेगा। बस इतनी सी बात पर ही तेने उसे भय उत्पन्न कर दिया। उस बेचारे के प्राण ही हरण कर लिये। एक सर्प से राजा की तुलना तुम्हें नहीं करना चाहिये था। सर्प के स्पर्श मात्र से जहर व्याप्त हो जाने की भी कोई समानता नहीं होती। ऊपरी तौर के भय से निकट उपस्थित प्राण हरण के महा भय की स्थिति नहीं की जानी चाहिये थी। जैसा अपराध राजा ने किया था, उसकी तुलना में राजा को मृत्यु का शाप देने का तेने महान् अधर्म किया है ।।४०।।

आभास—नन्वस्माभिस्तुल्यमेव कृतम् । मारणे मारणं सर्पस्पर्शे सर्पस्पर्शो भये भयमिति ? तत्राऽऽह—

आभासार्थ—यदि ऋषि बालक शृंगी के मन में यह बात आवे, कि हमने तो तुलनात्मक दण्ड ही दिया। सर्प मारने पर मरने का शाप, सर्प से स्पर्श कराने पर तक्षक सर्प का स्पर्श और भय के स्थान पर भय प्रदान किया है, इसमें अनुचित क्या हो गया ? वहाँ कहते हैं–

श्लोक—**न वै नृभिर्नरदेवं पराख्यं सम्मातुमर्हस्यविपक्वबुद्धे ।**
यत्तेजसा दुर्विषहेण गुप्ता विन्दन्ति भद्राण्यकुकोभयाः प्रजाः ।।४१।।

श्लोकार्थ—हे कच्ची बुद्धि वाले बालक, जिस राजा का नाम पर है, उसे तुम्हें मनुष्यों के समान नहीं मानना चाहिये। कारण की जिसके असह्य तेज से रक्षित प्रजा भय रहित हुई, कल्याणों को प्राप्त करती है ।।४१।।

सुबोधिनी—**न वै नृभिरिति**। हे अविपक्वबुद्धे ! न हि पदार्थानां तुल्यता वर्त्तते। मनुष्यैरेव राजा तुल्यो न भवति किं पुनः क्षुद्रजीवैः। ननु ब्रह्मविदां नैवं वचनं युक्तम् ? "**शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिन**" इति वाक्यात्। तत्राऽऽह—**पराख्यमिति**। इदं त्वक्षरविचारेण जीवेषु ब्रह्म तुल्यमित्युक्तम्। न तु भगवता सह जीवानां तुल्यता। भगवतो गुणावतारत्वाद् ज्ञः। "**स्थानेऽथ धर्ममखमन्वमरावनीशा**" इति वाक्यात्। "**ना विष्णुः पृथिवीपतिरि**"ति च। नन्वेतद्भाक्तं सम्माननार्थमुक्तमिति चेत् ? तत्राऽऽह—**यत्तेजसेति**। यस्य राज्ञस्तेजसा दुर्विषहेण चौरादिभिरसह्येन संरक्षिताः प्रजा अकुतोभयाः सत्यः कल्याणानि विन्दन्ति। जीवानां सर्वत्र

समत्वाद्राजनि यत्तेजो या वा आज्ञाशक्ति: स्वरूपमात्रेणैव सर्वेषां भयनिवर्त्तनमेते न जीवधर्मा:। अतो नोपचार इत्यर्थ: ।।४१।।

व्याख्यार्थ—राजा सामान्य मानव नहीं होता। हे कच्ची बुद्धि वाले राजा की पदार्थों से तुलना नहीं होती। राजा मनुष्य के समान नहीं होता, फिर छोटे-मोटे जीवों से तो समानता वाली बात ही क्या? ब्रह्म को जानने वालों के लिए ऐसे वचन ठीक हैं। ग्रन्थ वाक्य तो ये हैं, कि "जो कुत्ते और चाण्डाल में समान भाव रखता है, वही पण्डित है।" वहाँ कहते हैं कि, राजा का नाम 'पर' है। यहाँ अक्षर ब्रह्म के विचार से जीवों में ब्रह्म की समानता कही गई है। वास्तव में देखा जाय तो भगवान् के साथ जीव की क्या बराबरी? अर्थात् जीव भगवान् के तुल्य नहीं है। राजा भगवान् का गुणावतार होता है। "इन स्थानों में धर्म, यज्ञ, मनु, देवता और राजा ये भगवान् के अवतार रूप हैं।" ये भी वाक्य हैं, कि "पृथ्वी का पति राजा विष्णु रूप होता है।" यह वाक्य, केवल राजा का सम्मान करने के लिए यों ही कह दिया गया हो, ऐसा नहीं है। वहाँ कहते हैं—कि राजा तेजस्वी होता है। जिस राजा के असह्य तेज द्वारा दुष्ट चोरों से प्रजा की सब प्रकार रक्षा होती है. और प्रजा निर्भय हुई सत्य रूप से कल्याणों को प्राप्त करती है। जीवों की सब जगह समानता होने से, राजा में जो तेज या आज्ञा शक्ति देखी जाती है, वह स्वरूप मात्र से ही सब का भय दूर कर देती है, ये धर्म जीव में नहीं होते। अत: राजा का विशिष्ट होना या भगवत् तुल्य होना कोई औपचारिक बात नहीं है, यह अर्थ हुआ ।।४१।।

आभास—एवमधर्मकरणेन धर्मविरोध उक्त:। अर्थविरोधमाह—

आभासार्थ—इस प्रकार अधर्म करने से धर्म का विरोध कहा गया है। अब अर्थ के विरोध को कहते हैं—

श्लोक—**अलक्ष्यमाणे नरदेवनाम्नि रक्षाङ्गपाणावयमङ्ग लोक:।**
तदा हि चौरप्रचुरो विनङ्क्ष्यत्यरक्ष्यमाणोऽविवरूथवत्क्षणात् ।।४२।।

श्लोकार्थ—जिनका नाम नरदेव है, ऐसे चक्रपाणि भगवान् के न दिखाई देने पर यह लोक अत्यधिक चोरों से युक्त हो जाता है, और तब इस लोक की रक्षा न

होने पर यह भेड़ों के झुंड की तरह तत्क्षरण नाश को प्राप्त हो जाता है ।।४२।।

सुबोधिनी—अलक्ष्यमाण इति । एकस्मिन्नपि दिवसे राजन्यलक्ष्यमाणे अपश्यति (?) सति । **नरदेव इति** नाममात्रम् । वस्तुतस्तु स चक्रपाणिः । तदाह । **अङ्ग** । पदार्थज्ञानमस्य भवत्वित्या-ग्रहपरित्यागेन श्रवणार्थं कोमलसम्बोधनम् । तस्य स्वरूपमात्रादर्शने अयं लोकश्चौरप्रचुरो भवति । प्रायेण सर्वे चौरा एव भवन्ति । विनश्यन्ति च । बुद्धिभ्रंशश्च भवतीत्याह । क्षणादेव मेषसमूहवत् पालकाभावे सर्वतो गत्वा नश्यन्तीत्यर्थः । अतः सर्वेषामर्थनाशादर्थविरोधः ।।४२।।

व्याख्यार्थ—राजा के न होने पर अराजकता फैल जाती है । यदि एक दिन भी राजा न दिखाई दे तो सब अनर्थ हो जाते हैं । राजा का नाम नर-देव होना तो कोई विशेष उपाधि वाली बात नहीं है । वास्तव में तो वह चक्रपाणि है । राजा चक्र-धारण करने वाले विष्णु ही हैं । इसलिये, यहाँ पुत्र को 'अंग' का सम्बोधन दिया है । पदार्थ ज्ञान होने के आग्रह को छोड़कर सुनने की स्थिति में लाने के लिये यहाँ 'अंग' का कोमल सम्बोधन दिया गया हैं । उस के स्वरूप के भी न दिखाई देने पर यह लोक बहुत सारे चोरों से भर जाता है । यों कहिये कि प्रायः सभी चोर हो जाते हैं, जिससे विनाश की स्थिति उत्पन्न हो जाती है । सभी की बुद्धियाँ भ्रष्ट हो जाती हैं। पालन करने वाले पालक के अभाव में सारी प्रजा भेड़ों के समूह के समान तितर-बितर होकर नाश को प्राप्त हो जाती है । अतः सभी के अर्थ का नाश होने से यहाँ अर्थ का विरोध सिद्ध हुआ ।।४२।।

आभास—ननु तेषामर्थविरोधे का नो हानिः ? तत्राऽऽह—

आभासार्थ—उन के अर्थ का विरोध हो जाने से अपनी क्या हानि हुई ? उस पर कहते हैं—

श्लोक—**तदद्य नः पापमुपैत्यनन्वयं यन्नष्टनाथस्य वसोर्विलुम्पकात् ।**
परस्परं घ्नन्ति शपन्ति वृञ्जते पशून् स्त्रियोऽर्थान् पुरुदस्यवो जनाः ।।४३।।

श्लोकार्थ—आज, अपने लिये अकारण हो पाप आ लगा है, कि अपने (शाप के) कारण राजा के नष्ट हो जाने पर, धन को चुराने वाले चोर परस्पर प्रजा को मारते हैं, गाली देते हैं तथा पशु धन एवं स्त्रियों का ये दस्यु (डाकू) अपहरण कर लेते हैं ।।४३।।

सुबोधिनी—तदद्येति । तस्माद्धेतोरद्य पापमनन्वयमुपैति । अस्मान् प्रति निष्कारणमेवाऽ-

स्माभिरकृतमेव पापमुपैति । ननु कथमकारणमुपैति । अन्यथा सर्वदैव स्यात् ? तत्राऽऽह—**यन्नष्टनाथस्येति** । यस्मादस्मन्निमित्तं नष्टो नाथो यस्य लोकस्य तस्य यद्वसु तस्य विलुम्पकाच्चौरान्निमित्तात्। यद्यपि साक्षादस्माभिर्न कृत तथाप्यस्मत्कृतेन कार्येण तथा जातमिति पापसम्बन्धः। न केवलमर्थनाश एव किन्तु कामनाशोऽपीत्याह—**परस्परमिति** । अन्योन्यमेव **घ्नन्ति** मारयन्ति **शपन्ति** गालीः प्रयच्छन्ति स्त्र्यादिपदार्थान् **वृञ्जते** अपहरन्ति ।।४३।।

व्याख्यार्थ—उस शाप देने के हेतु से आज पापों का समूह अपने पास चला आया है। यद्यपि हमने कोई पाप नहीं किया है, तदपि बिना कारण ही वह आ गया है । वह अकारण ही क्यों चला आया है ? यदि पाप अकारण ही चला आता हो तो ऐसा फिर हमेशा ही होना चाहिये, कि बिना बात ही सभी को पाप लगा करे । वहाँ इसे स्पष्ट करते हैं–कि प्रजा के स्वामी के नष्ट होने पर, यह पाप आया है । उस राजा परीक्षित् की मृत्यु में हमारे द्वारा दिया गया शाप ही तो कारण है, इसलिये स्वामी के नाश के हमीं निमित्त बने हैं । अब उसकी प्रजा के धन को चौर चुराएँगे । माना, कि यह पाप हमने प्रत्यक्ष रूप से नहीं किया, परन्तु हमारे शाप-कार्य के द्वारा यह पाप सम्बन्ध हम से हो गया । केवल धन का ही नाश होगा, बात इतने पर ही आकर नहीं ठहरती, वरन् काम का भी नाश होगा । इसे कहते हैं, कि परस्पर मार-काट मचेगी । शासक के न होने पर प्रजा अराजक हो जाती है । लोग एक दूसरे को मारते हैं, गालियाँ देते हैं तथा स्त्री आदि पदार्थों का अपहरण कर लेते हैं । (परीक्षित् के अभाव में यह सब कुछ होगा और इन सब का पाप प्रकारान्तर से हमें ही लगेगा) ।।४३।।

आभास—प्राणिनः सर्वस्वं त्रयम्। पशवः स्त्रियोऽर्थाश्च। भूम्यादीनामेतत्साधकत्वम् एतदभावे सर्वमेव कामेनोपभोग्यं नश्यतीत्याह—

आभासार्थ—प्राणियों के लिये तीन वस्तुयें सर्वस्व मानी जाती हैं, पशु, स्त्री और धन । भूमि आदि तो इन वस्तुओं की साधक मात्र हैं । इन तीनों वस्तुओं के अभाव में इच्छाओं द्वारा उपभोग में लायी जाने वाली सभी वस्तुयें नष्ट हो जाती हैं, इसे आगे कहते हैं—

श्लोक—**तदार्यमर्मश्च विलीयते नृणां वर्णाश्रमाचारयुतस्त्रयीमयः ।**
ततोऽर्थकामाभिनिवेशितात्मनां शुनां कपीनामिव वर्णसङ्करः ।।४४।।

श्लोकार्थ—तब मनुष्यों में से आर्य (श्रेष्ठ) धर्म नष्ट हो जाता है। वर्ण और आश्रम के आचार युक्त वेद धर्म के नष्ट हो जाने पर, केवल अर्थ और काम में हो जिनका मन लग गया है, ऐसी कुत्तों और बन्दरों के समान वर्ण संकर संतानें मनुष्यों में होने लगेंगी ।।४४।।

सुबोधिनी—तदार्यधर्मश्चेति। आर्याणां सतां धर्मः सदाचारलक्षणः सामान्यरूपः। स एव वर्णाश्रमसहितो विशेषरूपः। स एव पुनर्वेदत्रये प्रतिपाद्यो यज्ञरूपः। एतावता धर्मो नष्ट इत्युक्तम्। किमतो यद्येवम्? तत आह—**तत इति**। ऐहिकं त्रयमेव धर्मार्थकामाख्यम्। तत्र धर्मे गते अर्थकामाभिनिविष्टा एव भवन्ति। ततश्चाऽधर्महेतुर्वर्णसङ्करो भवति। निर्लज्जोपभोगो दुःखादिनाऽभिभूतश्चेति शुनां दृष्टान्तः। तेषामानुपूर्व्या अप्रसिद्धत्वात्पुरुषद्वयेऽप्येकोऽन्वयो न स्यात्। ततश्च सङ्करधर्मा अपि गच्छेयुः। किञ्च। वानरा वृक्षजीविकया जीवन्तो मातृभगिनीविवेकरहिता बुद्धिमन्तोऽप्येकस्यां शतं प्रवर्तन्ते। तत एकस्मिन्नपि पुरुषे वर्णत्वं नास्ति। ग्राम्यारण्यपशूपलक्षकं दृष्टान्तद्वयम्। तस्मात्समूलः कामो गच्छतीत्युक्तम् ।।४४।।

व्याख्यार्थ—वह आर्य धर्म नष्ट हो जायेगा। सदाचार के लक्षणों वाला सामान्य रूप से सारी ही प्रजा में प्रचलित सज्जनों का धर्म विलीन हो जायेगा। वह धर्म वर्ण और आश्रम की व्यवस्था से विशेष रूप वाला है। वह धर्म यज्ञ के रूप में तीन वेदों में प्रतिपादित किया गया है। इस प्रकार का धर्म नष्ट होगा, यह कहा हैं। ऐसा होने से क्या होगा? तो कहते हैं—कि यहाँ धर्म, अर्थ और काम तीनों की ही व्यवस्था है। जब इन तीनों में से धर्म निकल जायेगा तो लोग अर्थ और काम को ही प्रधानता देते हुये उसमें ही लीन हो जायेंगे। अर्थ और काम में मन आसक्त होने पर अधर्म के कारण रूप वर्णसंकर लोग पैदा होने लगेंगे। निर्लज्जता पूर्वक उपभोग करने वाले, दुःसंग आदि से युक्त हुये मनुष्यों के लिये कुत्तों का दृष्टान्त दिया है। उन का वंशानुक्रम भी प्रसिद्ध नहीं होगा। दो पुरुषों में भी वंश परम्परा की समानता नहीं होगी। जब यही पता नहीं रहेगा कि कौन किसका पिता है और कौन किसकी माता है तो वर्णसंकर धर्म भी चला जायेगा। अधिक कहने से क्या? वृक्ष से जीवन धारण करने वाले वानरों के समान बुद्धिमान् मनुष्य भी एक ही स्त्री में सैंकड़ों पुरुषों द्वारा भोग करने से, माता-बहिन आदि के विवेक से रहित हो जायेंगे। तब एक भी पुरुष का वर्ण नहीं रहेगा। गाँव और जंगल में रहने वाले पशुओं के माध्यम से दो दृष्टान्त दिये गये हैं। गाँव के (सभी मानव बस्तियों का प्रतिनिधि शब्द) लोगों के लिये कुत्ते का और वन में रहने वाली

जातियों के लिये वानरों का उदाहरण दिया गया है। इसलिये इन सब के मूल में जो काम है वह नष्ट होना चाहिये, यह कहा गया है ।।४४।।

आभास—एवं परम्परया दोषमुक्त्वा साक्षाद्दोषमाह—

आभासार्थ—इस प्रकार परम्परा से दोषों को कहकर अब साक्षात् दोषों को कहते हैं—

श्लोक—**धर्मपालो नरपतिः स तु सम्राड् बृहच्छ्रवाः ।**
साक्षान्महाभागवतो राजर्षिर्हयमेधयाट् ।
क्षुत्तृट्श्रमयुतो दीनो नैवाऽस्मच्छापमर्हति ।।४५।।

श्लोकार्थ—वे सम्राट् परीक्षित विख्यात यश वाले धर्म का पालन करने वाले, भगवान् के महान् भक्त, राजर्षि और अश्वमेघ यज्ञ करने वाले थे। भूख व प्यास से व्याकुल हुये और थके हुये व दीन स्थिति में पड़े हुये वे राजा हम से शाप पाने योग्य किसी भी प्रकार नहीं थे ।।४५।।

सुबोधिनी—धर्मपाल इति। एकैकोऽपि गुणोऽस्माभिः सर्वात्मना पूज्यः। अस्य तु सर्वे गुणाः। धर्ममार्गेणाऽयं पूज्यः। तदाह **धर्मपाल इति**। नीतिमार्गेणाऽप्ययं पूज्यः-**नरपतिरिति**। कामार्थमप्ययं पूज्यः—**सम्राडिति**। साम्राज्यश्रिया जुष्टः सर्वं दातुं समर्थ इति। प्रसिद्धिरपि पूजाहेतुः। तदाह-**बृहच्छ्रवा इति** बृहत् श्रवः कीर्त्तिर्यस्य। भक्तिमार्गेणाऽप्ययं पूज्यः—**साक्षान्महाभागवत इति**। अन्ये तु गुरुद्वारा भगवताऽङ्गीकृता महाभागवता भवन्ति। अस्य तु भगवानेव गुरुः। अतः साक्षान्महाभागवतत्वम्। वैदिकविचारेणाऽप्ययं पूज्यः। वेदार्थपालकत्वान्मन्त्रद्रष्टृत्वाच्च। तदाह—**राजर्षिरिति** कर्मणाऽप्ययं पूज्यः-**हयमेधयाडिति**। हयमेधेनेष्टवान्। किञ्च। धर्मादिविचारव्यतिरेकेणाऽपि केवललौकिकविचारेणाऽपि पूज्यः। तदाह-**क्षुत्तृट्श्रमयुत इति**। ते पूर्वमुक्ता योगाज्ज्ञाताः। विशुष्यत्तालुत्वाद्दीनः। एवं सर्वप्रकारेण पूज्यः शापं नाऽर्हति। तस्मात्पूज्यपूजाव्यतिक्रमादधर्मः। दोषैकदर्शनान्नीचत्वं च जातमित्यर्थः ।।४५।।

व्याख्यार्थ—राजा परीक्षित् धर्म का पालन करने वाले हैं। उनका एक-एक गुण भी हमारे द्वारा सम्पूर्णतया पूरो निष्ठा के साथ पूजा करने योग्य है। इन में तो सभी गुण हैं। धर्म मार्ग से ये पूज्य हैं। उसे कहते हैं-कि वे धर्म का पालन करने वाले हैं। नीति मार्ग से भी ये पूज्य हैं, क्यों कि ये नरपति है। काम द्वारा भी पूज्य हैं, क्योंकि सम्राट् हैं, साम्राज्य के वैभव से सब की इच्छाओं को दान देकर रा करते

हैं। ये प्रसिद्ध हैं, अतः पूजा योग्य हैं। उसे कहते हैं-कि वे बृहच्छ्रवा हैं। अर्थात् जिन की कीर्त्ति को बहुतों ने सुना है। भक्ति मार्ग से भी ये पूज्य हैं-साक्षात् महाभागवत हैं। दूसरे लोग तो गुरुद्वारा भगवान् से अंगीकार किये हुये महाभागवत होते हैं, परन्तु इन के तो भगवान् ही गुरु हैं। इसलिये साक्षात् महाभागवत हैं। वैदिक आचरण से भी ये सम्मान के योग्य हैं, क्योंकि ये वेद के अर्थ का पालन करने वाले तथा मन्त्र का प्रत्यक्ष दर्शन करने वाले हैं, वेदार्थ की रहस्यात्मक विचार सरणी की अनुभूति वाले हैं। अतः ये राजर्षि हैं। कर्म मार्ग की दृष्टि से भी ये आदरणीय हैं—क्योंकि इन्होंने अश्वमेघ यज्ञ किये हैं। इनके विषय में अधिक क्या कहा जाय? ये सर्वगुण सम्पन्न हैं। यदि धर्म की दृष्टि से आदरणीयता का विचार नहीं भी किया जाय, तो भी केवल लौकिक विचार से भी राजा पूज्य हैं। उसे कहते हैं-कि वे भूख, प्यास व थकान से युक्त थे। ये सारी पहले कही गई बातें मुनि शमीक ने योग से जानली थीं। तालु सूख जाने से राजा दीन हो गया था। इस प्रकार से सब तरह से पूजनीय राजा शाप पाने के योग्य नहीं था। पूजनीय का पूजन न किये जाने से अधर्म हो गया। राजा का केवल एक दोष देखने से ही अपने में नीच पना आगया, यह अर्थ हुआ ॥४५॥

आभास—किञ्च। भक्तद्रोहे भगवान् क्रुद्धयति। तेन सर्वनाशो भविष्यतीति भीतः सन् भगवन्तं प्रार्थयते—

आभासार्थ—अधिक क्या कहना? भक्त का द्रोह करने से भगवान् क्रोधित हो जाते हैं। अब उससे हमारा सर्वनाश हो जायेगा, इस भय से भगवान् की प्रार्थना करते हैं—

श्लोक—**अपापेषु स्वभृत्येषु बालेनाऽपक्वबुद्धिना।**
पापं कृतं तद्भगवन् सर्वात्मा क्षन्तुमर्हसि ॥४६॥

श्लोकार्थ—आप के पाप रहित भक्तों में इस बालक ने कच्ची बुद्धि होने के कारण जो पाप कर दिया है, हे भगवान्, आप सब के आत्मा होने से क्षमा दान देने के योग्य हैं ॥४६॥

सुबोधिनी—अपापेष्विति। हे भगवन्! **स्वभृत्येषु** तव भृत्येषु। पाल्यभृत्येषु वा। विचा-

र्यमाणे अपापेषु । **अपक्वबुद्धिना** अदूरदर्शिना । "**न वै शिशूनां गुणदोषयोः पदमि**"ति ज्ञापनार्थमाह—**बालेनेति** । पापं शापरूपम् । क्षमायां हेतुः—**सर्वात्मेति** । सर्वेषामेव त्वमात्मा । अतः स्वकीयपरकीयकृतवैषम्याभावः । ननु ब्राह्मणानां किं भयम् ? तत्राऽऽह—**भगवानिति** । अनेन मोक्षविरोध उक्तः ।।४६।।

व्याख्यार्थ—जो आपके निष्पाप भक्त हैं, आप द्वारा पालन किये जाने वाले दास हैं, विचार करने पर वस्तुतः जो पाप से रहित हैं, हे भगवान्, आप इस दूर तक विचार कर सकने की क्षमता से हीन बालकों को क्षमा कर दीजिये । "बालक में गुण-दोष का विश्लेषण करने की बुद्धि नहीं होती," यह बताने के लिये यहाँ बालक शब्द का प्रयोग हुआ है । इससे शाप देने रूप पाप बन गया है क्षमा करने में कारण बताते हैं–कि आप सभी के आत्मा हैं, अतः भेद दृष्टि से रहित हैं । इसलिये यह अपना है तथा यह पराया है, यह विषम भाव आप में नहीं है । ब्राह्मणों को इससे क्या भय है ? वहाँ कहते हैं–कि वे भगवान् हैं । भक्तों के विरोधियों पर कुपित हो जाते हैं, जिससे मोक्ष प्राप्त होने में विरोध उत्पन्न हो जाता है, यह बताया गया है ।।४६।।

आभास—भक्तिविरोधं वदन् तेनाऽपि शापे दत्ते समः समाधिर्भविष्यतीत्याशङ्कां परिहरति—

आभासार्थ—भक्ति का विरोध बताते हुए कहते हैं, कि शाप के बदले शाप दिया जाकर उसका समाधान हो जायेगा; इस शंका का परिहार करते हुए कहते हैं—

श्लोक—**तिरस्कृता विप्रलब्धाः शप्ताः क्षिप्ता हता अपि ।**
नाऽस्य तत्प्रतिकुर्वन्ति तद्भक्ताः प्रभवोऽपि हि ।।४७।।

श्लोकार्थ—तिरस्कार किये गये, धोखा खाये हुए, शाप दिये गये, अवज्ञा किये गये तथा ताड़ना देने पर भी उन भगवान् के भक्त सब कुछ करने में समर्थ होते हुए भी, अपने प्रति किये गये इन सभी अपराधों का बदला नहीं लेते ।।४७।।

सुबोधिनी—**तिरस्कृता इति** । अपि गालिदानादिभिस्तिरस्कृता । वक्रोक्त्या **विप्रलब्धा** वञ्चिताः । शप्ता इदानीमेव । **क्षिप्ता** अधिक्षिप्ताः । हतास्ताडिताः । गुणक्रियास्वरूपाहङ्कारदेहनाशेऽपि न प्रतीकारं कुर्वन्तीत्यर्थः । प्रतिकूलतया करणं तु दूरापास्तम् । तत्र हेतुः—**तद्भक्ता इति** । अत एव समर्था अपि । हि युक्तोऽयमर्थः । शक्तौ क्षमाया उचितत्वात् ।।४७।।

व्याख्यार्थ—तिरस्कृत होने पर भी भक्त प्रतीकार नहीं करते। चाहे उन्हें गाली देकर अपमानित किया जावे, या कुटिल वचनों से उन्हें ठगा जावे; इस समय जो शाप दिया गया है, उसी प्रकार शाप दिया जावे अथवा किसी प्रकार से उन्हें अधिक्षिप्त (निन्दित) किया जावे या मारा जावे, वे भगवान् के दास गुण, क्रिया, अहंकार तथा देह के नाश का भी निवारण, अथवा प्रतिकार नहीं करते। किसी के प्रति "जैसे को तैसा" करने की भावना तो उनसे बहुत दूर रहती है। उसमें कारण कहते हैं कि वे भगवान् के भक्त होते हैं। अतः प्रतीकार करने में समर्थ होते हुए भी, वैसा नहीं करते। 'हि' अव्यय का प्रयोग अर्थ के उचित होने का प्रतिपादन करता है। शक्ति में क्षमा से युक्त होना उचित कहा गया है ॥४७॥

आभास—एवं पितुरनुतापनिरूपणेन राज्ञो निर्दुष्टत्वं निरूप्य सदुष्टस्य सदुष्टानुमोदनं युक्तमेवेतीमामाशङ्कां परिहर्तुमृषिं स्तौति—

आभासार्थ—इस प्रकार पिता का पश्चात्ताप निरूपण करते हुए और राजा परीक्षित् का निर्दोषपना बताते हुए; एक दोषी द्वारा दूसरे दोषी का अनुमोदन करना ठीक ही है, ऐसी आशंका का परिहार करते हुए, श्री सूतजी, ऋषि शमीक की स्तुति करते हैं—

सूत उवाच– श्लोक—**इति पुत्रकृताघेन सोऽनुतप्तो महामुनिः।**
स्वयं विप्रकृतो राज्ञा नैवाऽघं तदचिन्तयत् ॥४८॥

श्लोकार्थ—इस प्रकार पुत्र द्वारा किये गये पाप से वे महामुनि पश्चात्ताप युक्त हो उठे। राजा द्वारा स्वयं का अपराध किये जाने पर भी, उन्होंने उसका अपराध सोचा तक नहीं ॥४८॥

सुबोधिनी—**इतीति** अन्यकृतेनाऽपि पापेन सोऽनुतप्तो जातः। तत्र हेतुः—**महामुनिरिति**। भगवताऽप्यनुचितं ज्ञातमिति भगवद्धृदयपरिज्ञानान्महामुनित्वम्। किञ्च। सर्पस्थापनेन स्वयं राज्ञा विप्रकृतस्तदपराधं मनसाऽपि न स्मृतवान्। अतः परम्परयाऽपि पापभीरुत्वाद्भगवद्धृदयज्ञानाद्दोषादर्शित्वाच्च महान् मुनिः ॥४८॥

व्याख्यार्थ—इस प्रकार पाप तो किया पुत्र ने और अनुताप हुआ पिता को। अन्य के द्वारा किये हुए पाप से भी वे मुनि इतना अधिक पश्चात्ताप करने लगे।

वहाँ कारण बताते हैं—कि वे महामुनि थे, क्योंकि भगवान् ने भी इस कृत्य को अनुचित माना है, इस प्रकार वे भगवत् हृदय की बात जान गये थे, यही उनका महामुनित्व था। इससे अधिक और क्या कहा जा सकता है ? कि राजा ने मुनि के कन्धे पर सर्प रखने का पाप किया और मुनि ने उसके अपराध को मन से भी नहीं सोचा। अतः परम्परा से भी पाप से डरने वाले होने के कारण, भगवान् के हृदय का ज्ञान होने से उन्हें अपने में ही दोष दिखाई दिया, इसीलिए वे महामुनि कहलाये ॥४८॥

आभास—उभयोस्तुल्यतयोपसंहरति—

आभासार्थ—महामुनि शमीक तथा महाराज परीक्षित्, इन दोनों को समानता बताते हुए, अब उपसंहार करते हैं—

श्लोक—**प्रायशः साधवो लोके परैर्द्वन्द्वेषु योजिताः।**
न व्यथन्ति न हृष्यन्ति यत आत्माऽगुणाश्रयः ॥४९॥

श्लोकार्थ—लोक में प्रायः यह देखा जाता है, कि दूसरे (असत् पुरुष), साधु पुरुषों को हर्षशोकादि द्वन्द्व में जोड़ देते हैं। परन्तु वे साधु पुरुष न तो दुःखी होते हैं और न ही प्रसन्न होते हैं; क्योंकि आत्मा, इन गुणों का आश्रय-स्थल नहीं होता ॥४९॥

सुबोधिनी—**प्रायश इति। साधवो,** राजा मुनिश्च प्रकृते। सामान्यतस्तु सर्वे। **लोके** सर्वत्रैव। **परैरसाधुभिः।** तदानीं तेन राज्ञा ऋषिबालकेन च। साधारण्ये त्वन्यैः। **द्वन्द्वेषु** सुखदुःखादिषु योगं प्रापिताः। दुःखेषु योजिता न व्यथन्ति। सुखे च योजिता न हृष्यन्ति। तस्माद्यदेतयोः पश्चात्क्षोभाभावस्तद्युक्तमेव। तत्रोपपत्तिमाह—**यत आत्माऽगुणाश्रय इति।** गुणा हर्षादयः। तेषामाश्रयोऽन्तकरणमेव। त त्वात्मा। अतस्तेषामन्तःकरणाध्यासाभावात्क्षोभाभाव उचित इति भावः। ४९॥

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मज श्रीवल्लभदीक्षित-
विरचितायां प्रथमस्कन्धेऽष्टादशोऽध्यायः ॥१८॥

व्याख्यार्थ—प्रायः लोक में यह प्रवृत्ति देखी जाती रही है, कि असज्जन सज्जनों को कष्ट में डाल देते हैं। यहाँ 'साधु' शब्द, राजा परीक्षित् तथा मुनि शमीक की

प्रकृति के विषय में प्रयोग किया गया है । यों तो सामान्यतया सभी के लिये प्रयुक्त हुआ है, परन्तु प्रसंगानुसार राजा और मुनि के लिये विशेष रूप से प्रयोगित किया गया है । लोक में सभी स्थानों पर असाधुओं के द्वारा साधुओं को कष्ट की स्थिति में डाला जाता है । उस समय राजा के द्वारा शमीक मुनि तथा ऋषि बालक द्वारा राजा को इस परिस्थिति में डाल दिया गया था । साधारणतया अन्यों के द्वारा भी ऐसा ही कर दिया जाता है, कि दुष्ट लोग सन्तों को पीड़ा पहुँचाते हैं तथा उन में निष्ठा रखने वाले उन्हें हर्ष की परिस्थितियाँ प्रदान करते हैं । परन्तु दुःखों में जोड़े जाने पर साधु पुरुष दुःखी नहीं होते और सुखों के साथ जोड़े जाने पर हर्ष को प्राप्त नहीं होते । अतः साधुओं में क्षोभ (विचलन-मन की डाँवा डोल स्थिति) नहीं होता, यह उचित ही कहा गया है । वहाँ इस बात का प्रमाण देते हैं, कि "आत्मा, गुणों का आश्रय नहीं होता" । हर्ष आदि गुण कहलाते हैं । उन का आश्रय अन्तः करण ही होता है, न कि आत्मा । अतः उन ऋषि तथा राजर्षि परीक्षित् दोनों में ही अन्तः करण के अध्याय वाली स्थिति न होने से क्षोभ का अभाव होना उचित है, यह भाव हुआ ।।४६।।

इति श्रीमद्भागवत महापुराण, प्रथमस्कन्ध के १८वें अध्याय की
श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण कृत श्री सुबोधिनी (संस्कृत टीका)
के 'उत्तमाधिकार प्रकरण' का बारहवां अध्याय
हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण

—❀❀—

इस अध्याय की कथा का सार

सन्दर्भ—**१७ वें अध्याय में राजा परीक्षित् को कलियुग ने अपने रहने के स्थान के विषय में जब पूछा तब उसको स्थान बताने तथा आगे की कथा का सार सूर-सागर से निम्न प्रकार से उद्धृत ।**

जौन ठौर मोहि आज्ञा होई । ताही ठौर रहौ मैं जोइ ।। कही हरि विमुखऽरु वैस्या जहाँ । सुरापान बधिकनि गृह तहां ।। जूआ खेलत जहाँ जुआरी । ये पाँचौ है ठौर तुम्हारी ।। पाचौ होहिं नृपति ये जहां । मोको ठौर बतावहु तहां ।। तब नृप ताकौ कनक बतायो । कनक मुकुट सो वह लपटायो ।। इक दिन राय आखेट हि गयौ ।

ता बन माहिं पियासौ भयौ ।। रिषि समीप कैं आस्रम आयौ । रिषि हरि-पद सौं ध्यान लगायौ ।। राजा जल ता रिषि सौ मांग्यो । ताकौ मन हरि-पद सौं लाग्यौ ।। राजा कौ उत्तर नहिं दियौ । तब मन माहिं क्रोध तिन कियौ ।। यह सब कलिजुग कौ परभाउ । जो नृप कैं मन भयउ कुभाउ ।। रिषि की कपट-समाधि विचारी । दियौ भुजंग मृतक गर डारि ।। रिषि समाधि महँ त्यौंही रह्यौ । सृंगी रिषि सौं लरिकनि कह्यौ ।। सृंगी रिषि तब कियौ बिचार । प्रजा-दोष करैं नृपति गुहार ।। नृपति दोष कहियै किहिं जाइ । दियौ शाप तिहिं तच्छक खाइ ।। दै करि साप पिता पहँ आयौ । देख्यौ सर्प पिता-गर नायौ ।। रोवन लग्यौ मृतक सौ जान । रुदन सुनत छूट्यो रिषि ध्यान ।। सुत सौं कह्यौ कहा भयौ तोहि । क्यौं न सुनावत निज दुख मोहिं ।। सृंगी रिषि तब कहि समुझायौ । नृप भुजंग तब ग्रीबा नायौ ।। यह अपराध बड़ौ उन कीन्हो । तच्छक डसन साप मैं दीन्हौ ।। रिषि कह्यौ बहुत बुरौ तै किन्हौ । जो यह साप नृपति को दीन्हो ।। तुव सराप तें मरिहै सोइ । यह अपराध मोहिं सब होइ ।। सुख सौं बसत राज उनकैं सब । दुख पैहैं सो सकल प्रजा अब ।। ताकि रच्छा हरि जू करी । हरि-अवज्ञा तुम अनुसरी ।।

१९ वें अध्याय की कथा का सार

इत राजा मन में पछिताइ । मैं यह कियौ बड़ौ अन्याइ ।
जाकैं हृदय बुद्धि यह आवै । ताकौ फल सो भलौ न पावैं ।
रिषि सिष्याहिं भेज्यौ समुझाइ । नृप सौं कहि तू ऐसी जाइ ।
मम सुत दियौ या भाइ । सप्तम दिन तोहिं तच्छक खाइ ।
सृंगी यह कीन्हौ बिनु जानैं । होत कहा अब कै पछितानैं ।
तातैं तुम उपाइ सो करौ । जातैं भव-सागर कौं तरौ ।
नृप सुनि, लाग्यौ करन बिचार । सप्तम दिन मरिबौ निरधार ।
जज्ञ-दान करि सुर पुर जैयैं । तहां जाइ कै सुख बहु पैयें ।
बहुरि कह्यौ सुर पुर कछू नाहिं । पुन्य-छीन तिहिं ठौरे गिराहिं ।
तातै सुत, कलत्र सब त्याग । गहौं एक हरि-पद अनुराग ।
बहुरि कह्यौ, अबकौं कहा त्याग । खोयो जन्म विषय-सुख लाग ।
सूर न हरि पद सौं चित लायौ । इत उत देखत जनम गंवायौ ।

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

● श्रीमद् भागवत संहिता ●

श्री मद्वल्लभाचार्य चरण द्वारा विरचित
श्री सुबोधिनी (संस्कृत टीका)
हिन्दी अनुवाद सहित

प्रथम स्कन्ध

अध्याय—१६

उत्तमाधिकार प्रकरण अध्याय—१३

महाराजा परीक्षित् का अनशन व्रत और शुकदेवजी का उनके पास पधारना

कारिकायें—सर्वदोषनिवृत्तिस्तु पूर्वाध्याये निरूपिता ।
प्रमादेऽपीश्वरेच्छातो व्यामोहाभाववर्णनात् ॥१॥

अधुना पूर्णगुणता वैराग्यज्ञानभक्तिषु ।
यशःकर्मसमाजश्रीभावेषु च निरूप्यते ॥२॥

एकोनविंशे वैराग्यात्प्राये मुनिगणागमः ।
तत्र पृष्टार्थसन्देहे शुकागम इतीर्यते ॥३॥

मुनयो भगवद्भक्तयानं द्रष्टुं हरेः कथाम् ।
श्रोतुञ्च भावितज्ज्ञानाद्विवादस्तु शुकोन्नतौ ॥४॥

वैराग्यस्य प्रकर्षेण प्रकर्षोऽत्र विवक्षितः ।
ज्ञाने तुल्येऽपि देवर्षेस्त्यागीभावान्न वक्तृता ॥५॥
भार्गवस्याऽपि रामस्य व्यासस्याऽपि हरेस्तनोः ।
गुरुणैव स्वरूपाच्छिन्नाबदानान्न वक्तृता ॥६॥
द्वात्रिंशल्लक्षणोपेतः शुक एव ततो गुरुः ।
एतदर्थं हि भगवानवतीर्णो वृषध्वजः ।
बीजाधानोत्तरं रक्षा विष्णोरन्ते शिवात्मना ॥७॥

कारिकार्थ—इस अध्याय के पहले वाले अध्याय में यह बताया गया है, कि असद् पुरुषों द्वारा सद्पुरुषों को सुख-दुःख रूपी द्वन्द्व में जोड़ दिये जाने पर भी, हर्ष अथवा शोक उत्पन्न नहीं होता। वहाँ सब प्रकार के दोषों की निवृत्ति का निरूपण किया गया है। कारण कि ईश्वर की इच्छा से किसी समय में कोई भूल हो जाय तो भी भगवान् के भक्तों को मोह उत्पन्न नहीं होता। राजा परीक्षित् ने ब्राह्मण के गले में सर्प डाला, पर उससे ब्राह्मण को मोह उत्पन्न नहीं हुआ, और ऐसे ही ब्राह्मण के पुत्र ने परीक्षित् को शाप दिया, उससे परीक्षित् को मोह नहीं हुआ। इससे दोष की निवृत्ति बताई गई है ॥१॥ अब वैराग्य, ज्ञान और भक्ति में परीक्षित् पूर्ण ज्ञान वाले हैं। कारण कि यश, कर्म, समाज और लक्ष्मी को भोगने में परीक्षित् समर्थ हैं, यह निरूपण किया जा रहा है ॥२॥ उन्नीसवें अध्याय में वैराग्य होने से राजा परीक्षित् का एक ही स्थान पर बैठना निश्चित हो गया है; वहाँ मुनियों का समूह आया है। वहाँ परीक्षित् द्वारा पूछे गये अर्थ में सन्देह उत्पन्न होने पर, श्री शुकदेवजी पधारे हैं, यह निरूपण किया गया है ॥३॥ भगवान् के भक्त का परलोक में पधारा जाना देखने के लिये और वहाँ भगवान् की कथा होगी ऐसा भविष्य का ज्ञान ऋषियों को हो जाने से, कथा सुनने के लिये वहाँ पर ऋषियों का समूह आया है। उनमें श्री शुकदेवजी शिवजी का अवतार होने से, परम्परा से उन्हें भगवान् का अवतार प्राप्त हुआ है। नारदजी, परशुराम और व्यासजी को साक्षात् भगवान् के अवतार का भाव है। इन सब के होते हुये श्री शुकदेवजी सबसे ऊँचे आसन पर बैठे, इसे लेकर इन सभी के मन में विवाद उठा होगा ॥४॥ परन्तु यहाँ तो ज्ञान देने में जिसका उग्र वैराग्य हो, उसी की महत्ता कही जाती है; अतः शुकदेवजी में दृढ़ वैराग्य होने से, उनकी महानता हुई है। ज्ञान की स्थिति तो नारदजी में शुकदेवजी

के समान ही थी, तो भी नारदजी का त्याग न होने से वे वक्ता के रूप में स्थित नहीं हुये ।।५।। परशुरामजी तथा व्यासजी भगवान् के अवतार हैं अतः मोक्ष देना विचारें तो दे सकते हैं; परन्तु परीक्षित् को तो ज्ञान प्राप्त करना है और वह ज्ञान गुरु से ही मिल सकता है । कारण कि ज्ञान होने से स्वरूप की प्राप्ति होती है, उस ज्ञान को देने वाले महादेवजी हैं, और शुकदेवजी महादेवजी का अवतार है; यह कथा कूर्म पुराण में है । अतः यहाँ व्यासजी और परशुरामजी को वक्ता का आसन प्राप्त नहीं हुआ और श्री शुकदेवजो ही वक्ता के स्थान पर विराजे ।।६।। बत्तीस लक्षणों से युक्त श्री शुकदेवजी ही परीक्षित् को ज्ञान देने में गुरु रूप हुये हैं । उनके लिये ही भगवान् महादेवजी ने अवतार लिया है । परीक्षित् जब माता के गर्भ में आये, उसके बाद रक्षा का कार्य विष्णु का होने से उन्होंने उनकी रक्षा की । संहार का कार्य शिवजी का होने से. शुकदेवजी द्वारा संहार कार्य सम्पन्न हुआ । लौकिक दाह न होने देने के लिये अलौकिक अग्नि ब्रह्म शाप से राजा का दाह हुआ है ।। ७१ ।।

आभास—एवं पूर्वाध्याये राज्ञः शापो निरूपितः । इदानीमद्भुतकर्मणो भगवतः शापफलं निरूप्यते गङ्गासत्सङ्गज्ञानानि । तत्र प्रथमं वैराग्यापरनाम नैरपेक्ष्यमनुतापलक्षणतपसा सह निरूप्यते चतुर्भिः । '**कृते पापेऽनुतापो वै यस्य पुंसः प्रजायते । प्रायश्चित्तं स्मृतं तस्य हरिसंस्मरणं परमि**"ति हरिसंस्मरणाङ्गभूतमनुतापं निरूपयन् भक्तस्य तद्भक्तिरूपमिति तदङ्गेन नैरपेक्ष्येण सह निरूपयति—

आभासार्थ—पहले के अध्याय में राजा को शाप लगने का निरूपण किया है । अब अद्भुत् कर्म वाले भगवान् से राजा को शाप के फल होने का निरूपण किया जा रहा है । उसमें गंगाजी, सत्संग और ज्ञान, इन तीनों का निरूपण आता है । पहले परीक्षित् को पश्चात्ताप हुआ, यह एक प्रकार से तप हो गया । राज्य आदि में उन्हें किसी प्रकार की कामना नहीं रही, ऐसे वैराग्य का चार श्लोकों में निरूपण किया गया है । "जो कोई पाप बन गया हो, उस प्रसङ्ग में जब पुरुष को पश्चात्ताप होता है, उसमें सब प्रकार से भगवान् का स्मरण करना ही उस पाप का निवारण है", ऐसा शास्त्रों का मत है । उसी रीति से भगवान् के स्मरण रूप अङ्ग के रूप में हुये परिताप का निरूपण यहाँ किया गया है । उसमें साधारण पुरुष को परिताप होवे, तो वह वैराग्य का अङ्ग कहलाता है और भक्त को जो पश्चात्ताप होता है वह भक्ति रूप होने से भक्ति का अंग रूप होता है । उस प्रमाण से परीक्षित् को किसी भी बात

की इच्छा शेष न रह जाने से, जो पश्चात्ताप हुआ है, उसी का निरूपण श्री सूतजी महाराज इस प्रकार कर रहे हैं—

सूत उवाच—

श्लोक—**महीपतिस्त्वथ तत्कर्म गर्ह्यं विचिन्तयन्नात्मकृतं सुदुर्मनाः ।**
अहो मयाऽमीवमनार्यवत्कृतं निरागसि ब्रह्मणि गूढतेजसि ।।१।।

श्लोकार्थ—सूतजी ने कहा, (और अब अपनी राजधानी में लौटकर आने के बाद) महाराज परीक्षित् अपने उस गर्हित कार्य का विचार करते हुये उद्विग्न मन वाले होकर पश्चात्ताप से घिर गये । अहो ! मैंने दुष्ट लोगों के समान यह क्या नीच कर्म कर डाला ? बिना अपराध ही, छिपे हुये तेज सम्पन्न ब्राह्मण के प्रति मैं उस समय कैसे इतना हीन कर्म कर बैठा ? ।।१।।

सुबोधिनी—महीपतिरिति । ततः समागत्य श्रमापनोदनानन्तरं यदा राज्यविचारार्थं सिंहासनस्थो महीपतिर्जातः । अथ तदैव पूर्वकृत कर्म स्मृतवान् ब्राह्मणस्य गले सर्पदानलक्षणम् । तुशब्देन पूर्वभावो निवारितः । **गर्ह्यं** निषिद्धत्वेऽप्यपकीर्तिजनकम् । लोकद्वयनाशकमित्यर्थः । चिन्तान्तरपरित्यागेन विशेषाकारेण तदेव चिन्तयन् दुर्मना जातः । यद्यपि दण्डादिप्रकारेण चौरवधं करोति तदाऽप्यन्यद्वारा कारयति न तु साक्षात् । इदं तु स्वयमेव कृतमिति दुर्मना जातः । मनसः शोकजनकत्वाद्दुष्टत्वम् । शोके भगवत्स्मरणात्सुष्ठुत्वम् । अन्यथा मूर्च्छैव स्यात् । तस्याऽनुतापाभिलापमाह । **अहो** इत्याश्चर्ये । **मया** भगवद्भक्तेन धर्मपालकेन **अमीवं** पापमपराधरूपं निःशङ्क**मनार्यवत्** स्वभावदुष्टवत् कृतम् । स्वभावदुष्टोऽपि नैतादृशेऽपराधं करोतीति विषयं वर्णयति—**निरागसि ब्रह्मणि गूढतेजसीति** । प्रमाणविचारेण लोकविचारेण वा निरपराधे न दण्डः क्रियते । किञ्च प्रमेयविचारेणाऽपि जीव एव दण्डो न ब्रह्मणि । नीतिविचारेणाऽपि यत्र सर्वनाशो न सम्भावितस्तत्र दण्डः । न तु गुप्ततेजसि सर्वनाशके । गूढत्वान्न तदैव दाहः । अन्यथा तावन्मात्रदाहः स्यात् ।।१।।

व्याख्यार्थ—महाराज परीक्षित् को महान् पश्चात्ताप हुआ । वन से लौटकर थकान मिटाने के बाद जब राजकीय कार्यों पर विचार करने के लिये महीपति परीक्षित् सिंहासन पर विराजे तब ब्राह्मण के गले में साँप डाला जाना याद करके उस पहले किये गये पाप से व्याकुल हो गये । यहाँ 'तु' शब्द से पश्चात्ताप से पहले वाली दूषित मनः स्थिति का निवारण किया गया है । राजा सोच रहा है, कि मेरे द्वारा किया गया वह कार्य कितना गर्हित, न करने योग्य तथा अपयश को प्रदान करने वाला है । मेरे दोनों ही लोकों को नाश करने वाला यह कार्य मुझसे हो गया है, यह अर्थ हुआ ।

राज्य सम्बन्धी अन्य सब प्रकार की चिन्ताओं को छोड़कर विशेष रूप से बन में घटित घटना पर ही चिन्ता करते हुये राजा उदास हो गये। यद्यपि दण्ड-विधान द्वारा वे चौरों का वध आदि करते थे तो भी उसे वे प्रत्यक्ष रूप से न करके दूसरों के द्वारा ही करवाया करते थे, परन्तु यह कार्य तो उन्होंने स्वयं ही किया था अतः दुश्चिन्ताओं से युक्त मन वाले हो गये। मन के द्वारा शोक की उत्पत्ति ही दुष्टता है। शोक की स्थिति में भी भगवान् का स्मरण करते रहने से राजा चेतना में रह सके अन्यथा वे मूर्च्छित ही हो गये होते। अनुताप की इस स्थिति में उनके बोले गये वाक्यों को बताया जा रहा है। 'अहो' यह शब्द आश्चर्य को बताने वाला है। वे कहते हैं, कि मुझ भगवत् भक्त के द्वारा, धर्म पालन करने वाले के द्वारा यह पाप रूप अपराध दुष्ट लोगों की तरह बेखटके कर दिया गया है। दुष्ट स्वभाव वाले भी इस प्रकार का अपराध नहीं किया करते। इस विषय पर वर्णन करते हैं—कि वे ब्राह्मण निरपराधी के तथा छिपे तेज वाले थे। प्रमाण का विचार करने से अथवा लोक का विचार करने से भी निरपराधी को दण्ड नहीं दिया जाना चाहिये। अधिक क्या कहें? निश्चित किये गये विचार से भी जीव ही दण्ड दिया जाने योग्य है, न कि ब्राह्मण। नीति से विचार किये जाने पर भी जहाँ दण्ड देने से सर्वनाश होता हो वहां दण्ड दिये जाने का विधान नहीं है। और जिसमें भी गुप्त तेज वाले को तो दण्ड दिया ही नहीं जाना चाहिये, क्योंकि उसे दण्ड दिये जाने पर सर्वनाश की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। तेज छिपा हुआ होने से राजा का नाश अपराध करने के समय में ही नहीं हो गया, यदि तेज छिपा हुआ न होकर प्रकट अवस्था वाला होता तो उसी समय परीक्षित् जलकर भस्म हो गया होता ॥१॥

आभास—तर्हि किं कर्त्तव्यमित्याकाङ्क्षायां विषय एव करिष्यति न मया किञ्चित्कर्त्तव्यमित्याह——

आभासार्थ—तो फिर अब क्या करना चाहिये? ऐसी आकांक्षा होने पर कहते हैं, कि ब्राह्मण का अपराध रूप विषय ही जो कुछ करना होगा, उसे करेगा। मुझे अब इस विषय में कुछ भी नहीं करना है, इसे बताने के लिये कहते हैं—

श्लोक——**ध्रुवं ततो मे कृतदेवहेलनाद्दुरत्ययं व्यसनं नातिदीर्घात्।**
तदस्तु कामं ह्यघनिष्कृताय मे यथा न कुर्यां पुनरेवमद्धा ॥२॥

श्लोकार्थ—निश्चय ही मेरे द्वारा ब्राह्मण देवता का किया हुआ यह अपराध किसी भी उपाय से टाला नहीं जा सकता। इससे उत्पन्न होने वाला दुःख रूपी फल मुझे शीघ्र ही मिलने वाला है। मेरे पाप की निवृत्ति के लिये वह दुःख रूपी फल मुझे मिले, वही अच्छा; ताकि मैं कभी फिर से ऐसा अपराध न करूं ।।२।।

सुबोधिनी—ध्रुवमिति । ननु वैष्णवस्य तव न किञ्चिद्भविष्यतीत्याशङ्क्याऽऽह—**देवहेलनादिति** । अन्तःस्थितो भगवानेव तेन ध्यायमानः । स तु देवालयरूपः । अतो देवालयापकारे देव एवाऽपकृतो भवतीति "**भक्तोऽपि भगवद्द्रोहमाचरन्नरकं व्रजेदि**" ति न्यायाद्ध्रुवं व्यसनं भविष्यति । **व्यसनं** नाम चिकीर्षितसर्वपुरुषार्थप्रतिबन्धपूर्वकस्वव्यापारसहितचित्तव्याकुलता । तच्च द्विविधम् । स्वाश्रयदेहादिनाशकमुपायनिवर्त्यं वा । तत्र दुरत्ययं स्वाश्रयनाशकं व्यसनम् । दुःखेनाऽत्ययो यस्येति दुःखरूपं फलं दत्वा शाम्यतीत्यर्थः । अत्युत्कटत्वाच्छीघ्रमेव भविष्यतीत्याह—**नातिदीर्घादिति** । तदैव न जात इत्यतिपदम् । प्रतीकारादनन्तरमेव सर्वस्याऽप्यप्रतीकार्यतापरिज्ञानात्प्रतीकारः क्रियतामित्याशङ्क्याऽऽह—**तदस्त्विति** । यस्य देहादिः प्रियो भवति यस्य भगवदपराधेऽपि देहादे रक्षणीयता भवति तस्य प्रतीकारप्रयत्न । "**अस्माभिर्यदनुष्ठेयमि**"ति न्यायेनाऽस्माकं तदभीष्टमेव । अतः प्रार्थयते—**तदस्तु काममिति** । व्यसनस्य सङ्कोचो माऽस्तु । देहादिनाशस्याऽस्माभिरेव चिकीर्षितत्वात् । तथा प्रार्थनायां हेतुः—**अघनिष्कृतायेति** । पापापनोदाय । **मे** इति साक्षान्ममैवाऽस्तु । नन्वपराधो धमः । तदर्थं धर्मिनाशोऽनुचितः । असमानत्वात् । तत्राऽऽह—**यथा न कुर्यामिति** । शरीरे विद्यमाने साक्षात्करणं सम्भवति । शरीराद्यभावे तु राज्यपुत्रादिद्वारा । अत अद्धा साक्षादेवाऽस्त्वित्यर्थः ।।२।।

व्याख्यार्थ—इस अपराध का दुःख रूप फल निश्चय ही होगा। मन में यह बात आवे, कि वैष्णव होने के कारण तुम्हारा कुछ भी नहीं होगा, तो कहते हैं—कि साक्षात् भगवान् का अपमान हुआ है। हृदय में स्थित भगवान् का वे ब्राह्मण मुनि ध्यान कर रहे थे। उनका शरीर मन्दिर रूप था। अतः मन्दिर का अपमान करने से भगवान् का अपमान् स्वतः ही हो गया। "भक्त होकर यदि भगवान् का द्रोह करे तो निश्चय ही नरक में जाता है", इस न्याय से निश्चय ही दुःख होगा। समस्त पुरुषार्थों का प्रतिबन्ध करने वाला अपने क्रिया कलापों से चित्त में व्याकुलता भरने वाला दुःख तो होना ही होना है। यह दुःख दो प्रकार का है। अपने आश्रय रूप देह का नाश अथवा इसके बाद निवृत्त हो जाने का उपाय रूप, ऐसा यह व्यसन दो प्रकार का हुआ। अपने आश्रय का नाश करने वाला यह व्यसन न हटाया जा सकने वाला है। बिना दुःख दिये जो दूर नहीं हो सकता अर्थात् दुःख रूप फल को देकर ही जो शान्त होता है। अपराध बहुत ही भयंकर होने से इसका फल शीघ्रता से मिलेगा, उसे कहते हैं—कि अब अधिक समय नहीं है। तो यह दुःख रूपी फल उसी

समय क्यों न प्राप्त हुआ ? दुःख दूर होने वाला है कि नहीं, ऐसा ज्ञान, उपाय करने के बाद होता है । इसलिए उस व्यसन का उपाय करो, ऐसा कोई कहे, वहाँ कहते हैं, कि वह दुःख तो हो । जिन पुरुषों को देह आदि अच्छे लगते हैं, वे ही व्यसन दूर करने का उपाय करें । भगवान् का अपराध बन जाने पर भी जिन्हें शरीर आदि की रक्षा करना रुचता हैं, वे ही व्यसन के प्रतीकार में प्रयत्नशील बनते हैं । "हमारे लिए तो उस कष्ट का आना ही उचित है ।" इसलिए प्रार्थना करते हैं–कि दुःख, अपनी इच्छानुसार जैसे आना चाहे वैसे ही आवे । दुःख को आने में किसी भी प्रकार का संकोच न होवे । हम हमारे देह के नाश की इच्छा करते हैं । प्रार्थना करने में कारण बताया जा रहा है—कि पाप नष्ट होने के लिए यह आवश्यक है । यह दुःख प्रत्यक्ष रूप से मुझे ही प्राप्त हो । अपराध तो शरीर का धर्म है । उस धर्म का नाश होने के स्थान पर, धर्मी (शरीर) का नाश होना अनुचित है । यह बात समान नहीं कही जा सकती, कि अपराध किसका और दण्ड किसको । वहाँ कहते हैं–कि फिर से पाप न हो जाय । शरीर के विद्यमान रहने पर ही दुःख का साक्षात्कार सम्भव है । शरीर न रहे, तो वह दुःख राज्य और पुत्रों को प्राप्त हो । इसलिए यह कष्ट सम्मुख रूप से मुझे ही प्राप्त हो, यह अर्थ हुआ ॥२॥

आभास—नन्वतिरागिणोऽप्येवमुक्तिः सम्भवतीति तद्व्यावृत्त्यर्थं पाक्षिकदोषपरिहारार्थं चाऽऽह—

आभासार्थ—जिसका शरीर आदि से अतिशय प्रेम हो, उसके लिए तो यह कहना सम्भव है । पर शरीर के विद्यमान रहने से दोषों के उत्पन्न होने का भय हो तो उसके एक पक्षीय दोष का परिहार करने के लिए कहा जा रहा है—

श्लोक—**अद्यैव राज्यं बलमृद्धकोशं प्रकोपितब्रह्मकुलानलो मे ।**
दहत्वभद्रस्य पुनर्न मेऽभूत्पापीयसी धीर्द्विजदेवगोभ्यः ॥३॥

श्लोकार्थ—आज ही क्रोधित हुए ब्राह्मण कुल के अग्नि से मेरा राज्य, बल (सेना) और बढ़ा हुआ खजाना जल जाये । मुझ अकल्याणकारी की ब्राह्मण, देवता और गायों के प्रति फिर कभी भी ऐसी पाप पूर्ण बुद्धि न हो ॥३॥

सुबोधिनी—**अद्यैवेति** । शेषरक्षार्थं नाऽऽत्मनि प्रार्थना किन्तु साक्षात्सम्बन्धाभावार्थम् । अतो ब्राह्मणापराधनैमित्तिकदेहनाशः । साक्षात्प्रकोपितो ब्रह्मकुलानलो राज्यं सेनां धनं च नाश-

यतु। सात्त्विकराजसतामससुकृतादेतन्त्रयं भवति। ततस्तत्कारणादृष्टस्य समाप्तत्वान्निष्प्रत्यूहं दहतु। तत्र साधकमाह—**अभद्रस्येति**। न विद्यते भद्रं यस्येति। न हि कल्याणादृष्टे प्रबुद्धे विद्यमाने पापीयसी धीर्भवति। अत: "**अपदोषतैव विगुणस्य गुण**" इति न्यायेन पुण्याभावे राज्यादीनां दोषजनकत्वात्तदभावप्रार्थना युक्तेत्याह—**पुनर्न मेऽभूदिति**। सकृद्यज्जातं। तन्निमित्तदाहार्थे उपयुज्यते। अत: समीचीन जातमिति विचारेण नश्चिन्त्यं श्लोकत्रयार्थ: ॥३॥

व्याख्यार्थ—आज ही नष्ट हो जाय। अपने विनाश की प्रार्थना बाकी बचे हुए पदार्थों की रक्षा के लिए नहीं है, बल्कि उनसे साक्षात् सम्बन्ध न होने के कारण हैं, इसलिये ब्राह्मण का अपराध हो जाने पर देह नाश को प्रार्थना की गई। साक्षात् रूप से क्रोधित हुए ब्राह्मण वंश की अग्नि राज्य सेना व धन को नष्ट करदे। सात्त्विक, राजस व तामस पुण्य के परिणाम स्वरूप ही राज्य, सेना व धन, ये तीनों प्राप्त होते हैं। इनकी प्राप्ति का कारण अदृष्ट है, अत: उसकी समाप्ति के लिए ये सब जल जावें। वहाँ साधक के विषय में कहते हैं—मैं अकल्याणकारी हूं। मुझमें कल्याण की भावना नहीं है। इस कल्याण रहित अदृष्ट के जागे रहने से ही पापमय बुद्धि होती है। अत: "दोष को हटाने के लिए गुण रहित का भी गुण बताया गया है।" इस न्याय से पुण्य के अभाव में राज्य आदि के दोष उत्पन्न करने वाले होने से इनके नष्ट हो जाने की प्रार्थना, राजा के द्वारा उचित ही की गई है, जिसे कहते हैं—कि फिर से ऐसा न हो। एक भी बार अब फिर से पाप बुद्धि उत्पन्न न हो, इसलिए इन सबका जल जाना ही उपयुक्त है। अत: ऐसे समयानुकूल विचार के उत्पन्न होने से राजा को जो निश्चिन्तता प्राप्त हुई है, उसे आगे के तीन श्लोकों द्वारा बताया जा रहा है ॥३॥

आभास—महतां हि फलप्राप्तौ स्पृहाभाव एव विलम्बहेतु:। अत: स्पृहाया जातत्वात्तत्कदा भविष्यतीति चिन्तयन्नथ तदनन्तरमेव शापमश्रृणोदित्याह—

आभासार्थ—महान् लोगों को फल-प्राप्ति में इच्छा न होने से, फल-प्राप्ति विलम्ब होती है। अत: इच्छा के उत्पन्न होने पर, अब वह फल कब होगा? ऐसा विचार करते ही, राजा ने उस समय अपने प्रति भेजे गये शाप को सुना—

श्लोक—**स चिन्तयन्नित्थमथाऽश्रृणोद्यथा**
मुने: सुतोक्तो निर्ऋतिस्तक्षकाख्य:।

**स साधु मेने न चिरेण तक्षका-
नलं प्रसक्तस्य विरक्तिकारणम् ॥४॥**

श्लोकार्थ—राजा ऐसा विचार कर ही रहा था, कि मुनि-पुत्र द्वारा भेजे गये तक्षक नाम वाले मृत्यु के विषय में सुना । उस राजा ने इस समाचार को शुभ माना कि शीघ्र ही तक्षक रूपी अग्नि मुझ आसक्त के लिए विरक्ति का कारण बन गई है ॥४॥

सुबोधिनी—स चिन्तयन्निति । **इत्थमिति** पूर्वोक्तप्रकारेण । शमीकप्रेषितब्राह्मणमुखात्तक्षकाख्यो निर्ऋतिरित्यश्रृणोत् । यद्यपि **इति** पदं नास्ति न वा तथा पदं तथापि तथापदस्य सम्बन्धिनो विद्यमानत्वाद्यथा निर्ऋतिस्तथाऽश्रृणोदित्यर्थः । स्वरूपतः पदार्थस्य ज्ञातत्वात्प्रकारस्यैवाऽज्ञानादनधिगतार्थगन्तृत्वेन प्रकारस्यैव श्रोतव्यत्वम् । '**सर्वे ह्यस्य मृत्यवो वेष्टा** (?)" इति श्रुतेः । मृत्यवन्तराभावान्न तक्षकस्य मृत्युहेतुत्वमपि तु मृत्युत्वमेवेत्याह—**तक्षकाख्य इति** । एवं श्रुत्वा यत्कृतवांस्तदाह—**स साधु मेन इति** । **स इति** पूर्वोक्तो राजा । अन्यथेदानीं विचारस्य कर्त्तव्यत्वे शीघ्रं साधु मननं न सम्भवेत् । ततश्च कर्त्तव्यनिर्द्धाराभावात्परिमितकाले विलम्बो भवेत् । तदाह—**न चिरेणेति** । **स न** चिरेण साधु मेने, किन्तु शीघ्रमेवेत्यर्थः । तक्षकानलस्य साधुत्वे हेतुः—**प्रसक्तस्य विरक्तिकारणमिति** । विषयेषु प्रसक्तस्य । विषयभोगस्या हेतुत्वं ज्ञापयन्नसमासमाह । नित्यसापेक्षत्वादसमर्थसमासः ॥४॥

व्याख्यार्थ—वे सोच रहे थे । पहले कहे गये प्रकार से वे दुःख प्राप्ति के विषय में विचार कर रहे थे । शमीक ऋषि द्वारा भेजे गये ब्राह्मण के मुख से उन्होंने तक्षक नाम वाले मृत्यु को सुना । यद्यपि इसे सुनने की स्थिति मूल में नहीं है, तदपि जिस प्रकार का वह मृत्यु है, उसे मूल में लिखा गया है । जिससे उस प्रकार के मृत्यु को सुना है, यह अर्थ हुआ । स्वरूप से तो पदार्थ जान ही लिया गया था, केवल यह नहीं जान पाये थे, कि वह दुःख किस प्रकार का होगा । इसलिये जिस बात की जानकारी नहीं थी, वही सुनाई गई है । इसलिये अश्वमेघ यज्ञ के अवमृथ स्नान में, "मृत्यु की इच्छा करने से प्रत्येक मृत्यु द्वारा इच्छा किया जाता है, ऐसा वेद में कहा गया है । अतः दूसरा कोई मृत्यु न होने से तक्षक मृत्यु का कारण नहीं है, प्रत्युत् मृत्यु स्वरूप ही हैं, यह बताने के लिए तक्षक नाम वाले मृत्यु को सुना है, यह कहा गया है । यह सुनकर राजा ने जो कुछ किया, अब उसे कहते हैं । उस राजा ने उस मृत्यु को अच्छा माना । वे तो इस विषय में पहले से ही विचार कर रहे थे, उन्होंने यदि इसे शुभ नहीं माना होता, तो सुनने के बाद में विचार उत्पन्न होता और तब वे शीघ्रता

से यह नहीं मान पाते कि यह ठीक हुआ है । इस स्थिति में अब मुझे क्या करना चाहिये, इसका निश्चय न होने से सात दिन की अवधि में किये जाने वाले कर्त्तव्य के विषय में बिलम्ब लग जाता । अतः उसे सुनकर परीक्षित् ने अच्छा मानने में देर नहीं लगाई और तत्काल अच्छा मान लिया । वह तक्षक रूप अग्नि अच्छी है, इसे मानने में कारण बताते हैं, जो विषय में आसक्त हो रहा हो, उसे वैराग्य उत्पन्न करने में कारण रूप है । विषय का उपभोग वैराग्य में कारण नहीं होता, यह बताने के लिए आसक्ति और वैराग्य को एक ही समास में न रखकर अलग-अलग पदों में रखा गया है ।।४।।

आभास—एवं निरपेक्षतां निरूप्य कर्त्तव्यत्वेन सन्यासलक्षणं वैराग्यमाह—

आभासार्थ—इस प्रकार निरपेक्षपने का निरूपण करके राजा के कर्त्तव्य रूप सन्यास रूपी वैराग्य का निरूपण करते हैं—

श्लोक—**अथो विहायेममुञ्च लोकं विमर्शितौ हेयतया पुरस्तात् ।**
कृष्णाङ्घ्रिसेवामधिमन्यमान उपाविशत्प्रायममर्त्यनद्याम् ।।५।।

श्लोकार्थ—विचार करने पर यह लोक और परलोक पहले से ही त्याग कर देने के योग्य हैं । अतः इन दोनों को छोड़कर श्री कृष्ण के चरणारविन्द की सेवा को ही अधिक मानते हुए, महाराज परीक्षित् निश्चय पूर्वक गंगाजी के तट पर बैठ गये ।।५।।

सुबोधिनी—**अहो इति** । इहामुत्रार्थफलभोगविरागो न ज्ञानार्थः किन्तु भगवत्सेवार्थं इति निरूपयितुमाह—**कृष्णाङ्घ्रिसेवामधिमन्यमान इति** । अत एव लोकपदप्रयोगः । न तु लोके भोगपरित्यागः । भक्तिमार्गेण भगवत्सेवायाः शरीरमात्रसाध्यत्वात् । ननु शापेनाऽयमेवं करोति परित्यागम् । अतः कथमस्य भक्तत्वमित्याशङ्क्याऽऽह—**विमर्शितौ हेयतया पुरस्तादिति** । पूर्वमेव त्यक्तव्याविति भगवत्सेवार्थं विचारितौ । केवलशरीरेण भगवत्सेवां करिष्यंस्तस्य शरीरस्य क्रियान्तरे विनियोगाभावार्थमनशनं कृतवानित्याह—**उपाविशत्प्रायमिति** । **प्रायम्** । अनशनम् । प्रायस्य सर्वथाऽन्नपरित्यागरूपस्य भगवद्व्रतेनाऽभीष्टत्वात्प्रायस्य कर्मत्वम् । अन्यथा तादर्थ्ये चतुर्थी स्यात् । अन्नमयत्वाच्छरीरस्य तदभावे वैक्लव्येन सेवाऽभावमाशङ्क्य अमर्त्यानां नदीत्वाद्गङ्गासमीप उपविष्टः । न विद्यते मर्त्यं येषां देवानां तेषां नदी । प्रत्यहमन्नभक्षणेन देहे वृद्धिक्षययोर्जायमानत्वात्पूर्वं साधनत्वेन गृहीतस्य देहस्य नाशाद्देहान्तरस्य च साधकत्वसन्देहाद्गङ्गायाश्च यथास्थितवस्तुस्थापकत्वाद्गङ्गातीरे प्रायः । अमर्त्यत्वं नदीकृतमेव । तत्तीरे जाता अमर्त्या भवन्तीति । अत इदमपि शरीरमुत्तरोत्तरं केवलतेजसा निष्पाद्यमानं गङ्गासम्बन्धादमर्त्यत्वमापन्नं

सत् भगवत्सेवायां फलमुखाधिकारि भविष्यतीति तथा यत्नः। इदानीन्तेनानामाधिभौतिकत्वा-दाधिभौतिकरूपेण साऽभिव्यक्ता न तत्फलं साधयति ॥५॥

व्याख्यार्थ—इस लोक और परलोक का फल भोगने वाला वैराग्य राजा को ज्ञान के लिए नहीं हुआ है, प्रत्युत् भगवान् की सेवा के लिए हुआ है. इसका निरूपण करने के लिए कहते हैं—कि वे श्रीकृष्ण की सेवा को अधिक मानते हैं। इसलिए इस लोक के त्याग करने वाली बात कही गई है। परन्तु भोग के त्याग करने वाली बात नहीं लिखी गई है। भक्ति मार्ग द्वारा भगवान् की सेवा करना केवल शरीर से ही सिद्ध हो सकता है। यहाँ शंका होती है, कि परीक्षित् राजा का यह त्याग तो शाप के कारण हैं, अतः उन्हें भक्त किस लिए कहा गया है? वहाँ कहते हैं कि राजा ने तो बहुत पहले से ही लोक और परलोक को त्याग करने योग्य मान लिया था। भगवान् की सेवा के लिए दोनों लोक छोड़ देने चाहिएँ, यह पहले ही विचार लिया था। इस शरीर के द्वारा ही भगवान् की सेवा करूँगा। यह शरीर किसी अन्य कार्य में न लगे, इसके लिए राजा ने अनशन व्रत लिया है अर्थात् न कुछ भोजन करना और न ही जल पीना। उनके लिए कहा है–कि राजा देवताओं की नदी गंगाजी के किनारे पर प्रायोपवेश करके बैठ गये हैं। भोजन अन्नादि का त्याग करने रूपी प्रायो-पवेश भगवान् के व्रत रूप में राजा ने करना विचारा है। कारण कि वेदों में लिखा है–कि "दो पक्षी एक ही पेड़ पर रहते हैं, उनमें से एक पक्षी विषयों का स्वाद लेता है और दूसरा उसे न लेता हुआ भी बलवान् है," अतः भोग रहित रहना भगवान् का व्रत है। मृत्यु में प्राय पद की द्वितीया विभक्ति कर्म के अर्थ में है। अन्यथा "'प्राय' के लिए बैठे" ऐसा चतुर्थी विभक्ति वाला अर्थ होता। यह शरीर अन्नमय होने से, यदि इसमें अन्न नहीं जाय तो यह नष्ट हो जाय और जिससे सेवा में बाधा खड़ी हो जाय। इस शंका के निवारणार्थ कहते हैं–कि वे देवताओं की नदी गंगाजी के किनारे पर बैठे हैं। अतः उनका वह शरीर मरण धर्म वाला नहीं रह गया है। क्योंकि वह नदी अमर्त्यों की है, वहाँ अमरता है। प्रतिदिन अन्न का भक्षण करने से इस देह की बढ़ोतरी और घटोतरी होती रहती है। यदि उसे पहले से ही साधन के रूप में ग्रहण किया जावे तो देह नाश को प्राप्त हो जावे और दूसरे देह को धारण करने का कार्य सिद्ध करने वाला है अथवा नहीं, इसमें सन्देह होने से गंगाजी के किनारे के ऊपर राजा ने प्रायोपवेश किया है। कारण कि यथा–योग्य वस्तु को स्थापित करने वाले गंगाजी हैं। जो नहीं मरते उन्हें 'अमर्त्य' कहते हैं। अतः जो गंगाजी के तीर पर

उत्पन्न हुए हों वे अमर्त्य होते हैं। इसलिए अमर्त्यपना गंगाजी ने सिद्ध किया है। उसके लिए राजा ने गंगाजी के किनारे के ऊपर बैठने का निश्चय कर लिया है। उनका विचार यह है, कि यह शरीर भी उत्तरोत्तर केवल तेज से ही तैयार हुआ है, यह गंगाजी के सम्बन्ध से देवता रूप हो जावेगा। जिससे भगवान् की सेवा में फल सिद्ध हो, उसके योग्य बन जायेगा। अतः उन्होंने गंगा किनारे निवास किया है। अब यहाँ यह शंका होवे कि आज के समय में भी गंगाजी के किनारे पर बहुत से मनुष्य निवास करते हैं, परन्तु उनका शरीर तो देवताओं के से धर्म वाला नहीं होता, जिससे गंगाजी देव भाव को सिद्ध कर देते हैं, ऐसे कथन में बाधा आती है। इस शंका के समाधान में कहते हैं, कि आज के समय में मनुष्य आधिभौतिक (भौतिक रूप का ही विचार करने वाले) होने से, गंगाजी भी उनके पास आधिभौतिक रूप से ही प्रकट रहते हैं. अतः देवता रूप फल की सिद्धि उन्हें नहीं होती ॥५॥

आभास—एवं योग्यदेहसाधकत्वेन गङ्गायाः परम्परोपयोगमुक्त्वा भक्तौ साक्षात्फलरूपमुपयोगमाह—

आभासार्थ—इस प्रकार गंगाजी, योग्य देह को सिद्ध करने वाले होने से, उनका इस रूप में परम्परा से उपयोग होता आया है। इसका निरूपण करने के बाद, भक्ति में उनका साक्षात् फल रूप उपयोग बताते हैं—

श्लोक—**या वै लसच्छ्रीतुलसीविमिश्रकृष्णाङ्घ्रिरेण्वभ्यधिकाम्बुनेत्री ।**
पुनाति लोकानुभयत्र सेशान्कस्तां न सेवेत मरिष्यमाणः ॥६॥

श्लोकार्थ—जिस मनुष्य की मृत्यु समीप आ गई है, वह भला उन गंगाजी का सेवन क्यों न करे ? जो शोभायमान तुलसी से मिश्रित, श्रीकृष्ण के चरण कमल की अत्यधिक रज से युक्त जल का वहन करने वाली हैं और अपने सिंचन से महादेवजी सहित समस्त लोकों को बाहर और भीतर से पवित्र बना देती हैं ॥६॥

सुबोधिनी—या वै लसदिति । अधिकारिशरीरं प्राप्य भगवत्सेवायां प्रथमतश्चरणप्रक्षालनम् । भावनायां तस्यां क्रियमाणायां प्रक्षालनं जातमित्यभिज्ञापिका गङ्गा । तस्या अभिज्ञापकं रूपमाह । या ब्रह्मसदने ब्रह्मकर्तृकचरणक्षालनात्पूर्वं नित्यपूजायां लक्ष्मीसमर्पिततुलसीचरणारविन्दे स्थिता । भक्तकार्यार्थं व्यापृतस्य भगवतश्चरणस्य वा भूतसंस्कारकपक्षमाश्रित्य "तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहतिसम्परिष्वक्तः" इति न्यायेन कृतप्राणिपुण्यपुञ्जस्य सम्बन्धिनां भक्तत्वे सति भगवदीयशरीरनिष्पादनार्थं भगवच्चरणे सम्बन्धं प्राप्य भक्तानां तत्सबन्धे तादृशं शरीरं निष्पादयितुं स्थितस्य

चरणप्राप्तेः पूर्वमेव तत्प्राप्तिसाधकत्वं गङ्गाया वदति—कृष्णाङ्घ्रिरेण्विति । श्रीतुलस्या विमिश्रो योऽङ्घ्रिरेणुः। अनेन तस्मिञ्छरीरे भक्तत्वभक्त्योः सहजसबन्धे हेतुरुक्तः । बहूनां भूमौ स्थितानां भक्तानां तादृशशरीरनिष्पादनार्थं कृष्णाङ्घ्रिरेणव एव अभितः अधिका यस्य तादृशमंबु नयतीत्यम्बुनेत्री । परिमितं च गङ्गाजलं परिमितं च कमण्डलुजलमपरिमिताश्च चरणरेणव इति न सम्यक्प्रक्षालनपर्याप्तमम्बु भवति । अतो रेणव एवाऽधिकाः । इदानीन्तनजनेऽपि भक्त प्रत्येव तदभिव्यक्तीकरणं नाऽन्य प्रतीति नेतृपदेन सूचितम् । तस्य प्रासङ्गिकं फलद्वयमाह—पुनातीति । त्रीनपि लोकानुभयत्राऽन्तर्बहिः । सेकात् पुनाति । सेशान्वा । पालकमहादेवसहितान् । अनेन भक्तानां भूमावुत्पन्नानामधिकदोषसंबन्धाभाव सूचितः । अत एव यो मरिष्यमाणः पूर्वदेहत्यागेच्छुस्तादृशशरीरोत्पादिकां गङ्गां को वा न सेवेत ॥६॥

व्याख्यार्थ—यह शरीर भगवान् की सेवा करने के अधिकार वाला बन जाय, इसलिए पहले भगवान के चरणों का प्रक्षालन बताया है । गंगाजी की सेवा करने पर ही भगवत् सेवा को भावना करने में आती है । उसमें भगवान् के चरण कमल को धोया है, ऐसी भावना कराने वाला श्री गंगाजी का जल है । उनके उस स्वरूप के लिए कहते हैं, कि ब्रह्म लोक में ब्रह्माजी ने भगवान् के चरण कमल को धोया था, उनसे भी पहले लक्ष्मीजी प्रतिदिन चरण कमलों को धोते थे और सदैव तुलसी समर्पित करते थे । इस रीति से लक्ष्मीजो द्वारा समर्पित की हुई तुलसी प्रभु के चरण में रही हुई थी । जब बलि राजा का उद्धार करने के लिए और देवताओं को स्वर्ग देने के लिए भगवान् तैयार हुए, अथवा भगवान् का जो चरण कमल स्वर्ग लोक में गया हुआ था, वह कार्य करने वाला बन गया था । यदि भगवान् कार्यशील न होवें तो जीव को सायुज्य मुक्ति मिल जावे, पर उसका शरीर सेवा करने के योग्य नहीं हो पाता । इसलिए भक्त के देह को सेवा योग्य बनाने के लिए भगवान् ने अपना चरण ब्रह्म लोक में पधराया । उन चरण कमलों पर लक्ष्मीजी द्वारा समर्पित तुलसीजी के साथ मिली हुई चरणों की रज है, वह रज ही भक्त के देह को सेवा योग्य बनाती है । क्योंकि व्यास सूत्र में तीसरे अध्याय के प्रारम्भ वाले सूत्र में कहा है, कि 'पूर्व जन्म में निष्काम यज्ञ करने वाला ज्ञान रहित हो और उसकी मृत्यु हो जावे, तब समस्त वेदों के अर्थ रूप भगवान् के स्वरूप का उसे ज्ञान न होने से यज्ञ रूप भगवान् का प्राकट्य नहीं होता, अतः उसका वह यज्ञ पंच महा भूतों को शुद्ध करने वाला बन जाता है । परन्तु उसके द्वारा निष्काम यज्ञ करने से देवता प्रसन्न होकर उसे ज्ञान योग्य देह सिद्ध करने के लिए पंचाग्नि विद्या के प्रकार से उसके शरीर का निर्माण करते हैं । उस रीति से पूर्व जन्म जिसने भगवान् की कथा का श्रवण आदि

साधन भक्ति युक्त ढंग से किया है और श्रवणादि करने से मोक्ष सिद्ध होता है, ऐसा जानकर तन्त्र शास्त्र में कही गई दीक्षा को लेता है तथा जिसने उपासना मार्ग का श्रवण आदि कर लिया है, वह निष्काम पक्ष के समान उसके पंचमहाभूत का संस्कार करने वाला होता है। इसके बाद निष्काम यज्ञ करने वाले को देवताओं का सम्बन्ध प्राप्त होकर पंचाग्नि विद्या में कहे गये होम के स्वरूप द्वारा जो यज्ञ रहता है, उसमें श्रवणादिक नौ प्रकार की भक्ति जिसने करली है और इसके बाद भी उसे जन्म देने वाले तथा पोषण देने वाले भगवान् के भक्त माता-पिता हों, उनके द्वारा उसका शरीर उत्पन्न करने के लिये चरणामृत द्वारा और चरण की रज से उनके पंचमहाभूत बनते हैं। उसी रीति से पूर्व जन्म में वैसा पुण्य करने वाले को उनके सम्बन्ध से वैसा शरीर सम्पादन करने के लिये साक्षात् भगवान् की सेवा करने योग्य देह प्रदान करने के लिये श्रवणादिक साधन रखे गये हैं। वह देह चरणामृत और चरण की रज के सम्बन्ध वाला बन जाता है। वह भगवान् के चरणों की प्राप्ति होने से पहले ही चरणामृत और चरण के रज की प्राप्ति को सिद्ध करने वाला हो जाता है। इसे सिद्ध करने वाले गंगाजी ही हैं, ऐसा कहते हैं। कारण, कि भगवान् का चरण ब्रह्म लोक में गया। तब ऊपर बताये गये प्रमाण से लक्ष्मी जी ने तुलसी समर्पी, उससे युक्त चरण रज गंगा जी में रहती है। जिससे उसके शरीर में मर्यादा भक्ति तथा पुष्टि का सहज सम्बन्ध होने में वह चरण रज ही कारण रूप होती है। पृथ्वी के ऊपर बहुत से भक्त हैं। ऐसे भक्तों को ऊपर बताये गये प्रमाण से भगवदीय शरीर सिद्ध करने के लिये, जिसमें सभी और श्री कृष्ण के चरण की रज ही अधिक मात्रा में है, ऐसे जल को गंगा जी प्रवाहित करते हैं। गंगा जी का जल तथा ब्रह्मा के कमण्डल का जल परिमाण में आने जितना ही है परन्तु चरणों की रज न मापी जा सकने वाली है। भगवान् के चरणों की रज धोने में आ सके, इतना जल गंगाजी में न होने से उस जल में रज कणों की ही अधिकता है। आज के समय में भक्तों के लिये ही गंगाजी अपने जल में उस माहात्म्य का प्रकाश करती हैं। अन्य जनों के लिये उसका प्रकाशन नहीं होता। यह बताने के लिये ही, गंगा जी चरण रज को प्रवाहित करने वाले हैं, ऐसा कहा गया है। उसके प्रासंगिक रूप से दो फल कहे गये हैं। वे गंगाजी तीनों लोकों को बाहर और भीतर से पवित्र बना देते हैं। मूल में 'सेशान्' पाठ होने पर, महादेवादिक पालन करने वाले देवों के साथ तीनों लोकों को पवित्र करते हैं, यह

अर्थ करना चाहिये। ऐसा निरूपण करने से पृथ्वी पर उत्पन्न हुये भक्तों में अधिक दोषों की उत्पत्ति संभव नहीं, ऐसा कहा गया है। अतः जो पहले वाले शरीर को छोड़ने की इच्छा वाला तथा समीप मृत्यु वाला हो वह संस्कारित तेजोमय देह को उत्पन्न करने वाली गंगा जी का सेवन भला क्यों नहीं करेगा ? ॥६॥

आभास—एवं गङ्गातीरे प्रायोपवेशनं कर्त्तव्यमिति युक्त्या निश्चित्य स्वस्याऽभक्तत्वे सर्वमन्यथा स्यादिति तद्दोषं पाण्डवेयत्वेन परिहरन्नग्रिमकर्त्तव्यमाह—

आभासार्थ—इस प्रकार गंगाजी के तीर पर प्रायोपवेशन करना चाहिये, यह युक्ति से निश्चय करके और अपने अभक्त होने पर कहीं सब कुछ अन्यथा हो जावे, उस दोष का परिहार करते हुए, परीक्षित् जी के द्वारा किये जाने वाले अग्रिम कर्त्तव्य को बताया जा रहा है—

श्लोक—**इति व्यवच्छिद्य स पाण्डवेयः प्रायोपवेशं प्रति विष्णुपद्याम् ।**
दध्यौ मुकुन्दाङ्घ्रिमनन्यभावो, मुनिव्रतो मुक्तसमस्तसङ्गः॥ ७ ।

श्लोकार्थ—मुनि व्रत को धारण करने वाले तथा समस्त संग का त्याग करने वाले उन पाण्डवों के पुत्र परीक्षित्जीने गंगाजी के किनारे पर प्रायोपवेश का निश्चय करके, अनन्यभाव से भगवान् के चरण कमल का ध्यान किया ॥७॥

सुबोधिनी— **इति व्यवच्छिद्येति** । विष्णुपद्यां प्रायोपवेशनं प्रति पूर्वोक्तप्रकारेण पक्षान्तरनिराकरणपूर्वकं विशेषेणेमं पक्षमवच्छिद्य निश्चित्य दध्याविति सम्बन्धः । यतः स पाण्डवेयः । कदाचिदाध्यात्मिकस्य बलिष्ठत्वे पूर्वोक्तं न भविष्यतीति पूर्वसहायत्वेन मुकुन्दाङ्घ्रिमेव दध्यौ । मोक्षदातृत्वेन स्वतंत्रतया ध्यानस्योपयोगं वारयति । अङ्घ्रिमित्येकत्वसङ्ख्या अविवक्षिता ग्रहवदुत्तरत्रोपयोगार्थम् । तेन सन्निधानात्पूर्वशेषत्वं फलष्यति । अनन्या भक्तिः पुरुषार्थसाधिकेति तां वक्तुमाह—**अनन्यभाव इति** । न विद्यते अन्यस्मिन्भावो यस्य । प्रायगङ्गादीनामपेक्षितत्वात्स्वतन्त्रता मा भवत्वित्येतदुक्तम् । अनेन मनोदण्डोऽप्युक्तः । वाचनिकं कायिकञ्चाऽऽह—**मुनिव्रतो मुक्तसमस्तसङ्ग इति** । मुनिवद्व्रतं यस्य वृथालापपरिवर्जनं मौनम् । मुनिव्यतिरिक्तैः सह वा भाषणनिषेधः । अन्यथा गृहीतव्रतस्य त्यागः प्रसज्येत । मुक्ताः सर्वे सङ्गा येन । पुत्रमित्रादिभिर्मनसा सङ्गा परित्यक्ताः । आज्ञया शरीरादपि व्यावर्तिताः ॥ ७ ॥

व्याख्यार्थ—पहले बताये गये प्रकार से विष्णु पदी गंगा के किनारे प्रायोपवेशन पर बैठकर पहले वाले पक्ष का (साँसारिक मोह का त्याग) निराकरण करते हुए और इस पक्ष को (भगवान् का ध्यान) विशेष रूप से ग्रहण करते हुए निश्चय पूर्वक राजा

परीक्षित् भगवान् का ध्यान करने में निमग्न हो गये, यह सम्बन्ध हुआ। क्योंकि वे पाण्डवों के पुत्र हैं। हो सकता है, कि आध्यात्मिकता के बलिष्ठ हो जाने पर पहले बताई गई बात सिद्ध न हों, अतः पूर्व सहायता के रूप में भगवान् मुकुन्द के चरणों का ध्यान करने लगे। भगवान् मोक्ष को देने वाले हैं, जिससे स्वतन्त्रता पूर्वक ध्यान के उपयोग का निवारण किया गया है। इसलिए "अङ्घ्रिम्" (चरण कमल) में एक वचन की संख्या विवक्षित (कहने की इच्छा से कही गई) नहीं है, पर घर को स्वच्छ करते हैं, ऐसा कहने में एक वचन की संख्या है। जिस प्रकार होमादिक कामों में दूसरे घरों का मार्जन करने में कारण बताया गया है, उस प्रमाण से यहाँ भी प्रभु के दूसरे चरण कमल ध्यान के उपयोग के लिए है। जिससे वह ध्यान, सेवा के योग्य शरीर की प्राप्ति के अङ्ग के रूप में वर्णित है। अनन्य भक्ति, पुरुषार्थ को सिद्ध करने वाली होने से, परीक्षित् जी को अनन्य भक्ति प्राप्त हुई है। उसे कहते हैं—कि प्रायोपवेश और गंगाजी राजा को इच्छित हैं। जिससे पुरुषार्थ प्राप्त करने में उन्हें स्वतन्त्रता न होवे प्रत्युत् चरण कमल द्वारा पुरुषार्थ सिद्ध होवे, ऐसा कहा गया है। इसी तरह राजा ने मन को भी दण्डित कर लिया है। अब वाणी और काया के दण्ड को कहते हैं, कि राजा ने मुनि के समान व्रत धारण किया है। व्यर्थ की बातें करने को छोड़ देना ही मौन कहलाता है। अथवा मुनियों के अतिरिक्त दूसरों से भाषण करने का निषेध किया गया है। यदि किसी प्रकार से बोलना ही नहीं है, ऐसा व्रत लिया होता तो आये हुए मुनियों से प्रश्न करना और शुकदेवजी के साथ भाषण करना कैसे सम्भव होता ? और ऐसी स्थिति में लिए हुए व्रत का त्याग हो जाता। इसलिए मुनि व्रत का अर्थ व्यर्थ की बातें करना छोड़ देने से ही है। उसी प्रकार परीक्षित् जी ने पुत्र मित्रादिकों के संग का भी त्याग कर दिया है। मन से तो संग पहले ही छोड़ दिया था, परन्तु शरीर से आज्ञा देकर कार्य करवाने रूप संग का भी राजा ने परित्याग कर दिया है ॥७॥

आभास—एवं स्वकर्तव्ये कृते शिष्टं भगवानेव करिष्यतीति भागवतं शुकं च योजयन् समाज एवं रस उत्पत्स्यत इति भक्तिरसोत्पत्त्यर्थं भगवत्कृतं मुनीनामागमनमाह—

आभासार्थ—इस प्रकार परीक्षित् जी ने अपना कर्त्तव्य किया। अब इसके बाद का बचा हुआ काम भगवान् ही सिद्ध करेंगे, जिसके लिए महाभक्त शुकदेवजी को उस

कार्य सम्पादन में जोड़ा जाना है । परन्तु समूह होने पर ही रस उत्पन्न होगा, ऐसा धारकर भक्ति रस के उत्पन्न होने के लिए भगवान् द्वारा किये हुये मुनियों के आगमन को कहते हैं—

श्लोक—तत्रोपजग्मुर्भुवनं पुनाना महानुभावा मुनयः सशिष्याः ।
प्रायेण तीर्थाभिगमापदेशैः स्वयं हि तीर्थानि पुनन्ति सन्तः ॥ ८ ॥
अत्रिर्वसिष्ठश्च्यवनः शरद्वानरिष्टनेमिर्भृगुरङ्गिराश्च ।
पराशरो गाधिसुतोऽथ राम उतथ्य इन्द्रप्रमदेध्मवाहौ ॥ ९ ॥
मेधातिथिर्देवल आर्ष्टिषेणो भरद्वाजो गौतमः पिप्पलादः ।
मैत्रेय और्वः कवषः कुम्भयोनिर्द्वैपायनो भगवानारदश्च ॥ १० ॥
अन्ये च देवर्षिब्रह्मर्षिवर्या राजर्षिवर्या अरुणादयश्च ।
तानार्षेयप्रवरान् समेतानभ्यर्च्य राजा शिरसा ववन्दे ॥ ११ ॥

श्लोकार्थ—पृथ्वी को पवित्र करने वाले, बड़े-बड़े प्रभावशाली मुनियों के झुण्ड के झुण्ड अपने-अपने शिष्य वर्ग के साथ वहाँ गंगा किनारे पधारे । प्रायः सत्पुरुष तीर्थ करने के व्याज (बहाने से) से स्वयं तीर्थों को पवित्र बना देते हैं ॥८॥ (गंगा के उस पावन तट पर) वहाँ अत्रि, वसिष्ठ, च्यवन, कृपाचार्य, अरिष्ट नेमि, भृगु, अङ्गिरा, पराशर, विश्वामित्र, परशुराम, उतथ्य, इन्द्र प्रमद, इध्मवाह, मेधातिथि, देवल, आर्ष्टिषेण, भारद्वाज, गौतम, पिप्पलाद, मैत्रेय, और्व, कवष, अगस्त्य, भगवान् व्यास जी तथा नारद जी, ये सभी पधारे ॥९॥१०॥ अन्य भी बहुत से देवर्षि और ब्रह्मर्षियों में उत्तम, ऐसे ही राजर्षियों में श्रेष्ठ अरुण आदि उस स्थल पर पधारे । इस प्रकार सभी ऋषियों के वहाँ एकत्रित हो जाने पर राजा ने मस्तक झुकाकर वंदना की एवं पूजन किया ॥११॥

सुबोधिनी—तत्रोपजग्मुरिति । **उपेति** कालसामीप्यम् । अत्रैव तदर्थं भगवताऽऽज्ञप्तास्ते समागता इति न किन्तु पूर्वमेव लोकतीर्थपावित्र्यार्थं भगवता नियुक्तास्तथा कुर्वन्तीत्याह—**भुवनं पुनाना इति** । अन्यथा मुनीनामेतच्छेषत्वं स्यात् । पावने सामर्थ्यमाह—**महानुभावा इति** । अनाहूतानामप्यत्रत्यप्रयोजनज्ञाने हेतुः—**मुनय इति** । **सशिष्या इति** शिष्याणां पुनर्बोधनव्यावृत्त्यर्थं रसिकतयैवाऽग्रे कथाकरणार्थम् । **प्रायेणेति** स्वतन्त्रता तीर्थाभिगमनरूपाश्रमधर्मकर्तृव्यावृत्त्यर्थम् । यद्यपि **'यद्यदाचरित श्रेष्ठ"** इति न्यायेन लोकशिक्षार्थमपि तीर्थाभिगमनं सम्भवति तथापि न तन्मुख्यं प्रयोजनम् । तदाह—**अपदेशैरिति** । व्याजैरित्यर्थः । एतेषां पावन-

कर्त्तृत्वं साधुत्वेनैवेत्यन्ते तदाह। आत्रेया ब्राह्मणेषु मुख्या इति प्रथमतोऽत्रिगणितः। शरद्वान् कृषः। अन्यो वा। गाधिसुतो विश्वामित्रः। रामः परशुरामः। उतथ्यो गौतमपिता। एवं ब्रह्मर्ष्यादिभगवद्भक्तान्ता गणिताः। अथेत्यन्ता ज्ञानप्रतिपादकाः। रामादिपिप्पलादान्ता धर्मप्रतिपादकाः। मैत्रेयादिनारदान्ता भक्तिप्रतिपादकाः। आद्या नवधा। गुणैः। प्रकृतिविकृतिभेदेन पञ्चविधस्य कर्मणो दशविधत्वात्तथा मध्यमाः। षड्गुणैश्वर्याद्भगवतस्तत्प्रतिपादका भक्ताः षड्विधाः। चकारान्नारदशिष्यास्तत्त्वेन गणिताः। अन्येऽपि तेच्छिष्याः प्रकीर्णकाः। तानाह—अन्ये चेति। अत एव ऋषित्रयग्रहणम्। अरुणः कश्चिदृषिः। तेष्वागतेषु राज्ञः कृत्यमाह—तानिति। आर्षेयेषु ऋषिवंशेषु प्रवराः श्रेष्ठाः। यज्ञ वृता वा। एकदैव सर्वे समागता इति समुदायेनैव पूजनम्। यथायोग्यं वा तत्सम्भ या। 'वन्दनान्ता पूजे'तिपूजासमाप्तिसूचकं वन्दनम् ।।८।। ९ ।। १० ।। ११ ।

व्याख्यार्थ—मूल में 'उप' अव्यय दिया गया है। जिस समय परीक्षित् जी ने प्रायोपवेश किया उसी समय मुनि गण वहाँ पधारे, अव्यय समय की समोपता बताने के लिए है। आज ही भगवान् ने उन्हें आज्ञा की और वे मुनि वहाँ पधारे हों, ऐसा नहीं है, परन्तु पहले से ही लोकों और तीर्थों को पवित्र करने के लिए भगवान् ने उन्हें नियुक्त कर रखा है तथा वे वैसा ही करते हैं। इस विषय में कहा है—कि वे भुवनों को पवित्र करते हैं। यदि उनमें यह पवित्र करने वाला प्रभाव न हो तब तो उन मुनियों के लिए तीर्थों का सेवन करना शेष रह जावे। तीर्थों को पवित्र बनाने वाली उन मुनियों की सामर्थ्य को कहा जा रहा है—कि वे महानुभाव हैं। यद्यपि वे मुनि वहाँ बुलाये हुए नहीं हैं, परन्तु उनके आने का प्रयोजन ज्ञान प्राप्ति को लेकर हुआ है। क्योंकि वे मुनि हैं, मनन करना उनका लक्ष्य है। वे अपने शिष्यों को भी साथ में लाये हैं ताकि उन्हें पुनः ज्ञान बताने की आवृत्ति न हो और वे रसिकता से आगे इन सुनी हुई कथाओं को कह सकें। स्वतन्त्रता पूर्वक तीर्थों में जाने से आश्रम धर्म करने वालों का निषेध किया गया है, इसके लिए 'प्रायेण' शब्द का प्रयोग किया गया है। यद्यपि इस न्याय से, कि श्रेष्ठ लोग जिन जिन आचरणों को करते हैं, उन्हीं का अनुकरण दूसरे लोग भी करते हैं, उन मुनियों का तीर्थ में आना लोकशिक्षा के लिए भी सम्भव है, लेकिन वह उनका मुख्य प्रयोजन नहीं कहा जा सकता। उसे कहते हैं—कि वह एक बहाना है, मात्र व्याज है। इस बहाने से वे तीर्थों को पवित्र करते हैं। इसीलिए अन्त में उन्हें 'सन्त' शब्द से कहा गया है। अत्रि ऋषि के कुल में उत्पन्न हुए ब्राह्मण, ब्राह्मणों में मुख्य गिने जाते हैं, इसलिए उन्हें पृथक् से बताया गया है। शर द्वान् अर्थात् कृपाचार्य अथवा कृपाचार्य का नाम शारद्वत होने से गौतम को भी शरद्वान् कहा जाता है। वहाँ गाधिराजा के पुत्र विश्वामित्र आये।

श्री परशुरामजी पधारे। गौतम ऋषि के पिता उतथ्य ऋषि आदि पधारे। इस प्रकार ब्रह्मर्षि से लगाकर भगवान् के भक्त नारदजी तक गिनाये गये हैं। उनमें अत्रि से लगाकर विश्वामित्र ऋषि तक के ऋषिगण ज्ञान का प्रतिपादन करने वाले थे। परशुरामजी से लगाकर पिप्पलाय तक के ऋषि धर्म का प्रतिपादन करते थे। इसी प्रकार मैत्रेयजी से लगाकर नारदजी पर्यन्त ऋषिगण भक्ति का प्रतिपादन करने वाले थे। उनमें तीन प्रकार के गुण साथ मिलने से नो भेद होते हैं। उस प्रमाण से ज्ञान का प्रतिपादन करने वाले नो प्रकार के ऋषि हुए हैं। पाँच प्रकार के कर्म प्रकृति और विकृति के भेद से दश प्रकार के होते हैं। जिससे धर्म का प्रतिपादन करने वाले छः ऋषि भक्ति मार्ग के हैं। मूल में 'च' कार होने से नारदजी के शिष्य भी भक्ति मार्गीय ऋषियों की गणना में गिनाये गये हैं। उस कथन के अनुसार देवर्षि, ब्रह्मर्षि, और राजर्षि का नाम यहाँ ग्रहण किया गया है। कोई अरुण नाम के ऋषि भी यहाँ पधारे हुए हैं। जब ये सभी ऋषिगण पधार आये तब राजा ने उनका पूजन किया। जो ऋषियों के वंश में श्रेष्ठ थे अथवा जिनका यज्ञ में वरण किया गया था, वे सब एक ही समय में आये हुए होने से उसी समय में प्रत्येक का पूजन किया गया है अथवा उनकी सम्मति के अनुसार जिसका जिस रीति से पूजन करना योग्य लगता था, उसी रीति से पूजन किया गया है। "वन्दना के अन्त में पूजा शब्द आया है," जिससे पूजा की समाप्ति को सूचित करने वाला वन्दन अन्त में किया गया है ॥८-९-१०-११॥

आभास—"यस्त्विच्छया कृतो धर्म" इति दोषपरिहारार्थमव्यग्रेषु तेषु विज्ञापनार्थं पुनः प्रणामं कृत्वा स्वचिकीर्षितं कर्त्तव्यमकर्त्तव्य वेति निद्धारार्थं बहिर्दृष्टचोत्तरनिराकणार्थं चाऽन्तर्निविष्टः सन् विनयार्थमुत्थितोऽञ्जलिं बद्ध्वा विज्ञापयामासेत्याह—

आभासार्थ—"जो अपनी इच्छा से धर्म करता है, वह आभास कहलाता है," ऐसा सप्तम स्कन्ध में कहा गया है; जिससे उस दोष को दूर करने के लिए सारे ऋषि व्यग्र नहीं थे। तब विज्ञापन करने के लिए फिर से राजा ने प्रणाम किया। स्वयं का जो कर्त्तव्य है, उसे करना चाहिये अथवा नही करना चाहिये, इस निर्णय के लिए बाहरी दृष्टि से उत्तर देने के निराकरण के लिए हृदय में निष्ठा रखकर, विनय हेतु खड़े होकर, हाथ जोड़ते हुए राजा विज्ञापन करने लगे। उसे कहते हैं—

श्लोक—**सुखोपविष्टेष्वथ तेषु भूयः कृतप्रणामः स्वचिकीर्षितं यत् ।**
विज्ञापयामास विविक्तचेता उपस्थितोऽग्रेऽभिगृहीतपाणिः ।।१२।।

श्लोकार्थ—उन सभी ऋषियों के सुख पूर्वक बैठ जाने पर राजा ने फिर से प्रणाम किया। चित्त को एकान्त में रखते हुए, समस्त ऋषियों के मध्य में खड़े होकर, हाथ जोड़कर; महाराज परीक्षित् अपने सोचे हुए विचार को प्रकट करने लगे।

सुबोधिनी-सुखोपविष्टेष्विति । अथेति पूजावैयग्रयसमाप्त्यनन्तरम् । विविक्ते सङ्घातात्पृथक्कृते आत्मनि चेतो यस्य । आभिमुख्येन गृहीतौ पाणी येन ।। १२ ।।

व्याख्यार्थ—राजा ने पूजा कार्य की व्यस्तता से निमटने के बाद, देह आदि के समूह से मन को खेंचकर आत्मा में प्रवेश करा दिया; ऐसे राजा ऋषियों के सामने हाथ जोड़कर खड़े हुए हैं ।।१२।।

आभास—प्रथमतः स्ववृत्तान्तं कथयन् श्लोकद्वयेनैहिकामुष्मिकञ्च साधनद्वयं द्वयेन प्रार्थयते । जातं द्वयम्। भगवत्कृपा महत्कृपा च । तथापि महत्कृपाया हेतुत्वात्प्रथममाह—

आभासार्थ—राजा पहले अपना वृत्तान्त कहकर दो श्लोकों द्वारा इस लोक सम्बन्धी और परलोक सम्बन्धी दो साधनों की प्रार्थना करते हैं। उसमें भगवान् की कृपा और महान् पुरुषों की कृपा, ये दो मूलभूत कारण है। तो भी भगवान् की कृपा होने में महापुरुषों की कृपा ही कारण रूप है। इसलिए पहले महाराज परीक्षित् महापुरुषों की कृपा का ही निरूपण करते हैं—

राजोवाच—

श्लोक—**अहो वयं धन्यतमा नृपाणां महत्तमानुग्रहणीयशीलाः ।**
राज्ञां कुलं ब्राह्मणपादशौचादाराद्विसृष्टं बत गर्ह्यकर्म ।। १३ ।।

श्लोकार्थ-अहो ! राजाओं के मध्य में हम बहुत ही श्रेष्ठ हैं, क्योंकि महान् पुरुषों की कृपा को प्राप्त करने के योग्य स्वभाव वाले हो गये हैं। अन्यथा राजाओं का कुल तो निंदित कर्म वाला होने से ब्राह्मणों के चरण-जल से भी दूर रहता है, पर मुझे उसकी प्राप्ति हो जाने का हर्ष युक्त आश्चर्य ।।१३।।

सुबोधिनी—**अहो** इत्याश्चर्ये । **वयमिति** श्लाघायाम् । **धन्यतमाः** । धनं पुरुषार्थमर्हन्तीति धन्याः । तत्राऽतिशयः सर्वपुरुषार्थप्राप्तिः । भवन्तश्च पुरुषार्थरूपाः । ते च सम्प्राप्ता इति । नन्वागमनमात्रेण स्वाधीनत्वाभात्कथं पुरुषार्थप्राप्तिः । तत्राऽऽह—**महत्तमेति** । भगवदन्तरङ्गैरनुग्रहणीयं शील येषां तेषां शीले ऋषिभिरनुग्रहः कृतः (?) । यादृशस्तादृशोऽस्य स्वभावो भवतु वयं तेषां पुरुषार्थसाधका भविष्याम इति । अत एव नृपाणां मध्ये श्रेष्ठाः । ननु राज्ञां ब्राह्मणानां च तुल्यत्वादेवंरूपता युक्तैव । किमाश्चर्यम् "**अतो ह्यन्योन्यमात्मानं ब्रह्म क्षत्रं च रक्षत**" इति वाक्यात् । तत्राऽऽह—**राज्ञां कुलमिति** । तद्वाक्य महापुरुषाणां कार्यप्रशंसापरम् । वस्तुतस्तु राज्ञां कुलमात्रम् । यत्र ब्राह्मणाश्चरणक्षालनं कृत्वाऽन्तः प्रविशन्ति तच्छुद्ध शुद्धमध्ये वेदिकारूपं स्थानं भवति । तत्पादशौचमित्युच्यते । ततोऽपि दूराद्राज्ञां कुलम् । तत्रापि गन्तुमयोग्यम् । अन्तर्गमनं तु दूरापास्तमित्यर्थः । **बतेति** हर्षे । इदानीं तद्विपरीतं जातमिति । तेषां निकृष्टत्वे हेतुः—**गर्ह्यकर्मेति** । गर्ह्यं परहिंसालक्षणं कर्म यस्य ॥ १३ ॥

व्याख्यार्थ—यहाँ अहो शब्द आश्चर्य के अर्थ में आया है । 'वयम्' शब्द में प्रशंसा का अर्थ छिपा है । राजा परीक्षित् स्वयं को अत्यधिक धन्य मान रहे हैं । पुरुषार्थ रूपी धन को प्राप्त नरनें की योग्यता वाले ही धन्य हैं । वहाँ राजा को अतिशय रूप से सर्व पुरुषार्थों की प्राप्ति हुई है । राजा कहते हैं, कि आप सब मुनि गण पुरुषार्थ रूप हैं । ऐसे सब पुरुषार्थ रूप आप सभी मेरे ऊपर अनुग्रह करने के लिए पधारे हैं । अब यहाँ कोई यह शंका करे कि ऋषियों के वहाँ आने मात्र से ही स्वाधीनता की प्राप्ति हुए बिना ही अर्थात् मुक्त अवस्था आये बिना ही पुरुषार्थ प्राप्ति कैसी ? वहाँ उसका समाधान करते हैं–कि वे मुनिगण अत्यधिक प्रभाव सम्पन्न हैं, वे महत्तम हैं । भगवान् के अन्तरंग भक्तों के द्वारा अनुग्रह करने योग्य आचरण जिसमें है, ऐसे उन परीक्षित् पर ऋषियों ने अनुग्रह किया है । इन परीक्षित् जी का स्वभाव जिस किसी भी प्रकार का हो, हम ऋषि तो इनके पुरुषार्थ को सिद्ध करने वाले बनेंगे । परीक्षित्‌जी के प्रति ऋषियों की इस भावना के कारण, वे राजाओं के मध्य में श्रेष्ठ स्थिति वाले हो गये हैं । ऐसी बात नहीं है, कि राजा एवं ब्राह्मणों की पारस्परिक समानता के कारण यह युक्ति यहाँ पर दी गई हो । इस विषय में आश्चर्य ही क्या ? क्योंकि ऐसा वाक्य है, कि "परस्पर क्षत्रिय और ब्राह्मण आत्मा की रक्षा करें" । वहाँ कहा गया है, कि राजा का वंश ब्राह्मणों का अनुगत है । परस्पर रक्षा किये जाने वाली बात तो महापुरुषों के कार्य की प्रशंसा के रूप में कही गई है । सच बात तो यह है, कि राजाओं का तो वंश मात्र ही है । जहाँ ब्राह्मणगण चरण धोकर अन्दर प्रवेश करते हैं तो शुद्धता व अशुद्धता के मध्य में

उनके वे धुले हुए चरण वेदिका रूप स्थान वाले हो जाते हैं अर्थात् उनके चरण एक ऊँची भूमि (चौंतरा या यज्ञ के लिए व्यवस्थित रूप से बनाई गई ऊँची उठी हुई कुण्डाकार स्थली) के समान हो जाते हैं। यहाँ उन ऋषियों के चरणों की पवित्रता वाली स्थिति बताई गई है। उन पवित्र चरणों से राजाओं के कुल दूर ही रहते हैं। वे उन चरणों के समीप तक जाने में भी अयोग्य रहते हैं। उन चरणों का (प्रक्षालन जल के माध्यम से) उन राजाओं के हृदय में चला जाना तो बहुत दूर की बात है, यह अर्थ हुआ। राजा को अपने इस सौभाग्य पर पर हर्ष हो रहा है, अतः हर्ष को बताने वाले 'बत' अव्यय का प्रयोग हुआ है। क्योंकि इस समय उन स्थितियों से विपरीत ही बात हो गई अर्थात् राजाओं के कुल ब्राह्मण के चरणों से दूर-दूर रहते हैं, और यहाँ ब्राह्मणों के चरण स्वतः कृपा करने पधार आये हैं। वे ब्राह्मणों के चरण राजाओं की हीन दशाओं के कारण ही उन्हें प्राप्त नहीं होते, क्योंकि उनके कर्म बहुत ही निम्न कोटि के और दूसरों की हिंसा के लक्षणों से भरे हुए होते हैं ॥१३॥

आभास—एवं तेषां कृपामुक्त्वा भगवत्कृपामाह—

आभासार्थ—इस प्रकार उन ऋषियों की कृपा का निरूपण करके अब भगवान् की कृपा को बताते हैं—

श्लोक—**तस्यैव मेऽघस्य परावरेशो व्यासक्तचित्तस्य गृहेष्वभीक्ष्णम्।**
निर्वेदमूलो द्विजशापरूपो यत्र प्रसक्तो भयमाशु धत्ते ॥ १४ ॥

श्लोकार्थ—ऐसे मुझ पापी के लिए जो घर में आसक्त हो रहा था, ब्राह्मण का यह शाप वैराग्य का कारण बना। इस शाप से तो पर और अवर के ईश्वर भगवान् ही प्राप्त हो गये हैं। क्योंकि जहाँ आसक्ति है, वहाँ भय शीघ्रता से धारण होता है ॥१४॥

सुबोधनी–**तस्यैवेति**। राज्ञां कुले कस्यचिद्गर्ह्यं कर्म न भवेदपि। अहं तु स एव। अतस्तस्य गर्ह्यकर्मणो मे। तत्रापि **अघस्य** केवलं पापरूपस्य। पूर्वं क्षत्रियत्वमपि स्थितम्। अधुना कुलाङ्गारत्वादघत्वम्। एतादृशस्यापि निर्वेदमूलो द्विजशापरूपो भगवानेव जातः। भगवतस्तथा भवने हेतुः—**परावरेश इति**। अन्यथा परेश एव स्यात्। अवरेषामस्मदादीनानुद्धारकः स्यात्। ननु शापस्य कथं भगवद्रूपत्वम्? तत्राऽऽह—**निर्वेदमूल इति**। वैराग्यमूलः। षड्गुणानां मध्ये

पर्यवसानरूपस्य वैराग्यस्य न ह्यन्यो मूलं भवितुमर्हति । अत एवाऽनन्तरूपत्वाद्भगवतो द्विजशापोऽप्येकं रूपम् । ननु शास्त्रद्वारा कथं न भगवान्वैराग्यहेतुर्जातः । अधत्वं तु कृपायामप्रयोजकम् । अत आह—**गृहेषु व्यासक्तचित्तस्येति** । बहुवचनं तु पुत्रादिगृहेष्वपि विशेषासक्तिः । स्वस्याऽपि साधनत्वेन तद्योजनात् । **अभीक्ष्णमिति** श्रवणेऽपि समयाभावः "**न तस्य तत्त्वग्रहणाय साक्षादि**"ति न्यायात् । अतः शास्त्राणामसामर्थ्यम् । ननु गृह एव कथं न मोचयति । सर्वसमर्थत्वाद्भगवतः । तत्राऽऽह—**यत्र प्रसक्त इति** । येषु गृहेषु प्रसक्तः शीघ्रं हृदये भयमेव धत्ते । न तु भयापहारिणम् । अतो भयनिवृत्त्यर्थं तथा जातमित्यर्थः ।। १४ ।।

व्याख्यार्थ—राजाओं के कुल में कभी ऐसा दुष्कर्म नहीं होना चाहिये था । मैं तो ऐसा ही दुष्कर्म करने वाला निकला । वह गर्हित कर्म मुझसे ही हुआ । यों कहिये, कि मैं केवल पाप रूप ही हुआ । पहले तो फिर भी मैं क्षत्रियपने में स्थित था । और अब तो कुल का अङ्गार रूप होने से मूर्तिमान पाप ही बन गया हूं । भगवान् ही वैसा बन जाने में कारण रूप हुये हैं, क्योंकि वे पर और अवर के ईश हैं । यदि ऐसा नहीं होता तो वे भगवान् केवल पर के ही ईश रहते परन्तु वे तो 'अवर' अर्थात् हमारे जैसों के भी उद्धारक हैं । शाप भगवत् रूप कैसे हो गया ? उस प्रसङ्ग में कहते हैं, कि वे वैराग्य के मूल हैं । भगवान् के षड्गुणों के मध्य अन्तिम रूप से वैराग्य का गुण भी है और उस गुण का मूल कोई और हो नहीं सकता अतः अनन्त रूप होने से द्विज शाप भी भगवान् का एक रूप ही है । तो फिर शास्त्रों के द्वारा भगवान् वैराग्य के कारण रूप क्यों नहीं हुये और फिर पाप तो वैसे भी भगवत् कृपा होने में उपयोगी नहीं है । इसलिये कहा गया है—कि घर में जिनका चित्त आसक्त है, उसका उद्धार कैसे हो ? 'गृहेषु' में बहुवचन है, जिससे घर में तथा पुत्र आदि में विशेष आसक्ति को बताया गया है । स्वयं को भी साधन रूप में उन घर, पुत्रों से जुड़ जाना होता है जिससे भगवत्कथा सुनने में भी समय का अभाव रहता है । ऐसे आसक्त पुरुषों को "भगवान् के तात्त्विक रूप को समझने में प्रत्यक्षतः सामर्थ्य हीनता होती है", इस न्याय के आधार पर आसक्त पुरुष भगवान् को कैसे जान सकते हैं ? अतः पापियों का उद्धार करने में शास्त्रों की भी सामर्थ्य नहीं है । तो फिर भगवान् 'पर' और 'अवर' के उद्धारक हैं तो घर में स्थित हुये का उद्धार क्यों नहीं कर देते ? क्योंकि भगवान् तो सर्व समर्थ हैं । वहाँ कहते हैं—कि जो घर में अत्यधिक आसक्त हैं, भगवान् उनके हृदय में शीघ्र ही भय की स्थिति उत्पन्न कर देते हैं, न कि भय से मुक्त करते हैं । अतः यहाँ शाप, भय की निवृत्ति के लिये भगवत्रूप हुआ, यह अर्थ हुआ ।।१४।।

आभास– एव तयोरुपकारमुक्त्वा इदानीं स्वकर्त्तव्यमाह—

आभासार्थ–इस तरह महान् पुरुष मुनियों और भगवान् द्वारा किये गये उपकारों का वर्णन करके अब राजा के स्वयं के कर्त्तव्य को बताते हैं—

श्लोक—**तं मोपयान्तं प्रतियन्तु विप्रा गङ्गा च देवी धृतचित्तमीशे ।**
द्विजोपसृष्टः कुहकस्तक्षको वा दशत्वलं गायत विष्णुगाथाः ।। १५ ।।

श्लोकार्थ—देवी गंगा और विप्रगण मुझे अपनी शरण में आया हुआ समझें। चित्त को ईश्वर में धारण कराये हुए मुझे ब्राह्मण का भेजा हुआ ठग रूप तक्षक भले ही यथेच्छ रूप से डस ले; आप लोग मुझे भगवान् विष्णु की गाथायें सुनाइये। ।।१५।।

सुबोधिनी–**तं मोपयान्तमिति।** एवमुपकारविषयं मामुपयान्तं भवच्छरणमागच्छन्तं **प्रतियन्तु** जानन्तु। हे **विप्राः!** विशेषेण पूरकाः। मामपि पूरयिष्यन्तीति भावः। देवतारूपा गङ्गा च मां शरणागतं जानातु। गङ्गाया जलप्रकृतित्व लोकप्रसिद्धिमित्यचेतनशरणागतेरयुक्तत्वाद्देवी-त्युक्तम्। भक्तचरणोदकशरणागतिर्न भगवन्मार्गविरोधिनी। ननु किं शापविमोक्षार्थं प्रार्थयसे? नेत्याह। **ईशे** भगवति धृतचित्तं माम्। द्विजेन बालकेनोपसृष्टः प्रेषितः। कृत्रिमरूपेण वा कुहकः कृत्रिमवेषेण वञ्चकः। तक्षको वा। वैत्यनादरे **अलं** अत्यर्थं दशतु। न काचिन्मम क्षतिरित्यर्थः। नन्वस्माकं तर्हि क्वोपयोगः? तत्राऽऽह—**गायत विष्णुगाथा इति।** एतावता बहिश्चित्तता निवारिता। '**याक्षिकोऽपि दोषः परिशङ्कनीय**" इति चित्तस्य चञ्चलत्वादेव प्रार्थना ।। १५ ।।

व्याख्यार्थ—इस प्रकार उपकार किये गये मुझे आपकी शरण में आया हुआ जानिये। विशेष रूप से पूर्ण बनाने वाले होने के कारण यहाँ 'हे विप्राः', यह सम्बोधन दिया गया है अर्थात् आप मुझे भी पूर्णता प्रदान कीजियेगा, यह भाव हुआ। देवता रूपी गंगाजी मुझे शरण में आया हुआ जानें। गंगा का जल प्राकृतिक रूप से और लोक प्रसिद्धि के रूप में जड़ पदार्थ होने से शरण में जाने वाली स्थिति का अनौचित्य बताता है, अतः गंगा के लिये देवी शब्द का प्रयोग आधिदैविक स्थिति की दृष्टि से कहा गया है। भक्त और भगवान् के चरण जल की शरण लेना, भगवान् के मार्ग में बाधा नहीं बनती। कहीं यह प्रार्थना स्वयं को शाप से छुड़ाने के लिये तो नहीं की जा रही? कहते हैं–कि नहीं, ऐसी बात नहीं है। राजा परीक्षित् का कथन है, कि मैंने चित्त को ईश्वर में धर दिया है। चित्त भगवान् में पिरो दिया है। ब्राह्मण बालक के द्वारा भेजा गया बनावटी तक्षक रूप वाला अथवा कृत्रिम वेश

धारण किये हुये कोई तक्षक नाम वाला वञ्चक (ठग) अथवा सचमुच ही तक्षक सर्प मुझे सम्पूर्ण रूप से ही डस ले, तो भी मुझे अब परवाह नहीं। यहाँ 'वा' अव्यय अनादर के अर्थ में आया है। मुझे इस तक्षक सर्प के दंश कर लेने पर भी कोई क्षति (हानि) नहीं है। जब तुम्हें कोई हानि नहीं है, तो हम ऋषियों का यहाँ उपयोग ही क्या है ? वहाँ कहते हैं—कि आप विष्णु की गाथा गाइये। इस कथन से यह सिद्ध किया गया है, कि अब राजा का चित्त बाहर की ओर नहीं है। "पाक्षिक दोष भी शङ्का करने योग्य है", अतः चित्त की चंचलता को दृष्टि में रखकर यह प्रार्थना की गई है ॥१५॥

आभास—एवमैहिकं प्रार्थयित्वाऽऽमुष्मिकं प्रार्थयते—

आभासार्थ—इस प्रकार इस लोक की प्रार्थना करने के बाद, अब परलोक सम्बन्धी प्रार्थना करते हैं—

श्लोक—**पुनश्च भूयाद्भगवत्यनन्ते रतिः प्रसङ्गश्च तदाश्रयेषु ।**
महत्सु यां यामुपयामि सृष्टिं मैत्र्यस्तु सर्वत्र नमो द्विजेभ्यः ॥१६॥

श्लोकार्थ—मैं परीक्षित्, आप ब्राह्मणों से पुनः नमस्कार करता हुआ निवेदन करता हूँ कि जिस-जिस सृष्टि में मेरा जन्म हो, वहाँ-वहाँ ही भगवान् अनन्त में मेरी रति (दृढ़ भक्ति) हो और उन भगवान् में दृढ़ आश्रय वाले महापुरुषों के साथ मेरा प्रसंग (मिलन, सत्संग) हो। सभी भूत प्राणी मात्र से मेरी मित्रता हो। मैं आप सब द्विजों को फिर से नमस्कार अर्पित करता हूँ। १६॥

सुबोधिनी—**पुनश्चेति**। मुक्तिस्तु न सम्भाविता नाऽपेक्षिता। राज्यरसभक्तिरसयोरत्यन्तवैलक्षण्याद्विरुद्धधर्माश्रयत्वाच्च भगवति रतिरेवाऽस्तु। न राज्यादिः। जन्म त्ववश्यम्भावि। देहजातिगुणक्रियासु न कोऽपि रसः। अतो यां यामेव सृष्टिमुपयामि तत्र तत्र भगवति रतिरस्तु। ननु सर्वस्याऽपि भगवत्त्वात्पुत्रादिषु रतिः सिद्धैव। तदलं प्रार्थनयेत्यत आह—**अनन्त इति**। देशकालवस्त्वपरिच्छिन्ने। तादृशत्वं न पुत्रादिषु। तस्या रतेः कारणमपि प्रार्थयते—**प्रसङ्गश्चेति**। अन्यथा सकृद्रतिमुत्पाद्य कार्यार्थमाक्षिप्तं साधनमुपक्षीणं स्यात्। न च सर्वदैव रतिः प्रार्थ्या। रतेर्मनोधर्मत्वेन सर्वदा तत्स्फुरणे देहादिनिर्वाहोऽपि न स्यात्। तादृशरतौ प्रमाणसाधनत्वाभावाच्च। वरस्यैव साधनत्वे उत्प्रेक्षायाश्च प्रमाणत्वे प्रकारान्तरे च युक्तिबाधाद्भगवत्त्वं पर्यवस्यति। तच्च भक्तानामनपेक्षितम्। रतिश्चाऽनित्या। स्नेहत्वात्। तस्य चाऽन्तःकरणधर्मत्वात्। न वा इच्छाविशेषो रतिः। विशेषस्य निर्वक्तुमशक्यत्वात्। सुखविषयिणीच्छा न रतिः। स्वर्गकामनायास्तथात्व-

प्रसङ्गात् । पुत्रादिषु तदभावप्रसङ्गाच्च । अतः स्नेहः पदार्थान्तरम् । स भगवन्निष्ठ एव भगवद्विषयको ज्ञानवदैश्वर्यवद्वा भगवत्सम्बन्धात्तन्नैकट्यादन्यत्राऽपि भासते । उष्णस्पर्शवत् । यथा यथा भगवन्नैकट्यं तथा तथा स्नेहातिशयः । शारीरेऽप्यात्मनि तेन सहाऽतिनैकट्यात्परमस्नेहत्वम् । एवमध्यासेनाऽन्यत्र । "**वाक्यान्वयादि**"—त्यत्रैतदस्माभिः सम्यग्विवृतम् । अतो भगवन्नैकट्यसाध्यत्वात्स्वतस्तस्याऽसम्भवाद्भगवद्भक्तैरेव तत्साधयितुं शक्यत इति तैः प्रसङ्गः सर्वथा भवत्वित्याह—**प्रसङ्गश्चेति** । आश्रयोऽतिनैकट्यसूचकः । नाऽऽश्रितमात्रेणाऽन्यस्य नैकट्यं सम्पादयितुं शक्यमिति **महत्स्वि**त्युक्तम् । चकारात्तेष्वपि रतिः । एवं ससाधना भगवति रतिः प्रार्थिता । अस्या बाधकाभावं प्रार्थयते— **मैत्र्यस्तु सर्वत्रेति** । "**अहमुच्चावचैर्द्रव्यैरि**"ति वाक्याद्भूतग्रामावमानने भगवत्तोषाभावात् । "**भक्त्यैव तुष्टिमभ्येती**"ति वाक्यात्फलप्रतिबन्धकं भूतावमाननं स्वरूपप्रतिबन्धकं च । भगवदतोषे भक्त्यनुपपत्तेः । मैत्र्यामेव नाऽवमाननं भवति । साम्येऽपि तद्वदेव मानने-ऽवमानकरणं प्रसज्येत । ननु ब्राह्मणातिक्रमस्य कृतत्वात्कथं वरो देयः ? तत्राऽऽह—**नमो द्विजेभ्य इति** । महतां प्रणिपात एवाऽपराधशमने हेतुः । तस्मान्निष्प्रत्यूहा ससाधना भगवति रतिः प्रार्थिता ॥१६॥

व्याख्यार्थ—मुक्ति की सम्भावना न होने से उसकी अपेक्षा भी नहीं है, क्योंकि मैंने ब्राह्मण व भक्त का अपराध किया है, इसलिये मुक्ति सम्भव नहीं । मैं भगवदीय हूं, अतः मुक्ति को इच्छा भी मुझे नहीं है । कारण कि राज्य रस और भक्ति रस, इन दोनों में बहुत ही अन्तर है । भक्ति में बन्धन हो अथवा न हो तो भी भगवान् के समान विरुद्ध धर्म का आश्रयपना तो है । भक्ति बन्धन करने वाली नहीं है, अतः मेरी तो भगवान् में ही प्रीति होवे । मुझे राज्य आदि की इच्छा नहीं है । जन्म तो होना ही होना है, उसमें देह, जाति, गुण और क्रिया में किसी प्रकार का रस नहीं है; अतः जिस-जिस जन्म में जाऊं, वहाँ-वहाँ भगवान् में मेरी प्रीति होवे । सभी में भगवान् का रूप होने से भगवद्रूप पुत्र आदि में प्रीति तो स्वतः सिद्ध है, अतः उसकी प्रार्थना किसलिये करनी ? ऐसी शङ्का करके कहते हैं, कि मेरी प्रीति अनन्त भगवान् में होवे । जिन भगवान् का देश, काल और वस्तु से विभाग नहीं हो सकता, ऐसे भगवान् में मेरी प्रीति होवे । पुत्र आदि में उनकी व्यापकता नहीं है । भगवान् में प्रीति होने के कारण की भी प्रार्थना करते हैं, कि उन प्रभु का ही प्रसङ्ग मुझे होता रहे । यदि वैसा न हो, तो एक बार रति को उत्पन्न करके, उस कार्य के लिये काम में लाया गया साधन नष्ट हो जावे । उस रति की आवश्यकता होने से सदैव वैसी हो प्रीति होवे, ऐसी प्रार्थना की जावे तो वह उस रूप में पूरी नहीं हो सकती । क्योंकि रति मन का धर्म है, अतः वैसी ही स्फूर्ति सदैव बनी रहे तब तो देहादि का निर्वाह भी नहीं हो सकता । सदैव भगवान् में रति होवे, यह बात किसी प्रकार के

साधन से सिद्ध नहीं होती। रति होने का वरदान मिले तभी रति का भाव सिद्ध हो सकता है। युक्ति की बाधा होने से रति का पर्यवसान भगवान् में ही है। भक्तों को भगवान् में रति होने के अतिरिक्त कुछ नहीं चाहिये। ऐसी रति का होना देहादि धर्म के साथ रहने पर सम्भव नहीं। अतः ऐसी रति जो इच्छा से उत्पन्न होती है, स्थायी या नित्य नहीं होती। यह रति केवल स्नेह भाव से ही उत्पन्न होती है। क्योंकि स्नेह अन्तःकरण का धर्म है। अतः केवल विशेष प्रकार की इच्छा हो जाने का नाम रति नहीं है। इस विशेष रति की व्याख्या नहीं की जा सकती। सुख से सम्बन्ध रखने वाली इच्छा को रति नहीं कहा जा सकता। स्वर्ग की कामना के रहने पर उसे रति की सज्ञा नहीं दी जा सकती। पुत्र आदि में उस रति के प्रसङ्ग के होने के अभाव में भी उसका अस्तित्व नहीं रह जाता। अतः रति का दूसरा अर्थ स्नेह है। वह स्नेह एक अनूठा ही पदार्थ है। वह स्नेह तो भगवान् में ही होना चाहिये। भगवान् के विषय वाला जो स्नेह होता है, वह ज्ञान अथवा ऐश्वर्य के समान भगवान् के पास ले जाने वाला होता है। यह सम्बन्ध अन्यत्र भी आभासित होता है, जैसे कि गर्मी का स्पर्श। जैसे-जैसे भगवान् से निकटता बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे ही स्नेह की बढ़ोतरी अत्यधिक रूप में होती जाती है। शरीर सम्बन्धी आत्मा में भगवान् के साथ बहुत ही निकट का सम्बन्ध होने से परम स्नेह उत्पन्न होता है। इस अध्याय से अन्य स्थान पर जो स्नेह है, उसका व्यास सूत्र के दूसरे अध्याय में 'वाक्यान्वयात्' वाले सूत्र के भाष्य में, जहाँ याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयजी को उपदेश दिया है; वहाँ इस तथ्य का पूरी तरह से विवेचन किया गया। तात्पर्य यह है कि भगवान् की समीपता से ही परम स्नेह उत्पन्न होता है, वह स्नेह अपने आप उत्पन्न होना असम्भव है। भगवान् के भक्तों द्वारा ही उसे प्राप्त किया जा सकता है। अतएव भगवान् के भक्तों का हो प्रसंग पूरी तरह से होवे। अतः यहाँ 'प्रसंग' शब्द कहा गया है। भगवान् का आश्रय अति समीपता को बताने वाला है। केवल आश्रित हो जाने से ही दूसरों से भगवान् की समीपता को प्राप्त कर लेना सम्भव नहीं है। इसलिये महान् पुरुषों के साथ प्रसंग होने की बात को कहा गया है। मूल में चकार होने से भक्तों में भी रति का होना बताया गया है। इस प्रकार से साधन सहित भगवान् में रति होने की प्रार्थना की गई है। अब उस रति में बाधा न पड़े, वैसो प्रार्थना की जा रही है, कि सर्वत्र सभी में मेरा मैत्री भाव होवे। जैसा कि भगवान् ने इस वाक्य में कहा है, कि "मैं ऊँचे और नीचे सभी पदार्थों में रहता हूं",

अतः प्राणियों के समूह का अपमान करने वालों से भगवान् प्रसन्न नहीं होते। "भक्ति से ही भगवान् प्रसन्न होते हैं", इस वाक्य से प्राणियों का अपमान करने पर फल प्राप्ति में भी बाधा उपस्थित हो जाती है तथा स्वरूप प्राप्ति में भी बाधा उपस्थित हो जाती है। जब तक भगवान् प्रसन्न नहीं होते, तब तक भक्ति उत्पन्न नहीं होती। अतः प्रत्येक के साथ मैत्री की प्रार्थना की गई है। कारण कि मित्रता होने पर किसी का अपमान नहीं होता। समान भाव में तो फिर भी किसी का अपमान हो जाना सम्भव है, अतः प्रत्येक से मित्रता होवे, ऐसा कहा गया है। परीक्षित्जी ने तो ब्राह्मण का अपमान किया था, फिर उन्हें वरदान क्यों दिया जाना चाहिये था ? उस प्रसंग में कहते हैं—कि ब्राह्मणों को नमस्कार करता हूं। महान् पुरुषों को नमस्कार करने में अपराधों का नाश करवाना ही कारण है। इस प्रकार अपराधों को नष्ट करवाकर, निर्विघ्नतापूर्वक साधन सहित भगवान् में रति होने की प्रार्थना की गई है ॥१६॥

आभास—तेषां सम्मतिमुखचेष्टामुपलभ्ययैवमेव भविष्यतीत्यध्यवसायेन निश्चितः स्थित इत्याह--

आभासार्थ—उस प्रसंग में ब्राह्मणों की जो सम्मति हो, उस प्रमाण से ब्राह्मणों के मुख की चेष्टा को देखकर, "ऐसा ही होगा," ऐसा निश्चय करके, राजा परीक्षित् निश्चिन्त हो गये, यह कहा जा रहा है—

सूत उवाच—

श्लोक—**इति स्म राजाऽध्यवसाययुक्तः प्राचीनमूलेषु कुशेषु धीरः।**
उदङ्मुखो दक्षिणकूल आस्ते समुद्रपत्न्याः स्वसुतन्यस्तभारः ॥१७॥

श्लोकार्थ— ऐसे निश्चय वाले, जिन्होंने अपने पुत्र को राज्य का भार सौंप दिया है, ऐसे वीर राजा परीक्षित् गंगाजी के दक्षिणी किनारे पर, पूर्व दिशा की ओर निकले हुए अग्रभाग वाले कुशों के आसन पर, उत्तर दिशा की ओर मुख किये हुए विराज गये ॥१७॥

सुबोधिनी--**इतीति**। **स्मेति** प्रसिद्धे। सर्वैरेव ज्ञातमेवं निति्य स्थिश्चित इति। **अध्यवसायो** निश्चयः। भूमौ सर्वत्रराक्षसानां व्याप्तत्वादन्ते तदावेशो मा भवत्विति कुशेषूपविष्टः। उत्तम-

भक्तेर्देवा अधिकारिण इति पितृत्वव्यावृत्त्यर्थं देवत्वसिद्ध्यर्थं पूर्वाग्रेषु दर्भेषूपविष्टः। तदाह— **प्राचीनमूलेष्विति**। प्राचीनानि पश्चिमभागे स्थितानि मूलानि येषाम्। तक्षकादिकृतभयाभावायाऽऽह—**धीर इति**। **उदङ्मुखो गङ्गासम्मुखः**। दक्षिण कूले अन्तर्वेद्यामास्ते। पूर्ववल्लट्प्रयोगः। **समुद्रपत्न्या इति**। इदानीं भगवदेकनिष्ठत्वान्नाऽन्यत्र दृष्टिरिति भगवच्चरणारविन्दोदकत्वं परित्यज्य भगवत्प्राप्त्यर्थं लक्ष्मीपतेर्भगवतः समुद्रे शयनात्तत्पत्न्या दक्षिणकूलस्थितौ भगवन्तं वा समानयेदिमं वा तत्र नयेज्जामातृत्वाद्विज्ञापनां वा कुर्यादिति भगवल्लालसत्वज्ञापनायोक्तम्। प्राप्तराज्यचिन्तापरित्यागायाऽऽह-**स्वसुतन्यस्तभार इति**। स्वसुते न्यस्तो राज्यभारो येन ॥१७॥

व्याख्यार्थ—यहाँ प्रसिद्धि के अर्थ में 'स्म' का प्रयोग हुआ है। सबके द्वारा मेरा विचार जान लिया गया है, ऐसा निश्चय करके राजा स्थित हो गये हैं। अध्यवसाय अर्थात् उनका यह विचार निश्चयपने को धारण किये हुए है। भूमि पर सभी ओर राक्षसों का फैलाव हो जाने से अन्त में उनका आवेश न हो जाय अतः वे कुश-आसन पर बैठ गये। उत्तम भक्ति के अधिकारी देवता हैं, अतः पितृपने की निवृत्ति के लिए और देवभाव की सिद्धि के लिए पूर्व में अग्रभाग वाले दर्भ के आसन पर विराज गये हैं। जिनके लिए कहा गया है—कि उन दर्भाओं के जड़ वाले भाग पश्चिम दिशा की ओर हैं। राजा को तक्षक आदि का भय नहीं है, अतः उन्हें 'धीर' कहा गया है। वे उत्तर की ओर मुख किये हुए गंगाजी के सम्मुख बैठे हुए हैं। उनका वह बैठने का स्थान गंगा के दक्षिणी किनारे पर अन्तर्वेदि में स्थिल है अर्थात् गंगा के बीच में उभरे हुए भू-स्थल पर राजा परीक्षित् विराजमान हैं। यहाँ सभी वाक्यों में पहले की तरह ही लट्' लकार का प्रयोग हुआ है। यहाँ गंगा को समुद्र की पत्नी कहा गया है। समुद्र पत्नी कहने का अभिप्राय है, कि राजा की एक मात्र निष्टा भगवान् में ही है अब इस समय गंगाजी भगवान् का चरण जल हैं, ऐसी दृष्टि नहीं रह गई है। अतएव भगवान् की प्राप्ति के लिए लक्ष्मी के पति में एक निष्ठ हो गये हैं। भगवान् समुद्र में पोढ़ते हैं, अतः समुद्र की स्त्री के दक्षिणी तट पर बैठने से वे भगवान् को अपने पास ले आती हैं अथवा भगवान् के समीप ले जाती हैं। अथवा भगवान् समुद्र की पुत्री लक्ष्मीजी के पति हैं, इस तरह वे समुद्र के जामाता (दामाद,-जँवाई) लगते हैं, इसलिए विनती करती हैं। इस तरह परीक्षित् भगवान् में लालसा (प्रबल इच्छा) युक्त हो गये हैं। यह बताने के लिए समुद्र की पत्नी गंगा के दक्षिणी किनारे पर राजा का बैठा जाना कहा गया है। अब अपने राज्य की चिन्ता के त्याग के लिए कहा जा रहा है, कि राजा ने राज्य का भार अपने पुत्र जनमेजय को सौंप दिया है अर्थात् उन्हें किसी प्रकार की चिन्ता नहीं है ॥१७॥

आभास—तदा देवैरनुमोदित इत्याह—

आभासार्थ—राजा परीक्षित् राज्य की चिन्ता छोड़कर, जब गंगाजी के तट पर विराजे तब देवताओं ने उनका अनुमोदन किया, उसे कहते हैं—

श्लोक—**एवं तु तस्मिन्नरदेवदेवे प्रायोपविष्टे दिवि देवसङ्घाः ।
प्रशस्य भूमौ व्यकिरन्प्रसूनैर्मुदा मुहुर्दुन्दुभयश्च नेदुः ।।१८।।**

श्लोकार्थ—इस प्रमाण से वे महाराज परीक्षित् प्रायोपवेशन करके बैठे, तब आकाश में देवताओं के झुण्ड के झुण्ड राजा का बखान करते हुए आनन्द से पृथ्वी पर पुष्प वृष्टि करने लगे और बार-बार दुन्दुभियां बजने लगीं ।।१८।।

सुबोधिनी—एव त्विति । तुशब्देन तस्य सन्देहो निवारितः । नरदेवदेवत्वादिन्द्रतुल्यता । अनेनैव मार्गेण वैकुण्टं गमिष्यतीति महाराजागमननिमित्तं वाद्यं चक्रुः । तदाह । दिव्येव देव-सङ्घाः **प्रशस्य** साधु कृतमित्युक्त्वा । देवानुमोदने कार्यसिद्धिर्निश्चिता । भूमौ पुष्पवृष्टिं चक्रुः । इदं शकुनम् । **मुदा** हर्षेण । **दुन्दुभयो** देववाद्यानि **नेदुः** वादयामासुः । चकारादन्यान्यपि । तत्रोत्सवो जात इत्यर्थः । अनेन तस्य शापादिनाऽपि निश्चयेन गत्यन्तरं निवारितम् ।।१८।।

व्याख्यार्थ—मूल में 'तु' शब्द के द्वारा उनके सन्देह का निवारण किया गया है । राजा को नरदेवों का भी देव कहा गया है । जिससे वे इन्द्र के बराबर हैं, यह बताया गया है । इसी मार्ग से परीक्षित् वैकुण्ठ में जायेंगे । इसीलिए महाराज के आने के निमित्त उन्होंने वाद्य बजाये हैं । वह इसलिए, कि परीक्षित् स्वर्ग के रास्ते से वैकुण्ठ में जायेंगे, अतः वे स्वर्ग में आवें तब बाजे बजाये जाने चाहिएँ, ऐसा विचार कर देवताओं ने दुन्दुभियों का नाद किया है । उसे कहते हैं—कि स्वर्ग में ही देवताओं के समूह ने प्रशंसा की है, कि "राजा ने ठीक किया है," और ऐसा कहते हुए पृथ्वी पर पुष्पों की वृष्टि की है । देवताओं के द्वारा अनुमोदन किये जाने से कार्य की सिद्धि का निश्चय हो गया है । परीक्षित् की उत्तम गति होने में, यह शुभ शकुन हुआ है, ऐसा समझाया गया है । हर्ष से देवताओं के दुन्दुभि नाम के वाद्य बजने लगे अर्थात् हर्ष में भरकर देवताओं ने दुन्दुभियाँ बजाईं । मूल में चकार होने से अन्य बाजे भी बजाये जाने लगे, यह बताया गया है । तात्पर्य यह है, कि स्वर्ग में उत्सव हुआ । इससे यह सन्देह दूर हो गया, कि शाप के कारण राजा परीक्षित् की कोई अन्य गति होने वाली नहीं है अर्थात् वे उत्तम गति को ही प्राप्त होंगे ।।१८।।

आभास—महर्षीणां कृत्यमाह—

आभासार्थ—वहां पधारे हुये महर्षियों के कृत्य का निरूपण करते हैं—

श्लोक—**महर्षयस्तं समुपागता ये प्रशस्य साध्वित्यनुमोदमानाः ।**
ऊचुः प्रजानुग्रहशीलसारा यदुत्तमश्लोकगुणाभिरूपम् ।।१६।।

श्लोकार्थ—जो महर्षि वहां पधारे हुये हैं, उन्होंने परीक्षित् की प्रशंसा की और 'साधु-साधु' शब्द से राजा के कार्य का अनुमोदन करते हुये, उत्तम श्लोक भगवान् के गुणों का गान करने लगे, जो स्वाभाविक ही उन ऋषियों के लिये प्रजा पर अनुग्रह करने रूप सार वस्तु है ।।१६।।

सुबोधिनी—महर्षय इति । सम्यगुपागता राजनिर्याणपर्यन्तं तद्धितपूरकत्वेन समागताः । तेऽपि प्रशंसां कृत्वा । विप्रप्रशस्तं निरङ्गमपि साङ्गं भवतीति सूचितम् । **अनुमोदमानाः** साधु कृतमिति । अनेनेच्छया कृतत्वदोपो निवारित तेषां तथा कथने हेतुमाह—**प्रजानुग्रहशीलसारा इति।** तेषामृषीणामेते राजानः प्रजाः । तास्वनुग्रहरूपमेव यच्छीलमनुग्रहहेतुभूतं वा तदेव सारो येषाम् । अनेन ते यद्यनुग्रहं कुर्युर्निःसारा एव भवेयुरिति सूचितम् । किञ्च । परमभक्ते राजनि तत्कर्त्तव्यमेवेत्यभिप्रायेण ऽऽह—**यदुत्तमश्लोकगुणाभिरूपमिति** । उत्तमश्लोकस्य गुणेषु श्रवणार्थमभिरूपो योग्यः । अथवा । उत्तमश्लोकगुणैस्तुल्यः । यथा गुणश्रवणार्थं स्थातव्यं तथैतद्दर्शनार्थमपि । प्रथमपक्षेऽयं मुख्योऽधिकारीति श्रोतृ वात्तस्य प्रशंसनं कर्त्तव्यमित्यर्थः ।।१६।।

व्याख्यार्थ—वहां पर महर्षिगण उत्तम प्रमाण से पधारे हैं, ऐसा मूल में कहा गया है । जिसका अभिप्राय यह है, कि राजा का निर्वाण होने तक पूरी तरह उनकी भलाई में लगे रहना । वे ऋषि भी राजा की प्रशसा करने लगे हैं, जिससे जिस कार्य को प्रशंसा ब्राह्मणों ने की है, वह कार्य अंग हीन हो तो भी अंग वाला हो जाता है, ऐसा सूचित किया है । परीक्षित् जी ने ठीक किया है, उसका अनुमोदन करने लगे । राजा ने प्रायोपवेश अपनी इच्छा से किया है, ऐसे दोष का निवारण उनके कार्य-औचित्य का अनुमोदन करने द्वारा किया गया है । महर्षियों के अनुमोदन में कारण बताते हैं, कि ये राजा लोग इन महर्षियों की प्रजा हैं, अतः उन पर कृपा करना ऋषियों का स्वभाव है । वह स्वभाव ऋषियों का सार है । यदि ऋषि, अपनी प्रजा रूप राजा पर अनुग्रह न करें तो वे सार रहित हो जावें, ऐसा सूचित किया है । जिस प्रकार राजा अपनी प्रजा पर अनुग्रह न करने से सारहीन हो जाता है वैसे ही राजागण ऋषियों की प्रजा रूप हैं और उन पर ऋषि अनुग्रह

न करें, तो वे ऋषि निःसार हो जावें। जिस पर भी परीक्षित् परमभक्त हैं, उन पर तो अनुग्रह करना ही चाहिये, इस अभिप्राय से कहते हैं, कि उत्तम श्लोक भगवान् के गुणों में जो श्रवण करने योग्य है, उन्हें कहने लगे। अथवा ये परीक्षित् भगवान् के गुणों में समान हैं, अतः भगवान् के गुणों को सुनने के लिये जिस प्रकार रहना चाहिये वैसे ही परीक्षित् जी की अन्तिम गति देखने के लिये भी रहना ही चाहिये। भगवान् के गुणों को सुनने में ये परीक्षित् मुख्य अधिकारी हैं, अतः श्रेष्ठ श्रोता होने से उनकी प्रशंसा की जानी चाहिये ।।१९।।

आभास—प्रशंसनमेवाऽऽहुः—

आभासार्थ—अब ऋषि परीक्षित् जी की प्रशंसा करते हैं—

श्लोक—न वा इदं राजर्षिवर्य चित्रं भवत्सु कृष्णं समनुव्रतेषु।
येऽध्यासनं राजकिरीटजुष्टं सद्यो जहुर्भगवत्पार्श्वकामाः ।।२०।।

श्लोकार्थ—हे राजर्षि वर्य, कृष्ण का अनुसरण करने वाले आपके लिये यह कोई विचित्र बात नहीं है। भगवान् के पास जाने की कामना वाले आप ने राज-मुकुट से पुष्ट सिंहासन को शीघ्र ही छोड़ दिया है ।।२०।।

सुबोधिनी-न वा इति। हे राजर्षिवर्य ! इदं सर्वपरित्यागेन भगवत्परत्वं भवत्सु चित्रं न। तत्र हेतुः—**कृष्णं समनुव्रतेष्विति।** सम्बोधनेन मर्यादायाः परमसीमा सूचिता। कृष्णमनु व्रतं येष्विति। यथा भगवान्सर्वं कार्यं कृत्वा प्रचलितस्तदीयैरपि तथा कर्त्तव्यमिति। तत्र निदर्शनं भवतां पितामहाः। ये पाण्डवा अध्यासनं सिंहासनं राजकिरीटैर्जुष्टं सार्वभौमासनमप्रतिद्वन्द्व भगवत्पार्श्वगमनेच्छया सद्य एव जहुः। तथा त्वयाऽपि भगवत्पार्श्वे गन्तव्यमित्यर्थः ।।२०।।

व्याख्यार्थ—हे राजर्षियों में उत्तम परीक्षित्‌जी, प्रत्येक का परित्याग करके आप भगवान् में परायण हो गये, यह आपके लिए कोई आश्चर्य की बात नहीं है; कारण, कि आप श्रीकृष्ण के ही आचरणों का अनुसरण करने वाले हैं। 'राजर्षिवर्य' के सम्बोधन से मर्यादा की उत्तम सीमा सूचित की गई है। श्रीकृष्ण का जिन्होंने अनु-व्रत किया है, अर्थात् जैसे भगवान् प्रत्येक कार्य को करने के बाद पधारे, वैसे ही भगवान् के भक्त को भी करना चाहिये। इस प्रसंग में दृष्टान्त देते हैं, कि आपके पितामाह पाण्डवों ने भी भगवान् के पास जाने के लिए तुरन्त राज्यासन छोड़ दिया

था और वह राज्यासन भी साधारण नहीं था प्रत्युत् अनेक राजाओं के मुकुटों से सेवा किया गया चक्रवर्ती राज्य था। अर्थात् जिस राज्य में उनसे युद्ध करने वाला कोई शेष नहीं रह गया था, ऐसे राज्यासन को आपके पितामह ने छोड़ दिया था वैसे ही आपको भी भगवान् के पास जाना चाहिये ॥२०॥

आभास—एवं तं स्तुत्वा तस्याप्नुरोधमिव ज्ञापयन्तो गूढाभिसन्धानेनाऽऽहुः—

आभासार्थ—इस प्रकार परीक्षित्जी की स्तुति करके, जैसे उनसे अनुसरण करने के लिए ही कह रहें हों, इस गूढ़ अभिप्राय से कहते हैं—

श्लोक—**सर्वे वयं तावदिहाऽऽस्महेऽथ कलेवरं यावदसौ विहाय।**
लोकं परं विरजस्कं विशोकं यास्यत्ययं भागवतप्रधानः ॥२१॥

श्लोकार्थ—भगवान् के भक्तों में प्रधान राजा परीक्षित् जब तक शोक व रजोगुण रहित उत्तम लोक में पधारें, तब तक हम सभी ऋषियों को यहाँ ही रहना चाहिये ॥२१॥

सुबोधिनी-सर्वे वयमिति। अस्माभिः स्वोक्तं निर्वाह्य गन्तव्यम् तावत्स्थातव्यमिति। तदेवाऽऽहुः। सर्वं एव वयं यावदयं भगवत्स्थानं गच्छ त तावदिहैवाऽऽस्महे स्थास्यामः। किं कृत्वा कुत्र गमिष्यतीत्याकाङ्क्षायामाह (?) —**अथेति**। सप्तदिनानन्तर कलेवरं विहाय, असौ सङ्घात परित्यागेनैकः, पर लोकं व्यापि वैकुण्ठ, यत्र रजःसम्बन्ध एव नाऽस्ति। शुद्धसत्त्वात्मकं प्रकृतेः परं वा। विशोकमतमस्कं निरवद्य वा। सर्वथा यास्यति। तत्र हेतुः। भागवतेषु प्रधानः। भागवताः प्रधानं यस्येति वा। तावत्स्थातव्यमिति सम्बन्धः ॥२१॥

व्याख्यार्थ—अपन ने जो कहा है, उसे निभाकर ही जाना चाहिये, तब तक हमें यहीं रहना चाहिये। उसे कहते हैं, कि जब तक यह राजा भगवान् के लोक में जावे तब तक हम सभी यहीं रहेंगे। यह राजा क्या करता हुआ और कहांजायेगा? ऐसा जानने की इच्छा होने पर कहते हैं, कि सात दिन के बाद शरीर का त्याग करके अर्थात् पंचमहाभूत के समूह का त्याग करके परलोक याने व्यापि वैकुण्ठ में जायेगा। जहाँ रजोगुण का सम्बन्ध ही नहीं है, वह स्थान शुद्ध सत्त्वात्मक है। वह स्थान प्रकृति से पर है। जहाँ शोक नहीं है, तमोगुण नहीं है अथवा यों कहें कि वह स्थान समस्त दोषों से रहित है। ऐसे स्थल पर यह सावधान हुआ राजा जायेगा। उसमें कारण बताते हैं, कि यह राजा भगवान् के भक्तों में मुख्य हैं अथवा

जिनके लिये भगवान् के भक्त ही मुख्य हैं, अतः जब तक ये व्यापि वैकुण्ठ पधारे तब तक हम लोग यहीं रहेंगे ॥२१॥

आभास—एवं तेषामनुग्रहं श्रुत्वा बहुकालं स्थास्यन्तीति ज्ञात्वा तावन्मया सर्वे सन्देहा निवारणीया इति तदर्थं प्रष्टुं यत्कृतवांस्तदाह—

आभासार्थ—इस प्रकार ऋषियों के अनुग्रह को सुनकर और यह जानकर कि ये बहुत समय तक यहाँ रहेंगे तब तक मुझे समस्त सन्देहों का निवारण कर लेना चाहिये, उस प्रसंग में पूछने के लिये जो कुछ परीक्षित् जी ने किया, उसे कहा जा रहा है—

श्लोक—आश्रुत्य तेषां वचनं परीक्षित्समं मधुच्युतद्गुरु चाऽव्यलीकम् ।
अभाषतैतानभिवन्द्य युक्तं शुश्रूषमाणश्चरितानि विष्णोः ॥ २२ ॥

श्लोकार्थ—पूरी तरह से जिन ऋषियों के मुख से मधु झरता है, ऐसे सारयुक्त और कपट रहित ऋषियों के समूह का वचन सुनकर, भगवान् विष्णु के चरित्रों को सुनने की इच्छा रखने वाले राजा परीक्षित् उन की वन्दना करते हुये इस प्रकार कहने लगे ॥२२॥

सुबोधिनी-आश्रुत्येति । परीक्षितत्वात्तदीयवचनस्य सत्यता निर्धारिता । तेषां वचसि चत्वारो गुणाः सन्ति पुरुषार्थचतुष्टयहेतवः । तत्र **समं** स्वस्य राज्ञश्च तुल्यतया हितचिन्तनम् । अनेन ज्ञानरूपतोक्ता । **मधुच्युत्** । सर्वथा भगवत्समीपं यास्यतीति मधु च्योतति । अनेन कामरूपता । **गुरु च** । अर्थगौरवं तावत्स्थास्याम इति । सर्वहितं तावत्करिष्याम इत्यर्थतुल्यता । चकरात्प्रशंसा च । **अव्यलीकं** निष्कपटम् । **'सद्यो जहुरि'** ति । अनेन धर्मरूपता । एवं सर्वपुरुषार्थरूपं तेषां वचनं श्रुत्वा एतानभिवन्द्य, विष्णोश्चरितानि शुश्रूषमाणो वक्ष्यमाणमुक्तवान् ॥२२॥

व्याख्यार्थ—राजा का नाम परीक्षित् है । जब वे गर्भ में थे तब उन्हें भगवान् के दर्शन हुए थे । उस स्वरूप का ध्यान रखते हुए पुरुषों की परीक्षा करने वाले होने से उनका नाम परीक्षित् हुआ । जिससे उन ऋषियों के वचन सत्य हैं ऐसा निर्धारित किया है । चार पुरुषार्थ के कारण रूप चार गुण ऋषियों के वचनों में हैं । उन्हें कहते हैं—कि स्वयं की और राजा की समानता पूर्वक हित का चिन्तन करने रूपी समता उन वचनों में है । इसी प्रकार "निर्दोषं हि समं ब्रह्म" अर्थात् ब्रह्म का स्वरूप

दोष रहित और समान है, गीताजी में कहा हुआ होने से ऋषियों के वचन में ज्ञानि रूप वाला भान कहा गया है। वे वचन मधु की वर्षा करने वाले हैं। ऐसा कहने से उन वचनों की मीठास बताई गई है। जिससे "यह राजा प्रत्येक प्रकार से भगवान् के पास ही जायेगा" ऐसा कथन बहुत ही मीठा है। जिससे उनकी इच्छा के प्रमाण से रूप प्राप्त करने वाली स्थिति को बताया गया है। वे वचन गौरवपूर्ण हैं, उस अर्थ में गुरुता (बड़ापन) भरी हुई है। यह राजा भगवान् के पास जायेगा, तब तक हमें यहाँ रहना है, इससे तब तक सभी का हित करेंगे, ऐसा कहा गया है। उस अर्थ की समानता बताई जा रही है। मूल में चकार होने से प्रशंसा की गई है। अतः वे वचन कपट रहित हैं। इसलिए भगवान् के पास जाने की कामना वाले राजा ने राज्य सिंहासन का त्याग किया। ऐसा कहकर उन वचनों को धर्म रूप कहा गया है। ऐसे सब पुरुषार्थ युक्त ऋषियों के वचनों को सुनकर राजा ने उन ऋषियों की वन्दना की और विष्णु के चरित्रों को सुनने की इच्छा वाले उस राजा ने कहने योग्य वचनों को कहा।।२२।

आभास—तदेवाऽऽह—

आभासार्थ—अब परीक्षित्‌जी के उन वचनों को कहा जा रहा है—

राजोवाच—

श्लोक—**समागताः सर्वत एव सर्वे वेदा यथा मूर्तिधरास्त्रिपृष्ठे ।**
नेहाऽथ वाऽमुत्र च कश्चनाऽर्थः ऋते परानुग्रहमात्मशीलम् ।।२३।।

श्लोकार्थ—राजा ने कहा जिस प्रकार सत्य लोक में मूर्ति को धारण करने वाले वेद हैं, उसी प्रकार प्रत्येक स्थल से आप ऋषिगण पधारे हैं। आप साक्षात् मूर्तिमान वेदों के समान हो। दूसरों पर कृपा करना आपका स्वभाव है और आप लोगों का यहाँ पधारने का प्रयोजन भी यही है। इसके अतिरिक्त इस लोक और परलोक में आपका कोई दूसरा स्वार्थ नहीं है ।।२३।।

सुबोधिनी—**समागता इति**। अत्र सन्देहे नाऽन्यत्र गन्तव्यम्। यतः सर्वत एव यूयं सर्व समागताः। प्रामाण्यं च भवत्स्वेव निर्णीतमित्याह—**वेदा यथेति**। **त्रिपृष्ठे** सत्यलोके। **मूर्तिधरा** अधिष्ठातृदेवतारूपविग्रहवन्तः। हेतुश्च भवद्वाक्ये नास्तीत्याह—**नेहेति**। इह वाऽमुत्र वा भवतां परानुग्रहव्यतिरेकेणाऽन्यत्प्रयोजनं नाऽस्ति। परानुग्रहोऽपि भवतामुद्देश्यो न भवति। किन्तु

स्वभाव एव । अतः प्रमाणविचारेण प्रमेयविचारेण च भवद्वाक्ये शङ्कैव नास्ति ।।२३।।

व्याख्यार्थ—यहाँ यदि ऋषियों की क्षमता में सन्देह हो जाय तो परीक्षित् को किसी अन्य स्थान पर जाना पड़े, ऐसी स्थिति का निवारण किया गया है। हे ऋषियों ! आप सब प्रत्येक स्थल से पधारे हुये हो । आपकी प्रामाणिकता तो स्वयं में ही निर्णय वाली है, अर्थात् स्वतः सिद्ध है । उसे कहते हैं, कि सत्य लोक में जिस प्रकार वेद आधिदैविक स्वरूप से स्थित रहने वाले हैं, वैसे ही आप हैं । आपके वाक्य में, आपका कोई भी स्वार्थ छिपा हुआ नहीं है । उसे कहते हैं, कि इस लोक में तथा परलोक में दूसरों पर अनुग्रह करने के अतिरिक्त आपका कोई प्रयोजन नहीं है । अन्यों पर अनुग्रह करने में आपका कोई उद्देश्य नहीं, यह तो आपका एक स्वभाव ही है । ।।२३।।

आभास—अतः किञ्चित्पृच्छामीत्याह—

आभासार्थ—"इसलिये मैं आपसे कुछ पूछता हूं"– उसे पूछते हैं—

श्लोक—**ततश्च वः पृच्छ्यमिमं विपृच्छे विश्रभ्य विप्रा इतिकृत्यतायाम् ।**
सर्वात्मना म्रियमाणैश्च कृत्यं शुद्धञ्च तत्राऽऽमृशताऽभियुक्ताः ।।२४।।

श्लोकार्थ—हे विप्रो ! "इस प्रमाण से करना चाहिये", उस निमित्त से आप पर विश्वास रखते हुये मुझे जो पूछना है, उसे पूछता हूं । वह यह, कि सदैव करने योग्य शुद्ध कर्त्तव्य क्या है ? और मरने की तैयारी में किए जाने वाला शुद्ध कर्त्तव्य क्या हैं ? इस विचार से आप सम्पूर्णतया जुड़े हुए हो, अतः इस पर बिचार कीजियेगा ।।२४।।

सुबोधिनी–तत इति । वः युष्मान् पृच्छ्यं प्रष्टव्यमेव '**नाऽपृष्टः कस्यचिद्ब्रूयादि**''ति श्रुतेरिमं बुद्धिस्थं विशेषेण पृच्छे । **विश्रभ्य** भवत्सु विश्वासं कृत्वा युक्तिमप्यविचार्य । **विप्रा** इति पूर्ववत् । **इतिकृत्यतायम्** । इत्येवंप्रकारेण कर्त्तव्यं तदितिकर्त्तव्यम् । तस्य भाव इतिकर्त्तव्यता । तस्याम् । तन्निमित्तं कर्त्तव्यनिर्द्धारः साधनप्रकारनिर्द्धारश्च वक्तव्य इति भावः । तत्र कालविशेषेण कर्त्तव्यं पृच्छति । **सर्वात्मना** सर्वप्रकारेण नित्यतया जीवनदशायां म्रियमाणैश्चान्तकाले कृत्यं किं कर्त्तव्यमिति । **शुद्धम्** । दानादीनां कर्त्तृशुद्ध्यभावात्कर्त्तव्यतासन्देहः । अनेन कालादिहेतूनां यत्र शुद्ध्यर्थं नाऽपेक्षा तद्वक्तव्यमिति फलितम् । तादृशं नाऽस्तीति न वक्तव्यम् । यतो भवन्तोऽभियुक्ताः । अतस्तादृशेऽर्थे आमृशत सर्वतः प्रमाणानि विचारयतेत्यर्थः ।।२४।।

व्याख्यार्थ—"कोई भी पूछे बिना कुछ भी नहीं कहता", ऐसा श्रुतियों में कहा गया है, इसलिये पूछने योग्य विषय को मैं आपसे पूछता हूं। मेरी बुद्धि जिस प्रकार से मुझे प्रेरित कर रही है, उसे मैं विशेष रूप से पूछता हूं। किसी भी बात की युक्ति का विचार किए बिना ही मात्र आप पर विचार करते हुए ही पूछता हूं। कारण यह है, कि आप विप्र हो, अतः विशेष रूप से पूर्ण बनाने वाले हो, अतः मुझे भी आप पूर्ण करेंगे। यह मेरा कर्त्तव्य हैं, इसलिये पूछता हूं। कर्त्तव्य का निर्धार और उसके साधन के प्रकार का निर्धार आपको मुझ से कहना चाहिये। काल के विषय में कर्त्तव्य पूछते हैं, कि सब प्रकार से नित्यपने के भाव से जीवित रहने वाले को क्या करना चाहिये और अन्तकाल के समय मरने की तैयारी करने वाले को क्या करना चाहिये ? दान आदि करने के प्रसंग में जो कर्त्तव्य कहे गये हैं, वे तो करने वाले की शुद्धि के अन्तर्गत हैं, फिर भी अन्तकाल में कर्त्ता की शुद्धि न होने से कर्त्तव्यपने में सन्देह रहता हैं। इसलिये शुद्धि के लिये काल आदि की जिसमें चिन्ता न करना पड़े, ऐसा कर्त्तव्य आप द्वारा मुझ से कहा जाना चाहिये, यह राजा के कहने का अभिप्राय है। आपको यह नहीं कहना चाहिये, कि उस का कोई भी कर्त्तव्य नहीं हैं, कारण कि आप तो सब ओर से जुड़े हुये हो, अतः आप इस अर्थ में सब प्रकार के प्रमाण का विचार कीजिये ॥२४॥

आभास—एवं पृष्टे सर्वपरित्यागकर्त्तुरपरित्यागी गुरुर्न भवतीति भगवत्प्रेरणया शुकः समागत इत्याह—

आभासार्थ—इस प्रकार राजा द्वारा पूछा गया। सब कुछ परित्याग करने वाले का गुरु भी त्यागी ही होना चाहिये। जो त्यागी नहीं है, वह त्याग करने वाले का गुरु नहीं होता। इस समय वहां भगवत् प्रेरणा से सबका परित्याग करने वाले श्री शुकदेवजी महाराज पधारे। अब इसे कहा जा रहा हैं—

श्लोक—**तत्राऽभवद्भगवान्व्यासपुत्रो यदृच्छया गामटमानोऽनपेक्षः।**
अलक्ष्यलिङ्गो निजलाभतुष्टो वृतश्च बालैरवधूतवेषः ॥२५॥

श्लोकार्थ—उस समय पृथ्वी पर घूमते हुये, किसी की चाहना न रखने वाले, जिनके चिह्न प्रकट रूप में दिखाई नहीं दे रहे और जो अपने लाभ से ही संतोष मानने वाले हैं, स्त्रियों तथा बालकों से घिरे हुए और अवधूत वेष वाले भगवान्

व्यास जी के पुत्र श्री शुकदेवजी संयोग से वहां आ निकले ।।२५।।

सुबोधिनी—तत्राऽभवदिति । तत्रैवाऽभवत प्रादुर्भूतः । तथा सामर्थ्ये हेतुः—**भगवानिति** । भगवत्त्वे हेतुः—**व्यासपुत्र इति** । तेषां दृष्टौ तथा भानं माऽस्त्वित्यन्यथा प्रदर्शनमाह—**गामटमान इति** । पृथिवीपर्यटनं परमहंसानां धर्मः । **अनपेक्ष इति** । पर्यटनधर्मेण नहि किञ्चिदपेक्षते । अतो राजवल्लीलया पर्यटनमित्यर्थः । अलक्ष्याणि लिङ्गानि महापुरुषचिह्नानि यस्य । द्वात्रिंशल्लक्षणान्यपि तस्मिन् वर्त्तन्ते । तेषु ज्ञातेषु लोका राजत्वं सम्पादयेयुः । षोडश लक्षणानि राज्ञः । द्वात्रिंशल्लक्षणानि महाराजाधिराजस्य । स भगवान् ब्रह्मविद्वा भवति । तेषां फलमाह—**निजलाभतुष्ठ इति** । निजलाभस्तोषश्चेति फलद्वयम् । निजलाभेन तुष्टः । उभयोर्हेतुमद्भावात् । अत '**आत्मलाभान्न परं विद्यय**" इति न श्रुतिविरोधः । क्रीडारूप पर्यटनमिति ज्ञापयंल्लक्षणापरिज्ञाने हेतुमाह—**वृतश्च बालैरिति** । चकारात्स्त्रीभिरबुधैश्च । लक्षणानां परीक्षाभावायाऽऽह—**अवधूतवेष इति** । अवधूतस्येव वेषो यस्य । देहसंस्काररहितो जडोऽवधूतः । तत्र जडत्वांशो नाऽस्तीति ज्ञापयितुं वेषपदम् ।।२५।।

व्याख्यार्थ—श्री शुकदेवजी वहाँ प्रकट हुये हैं । इस प्रकार प्रकट होने की उन में सामर्थ्य है, इसलिये उन्हें भगवान् कहा गया है । वे भगवान् व्यास जी के पुत्र होने से भी भगवान् हैं । उन ऋषियों की दृष्टि में उस प्रकार का भान न हो जावे, इसलिये उन्हें दूसरी रीति ने बताया जा रहा है । श्री शुकदेवजी पृथ्वी पर घूमते रहते थे । पृथ्वी पर घूमते रहना परम हंसों का धर्म है । उनमें दूसरी किसो भी प्रकार की इच्छा नहीं थी । वे किसी प्रकार की अपेक्षा नहीं रखते थे । वे राजा के समान क्रीडापूर्वक घूमते रहते थे । उन शुकदेवजी के महापुरुषों वाले चिह्न किसी से पहचाने जा सकने वाले नहीं थे । उन में बत्तीस लक्षण थे, यदि वे जानने में आ जावें तो लोग उन्हें राजा मान सकते थे । राजा के सोलह लक्षण होते हैं और राजाधिराज के बत्तोस लक्षण होते हैं । जिन में बत्तीस लक्षण होते हैं वे भगवान् होते हैं अथवा ब्रह्म के स्वरूप को जानने वाले होते हैं । उन लक्षणों के फल को कहते हैं । उन्हें आत्मा का लाभ हुआ हैं, अतः उन्हें अत्यधिक सन्तोष प्राप्त है । ये दोनों फल शुकदेवजी को हुये है । आत्मा के लाभ से वे सन्तोष वाले हैं । आत्म लाभ और सन्तोष, ये दोनों एक दूसरे के कारण रूप हैं, अतः 'आत्म लाभ से बढ़कर दूसरा कोई नहीं", इसमें श्रुति का विरोध नहीं हैं । उनका यह पृथ्वी-भ्रमण तो क्रीडा रूप है, यह बताया गया हैं । उनके लक्षणों का ज्ञान न होने में कारण बताते हैं, कि वे बालकों से घिरे हुये, है । मूल में 'च' कार होने से शुकदेबजी स्त्रियों और अज्ञानियों द्वारा भी घिरे हुये हैं, यह बताया गया है । लक्षणों की

पहचान न हो जावे अथवा परीक्षा न हो जाय. इसलिये उन्होंने अवधूत का वेष धारण किया है। शरीर के संस्कार से रहित जड़ को अवधूत कहते हैं। श्री शुकदेवजी का शरीर के बाह्य केश नख आदि बनाना, वस्त्रादि धारण करना आदि संस्कार नहीं है, परन्तु उनमें जड़त्व का अंश नहीं है। उसे बताने के लिये कहा गया है, कि उन्होंने अवधूत का वेष बना रखा है। अर्थात् वे स्वयं वास्तविक रीति से अवधूत नहीं हैं, प्रत्युत् वह वेष बनाया हुआ है ।।२५।।

आभास—तस्य द्वात्रिंशल्लक्षणान्यपि वक्तुमाह—

आभासार्थ—उन शुकदेवजी के बत्तीस लक्षणों को बताया जा रहा है—

श्लोक—**तं द्व्यष्टवर्षं सुकुमारपादकरोरुबाहूंसकपोलगात्रम् ।**
चार्वायताक्षोन्नसतुल्यकर्णं सुभ्र्वाननं कम्बुसुजातकण्ठम् ।।२६।।

निगूढजत्रुं पृथुतुङ्गवक्षसमावर्त्तनाभिं वलिवल्गूदरञ्च ।
दिगम्बरं वक्त्रविकीर्णकेशं प्रलम्बबाहुं स्वमरोत्तमाभम् ।।२७।।

श्यामं सदाऽपीच्यवयोऽङ्गलक्ष्म्या स्त्रीणां मनोज्ञं रुचिरस्मितेन ।
प्रत्युत्थितास्ते मुनयः स्वासनेभ्यस्तल्लक्षणज्ञा अपि गूढवर्चसम् ।।२८।।

स विष्णुरातोऽतिथय आगताय तस्मै सपर्यां शिरसा जहार ।
ततो निवृत्ता ह्यबुधाः स्त्रियोऽर्भका महासने सोपविवेश पूजितः ।।२९।।

श्लोकार्थ—शुकदेवजी सोलह वर्ष के हैं। उनके चरण, हाथ, जंघाएँ, भुजाएं, कपोल तथा सारा शरीर सुकुमार है। श्री शुक मुनि के नेत्र सुन्दर और आयताकार हैं तथा ऊंची उठी हुई नासिका, समान कान, सुन्दर भौंहें व मुख तथा शंख के समान सुन्दर कण्ठ है। उनका जत्रु (कण्ठ के नीचे की कंधे से मिलाने वाली हड्डियाँ) अर्थात् हँसलियाँ मांसल पने से गहरे रूप में ढंकी हुई हैं। श्री शुकदेवजी का वक्षस्थल पुष्ट एवं ऊपर उठा हुआ है। उनकी नाभि गोलाकार है तथा सुन्दर सलवटों से युक्त पेट मनोरम है। (मूल में चकार होने से पुरुष के भाव चिन्ह का संकेत मिलता है) इस प्रकार शुकदेवजी में बत्तीस लक्षण हैं। वे दिगम्बर

हैं (दिशा रूपी वस्त्रों वाले) तथा घुँगरारे केश बिखरे हुये हैं। उनके हाथ बहुत लम्बे हैं। समस्त देवताओं में भगवान् की कान्ति के समान शुकदेवजी की कान्ति है। उनका वर्ण श्याम है। वे सदैव अपनी मनोहर अवस्था और अंगों की शोभा द्वारा मन्द हास्य से स्त्रियों के मन को भाने वाले हैं। शुकदेवजी यद्यपि अपने तेज को छिपाये हुये वहां पधारे तदपि उनके लक्षणों को जानने वाले ऋषि गण अपने-अपने आसनों पर खड़े हो गये। इन नवागन्तुक अतिथि श्री शुकदेवजी की महाराज परीक्षित् जी ने मस्तक झुकाकर पूजा की। इसके बाद उनके पीछे घेरा बनाये हुये अज्ञानी लोग, स्त्रियाँ और बालक वापस लौट गये। महाराज परीक्षित् जी से पूजा किये गये श्री शुकदेवजी एक बहुत बड़े आसन पर विराजमान हो गये ॥२६॥ ॥२७॥ ॥२८॥ ॥२९॥

सुबोधिनी—तं द्व्यष्टवर्षमिति । तत्र कानिचिदन्तःस्थानि कानिचिद्वहिः स्थितानि । तत्र सर्वत्र स्थितस्य स्वेच्छया प्रादुर्भावसामर्थ्यं षड्गुणैश्वर्यसम्पत्तिः, भगवदीयत्वं, स्वेच्छया लीलाकरणं, निरपेक्षता, तिरोभावसामर्थ्यं, आत्मलाभः, सन्तोषश्च । एवमष्टौ गुणाः पूर्वोक्ताः । अन्यानाह - **द्व्यष्टवर्षम्** । द्विगुणा अष्टौ वर्षा यस्य । षोडशवार्षिकमित्यर्थः । वर्षा हि शरीरस्य वृद्धिक्षयहेतवः । तत्र षोडश वर्षाः केवलं वृद्धिहेतवः श्मश्रूत्पत्त्याऽवसीयन्ते । '**मृता वा एषा त्वगमेध्ये**-" ति श्रुतेः केशानामपि तथात्वेऽप्युत्पत्तिशिष्टत्वान्न ते मृतत्वज्ञापकाः । अतः कालगुण एव तस्य न तत्कृतो दोष इति । अत उभयज्ञापनाय द्व्यष्टपदम् । **अग्रिमश्यासहृयभावाय सम्पन्नस्थापनाय च** । भगवद्विस्मरणहेतवो वा ते । अतो बहुकालीनस्य शिष्टकालस्मरणमाश्चर्यप्रसिद्धिश्चेति गुणद्वयम् । **सुकुमाराः** सुष्ठु कुत्सितं मारयन्तीति निर्दुष्टाः सगुणाश्च पादादयः कपोलान्ता यस्य । तादृशं गात्रं यस्य । अनेन षड्गुणाः । चारु यथा भवति तथा आयते अक्षिणी यस्य । ऊर्ध्वा नासिका यस्य । तुल्यौ कर्णौ यस्य । शोभने भ्रुवौ आनने यस्य । कम्बुवत् शङ्खवत् त्रिवलीयुक्तः सुष्ठु जातः कण्ठो यस्य । अनेन पञ्च । निगूढं जत्रु यस्य । कण्ठमालास्थि जत्रु । पृथु तुङ्गं वक्षो यस्य । आवर्ता नाभिर्यस्य । वलिभिर्वल्गु अश्वत्थपत्रवदुदरं यस्य । एते चत्वारः । चकाराद्गूढचिन्हम् । एवं षड्विंशल्लक्षणान्युक्तानि । मध्ये तस्य लोकोपकारकं कार्यद्वयमाह—**दिगम्बरं वक्रविकीर्णकेशमिति** । तस्य हि शरीरं ब्रह्मभावद्भगवत इव व्यापकम् । तस्य वस्त्रं दिश एव भवन्ति । लौकिकपरिधाने अन्तरा परिच्छेदो लोकपीडा च स्यात् । अतो दिगम्बरत्वम् । वक्रा विकीर्णाः केशा यस्य । ब्रह्मशिवात्मकास्तस्य केशाः । तत्राऽनुत्पादनार्थं वक्रता । अग्रासार्थं च विकीर्णता । अन्यथा ब्रह्मभावमपि ग्रसेदोश । वक्रत्वं गुणश्च । **प्रकर्षेण** लम्बौ बाहू यस्य । आजानुबाहुम् । **स्वमरोत्तमो** भगवान् देवरूपो विष्णुः । तस्यैवाऽऽभा कान्तिर्यस्य । श्यामं श्यामवर्णम् । सर्वदा **अपीच्यं** स्त्रीणां हितकरं यत् वयः तारुण्यं तेनाऽङ्गस्य या लक्ष्मीस्तया स्त्रीणां मनोज्ञं सुखकरम् । अनेन सौन्दर्यातिशय उक्तः । तत्र स्त्रीदृष्टेर्निकषत्वात्तथोक्तम् । रुचिरं च स्मितम् । तेन च स्त्रीणां मनोज्ञम् । स्त्रियो हि द्विविधाः । चतुरा अचतुराश्च । उभयोः परिग्रहार्थं द्वयम् । एवं वक्रकेशादय षट् । एवं लक्षणरूपन्नं दृष्ट्वा

सर्वे मुनय उत्थिता इत्याह—**प्रत्युत्थिता इति**। स्वासनेभ्यस्तं प्रत्युत्थिताः। न त्वन्यथा। तत्र ज्ञानमाह—**तल्लक्षणज्ञा इति**। उत्थाने ज्ञानस्य हेतुत्वम्। ज्ञाने मुनित्वस्य। न तु तल्लक्षणं लौकिकप्रमाणगम्यमित्याह। गूढ़ वर्चस्तेजो यस्य। एव प्रश्नसमये स समागत एवेति राजा उत्थित एवं स्थितस्तत्पदेन परामृश्यते। **विष्णुरात इति**। एतदर्थमेव भगवताऽहं रक्षित इति तस्य ज्ञानं सूचितम्। स च अतिथिरागमने नियतकालरहितः। तस्मै किं देयमत्याकाङ्क्षायां स आत्मानमेवाऽर्हतीति तस्मै शिरसा सपर्यामाजहार। शिरस्तस्मै समर्पितमित्यर्थः। ततो न्यथा भासनार्थे परिगृहीतानां पदार्थानां त्यागं कृतवानित्याह—**तत इति**। गुणकार्याण्यपि निवृत्ताः ततः स पूजितो महासने राजोपवेशनयोग्ये उपविवेश ॥२६॥२७॥२८॥२९॥

व्याख्यार्थ—श्री शुकदेवजी बत्तीस लक्षणों वाले थे। उनमें कितने ही लक्षण भीतर रहने वाले थे। इस प्रकार वे लक्षण सब जगह व्याप्त होकर रहते थे। उनमें स्वयं की इच्छा से प्रकट होने की सामर्थ्य थी। छः गुण वाली ऐश्वर्य की सम्पत्ति से वे युक्त थे। इस तरह उनमें भगवदीयपना है। अपनी इच्छा से लीला करना किसी बात की अपेक्षा न रखना, तिरोधान (छिपजाने) का सामर्थ्य आत्मा का लाभ और संतोष ये आठ गुण पच्चीसवें श्लोक में कथित हैं। इनके अतिरिक्त अब अन्य गुणों को बताया जा रहा है। आठ से दूने सोलह वर्ष की श्री शुकदेवजी की अवस्था है। ये वर्ष शरीर के होते हैं, जो कि उसके वृद्धि और क्षय के कारण रूप हैं। ऐसा, मूँछ का डोरा फूटने से निश्चय हुआ है। "मर जाने वाली यह चमड़ी अपवित्र है," ऐसा वेद में कहा गया है, जिससे केश भी अपवित्र माने गये हैं। तो भी वे उत्पत्ति के अंग रूप होने से मृतपने को बताने वाले नहीं हैं। इस प्रकार शुकदेवजी को सोलह वर्ष के समय का वृद्धि रूपी गुण प्राप्त हुआ है। परन्तु काम को उत्पन्न करने वाला दोष उन्हें प्राप्त नहीं हुआ। इस प्रकार बल आदि वृद्धि रूपी गुण होने पर भी उनमें काम की उत्पत्ति रूप दोष का अभाव है। इस प्रकार दो गुण बताने के लिये ही दो बार आठ वर्ष का प्रयोग किया गया है। अन्यथा एक ही में उन्हें सोलह वर्ष का बता देना चाहिये था। दो बार आठ वर्ष कहे जाने में काम और बुढ़ापा आदि की प्राप्ति न होने को सूचना है, और ज्ञान तथा भक्ति आदि गुणों की प्राप्ति, व स्थापना के लिये दोष के अभाव की सूचना दी गई है। अथवा सोलह वर्ष के बाद वाला समय भगवान् को भुला देने में कारण रूप है। इसलिये अपवित्र चर्म के स्पर्श का अभाव होने से अवशेष समम में वे भगवान् का स्मरण करते हैं, यह बताया गया है। दो बार आठ वर्ष कहे गये हैं, जिससे पीछे वाले अन्य काल का शुकदेवजी को स्मरण है और आर्य लोक में उनकी प्रसिद्धि

है, ये दो गुण बताये हैं। जो सम्पूर्णतया कुत्सित (निंदा करने योग्य) को मारता है, उसे सुकुमार कहते हैं। उस रीति से दोष रहित को सुकुमार कहा गया है और गुण युक्त श्रीशुकदेवजी के चरण आदि हैं। इसलिये चरण, हाथ, हँसलियाँ, भुजाएँ जंघाएँ व कपोलों (गालों) आदि को कोमलता से युक्त बताया गया है। इस प्रकार उनका शरीर सुकोमल है, ये छः गुण कहे गये हैं। उनके नेत्र सुन्दर तथा विस्तार युक्त हैं, नासिका ऊँची है। श्री शुकदेवजी के दोनों कान समान और सुन्दर हैं, मुख के ऊपर शोभा वाली दो भ्रुकुटियाँ और शंख के समान तीन सलवटों वाला श्रेष्ठ कण्ठ है। ये पांच गुण कहे गये हैं। कण्ठमाला में रहने वाली हड्डियों को जत्रु कहते हैं, उनकी वे अस्थियाँ बहुत गहराई में छिपी हुई हैं, वक्षस्थल पुष्ट और ऊँचा है, चक्रीदार नाभी है, त्रिवली युक्त पेट है और उसका आकार पीपल के पत्ते के समान है; इस प्रकार ये चार गुण बताये हैं। मूल में 'च' कार है, जो पुरुषपने के चिह्न को बताने वाला है। इस प्रकार ये छब्बीस लक्षण कहे गए हैं। अब उनका जो लोक विषयक उपकार है, उन दो कार्यों को कहा जा रहा है—कि वे दिगम्बर (नग्न) है तथा केश घुँगरारे और बिखरे हुये हैं। उनमें ब्रह्मभाव होने से भगवान् के समान शरीर का व्यापकत्व है, अतएवं दिशायें ही वस्त्ररूप हैं। यदि वे लौकिक वस्त्र धारण करें तो अन्दर व्यवधान पड़ने से विभाग पड़ जाय और उससे लोक को पीड़ा हो, इसलिये श्रीशुकदेवजी नग्न पधारे हैं। उनके बिखरे हुये केश ब्रह्मा और शिव रूप हैं, कारण कि 'क' और 'ईश' ये दो शब्द मिलकर केश शब्द बनाते हैं। उसमें 'क', ब्रह्मा का अर्थ बताने वाला है और 'ईश' शिव के अर्थ को बताने वाला शब्द है। उन केशों में उत्पन्न करने के लिये बाँकापना है और उनके ग्रास रूप न होने के लिये वे केश बिखरे हुये हैं। यदि ऐसा न हो तो ब्रह्म रूप होने पर भी महादेवजी गल जावें। केशों का बाँकापन उनका गुण है। श्री शुकदेवजी के हाथ बहुत ही लम्बे हैं, वे घुटनों पर्यन्त हैं। देवताओं में विष्णु भगवान् ही सर्वोत्तम हैं। उन विष्णु की कान्ति के समान शुकदेवजी की कान्ति है। उनका श्याम रंग है। सदैव स्त्रियों का हित करने वाली तरुण अवस्था से अंगों की शोभा बढ़ी हुई है। वह शोभा स्त्रियों के लिये सुख उत्पन्न करने वाली है। यह कोई वर्णन किये जाने वाला विषय नहीं है, परन्तु शुक मुनि के सौन्दर्य को अधिकता बताई गई है। जिस प्रकार स्वर्ण की परीक्षा कसौटी से होती है, उसी प्रकार पुरुष के सौन्दर्य की परीक्षा स्त्रियों की दृष्टि रूपी कसौटी से होती है। अतः शुकदेवजी के सौन्दर्यातिशय को

बताने के लिये ही उन्हें स्त्रियों के मन को भाने वाले कहा गया है। वे सुन्दर मन्द हास्य द्वारा स्त्रियों के मन में उतर जाने वाले हैं। स्त्रियाँ चतुर और अचतुर दो प्रकार की होती हैं; उन दोनों की ही शुकदेवजी मनोहर लगते हैं, ये बताने के लिये दो विशेषण हैं। इस प्रकार घुँगरारे केशों से लगाकर छः लक्षण बताये हैं। ऐसे बत्तीस लक्षण वाले श्री शुकदेवजी को देखकर सारे मुनि आसन के ऊपर से खड़े हो गये। उनमें दूसरी प्रकार से शुकदेवजी को जान पाने का ज्ञान नहीं था। उन्हें कहते हैं, कि मुनिगण शुकदेवजी के लक्षणों को जानने वाले थे। उनके खड़े होने में ज्ञान ही कारण रूप था और ज्ञान होने में मुनिपना कारण रूप था। ये ही शुकदेवजी हैं, ऐसा कोई लक्षण लौकिक प्रमाण से नहीं जाना जा सकता था। इसीलिये उनके तेज को बहुत ही गूढ़ बताया गया है। राजा ने जिस समय मुनियों से प्रश्न किया, उसी समय राजा भी खड़े हुये थे, वहाँ शुकदेवजी पधारे, उसे कहते हैं। मूल में 'सः' लिखा हुआ है, जिससे राजा का खड़ा होना बताया गया है। यहां परीक्षित् का नाम विष्णुरात लिखा है, जिसका अभिप्राय: यह है, कि भगवान् ने मेरी रक्षा इसीलिये की थी, ऐसा ज्ञान राजा को है। श्री शुकदेवजी को अतिथि कहा गया है, क्योंकि "जो अनित्यपने से रहते हैं, उसे अतिथि कहते हैं;" ऐसा वचन होने से श्री शुकदेवजी कभी किसी स्थल पर निश्चित किये गये समय प्रमाण से नहीं पधारते। ऐसे मुनि को क्या प्रदान करना चाहिये? ऐसी जानने की इच्छा होने पर कहते हैं, कि वे मुनि आत्मा के ही योग्य हैं, ऐसा समझ कर राजा ने मस्तक नवाकर पूजा अर्पण की, अर्थात् उन्होंने अपने मस्तक को अर्पण किया। इसके बाद दूसरी रीति से बताने के लिये अज्ञानी लोग, स्त्रियां और बालक, जो तमोगुण, रजोगुण और सत्त्वगुण के कार्य रूप में शुकदेवजी ने ग्रहण किये थे; उनका त्याग किया। उसे कहते हैं, कि इसके बाद गुण के कार्य रूप से वे तीनों समूह (स्त्रियां-बालक-अज्ञानी) वापस लौट गये। तत्पश्चात् पूजा किये गये श्री शुकदेवजी महाराज एक राजा के बैठने योग्य विशाल आसन पर विराजमान हुये ।२६।।२७।।२८।।२६।।

आभास—ततः सर्वे ऋषयो दूरस्थिता अपि तस्य परितः समीप उपविष्टा इत्याह—

आभासार्थ—इसके बाद वे सारे ऋषि श्री शुकदेवजी से दूर स्थित होने पर

भी (उस श्रेष्ठ आधिदैविक स्थिति की अनुभूति उस रूप में न होने के कारण भी आत्मिक रूप से ऋषियों की दूरस्थ स्थिति संकेतित की गई हो सकती है) उनके चारों ओर समीप में बैठ गये—उसे कहते हैं—

श्लोक—**स संवृतस्तत्र महान् महीयसां ब्रह्मर्षिराजर्षिसुरर्षिसङ्घैः ।**
व्यरोचताऽलं भगवान् यथेन्दुर्ग्रहर्क्षतारानिकरैः परीतः ॥३०॥

श्लोकार्थ - श्री शुकदेवजी महाराज चारों ओर से ब्रह्मर्षि, राजर्षि और देवर्षियों के समूह से घिरे हुए हैं । वे ज्ञानियों में महान् भगवान् शुकदेवजी ऐसे शोभित हो रहे हैं, जैसे ग्रह, नक्षत्र और ताराओं के समूह में चन्द्रमा अत्यधिक शोभित हो रहा है ॥३०॥

सुबोधिनी—स संवृत इति । ननु सर्वैं संवृतत्वे को हेतुः ? तत्राऽऽह—**महान् महीयसामिति** । ज्ञानिननामपि ज्ञानप्रद इत्यर्थः । तेषां तेजसा तस्याऽधिकतेजस्त्वमेव जातं न तु तत्तेजसोऽभिभव इत्याह—**व्यरोचतेति** । तस्य प्राकृतगुणत्वं वारयति—**अलं भगवानिति** । अलमत्यर्थं पूत्यर्थं वा भगवानेव तद्रूपेण समागतः । तदा तस्य महत्त्वं सर्वजनीनं जातमिति दृष्टान्तमाह । यथा आकाशे चन्द्रमाः ग्रहैर्बुधादिभिः ऋक्षैरश्विन्यादिभिः प्रकीर्णकस्तारानिकरैश्च व्याप्तः । दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोस्तुल्यत्वार्थं त्रिविधा उक्ताः ॥३० ।

व्याख्यार्थ—श्री शुकदेवजी ब्रह्मर्षि आदि सभी से घिरे हुए विराजमान् हैं, उसका कारण कहते हैं, कि वे ज्ञानियों को भी ज्ञान देने वाले हैं । ब्रह्मर्षि आदिकों के तेज से श्री शुकदेवजी का तेज और भी बढ़ गया है । परन्तु उन सबके तेज से श्री शुकदेवजी के तेज को कुछ भी हानि नहीं हुई है । उसे कहते हैं—कि शुकदेवजी बहुत ही शोभित हुए । यह उनका प्राकृत गुण नहीं है, उसे कहते हैं—कि वे भगवान् हैं अर्थात् वे साक्षात् भगवान् ही शुकदेवजी के रूप में पधारे हैं । तब उनकी महानता प्रत्येक स्थल में प्रसिद्ध हो गई है । इसे बताने के लिए एक दृष्टान्त देते हैं, कि जिस प्रकार बुध आदि ग्रहों से और अश्विनी आदि नक्षत्रों से और अन्य दूसरे बिखरे हुए ताराओं के समूह से युक्त चन्द्रमा आकाश में शोभित होता है वैसे ही श्री शुकदेवजी शोभित हो रहे हैं । ब्रह्मर्षि, राजर्षि और देवर्षि ऐसे तीन प्रकार के ऋषियों से वे घिरे हुए हैं, इसलिए दृष्टान्त में भी वे ग्रह, नक्षत्र और ताराओं के समूह से घिरे हुए चन्द्रमा बताये गये हैं । उसमें भी तीन भेद कहे हैं ॥३०॥

श्री सुबोधिनी

श्रीशुकदेवजी श्रीमद्भागवत की कथा सुना रहे हैं ।

आभास—इदानीं प्रश्नसमय एव समागत इत्ययमेव प्रष्टव्यो नाऽन्य इति भगवदिच्छां ज्ञात्वा तं पृष्टवानित्याह—

आभासार्थ—परीक्षित्‌जी ने जिस समय ऋषियों से प्रश्न किया था, उसी समय श्री शुकदेवजी पधारे, अतः शुकदेवजी से ही पूछना चाहिये अन्य से नहीं; ऐसी भगवान् की इच्छा जानकर अब राजा, श्री शुकदेवजी से पूछ रहे हैं—

श्लोक— **प्रशान्तमासीनमकुण्ठमेधसं मुनिं नृपो भागवतोऽभ्युपेत्य ।**
प्रणम्य मूर्ध्नाऽवहितः कृताञ्जलिर्नत्वा गिरा सूनृतयाऽन्वपृच्छत् ।।३१।।

श्लोकार्थ—परम शान्तिपूर्वक विराजमान, तीक्ष्ण बुद्धि सम्पन्न श्री शुकदेवजी को पास में देखकर, भागवत राजा परीक्षित् ने शिर नवाकर प्रणाम किया तथा हाथ जोड़कर विनम्रता पूर्वक सत्य वाणी से इस प्रकार पूछने लगे ।।३१।।

सुबोधिनी–प्रशान्तमिति । गुरुशिष्ययोर्धर्मा उच्यन्ते प्रशान्तादिपदैः । तत्र चत्वारो गुरुधर्मा । ज्ञानं ज्ञानकार्यञ्च अव्यग्रत्वञ्च साधनमिति । प्रकृष्टशान्तिर्ज्ञानकार्या । आसीनमित्यव्यग्रम् । अकुण्ठं मेधो ज्ञानं यस्य । बुद्धेः प्राकृतत्वसम्भावनया तन्निराकरणाय मेधश्शब्दः प्रयुक्तः । मननं साधनम् शिष्यगुणान् वक्तुं महतः शिष्यत्वे गूढार्थकथनमपि भवतीति नृपत्वं भागवतत्वं चाऽऽह—**नृपो भागवत इति** । ततः शिष्यस्य षड् धर्माः । तानाह—**अभ्युपेत्येत्यादिभिः** । प्रथमतो गुरोराभिमुख्येन गमनम् । ततः कायिकः साष्टाङ्गनमस्कारः । ततः सावधानता । ततो विज्ञापनार्थं बद्धाञ्जलित्वम् । ततो वाचिकनमस्कारः । ततो मधुरया वाचा प्रश्न इति । सत्यवाचा वा ।।३ ।।

व्याख्यार्थ—इस श्लोक में गुरु तथा शिष्य के धर्म को प्रशान्त आदि पद से कहा गया है । उसमें ज्ञान, ज्ञान का कर्म, अव्यग्रता और साधन, ये चार गुरु के धर्म हैं । उन्हें पहले बताया जाता है—अत्यन्त शान्ति ज्ञान का कार्य है । बैठने से उनकी अव्यग्रता (स्थिरता) बताई गई है । उनका ज्ञान कभी भी रुकावट वाला नहीं है, इसलिए 'अकुण्ठ' कहा है । श्री शुकदेवजी को बुद्धि पर कोई प्राकृतपने की संभावना करे, उसे दूर करने के लिए 'मेधस्' शब्द प्रयुक्त हुआ है । 'मुनि' कहने से उनके साधन रूप मनन को बताया गया है । इस प्रकार गुरु के चार गुण बताये गये हैं । अब शिष्यों के गुण बताने के लिए कहते हैं, कि कोई विशेष शिष्य हो तो उसे गूढ़ अर्थ भी बता दिया जाता है, इसलिए परीक्षित् का राजापना और भगवदीयपना बताया गया है । इसके पश्चात् शिष्यों के छः धर्म बताये गये हैं । पहला धर्म गुरु के

सम्मुख जाने का है, फिर शरीर द्वारा साष्टाङ्ग दण्डवत् करना, सावधानी से रहना, प्रार्थना करने के लिए हाथ जोड़ना, बाद में वाणी द्वारा नमस्कार करना, तदनन्तर मधुर और सत्य वाणी से प्रश्न करना चाहिये। ये छः गुण शिष्यों में हों, तो ही श्रवण करना सफल हो सकता है ॥३१॥

आभास—प्रश्नार्थं प्रथमतस्तं स्तौति—

आभासार्थ—राजा परीक्षित् प्रश्न करने से पहले श्री शुकदेवजी की स्तुति करते है—

राजोवाच—श्लोक—**अहो अद्य वयं ब्रह्मन् सत्सेव्याः क्षत्रबन्धवः।**
कृपयाऽतिथिरूपेण भवद्भिस्तीर्थकाः कृताः ॥३२॥

श्लोकार्थ—अहो! आश्चर्य है, कि हम क्षत्रिय बन्धु हैं, तो भी आज सत्पुरुषों की सेवा करने योग्य हो गये, क्योंकि आप अतिथि की कृपा से और स्वरूप से हमें तीर्थ रूप बना दिये गये हैं ॥३२॥

सुबोधिनी—अहो इति। अहो अद्य वयमिति पूर्ववत्। **ब्रह्मन्निति** हेतुः। ब्रह्मसाक्षात्कारो बहिर्जात इत्याश्चर्यम्। वयञ्च महान्तो जाता इति किञ्च। सद्भिरपि सेव्यां वयं जाताः। अतः परमुपदेष्टृत्वमपि भविष्यतीत्यर्थः। स्वभावतस्तु वयं क्षत्रबन्धवः। क्षत्रिया बान्धवा येषाम्। क्षत्रियवंशे परमुत्पन्ना न तु तद्धर्मवन्तः। ते च ब्राह्मणपादशौचादाराद्विसृष्टाः। सेव्यताऽतिदूरे। नन्वागमनमात्रेण कथं सत्सेव्यता? तत्राऽऽह कृपयेति। यथा तीर्थानां गङ्गादीनाँ भवत्सम्बन्धेन तीर्थत्वं स्नातृरूपेण तथा वयं गृहस्था अतिथिरूपेण कृपया च करणाभ्यां भवद्भिः कर्तृकैस्तीर्थकाः कृताः। स्वार्थे कः स्वार्थोऽत्र विवक्षित इति ज्ञापनार्थ.। तेनाऽस्मासु नौपचारिकं तीर्थत्वम् ॥३२॥

व्याख्यार्थ—जिस प्रकार पहले ऋषियों के पास में अपनी प्रशंसा की थी, वस्तुतः वह ऋषियों की ही प्रशंसा की गई थी; उसी प्रकार यहाँ भी अपनी प्रशंसा करते हैं, जो कि श्री शुकदेवजी की प्रशंसा के लिए ही है। श्री शुकदेवजी ब्रह्म रूप हो गये हैं, उनका साक्षात्कार बाहर हुआ है, यह आश्चर्य की बात है। इसीलिए 'अहो' अव्यय मूल में दिया गया है। "हे ब्रह्मन्", इस सम्बोधन से, "आप ब्रह्म रूप हो", यह सिद्ध किया है। हम सत्पुरुषों की सेवा करने योग्य हो गये हैं। अब हमें विदेह जनक के समान उपदेश करने का अधिकार मिलेगा। यद्यपि स्वभाव से तो हम

क्षत्रिय बन्धु हैं या क्षत्रिय जिनके बन्धुरूप हैं, ऐसे हम क्षत्रिय वंश में उत्पन्न हुये हैं, परन्तु हमारा अब क्षत्रिय धर्म नहीं है। सत्पुरुषों की सेवा करना तो दूर, पर ब्राह्मणों के चरण धोने का जल जिस स्थान पर गिरता है, उस स्थल तक भी राज कुल की पहुंच नहीं है, यह कथन पहले कह दिया गया है। श्री शुकदेवजी पधारे, उतने मात्र से ही सेवा करने की योग्यता आप में कैसे आ गई? ऐसी शंका होने पर कहते हैं कि गंगाजी आदि में आप स्नान करते हैं और जैसे अपने सम्बन्ध मात्र से उन्हें तीर्थ रूप बना देते हैं, वैसे ही घर में निवास करते हुये हमें कृपा करते हुये अतिथि रूप से पधार कर आपने तीर्थ रूप बना दिया है। जिससे हमारा तीर्थपना गौण न होकर मुख्यता को ही प्राप्त है ॥३२॥

आभास—ननु स्नाने जलस्य देहसंयोगात्तद्गतं पापं तद्द्वारा तेषु गच्छतीति जलस्य तीर्थत्वं भवति। गृहस्थस्य तु कथमागमनमात्रेण तीर्थत्वम्? तत्राऽऽह—

आभासार्थ—गंगा आदि में स्नान करने से तो जल और देह के संयोग होने से पापी पुरुषों के स्नान किये जाने पर उनका पाप उसमें घुला रहता है, वह सत्पुरुषों के स्नान करने से उनमें चला आता है, जिससे वह जल तीर्थ रूप हो जाता है और यहां सत्पुरुष के घर पर आ जाने मात्र से हो तीर्थ रूप बना दिये गये? ऐसी शंका उत्पन्न होने पर कहते है—

श्लोक—**येषां संस्मरणात्पुंसां सद्यः शुद्धयन्ति वै गृहाः।**
किं पुनर्दर्शनस्पर्शपादशौचासनादिभिः ॥३३॥

श्लोकार्थ—जिनके स्मरण मात्र से ही पुरुषों के घर शीघ्रता से पवित्र हो जाते हैं, तो जहाँ उनके दर्शन-स्पर्श चरण प्रक्षालन का जल और असनादिक द्वारा घर शुद्ध हो जावे, उसमें कहना ही क्या? ॥३३॥

सुबोधिनी—**येषामिति**। येषु गृहेषु स्थित्वा भवतां स्मरणं क्रियते तेन स्मरणेन सूर्येणेव सर्वेषां गृहाणामशुद्धिलक्षणं तमो दूरीक्रियते। तत्र किं पुनर्वक्तव्यं भवतां दर्शनं कोटिसूर्याधिक-प्रकाशं ज्ञानेन्द्रियाणां सर्वशोधकम्। स्पर्शस्तु जलस्पर्शवत्साक्षात्पापहारकः। चरणोदकं पुनर्भगवत इवाऽलौकिकजन्महेतुः। आसनादयश्च पूचावयवाः सर्वपुरुषार्थसाधकाः। अतस्तीर्थत्वं युक्तमेवेत्यर्थः ॥३३॥

व्याख्यार्थ—घर में रहते हुये आपका स्मरण होने से, जैसे स्पर्श से अन्धकार दूर होता है, वैसे प्रत्येक घर की अशुद्धि दूर कर दी जाती है। उसके बाद करोड़ों सूर्य से भी अधिक प्रकाश करने वाले और प्रत्येक ज्ञानेन्द्रियों को पवित्र करने वाले आपका दर्शन हो जाय, जल के समान साक्षात् पाप को दूर करने वाला आपका स्पर्श हो जावे, भगवान् के चरणकमल के समान अलौकिक जन्म को प्रदान करने वाले आपके चरण का जल प्राप्त हो जाने और पूजा के अंग के रूप में रहने वाले आसन आदि को आप अर्पण कराये गये हों, तो वे सभी प्रत्येक पुरुषार्थ को सिद्ध करने वाले हैं। उसी प्रमाण से आपकी परिचर्या करने में आवे और जिससे घर की शुद्धि हो जावें, तो उसमें कहना ही क्या? अतः घर का तीर्थ रूप हो जाना योग्य ही है ।।३३।।

आभास—नन्वनुक्तप्रायश्चित्तानि पापानि गच्छन्तु नाम। येषां तु प्रायश्चित्तं विहितं तानि न गच्छन्तीत्यध्यवसीयते। प्रायश्चित्तवैयर्थ्यापत्तेः। इत्याशङ्क्याऽऽह—

आभासार्थ—जिन पापों के निवारण के लिये शास्त्रों में प्रायश्चित्त नहीं बताये गये वैसे पाप सत्पुरुषों के आगमन से जाते हों तो भले ही जाओ, पर जिन पापों का प्रायश्चित्त धर्म शास्त्रों में कहा गया है, और जिनके विषय में यह निश्चय हो गया है कि ये पाप तो निवृत्त होंगे ही नहीं, वैसे पाप केवल सत्पुरुषों के आगमन से चले जाते हों तो धर्म शास्त्र में जिनके प्रायश्चित लिखे हैं, वे सब अर्थहीन हो जावें? ऐसी शंका करके कहते हैं—

श्लोक—सान्निध्यात्ते महायोगिन् पातकानि महान्त्यपि।
सद्यो नश्यन्ति वै पुंसां विष्णोरिव सुरेतराः ।।३४।।

श्लोकार्थ—हे महायोगी, विष्णु समीप में विराजते हों, तो जिस प्रकार दैत्य नष्ट हो जाते हैं, वैसे ही आपके सान्निध्य मात्र से ही पुरुषों के बड़े-बड़े पाप भी शीघ्रता से नष्ट हो जाते हैं ।।३४।।

सुबोधिनी—सान्निध्यादिति। प्रमाणबलेन हि प्रायश्चित्तान्युक्तानि अत्र प्रमेयबलमित्याह—**महायोगिन्निति**। योगोऽस्याऽस्तीति योगी। योगेन स्वस्य पुरुषार्थसाधक। महायोगी तु स्वयोगबलेनाऽन्येषामपि सर्वसाधकः। तत्र पापनिवृत्तिस्तवाऽऽनुषङ्गिकं कार्यमित्याह। महान्त्यपि पातकानि तव सान्निधिमात्रेणैव सद्यो नश्यन्ति। सान्निध्यस्याऽऽवृत्तिमपि नाऽपेक्षन्ते। स्थितिं वा।

तत्र प्रमेयबलमेव दृष्टान्तयति—**विष्णोरिवेति**। यथा विष्णोः सन्निधिमात्रेणैव सुरप्रतिस्पर्धिनोऽपि महान्तो दैत्या नश्यन्ति। तद्वदित्यर्थः ॥३४॥

व्याख्यार्थ—प्रत्येक प्रायश्चित प्रमाण बल से कहे गये हैं, यहां प्रमेय बल से प्रायश्चित्त कहते हैं, कि सत्पुरुषों के सान्निध्य से ही पाप दूर हो जाते हैं। योग से अपने पुरुषार्थ को साधने वाला हो, वह योगी कहलाता है और महायोगी तो अपने योग बल से दूसरों के लिये सब वस्तुओं को सिद्ध करने वाले होते हैं। उसमें पाप की निवृत्ति हो जाना तो आपका आनुषंगिक (मुख्य कार्य के अन्तर्गत प्रासंगिक कार्य) कार्य है। उसे कहते हैं कि महान् पाप भी आपके सान्निध्य मात्र से हो नष्ट हो जाते हैं। बार-बार की सन्निधि अथवा स्थिति की भी अपेक्षा नहीं रखते। उसमें प्रमेय बल ही कारण रूप है। इसके लिये दृष्टान्त देते हैं, कि जिस प्रकार विष्णु भगवान् पास में ही विराजते हों, तो देवताओं से ईर्ष्या करने वाले बड़े-बड़े दैत्य नाश को प्राप्त हो जाते हैं, वैसे ही आपके विराजने से आस पास के भी प्रत्येक पाप नष्ट हो जाते हैं ॥३४॥

आभास—किञ्च, भगवतैवाऽयमुपायः कृतः—

आभासार्थ—इससे अधिक क्या कहूं? कि भगवान् ने ही यह उपाय किया है, परीक्षित् की इस भावना को कहते हैं—

श्लोक—**अपि मे भगवान्प्रीतः कृष्णः पाण्डुसुतप्रियः।**
पैतृष्वस्त्रेयप्रीत्यर्थं तग्दोत्रस्याऽऽत्तबान्धवः ॥३५॥

श्लोकार्थ—मैं ऐसी सम्भावना करता हूं कि पाण्डु के पुत्र जिन्हें प्रिय हैं और पिता की बहिन के (भुआ) पुत्रों की प्रीति के लिये उनके गौत्र का बन्धुपना जिन्होंने ग्रहण किया है, ऐसे श्री कृष्ण भगवान् मुझ पर प्रसन्न हुये हैं ॥३५॥

सुबोधिनी—अन्यथा ब्रह्मदण्डदग्धस्य निस्तारो न भविष्यतीति। तथापि प्रीतः सन्नेव कृतवान्। अन्येनैव पापनिवृत्तेः। अन्यथा स्वकर्त्तव्यत्वमापद्येत। ननु तुभ्यं केन कर्मणा प्रीत इत्याशङ्क्याऽऽह—**पाण्डुसुतप्रिय इति**। पाण्डुसुताः प्रीतिविषया यस्य। ननु तावता तव किमागतम्? तत्राऽऽह—**पैतृष्वस्त्रेयेति**। पितृष्वसुः पुत्राः पाण्डवास्तेषां प्रीत्यर्थम्। अनेन पितुष्वत्स्वसुश्च प्रीतिराक्षिप्ता भवति। **तग्दोत्रस्य** पाण्डवगोत्रस्य। यद्वा। **बान्धवं** बन्धुत्वम्। तदात्तं स्वीकृत येन। तत्प्रीत्यर्थं तद्वंशीयेषु हितं कृतवानित्यर्थः ॥३५॥

व्याख्यार्थ—यदि मैं ही उपाय नहीं करूंगा, तो ब्रह्मदण्ड से भस्म हो जाने वाले परीक्षित् का निस्तार (उद्धार) नहीं होगा, ऐसा विचार कर भगवान् ने ही यह उपाय किया है। उस उपाय को भी भगवान् ने प्रसन्न होकर किया है। कारण, कि वैसा करने में स्वयं को श्रम नहीं होता और दूसरे के पाप की निवृत्ति हो जाती है। यदि प्रभु वैसा न करें तो वह कार्य स्वयं को करना पड़े। कौनसे कर्म से भगवान् आप पर प्रसन्न हुये, ऐसा प्रश्न होने पर कहते हैं—कि भगवान् को पाण्डु राजा के पुत्र बहुत ही प्यारे थे। उसमें तुम्हारे क्या लगे? ऐसी शंका होने पर कहते हैं, कि अपने पिता की बहिन कुन्तीजी होते हैं, जिससे फूफी के लड़कों पर प्रीति रखने के लिये भगवान् मुझ पर प्रसन्न हुये हैं, जिससे पिता और उनकी बहिन की प्रीति का भी आक्षेप हो जाता है, कि दोनों की प्रीति के लिये मेरे ऊपर श्री कृष्ण बहुत प्रसन्न हुये हैं, कारण कि पाण्डवों के कुल का बन्धुपना श्री कृष्ण भगवान् ने ग्रहण किया है अथवा बन्धुपना ही स्वीकारा है, उस प्रीति के लिये उनके वंशज के ऊपर हित किया है ॥३५॥

आभास—अस्मिन्नर्थे साधकं तर्कमाह—

आभासार्थ—इस प्रसंग को सिद्ध करने वाला तर्क कहते हैं—

श्लोक—अन्यथा तेऽव्यक्तगतेर्दर्शनं नः कथं नृणाम्।
नितरां म्रियमाणानां संसिद्धस्य वनीयसः ॥३६॥

श्लोकार्थ—अन्यथा हम जैसे मनुष्यों को, जो मरने की तैयारी में हैं, उन्हें आप सदृश अव्यक्त गतिवालों के दर्शन भला कैसे हो सकते हैं? आप सब प्रकार से सिद्ध हैं? आप, सब प्रकार से सिद्ध हैं और याचना किये जाने पर सब कुछ प्रदान करने में समर्थ हैं ॥३६॥

सुबोधिनी—अन्यथेति । लोके अव्यक्ता गतिर्यस्य । स्वस्थानामपि मनुष्याणां त्वद्दर्शनं दुर्लभम् । कुतः पुनर्मृत्युग्रस्तानाम् । येनाऽदृष्टेन तुच्छनरत्वं मृत्युसंबन्धं च प्राप्तास्तदुभयनिवर्त्तकस्य तस्य तव दर्शनं नाऽदृष्टसाध्यं किन्तु भगवत्साध्यमेव । उभयनिवर्त्तकं रूपमाह **संसिद्धस्य वनीयस इति** । सम्यक् सिद्धस्य अन्यस्याऽपि मृत्युनिवारकस्य । यथा सम्यक् सिद्धो रसः सर्वमृत्युनिवारको भवति । तथाऽयमप्यर्थः । किञ्च । वनयिता याचयिता । वनयितृतमो **वनीयान्** । स्वयं तत्तद्गृहे गत्वा भवद्भ्यः सर्वपुरुषार्थान् दास्यामि प्रार्थयतेति वदन् यो गच्छति स तथा । तादृशस्य तव क्षुद्रनरत्वादिनिवारकस्य दर्शनं भगवत्साध्यमेवेत्यर्थः ॥३६॥

व्याख्यार्थ—लोक में आपकी गति अव्यक्त है। स्वस्थ मनुष्यों को भी आपके दर्शन दुर्लभ हैं। तो फिर मृत्यु द्वारा पकड़े हुये मनुष्यों को आपके दर्शन दुर्लभ क्यों न हों? जिस अदृष्ट के द्वारा तुच्छ पुरुषपने को और मृत्यु के सम्बन्ध को हमने प्राप्त किया है, उन दोनों को दूर करने में आप समर्थ हो। आपका दर्शन होने में किसी अदृष्ट का कार्यपना नहीं है, यह तो भगवान् की कृपा से ही सिद्ध हुआ है। तुच्छ नरपना और मरण के सम्बन्ध को दूर करने वाला आपका स्वरूप है। उसे कहते हैं—कि आप सब प्रकार से सिद्ध हो। जो औषधि सब प्रकार से रस रूप बन गई हो, वह प्रत्येक की मृत्यु का निवारण कर सकती है। आप भी दूसरों की मृत्यु का निवारण करने वाले हो। याचना करने वालों में भी आप उत्तम हो। अन्य याचक तो दूसरे के पदार्थों को ले जाते हैं, पर आप तो अन्यों के घरों पर जाकर यह कहते हैं, "कि मांगो, मैं समस्त पुरुषार्थों को दूंगा"। क्षुद्र नरभाव को दूर करने वाले आपके दर्शन भगवान् की इच्छा से ही सिद्ध होते हैं ।।३६।।

आभास—अतस्तद्दर्शनं दृष्टद्वारैव पुरुषार्थसाधकं भवत्विति किञ्चित्पृच्छामीत्याह—

आभासार्थ—अत: आपके दर्शन दिखाई देने वाले फल को प्रदान करने के लिये पुरुषार्थ को सिद्ध करने वाले होवें, इसलिये कुछ पूछता हूं; इस प्रकार राजा परीक्षित् कहते हैं—

श्लोक— **अतः पृच्छामि संसिद्धिं योगिनां परमं गुरुम् ।**
पुरुषस्येह यत्कार्यं म्रियमाणस्य सर्वथा ।।३७।।

यच्छ्रोतव्यमथो जाप्यं यत्कर्त्तव्यं नृभिः प्रभो ।
स्मर्त्तव्यं भजनीयं वा ब्रूहि यद्वा विपर्ययम् ।।३८।।

श्लोकार्थ—हे योगियों के परम गुरु, हे सब प्रकार से सिद्धिरूप श्री शुकदेवजी महाराज, मैं परीक्षित् आपसे पूछता हूं, कि यहां रहने वाले पुरुष को और समीप-मृत्यु वाले व्यक्ति को जो कुछ करना चाहिये, उसे आप भली प्रकार कहिये ।।३७।।

हे प्रभो, मनुष्यों के लिये जो सुनने योग्य हो, जप करने योग्य हो अथवा जिसे

करना चाहिये, जिसे स्मरण करना चाहिये और जिसका भजन करने योग्य हो, अथवा जो कुछ इसके विपरीत हो, उसे आप मेरे लिये कहियेगा ।।३८।।

सुबोधिनी—**अत इति** । ननु योगीश्वराणां विद्यमानत्वात्तान् विहाय कथं मामेव पृच्छसीत्याशङ्क्याऽऽह । योगिनां **संसिद्धि** सम्यक्सिद्धिरूपम् । यथा बहुकालयोगेन काचिदलौकिकी सिद्धिर्भवति तथैव भवान् योगिनां जातः । तेषां सर्वपुरुषार्थदातृत्वात् । **किञ्च** । तेषां त्वमेव **गुरुः** ज्ञानदाता । तद्द्वारा मोक्षप्रद इत्यर्थः । **किञ्च** । तेषां त्वमेव परमः । परो वासुदेवो मीयते अनेनेति । भक्तिदानाच्छ्रेष्ठो वा । एवं तत्प्रश्ने हेतुमुक्त्वा प्रश्नमाह **पुरुषस्येति** । अत्र द्वादश प्रश्नाः । अधिकारिणो द्वैरूप्यात्कर्मणां पञ्चविधानां च द्वैरूप्यात् । यद्यपि विंशतिभेदा भवन्ति तथापि कर्तृभेदस्य नियतत्वाद्विपरीतपञ्चके सम्बन्धाभावाद्विशकलिततया प्रश्न इति द्वादशविधत्वम् । तत्र प्रथममाह । इहैव गृहस्थाश्रमे स्थितस्य जीवतः पुरुषस्य यत्कार्यं कृतिसाध्यं तत्यथयेति । द्वितीयमाह **म्रियमाणस्येति** । म्रियमाणस्य सर्वथा आवश्यकं यत्कर्त्तव्यं तदाहेति (?) इदानीं साधारण्येनाऽऽह । म्रियमाणेन जीवता वा यच्छ्रोतव्यम् । श्रोत्रेन्द्रियं कुत्र व्यापारणीयम् । अनेन ज्ञानेन्द्रियाणां बाह्यानामन्येऽपि भेदा अर्थादुक्ताः । इदानीं प्रक्रियान्तरेण वाङ्मनसस्य मिथुनस्य कर्त्तव्यो यो जपः स च वक्तव्यः । एवं ज्ञानेन्द्रियद्वयस्य कृत्यं पृष्टवा केवलकर्मेन्द्रियाणां कर्त्तव्यं पृच्छति—**यत्कर्त्तव्यमिति** । नृभिरिति साधारण्येन । तथा कथने सामर्थ्यं सूचयति—**प्रभो इति** । एवं त्रयं वैदिकमार्गेण पृष्टवा भक्तिमार्गेण द्वयं पृच्छति । **स्वर्त्तस्यमान्तरम्** । **भजनीयं** बाह्यम् । **वेत्यनियमे** । आन्तरमपि भजनीयम् । अथवा निषेधमुखेन वक्तव्यम् । इतरनिषेधस्य शेषाभ्यनुज्ञाफलकत्वात् । अन्यथोभयकरणं प्रसज्येत । नियमविधावावश्यकदैहिकानां बाधः प्रसज्येत । अतस्तद्वैपरीत्येन वा वक्तव्यमित्याह—**यद्वेति** । **विपर्ययम्** । इदं न कर्त्तव्यमित्यादिरूपम् ।। ३७ ।। ३८ ।।

व्याख्यार्थ—योगीश्वरों के होते हुये मुझसे क्यों पूछते हो ? ऐसी शंका होने पर कहते हैं—कि योगियों के सिद्धिरूप तो आप ही हो अर्थात् आप से ही योगियों को सिद्धि प्राप्त होती हैं । जिस प्रकार बहुत समय बाद किसी योगी को सिद्धि प्राप्त होती है, उसी प्रकार आप योगियों से आकर मिले हो । आप उन्हें समस्त पुरुषार्थ प्रदान करते हो । अतः आप योगियों के गुरू हो । आप उन्हें ज्ञान प्रदान करते हो और उस ज्ञान द्वारा मोक्ष देने वाले भी आप ही हो । योगियों के आप ही परम हो । जिनके द्वारा वासुदेव भगवान् जाने जाते हैं, उन्हें परम कहा जाता है । उसी प्रमाण से आप भक्ति प्रदान करते हो । जिससे वे भगवान् के स्वरूप को समझ सकते हैं । अतः आप परम हो । अथवा उन्हें आप भक्ति प्रदान करते हो, जिससे उत्तम हो, इसलिये मैं तुमसे पूछता हूं । पूछे जाने में कारण का कथन करके अब पूछना प्रारंभ करते हैं, कि सुनना आदि कर्म पाँच प्रकार के हैं और उससे उलटे विषय के जो प्रश्न हैं वे कर्म भी

पांच प्रकार के हैं। इस प्रकार दस प्रकार के कर्म हैं। इसी प्रकार कर्ता भी दो प्रकार के हैं। एक वह जो जीवन जी रहा है और दूसरा वह जो मरने की तैयारी में लग गया है। उस एक-एक कर्त्ता के दस-दस कर्म हैं। जिससे दोनों कर्त्ताओं के बीस कर्म हुये, परन्तु उनका पांच प्रकार के विपरीत कर्मों में सम्बन्ध नहीं है। जीवित रहने वाले के पांच कर्मों में मृत्यु को प्राप्त होने वाले पुरुष का सम्बन्ध नहीं है और इसी प्रकार मरने वाले मनुष्य के पांच कर्मों में जीवित रहने वाले मनुष्य का सम्बन्ध नहीं है। कर्त्ता तो दो प्रकार के निश्चित हो ही गये हैं। ये दोनों कर्त्ता और इनके पांच-पांच कर्म मिलकर बारह होते हैं। उनमें से प्रथम को कहा जा रहा है, कि यहां ही गृहस्थाश्रम में रहने वाले जीवित पुरुष को जो करने योग्य हो, प्रथमतः उसे ही कहिये। दूसरे के लिये पूछते हैं, कि जो मरने की तैयारी में हो, उसके लिये जो आवश्यक कर्म हो, उसे बताइये। अब साधारणतया कहते हैं, कि जो मरने को तैयार बैठा है और जो अभी जीवित रहने की स्थिति में है, उन दोनों के ही जो सुनने योग्य हो, उसे कहिये इन कर्ण इन्द्रियों को किस कार्य-व्यापार में नियुक्त किया जावे, उसे सुनाइयेगा। इस प्रश्न से बाहर की ज्ञानेन्द्रियों का कहा गया भेद समझना है। अब दूसरी प्रक्रिया से पूछते हैं, यह बताने के लिये 'अथ' अव्यय का प्रयोग किया गया है। मन तथा वाणी दोनों द्वारा सम्मिलित होकर, जो जप करना योग्य हो, उसे कहिये। इसलिये जप में वाणी तथा मन को एकाग्र रखना चाहिये। अब इन दो ज्ञानेन्द्रियों का कर्त्तव्य पूछकर केवल कर्म इन्द्रियों का कर्त्तव्य पूछते हैं, कि जो साधारण मनुष्यों को करने योग्य है उसे बताइये। वैसा कहने में आपकी सामर्थ्य है, यह बताने के लिये 'प्रभो' सम्बोधन दिया गया है। इस प्रकार वैदिक मार्ग से तीन प्रश्न किये हैं, अब भक्ति मार्ग द्वारा दो प्रश्न किये जा रहे हैं—कि स्मरण करने योग्य क्या है? और भजन करने योग्य क्या है? उन्हें कहिये। स्मरण करना अन्दर का कार्य है। भजन करना बाहर का कार्य है। मूल में 'वा' अव्यय दिया गया है, जिससे यह सूचित होता है कि मात्र यही नियम नहीं है। अन्दर भी प्रभु का भजन हो सकता है अथवा मुख से कहना निषेध है। बाकी के कर्त्तव्य बताते हैं। जो नहीं करने योग्य कर्त्तव्य हैं, उन्हें न बताने पर भी करने योग्य कर्त्तव्यों के आधार पर न करने योग्य समझा जा सकता है। जो न करने योग्य कर्म को नहीं कहोगे, तो दोनों प्रकार का कर्त्तव्य प्राप्त हो जायेगा। उदाहरण के रूप में जैसे—पांच नख वाले पांच पशु भक्षण करने योग्य नहीं है, ऐसा कहने से बाकी के बचे

हुये भक्षण करने योग्य नहीं है यह समझ लिया जाता है। ऋतुकाल में ही स्त्री से समागम करना चाहिये, इस कथन से अन्य समय में नहीं करना चाहिये, यह बात स्वतः सिद्ध हो गई। उसमें नियम विधि मानने से कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य का बोध हो जाता है, परन्तु ये दोनों ही स्थितियां कर्त्तव्य हैं, ऐसा बोध नहीं होता। उसी प्रमाण से यहां भी नियम विधि प्रमाण से कर्त्तव्य बताये जायें तो दोनों को करने वाली बात सिद्ध नहीं होती। इसे स्पष्ट करने के लिये इन कर्त्तव्यों का विपरीतपना भी बताइयेगा। ऐसा प्रश्न क्यों किया गया? ऐसी शंका नहीं करना चाहिये। कारण, कि जो कर्त्तव्य बताये गये हैं, उनमें ही नियम विधि मानना चाहिये, इसके अतिरिक्त और कोई कर्म नहीं करना है। उसमें आवश्यक रूप से करने योग्य देहादिक धर्म में भी बाधा आती है, इसलिये जो विपरीत कर्म हैं, उन्हें भी पूछा गया है, कि आप उन्हें भी कहिये। जिससे यह करना चाहिये और यह नहीं करना चाहिये समझा जा सके ॥ ३७ ॥ ३८ ॥

आभास—नन्वेकदैव किमित पृच्छ्यते? तत्राऽऽह—

आभासार्थ—एक ही समय में ये सारे ही प्रश्न क्यों कर लिये गये? उसका समाधान कहते हैं—

श्लोक—**नूनं भगवतो ब्रह्मन् गृहेषु गृहमेधिनाम् ।**
न लक्ष्यते ह्यवस्थानमपि गोदोहनं क्वचित् ॥३९॥

श्लोकार्थ—हे ब्रह्मन्, यह निश्चित है, कि गृहस्थियों के घरों पर आपका ठह-राव कभी भी गाय को दोहने के समय जितना भी नहीं होता, मुझे ऐसा ही लगता है ॥३९॥

सुबोधिनी—नूनमिति। हे ब्रह्मन्! क्षोभाभावाय सम्बोधनम्। गृहमेधिनां गृहेषु भगवतस्तवाऽवस्थानं न लक्ष्यते। कदाचिद्दैवगत्या भवेच्चेदवस्थानं तदपि गोदोहनमात्रम्। गौर्दुह्यते यावता कालेन स कालो गोदोहनम्। **क्वचिदिति**। भिक्षोत्तरादानगृहे। यद्यपि परमहंसानां भिक्षादिनियमो नाऽस्ति। योगिनां तु सुतरामेव। तत्रापि साक्षाद्भगवद्भावं प्राप्तस्य। तत्रापि गृहे मेधा बुद्धिर्येषाम्। केवलप्रवृत्तिस्वभावानाम्। तत्रापि पुत्रादिगृहेष्वपि मोहाधिक्ययुक्तेषु। तिरस्कारसम्भवात्। '**वानप्रस्थाश्रमपदेष्वभीक्ष्णं भैक्ष्यमाचरेदि**'ति वाक्यात्। भिक्षार्थमागतस्य

भिक्षाऽदाने सर्वमेव सुकृतं गच्छेदिति तच्छङ्कया कार्यव्यापृतत्वं सम्भाव्य धर्मकार्यत्वबोधनाय गोदोहनमात्रं तिष्ठेत् । अनेनाऽग्निहोतृणां गृहस्थानाँ गृहे कदाचित्तिष्ठेदित्युक्तं भवति ।।३९।।

व्याख्यार्थ—क्षोभ न होने देने के लिए "आप ब्रह्म रूप हो", ऐसा सम्बोधन दिया गया है । गृहस्थियों के घरों में आपकी स्थिति नहीं जानी जा सकती । दैवगति से कभी कुछ स्थिति बनती भी है, तो वह एक गाय दोहने के समय जितनी ही बन पाती है । कभी भिक्षा लेने पधारे हों, तब जिस घर में भिक्षा का उत्तार न मिला हो, तो उस घर में गाय दोहने के समय तक आप स्थित रहते हो । यों तो परम हंसों के लिए भिक्षा आदि का कोई नियम नहीं है, उसमें भी योगियों के लिए तो भिक्षा के लिए कोई आवश्यक नियम नहीं है । उन सब में भी जो साक्षात् भगवान् के भाव को प्राप्त हुए हैं, उन महानुभावों के लिए तो यह नियम सर्वथा ही नहीं है । तिस पर भी जिनकी बुद्धि घर में ही लगी हुई है, लोक की प्रवृत्ति में ही जो रचे-पचे हैं, उनके घरों में तो आप जैसे भगवद्भाव को प्राप्त, भिक्षा के हेतु पधारते ही नहीं । जो बहुत ही मोह करने वाले हैं, ऐसे पुत्रों आदि से युक्त घर में भो तिरस्कार होना सम्भव है, इसलिए उनके घरों में गाय के दोहने जितने समय भी आप सदृश नहीं ठहरते । "वानप्रस्थ आश्रम के स्थानों में सर्वदा भिक्षा करे", ऐसे परमहंसों के धर्म-वाक्य हैं । जिससे गृहस्थ आश्रमियों के घर में आपकी स्थिति हो ही नहीं सकती । ऐसा होते हुए भी कभी आप भिक्षा के लिए पधारे हों और वह भिक्षा न दे, तो उस गृहस्थाश्रमी का सारा पुण्य जाता रहता है । इस शंका से, कि कहीं गृहस्थाश्रमी किसी काम में लगा हुआ होगा, ऐसी सम्भावना करके आप वहाँ केवल गाय को दोहने के समय तक स्थित रहते हो । गृहस्थाश्रमी धर्म के काम में रुका हुआ हो और उसे भिक्षा देने में विलम्ब हो जाय, इसे बताने के लिए मात्र गाय को दोहने जितने समय तक उसके घर खड़े रहते हैं; जिससे अग्निहोत्र वाले गृहस्थाश्रमी के घर गाय दोहने के समय तक अर्थात् कुछ समय तक रुके रहने का अभिप्राय बताया गया है ।।३९।।

आभास—एवं पृष्टे उत्तारं दातुं यत्नं कृतवानित्याह सूतः—

आभासार्थ—इस प्रकार राजा परीक्षित् के पूछने पर उन्हें उत्तार देने के लिए श्री शुकदेवजी महाराज तत्पर हुए, ऐसा सूतजी कहते हैं—

सूत उवाच—

श्लोक—**एवमाभाषितः पृष्टः स राज्ञा श्लक्ष्णया गिरा ।**
प्रत्यभाषत धर्मज्ञो भगवान् बादरायणिः ॥४०॥

श्लोकार्थ—इस प्रकार राजा परीक्षित् द्वारा कोमल वाणी से स्तुति पूर्वक पूछे जाने पर; धर्म के जानने वाले, व्यासजी के पुत्र भगवान् श्री शुकदेवजी उत्तर देने लगे ॥४०॥

सुबोधिनी—एवमाभाषित इति । **आभाषितः** स्तुतः । **श्लक्ष्णया** स्नेहप्रकाशिकया । अवक्रया वा । **प्रत्यभाषत** प्रतिप्रश्नमुत्तरं दत्तवान् । ब्रह्मविदस्तथा कथने हेतुः—**धर्मज्ञ इति** । "**अब्रुवन् विब्रुवन् वा**ऽपी"ति निषेधज्ञः । उत्तरदानेऽपि स्वस्य काऽपि क्षतिर्नाऽस्तीति ज्ञापयितुमाह—**भगवानिति** । आवश्यकत्वायाऽऽह—**बादरायणिरिति** । अन्यथा व्यासस्य भागवतकरणं व्यर्थं स्यात् । अतः शरीरं तत उत्पन्नमिति तन्निष्कृत्यर्थमप्युक्तवानित्यर्थः । एवमुत्तरावधि कृत्यं प्रथमस्कन्धे निरूपितमिति ॥४०॥

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मज श्रीवल्लभदीक्षित-
विरचितायां प्रथमस्कन्धे ऊनविंशोऽध्यायः ॥१९॥

व्याख्यार्थ—राजा परीक्षितजी ने श्री शुकदेवजी महाराज की स्तुति की और स्नेह को प्रकाशित करने वाली वाणी से प्रश्न किया, किसी प्रकार के वक्र शब्द से नहीं पूछा । उन प्रत्येक प्रश्नों का उत्तर श्री शुकदेवजी ने द्वितीय स्कन्ध के प्रारम्भ में दिया है । शुकदेवजी ब्रह्म को जानने वाले हैं, अतः उनको उस प्रमाण से उत्तर देने में कारण कहते हैं, कि वे अपने धर्म को जानने वाले हैं, इसलिए "सभा में प्रश्न होवे, और तब उत्तर नहीं दिया जावे अथवा उल्टा उत्तर दिया जावे तो वह मनुष्य के लिये घातक होता है", ऐसा मनु स्मृति आदि में लिखा है । शुकदेवजी ऐसे धर्म को जानने वाले हैं । जो जानता है, यदि वह नहीं बोलता तो निषेध है । उत्तर देने में भी उन्हें किसी बात की हानि नहीं है, यह बताने के लिए कहा गया है, कि वे भगवान् हैं । उत्तर देने की आवश्यकता बताने के लिए कहते हैं, कि वे व्यासजी के पुत्र हैं । यदि वे उत्तर न दें तो व्यासजी का भागवत बनाना ही निरर्थक हो जावे । यह इसलिए भी कि उनका शरीर व्यासजी से उत्पन्न हुआ है, इसलिए उस दायित्व का पालन करने के लिये या निवृत्ति के लिये, उन्होंने उत्तर प्रदान किया है । इस प्रकार शुकदेवजी द्वारा उत्तर दिये जाने की अवधि के कार्य को प्रथम स्कन्ध में निरूपित कर दिया गया है ॥४०॥

अब श्री वल्लभाचार्यजी द्वारा इस स्कन्ध की समाप्ति पर जो सुबोधिनी विषयक कारिकायें अन्त में लिखी गई हैं, वे इस प्रकार हैं—

कारिकायें—**आद्यस्कन्धस्य विवृतिः श्रीकृष्णचरणाम्बुजे ।**
निवेदिताऽतियत्नेन वाक्पुष्पाञ्जलिरुज्ज्वला ।।१।।
सुज्ञेषु हस्तयुगलं पुरतो निधाय
विज्ञापयामि मुरवैरिपदाब्जनिष्ठः ।
उच्छृङ्खलाऽपि विवृतिर्मम चिन्तनीया
श्रीकृष्णपादयुगले विनिवेशितेति ।।२।।

कारिकार्थ—प्रथम स्कन्ध की विवृति (व्याख्या) करने के लिए उज्ज्वल वाणी रूपी पुष्पाञ्जलि अत्यन्त परिश्रम से श्रीकृष्ण भगवान् के चरण कमलों में निवेदन की है ।।१।।

श्रीमदाचार्यजी अपने भाव व्यक्त करते हैं, कि मुर दैत्य के शत्रु श्रीकृष्ण भगवान् के चरण कमलों में मैं निष्ठा वाला हूं । जो श्रेष्ठ को जानने वाले सुज्ञ हैं, उन पुरुषों के सामने मैं दोनों हाथ आगे रखकर यह विज्ञापित करता हूं, कि मेरे द्वारा की गई यह व्याख्या; हो सकता है कि उच्छृङ्खल हो (मर्यादा का उल्लंघन कर गई हो), तो भी उसे श्रीकृष्ण भगवान् के दोनों चरणों में पधराया गया है, अतः यह विवरण चिन्तन करने योग्य है ।।२।।

इति श्रीमद्भागवत महापुराण, प्रथमस्कन्ध के १९वें अध्याय की
श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण कृत श्री सुबोधिनी (संस्कृत टीका)
के 'उत्तमाधिकार प्रकरण' का तेरहवां अध्याय
हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण

—❀❀—

।। श्री हरिः ।।

१९वें अध्याय की कथा का सार

राग—धनाश्री

इत-उत देखत जनम गयो ।
या झूठी माया कें कारन, दुहुं दृग अंध भयौ ।
जनम कष्ट तैं मातु दुःखित भई, अति दुःख प्रान सह्यौ ।
वै त्रिभुवनपति बिसरि गए तोहिं, सुमिरत क्यौं न रह्यौ ।
श्री भागवत सुन्यौ नहिं कबहूं, बीचहिं भटकि मरयौ ।
सूरदास कहै, सब जग बूड़्यौ, जुग-जुग भक्त तरयौ ।

राग—देवगंधार

बिरथा जनम लियौ संसार ।
करी कबहुं न भक्ति हरि की, मारी जननी भार ।
जज्ञ, जप, तप नाहिं कीन्ह्यौ, अल्प मति बिस्तार ।
प्रगट प्रभु नहिं दूरि हैं, तू, देखि नैन पसार ।
प्रबल माया ठग्यौ सब जग, जनम जूआ हार ।
सूर हरि कौ सुजस गावौ, जाहि मिटि भव-भार ।

राग—सोरठ

काया हरि कैं काम न आई ।
भाव-भक्ति जहँ हरि-जस सुनियत, तहाँ जात अलसाई ।।
लोभातुर है, काम मनोरथ तहाँ, सुनत उठि धाई ।
चरन-कमल सुन्दर जहँ हरि के, क्यौंहुं न जाति नवाई ।।
जब लगि स्याम-अङ्ग नहिं परसत, अंधे ज्यौं भरमाई ।
सूरदास भगवंत-भजन तजि, बिषय परम विष खाई ।।

राग—धनाश्री

सबै दिन गये बिषय के हेत ।
तीनौं पन ऐसें हीं खोए, केस भए सिर सेत ।
आँखिनि अंध, श्रवन नहिं सुनियत, थाके चरन समेत ।
गंगा-जल तजि पियत कूप-जल, हरि तजि पूजत प्रेत ।।
मन-बच-क्रम जौ भजै स्याम कौं, चारि पदारथ देत ।
ऐसे प्रभु छाँड़ि क्यौं भटके, अजहूं चेति अचेत ।।
राम नाम बिनु क्यौं छूटौगे, चंद गहैं ज्यौं केत ।
सूरदास कछु खरच न लागत, राम नाम मुख लेत ।।

॥ श्री हरिः ॥

❋ अनुक्रमणिका ❋

श्रीमद्भागवत प्रथम स्कन्ध द्वितीय खंड श्लोकानामकारादि वर्णानुक्रमः

श्लोक	पृष्ठम्
अ	
अग्निर्निसृष्टो	१८१
अंगुष्टमात्रं	१:९
अजातशत्रुः कृतमैत्र	१९१
अजातशत्रुः पृतनां	५५
अतः पृच्छामि	५४१
अत्रिर्वसिष्ठः	५०७
अथ दूरागतान्	५६
अथवा देवमायायां	३९४
अथाऽऽजगाम्	१९८
अथाऽपि यत्पाद	४५४
अथाऽविशत्	१०३
अथैतानि	४१५
अथोदीचीं	१८६
अथो विहाय	५००
अद्यैव राज्यं	४९७
अनेवक्षमाणः	३१७
अन्यथा ते	५४०
अन्ये च देवर्षि	५०७
अन्योन्यमासीत्	२६
अपापेषु	४८५
अपि देवर्षिणा	२३२
अपि नः	१६८
अपि मय्यकृतप्रज्ञे	१९४
अपि मे	५३९
अपि स्मरथ	१६४
अपि स्वस्त्यासते	२४२
अपि स्वित्पर्य	२५४
अपीपलन्	१२४
अप्येष वंश्यान्	१४१
अप्रत्तर्क्यांत्	३९१
अबिभ्रदर्यमा	१७२
अभूतपूर्वः	४६६
अमूनि पञ्च	४१३
अरक्ष्यमाणाः	३४७
अलक्ष्यमाणे	४८०
अवापुर्दुरवायां	३२१
अश्रूमन्ताऽऽशिषः	२५
अश्वत्थाम्नोपसृष्टेन	१२२
अस्त्रतेजः	१३२
अहस्तानि सहस्तानां	२०९
अहो अद्य	५३६
अहो अधर्मः	४६९
अहो अलं	४५
अहो बत	४७
अहो महीयसी	१८१
अहो वयं	४४८
अहो वयं धन्यतमा	५१०
अहो सनाथा	७४
अहं हि पृष्टः	४५९
आ	
आख्याहि वृष	३८३
आजहार	३३२
आत्मानञ्च	३५५
आत्मानञ्चाऽनुशोचामि	३४३
आत्मारामश्च	६४

श्लोक	पृष्ठम्
आनर्त्तान स	६२
आमन्त्र्य चाऽभ्य	१०
आश्रुत्य तेषां	५२४
आसते कुशलं	२४२
आस्तेऽधुना	४१८
इ	
इति चिन्तयतः	२४०
इति चोदीरिताः	७९
इति धर्म	४०१
इति पुत्रकृताघेन	४८७
इति राज्ञ उपादिश्च	१४९
इति लङ्घितमर्यादं	४७४
इति व्यवच्छिद्य	५०५
इति स्म	५१८
इत्थम्भूतानुभावो	४१९
इत्युक्तो धर्मराजेन	१६८
इत्युक्त्वाऽथ	२२५
इत्युक्त्वा रोष	४७३
इदं ममाऽऽचक्ष्व	३५०
इदानीं धर्म	३९७
इमे चाऽन्ये	३५२
इमे जन पदा	२३८
इयञ्च भूः	३९९
उ	
उत्सृज्य सर्वतः	४२४
उद्दामभावपिशुना	१११
उद्धवः सात्यकिः	२३
उपवर्णितमेतद्वः	४३३
उषित्वा हास्तिनपुरे	१०
ऊर्ध्वक्षिबाहवो	२३४
ए	
एकदा धनुरुद्यम्य	४६१
एतदीशनं	११५
एतद्वः पाण्डवेयानां	३८६
एताः परं	५२

श्लोक	पृष्ठम्
एतावताऽलं	४५३
एवं कृष्णसखः	२५८
एवं गृहेषु	१७४
एवं चिन्तयतः	२९७
एवं तु	५२०
एव धर्मे	३६२
एवं नृपाणां	१०८
एवं बलिष्ठैः	२६४
एवमाभाषितः	५४६
एवं राजा	१८८
एवं विद्या	५४
एष किं	४६७
एष दाता	१४३
एष राज्ञः	३८०
क	
कच्चित्तेऽनामयं	२५०
कच्चित्त्वं ब्राह्मणं	२५२
कच्चित्त्वं नागमः	२५३
कच्चिदानर्त्तपुर्याम्	२४१
कच्चिन्नाभिहतो	२५१
कच्चित्प्रेष्ठतमेन	२५४
कच्चिद्भद्रे	३४७
कच्चित्कालं	१७१
कया वृत्त्या	१६५
कर्णधार इव	१९९
कर्मण्यस्मिन्	४३७
कच्चिद्राजाऽऽहुको	२४२
कस्त्वं कृष्णे गते	३७५
कस्त्वं मच्छरणे	३७५
कस्य हेतोः	३३५
कामं ववर्ष	८
कालकर्मगुणाधीनो	२०७
कालस्य च गतिं	२२८
का वा सहेत	३६६
किं तु बालेषु	४३२

श्लोक	पृष्ठम्
किं तेऽकामाः	१२६
किं क्षत्र बन्धून्	३४७
कुतः पुनर्गृणतो	४५०
कुरुजाङ्गल	५६
कृच्छ्रेण संस्तभ्य	२६०
कृपया स्नेह	१६५
कृष्णे गते	४७२
केचिद्विकल्पवसना	३८७
को नाम तृप्येत्	४४१
कोऽवृश्चत्तव	३८१
क्षुद्रायुषां नृणां	३३६
ग	
गतस्वार्थ	१८३
गताः सप्ताऽधुना	२३२
गाश्च धर्मदुघां	३७२
गान्धारी द्रौपदी	१६२
गीतं भगवता	२६६
गोपुरद्वार	८३
च	
चीरवासा निराहारः	३१६
ज	
जन्मेऽनागसि	३८४
जलौकसा जले	२६४
जितासनो जितश्वासः	२१८
जिह्माप्रायं व्यवसितं	२२६
जिज्ञासितात्म	१४८
ज्ञान विरक्तिः	३५२
त	
ततश्च वः	५२६
ततः परीक्षित्	३२६
ततः सर्वगुणोदर्के	१३५
ततोऽभ्येत्य	४७५
तत्कथ्यतां	३३६
तत्तथाऽभ्यर्थितः	४१२
तद्ध्यानोद्रिक्तया	३२१
तद्वै धनुस्त	२६०
तथैवाऽनुचराः	२४२
तदद्य नः	४८१
तदभिप्रेतं	१५३
तदार्थ धर्मश्च	४८२
तदिदं भगवान्	२११
तदिदं श्रोतुं	१२४
तन्न पदं	४४७
तन्नो भवान्	४०४
तन्मे धर्म भृतां	४११
तपः शौचं	३६५
तमयं मन्यते	११३
तमात्मजैः	१०५
तमुपश्रुत्यं	६४
तमूचु ब्रह्मिणाः	१३७
तयोरेवं कथयतोः	३६७
तस्माज्जह्यङ्ग	२०७
तस्मान्नाम्ना	१३८
तस्य जन्म	१२३
तस्य पुत्रोऽतितेजस्वी	४६८
तस्य प्रीतमनाः	१३६
तस्याऽन्तरायो	२२२
तस्याऽपि तव	१८२
तस्यैव मे	५१२
तस्यैवं वर्तमानस्य	३४५
तक्षकादात्मनः	१४८
ताः पुत्रमङ्कं	१०३
तावत्कलिर्न	४२७
तिरस्कृता	४८६
तुलयाम	४३६
तेन सम्भृतसम्भारः	१५३
तेनाऽहं गुणपात्रेण	३५४
तेभ्यः परम	३४३
ते साधु	३१६
तं जिघांसुं	४०२

श्लोक	पृष्ठम्
तं ह्यवष्टवर्ष	५२६
तं पादयोः	२४०
तं बन्धु	१६२
तं मुक्तवन्तं	१६४
तं मेनिरे	११८
तं मोपयान्तं	५१४
तत्र गोमिथुनं	३७१
तत्र तत्र ह	५८
तत्र तत्रो	३४३
तत्र संजय	१६२
तत्राऽभवत्	५२७
तत्रोपजग्मु	५०७
तत्रोपनीत्तबलयो	६४
त्रित्वे हुत्वा	३१२
त्वं वा मृणाल धवल	३७७
त्वां वर्त्तमानं	४०६
द	
ददर्श मुनि	४६१
दह्यमाने	२२२
दर्शनस्पर्शन	१६
देशकालार्थ	२६६
दैवतानि	२३८
दैवेनाऽप्रति	१३७
द्रौपदी च	३२४
द्वारि द्वारि	८५
ध	
धन्विनामग्रणीः	१४४
धर्मपालो नरपतिः	४८४
धर्म पदैकेन	३४६
धर्मं ब्रवीषि	३६३
धूम्रा दिश	२३६
धृतराष्ट्रः	२१५
धृत्या बलिसमः	१४७
ध्रुवं ततो मे	४६५
ध्वस्तमायागुणोदर्को	२२१

श्लोक	पृष्ठम्
न	
न कश्चिन्म्रियते	३३८
न जातु कौरवेन्द्राणां	३७७
नटनर्तक	८८
नताऽस्म ते	६८
न ते गुडाकेश	४०४
नद्यो नदाश्च	२३६
नद्यः समुद्रा	८
नन्वप्रियं	१७०
न पिबन्ति	२३८
नर्मण्युदार	२८५
न वयं	३८७
न वर्त्तितव्यं	४०७
नवा इदम	५२२
न वै नृभिः	४७६
नाऽऽधयो व्याधयः	८
न ऽनुद्वेष्टि	४३०
नाऽह वेद गतिं	१६६
नाऽहं वेदाऽऽत्म	१६७
निगूढजत्रु	५२६
निजग्राहौजसा	३३३
नित्यं निरीक्षमाणानां	६४
निमित्तान्यत्यरिष्टानि	२२६
निशम्य प्रेष्ठं	८६
निशम्य भगवन्मार्गं	३०१
निशम्य भीष्मोक्तं	६
निशम्य शप्तं	४७७
निष्पादितं	२१४
नूनं भगवतो	५४४
नूनं व्रतस्नान	४६
नोत्तमश्लोकवार्त्तानां	४२५
न्यरुन्धन्	२०
प	
पतित पादयोः	४०३
पतिं प्रयान्तं	१८६

श्लोक	पृष्ठम्
पत्न्य: पतिं	१०४
परन्यास्तत्राऽग्नि	२७०
पप्रच्छरथमारूढ़:	३७४
परीक्षितैवं	४१०
पश्योत्पादान्	२३३
पादैन्यूनं	३४७
पार्थ प्रजाविता	१४२
पित्तर्युपरते	१६५
पितामहसम:	१४५
पितृभ्रातृ	१८०
पुनश्च भूयात्	५१५
पुनश्च याचमानाय	४१३
पृथाऽप्युपश्रुत्य	३०२
प्रतिक्रिया न	१७७
प्रत्युज्जग्मु:	१६२
प्रद्युम्नश्चारुदेष्णश्च	८६
प्रद्युम्न: सर्ववृष्णीनां	२४२
प्रविष्टस्तु	१०१
प्रह्वाभिवादन	६१
प्रशान्तमासीनं	५३५
प्रागल्भ्यं प्रश्रय:	३५२
प्रायश: साधवो	४८८
प्रायेणैतद्भगवत:	२६३
प्रासादशिखरारूढ़ा:	२२
प्रीत्युत्फुल्लमुखा:	६४
ब	
ब्रह्मकोपोत्थितात्	४२३
ब्रह्मादयो बहुतिथं	३५६
ब्राह्मणै: क्षत्रबन्धु:	४७१
भ	
भगवानपि गोविन्द:	२४४
भगवांस्तत्र	६०
भद्राश्वं केतुमालं	३४१
भवद्विधा	१६७
भवान् हि वेद	३५१
भवाय नस्त्वं	७१
म	
मङ्गलाय च	२४५
मथुरायां तथा	३०८
मधुभोज	८०
मन्दस्य मन्द प्रज्ञस्य	३४०
मन्य एतै:	२३६
मरुधन्व मतिक्रम्य	५७
महर्षयस्तं	५२१
महीपतिस्त्वथ	४६४
मा कश्चन	२०१
मातुर्गर्भगतो	१२८
मा सौरभेय	३७८
मुमुचु: प्रेम	१६२
मृगेन्द्र इव	१४५
मृत्युदूत: कपोतो	२३५
मृदङ्गशङ्खभेर्यश्च	२२
मे धातिथि देवल	५०७
य	
यच्छ्रोतव्यं	५४१
यत्तेजसाऽथ	२७३
यत्तेजसा नृप	२६६
यत्पादशुश्रूषणा	२४८
यत्सन्निधौ	२६७
यत्संश्रयात्	२६६
यत्र क्वाचाऽथ	४११
यत्रानुरक्ता:	४५६
यथा क्रीडोपस्कराणां	२०३
यथा गावो	२०३
यथा मत्स्यादि	३०४
यदा परीक्षित्	३४०
यदा मुकुन्दो	३०४
यदा ह्यधर्मेण	४२
यदो: षु	२८२
यद्बान्धव:	२७८
यद्बाहुदण्डगुप्तायां	२४७
यद्बाहुदण्डाभ्युदय:	२४६

श्लोक	पृष्ठम्
मचाप्यसौ	१०७
यद्वाऽम्बु ते	३५०
यन्मन्यसे	२०५
ययाऽहरत्	३०२
यर्हम्बुजाक्ष	७७
यस्माकः सम्पदो	३३३
यस्मिन्नहनि	४०८
यस्मिन हरिः	४२६
यस्य ...ट्रे	३७६
यस्य क्षत्ता वियोगेन	२६४
यस्याऽहमब्ज	३६२
य. श्रद्धयैतत्	३२५
यः स्वकात्परतो	१८५
यक्ष्यमाणोऽश्वमेधेन	१५३
या याः कथा	४३४
यावत् कृतवान्	१६१
या वीर्य शुल्केन	५२
मा वै लसत्	५०२
युधिष्ठिरस्तत्परि	३०७
युधिष्ठिरो लब्धराज्यो	१७४
येन चैवाऽभिपन्नः	१७८
येषां संस्मरणात्	५३७
यो नो जुगोप	२७१
यो भीष्मकर्णः	२८०
या वै द्रौण्यस्त्र	४२२
यो वै मम	३६४
र	
राजमार्गं गते	६३
राजर्षीणां जनयिता	१४८
राजस्त्वयाऽनुपृष्टानां	२६२
राज्ञो हि	३८५
व	
वञ्चितोऽहं	२६२
वाचं जुहाव	११२
वायुर्वाति	२३६
वारणेन्द्र	८६
वारमुख्याश्च	८८
वारुणीं मदिरां	२६२
वासुदेवाङ्घ्र्यनु	२६८
विदुरोऽपि परित्यज्य	३२३
विदुरस्तदभिप्रेत्य	१७६
विदुरस्तीर्थयात्रायां	१६०
विदुरस्तु तदाश्चर्यं	२२४
विदूय तदमेयात्मा	१३३
विमृज्य	१६५
विलोक्योद्विग्न	२४०
विशुष्यत्तालुः	४६४
विशोको	३००
विसृज्य तत्र	३१०
विसृज्य पुत्रं	४७६
विश्व नात्मनि	२१६
वृकोदरश्च	१२
वृषं मृणाल धवलं	३७१
वृषस्य नष्टान्	४१६
वंशांकुरं	४
व्यतीताः	२२८
श	
शय्यासनाटन	२८७
शस्ताः कुर्वन्ति	२३५
शिवैषोद्यन्तं	२३५
शुरो मातामहः	२४२
शोकेन शुष्यद्वदन	२५८
शोचत्यश्रुकला	४००
श्यामं तदा	५२६
श्रियो निवासो	६७
श्रीमद्दीर्घचतुर्बाहुं	१२६
स	
स उच्चकासे	६३
स उत्तरस्य	३३०
स एव नरलोके	११०

श्लोक	पृष्ठम्	श्लोक	पृष्ठम्
स एव भूयो	३४	स वै महाभागवत:	४०५
स एष एतर्हि	४१७	ससवृत	५३४
स एष लोके	१५०	स स्वपौत्रं	३०८
सख्यं मैत्री	२६१	सान्निध्यात्ते	५३८
स चिन्तय	४६८	सारथ्यपारषद	३४४
स तु ब्रह्मऋषे:	४६६	सितात पत्रं	२१
सत्यं शौचं	३५२	सितात पत्रञ्च	३००
सत्सङ्गान्	१४	सुखोपविष्टेषु	५१०
सप्त स्वसार:	२४२	सुभद्रा द्रौपदी	१२
समागता:	५२५	सुषेणश्चारुदे	२४२
सम्पद ऋतवो	१२६	सूतजीव	४३६
सम्प्रस्थिते	२२८	सूर्य हतप्रभं	२३६
सम्पेषितो	२३२	सोऽयमद्य	२१३
सम्मार्जितमहामार्ग	८४	सोऽहं नृपेन्द्र	२८८
स राजपुत्रो	१५२	सौत्ये वृत:	२८१
सर्वर्त्तुसर्वविभव	८२	स्थानत्रयात्परं	४६२
सर्वसद्गुणमाहात्म्य	१४६	स्नात्वाऽनुसवनं	२१७
सर्वे तमनु	३१९	स्त्रोतोभि:	२१६
सर्वे वयं	५२३	स्वयञ्च गुरुभि:	९२
स वा अङ्गिरसो	४७६	स्वलंकृत	३४१
स वा अयं	३६	**ह**	
स वा अयं सख्यनु	३९	हत्वास्वरिक्थ	२
स विष्णुरातो	५२९	हिरण्यं गां	१३७
स वै किल	२८		

राग विहाग—**भरोसो दृढ इन चरनन केरो ।**

श्री वल्लभ नख चन्द्र छटा बिन सब जग माहि अन्धेरो ।।

साधन नहिं और या कलि में जासों होय निवेरो ।

सूर कहा कहे दुबिध आँधरो, बिना मोल को चेरो ।।

००—

।। श्री हरिः ।।

श्री सुबोधिनी पुष्प वाटिका में से सौरभपूर्ण चुनी हुई कुछ कलियाँ

(ईश्वरः) भागवतश्रवणमात्रेण हृदयारूढो भवति विचारचिन्तनव्यतिरेकेणापि । १-१-२

विचार चिन्तन बिना केवल भागवत के श्रवण मात्र से ही भगवान हृदयारूढ होते है ।

रुचिःश्रवणादिः प्रेम चेति भक्तिस्त्रिविधा ।। १-२. ६

रुचि श्रवण इत्यादि और प्रेम इस प्रकार भक्ति तीन तरह की है ।

तत्र रुचिश्चेन्दभगवति साधनत्वेन तदापि न धर्मत्वम् । १-२-६

यदि भगवान् में रुचि साधन के रूप में हो तो वह धर्म नहीं है ।

लोकवृत्त परित्यागेन भगवदेक परायणो महा भागवतः १-४-६

जो लौकिक नियमो का त्याग कर जो केवल भगवान् में ही परायण रहता है वह महा भागवत हैं ।

धर्मस्य चान्तःकरण परितोषः फलम् । तदभावे धर्मः श्रमः ।। १-४-२६

अन्तःकरण का संतोष यह धर्म का फल हैं । उसके बिना धर्म केवल श्रम ही है ।

हरेर्भगवतः परब्रह्मणो भक्तिमार्गानु सारेण चरण सेवा जीवानां स्वाभाविको धर्मः ।।

हरि भगवान् पर ब्रह्म के चरण की सेवा भक्ति मार्ग । का स्वाभाविक धर्म है ।

सेवार्थ सत्संग इति प्रथमं साधनम् ।।
निदुष्टा सेवा द्वितीयं साधनम
सेवार्थ च पुष्टिमार्गे सस्नेहा ।। १-५-२५

सेवा के लिये सत्संग प्रथम साधन है ।
दोषरहित सेवा दूसरा साधन है ।
पुष्टिमार्ग में सेवा स्नेह युक्त है ।

येनैव कर्मणा बन्धस्तदेव कर्म भगवति भावित पुरुषं पुनाति ।। १-५-३३

जिस कर्म से जीव का बन्धन होता है, वही कर्म जब भगवान् के लिये किया जाता है तो पुरुष को पवित्र करता है ।

सदाहि भगवान्भक्तानामेव कल्याणमीष्टे ।। १-६-१०

भगवान् सदा भक्त के कल्याण के ही इच्छुक रहते हैं ।

यदाकृष्णो रोचते तदैव विषया न रोचन्ते ।। १-६-२७
साक्षादनर्थ निर्वत्ति हेंतु भक्ति रेव

जब जीव की रुचि भगवान् श्री कृष्ण में ही होती है तो विषय में अरुचि हो जाती है ।

भक्तनामल्प चिन्तामपि भगवान्न सहते १-१२-३३

भक्तो की थोडी चिन्ता भी प्रभु सहन नहीं करते हैं ।

सर्व पृष्ठमेव वक्तव्यं न त्वप्रियम् १-१३-१३

पूछे गयी ही बात सब ही कहना चाहिये परन्तु अप्रिय नही कहना चाहिये ।

भक्तचरणोदकशरणागतिर्न भगवन्मार्ग विरोधिनी ।। १-१९-१५

भक्त के चरणोदक की शरणागति से भगवन्मार्ग में कोई विरोध नही आता हैं ।